मेरी जीवन-यात्रा

[२]

"बेड़की तरह पार उतरनेकेलिये मैंने विचारोंको स्वीकार किया, न कि सिरपर उठाये-उठाये फिरनेकेलिये।"

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल
इलाहाबाद
१९५०

प्रकाशक
किताब महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण (१९५०) २०००

मुद्रक
कृष्ण प्रसाद दर
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्राक्कथन

मैंने जीवन-यात्राके द्वितीय भागको भी पहिलेके साथ ही (१९४४ अक्तूबरमें) लिखकर दे दिया था, किंतु कई कारणोंसे वह अब पाठकोंके हाथमें जा रहा है। इस भागके लिखनेमें श्री सत्यनारायण द्विवेदीकी कलमका सहयोग प्राप्त था, जिसके लिये उन्हें अनेक धन्यवाद हैं।

जीवन-यात्राके इस भागके बाद मेरी जीवन-यात्रा चलती ही जा रही है, और अब तीसरे भागको लिखनेकी अवश्यकता है, किंतु उसके लिये साठवें वर्षके पूरे होने (९ अप्रेल १९५३)की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। वैसे मेरी लेखनी विश्राम नहीं ले रही है, जिसकी कि पाठकोंको कोई शिकायत हो सके।

इस भागके शीर्षकोंमें कितने ही स्थानोंपर गड़बड़ी हो गई है, इसलिये अच्छा होगा, यदि पाठक पढ़नेसे पहिले उन्हें विषय-सूची के अनुसार ठीक कर लें।

नैनीताल
२७-४-५०

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

पंचम खंड

पंचम खंड

पर्यैषण, पर्यटन

१

लंकाकेलिये प्रस्थान (१९२७)

धूपनाथ अब हमारे और नज़दीक हो गये थे। उनके आग्रहके अनुसार सुल्तानगंज-जहाँपर वह उस वक्त बनैलीके राजकुमारके खज़ांची थे—होते हुए मुझे कलकत्ता जाना था। धूपनाथ और उनके भाई देवनारायण सिंह तहसीलदार भी बड़े स्नेही और उदार जीव थे। अभी तक ईश्वरपरसे मेरा विश्वास पूरी तौरसे उठा न था, किन्तु नास्तिकताकी बातें—खासकर समाजसे विद्रोहके बारेमें—मैं खूब करने लगा था। बूढ़े देवनारायण बाबूको मैंने देखा, कि वह इन बातोंमें अपनी शिक्षा और समयसे आगे बढ़े हुए थे। सबसे बड़ी बात उनमें यह थी, कि वह अपने चचेरे और सगे भाइयोंके सारे परिवारको संयुक्त, स्नेहबद्ध देखना चाहते थे, और इसकेलिए अपने मनको काफ़ी दबा रखनेमें समर्थ थे। धूपनाथ अब भी वैराग्य और वेदान्तके फंदेसे निकले न थे, किन्तु एक-एक करके मुझे उनकी सरलहृदयता, उदारता, समझ और ज्यादा प्रकट होती जा रही थी। अब मुझे अल्फी उतारकर पंडित वेषमें जाना था, जिसकेलिए उन्होंने भागलपुरी चद्दर और एकाध कपड़े ला दिये। उन्होंने इतने पैसोंका इन्तिज़ाम कर दिया, जिससे मैं तीसरे दर्जेमें लंका पहुँच सकूँ।

८ मईके सबेरे मैंने सुल्तानगंजसे हबड़ाकी गाड़ी पकड़ी। रास्तेमें बोलपुर स्टेशनपर उतर पड़ा। शान्ति-निकेतनके देखनेकी बड़ी इच्छा थी, और भारतसे बाहर जानेसे पहिले उसे देख लेना चाहता था। लेकिन, दुर्भाग्यसे उस वक्त वहाँ न कवीन्द्र रवीन्द्र थे, न कोई और प्रमुख अध्यापक। मईका महीना शान्ति-निकेतनकी शान्तिको भी भंग कर देता है, और समर्थ लोग पहाड़ोंपर भागनेकेलिए उतावले हो जाते हैं।

कलकत्तामें महाबोधि सोसाइटीमें (९-११ मई) ठहरा। शायद अनागरिक धर्मपाल उस वक्त युरोप गये हुए थे। ब्रह्मचारी देवप्रियसे बोधगया कमेटीके सम्बन्धसे

काफ़ी परिचय हो गया था, और उन्होंने मेरे निर्णयको बहुत पसन्द किया। भिक्षु श्रीनिवासने मेरे बारेमें भिक्षु नाराविल धर्मरत्नको लिख दिया था। वह विद्यालङ्कारके छात्र थे, और भारतकेलिए प्रचारक बननेकी तैयारी कर रहे थे। उनके विहारने उनसे भी किसी संस्कृतपंडितके भेजनेकेलिए आग्रह किया था। नाराविलजीने मुझसे वेतनके बारेमें पूछा। मैंने कहा—मुझे वेतनकी आवश्यकता नहीं, खाना-कपड़ा और पुस्तकें मिलनी चाहिएँ, और सबसे ज़रूरी बात—पाली पढ़नेका अच्छा प्रबन्ध। इसके बारेमें उन्होंने पूरा विश्वास दिलाया। उसी वक्त विद्यालङ्कारको उन्होंने तार दिया, और दूसरे या तीसरे दिन सौ रुपये मार्गव्ययकेलिए आ गये।

श्वेत धोती, कुर्त्ता, चादरके विनीत वेषमें कुछ पुस्तकोंके साथ मैं हवड़ा स्टेशनसे मद्रास-मेलकी डचोढ़ा गाड़ीमें सवार हुआ। खड्गपुरसे आगे दो-दो बार इस रास्तेसे रेलका सफ़र कर चुका था, इसलिए बाहरके दृश्योंमें मेरेलिए कोई नवीनता नहीं थी। रास्तेकी सिर्फ़ एक घटना याद है। मैं रेस्तोराँ-कार (भोजन-गाड़ी)में खाना खाने गया। खानसामाँने खानेकी चीज़ोंके साथ छुरी-काँटा रख दिया। कभी उनका इस्तेमाल तो किया न था, न नज़दीकसे किसीको इस्तेमाल करते देखा था, इसलिए खानेमें सहायक होनेकी जगह वह बाधक बनने लगे। खानसामाँसे यह देखा न गया, वह बोल उठा—'रख दीजिए छुरी-काँटेको, हाथसे खाइए।' मैं शरमा गया।

मद्रासमें (१४ मई) आनन्दभवन होटलमें ठहरनेका इरादा था, किन्तु रिकशावालेने एक दूसरे ही हिन्दुस्तानी होटलमें पहुँचा दिया। धनुषकोडीकी डाक बारह घंटे बाद रातको जानेवाली थी, इसलिए मैंने घूमकर शहरके परिचित स्थानोंकी स्मृति जागृत करनी चाही।

नारविलजीने बतला दिया था, कि मद्राससे कोलम्बोका दूसरे दर्जेका टिकट ले लीजिएगा, नहीं तो मंडपम् (रामेश्वरम्)में कोरंटीनमें हफ्तेभर पड़ा रहना होगा। मैं दूसरे दर्जेका टिकट ले मेलपर सवार हुआ। तब उस वक़्त (१९१३ ई०)की वह घटना याद आई, जब कि सिर्फ़ सैदापटका टिकट ले मैं वाढ़के वकील साहेबके साथ इसी मेलपर ज़बर्दस्ती चढ़ाया गया, और उतार देनेपर बहुत प्रसन्न हुआ था। परसामें रहते वक़्त मैं बराबर दूसरे दर्जेमें ही सफ़र करता था, इसलिए दूसरे दर्जेकी गाड़ी मेरेलिए नई चीज़ न थी, तो भी उसके कमोडका इस्तेमाल मैं अबतक न जानता था।

मंडपम्में सीलोन सर्कारके कर्मचारियोंने आकर टिकट देखा, कुछ पूछा-पेख की, डाक्टरने आकर नब्ज़ देखी। धनुषकोडीसे स्टीमरपर सवार हुआ। १४ साल पहिले धनुषकोडी देखी थी। लंकासे लौटे कुछ पंजाबी सिक्खोंने रामेश्वरमें मेरे सामने ही कानपुरकी सेठानीको पोखराज, और दो-एक और तरहके रत्न-खंडोंको दिखलाया था। उस वक्त लंका एक अद्भुतसा द्वीप मालूम होता था। आज मैं उसके क़रीब था और वह उतना अद्भुत नहीं मालूम होता था, तो भी मेरे हृदयमें एक प्रकारकी उत्सुकता थी। जहाज़में सामुद्रिक बीमारी, मिचली और कैकी बात मैं सुन चुका था, इसलिए मैंने मद्राससे काफ़ी काग़ज़ी नीबू ले लिये थे। लेकिन आध घंटा चलनेपर भी जब वह आकर्षक और भयद अनुभव सामने नहीं आया, तो लेमोनेडकी दो-तीन बोतलें ऐसे ही पीता रहा। समुद्रयात्रा सिर्फ़ दो घंटेकी रही होगी, जिसमें भी कोई किनारा न दिखाई देता हो, ऐसा समय कुछ मिनटों हीका था।

१५ मईको अँधेरा हो गया था, जब कि हमारा स्टीमर तलेमन्नार बंदरगाहपर पहुँचा। मैंने स्टीमर हीपर कुछ सिक्कोंको सीलोनके रुपयेवाले नोटों और सेंटोंमें बदल लिया था, किन्तु अभी उनके मूल्यसे अभ्यस्त नहीं हुआ था। स्टीमरके पास ही कोलम्बोंकी ट्रेन खड़ी थी। अधिकारियोंने देखभाल की, और मैं दूसरे दर्जेकी एक गाड़ीमें सवार हो सो रहा। लंकाकी प्राकृतिक छवि, उसके जलवायुके बारेमें श्रीनाराविल धर्मरत्न और भिक्षु श्रीनिवाससे बहुत सुन चुका था, उसे देखनेकेलिए बड़ा लालायित था, किन्तु उस रातको देखनेका सुभीता कहाँ था ?

सबेरा होते मैं उठ बैठा। बाहर पाँतीसे लगे नारियलोंके साफ़-सुथरे बग़ीचे एकके बाद एक चले आते थे। बीच-बीचमें फूस या विलायती खपड़ैलसे छाये मकान थे। मकानोंके सामने अब भी फूल-पत्तों और काग़ज़की लालटेनोंकी सजावट थी। लोगोंने बतलाया—वैशाख पूर्णिमाकेलिए यह सजावट की गई है। भगवान् बुद्धके जन्म, बुद्धत्व-प्राप्ति और निर्वाणका दिन होनेसे यह बौद्ध लोगोंका बहुत पुनीत दिवस है। इतने दिनोंसे सुनते आते बुद्धके नाममें अब एक विचित्र प्रकारका आकर्षण, एक अद्भुत माधुर्य, एक विशेष आत्मीयता मालूम होती थी।

१६ मई—नाराविलजीने मरदाना स्टेशनसे उतरकर फिर एक स्टेशन पीछे केलनिया आनेको बतलाया था। उन्होंने मेरे रवाना होनेके बारेमें तार भी दे दिया था, और कोई आदमी मरदाना गया भी था, किन्तु मुझसे मुलाक़ात न हुई। दूसरी ट्रेनसे केलनिया उतरकर मैंने विद्यालंकार विहारके बारेमें पूछा, और ज़रासी दिक़्क़तके साथ मैं पक्की सड़कसे उस रास्तेकी ओर बढ़ा, जो विहारके भीतर जाता

था। चारों तरफ़ हरे-हरे नारियल तथा दूसरे दरख़्त, और पानीसे भरे हुए खेतोंका विद्यालयको द्वीपके रूपमें परिणत करनेका वह नज़ारा अनिर्वचनीय और चिरस्मरणीय रहा।

मैं धोती, चादरके उत्तर-भारतीय वेषमें था, इसलिए तमिल पोशाकसे भिन्न होनेके कारण विहारके साधुओंको यह समझ जानेमें मुश्किल नहीं हुई, कि यही 'दम्बदिउ ब्राह्मण पंडितुमा' (जम्बूद्वीपीय ब्राह्मण पंडितजी) हैं। दाहिनी ओर एक दो-महला आवास, बाईं ओर 'धर्मशाला' (व्याख्यानशाला) तथा घंटा-मीनारको छोड़ते जबतक मैं पश्चिमके बँगलेमें पहुँचूँ, तबतक मेरे आनेकी ख़बर विहारके प्रधान लुनुपोकुनी श्रीधर्मानन्द नायक-महास्थविरके पास पहुँच गई, और कितने ही अध्यापक और विद्यार्थी भिक्षु भी वहाँ जमा हो गये। मेरे बैठनेकेलिए एक छोटी-सी 'पाकेट' कुर्सीनुमा मचिया रख दी गई।

मैंने महास्थविरको विनम्रभावसे प्रणाम किया। उन्होंने संस्कृतमें मार्गकी कुशल-प्रसन्नताके बारेमें पूछा। पहिले ही दर्शनके वक़्त महास्थविरके ओठोंतक परिसीमित हास, आँखोंमें स्नेहकी चमक और मधुर भाषणने मेरे दिलसे स्थानकी अपरिचितताको दूर कर दिया। अभी मैंने न मुँह धोया था, और न नाश्ता किया था, पहिले उसकेलिए मुझे छुट्टी दी गई। उत्तर ओरकी गृहपंक्तिमें पश्चिम सिरेका विशाल हवादार कमरा मेरेलिए पहिले हीसे तैयार रखा गया था। वहाँ साफ़-सुथरे वार्निश किये गये मेज़, कुर्सियाँ, एक आलमारी तथा नई उजली बारीक मसहरीके साथ पलंग रखी हुई थी। खानेकेलिए मैंने पावरोटी, मक्खन, दूध और चीनीकी स्वीकृति दी और बतला दिया, कि मैं निरामिष भोजन पसंद करता हूँ—अभी मांसाहारका पक्षपाती मैं बन नहीं पाया था।

यहाँके अध्यापकों, विद्यार्थियों, उनके निवासोंको देखकर मैं जब भारतके साधु-सन्यासियोंसे तुलना करता, तो मुझे ज़मीन-आसमानका अन्तर मालूम होता था। इनकी चेष्टायें ज़्यादा संयत थीं, व्यवहार अधिक संस्कृत, वेषभूषा बहुत परिष्कृत, घर और उसके सामान स्वच्छ तथा बाक़ायदगीके साथ रखे हुए थे। अपने कमरेके सामानको देखकर तो मुझे ख़्याल हुआ, कि एक आगन्तुक परदेशी अध्यापकके आरामका ज्यादा ख़्याल होना ही चाहिए; किन्तु जब दूसरे भिक्षु विद्यार्थियोंकी कोठरियोंको भी देखा, वहाँ भी वही स्वच्छता, वही चमकती वार्निशके काले मेज़ और कुर्सी थी, मेज़पर झालरवाली सुन्दर टेबुललैम्प पलंगोंपर सफ़ेद मसहरी टँगी थी, तथा सफ़ेद चादर गिलाफ़से ढके गद्दे तकिये थे; तो पहिले मुझे इसमें शौक़ीनीकी

बू आई, किन्तु यह समझनेमें बहुत देर न लगी कि शौक़ीनी भी एक सापेक्ष चीज़ है। जो एक जगहकी शौक़ीनी समझी जाती है, वही दूसरी जगह जीवनकी साधारण आवश्यकता हो सकती है। लंकाके साधारण लोगोंकी जीविकाका मान हमारे यहाँसे ऊँचा होनेसे वहाँ इसे शौक़ीनी नहीं कहा जा सकता था।

विद्यालंकार परिवेण (विहार)में चन्द घंटे ही रहनेके बाद मुझे यह तो मालूम हो गया, कि यहाँ भी मुझे आत्मीयतासे वंचित रहना नहीं पड़ेगा; किन्तु अब आगेके कार्य-क्रमको बनाना था—विद्यार्थी क्या पढ़ना चाहते हैं, और मेरे पाली अध्ययनका काम कैसे चलेगा। विद्यालंकार भिक्षुओंका विद्यालय है, यहाँके अध्यापक सभी भिक्षु हैं; सिवाय चन्द संस्कृत और वैद्यकके विद्यार्थियोंके, जो कि दिनमें कुछ घड़ी पढ़कर चले जाते हैं। १८-२० विद्यार्थी और तीन-चार अध्यापक काव्य, व्याकरण और न्याय पढ़ना चाहते थे। संस्कृत पाली मिला-जुलाकर मुझे भाषाकी दिक़्क़त नहीं रही, और संस्कृतको मैंने अध्यापनके माध्यमके तौरपर इस्तेमाल किया। संस्कृत पालीपर निर्भर रहनेका एक परिणाम यह हुआ, कि मैं लंकाकी भाषा-सिंहल —को हिन्दीसे नज़दीक होनेपर भी नहीं सीख सका।

विहारके प्रारम्भिक श्रेणीसे ऊपरके प्राय: सभी विद्यार्थी और सारे अध्यापक संस्कृत पढ़ते थे। संस्कृत सीखनेका वहाँका तरीक़ा उत्तर भारतके पंडितोंका-सा पुराना था। शुरू हीसे व्याकरण रटानेकी प्रवृत्तिको छोड़कर मैंने ऐसे तरीक़ेसे पाठ देना तै किया, जिसमें थोड़ा भी परिश्रम और समय लगानेपर विद्यार्थीको अपनी सफलताके प्रति आत्मविश्वास बढ़े। इसकेलिए पढ़ाते हुए मैंने पाँच पुस्तकें बनाईं, जिनमें चार भाषा और व्याकरणसे सम्बन्ध रखती थीं, और पाँचवीं छन्द-अलंकारकी सम्मिलित पुस्तक थी। पहिली तीन पुस्तकें कई वर्ष पहिले ही सिंहल अक्षरमें सिंहल भाषाके साथ छप भी चुकी हैं। व्याकरण पढ़नेवालोंकेलिए लघु और सिद्धान्त कौमुदीपर मैंने भाषावृत्ति और काशिकाको तर्जीह दी।

लंकामें पहिली बारका १८ मासका निवास गम्भीर अध्ययन-अध्यापनका जीवन था। रात-दिनमें आठ नौ घंटे खाने-सोने-टहलनेमें लगते, बाक़ी समयमें पाँच घंटे पढ़ाने और आठ-नौ घंटे अपने पढ़नेकेलिए निश्चित थे। सबेरे-तड़के मैं उठ जाता। शौच, मुँह-हाथ धो कूएँपर जा स्नान कर लेता। कमरेके दर्वाज़ेको भेड़ कुछ मिनट शीर्षासन करता। तबतक पावरोटी, मक्खन, दूध, चीनी और सहिजनका नारियल-खटाईमें बना हुआ झोल आ जाता। मैं कितने ही दिनोंतक इस झोलको बड़े चावसे पीता रहा। उसमें कुछ तलछट बच जाती थी, जो देखनेमें

हल्दीके मोटे चूरेकी तरह मालूम होती, किन्तु खानेमें सुस्वादु। हफ्तों बाद एक दिन मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, वह हल्दीका नहीं बल्कि समुद्रकी सूखी चिमड़ी मछली (उम्मलकड)का चूरा है, जो कि मसालेके तौरपर वहाँ इस्तेमाल किया जाता है। निरामिषाहारसे विश्वास पहिले हीसे डिग चुका था, और अब हफ्ते दो हफ्ते उम्मलकडके टुकड़ोंको खा लेनेपर फिर अपनेको बचपनके प्रिय आहार—जिसे मुहैया करनेमें कंठीबंध वैष्णव नाना-नानी आनाकानी नहीं करते थे—से अपनेको वंचित रखना मुझे निरी मूर्खता जँची।

२

लंकामें उन्नीस मास

(१६ मई १९२७ से १ दिसम्बर १९२८ ई०)

विद्यालंकार विहार लंकामें भिक्षुओंके दो प्रधान केन्द्रोंमेंसे है। विद्यार्थियों और अध्यापकोंकी संख्यामें कोलम्बोका विद्योदय विहार बड़ा था, किन्तु उसका बहुत कुछ श्रेय उसका कोलम्बो शहरमें होना था। विद्यालंकारके संस्थापक श्रीधर्मालोक महास्थविर और विद्योदयके संस्थापक श्रीसुमंगल महास्थविर गुरुभाई थे, और दोनों विहारोंकी स्थापना पाली त्रिपिटकके गम्भीर अध्ययनकेलिए एक ही समय हुई। विद्योदयके संस्थापक सुमंगल महास्थविर अपने समयके महान् पंडित थे, किन्तु धर्मालोक महास्थविरके शिष्य श्रीधर्माराम महास्थविर अपने समयकी लंकामें पाली-संस्कृतके सर्वोच्च पंडित थे। श्री धर्मारामके शिष्य विद्यालंकारके वर्तमान प्रधान श्री धर्मानन्द महास्थविरका पाली व्याकरणके पंडितोंमें बहुत ऊँचा स्थान था। विद्यालंकार विद्यालयमें उस समय डेढ़ सौके करीब विद्यार्थी (विद्योदयमें पाँच सौके करीब) पढ़ते थे, जिनमें चालीसके करीब वहीं रहते थे, बाकी आसपासके छोटेछोटे मठों (विहारों) में रहते और पढ़नेकेलिये दोपहर बाद विहारमें चले आते थे। भिक्षुओंकी पढ़ाईकी गति बहुत मंद हुआ करती है। वे समझते हैं, जल्दी क्या है, सारा जीवन तो पढ़नेके लिये है ही। मुझको इसका अफसोस जरूर होता था, कि वह मेरे समयका पूरा उपयोग नहीं ले रहे हैं। तो भी जहाँ तक मेरी पढ़ाईका सम्बन्ध था, महीना बीतते बीतते वह बड़ी द्रुत-गतिसे चल निकली। मैंने पहले सुत्तपिटकके

ग्रन्थोंको शुरू किया। संस्कृतके अत्यन्त सन्निकट होनेसे पाली मेरे लिये आसान थी, और भारतमें रहते मैंने उसे स्वयं पढ़ना भी शुरू किया था। पढ़नेकेलिये मैं अपनी पुस्तकोंको इस्तेमाल करता, और भौगोलिक ऐतिहासिक बातोंपर निशान करके पीछे उन्हें नोटबुकमें उतारता जाता। नायक महास्थविर, आचार्य प्रज्ञासार, आचार्य देवानन्द, आचार्य प्रज्ञालोक हर एकसे डेढ़-डेढ़ दो-दो घंटे लेता, तो भी मेरी तृप्ति न होती। पालीत्रिपिटकमें बुद्धकालीन भारतके समाज, राजनीति, भूगोलका बहुत काफ़ी मसाला है। उन्होंने मेरी ऐतिहासिक भूखको बहुत तेज कर दिया था। पालीटेक्स्ट सोसाइटी (लंदन) के त्रिपिटक संस्करणोंकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओंने आगमें घी डालनेका काम दिया, और पाली टेक्स्ट सोसाइटी जर्नलके पुराने अंकोंको पढ़नेके लिये मैं मजबूर हुआ। फिर ब्रिटेनकी रायल एसियाटिक सोसाइटी, सीलोन, बंगाल, बंबईकी उसकी शाखाओंके पुराने जर्नलोंका बाकायदा पारायण शुरू हुआ। ब्राह्मी लिपिसे मेरा परिचय हज़ारीबाग़ जेलमें हुआ था और यहाँ तो एपीग्राफ़िया इंडिकाकी सारी जिल्दें उलट डालीं। छै-सात मास बीतते-बीतते भारतीय संस्कृतिकी गवेषणाओंके सम्बन्धमें मेरा ज्ञान, गुण और परिमाण दोनोंमें इतना हो गया था, कि जब मारबुर्ग (जर्मनी) के प्रोफ़ेसर रुडाल्फ़ ओटो विद्यालंकार विहारमें आये, तो मुझसे बातचीत करके उनको तअज्जुब हुआ, कि मैं कभी किसी विश्वविद्यालयका विद्यार्थी नहीं रहा। वस्तुतः इस सारी योग्यताका श्रेय इन कुछ महीनोंके अध्ययनको नहीं दिया जा सकता। अव्यवस्थित रूपसे छिटफुट पढ़ते रहनेकी मेरी आदत पहिले हीसे थी। डी० ए० वी० कालेजमें पंडित भगवद्दत्तके सम्पर्कमें अन्वेषण-पत्रिकाओंकी ओर नज़र कुछ ज़रूर गई थी, किन्तु पूर्वजोंके ज्ञानकी उपयोगिताका महत्त्व यहीं साफ़ झलकने लगा। जब-तब पढ़े संस्कृतके दर्शन-काव्य ग्रन्थ, घूमते-फिरते वक्त दृष्टिगोचर हुई भौगोलिक तथा स्थानीय भाषाओंकी विशेषतायें—इन सभी तरहके ज्ञानोंने मस्तिष्क और स्मृतिके भीतर उथल-पुथल करके एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा कर दिया।

ढाई हज़ार वर्ष पहिलेके समाज और समयमें बुद्धके युक्तिपूर्ण सरल और चुभनेवाले वाक्योंका मैं तन्मयताके साथ आस्वाद लेने लगा। त्रिपिटकमें आये मोजिज़े और चमत्कार अपनी असम्भवताकेलिए मेरी घृणाके पात्र नहीं, बल्कि, मनोरंजनकी सामग्री थे। मैं समझता था, पच्चीस सौ वर्षोंका प्रभाव उन ग्रन्थोंपर न हो यह हो नहीं सकता। असम्भव बातोंमें कितनी बुद्धने वस्तुतः कहीं, इसका निर्णय आज किया नहीं जा सकता, फिर राखमें छिपे अङ्गारों, या पत्थरोंसे ढँके रत्नकी तरह बीच-बीचमें आते बुद्धके चमत्कारिक वाक्य मेरे मनको बलात् अपनी

ओर खींच लेते थे। जब मैंने कालामोंको दिये बुद्धके उपदेश—किसी ग्रन्थ, परम्परा, बुजुर्गका ख्यालकर उसे मत मानो, हमेशा खुद निश्चय करके उसपर आरूढ़ हो—को सुना, तो हठात् दिलने कहा—यहाँ है एक आदमी जिसका सत्यपर अटल विश्वास है, जो मनुष्यकी स्वतन्त्र बुद्धिके महत्त्वको समझता है। जब मैंने मज्झिम-निकाय-में पढ़ा—बेड़ेकी भाँति मैंने तुम्हें धर्मका उपदेश किया है, वह पार उतरनेके लिए हैं, शिरपर ढोये-ढोये फिरनेकेलिए नहीं; तो मालूम हुआ, जिस चीज़को मैं इतने दिनोंसे ढूँढ़ता फिर रहा था, वह मिल गई।

एक तरफ़ आरम्भिक दिनोंमें मेरे मनकी यह दशा थी, दूसरी तरफ़ पढ़ाते वक़्त ईश्वर शब्दका अर्थ विद्यार्थियोंको समझानेमें मैं बहुत कठिनाई अनुभव करने लगा। अब मेरे आर्यसामाजिक और जन्मजात सारे विचार छूट रहे थे। अन्तमें इस सृष्टि-का कर्त्ता भी है, सिर्फ़ इसपर मेरा विश्वास रह गया था। मैं समझता था, ईश्वरका ख्याल मनुष्यमें नैसर्गिक है, और यहाँ मैंने अपने समझदार विद्यार्थियोंको भी देखा, कि वह उससे बिल्कुल कोरे थे। प्रकृतिके विकास, उसकी दैनिक घटनाओंकेलिए जहाँ मैं ईश्वरकी आवश्यकता अनुभव करता था, वहाँ ये लोग उसे स्वाभाविक कहकर छुट्टी पा लेते थे। बौद्ध-धर्म नास्तिक है, अनीश्वरवादी है—इसे मैंने संस्कृत ग्रंथोंमें पढ़ा था, किन्तु वहाँ वह घृणा-प्रदर्शनके लिए खास तौरसे इस्तेमाल किया गया था, जिसका मेरे दिलपर असर होना बहुत पहिले ही से असंभव हो गया था; किन्तु अब तक मुझे यह नहीं मालूम था, कि मुझे बुद्ध और ईश्वरमेंसे एकको चुननेकी चुनौती दी जायेगी। मैंने पहिले पहिल कोशिश की, ईश्वर और बुद्ध दोनोंको साथ ले चलनेकी; किन्तु उसपर पग-पगपर आपत्तियाँ पड़ने लगीं। दो-तीन महीनेके भीतर ही मुझे यह प्रयत्न बेकार मालूम होने लगा। शामके वक़्त मैं एक घंटे केलनियाँसे तलेमन्नार आनेवाली रेलवे लाईनपर घूमने जाता। मैं अकेला घूमना चाहता, और अक्सर अकेला रहता। उस वक़्त मेरा अन्तर्द्वन्द इतना तीव्र होता, कि बाज़ वक़्त मुझे डर लगता, कहीं आगे-पीछेसे आनेवाली ट्रेनको देखना न भूल जाऊँ। सौभाग्यसे लाईन दुहरी थी, और ट्रेनको सामने रखकर मैं टहलता था। ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ़ हो गया, और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा, कि ईश्वर सिर्फ़ काल्पनिक चीज़ है, बुद्ध यथार्थवक्ता है। तब कई हफ्तोंतक हृदयमें एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई।—मालूम होता था, चिरकालसे चला आता एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है। किन्तु मैंने हमेशा बुद्धिको अपना पथप्रदर्शक बनाया था, और कुछ ही समय बाद उन काल्पनिक भ्रान्तियों और भीतियोंका ख्याल आनेसे अपने

भोलेपनपर हँसी आने लगी। जब ५ जनवरी (१९२८ ई०) को ब्रह्मचारी विश्वनाथ आये, तो देखा वह भी उन्हीं मानसिक अवस्थाओंसे गुज़र रहे हैं। किन्तु जहाँ उस सारे संघर्षसे मुझे अकेले लोहा लेना पड़ा था, वहाँ उनकेलिए मेरा तजर्बा हाज़िर था, और वह कम ही समयमें प्रकृतिस्थ हो गये। अब मुझे डार्विनके विकासवादकी सच्चाई मालूम होने लगी, अब मार्क्सवादकी सच्चाई हृदय और मस्तिष्कमें पेवस्ता जान पड़ने लगी।

विद्यालंकार-विहार कांडी जानेवाली सड़कपर कोलम्बो शहरसे दूर है। शहरसे दूर रहना मैं अपने घाटेका नहीं, नफ़ेका सौदा समझता था; लेकिन प्राय: हर रविवारको मैं कोलम्बो जाता, इसका कारण सीलोन-शाखीय रायल एसियाटिक सोसाइटीके पुस्तकालयमें पढ़ने जाने और पीछे कोलम्बोके परिचित भारतीयोंसे मिलते रहनेकी इच्छा थी। बल्कि पुस्तकालयका जाना पीछे अनावश्यक हो गया, जब कि श्री डी० बी० जयतिलककी कृपासे वहाँकी पुस्तकें मेरेलिए विद्यालयमें पहुँचने लगीं। श्री (पीछे 'सर') डी० बी० जयतिलक विद्यालंकारके अधिपति श्रीधर्मारामके शिष्य थे, इसलिए विद्यालयके साथ उनकी बड़ी आत्मीयता थी। उस वक़्त वह लंकाके बौद्धोंके सर्वमान्य नेता, तथा सर्कारद्वारा पोषित सिंहल-कोषके प्रधान सम्पादक थे। अभी वह राजनीतिमें उस स्थानपर नहीं पहुँचे थे, जो नये सुधारोंके बाद प्रधान मंत्री हो पिछले दस-ग्यारह वर्षोंमें उनको प्राप्त हुआ। कोलम्बोमें पहिले-पहिल, शायद, पंडित जगतरामसे परिचय हुआ। लंकावाले उत्तर भारतको जम्बू-द्वीप और दक्षिण भारतको इंडिया या दमिल कहते हैं। जहाँ जम्बूद्वीपके प्रति उनकी अपार श्रद्धा है, वहाँ दमिल या इंडियाका नाम लेते ही पिछले बाईस सौ वर्षके राजनीतिक संघर्षकी कटु स्मृतियाँ प्रबल हो उनके दिलमें घृणा पैदा कर देती हैं। पंडित जगतराम जम्बूद्वीपके ज्योतिषीके नामसे बहुत ख्याति पा चुके थे। एक रविवारको मैं उनसे मिलने गया। मेरे उत्तर-भारतीय वेषको देखते ही उन्होंने आदरसे बैठाया। लेमोनेडकी बोतल और पान मँगाया—पान यहाँ भी मद्रासकी तरह अलग-अलग चूने लगे पत्ते, और सुपाड़ीके साथ बिना कत्थेके खाया जाता है। उनका गोरा, लम्बा, दीर्घ-वयस्क होनेपर भी स्वस्थ शरीर पंजाबकी झलक दे रहा था। पूछने-पर मालूम हुआ, वे जम्बूके रहनेवाले हैं। उनका जीवन सारा तो मैंने न सुन पाया, किन्तु उसमें असाधारणता ज़रूर थी। हिन्दीमें वह पढ़भर लेते थे, संस्कृतका ज्ञान नहींके बराबर था, किन्तु आज वह सारे लंकाके सर्वोच्च भविष्यद्वक्ता ज्योतिषी समझे जाते थे। ज्योतिषके माननेमें हर धर्मके लंकावासी एक दूसरेसे होड़ लगाये

हुए हैं। हमारे यहाँ भी ऐसे आदमियोंकी कमी नहीं है, किन्तु सर और बड़े-बड़े ख़िताबधारियोंकी मोटरें ज्योतिषीजीके घरपर धरना देती फिरें, ऐसा अवसर यहाँ बहुत कम मिलता है। पंडित जगतराम किसी सर्कसमें खेलका काम करते थे, जिसमें कुछ मराठा और दूसरे लोग भी शामिल थे। एक बार उनकी पार्टी लंका आई। उनको कुछ ज्योतिषका ज्ञान था, जिसकेलिए लंकाकी भूमिको बहुत उर्वर देखकर वह यहीं ठहर गये, और अपनी व्यवहार-बुद्धिके कारण एक सफल ज्योतिषी बन गये। उसी समय एक तमिल अब्राह्मण स्त्रीसे उनका प्रेम हो गया। मुझे तो समझना मुश्किल था, कि ऐसा सुन्दर स्वस्थ आदमी उस कुरूपाके प्रेमपाशमें कैसे बद्ध हुआ? किन्तु

'प्राप्ते तु षोड़शे वर्षे गर्दभी ह्यप्सरायते।'

अथवा 'दिल लगने'की बात हो सकती है। उनके चार लड़कोंमें बड़े अंग्रेज़ी जानते थे, और बापका व्यवसाय करते थे; दूसरा लन्दनका बी० एस-सी० होकर एडवोकेट बननेकी तैयारी कर रहा था, छोटे दो स्कूलमें पढ़ते थे। शहरमें उनके दो अपने मकान थे, और काफ़ी रुपया जमा था। मुझसे उनकी घनिष्ठता हो गई थी। कोलम्बोमें दो हिन्दी-भाषा-भाषी वैद्य थे—दोनों ही कानपुरके आस-पासके रहनेवाले थे। एक तो महीनेमें पाँच छै सौ रुपये कमा लेता था, किन्तु बोतलके मारे मकानका किराया देना उसकेलिए मुश्किल था। दूसरे बहुत बूढ़े थे। उनकी एक लड़की अपने देशकी स्त्रीसे थी, जिसे हमारे रावलपिंडीके एक तरुण दोस्त दासने व्याहा था। वह जहाजकी नौकरी और कराँचीके रेस्तोराँमें काम करते हुए कोलम्बो पहुँचे थे। पहिले वह मदनथियेटरके सिनेमामें रेस्तोराँमें काम करते थे। पीछे फ़ोटोग्राफ़ीकी फेरी करने लगे। उनका आना अक्सर हमारे यहाँ होता था। एक दिन एक बड़े मज़ेकी बात कह रहे थे। सिंहालियोंकी ज्योतिषकी कमज़ोरी उन्हें मालूम थी, इसलिए फोटोके सिलसिलेमें घूमते हुए वह ज्योतिषपर भी हाथ साफ़ करते थे; लेकिन कह रहे थे, अभी मैं उसके पैसेको अपने काममें नहीं लाता। एक दिन एक सिंहाली भद्रपुरुषके बँगलेमें गये। ज्योतिष-संबंधी प्रश्न सामने आनेपर उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ घरके लड़कोंकी संख्या भी गिनकर बतला दी। घरवालोंको अब उनकी भविष्यद्वादितापर क्या सन्देह हो सकता था? मैंने पूछा—तुमने लड़कोंकी संख्या कैसे बतला दी? झटसे जवाब दिया—जाते वक़्त मोटरपर उन्हें खेलते जो देख लिया था।

कोलम्बोके परिचितोंमें श्री गोविन्दसुन्दर परमार और पंडित रविशंकर गुजराती

बड़े प्रेमी सज्जन थे। दोनों गुजराती बोहरा सेठके यहाँ मुनीम थे। बोहरा लोग मुसल्मान हैं, किन्तु उन्हें अपनी गुजराती भाषाका बड़ा अभिमान है। सिंहल, दक्षिण अफ्रीकाके निकट तकमें दोहरा बहीखाता रखना स्वीकार करते हुए वह गुजरातीमें ही अपना हिसाब किताब रखते हैं। इस्लाममें मुझे यदि कोई चीज़ बहुत बुरी लगती है, तो वह स्थानीय भाषा और संस्कृतिके प्रति अवहेलना और विद्रोहका भाव; और जहाँ यह बात नहीं रहती, वहाँ उसके ऐतिहासिक महत्त्वका मैं बहुत प्रशंसक हो जाता हूँ। गोविन्द भाईका बराबर आग्रह था, कि कोलम्बो जानेपर दोपहरका खाना उन्हींके यहाँ खाऊँ। विद्यालंकारके पावरोटी-दूध-मक्खन, मिर्चोंके मारे धोकर खाने लायक़ मांस-मछलीके स्थानपर हफ्तेमें एक वार गुजराती खाना—जो हमारे विहार-युक्तप्रान्तके खानेका छोटासा रूपान्तरमात्र है—मुझे क्यों न पसन्द आता। अक्सर सबेरे मरदाना स्टेशनपर बुख़ारी होटलमें मुर्ग़-मुसल्लम और चाय खाता, दोपहरके वक़्त गोविन्द भाई या रविशंकर भाईके यहाँ निरामिष गुजराती भोजन।

दिसम्बर (१९२७ ई०)में कांग्रेस मद्रासमें हुई। राजेन्द्र बाबूका पत्र आ गया था, कि वह कांग्रेसके बाद सीलोन देखना चाहते हैं। मैंने उनको आनेकेलिए लिखा, और दर्शनीय स्थानोंमें ले जाने आदिका इन्तिज़ाम किया। फ़ोर्ट स्टेशनपर १ जनवरी (१९२८)की ट्रेनमें हीरेन्द्रनाथ दत्त और बहुतसे ग्रामीण बंगाली आये। मैंने कोलम्बोके दर्शनीय स्थान, और केलनियाके प्राचीन विहारको दिखलाकर उन्हें मोटर-बससे नूर-एलिया, कांडी, अनुराधपुरकेलिए रवाना कर दिया। ३ जनवरीको राजेन्द्र बाबू सदलबल पहुँचे। कोलम्बोके डक, म्यूज़ियम, टाउन हाल आदि दिखलाते हुए हेवलाक टाउनमें उस नये विहारको भी दिखलाया, जिसको एक करोड़पती पिताने अपने तरुण पुत्रकी शहादतके स्मारकके तौरपर बनाया था। इस नवजवानको सिंहल जातीयतासे बड़ा प्रेम था। वह वालंटियर सेनामें अफ़सर था। युद्धके समय १९१५ ई०में सिंहल-मुस्लिम झगड़ेको उग्र रूप धारण करते हुए देख, अंग्रेजोंने लंकामें मार्शलला घोषित कर दिया, और उस मार्शललाके ऊपर बलि चढ़नेवालोंमें अपने बापका अकेला पुत्र यह तरुण भी था। उसे गोली मार दी गई थी। पिताने उसीके स्मरणमें यह छोटा किन्तु बहुत सुन्दर विहार बनवाया था। मूर्तियों और भित्तिचित्रोंके बनानेमें सिंहलके सर्वश्रेष्ठ कलाकार नियुक्त किये गये थे। सिंहलके बौद्ध मन्दिरोंकी अद्वितीय स्वच्छता यहाँ भी थी। प्रधान द्वारकी एक तरफ़ भीतरकी ओर उस तरुणका रंगीन चित्र था। केलनियाके विहारका दर्शनकर पार्टी

थोड़ी देरकेलिए विद्यालंकार विहारमें भी आई। नारियलोंकी घनी छाया, एकान्त और शान्त स्थानमें उस विहारको देखकर मेरे देशभाई बहुत प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन हम लोग एक या दो बससे नूर-एलियाकेलिए रवाना हुए। नूरएलिया लंकाका शिम्ला छै हज़ार फ़ीटके ऊपर बसा हुआ है। भूमध्यरेखासे चार ही पाँच डिग्री उत्तर होनेसे वहाँ सिवाय वर्षाकी कमी-बेशीके मौसिम एकसा रहता है। यहाँके पहाड़ोंमें जंगल है, किन्तु देवदारोंकी मनोमोहक सुन्दरता और जाड़ोंका बर्फ़ वहाँ दिखलाई नहीं पड़ता। दिनभर रास्तेके वन, पर्वत, ग्रामीण कुटियों, बाज़ारकी दूकानोंको देखते हम शामसे पहिले नूरएलिया (नगर-आलोक) पहुँच गये। एक होटलमें रहनेकेलिए कहनेपर होटलवालेने पहिले इन्कार कर दिया। उसका इन्कार करना बजा था, क्योंकि कलके आये भारतीयोंने नहाने, धोने, पेशाब-पाखानेमें अपनी भारी अज्ञानता और बेपरवाहीका परिचय दिया था। लेकिन जब उसे मालूम हुआ, कि मैं विद्यालंकार विहारका अध्यापक हूँ, और ये सब मेरे साथी हैं, तो उसने जगह दी। और लोग तो कमरोंमें ठहरे, किन्तु पैसेकी कमी और सनातनधर्मिताके कारण कुछ लोग नीचे एक कमरेमें ठहराये गये। ख़ैर, और बातोंमें तो उन्होंने मेरी चेतावनी और भारतकी बदनामीका ख़्याल किया, किन्तु एक एम० ए० 'सनातनी' विद्वान्ने सड़कके नलकेके ऊपर जा नहानेमें संकोच नहीं किया। उनको यह नहीं समझमें आया, कि पीनेके नलकेके ऊपर शरीरके छींटेको शायद यहाँके लोग बर्दाश्त नहीं करते।

सबेरे हमलोग सीता-एलिया देखने गये। लंका जब रावणका द्वीप है, तो उसकी राजधानी और हरकर लाई सीताके रखनेका भी कोई स्थान होना चाहिए। बाबू मथुराप्रसादने स्थानकी एकान्तता और रमणीयता, पास बहती लघुसरिताकी स्वच्छ धारा और पहाड़ोंमें फूले लाल 'अशोक'के वृक्षोंको देखकर कहा—ठीक, यही जानकी महारानीका अशोकवन है। उन्होंने बड़ी श्रद्धासे अशोकके पत्ते पासमें रख लिये। मैंने पासके पहाड़ोंपर घासके नीचे डेढ़-दो फ़ीट मोटी काली मिट्टीको दिखलाकर कहा—और यह देखिए सोनेकी लङ्काका दहन। लङ्काके बारेमें पूछनेपर मैंने कहा—रावणकी कथाकी सच्चाईके बारेमें मैं क़सम खानेकेलिए तैयार नहीं, किन्तु यदि वह कोई है, तो यही है।

उसी दिन हमलोग कांडी चले आये। वहाँके दन्त-मन्दिरका देखना आवश्यक था। दन्तमन्दिर बौद्धोंकेलिए एक पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया है। उनका विश्वास है, कि यह भगवान् बुद्धकी असली दाढ़ है। कहावत यह भी है, कि पोर्तुगीज़ोंने असली

दाँतको जला डाला था। यदि यह दाँत उसी दाँतके आकार-प्रकारका है तो कहना पड़ेगा, कि वह भी नक़ली ही दाँत रहा होगा। भला अँगूठेके इतना मोटा क़रीब एक इंचका दाँत कहीं मनुष्यका हो सकता है? लेकिन श्रद्धाके सामने तर्कका क्या वस चल सकता है?

कांडी एक हरा-भरा रमणीय पहाड़ी स्थान है। इसकेलिए "जनु वसन्त ऋतु रही लुभाई" कहा जा सकता है। भूमध्यरेखाके नज़दीक होनेसे यहाँ मौसिममें अधिक परिवर्तन नहीं देखा जा सकता और जो मौसिम बारहो महीना रहता है, उसे हम वसन्त ही कह सकते हैं। कांडीमें लंकाके भिक्षुसंघके महानायक रहते हैं। अभी वहाँ युनिवर्सिटी नहीं बनी थी, लेकिन नगर बहुत स्वच्छ और उसका सरोवर अतिसुन्दर था।

कांडी देखनेके बाद हमारी मोटर-बस अनुराधपुरकी तरफ़ चली। सड़क बहुत अच्छी और हरे-भरे पर्वती भागमेंसे गुज़री। रास्तेमें कहीं-कहीं कोकोके भी बाग़ मिले। उसदिन शामको हम अनुराधपुर पहुँचे।

अनुराधपुर लंकाकी पुरानी राजधानी है। यहींसे लंकाका इतिहास शुरू होता है और बौद्ध धर्मका भी। प्रथम बौद्ध धर्म-प्रचारक अशोकपुत्रने ईसा पूर्व तीसरी सदीमें यहीं धर्मकी ध्वजा गाड़ी थी। तबसे आजतक बौद्ध धर्मही इस द्वीपका प्रधान धर्म बना है। अनुराधपुर आज न राजधानी है और न उसे छोटा नगर ही कह सकते हैं। नगरका दर्शनीय ध्वंस दूरतक फैला पड़ा है। **रत्नमाल्य** (रुवण्वलि) चैत्य एक छोटा-मोटासा पहाड़ है। और भी कितने ही ध्वस्तप्राय स्तूप हैं। हम इधर-उधर घूमते हुए बोधिवृक्षके नीचे पहुँचे। वहाँ बिजलीके सैकड़ों दीपक जल रहे थे। अशोकपुत्री भिक्षुणी संघमित्रा बोधगयाके पीपल वृक्षकी एक शाखा लेकर यहाँ आई थी, यही वह ऐतिहासिक वृक्ष है—कहते विशेषता मैंने राजेन्द्र बाबूको बतलाई, तो उन्होंने कहा—बोधगयाके पीपलकी यह शाखा है, जिसकेलिए ख़ास तौरसे इंजन रखकर बिजलीकी रोशनीका प्रबंध किया गया है; और वहाँ हमारे यहाँ मूल बोधिवृक्षकी क्या क़दर है, यह हम जानते हैं। बोधगयाके मंदिरपर क़ब्ज़ा करके वस्तुतः हम अन्याय कर रहे हैं। मैंने कहा—इसीलिए मैं कह रहा था, बोधगया-के मंदिरको सोलहो आने बौद्धोंके हाथमें दे देना चाहिए।

अनुराधपुरसे ट्रेन पकड़कर राजेन्द्र बाबूका दल तलेमन्नार तथा भारतकेलिए रवाना हो गया। मुझे साथ छूटनेपर कुछ एकान्तता महसूस होने लगी।

कुछ दिनों बाद ७ जनवरीको ब्रह्मचारी विश्वनाथ भी पहुँच गये। एकमासे

कपड़े रंगकर घूमनेकेलिए निकले, तो अभीतक वह घूम ही रहे थे। मेरा उनके साथ बराबर पत्रव्यवहार रहा। मैंने उनके पास ऐतिहासिक स्थानोंकी यात्राका प्रोग्राम बनाकर भेज दिया था। त्रिपिटकको पढ़ते तथा पुरानी अन्वेषण-पत्रिकाओं और पुरातत्त्वकी रिपोर्टोंके पारायणसे स्थानोंके महत्त्वको मैं और भी समझने लगा था, इसलिए विश्वनाथका लंका पहुँचनेसे पहिले उन स्थानोंको देख लेना मैं ज़रूरी समझता था। उनकी इस यात्रामें—बोधगया, नालंदा, राजगिर आदि ही नहीं, बल्कि वैशाली, कुसीनारा, लुम्बिनी, जेतवन, संकाश्य, मथुरा, ग्वालियर, सांची, अजंता, एलौरा, पूना, बंगलोर आदि भी शामिल थे; और वर्षोंके मेरे तजर्बेसे उन्हें काफ़ी फ़ायदा और यात्राका आनन्द भी रहा। लंका आनेमें मंडपम्में कोई दिक़्क़त न हो, इसकेलिए मैंने उनकेलिए एक म्युनिस्पल पर्मिट भिजवा दिया था, और बड़ी उत्सुकताके साथ मैं उनके आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था।

मेरे वहाँ रहनेसे ब्र० विश्वनाथ (भदंत आनंद कौसल्यायन)को वह स्थान एक दिनकेलिए भी अजनवी न मालूम हुआ। पठन-पाठनके बारेमें मैंने काफ़ी सोच रखा था, और उनसे वार्तालाप करके उसे पक्का कर दिया। पाली और संस्कृत पढ़ना ज़रूरी था, जिसकेलिए मैं भी समय देने लगा। शामको घंटे-डेढ़-घंटेकेलिए हम साथ टहलने जाया करते थे, और उस वक़्त हम अपनी मानसिक समस्याओंपर निस्संकोच हो वाद-विवाद करते थे। ईश्वरका ख्याल उनकेलिए भी परेशानीका कारण था। वह भी देख रहे थे—एक म्यानमें दो तलवारकी तरह बुद्धके साथ ईश्वरका रहना असम्भव है। अन्तमें मेरी तरह और अपेक्षाकृत कम समयमें ही वह भी ईश्वरको बच्चोंका ख्याल समझ अपने उस मानसिक जद्दोजहदके दिनोंको परिहासकी चीज़ समझने लगे। कुछ ही समय तक वह ब्रह्मचारी विश्वनाथके रूपमें रहे, फिर साधु होकर उनका नाम आनंद पड़ा। मैंने अबतक तै कर लिया था, कि लंकासे एक बार तिब्बत जाना ज़रूरी है, क्योंकि वहाँ गये बिना बौद्धदर्शनकी शिक्षा और भारतके बौद्ध धर्मके इतिहासकी जिज्ञासा पूरी नहीं हो सकती। मैं यह भी जानता था, कि तिब्बत मैं छिपकर ही जा सकता हूँ, और इसमें मेरा भिक्षुका बाना बाधक होगा, इसीलिए मैं इच्छा रहते भी अभी भिक्षु नहीं बनना चाहता था।

लंकाका उस समयका वह जीवन बड़ी निर्द्वन्दताका जीवन था, यद्यपि साथ ही वह गम्भीर अध्ययनका भी था। नायकपाद (महास्थविर श्री धर्मानंद) मेरे शारीरिक आरामका वहुत ध्यान रखते थे, और उनको अफ़सोस होता था, कि मैं सिंहाली भोजनोंको बहुत कम रुचिसे खाता हूँ। दरअसल वहाँके भोजनोंमें लाल

मिर्च और मसालेकी अत्यधिकता मेरे बर्दाश्तके बाहरकी चीज़ थी। कभी-कभी मेरी रुचिके अनुसार मछली बनाई जाती थी, लेकिन अधिकतर मैं मक्खन, दूध, पावरोटी, उबले आलू, प्याज़ और तर्कारियोंपर गुज़ारा करता था। मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता था। पढ़ाईकेलिए पालीकी पुस्तकें तथा पुस्तकालयोंकी पुस्तकें मेरेलिए हाज़िर थीं, उनके अतिरिक्त तीस-चालीस रुपयेकी पुस्तकें प्रतिमास मैं भारत या यूरोपसे मँगाया करता। पास रहने, बोलने-चालनेकेलिए विहारके छात्र और अध्यापक तथा पीछे आनंदजी भी हो गये, यही कारण था मेरी निश्चिन्तता और निर्द्वन्दताका।

एक तरह १९२७ ई०में ही मेरे साहित्यिक जीवनका आरम्भ होता है। यद्यपि मैंने पहिला हिन्दी लेख 'भास्कर' (मेरठ) में १९१५ ई०में लिखा था, और उसके बाद भी जब तब हिन्दी उर्दूके पत्रोंमें लिखता रहा, किन्तु यहींसे लंकाके संबंधमें धारावाहिक रूपसे मैंने कुछ लेख 'सरस्वतीके लिये' लिखे। लंका रहते वक्त उनकी सर्व प्रियताका मुझे पता नहीं लगा। लंकाके संबंधमें उस समय कुछ लेख "विश्वमित्र" (दैनिक) और "मिलाप" (रोजाना) में भी लिखे थे।

मेरे पास पढ़ने वाले विद्यार्थियोंमें कुछ बिहार से बाहरके भी थे। श्री कंदैया जाफनाके तामिल तरुण थे। उन्हें संस्कृत पढ़नेका बहुत शौक था, किन्तु उनकी तमिल भाषामें संस्कृतके शब्दोंका बायकाट सा होनेके कारण उन्हें हरएक बात नये सिरेसे सीखनी पड़ती थी, और उसमें उन्हें बहुत दिक्कत पड़ती थी; तो भी वह बहुत दिनों तक लगे रहे। मैं उनसे फ्रेंच सीखता था। उनके संबंधसे मुझे जाफना देखनेका मौका (३—९ नवंबर १९२८) मिला। वहाँके गाँव, लोग, घर देखने पर वह मद्रासका टुकड़ा मालूम होता है। यद्यपि ब्राह्मणोंकी संख्या वहाँ नगण्यसी है, तो भी मद्रासकी छुआछूत यहाँ भी खूब जोरोंपर है। जाफनाके तमिल बड़े उद्योग-परायण हैं, और रोजगारके सिल-सिलेमें सिंगापुर, पिनांग तक भरे पड़े हैं। इतना होनेपर भी मद्रासके तमिलोंकी तरह न वे बड़े सूदखोर चेट्टी और व्यापारी हैं, न उनमें रबर-चायके बगीचोंके कुली ज्यादा हैं।

श्री जुलियस डि-लानरल भी कितने ही समय तक संस्कृत पढ़नेकेलिए आते रहे। इनका खानदान बापकी ओरसे एक फ्रेंच सामन्तकी सन्तान है, जो कांडीकी स्वतंत्रताके दिनोंमें आकर सिंहल-राजका कृपापात्र बन गया था। सीलोनमें धर्म, रंग और जात-पाँतिका भेद बहुत कम रहा है, और इसका श्रेय बौद्धधर्मको है। लानरल महाशयका रंग तो खैर अब साधारण सिंहल पुरुषों जैसा है, लेकिन

डाक्टर केसियस परेरा और उनके भाई जैसे युरोपीय रंगवाले हालके युरोपीय सन्तानोंके भी सिंहालियोंमें खप जानेमें कोई दिक़्क़त नहीं हुई। ब्याह-शादीमें वे लोग धर्मका बिल्कुल ख़्याल नहीं रखते। पति ईसाई है, और स्त्री बौद्ध—ऐसे उदाहरण हज़ारों हैं। मुसल्मान और तमिल हिन्दूके साथ ब्याह-शादी नहीं होती, किन्तु इसका कारण ज़्यादातर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है।

लंकाके उन्नीस मासके निवासमें जब तब घूमनेका भी मुझे मौक़ा मिला था। अनुराधपुरमें पहिले-पहिल मैं मेलेके वक़्त गया था। हज़ारों स्त्री-पुरुष लंकाके कोने-कोनेसे मोटरबसोंमें आये थे और एक खुली जगहमें मोटरें पाँतीसे खड़ी हुई थीं। अनुराधपुरके बारेमें उसी वक़्त मैंने "सरस्वती"में एक सचित्र लेख लिखा था।[1]

× × ×

इस यात्रा (१३-१६ जून १६२७)में अनुराधपुरसे हम महिन्तले और त्रिकोमले (लंकाके पूर्वीय तटपर) गये थे। वहाँसे काकवर्ण विहारकी यात्रा बहुत अच्छी रही। जाफना, अनुराधपुर, त्रिकोमले अब भी लंकाके भाग हैं, और किसी वक़्त सिंहल लोगोंके पूर्वज भारतसे यहीं आकर बसे थे; किन्तु आज इन भागोंके शहरों और बाज़ारोंमें अजनबीकी भाँति दो-एक सिंहल स्त्री-पुरुष मिलेंगे, इन अंचलोंमें सिंहाली भाषा समझी तक नहीं जाती। त्रिकोमलेसे हम नाव द्वारा समुद्रकी छोटीसी खाड़ी पार हुए। हवा तेज़ थी, इसलिए पाल एक बार टूटकर एक ओर लटक गया, जिससे नाव करवट होने लगी थी; ख़ैर कोई दुर्घटना नहीं हुई, नहीं तो उस बड़ी नावपर बहुतसे स्त्री-पुरुष यात्री चढ़े हुए थे। पार तमिल-भाषा-भाषी मुसल्मानोंके गाँव थे। शायद हमें पैदल ही चलना पड़ा था। महाबली गंगा-को पार करनेपर, याद है, मुझे बहुत भूख लगी थी, उस वक़्त किसी सिंहल गृहस्थने ताज़ा प्याज़ डालकर टिनकी सोलमन मछली प्रदान की थी। रास्तेमें यात्रियोंके ठहरनेकेलिए कुछ पान्थशालायें थीं, जिनमें चटाइयाँ भी मिल जाती थीं, किन्तु सूखी मछलियोंकी गन्धके मारे मेरी तो नाक फटती थी। काकवर्ण विहार (सेरुवाविल)का स्तूप जंगलमें है। हालमें ही कुछ ज़मीन साफ़ की गई थी, किन्तु वह स्तूपके आस ही पास, जंगलमें अब भी वन्यपशुओंका डर था। भिक्षुओंने अपना अस्थायी आवास बना लिया था,) और स्तूपकी मरम्मतका थोड़ा-बहुत काम शुरू हो गया था। अनुराधपुरकी भाँति यदि यहाँ रेल, मोटरका सुभीता होता, तो

[1] देखो मेरी "लंका"

काकवर्ण विहारमें सिंहल भिक्षुओं और गृहस्थोंकी एक अच्छी खासी बस्ती बस जाती।

दक्षिण-पूरबके कोनेको छोड़कर सिंहल (लंका) द्वीपके प्राय: सारे भागोंमें मुझे जानेका मौक़ा मिला था, मैंने उसकेलिए मौक़ा निकाला था। याद नहीं गालसे तिस्समहाराम और खत्तरगम् एक ही बारमें गया था या दो बारमें। यह दोनों स्थान लंकाके दक्षिण अंचलमें हैं। तिस्समहाराम किसी वक़्त अच्छा नगर था, किन्तु यह हज़ारों वर्ष पहिलेकी बात है, अब आसपास सिंहल लोगोंके गाँव हैं, और पुरातन सरोवरसे सींचे हुए धानके खेत सालके अधिक भागोंमें लहलहाते रहते हैं। खत्तर-गम्में कार्तिकेयका मन्दिर है, अब भी इसके आसपास घोर जंगल है, जिसे कई मील पार होकर वहाँ पहुँचना पड़ता है। मैं रातको एक भिक्षुके साथ जंगलके किनारे-वाले गाँवमें पहुँचा था। लंकाके हर एक बड़े गाँवमें भिक्षु-विहार होना ज़रूरी है। हमलोग गाँवसे बाहर उसी विहारमें ठहरे। रात अधिक चली जानेसे उस वक़्त तो नहीं, किन्तु बड़े तड़के ही कितने ही गृहस्थ तालपत्रपर लिखी जन्मकुंडलियोंको ले जम्बू-द्वीपीय पंडितका नाम सुनकर पहुँचे। खुशक़िस्मतीसे हमलोग उस वक़्त तक बैलगाड़ी-पर खत्तरगम्केलिए रवाना हो गये थे। जंगलके रास्तेमें हमारे साथी कहते जा रहे थे, कि यहाँ अब भी जंगली हाथी हैं, और कभी-कभी राहगीरोंपर टूट पड़ते हैं। वह इस तरह बात कर रहे थे, जिससे मालूम होता था हमारी गाड़ी भी अबतबमें उलटना ही चाहती है। खत्तरगम् एक छोटीसी पहाड़ी नदीके तटपर है। यहाँ कार्त्तिकेय मन्दिर तथा बौद्धविहारके अतिरिक्त एक हिन्दूमठ और दो-चार और घर हैं। हमलोग किसी मेलेके वक़्त गये थे, इसलिए हज़ारों तमिल हिन्दू स्त्री-पुरुष —अधिकांश चाय-रबरके बगीचोंके क़ुली—आये हुए थे, और दूकानदारोंने फूसके झोपड़े बना लिये थे। हम बौद्धविहारमें ठहरे थे, किन्तु उत्तर-भारतीय हिन्दू-संन्यासी के बारेमें सुनकर मैं हिन्दूमठमें भी गया। धूनी लगी हुई थी, चिमटा और चिलम रखी थी, मृगछाला या कम्बलपर एक अधेड़ गोसाईं साधु बैठे हुए थे। सीलोनमें गाँजाकी मनाही होनेसे गोष्ठी जम नहीं रही थी। मेरे वेषको देखते ही उन्होंने आसन देकर बैठाया। पूछनेपर मालूम हुआ, उनका जन्मस्थान युक्तप्रान्तमें किसी जगह है, और तीर्थयात्राके सिलसिलेमें रामेश्वर आये थे, यह मठ रामेश्वरके मठकी शाखा है, इसलिए वहाँसे यहाँ भेज दिये गये। गाँजेके अभावके सिवा उन्हें कोई शिकायत न थी। वह अनपढ़से आदमी थे, किन्तु ज्यादा दिन रहते-रहते तमिल और सिंहल भाषाओंको बोल लेते थे। साथमें एक नेपाली योगिनी थी, जो उनकी अपेक्षा कम

उम्रकी थी। इस घोर जंगलमें जन्मस्थानसे इतनी दूर, अपने प्रिय पदार्थ गाँजे-सुलफ़ेसे वंचित रहनेपर उनके मनको लगानेमें उस योगिनीका हाथ कम न था। सन्तानके कारण मठ गृहस्थका घरसा न मालूम होने पावे—बस इस शर्तके साथ योगी-योगिनीका संग क्या बुरा है।

खत्तरगम्के कार्तिकेयकी पूजाकेलिए आए हुये तमिल नरनारी अँधेरा हो जानेपर रातको अपने-अपने सिरोंपर मिट्टीके बर्त्तनोंमें आग जलाये हुए पाँतीसे खड़े थे, और बड़ी श्रद्धासे अर्धजंगली स्वरमें जयकार मना रहे थे। मन्दिरके प्रधान सिंहल बौद्ध हैं, और इस बातको तमिल हिन्दू पसन्द नहीं करते—लेकिन यह सब सिर्फ़ चढ़ावेके बँटवारेको लेकर, नहीं तो, सिंहल लोग विष्णु, विभीषणकी भाँति कार्त्तिकेयको भी एक बड़ा देवता मानते हैं, और गृहस्थ लोग उनकी पूजा भी अपने ढंगसे करते हैं। यदि भिक्षु पूजा नहीं करते, तो उसका कारण यह है, कि भिक्षुके शिर नवानेसे देवताका—जो कि सभीके सभी गृहस्थ हैं—अनिष्ट हो सकता है, उसका शिरतक गिर सकता है। देवताको आशीर्वाद देनेमें कोई भिक्षु कोताही नहीं करता।

उस पंडितवेषमें भी, जब कि मैं भिक्षु न होनेसे गृहस्थसा समझा जाता था, मेरे व्याख्यानोंकी बड़ी माँग थी, और देशदर्शनका सुभीता देखकर मैं कितनी ही जगह चला जाता था। व्याख्यान मैं संस्कृतमें देता, और मेरे शिष्योंमेंसे कोई सिंहल भाषामें अनुवाद करता जाता। बौद्ध धर्मोपदेश (बण, भण) सिंहलमें खा-पीकर १० या ११ बजे रातको शुरू होते हैं, और कभी-कभी तो वे सबेरे तक चले जाते हैं। व्याख्यान देते वक्त मैं देखता, थोड़ी ही देरमें आधी श्रोतृमंडली ऊँघने लगती, किन्तु जागनेवालोंके ख्यालसे तो वक्ताको अवश्य अपना व्याख्यान जारी रखना पड़ता। इन सभाओंमें स्त्री-पुरुष—विशेषकर स्त्रियाँ—सजधजकर आती थीं। व्याख्यानके शुरूमें बहुत जगह आतिशबाज़ी छोड़ी जाती। बहुतोंके सो जानेपर भी इसमें शक नहीं सिंहल नरनारी भाषणकी क़दर करते हैं, और उसके कारण अपने धर्मके बारेमें काफ़ी जानते हैं।

मद्रासकी भाँति सिंहलमें भी पर्दाका नामतक नहीं है। साधारण श्रेणीकी स्त्रियाँ आम तौरसे सफ़ेद लुंगी, अठारहवीं सदीकी युरोपीय स्त्रियोंकासा ब्लौस (चोली) पहनती हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनके पास कुछ रहता है, तो एक छोटीसी रूमाल और छत्ता। शिर बराबर नंगा रखती हैं, और सँवारकर बाँधे जुड़ेको फूल या रत्नजटित केश-सूचियोंसे सजाती हैं। पिछली यात्राओंमें मैंने अपने सामने साड़ीके रवाजको बढ़ते देखा, और साड़ीमें वह ज्यादा विनीत मालूम होती

हैं, इसमें शक नहीं। विद्यालंकार विहारके बाहर सड़ककी दूसरी तरफ़ एक गृहस्थ-का घर था, उसमें एक तरुण कन्या रहती थी। मुझे टहलने तथा डाकखानेमें जाते वक़्त उधरसे गुज़रना पड़ता था। एकाध बार हमारी चार आँखें हुईं, उसके बाद मैं देखने लगा, कि जब भी मैं उधरसे गुज़रता, या धर्मोपदेश सुनने या पूजा करने वह विहारमें आती, तो मेरी ओर निस्संकोच हो—हाँ, दूसरोंसे दृष्टि बचाकर—देखती। मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ था, क्योंकि वह गोरी और कुछ सुन्दर-सी थी। इसमें भी शक नहीं, कुमारी होनेसे उसके साथ व्याह करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती थी, किन्तु व्याहका नाम आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते, मेरे पर कटकर गिरतेसे दिखलाई पड़ते। और कन्या-संसर्गका यह छोड़ दूसरा परिणाम क्या होता? मैंने दृढ़तासे काम लिया, लेकिन साथ ही इस दृढ़तामें मेरा स्वाभाविक संकोच और उस लड़कीकी लज्जाशीलता मुख्यत: सहायक हुई, नहीं तो, उसकी तरफ़से मामला आगे बढ़नेपर मेरेलिए बचना मुश्किल होता। तीन साल बाद मैंने उसी तरुणीको एक बच्चेकी माँ हुई देखा। उसका वह सौन्दर्य न जाने कहाँ उड़ गया था, जिसके कारण कि मैं उस ओर आकर्षित हुआ था। यौवन-सौन्दर्यके अचिर प्रभात्वके ख्यालने मुझे अपनात्व खोनेमें बड़ी सहायता की है।

आनन्दजी अब मेरे साथ रहते थे, इसलिए अपने निर्णयमें एक और सहृदय व्यक्तिकी सहायता सुलभ थी। मेरे तिब्बत जानेके बारेमें वह भी सहमत थे। अन्य कामोंके साथ-साथ मैंने पुस्तकसे स्वयं तिब्बती भाषा सीखनी शुरू की। १६२८ के उत्तरार्द्धमें कोलम्बोमें मंगलोर ज़िलेके एक तरुण ब्राह्मण अनन्तराम भट्टसे मुलाक़ात हुई। वह संस्कृतके अच्छे पंडित थे, लंकामें सारी परीक्षायें लन्दन विश्वविद्यालयकी होती हैं, इसलिए मेट्रिक देनेके ख्यालसे वह वहाँ चले आये थे। मेरे चले जानेपर विद्यार्थियोंके संस्कृताध्ययनमें बाधा होती, इसलिए मैं चाहता था, कि कोई संस्कृतका विद्वान् यहाँ आ जाये। नायकपादने भारतसे किसीको मँगवा देनेकेलिए कहा था, किन्तु उस वक़्त वैसा व्यक्ति कोई नज़रपर न आ रहा था। अनन्तरामजीसे पूछने-पर मालूम हुआ, कि वह स्वावलम्बी हो पढ़ना चाहते हैं, और अभी उन्हें स्थायी काम नहीं मिला। मैंने उन्हें विद्यालंकारमें अध्यापनकेलिए कहा, और वे तो ऐसा कोई काम चाहते ही थे। अनन्तरामजीके मेट्रिक पास करनेसें मैं असहमत था, मैं उनसे कहता था अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों-पत्रिकाओंको पढ़ो। कुछ पैसा जमाकर दो वर्षकेलिए जर्मनी चले जाओ, वहाँसे पी० एच्० डी० होकर चले आओगे। क्या ज़रूरत है लन्दन विश्वविद्यालयका मेट्रिक, फिर बी० ए० फ़ेल-पास करते ज़िन्दगीके

आठ-दस वर्षोंको बर्बाद करनेमें। किन्तु मैं लंका छोड़ते वक़्ततक उन्हें यह बात समझा देनेमें समर्थ नहीं हुआ था।

प्रस्थान करनेसे पहिले विद्यालयने मुझे (३ सितम्बर १९२८) 'त्रिपिटकाचार्य'की उपाधि प्रदान की।

३

लंकासे प्रस्थान

१ दिसम्बर (१९२८)को मैं भारतकेलिए रवाना हुआ। असलमें यह भारतकेलिए नहीं, तिब्बतकेलिए रवाना होना था। पाली त्रिपिटिक और दूसरी बहुतसी पुस्तकें मैंने लंकामें जमा कर ली थीं, जिनको रेलवेसे पटनाकेलिए रवाना कर दिया। मैं जिस वक़्त लंका आया था, उस वक़्त पालीको सिर्फ़ छूआ भर था, संस्कृतको मैंने अच्छी तरह पढ़ा था, लेकिन पुरातत्त्व, पुरालिपि, और इतिहासकी मौलिक सामग्रीका मेरा अध्ययन नहींके बराबर था। अब इन चीज़ोंका मुझे काफ़ी ज्ञान था: मैंने १९ महीनोंमें सिर्फ़ पाली त्रिपिटकका ही अध्ययन नहीं किया, बल्कि भारत, लंकाकी पुरातत्त्वकी रिपोर्टों, हिन्दुस्तान और विदेशोंकी इतिहास-सम्बन्धी अनुसन्धान-पत्रिकाओंका विधिवत् पारायण किया था। भोट (तिब्बत) भाषाका किताबोंसे थोड़ासा अध्ययन किया था, और भारतीय सर्वे-विभागके नक़्शोंको देखकर यह भी तय कर लिया था, कि नेपालके रास्ते ही मैं तिब्बतके भीतर घुस सकता हूँ। लेकिन नेपाल शिवरात्रिके समय ही जाया जा सकता था, इसलिए मैंने इन तीन महीनोंको भारतके बौद्ध ऐतिहासिक स्थानोंको देखनेमें लगानेका निश्चय किया।

विद्यालंकार विहारके नायक श्री धर्मानन्द महास्थविरसे मैं विदाई ले रहा था, मैंने देखा उनकी आँखें गीली हैं। महास्थविरका स्वभाव बहुत ही सरल और मधुर है, जिससे मैं भी बहुत प्रभावित था। मैं अपने पीछे भिक्षु आनन्द कौसल्यायनको छोड़ जा रहा था।

कोलम्बोसे रेलमें सवार हो मैं तलेमन्नार पहुँचा और वहाँसे जहाज़ पकड़कर समुद्रकी छोटीसी खाड़ी पार हो धनुषकोडी। किताबोंको ऐसे ही छोड़ जाता, तो कस्टमवाले चार मन पुस्तकोंको देखनेमें न जाने कितनी देर लगाते; इसलिए मैंने उन्हें अपने सामने ही दिखलाकर पटनाकेलिए रवाना करा दिया। उस वक़्त पंडित

जयचन्द्र विद्यालंकार बिहारविद्यापीठमें अध्यापक थे, मुझे विश्वास था कि वह उन्हें सँभाल लें। अब मैं खाली हाथ था। यात्रामें आदमी जितना ही कम सामान रखे, उतना ही अच्छा रहता है। रामेश्वरमें १,२ दिन और मदुरामें भी उतना ही ठहरा। मदुरामें मैं एक उत्तर भारतीय आर्यसमाजी उपदेशकका नाम जानता था, इसलिए उनके पास चला गया। वहाँके विशाल मीनाक्षी मन्दिरको देखना चाहता था। वैसे एक वार १५ साल पहिले भी इस मन्दिरको देख चुका था, किन्तु उस वक़्त मेरे पास ऐतिहासिक दिव्यदृष्टि नहीं थी। मन्दिरकी विशालता और उसका प्रस्तर-शिल्प आकर्षक ज़रूर था, लेकिन वही मूर्त्तियाँ जो कभी मुझे अच्छी मालूम होती थीं, अब भद्दी मालूम हो रही थीं। हाँ, मदुरा (दक्षिण-मथुरा) में मुझे एक बात बहुत नई मालूम हुई। वहाँके साड़ी (रेशमी और सूती) बुननेवाले पटकार तमिल भाषा नहीं, बल्कि उत्तर-भारतीय भाषा बोलते हैं। रंग-रूपमें भी वह उत्तर-भारतके गेहुएँ रंगवालोंसे ज्यादा मिलते थे। इनकी संख्या मदुरा शहरमें आधेसे कम नहीं है। यद्यपि ये लोग अपनेको सौराष्ट्र (काठियावाड़)से आया कहते हैं, लेकिन उनकी भाषा कुछ मगही और बँगलाके बीचकी मालूम हुई।

श्रीरंगम्‌में १, २ दिन रहकर पूना पहुँचा। अभिधर्मकोषके खंडित अंशोंको फ्रेंच अनुवादसे पूरा करके उसपर मैंने एक संस्कृत टीका लिखी थी। तिब्बत जानेकेलिए कुछ रुपयोंकी ज़रूरत थी, समझा था पूनाके किसी प्रकाशकसे इस पुस्तकके लिए कुछ रुपये मिल जायंगे। लेकिन संस्कृत पुस्तकोंके प्रकाशक लेखकोंको रुपया देना कम पसन्द करते हैं। पूनासे मैं कार्लेके गुहाविहारको देखनेकेलिए उतरा। शायद पहिले आया होता, तो उसकी चैत्यशाला, भिन्न-भिन्न कोठरियों और खंभोंपर खुदे दाताओंके नामोंको न समझ पाता, लेकिन अब वह मेरेलिए बहुत कुछ खुली पुस्तक-सी थी। कार्लेको देखकर फिर मैं नासिक गया और वहाँकी गुफाओंके देखनेके बाद एलौरा जानेकेलिए औरंगाबाद उतरा। जिस वक़्त स्टेशनसे बाहर हुआ, उसी वक़्त पुलिस पीछे पड़ी। नाम, गाँव तो मैंने बतला दिया, लेकिन बाप-दादोंका नाम जब पूछने लगे तो मैंने बतलानेसे इनकार कर दिया। फिर क्या था, पुलिस मुझे पकड़कर वहाँके हकिम तहसीलदारके यहाँ ले चली, कितनी ही देरतक इधर-उधर घुमानेके बाद तहसीलदार साहबके सामने खड़ा किया। मैंने पुलिसकी धींगामुस्तीका विरोध किया, और न जाने क्या सोचकर तहसीलदारने मुस्कराते हुए कहा——नहीं, ग़लती हुई। लेकिन आजकल मदरासके गवर्नर एलौरा देखनेकेलिए आये हैं, इसीलिए पुलिसको ज्यादा सावधानी रखनी पड़ती है।' पूनासे मुझे किसी महाराष्ट्र सज्जनका

नाम मालूम हो गया था, उनके घर चला गया और जो थोड़ा-बहुत सामान था, उनके पास रखकर एलौराकी मोटर लॉरी पकड़ी।

लॉरीसे जिस वक़्त उतरा, उस वक़्त एक यूरोपीय सज्जनको भी उतरते देखा; लेकिन हम दोनों अपना-अपना रास्ता नापते गये। एलौराका परिदर्शन कई दिनका काम है, वहाँकी तीसों विशाल गुहाएँ, जिनमें बहुतोंको गुहा नहीं महल कहना चाहिए, भारतीय मूर्त्तिकला, वास्तुकलाके बहुत सुन्दर नमूने हैं। मैं पहिले कैलाश मन्दिरमें घुसा। एक शिखरदार विशाल मन्दिर पहाड़ खोदके निकाला गया है और जिसकी दीवारोंमें हजारों सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। उनमें कहीं रामायणका दृश्य है, और कहीं दूसरे पौराणिक दृश्य। निश्चय ही इस अद्भुत कलाके सामनेसे मैं जल्दी-जल्दी पार नहीं हो सकता था। यूरोपीय सज्जन—जो एक अमेरिकन ईसाई-मिशनके प्रधान व्यक्ति मिस्टर सूथर थे—भी देख रहे थे। उन्होंने मुझसे कुछ पूछा और चन्द ही मिनटोंमें हम दोस्त बन गये। हमने अँधेरा होनेतक गुफाओंको घूम-घूमकर देखा। मिस्टर सूथर अंकोटवाट (कंबोडिया) के विशाल मंदिरको देखकर आए थे, लेकिन कह रहे थे, कि एलौराके सामने वह कुछ नहीं है। हिन्दू देवी-देवताओंका तो मुझे परिचय था ही, बौद्ध मूर्त्तियोंमें मैं महायानकी मूर्त्तियोंसे अभी कम परिचित था, लेकिन और बौद्ध मूर्त्तियोंको तो जानता था। एलौरा गुफाके पास ही पुलिसवालोंकी चौकी थी, हमने उन्हें कुछ खाना पका देनेके लिए कहा, तो सिपाहियोंने बड़ी खुशीसे, शायद रोटीके साथ अण्डा उबालके दिया था। हम दोनोंने कैलाशके चश्मे पर बैठकर-दोपहरका जलपान किया; शामको भी सिपाहियोंने खाना बना दिया, और दो चारपाई भी सोनेकेलिए दे दी। औरंगाबादका तजर्बा बहुत कड़वा था, लेकिन यहाँके सिपाहियोंने बहुत सौजन्य दिखलाया।

दूसरे दिन खुल्दाबादमें औरंगज़ेबकी क़ब्र और देवगिरि (दौलताबाद) में यादवोंके गिरि-दुर्ग और वीरान नगरको देखते हम औरंगाबाद चले आए। मिस्टर सूथरको भी अजंता देखना था, वह डाक-बँगलेमें ठहरे हुए थे, मुझे भी उन्होंने साथ ही रहनेका आग्रह किया। सामान लेकर मैं भी डाकबंगले पर चला आया।

दूसरे दिन मोटर-लारीसे फर्दाबादके लिए रवाना हुए। जाड़ोंके दिन थे इसलिए गर्मीकी कोई फिकर नहीं थी, फर्दावाद डाकबँगलेमें हम लोग ठहरे। सूथर भी चपाती को पेटभर खा सकते थे, इसलिए खानेकी कोई दिक्कत नहीं थी। डाकबँगलेके सिपाहीने मुर्ग-मुसल्लम और अण्डे बनाकर भी हाजिर कर दिए थे। यद्यपि हिन्दुस्तानसे लंकाकेलिए रवाना होनेसे पहिले भी मुझे खाने-पीनेमें छुआछूत-

का ख्याल नहीं था, लेकिन भक्षाभक्ष्य ज़रूर साथ गया था। लंकाने मेरेलिए ईश्वरकी बची-बचाई टाँग हीको नहीं तोड़ दिया, बल्कि खानेकी भी आज़ादी दे दी थी और साथ ही मनुष्यताके संकीर्ण दायरोंको तोड़ दिया था। दूसरे दिन हम अजंता देखने गये। जिन चित्रों और मूर्त्तियोंको मैंने तसवीरोंमें देखा था, अब वह हमारे सामने थे। अकेले होने पर भी मैं अजन्ता देखने में उतना ही समय लगाता, लेकिन दो रहनेसे हमें देखनेमें बहुत आनन्द आया। वस्तुतः ऐसी यात्रायें अकेली करनेके लिए नहीं हैं। हाँ, यदि हम दोनोंकी इन दृश्योंके प्रति एक समान दिलचस्पी न होती, तो शायद उतना आनन्द न आता। अजन्ता देखकर जब हम डाकबँगलेको लौट रहे थे, तो हमारे आगे आगे दो मूर्तियाँ जा रही थीं—एक था नौजवान हाकिमजादा और दूसरा उसका नौकर। दोनों एक दूसरेसे १५ क़दम आगे-पीछे चल रहे थे। हम दोनों बात करते हुए लौट रहे थे, लेकिन सूथरका ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रहा। उन्होंने मुझसे पूछा—यह दोनों क्यों नहीं साथ-साथ बातचीत करते चल रहे हैं?

मैंने कहा—यह सामन्तयुगके लोग हैं, मालिक नौकरसे कैसे बातचीत करते चल सकता है, तब तो मालिक-नौकर बराबर हो जाएँगे।

सूथरको कुछ ताज्जुब ज़रूर हुआ, लेकिन फिर हम अपनी बातमें लग गये।

फ़र्दाबादसे हमने आगे किसी गाँवतक बैलगाड़ी की और फिर लॉरीसे जलगाँव चले आये।

सूथरको भी साँचीके स्तूप देखने थे, लेकिन, रास्तेमें कुछ काम था या क्या, वह इसी ट्रेनसे नहीं जा सके। मैं साँची उतरा, और घूम-घूमकर वहाँके स्तूपों और उनके तोरणोंपर उत्कीर्ण इक्कीस सौ बरस पुरानी मूर्त्तियोंको देखा। जब मैं स्टेशनकी ओर लौट रहा था, तब मिस्टर सूथर आते दिखाई पड़े। एक बार फिर मैं उन्हें दिखानेकेलिए गया। यद्यपि साँचीके बाद हम दोनों फिर मिल न सके, सूथर अमेरिका चले गये और मैं दुनियामें कहाँ-कहाँ भटकता रहा; लेकिन वर्षोंतक हम अपने पत्रों द्वारा एक दूसरेसे मिलते रहे।

साँचीके बाद दूसरी मंज़िल थी, कोंच (ज़िला जालौन)। स्वामी ब्रह्मानन्द, पन्नालालजी, श्यामलालजीके साथ इतनी आत्मीयता स्थापित हो गई थी, कि हो नहीं सकता था, मैं उधरसे गुज़रूँ और कोंच न जाऊँ। यद्यपि हमारा स्नेह आर्यसमाजीके नाते हुआ था और मैं अब आर्यसमाजी नहीं था, मेरा एक पैर था बौद्धधर्ममें और दूसरा साम्यवादमें; लेकिन हमारे स्नेहमें कोई अन्तर नहीं था। फिर मैंने

दो-चार दिनतक बुंदेलखंडी भोजन और मधुर भाषाका आनन्द लिया। अकेली यात्रा तो फक्कड़ोंकी ही अच्छी होती है, इसलिए मैंने फिर धूपनाथके दिए अंडीकी कम्बलकी अल्फ़ी और मदरासी पीतलकी ढक्कनदार डोलची हाथमें ली। कानपुरसे छोटी लाइन पकड़कर कन्नौज पहुँचा। शहर पारकर किसी बगीचीमें एक धर्मशालामें ठहरा।

कन्नौज किसी समय हिन्दुस्तानका सबसे बड़ा शहर था। कन्नौजके वैभवको छीनकर १३वीं सदीमें दिल्ली आबाद हुई और तबसे कन्नौज उजड़ता ही गया। अब भी उसकी गलियोंमें अतरकी खुशबू आती है, लेकिन मैं जानता था कि, यह अपने लिए नहीं, दूसरोंकेलिए है। शहरके आसपास जितने ऐतिहासिक स्थानोंका पता लग सका, मैं उनकी खाक छानता फिरा। एक जगह मैंने देखा, बुद्धकी खंडित मूर्त्ति किसी देवीके नामसे पूजी जा रही है। पूजनेवाले शायद समझते हैं, कि देवताओंमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं होता। ग़रीब चमारोंके यहाँसे मुझे कुछ पुराने सिक्के मिले, लेकिन वह मुसलिमकालके पैसे थे। रेल जानेमें देर थी, इसलिए मैं मोटरके अड्डेकी तरफ़ जा रहा था। रास्तेमें कुछ मुसलमान भद्रजन मिले। मेरी उमर पैंतीस सालकी थी, लेकिन देखनेमें शायद ५, ७ सालका कम लगता, तो भी उस उमरतक तो दाढ़ी काफ़ी बढ़ आती है। मेरे चेहरेपर १०, १२ दिनके बढ़े बाल भले ही हो सकते हैं, लेकिन उन्हें दाढ़ी नहीं कहा जा सकता था। तो भी मुसलमान भद्रजनोंने न जाने क्यों "अस्सलामलेक, आइए शाहसाहब!" कहकर मुझे बैठनेकेलिए निमंत्रित किया। हो सकता है मेरी काली अलफ़ीने शाहसाहबका रूप दे दिया हो। मुझे लॉरी जल्दी पकड़नी थी, इसलिए उनसे क्षमा माँगते हुए छुट्टी ली। आगे फ़र्रुख़ाबाद या फ़तेहगढ़में मैंने लॉरी छोड़ी और रेल पकड़ी। मोटा स्टेशनपर रातको चारों ओर खुले मुसाफ़िरख़ानेमें सोना पड़ा और अलफ़ी जाड़ेकेलिए काफ़ी नहीं मालूम हुई।

दूसरे दिन संकिसा (संकास्य) गया। संकिसा भी बौद्धोंका एक पवित्र स्थान है। मैंने बौद्धग्रन्थोंमें पढ़ा था, कि कैसे बुद्धको एक बार अपनी माता मायादेवी याद आईं। वह सात दिनके भी न हो पाये थे कि मायादेवीका देहान्त हो गया और वह तुषित देवलोकमें जाकर पैदा हुईं। देवताओं और देवलोकको आर्यसमाजने मेरेलिए ध्वस्त कर दिया था, इसलिए बुद्धका अनुयायी होते हुए भी मैं इन बच्चोंकी कहानियोंपर विश्वास करनेकेलिए तैयार नहीं था। खैर, कथा यह थी कि बुद्ध अपने धर्मामृतका पान करानेकेलिए माँके पास देवलोक गये और उपदेश देते हुए वर्षाके तीन मास

वहीं बिताये। फिर मृत्युलोकमें उतरते वक़्त वह यहीं संकास्यमें उतरे। सीढ़ियोंसे उतरते वक़्त दाहिने-बाएँ ब्रह्मा और इन्द्र उनकी सेवामें चल रहे थे। सम्भव है बुद्धके सभी वर्षावासोंके स्थान आदिका पता भिक्षुओंको था, लेकिन एक वर्षावास उन्होंने किसी अज्ञात स्थानमें बिताया, और उसकेलिए तुषितभवनकी कथा गढ़ी गई। बुद्ध-निर्वाणके सवा दो सौ वर्ष बाद इस कथापर ज़रूर विश्वास किया जाता था, तभी तो अशोकने संकास्यमें अपना पाषाणस्तंभ स्थापित किया। उस स्तंभका पता नहीं लगा, लेकिन किसी समय उसके ऊपर जो हाथी शोभा दे रहा था, वह अब भी वहाँ मौजूद है।

संकिसासे मैं फिर स्टेशनको लौटा और शिकोहाबाद होते भरवाड़ी (इलाहाबाद) उतरा।

अब मुझे कौशाम्बी जाना था। भरवाड़ीसे पहिले मैं पभोसा जाना चाहता था, क्योंकि यमुनासे उत्तर मैं समझता था कि कोई पहाड़ी नहीं है, लेकिन लंकामें त्रिपटक पढ़ते वक़्त इस पहाड़ीका पता लगा था। पहिले तो मैं इसे ग़लत समझ रहा था, लेकिन आनन्दजी देख गये थे, इसलिए विश्वास करना ही था। भरवाड़ीसे मैंने इक्केकी सड़कतककेलिए इक्का किया था। जब इक्का छोड़कर सराडी (?) गाँवसे बाहर निकल रहा था, तो एक बहुत सीधेसादे मुसलमान भद्रपुरुष मिले, सलाम किया, हाथ मिलाया और शाहजीको "ग़रीबख़ाने" पर ले जानेकेलिए बहुत आग्रह करने लगे। शाहजी जो गाँवके भीतर रहते, तो शायद मान भी लेते, लेकिन वह गाँवसे बाहर चले आये थे और साथ ही मजूरीपर दो पथप्रदर्शक लड़कोंको साथ ले लिया था। खैर, वहाँसे छुट्टी ली। आगे चले। मालूम तो था ही नहीं कि पभोसा कितनी दूर है, लड़कोंमें भी एक कन्नी काट गया, और दूसरेको हिचकिचाते देख मैंने उसे लौटा दिया। जबतक दिन था और आदमी मिलते गये, तबतक मैं रास्ता पूछते हुए आगे बढ़ता गया। निश्चय होने लगा कि दिन-दिनमें पभोसा नहीं पहुँच सकता। रास्तेमें एकाध जगह रहनेकी कोशिश की, लेकिन जगह नहीं मिली। नालेतक पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। चोरबत्तीसे कभी-कभी देखकर यह तो मालूम होता था, कि मैं रास्तेपर चल रहा हूँ, लेकिन कहाँका रास्ता, इसका कौन ठिकाना था। काफ़ी अँधेरा हो गया था, और मैं गाँवसे निराश होने लगा। उस वक़्त मुझे बग़लमें पोखरेका भीटा दिखाई दिया। वहाँ एक कोई देवीका टूटा-फूटा मन्दिर था। मैंने सोचा, अब रातको यहीं विश्राम किया जाय। लेकिन जरा ही देरमें आदमियोंके बोलनेकी आवाज़ कानमें आई। पासमें ही

कुछ गाड़ीवान ठहरे थे। वहाँ जानेपर उन्होंने पुआल दे दिया, और रातको मैं सो गया।

सबेरे देखा तो गाँव बिल्कुल नज़दीक है और जैनधर्मशाला और भी नज़दीक है। यमुनामें मुँह-हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। धर्मशालेमें गया, तो वहाँ कुछ तीर्थयात्री जैन नर-नारी मिले। उन्होंने खानेकेलिए आग्रह किया, यह तो बड़े उपकारकी बात थी, मैं क्यों न स्वीकार करता। उनके साथ ही पहाड़ीकी जड़में बने जैनमन्दिरमें गया। मन्दिर तो नया है। उसके आँगनमें भी पक्का फ़र्श है। फ़र्शपर जहाँ-तहाँ कुछ नीले-पीले छोटे-छोटे दाग़ थे। जैनगृहस्थने समझाया कि किसी वक़्त यहाँ केसरकी वर्षा हुआ करती थी, अब कलियुगके प्रतापसे यही पीली-पीली चीज़ आसमानसे पड़ती है। पहाड़में कुछ जैनमूर्त्तियाँ खुदी थीं। २०, २१ सौ सालका पुराना कोई शिलालेख था, जो कुछ ही साल पहिले चट्टानके टूटनेसे नष्ट हो गया। आस ही पासमें दो पहाड़ियाँ थीं। मैंने दोनोंको घूमकर देखा। बुद्धके वक़्त यहाँ कोई प्राकृतिक जलाशय (देवकटसोब्भ) था, किन्तु अब उसका कोई पता नहीं। भोजन और विश्रामके बाद मैं पैदल ही कोसमकेलिए रवाना हुआ, जैनगृहस्थ नावसे चलनेवाले थे, और उन्होंने मुझे भी साथ चलनेके लिए निमंत्रण दिया, लेकिन मैंने पैदल चलना ही अच्छा समझा।

बुद्धके वक़्तमें कौशाम्बी भारतकी बहुत बड़ी नगरी थी, यह वत्सदेशके राजा उदयनकी राजधानी थी। उदयनके रँगीले जीवन और उसका प्रद्योत-सुता वासवदत्ताके साथ प्रेम सहस्राब्दियोंतक कवियोंको शृंगाररसकी प्रेरणा देता रहा। कौशाम्बी सिर्फ़ राजधानी ही नहीं थी, बल्कि व्यापारका एक बड़ा केन्द्र थी। उस समय नदियाँ स्वाभाविक और बहुत सस्ते वणिक-पथका काम देती थीं। कौशाम्बीमें जहाँ मथुरा होते हुए पश्चिमका माल आता था, वहाँ पूर्वमें समुद्रतक रास्ता खुला हुआ था। वर्षामें सम्भव है, सामुद्रिक जहाज़ भी यहाँतक आते हों। यहाँसे एक रास्ता दक्षिणापथ (दक्षिण देश)को गया था, जो वही रास्ता है, जिससे आज मानिकपुर, जबलपुर-वाली लाइन जा रही है। लेकिन मगधकी प्रधानताके बाद, जान पड़ता है, कौशाम्बीको राजधानी बननेका सौभाग्य फिर नहीं प्राप्त हुआ। तो भी मुसलमानोंके आरंभिक ज़मानेतक छोटी-मोटी मंडी ज़रूर रही थी। आज तो वह उजाड़ है। यद्यपि पुरानी बस्तीके निशान मिट्टीके गढ़की भीटों जैसी दीवालोंसे बहुत दूर-दूरतक मिलते हैं, जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव भी हैं, लेकिन सभी श्रीहीन। गढ़के भीतर अब खेती होती है, लेकिन अब भी वहाँसे पुराने पैसे, मिट्टीके सुन्दर-सुन्दर पुराने खिलौने (गुज-

रिया) मिलते हैं। जहाँ-तहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्त्तियाँ भी हैं। मैं उस जगह गया, जहाँ अशोक-स्तंभ अब भी खड़ा है। किसी समय पास ही पास दो अशोक-स्तंभ थे। जिनमें एकपर अशोकका शिलालेख था और पीछे समुद्रगुप्तका अभिलेख खुदा। आजकल वह स्तंभ इलाहाबादके क़िलेके भीतर है। बिना लेखवाले स्तंभको देखा और अब आगे चलनेके सिवा कोई काम नहीं था। अबकी अकिलसरायका रास्ता लिया। आज भी अँधेरा होनेका डर लग रहा था। मैं आमोंके बाग़मेंसे जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाए चला जा रहा था, उसी समय कानोंमें आवाज़ आई—"शाह साहब अस्सलामालेकुम्"। मैंने बग़लकी ओर मुँह करके देखा, तो कोई आदमी बकरियोंकेलिए पत्तियाँ तोड़ रहा था। मैंने भी 'वालेकुमस्सलाम्" किया। मैं आगे बढ़ता जा रहा था, लेकिन मेरे दिलमें ख्याल होता था, क्यों एक ही हफ्तेमें तीन जगह लोगोंने मुझे शाह साहब समझा। मुझे तो कोई बात नहीं मालूम हो रही थी, लेकिन जान पड़ता है कि वेषमें कोई बात ज़रूर थी।

अक़िलसरायमें बाज़ारके भीतर एक पक्का कुआँ था, और पास हीमें मन्दिर। मैंने मन्दिरके बरामदेमें आसन लगाया। मेरे पास पैसे थे, इसलिए किसीकी दयाकी ज़रूरत नहीं थी। दो दिन मंज़िल मारता रहा, इसलिए थकावट होनी ही चाहिए, मैं लेटा हुआ था। जब ठाकुरजीकी आरती होने लगी, तो मैं शायद बैठ तो ज़रूर गया था; लेकिन ठाकुरजीसे मुझे क्या लेना-देना था, कि उन्हें हाथ जोड़ता। भक्तोंको बुरा लगा। ख़ैर, रात काटनी थी, उसे किसी तरह काट लिया। दूसरे दिन लॉरीपर चढ़कर मनोरी आया, फिर रेलसे इलाहाबाद। सारनाथ गया और बनारस तो ख़ास करके अभिधर्मकोषके प्रकाशन और हो सके तो कुछ रुपया प्राप्त करनेके ख्यालसे गया। एक प्रकाशकने, पहिले तो यह जानना चाहा कि यह किसी कामकी पुस्तक है भी या नहीं, लेकिन जब मालूम हो गया कि महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, तो छपनेके बाद १०, १५ कापी देनेकी बात कही। कह रहे थे—मैं तो इसी तरह पुस्तकें छापा करता हूँ। ख़ैर विद्यापीठमें आचार्य नरेन्द्रदेवसे बात हुई। विद्यापीठने उसे छापना स्वीकार किया और मुझे कुछ रुपये भी मिले। शायद इस प्रबन्धकेलिए मुझे दूसरी बार बनारस आना पड़ा था।

छपरा तो मेरा घर जैसा था, वहाँ जाना ज़रूरी था। पटनामें पुस्तकें आ चुकी थीं। मैं पंडित जयचन्द्रजीके साथ जायसवालजीसे मिलने गया। पहिली बार उनसे १९२५में मेरी मुलाक़ात हुई थी, वह भी बोधगया मन्दिर जाँचकमेटीके मेम्बर थे और मैं भी; इसलिए कमेटीकी रिपोर्ट लिखते वक़्त हमें इकट्ठा होना पड़ा था।

लेकिन शायद उस बातका उन्हें स्मरण भी नहीं था। जयचन्द्रजीने मेरे बारेमें कुछ कह रखा था, इसलिए अबकी बौद्धसाहित्यके बारेमें कुछ ज्यादा बातचीत हुई। बोधगया, कसया (कुशीनगर), रुम्मिनदेई और सहेट-महेट (जेतवन श्रावस्ती)की फिर यात्रा की, १० वर्ष पहिले मैं एक बुद्धभक्त आर्यसमाजीके तौरपर इन बौद्ध-तीर्थोंमें गया था, अबकी मैं एक बौद्धके रूपमें गया था। उस समय मुझे पता नहीं था, कि बौद्धसाहित्यमें इन स्थानोंका कितना महत्त्व है, और इनके बारेमें वहाँ क्या लिखा है; अब मैं त्रिपिटकाचार्य था। बहुतसे ग्रन्थोंसे इन स्थानोंके बारेमें सामग्री एकत्रित की थी। पुरातत्त्व विभागकी रिपोर्टोंको अच्छी तरह देखा था। निश्चय ही अब इन स्थानोंके देखनेमें ज्यादा लुत्फ़ आ रहा था। सहेट-महेटसे बलरामपुर आकर मैंने रेल पकड़ी और बीचमें नावसे गंडकको पार करके फिर रेलसे नरकटिया गंज स्टेशन पहुँचा। मालूम हुआ शिवरात्रि मेलेकेलिए अब भी कुछ देर है। रक-सौल या वीरगंजमें जाकर ठहरनेकी जगह मैंने ख्याल किया कि पास ही शिकारपुरमें विपिन बाबू (विपिनविहारी वर्मा)का घर है हमलोग असहयोगके जमानेसे कांग्रेसके सहकर्मी थे, इसलिए काफ़ी परिचय था। घरपर जानेपर मालूम हुआ, वह मोतिहारीमें हैं। लेकिन उनके बड़े भाई और छोटे-भाई विभूतिबाबू भी उसी तरह स्वागतके लिए तैयार थे। बड़े-भाईके साथ तो मैं रमपुरवा (पिपरिया) के दोनों अशोकस्तंभोंको देखता, भिखनाठोड़ीतक गया। भिखनाठोड़ी नैपालके राजमें है, वहाँसे भी एक रास्ता नैपाल गया है, लेकिन मुझे तो शिवरात्रिके सीधे रास्तेसे जाना था। मैंने वहाँ थारुओंके गाँव देखे, उनपर एक छोटासा लेख भी लिखा। थारुओंकी आँखोंपर हल्कीसी मंगोलछाप होती है, लेकिन आश्चर्य यह है कि चितवनियाँ थारुओंकी बोली आसपासकी बोलीकी अपेक्षा मगहीसे ज्यादा मिलती है। मगही कैसे गंगाको लाँघती हुई यहाँ हिमालयकी तराईमें पहुँच गई ?

रकसौल पहुँचनेपर देखा, कि अब यहाँसे एक छोटी रेल वीरगंज नहीं और आगे अमलेखगंजतक गई है। और वहाँसे भी भीमफेरीतक लॉरी जाती है। पहिले नैपालकी राहदारी (आज्ञापत्र)में भी कुछ दिक़्क़त होती थी, लेकिन अब तो शिव-रात्रिके यात्रियोंको वह स्टेशनपर ही थमा दी जाती थी। मुझे दो-एक और दोस्तोंका इन्तज़ार करना था, क्योंकि वह भी शिवरात्रिमें नैपाल जाना चाहते थे। वह लोग वीरगंजमें आये, लेकिन आगे जानेकेलिए नहीं। मैंने कमसे कम तीन साल तिब्बतमें रहनेका संकल्प किया था, इसलिए उनसे अपनी लम्बी यात्राकेलिए बिदाई ली।

अमलेखगंजकेलिए ट्रेन पकड़ी और वहाँसे माल ढोनेवाली खुली लॉरी मिली।

फिर पैदल सीसागढ़ी (चीसपानी) और चन्दागढ़ीके पहाड़ोंको पार किया और नैपाल पहुँच गया। नेपालमें फिर थापाथलीके वैरागी मठमें ठहरा। पशुपति और गुह्येश्वरीके दर्शन किये, लेकिन मैं वहाँ उनके दर्शनकेलिए तो गया नहीं था। महाबौधा बौद्धोंका एक अच्छा तीर्थ है। पहिली यात्रामें मैं वहाँके चीनीलामासे मिला था। वहाँ जानेपर मालूम हुआ कि चीनीलामा तो नहीं रहे, अब उनके दो लड़के हैं। लेकिन यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि एक बहुत ही प्रभावशाली लामा—डुक्पालामा अपने ३०, ४० शिष्य-शिष्याओंके साथ यहींपर आजकल ठहरे हुए हैं।

४

नेपालमें अज्ञातवास

लदाखमें मेरे कई परिचित थे, जिनमें हेमिसलामा वहाँके सबसे बड़े मठाधीश ही नहीं थे, बल्कि वह भी उसी डुक्पा सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते थे, जिससे हमारे यह डुक्पालामा। मेरे पास हेमिसलामाका एक बहुत अच्छा परिचयपत्र था और दो-तीन और चिट्ठियाँ। यद्यपि मैंने पुस्तकसे तिब्बती शब्द बहुतसे सीख लिये थे, पर अभीतक बोलनेका अभ्यास नहीं था। जब मैं डुक्पालामाके शिष्योंसे बात करनेकी कोशिश करने लगा, तो लाहुलके दोनों जवान—रिन्-छेन और उसका साथी मिल गये। दोनों हिन्दी जानते थे। रिन-छेनको साथ लेकर मैं डुक्पालामासे मिला। उन्हें लदाखकी चिट्ठियाँ दिखाईं, और बताया कि मैंने सिंहलमें रहकर त्रिपिटकका अध्ययन किया है, लेकिन बौद्धधर्मके सभी ग्रन्थ सिंहलमें प्राप्य नहीं हैं, इसलिए उनके पढ़नेकेलिए मैं तिब्बत जाना चाहता हूँ। भारतमें बौद्धधर्मका प्रचार करना चाहता हूँ, आप मेरे पुण्यकार्यमें मदद कीजिए। डुक्पालामाने बहुत खुशी जाहिर करते हुए कहा—आप हमारे साथ रहिए, हम यहाँ कुछ दिन और रहनेवाले हैं, फिर स्वयं तिब्बतकी ओर जायँगे, फिर आप खुशीसे चल सकते हैं। मुझे बड़ी खुशी हुई, मैंने तो समझा अब मंज़िल मार ली।

थापाथलीसे अपना सामान लेकर चलना कुछ दिक़्क़तकी बात थी, क्योंकि महन्तजी पूछते, तो क्या जवाब देता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। लेकिन वहाँसे निकलना ही था। सामान भी बहुत ज्यादा नहीं था। एक दिन बहुत तड़के मैं अपना सामान लेकर डुक्पालामाके पास चला आया। रिन्छेनको मैंने कह दिया था, कि शिवरात्रिके

बाद अगर नेपाल सरकारको मालूम हो गया, तो वह मुझे सीधे बीरगंज लौटा देगी, इसलिए मुझे बहुत छिपकर रहना होगा।

महाबौद्धा एक विशाल स्तूप है, जिसकी चारों तरफ एक महले दो महले मकान बने हुए हैं। मकानोंके नीचे के तले दूकानोंके लिए हैं और कोठों पर तिब्बती तथा दूसरे बौद्धयात्री ठहरते और घरवाले भी रहते हैं। रि्न-छेन्ने पहले मुझे एक नेपालीकी कोठरीके कोठेपर रखा, लेकिन मुझे डर लगने लगा कि कोई यहाँ पहचान न ले। मैंने अपने लिए भोटिया लोगोंका एक पुराना चोगा (छुपा) और लंबा जूता खरीद लिया। मैंने रिन्-छेन्से जब अपना डर बतलाया, तो उसने उसी कोठेपर रहनेका इंतजाम कर दिया, जिसमें लामाके शिष्य-शिष्यायें रहते थे। यद्यपि मैं अब भोटिया कपड़ेमें था, मूंछ दाढ़ी बनानी भी बन्द कर दी थी, और नहाना धोना छोड़ हाथ और मुंह पर मैल जमा करनेमें लगा हुआ था, लेकिन तब भी मुझे डर लगता था, कि कहीं कोई पहिचान न ले कि यह मधेसका आदमी है। चमगादड़की तरह मैं दिनमें घरसे बाहर निकलनेकी कोशिश नहीं करता था। रातके वक्त भोटिया वेषमें स्तूपकी परिक्रमा कर आता। मुझे इस तरहका जीवन वहाँ एक महीनेसे ज्यादा बिताना पड़ा।

डुक्पा लामा अगमजानी सिद्ध है, वह चौबीसों घंटे समाधिमें रहता है, इस तरहकी ख्याति नैपाल-उपत्यकाके सभी बौद्धोंमें थी। एक हफ्ते तक मैंभी ऐसाही समझता था, रात-दिन जब देखो वह आसन मारे बैठे रहते थे। कभी उनकी आखें खुली रहतीं किसीसे बात चीतभी करते, और कभी उनकी आँखें बन्द रहतीं। कभी वह दोपहरको पूजा-भाण्ड मँगा पूजा करने लगते और कभी आधीरातको। नेपालके बौद्ध गृहस्थ अक्सर उनके पास उपहार ले पहुँचा करते थे। खैरियत यही थी कि मुझे बगलके कमरेमें रखा गया था, जहाँ दूसरा कोई नहीं आता था।

"वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता" महायान बौद्धधर्मकी एक बहुत ही पूज्य पोथी है। डुक्पालामाके पास वह सारी पोथी उलटे अक्षरोंमें लकड़ीपर खुदी हुई है। लामाके शिष्य-शिष्यायें स्याही लगा हाथके काग़ज़पर उसे दिनभर छापा करते थे। लामा पुस्तकको प्रसाद-रूपमें बाँटा करते थे। दिनभर शिष्य-शिष्यायें स्तूपके पास जाकर छापनेका काम करते रहते, और उनके कमरेमें मैं अकेला बैठा रहता; मेरे पास अँगरेजी द्वारा तिब्बती सीखनेकी पुस्तक थी, मैं उसे पढ़ा करता।

कुछ ही दिनों बाद डुक्पालामाकी बहिन, भानजी और ६, ७ बरसके भानजे तिन-जिनसे मेरी घनिष्ठता हो गई। लेकिन अभी मैं बहुत कम शब्द बोल समझ

सकता था। हमलोग बीचवाले तल्लेपर थे। सबसे ऊपरके तलपर मृत चीनीलामाकी सुन्दरी लड़की रहा करती थी। वह विवाहित नहीं थी और उसके चाहनेवाले बहुत थे। एक दिन मैं अपने कमरेमें चुपचाप बैठा था, उसी वक्त एक नेपाली तरुण भीतर आ गया, वह पासके आसनपर बैठ गया। मुझसे वह बातें करने लगा। मुझे बहुत भय लगने लगा। याद नहीं उसे क्या जवाब दिया। मैं तो समझता था, कि अब भंडा फूटा और सारा परिश्रम व्यर्थ गया; लेकिन पीछे मालूम हुआ कि वह तरुणीसे मिलनेकी इन्तज़ारमें वहाँ बैठा है; शायद उस समय तरुणीके पास कोई दूसरा प्रेमी था। जान पड़ता है तरुणीको भी मेरे बारेमें पता लग गया था। मैं जितना ही अपनेको छिपानेकी चिन्ता करता था, मेरे भोटिया साथियोंको उसकी शतांश चिन्ता भी नहीं थी। जैसे भोटिया लोगोंकेलिए नेपालमें आने-रहनेकी कोई दिक़्क़त नहीं थी, वैसे ही वे मेरे बारेमें भी समझते थे। मालूम नहीं डुक्‌पालामा और उनके शिष्योंने न जाने कितनोंसे मेरे बारेमें कहा हो। एक दिन तीसरे तल्लेकी तरुणी मेरे कमरेमें आई। मैं साबुन तो क्या पानीसे भी हाथ-मुँह धोनेकी क़सम खा चुका था, लेकिन मैंने १, २ टिकिया साबुनकी अपने पास रखी थी। तरुणीने आकर साबुनकी टिकिया लेकर यह कहके चल दिया—कि मैं इसे देखूँगी। जब मैं ऊपर साबुन लेने गया, तो उसने बिल्कुल नंगे शब्दोंमें मुझे आकर्षित करना चाहा; लेकिन मेरेलिए वहाँ दूसरा ही आकर्षण था, जिसकेलिए कि मैंने अपनेको जोखिममें डाला था। मैं वहाँसे चुपकेसे नीचे चला आया। उसका दरबार खुला था, इसलिए पुरुषकी कमी थोड़े ही थी कि वह मेरे पीछे पड़ती।

डुक्‌पालामाकी बहिन और नवतरुणी भानजीके केश दो-दो अंगुलके थे। मैंने समझा था, कि यह भी भिक्षुणी हैं, लेकिन पीछे पता लगा कि डुग-युल (भूटान)में यह आम रवाज है, स्त्रियाँ वहाँ बाल कटाके रहती हैं। वह मुझे खाना पकाके खिला दिया करती थीं, मैंने छोटे लड़के तिन-ज़िनको बहुत जल्दी अपना दोस्त बना लिया। मुझे इसकी बड़ी ज़रूरत थी, क्योंकि मैं समझता था कि किताबसे ज़्यादा जल्दी वह मुझे भोटिया भाषा सिखा सकता है, तो भी अभी वह सारे दिनका दोस्त नहीं बन सका था, वह समय अभी आगे आनेवाला था।

शामको जब लामाकी शिष्य-शिष्यायें छापनेका काम ख़तम करके आते, तो उन्हीं दोनों कमरोंमें सोते। वहाँ सोने-लेटनेमें स्त्री-पुरुषका कोई भेद न था, गर्भ न हो जाय तो वहाँ कोई किसी बातकी परवाह भी नहीं करता। शिष्याओंमें कुछ तिब्बतके इलाक़ेकी थीं, कुछ नेपालकी। यद्यपि दोनों ही भोटिया जातिकी थीं, तो

भी नेपाली इलाकेकी उतनी बदसूरत न थीं। उनमें क्या हँसी-मज़ाक़ होती है, उनका एक-दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है, इसके जाननेकी फ़िक्रमें मैं नहीं रहता था। दिनभर मैं किताबसे पाठ याद करने, किसी-किसी वक़्त तिन-ज़िन और उसकी माँ-बहनसे बात करनेमें लगा रहता। रातको जब खा-पीकर निवृत्त हो, ८, ९ बजे वह लोग सोनेको आते, तो मैं अक्सर सो गया रहता। मेरी पड़ोसिन टशी-ल्हुन्पोके पास-की रहनेवाली, मध्य तिब्बतकी थी; इसलिए जब कभी मौक़ा मिलता, तो उससे बात करके अपनी भाषाको ठीक करनेकी कोशिश करता। वहाँ एक महीना रहते-रहते भाषा समझनेमें जितनी तेज़ीसे मैंने प्रगति की, उसमें इन वार्त्तालापोंने बहुत सहायता की। तिब्बतके लोग और भिक्षु-भिक्षुणी ख़ासकरके अपने पास किसी देवताकी मूर्त्ति एक डिबियामें रखते हैं। देवताकी मूर्त्ति धातुकी भी हो सकती है और काग़ज़ या कपड़ेपर बना चित्र भी हो सकता है। डिबिया आमतौरसे मेहराबदार द्वारकी शकलकी होती है, जिसकी एक ओर शीशा लगा रहता है। मैंने अपने पड़ोसिन भिक्षुणीसे उसकी मूर्त्ति देखनेकेलिए माँगी, तो वहाँ युगनद्ध (यब्-युम्) वज्रसत्त्वकी मूर्त्ति थी—युगनद्ध रति-रत देव-देवीकी मूर्त्तिको कहते हैं।

फागुन बीत गया। अब चैतकी गरमी शुरू हो गई थी। मैं रोज पूछा करता था, यहाँसे कब चलना है। रोज़ कल-परसों हो रहा था, लेकिन चलनेका वहाँसे नाम ही नहीं ले रहे थे। आख़िरमें एक दिन पता लगा, कि रिन्पोछे (रत्न) अब किन्दोल विहार जाएँगे—भारी-भारी महन्तों और अवतारी महन्तोंको तिब्बतमें सम्मान दिखलानेकेलिए रिन्पोछे कहते हैं। मुझे इससे भय इसलिए होता कि लामाने किसी-किसी भक्त गृहस्थको काशीके पंडितकी बात कहनी शुरू की थी, जिससे कुछ लोग मेरे पास भी पहुँचने लगे थे।

नेपालके बौद्धगृहस्थोंमें धर्मासाहु बड़े ही भक्त और प्रतिष्ठित गृहस्थ थे। उनसे किसीने मेरे बारेमें कह दिया था। वह रात-दिन पूजा-पाठमें रहते और घरसे बाहर नहीं निकलते थे। उन्होंने कहलवाया था, कि मैं आकर दो-एक दिन उनके यहाँ ठहरूँ। लामा और उनकी शिष्यमंडली किन्दोल विहार गई और मुझे रिन्-छेन् काठमांडोमें धर्मासाहुके घरकी ओर ले चला। उनका घर काठमांडो शहरके बीचमें असनटोलमें था। हमलोग शामको चले थे। मेरे मुँहपर महीने भरका बढ़ा केश, शरीरपर तिब्बती लोगों-का लाल चोगा और पैरोंमें तिब्बती जूता था। सड़कपर चलते वक़्त मुझे अपनी तरफ़ देखनेवाले हरेक आदमीपर सन्देह होने लगता था। महाबौधासे धर्मासाहुका घर मील-डेढ़ मील था। और तो कोई बात नहीं हुई, लेकिन जूतोंने मेरे पैरको काट

डाला। धर्मासाहुने अपने मकानके सबसे ऊँचेवाले चौथे तलपर मुझे ठहराया। उनका स्वभाव बहुत ही मधुर और सीधा-सादा था। मुझसे मिलकर उन्हें बहुत खुशी हुई, और उन्होंने तिब्बतके बारेमें बहुतसी बातें बतलाईं। ल्हासामें उनकी कोठी (दूकान) सैकड़ों बरस पुरानी थी। वह अभी छोटी ही उमरके थे, तभी उनके पिता मर गये और लाखोंका क़रज़ छोड़ गये। वह तिब्बतके व्यापारमें लग गये। और कुछ ही समयमें उन्होंने क़र्ज़ ही नहीं अदा कर दिया, बल्कि लाखों रुपये कमाये भी। अब कई वर्षोंसे वह अपने घर हीमें रहते थे। तिब्बतमें जानेपर मैंने देखा, कि वहाँके बड़े-बड़े लामा धर्मासाहुका नाम बड़े ही सम्मानके साथ लेते हैं। उन्होंने एक दिन एक खास तरहका भोजन बनवाया और कहा तिब्बतमें इस तरहका भोजन आपको मिलेगा। यह बत्तख़के अंडे और आटेकी बनी नमकीन-सेवैयाँ थीं। नेपाली लोग मुर्गीका अंडा नहीं खाते, लेकिन बत्तख़के अंडेमें उन्हें कोई उज्र नहीं।

एक-दो दिन बाद मैं भी किन्दोल विहार चला गया। किन्दोल विहार काठमांडोसे बाहर मील भरपर स्वयंभू महास्तूपके पासमें है। यह विहार शायद पुराना हो, लेकिन मकान अधिकतर नये थे। यहाँ भी लामाकी बगलकी कोठरीमें मुझे ठहराया गया, लेकिन मुझे यहाँ दर्शकमंडलीके सामने ही रहना पड़ा। मैं बहुत घबड़ाया, और घबड़ाहट और भी बढ़ गई, जब सुना कि हिन्दुस्तानका कोई संन्यासी लामाके पास आया था, लामाने उससे मेरे बारेमें कहा, और वह मुझसे मिलनेके लिए बहुत उत्सुक है। दसरतन साहु वहाँ सब प्रबन्ध करते थे। मैंने उनसे अपनी कठिनाई बतलाई, और कहा कि इस भीड़से हटाकर मुझे कहीं एकान्तस्थानमें ले चलो। वह किन्दोलसे थोड़ा हटकर एक बगीचीवाले घरमें ले गए। यह घर बिल्कुल अलग था और बहुत दिनोंसे उसमें कोई रहता न था। अब मैं उसके कोठेपर रहता और दसरतनसाहु बाहरसे ताला बन्द करके चले जाते। सिर्फ अँधेरेमें शाम और सवेरे मैं शौच आदिके लिए कोठेसे बाहर निकलता, नहीं तो रात दिन मेरे लिए यह स्वयंस्वीकृत कैद-तनहाई थी। यद्यपि मेरा कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था, लेकिन नेपालसरकार क्यों खतरा उठानेके लिए तैयार होती। बहुत समय पहले जब नेपाल अधिक स्वतंत्र था, उस वक्त अँगरेजी गुप्तचरोंके आके भेद लेने और अँगरेजोंके नेपाल हड़प लेनेका डर था, उसी वक्तसे नीचेके लोगोंके साथ कड़ाई बरती जाने लगी। अबतो नेपालका अंगुल-अंगुल अँगरेज़ोंको मालूम है, नेपाल उनकी मुट्ठीमें है, वह मुट्ठीके भीतर ही चाहे जितना घूम-फिर ले। तो भी नीचेके लोगोंके ऊपर उतनी ही कड़ाईके साथ

ध्यान रखा जाता था। मेरे बारेमें मालूम होनेपर, मुझे ज़रूर विफल मनोरथ हो नीचे चला जाना पड़ता। दसरतनसाहु बड़े धर्मभक्त थे, साथ ही मेरी कठिनाइयोंका उन्हें ख्याल था। उन्होंने किसीको मेरे पास आने नहीं दिया। इस घरमें रहते भी १५, २० दिन हो गए, लेकिन लामा अभी चलनेका नाम नहीं ले रहे थे। लामाके सर्वज्ञ होनेपर तो मुझे कभी विश्वास नहीं हुआ था, लेकिन एक हफ्तेतक उनके शराब पीकर बैठे-बैठे सोनेको मैं समाधि समझता रहा। मैं अब जानता था, कि जबतक पूजा काफ़ी चढ़ती रहेगी, तबतक लामा चलनेका नाम नहीं लेंगे। वागमतीके एक ओर काठमांडो और दूसरी ओर ललितपट्टन दोनों काफ़ी बड़े शहर हैं, वहाँ बौद्धों-की संख्या अधिक है। पूजा-चढ़ावा तो शायद असाढ़तक भी खतम न हो। मुझे पता लगा था, कि लामा यहाँसे सीमान्त इलाक़े एल्मोके गाँवमें जाएँगे। मैंने दसरत-नसाहुसे कहा कि मुझे एल्मो पहुँचा दो। काठमांडोसे ४, ५ दिनके रास्तेपर हट जानेसे खतरा कुछ कम रहता। उन्होंने इस बातको स्वीकार किया।

देशके ढंगके कपड़े पहनकर तो चलनेका ख्याल ही नहीं हो सकता था। लम्बे क़द और मुखमुद्रापर भोटिया कपड़ोंमें छिप जानेका मुझे बहुत कम विश्वास था, इसलिए मैंने नैपाली पाजामा, बगलबंदी और फुन्दीदार काली टोपी पहिनी, आँखोंको छिपानेकेलिए काला चश्मा भी ले लिया। हम दोनों एक दिन सवेरे चल पड़े। दसरतनसाहुने कपड़ेका एक नया बूट लाके दे दिया। एक-डेढ़ मील जाते-जाते उसने पैर काट खाया। अब चलना बहुत मुश्किल हो गया, लेकिन चलनेके सिवा कोई चारा न था। हम सुन्दरी जलकी ओर गए, जहाँसे एक पाइप काठ-मांडोको आता था। मैंने यहाँ ईंटोंको उन्हीं नरम कोयलोंसे पकाए जाते देखा, जिनको छै बरस पहिले लोग प्राकृतिक खाद समझते थे। और जब मैंने एक टुकड़े-को आगमें जलाके एक राजवंशी तरुणको दिखलाया था, तो उसे आश्चर्य हुआ था। नेपाल प्रकृतिकी तरफ़से बहुत धनिक देश बनाया गया है, लेकिन वहाँके शासनके ढाँचेने उसे ऐसा बना रखा है, कि वह धरतीकी देनका शतांश भी इस्तेमाल कर सकेगा, इसमें सन्देह है। उद्योग-धन्धेको बढ़ानेकी ओर नेपालके प्रभुओंका बिल-कुल ध्यान नहीं है, यह उनके खतरेकी चीज़ होगी, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन सबसे बड़ी खतरेकी चीज़ तो हिन्दुस्तान है। इसलिए नहीं कि स्वतंत्र हिन्दुस्तान नेपालको जीतकर उसे अपने भीतरमें डालेगा, बल्कि हिन्दुस्तानकी क्रान्तिके प्रभावको नेपालमें आनेसे रोका नहीं जा सकता।

सुन्दरी जलके पाससे हम पहाड़पर चढ़ने लगे। अब बराबर पहाड़ोंको लाँघ

कर ही चलना था । जूता तो पैरको काट ही रहा था, ऊपरसे इतने दिनों कोठरीमें बन्द रहा, इससे पैर चलनेमें असमर्थ थे । मैं हिम्मतके बल हीपर आगेकी ओर लुढ़कता जा रहा था, लेकिन वह हिम्मत किसी भी वक़्त जवाब दे सकती थी । इसी वक़्त एक बहुत हट्टा-कट्टा पहाड़ियोंकेलिए असाधारण डीलडौलका आदमी आता दिखाई दिया । दसरतन मेरी कठिनाईको समझते थे । उन्होंने उससे बीमार साथी-को ढोनेकेलिए मजूरीकी बातचीत की । वह शायद दूनी मजूरी माँग रहा था । मैंने अपने साथीके कानमें कहा—मोलतोल मत करो, जो माँगता है, मंजूर कर लो । आदमी कर लिया गया । उस दिन तो वह शामको मिला था, इसलिए थोड़ी ही दूर जानेपर शाम हो गई और हम एक गाँवमें ठहर गए । यद्यपि हमारा जाना अधिकतर पहाड़ोंके रीढ़ोंको आर-पार करते, पगडंडीसे हो रहा था; लेकिन चढ़ाईमें मैं दूसरेकी पीठपर चलता था, इसलिए यात्रा कठिन नहीं मालूम होती थी । काठमांडो छोड़नेके चौथे या पाँचवें दिन हम एल्मो गाँव पहुँचे । दुनियामें सभी जगह हिमालय जैसे पहाड़ोंकी उपत्यकाएँ पचीसों जातियोंके पृथक् अस्तित्वको अपने भीतर क़ायम रखे होती हैं । नेपालमें भी गोरखा, नेवार, थारु, तमंग, गुरंग, एल्मो, शरबा, आदि कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं । जान पड़ता है जिस तरह पहाड़ी दीवारें पानीको एक-दूसरेसे मिलने नहीं देतीं, उसी तरह जातियोंको मिलकर वह एक नहीं बनने देतीं । मैं गोरखा, नेवार, तमंग आदि बस्तियोंसे गुज़रकर अब भोटिया भाषाभाषी एल्मो लोगोंके गाँवोंमें पहुँचा था । नेपालमें नेवार जाति ही व्यापारकुशल जाति है । नेवार अधिकतर बौद्ध है । डेढ़ सौ बरस पहिले यही नैपालके शासक थे, जब कि गोरखाके राजा पृथ्वीनारायणने सारे नेपालको जीतकर गोरखा-राजकी नींव डाली । पृथ्वीनारायणका ही वंशज आज भी नेपालके सिंहासनपर बैठता है । लेकिन सौ बरस हुए, जब कि राना जंगबहादुरने पुराने मंत्रियों और अधिकारियोंका क़त्लआम किया । जंगबहादुरने खुद सिंहासनपर नहीं बैठना चाहा और अब भी गद्दीका मालिक पाँच सरकार पृथ्वीनारायणका वंशज ही होता है; लेकिन उसे एक तरह जंगबहादुरके खानदानका पेनशेनिहा बन्दी समझना चाहिए । राजकी सारी शक्ति उसका सारा धन जंगबहादुरके राना-वंशके हाथमें आया । जंगबहादुरके इस काममें उनके भाइयोंने भी मदद की थी, इसलिए उन्होंने प्रधानमंत्री (तीन सरकार)के पदको स्वीकार करते हुए उसे सिर्फ़ अपने बेटे-पोतोंकेलिए सुरक्षित नहीं रखा । जंगबहादुरके मरनेपर ज्येष्ठतमके अनुसार भाइयों और भतीजोंकी बारी आई । बराबर एक-दूसरेके

खिलाफ़ षड़यंत्र होते रहे, जिस षड़यंत्रमें जंगबहादुरके अपने पुत्र-पौत्र उड़ गए। नेपालकी इस शासन-व्यवस्थाने प्रजाको दरिद्र बनानेमें और भी ज्यादा काम किया है, क्योंकि लोगोंको अपनी कमाईसे १०, ५ आदमियोंके भोग-विलासका प्रबंध नहीं करना पड़ रहा है, बल्कि राना खानदानके बढ़ते हुए सैकड़ों छोटे-बड़े राणाओं और उनके रनिवासके ऐशजैशका भी प्रबंध करना पड़ता है।

नेवार लोगोंके राज्यको जब गोरखा-वंशने छीन लिया, तब सभी शासक जातियोंकी तरह उन्हें भी व्यापारके सिवा सुखी जीवन बितानेका कोई रास्ता नहीं रह गया। यह भी एक कारण है, कि नेवार लोग अब अधिकतर व्यापारी हैं। नेपालके पहाड़ोंमें दूर-दूर मुश्किलसे मुश्किल जगहोंमें भी कोई न कोई नेवारकी दूकान ज़रूर मिलेगी। वह ज़्यादातर बौद्ध हैं, इसलिए सीमान्तकी जातियोंसे मिलने-जुलनेमें संकीर्णता नहीं बरतते। हम भी रास्तेमें रातको अधिकतर नेवार घरोंमें विश्राम करते आये थे।

एल्मो गाँव अभी कुछ दूर रह गया था, तभीसे देवदारु वृक्षोंका अनुपम हरित सौन्दर्य दिखलाई देने लगा। अब यहाँ काठमांडोकी गरमी नहीं थी। ऊपरसे यह स्वर्गीय हरीतिमा हमारी आँखोंको अपने कोमल मधुर स्पर्शसे आप्लावित कर रही थी। मुझे बहुत खुशी हुई, इस सुन्दर दृश्यको देखकर ही नहीं, बल्कि यह ख्याल करके, कि अब मैं राजधानीसे बहुत दूर हूँ। दसरतनसाहु अपने एक परिचित दोस्तके घरपर ले गए। एल्मो लोग बहुत सुन्दर भूखंडमें ही नहीं रहते, बल्कि उनमें सौन्दर्य भी ज़्यादा है, खासकर स्त्रियोंमें तो और भी। यद्यपि वह मंगोलीय भोटिया जातिके हैं, जिसका स्पष्ट चिह्न उनकी आँखों और गालोंपर दिखलाई देता है, लेकिन हिन्दुओंके रक्तका भी इतनी अनुकूल मात्रामें सम्मिश्रण हुआ है, कि उनका मुँह न उतना भारी होता, न उतना चिपटा। आँखें भी उनकी काफ़ी खुली रहतीं, और गुलाबी रंगके बारेमें पूछना ही क्या? एल्मो श्यामाओं-की काठमांडोके अन्तःपुरमें बहुत माँग हो तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। हम जिस घरमें गए, उसकी गृहपत्नी पचासको पहुँच रही थीं, लेकिन अब भी सौन्दर्यकी सन्ध्या उनसे काफ़ी दूर थी। उनके घरमें एक लड़का और उसकी बहू थी, इस प्रकार परिवार बहुत बड़ा नहीं था। आसपास देवदारोंका जंगल था, इसलिए लकड़ीकी कोई कमी नहीं थी, और लोगोंने अपने मकानोंको बनानेमें बहुत उदारतासे उसका खर्च किया था। यह गाँव समुद्रतलसे ६, १० हज़ार फ़ीट ऊँचाईसे कमपर नहीं बसा होगा, इसलिए जाड़ेके कई महीनों चारों तरफ़ बर्फ़

ही बर्फ़ रहती होगी, लेकिन मैं तो वहाँ मई या जून महीनेमें पहुँचा था, इसलिए बरफ़का कहाँसे पता होता। मकान अधिकतर दोतल्ले थे और सिर तोड़नेवाली छोटी-छोटी छतोंवाले नहीं, जैसे मकान नेपालमें हर जगह ही मिलते हैं। छतें भी लकड़ीके फट्ठोंसे छाई थी। घरके भीतर दरवाज़ोंपर और दूसरी जगह कुछ कारु-कार्य भी था, जिनसे सुरुचि प्रकट होती थी। मुझे वहाँ छोड़कर दसरतन साहु लौट गए।

चावल यहाँ नहीं होता, लेकिन एक ही दो दिन नीचे धानके खेत हैं, और सम्पन्न लोग चावल खाना पसन्द करते हैं। आलू-मूलीकी तरकारी और भात खानेमें अपूर्व स्वाद मालूम होता था। तरकारीमें वह मसाला भी ज़्यादा नहीं डालते थे, लेकिन जंगली प्याज़ (जिम्बू) अकेले ही हज़ारों मसालोंके बराबर थी। लोगोंके मकान भी साफ़-सुथरे थे और शरीर भी। यद्यपि यह उम्मेद नहीं की जा सकती थी, कि वह हर दूसरे-चौथे नहाते होंगे।

दो-चार दिन बाद गाँवकी वृद्धा भिक्षुणी काठमांडोसे लौट आई। वह भी डुक्पा-लामाकी शिष्या थी, और कुछ महीनोंसे उन्हींके यहाँ रह रही थी। उसका असली नाम क्या था यह तो नहीं कह सकता, लेकिन हम उसे अनीबुट्टी कहा करते थे—अनी भोटभाषामें भिक्षुणीको कहते हैं। अनीबुट्टीका अपना घर था। किसी वक़्त वह अच्छा खाता-पीता घर रहा होगा, जब उसमें कितने ही स्त्री-पुरुष रह रहे होंगे; लेकिन अब तो अनीबुट्टी अकेली थी। दोतल्ला मकान था, नीचेके हिस्सेमें जानवर बाँधे जाया करते या लकड़ी-घास वगैरह चीज़ें रखी जाती थीं। लेकिन मैं नहीं समझता अनीबुट्टीके निचले घरमें कोई पशु था। ऊपरी कोठेकी लकड़ियाँ पुरानी नहीं थी, लेकिन जान पड़ता था, अभी पूरी तौरसे मकानको तैयार नहीं कर पाए थे, कि बनानेवाले हाथ सदाकेलिए विदा हो गए। अनीबुट्टीको इसकेलिए कभी मैंने रोते या उदास होते नहीं देखा। उसका चेहरा सदा प्रसन्न रहा करता था। धर्मके प्रेम और पूजा-पाठने अवश्य उसे अपने शोकको भुलवानेमें मदद दी थी। अनीबुट्टीके आनेपर मैं उसके मकानमें चला गया। छतके ऊपर ही खाना पकानेकेलिए लकड़ीकी अँगीठी थी। अनीबुट्टीके हाथमें भी भोजनको अमृत बनानेकी शक्ति थी। वह मुझे किसी तरहकी तकलीफ़ नहीं होने देना चाहती थी। यद्यपि अनीबुट्टीकी उमर पचास या ऊपरकी होगी, लेकिन एक तरुणके साथ एक ही मकानमें रहनेसे शायद किसीको सन्देह होता, इसलिए रातके वक़्त वह किसी और औरतको अपने पास बुलाकर सुलाया करती थी। मैंने समझा यह दोनों हीके-

लिए अच्छा है। महाबौधामें रहते वक़्त मुझे भोटिया भाषा बोलनेका अभ्यास हो चला था, लेकिन किन्दौलके पासके सुनसान मकानमें रहते वक़्त मैं इससे वंचित हो गया था। अनीबुट्टीके यहाँ भी मुझे भोटिया बोलनेका उतना अवसर नहीं मिलता था। अनीबुट्टी दिनमें अपने दूसरे कामोंमें भी लगी रहती, और वैसे भी उसकी भाषा उतनी अच्छी नहीं थी। यद्यपि गाँवमें भोटिया बोलनेवाले और भी कितने ही मिल सकते थे, लेकिन मैं उनसे ज़्यादा मेल-जोल नहीं रखना चाहता था, क्योंकि इसमें रहस्य खुल जानेका डर था।

कुछ ही दिनों बाद काठमांडोसे डुक्पालामाकी शिष्यमंडलीके बहुतसे लोग एल्मो चले आए और वह गाँवसे थोड़ा नीचे एक काफ़ी बड़े बुद्ध-मंदिरमें ठहरे। जा करके देखा, तो मेरा दोस्त तिन-ज़िन भी वहाँ मौजूद था। भाषा मज़बूत करनेकेलिए इतने अच्छे अवसरको मैं हाथसे कैसे जाने देता? यद्यपि वहाँ जानेपर मुझे खाने-पीनेकी दिक़्क़त ज़रूर होनेवाली थी, लेकिन मैं अपना डंडा-कुंडा लेकर वहाँ पहुँच ही गया।

अब वर्षा कुछ-कुछ शुरू हो गई थी। जंगलमें स्ट्राबरी ढूँढ़ने मैं अकसर जाया करता था। स्ट्राबरी मीठी कम और खट्टी ज़्यादा होती, लेकिन तिन-ज़िन उसे बहुत पसन्द करता था, मैं तिन-ज़िनकेलिए स्ट्राबरियाँ ढूँढके लाता और वह मुझसे बातें करता। वह सिर्फ़ तिब्बती भाषा बोल सकता था और वह भी बच्चोंकी बहुत सीधी-सादी भाषा, मुझे तिन-ज़िनको गुरु बनानेमें बहुत फ़ायदा हुआ।

डुक्पालामाके शिष्य-शिष्याएँ यहाँ भी हाथके काग़ज़पर "वज्रच्छेदिका" छापनेमें लगे हुए थे। उलटे अक्षरोंमें खुदी पट्टीको जमीनपर रख दिया जाता और आमने-सामने दो व्यक्ति बैठ जाते। एक स्याहीका पोचारा पोतकर कागज़ रखता और दूसरा कपड़ा लपेटे लकड़ीके रोलरको उसपर दोनों हाथोंसे दबाते हुए रगड़ देता। वहाँ आठ-दस रोलर दिनभर चलते रहते थे। एक बड़े कढ़ाव (कड़ाह-कराह) में दिनभर साबित गेहूँ उबला करता। पकानेवाली बुढ़िया भूटानकी थी। उसने पूछनेपर बताया, कि आटेकी लेई उतनी पतली नहीं हो सकती, इसलिए हाथके बने पतले काग़ज़ोंको एक-दूसरेके साथ चिपकाकर मोटा हो जानेपर वह ठीक नहीं होते। इस इलाक़ेमें हाथका काग़ज़ बहुत बनता है। २०, २५ स्त्री-पुरुषोंको मैं दो महीनेसे उसी एक पुस्तकको बराबर छापते देख रहा था। मुझे कभी कभी ख्याल आता था कि क्या कभी उनका यह काम खतम भी होगा।

महाबोधा और किन्दोलमें भिक्षु-भिक्षुणियोंको खाना अच्छा मिलता था,

कभी-कभी कुछ पैसा भी मिल जाता था। एल्मोवाले भी अच्छे भगत थे, लेकिन कहाँतक खर्च करें। उत्तर तरफ़ दो-तीन मीलपर देवदारोंके घने जंगलमें एक छोटी-सी कुटियापर सफ़ेद फरहरा फहरा रहा था। वहाँ कोई आराण्यक लामा तपस्या कर रहा था। गाँवकी दूसरी तरफ़ ऊपरकी ओर भी एक मठ था, जिसमें एक लामा भजनमें लगा हुआ था। जंगलवाले लामाके पास दूर होनेसे बहुत अधिक स्त्री-पुरुष नहीं जाते थे, लेकिन दूसरे भजनानंदी लामाके पास दरजनों स्त्रियाँ भजनमें शामिल होती थीं। वह अधिकतर बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरका व्रत कराता था। इसमें आधा उपवास रहना पड़ता, कई हज़ार मन्त्रोंको जपना पड़ता और फिर हज़ारों बार साष्टांग दंडवत करनी पड़ती। मैं समझता हूँ, वही स्त्रियाँ तीसों दिन इस व्रतको नहीं कर सकती थीं, क्योंकि बीचमें थोड़ेसे विश्रामके बाद सवेरेसे दस बजे ग्यारह बजे राततक पूजा-दंडवत चलती रहती थी। मैं एक दिन वहाँ गया। अब मुझे किसी दुभाषियाकी ज़रूरत नहीं थी। मैं काफ़ी तिब्बती बोल लेता था। लामा कुछ पढ़ा-लिखा था और स्वभाव तो उसका और अच्छा था। उसने मुझे वहीं खाना खिलाया। मैंने वहाँ अपनी काठमांडोवाली परिचित भिक्षुणीको भी देखा। अब वह डुक्पालामाकी मंडलीसे यहाँ चली आई थी। यहाँ वह अच्छी तरह थी।

हमारे यहाँ तो बीसियों दिनसे अब सिर्फ़ मड़ुवा या मकईके आटेका नमकीन सूखासा हलुवा सवेरेको मिलता और शामको उसीकी पतलीसी लेई। चाय भी नमकका काढ़ा थी। मेरा मन कभी-कभी ऊब जाता था, किन्तु मैं तो जान-बूझ करके इस बलामें फँसा था। एकाध दिन ख्याल आया, कि गाँवसे कुछ चावल, आलू, मूली, प्याज़ और मक्खन ले आऊँ; लेकिन मैंने सोचा जबतक मेरे और साथी मडुंवामकई खारहे हैं, तब तक मुझे अपने खानेका विशेष प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। मैं जानता था कि डुक्पालामा के यहाँ होनेपर उनके लिए छप्पन परकार अलग बनता, और उस वक्त मैं उनकीही रसोईमें शामिल रहता; तोभी मैंने इन्हींके साथ खाना पसन्द किया। दिन काटनेकी वहाँ दिक्कत नहीं थी, क्योंकि तिनज़िन मेरे साथ था, और पासही जंगलमें जहाँतहाँ लाल स्ट्राबरियाँ भी।

दूसरे भिक्षु सवेरेको कुछ थोड़ीसी पूजा पाठ करते और रातको तो दोदो ढाईढाई घंटा वह बड़े रागसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुति किया करते। मुझे वह लंबे स्तोत्र याद नहीं थे, इसलिए उनके साथ शामिल नहीं हो सकता था। छापते वक़्त भी भिक्षु-णियाँ अकसर बड़े रागसे कोई स्तोत्र गाया करती थीं। मैं गलतीसे एकाध आदमियों-

का हाथ देख बैठा, यह साधारण बुद्धिकी बात थी। मैं खूब सँभालकर उनके बारेमें भविष्यद्वाणी करता। जहाँ ९० फ़ीसदी निशाना ठीक लग रहा हो, और १० फ़ीसदी भी गोल-गोल बातोंमें उलझा हुआ, वहाँ फिर हाथ देखनेकी माँग क्यों न बढ़े। जबतक हमारी ही मंडलीके भिक्षु-भिक्षुणियोंके हाथ देखनेकी बात थी, तबतक तो कोई बात नहीं थी। और वह दिखलाते भी नहीं थकते, भिक्षुणियाँ तो और भी। गाँववालोंने इस मंदिरको सैकड़ों वर्ष पहिले बनवाया था, उसमें कुछ खेत भी था। लेकिन अब वह श्रीहीन था, और शायद हमलोग न रहते, तो वह सूना ही रहता। उसकी पूजा-पाठका इन्तज़ाम करनेवाला पुजारी एल्मो नहीं, एक दूसरा अधगोरखा परिवार था। जो उसी मन्दिरके ऊपरके कोठेपर रहता था। उस परिवारके भी स्त्री-पुरुषोंने हाथ दिखलाया। एक दिन मैंने देखा कि एल्मोमें आनेपर जिस घरमें मैं पहिले-पहिल ठहरा था, उस घरकी बहू भी हाथ दिखलाने आई है। वह बाईस-तेईस वर्षकी बहुत स्वस्थ सुन्दरी थी, उसका पति उमरमें ४, ५ वर्ष छोटा और दुबला-पतला नौजवान था। वह ज़्यादातर यही जाननेकेलिए आई थी, कि उसके हाथमें कोई लड़का-बाला है कि नहीं। एक भिक्षुणीने मुझसे बहुत प्रार्थना करके कहा, कि इसके हाथको देख लीजिए। मैं इधर हाथ देखनेसे तंग आ गया था। भिक्षुणी बहुत हाथ-पैर जोड़के कहने लगी—सास-ससुर इसे बाँझ समझकर लड़केका दूसरा व्याह करना चाहते हैं, आप इसका ज़रूर हाथ देख लें। मैंने हाथ देखकर कह दिया—पुत्रका योग है, जो पुत्र नहीं हुआ, तो इसमें इसका नहीं पतिका क़सूर समझना चाहिए। तरुणीको बहुत सन्तोष हुआ, लेकिन उसकी समस्या इतनेसे हल होनेवाली थोड़े ही थी।

मैं जब काठमांडोसे एल्मो आया था, तो डुक्पालामाने वचन दिया था, कि मैं एल्मो ज़रूर आऊँगा और तुम्हें साथ लेकर ही तिब्बत जाऊँगा। मैं इसी आशामें दो महीनेसे ज़्यादासे उनका पल्ला पकड़े हुए था। काठमांडोसे बीच-बीचमें जो आदमी आते थे, वह भी कहते थे, कि लामा जल्दी ही यहाँ आनेवाले हैं। एक दिन शामको लामाके दो चेले आकर बोले, लामा काठमांडोसे सीधे ञेनम् (कुत्ती) की ओर रवाना हो गए। सुनकर मेरा हृदय सन्न हो गया। मैं जिस डालीपर इतमीनानसे बैठा था, वह कटकर ज़मीनपर आ गिरी। अब क्या करना चाहिए? थोड़ी देरमें मैंने उन्हें अपना निश्चय सुनाया कि मैं कल यहाँसे ञेनम्‌केलिए रवाना हो जाऊँगा। मुझे रास्ता भी नहीं मालूम था, कोई साथी भी नहीं था, फिर ऐसा निश्चय सुनाते

देख उन्हें आश्चर्य होना ही चाहिए। उसी रातको मैं और मेरे दोस्तोंने ञेनमृतक-केलिए साथी ढूँढ़नेकी कोशिश की, लेकिन कोई नहीं मिला। सबेरे मैं मन्दिरके पुजारीके पीछे पड़ा। यह नमक-लानेका मौसम था। तिब्बतकी खारी झीलोंसे नमक बटोरकर लोग याकों (चमरियों)पर उसे ञेनम् पहुँचाते, और नेपालके पहाड़ी लोग चावल या मकई पीठपर लादे नमक बदलनेकेलिए ञेनम् पहुँचा करते। पुजारी कहने लगा, कि मुझे नमक लेने जाना तो है, लेकिन खेत कटनेमें १०,१५ दिनकी ही देर है, यदि अभी चला जाऊँगा, तो फ़सल बरबाद हो जायगी। मैंने कोशिश की, मेरे दोस्तोंने समझाया और फिर दूनी मजूरी देनेकेलिए मैं तैयार था; अन्तमें वह मान गया। उसी दिन पहरभर दिन चढ़े हम दोनों एल्मोसे रवाना हो गए।

गाँवसे हमने चावल और दूसरी खानेकी चीज़ें ख़रीद ली थीं। साथीने मक्खनकेलिए कहा, कि रास्तेमें उसे गोठ (गोष्ठ)परसे ले लेंगे। उस मौसिममें गाँववाले अपने पशुओंको चरानेकेलिए दूर-दूर जंगलोंमें चले जाते थे। वहाँ वह अपनी छोटीसी झोपड़ी बना लेते, जो उनका छोटासा घर हो जाता था। हम उँसी झोपड़ीमें गए, और वहाँसे आधसेर मक्खन लिया, पेटभर मट्ठा मुफ्त पीनेको मिला, फिर लम्बा-लम्बा पग बढ़ाने लगे। मेरे पास जो कुछ भी सामान था, वह बहुत ज़्यादा नहीं था, और फिर वह दूसरेकी पीठपर था। मन-डेढ़ मन बोझा ढोनेवाले-केलिए दस-पन्द्रह सेर क्या होता? एल्मोमें मैं खूब चलता-फिरता रहता था, इसलिए पैर मज़बूत हो गए थे। पगडंडी सीधी जाती थी, इसलिए पहाड़ोंकी चढ़ाई भी सीधी पड़ती थी। दूसरे या तीसरे दिन हम काठमांडोसे ञेनम् जानेवाले रास्ते-पर पहुँच गए। हम हर जगह लामाकी जमातके उधरसे गुज़रनेके बारेमें पूछते जा रहे थे।

काठमांडोसे ञेनम् जानेके दो रास्ते हैं, एक नीचे-नीचे जाता है, और एक पहाड़ोंके डाँडोके साथ ऊपर-ऊपर। ऊपरका रास्ता ज़्यादा ठंडा होता है, और हमें उमेद थी कि लामा निचले-गरम रास्तेको नहीं पकड़ेंगे। हम भी ऊपर ही ऊपर चल रहे थे। शायद दूसरे दिन हमें लामाका पता लगा। और एक दिन हमने उन्हें जा पकड़ा। वह एक गाँवमें ठहरे हुए थे। वैसे पहाड़ी लोगोंका शरीर बहुत हल्का होता है, क्योंकि उन्हें पहाड़ोंपर चढ़ना-उतरना बहुत पड़ता है, इसलिए शरीर-पर चर्बी नहीं जम सकती; लेकिन डुक्पालामाको तो कहीं हिलना-डुलना नहीं था, ऊपरसे खूब मांस, मक्खन, दही और बढ़िया-बढ़िया खाना; इसलिए शरीर ढाई-

तीन मनका हो जाय तो अचरज क्या ? पहाड़ोंपर पैदल चलना उनके बसकी बात नहीं थीं। यद्यपि तमंग और इधरकी दूसरी जातियाँ बौद्धधर्मको मानती थीं, लेकिन वह इस अवस्थामें पहुंच चुकी थीं, जब कि बौद्ध धर्मसे ब्राह्मण धर्ममें चले जानेमें कुछ घंटों हीका अन्तर रह जाता है। शायद तेरहवीं सदीके उत्तरार्धमें उत्तरी भारतके बौद्ध इसी अवस्थामें रहे होंगे। वहांके स्तूपोंकी बरसोंसे मरम्मत नहीं हुई थी, बौद्ध-मन्दिर गिरते-पड़ते जा रहे थे, बौद्ध-भिक्षुओं (लामाओं)के प्रति उनका कोई सम्मान नहीं था। कभी-कभी यदि उन्हें खिला-पिला देते, तो इसी ख्यालसे कि भूत-प्रेत निकालनेमें लामाओंकी काफ़ी ख्याति थी। इस गाँवमें भी लामाकी कोई आवभगत नहीं हुई।

मैं जब डुक्पालामाके पास गया, तो वह उसी तरह हँसके मिल। उनको इस बातका ज़रा भी ख्याल नहीं था, कि मुझे एल्मोमें विना सूचना दिए तिब्बतकेलिए चल देना अच्छा नहीं था। तिब्बतमें अक्सर मुझे ऐसे आदमी मिले हैं, जो बच्चोंकी तरह अपनी ज़िम्मेवारियोंको भूल जाते हैं। खैर, अब मैं उनके साथ था और वह उसी तरह बड़े स्नेहके साथ मुझे ले चलनेको तैयार थे। डुक्पालामाकी इन पहाड़ोंपर यात्रा पत्थरके बड़े कोल्हूका छोटी-बड़ी पहाड़ियोंको पार करानेसे कम नहीं था। मैं वज़नमें उनसे डेवढ़ा कम था, लेकिन सौभाग्यसे मुझे उस दिन एक भीमकाय आदमी मिल गया था। यहाँ कोई देवता लामाकी मदद करनेको तैयार मालूम नहीं होता था। कभी-कभी कोई हट्टा-कट्टा आदमी मिलता और किसी तरह दुगुनी-तिगुनी मजूरीपर तैयार किया जाता, तो भी वह एक दिनसे ज्यादा नहीं टिकता था। वहाँ घोड़े भी नहीं मिल रहे थे, पगडंडीके रास्तेपर घोड़े मिलनेमें मुश्किल थी। हम चींटीकी चालसे चल रहे थे। लेकिन मैं अब उनके साथ था, इसलिए उकतानेकी उतनी ज़रूरत नहीं थी। ऐसे ही चलते-चलते एक दिन हम भोटकोसीके किनारे पहुँचे और फिर तातपानीमें। आख़िरी परीक्षाकी घड़ी सरपर आही गई।

तातपानीमें गरम पानीका एक चश्मा है, इसीलिए इसे तातपानी कहते हैं। पीछे दो बार मुझे और गुज़रना पड़ा, और उस वक़्त मैंने गरम पानीके स्नानका खूब आनन्द लिया, लेकिन उस पहिली यात्रामें मैं मैल धोनेकी फ़िकरमें नहीं था, बल्कि महीनोंसे उसे जमा करनेकी कोशिशमें था। मेरे साथियोंने वहाँ स्नान किया या नहीं, यह मुझे याद नहीं। तातपानीके पास ही कस्टम (चुंगी, ज़कात)वालोंने सरसरी तौरसे हमारी चीज़ोंको देखा, लेकिन वहाँ बेचने-ख़रीदनेकी कोई चीज़

नहीं थी। थोड़ासा और आग बढ़नेपर मामूली चढ़ाई पड़ी और हम नेपालके सीमान्तकी फ़ौजी चौकीपर पहुँच गये। पहरेके सिपाहीने हमें वहीं रोक दिया, और दूसरा सिपाही सूबेदार साहबको बुलाने चला गया। तिब्बती लामा इधरसे बहुत आया जाया करते हैं, इसलिए इसकी ज़रूरत नहीं, कि बड़ा अफ़सर खुद आकर लोगोंको देखे। मेरे बदनमें तो काटनेपर भी खून नहीं था। दिल धक्-धक कर रहा था। रिन-छेन् और उसके साथीकी शकल-सूरत भी हमारे यहाँके लोगों जैसी थी, लेकिन मुझे यह ख्याल करनेका भी दिल नहीं होता था, कि जब उनको पकड़ेंगे तभी मुझको भी पकड़ सकेंगे। मैंने भी अपना नाम छेवङ् और जन्मभूमिका नाम खुन्नू (कनौर रामपुर बुशहर) रख लिया था, लेकिन मैं सोचता था कि चेहरा कैसे छिपेगा। यह इस तरहकी पहिली यात्रा थी, इसलिए घबराहट स्वाभाविक थी। सबका नाम लिखा जाने लगा। मैंने भी खुन्नू छेवङ् लिखवा दिया। सबने बतलाया कि हम के-रोङके अवतारी लामाके शिष्य हैं। लामाओंकी भागेभूत झाड़नेकी शक्तिको सभी पहाड़ी मानते हैं, इसलिए हवलदारपर भी उसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखाई-पढ़ाई खतम करके हमारे साथ एक आदमी कर दिया, कि पासके गाँवमें लामाके ठहरनेकेलिए अच्छी जगह दिला दे। शायद उस गाँवमें वैसे भी अच्छी जगह मिल जाती, क्योंकि वह लोग पन्द्रह आना तिब्बती (भोटिया) थे। उस दिन रातको हम उसी गाँवमें रहे, कोठेपर अच्छा लम्बा-चौड़ा कमरा हमें मिला था। गरम इलाक़ेसे हम ऊपर चले आए थे, इसलिए सबके ललाटकी सिकुड़न दूर हो गई थी।

नया गाँव आए और वहाँ लामा लम्बी-चौड़ी पूजा न शुरू करें, यह हो नहीं सकता था। डुक्पालामाके इष्ट-देवता ऐसे थे, कि शराबके बिना उनका काम नहीं चल सकता था। और शराब भी जौ या मकईकी छङ (कच्ची शराब) नहीं, बल्कि भट्टीका चुआया अरा (अरक़) चाहिए था। सर्दीका वक़्त होनेपर उसे मक्खनके साथ बघाड़ा जाता था। उस दिन भी देवताकी पूजामें शराब चढ़ी। अब डुक्पालामाकी मंडलीमें भिक्षु ही थे, भिक्षुणी शायद ही एकाध रही हो। हमारी मंडली भी ८, १०से ज्यादा की नहीं थी। प्रसाद बाँटते समय मेरे सामने भी शराब आई। शराबकी घृणा तो मैं कभी छोड़ नहीं सका, और उस वक़्त तो अभी ऐसा अवसर नहीं आया था। मैं प्रसाद लेनेसे इनकार कर सकता था, क्योंकि डुक्पालामा जानते थे, कि मैं वज्रयानी (तांत्रिक) नहीं, हीनयानी बौद्धधर्मका माननेवाला हूँ। खैर, मेरी बेवक़ूफ़ीपर उन्होंने कुछ मुसकुरा दिया, बात यहीं खतम हो गई।

५

तिब्बतमें सवा बरस

१. ल्हासाकी ओर

आगे चन्द ही मीलोंके बाद भोटकोसीपर एक लकड़ीका पुल मिला, जिसे पार करके हम तिब्बतकी सीमाके भीतर चले गए। अँगरेज़ी सीमाको तो कुशल-क्षेमसे रकसौल हीमें मैंने पारकर लिया था, अब यह दूसरी सीमा भी निकल गई। तिब्बतवालोंसे मैं कुछ ज़्यादा निश्चिन्त था, क्योंकि मैं जानता था कि वह चार-पाँच सौ बरस पुरानी दुनियामें रह रहे हैं। सिरसे हजारों मनका बोझ उतरसा गया मालूम हुआ। शायद प्राकृतिक सौन्दर्य कुछ और पीछे हीसे शुरू हो गया था, लेकिन अबतक मेरी आँखें उसकेलिए बन्दसी थीं, अब मैं आँख भरके पार्वत्य-सौन्दर्य-की ओर देखता था। डुक्पालामा अब भी धीरे ही धीरे चल रहे थे। लेकिन मैं आगे १, २ फ़र्लाङ्ग बढ़के किसी चट्टानपर बैठ जाता, और फिर पक्षियोंके मधुर कलरव, कोसीकी घर्घर ध्वनि और सिरसे पैरतक हरियालीसे ढँके पहाड़ोंको देखता।

बोधगयामें अबकी बार जब गया था, तो वहाँ एक मंगोल भिक्षु मिला था। वह फिर यहाँ मिल गया। वह रहनेवाला पूर्वी मंगोलियाका था, मगर अब कई सालोंसे लासाके पास डे-पुङ विहारमें रहा करता था। बोधगया में मिलते वक़्त मैं तिब्बती नहीं बोल सकता था, लेकिन अब हमलोग खुल करके बात कर सकते थे, इसलिए अब रास्ता मेरेलिए और आनन्दका हो गया था। शामके वक़्त हमें एक गाँव (डम) दिखाई पड़ा, लेकिन गाँव और हमारे बीचमें एक नाला था। हमलोगोंको यहीं ठहराया गया। डमवाले लोग यहींपर बाजे-गाजेके साथ डुक्पालामाका स्वागत करना चाहते थे। स्वागतके साथ मक्खनकी चाय भी पीनी थी। लदाखमें मैंने मक्खनकी चाय पी तो थी, लेकिन वह उतनी पसन्द नहीं आई थी; लेकिन अब तो मुझे पूरा भोटिया बनना था, और वह चाय-सत्तूसे लेकर सूखे (कच्चे) गोश्त तक पहुँचनेसे ही हो सकता था। नहाने-धोनेकी साधना तो मैं पूरा कर चुका था। चाय पीकर हम डमकी ओर चले। नाला पार करनेकेलिए ज़ंजीरोंका एक पुल था जो चलनेपर काफ़ी हिलता था। गाँवमें एक अच्छा घर लामाके ठहरनेकेलिए ठीक किया गया था। हमलोग वहाँ पहुँचे और मंगोल और मैंने पास-पासमें आसन लगा लिए। डुक्पालामाकी पूजा उधर कुछ कम हो गई थी, क्योंकि पूजा बढ़ाने-

वालोंकी कमी हो गई थी। अब वह फिर भोटिया प्रदेशमें चले आए थे, इसलिए लम्बा विधिविधान शुरू होना था। दूसरे दिन सवेरे ही रिन-छेन्ने बतलाया, कि अब तीन दिनतक लामाजी अवलोकितेश्वरका व्रत शुरू करेंगे। मेरे मनने भी ज़ोर मारा कि व्रतमें अपनेको भी शामिल होना चाहिए, क्योंकि इससे उनके और नज़दीक आ जाऊँगा। खैर दो दिन आधा-आधा उपवास और एक दिन पूरा उपवास तो मेरेलिए डरकी बात नहीं थी, लेकिन दिनभर साष्टांग दंडवत करना आसान काम नहीं था, वह पूरी दंड-बैठक थी, और दोपहर बाद में उसे छोड़ बैठा।

यहाँसे ञेनम् तीन दिनसे ज़्यादाका रास्ता नहीं था, लेकिन अब हरेक बस्तीमें लामाकी भेंट-पूजाकेलिए लोग बेक़रार थे। और लामा तबतक गाँव छोड़नेकेलिए तैयार न थे, जबतक गाँवसे एक डलियाभर चावल या चाँदीका छोटासा सिक्का भी आता रहे। मुझे कुछ कुफ्त तो होती थी, लेकिन सन्तोष भी अब बहुत था। रास्तेमें एक जगहपर किसीने नया घर बनाया था, मैं आगे-आगे जाया करता था, शायद मंगोल भिक्षु भी मेरे साथ थे। उस घरमें मालिकसे जब हमने कहा कि डुक्पा-रिन्-पीछे पधार रहे हैं, तो वह बड़ा खुश हुआ। लामाके आनेपर उसने चरण छुए, भेंट चढ़ाई और घर पवित्र करनेकेलिए कहा। उसके घरमें पानीका चश्मा निकल आया था, बेचारेको डर था, कि कहीं नाग देवता आकर न बैठ जायं। लामाने मंत्र पढ़कर आशीर्वाद दिया और कहा कि घरमें पानीका निकल आना अच्छा सगुन है। पाँच साल बाद दूसरी तिब्बत यात्रासे जब मैं उसी रास्ते लौटा, तो मकानकी दीवारें भर खड़ी रह गई थीं, सचमुच ही उस घरमें नाग देवताने निवास करके ही छोड़ा। आगे हमारा कुछ लम्बा पड़ाव चक्-सम्के गरम चश्मे-वाले गाँवमें पड़ा। यहाँ भी लामाको अच्छे घरमें ठहराया गया। रातको हम-लोग पतले बाँसकी—जो इधर पहाड़ोंमें बहुत ज़्यादा होता है—मशालवाले थोड़ा नीचे उतरकर गरमकुंडतक पहुँचे। मुझे भी अब हिम्मत हो आई थी, मैंने साबुनकी टिकिया निकाली और खूब मल-मलके नहाया, समझ लिया था, कि अब सारी बला चली गई। मेरे साथी सब नंगे ही नहा रहे थे; उस वक़्त मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था। यह इसीलिए कि मैंने अभी औरतोंको खुले आम नंगा नहाते नहीं देखा था।

आखिर एक दिन हम ञेनम् पहुँच गए। तिब्बती लोग ञेनम् कहते हैं, लेकिन नेपाली क़ुत्ती कहकर पुकारते हैं। ञेनम् अच्छी मंडी है, नेपालियोंकी पचीसों बड़ी-बड़ी दूकानें हैं, और एक तरहसे सारा ञेनम् ही दूकानोंका गाँव है। आजकल नमक-का मौसम था, रास्तेमें हज़ारों नेपाली कोई पीठपर अनाज लिये हुए ञेनम्की ओर

जा रहा था और कोई ञेनम्से नमक लेकर लौटा आ रहा था। ञेनम्के बाहर जहाँ-तहाँ भोटिया लोगोंके काले तम्बू और काले याक दिखाई पड़ते थे। नेपाली सौदा-गरोंका काम था, नमक और अनाज दोनोंको ले लेना, और जिसको जिसकी जरूरत हो दे देना। इनके अतिरिक्त कपड़ा और दूसरी चीजें भी बिकती थीं। लामाके लिए एक बड़ा-सा मकान रहनेके लिए मिला था। नेवार लोगोंमें पहले ही से अवतारी लामाकी प्रसिद्धि थी, और भोटिया भी बहुत जल्दी सिद्ध महात्माके गुनसे परिचित हो गये। चावल, चाँदीका टका, अंडा, मक्खन और चायके साथ सफ़ेद रेशमकी पतली चीट (ख़ाता) दिनभर चढ़ावेमें आता रहता। अंडा तो इतना जमा हो गया था, कि कोई खानेवाला नहीं था। मैंने मक्खन-चूरा और अंडेको देखा, तो भोजनका एक तजरबा करना चाहा। खूब मक्खन डालकर चूराको भुना और उसमें बहुतसे अंडे और चीनी डाल दी। अच्छा हलवासा बन गया। साथियोंने खाकर बड़ी तारीफ़ की। वह मेरे हाथकी तारीफ़ कर रहे थे और मैं समझाता था कि घी-चीनी पड़ जाय, तो मिट्टी भी अमृत बन सकती है।

इस इलाक़ेका मजिस्ट्रेट यहीं ञेनम्में रहता है। इलाक़ेके अफ़सरोंको तिब्बतमें जो-ङ्-पोन् कहते हैं और उसके इलाक़ेको जोङ् कहा जाता है। तिब्बतमें छोटे-बड़े १०८ जोङ् बतलाए जाते हैं। तिब्बतका शासक एक अविवाहित महन्त (दलाईलामा) होता है, इसलिए सरकारके हरेक विभागमें भिक्षु अफ़सर भी होते हैं—सेनाको छोड़कर। सभी जगह जोड़े अफ़सर होते हैं, जिनमें एक प्रायः सदा ही भिक्षु होता है। लामाके पास जोङ्पोन्का निमंत्रण आया। मुझे भी चलनेके-लिए कहा, लेकिन मैंने वहाँ जाना पसन्द नहीं किया। दो-तीन दिनतक तो मैं निश्चिन्त बैठा रहा, फिर देखा लामा अभी जानेका नाम नहीं ले रहे हैं, मुमकिन था वह महीनों वहीं रहें, लेकिन मैं इतने दिनों तक कैसे प्रतीक्षा कर सकता था। पता लगा कि, गाँवके पासही जहाँ पुलसे नदीको पार किया जाता है, वहाँका पहरेदार किसी बाहरी आदमीको आगे नहीं जाने देता, जब तक कि वह जोङके हाथकी लिखी राहदारी (लम्-यिक्) न दिखलादे। लम्-यिक् लेनेके लिए मैंने इधरउधर कोशिश करवाई, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। कुछ नेपाली सौदागर ल्हासाकी ओर जारहे थे, वह आसानी से एक आदमीकी और राहदारी ले सकते थे, लेकिन कोई खतरा उठानेके लिए तैयार न था। एक दिन लामाको एक नैपाली सौदागरके घरमें पूजा करनेके लिए बुलाया गया। आधीरातके बाद पूजा हो रही थी, बीच-बीचमें आदमी (खास करके स्त्री) के जाँघकी हड्डीका बाजा बज रहा था, उसके स्वरमें एक अजीब तरहकी करुणा सुनाई पड़ती। खैर,

मेरे ऊपर इन सब चीजोंका प्रभाव नहीं पड़ सकता था, क्योंकि मैंने सारे ढोंगको भीतरसे देखा था। नेपाली सौदागरकी स्त्री भोटिया थी, अभिषेकका जल उसके सिरपर भी डाला गया। नेपाली लोग बरसोंकेलिए तिब्बत जाते, लेकिन अपने साथ बीबीको नहीं ले जाते। ब्राह्मण राजगुरु पुरुषको तो कुछ रुपया लेकर प्रायश्चित्त दे देते हैं, लेकिन स्त्रीको नहीं; इसीलिए प्रायः हरएक नेपालीको तिब्बत में अलग स्त्री रखनी पड़ती है। नेपाल और भोट सरकारके क़ानूनके मुताबिक़ बापकी सम्पत्तिमें भोटिया लड़के और उसकी माँका कोई अधिकार नहीं है, यह सरासर अन्याय है, क्योंकि दूसरे रूपमें यह खुली वेश्या-वृत्ति है। उसी सौदागरके यहाँ मैं दिनमें गया, तो वहाँ एक लम्बी दाढ़ीबालवाले हिन्दू साधूको देखा। मैं तो भोटिया वेशमें था और बातें भी भोटियामें कर रहा था, इसलिए साधूको मेरे बारेमें क्या पता चलता? मुझे किसीने बतलाया कि वह तिब्बत जाना चाहता है, यहाँतक पहुँच गया, अब जोङ्पोन्ने पकड़ लिया है। अब वह ऊपर नहीं जा सकता, नीचे छोड़नेकेलिए तैयार हैं, लेकिन कोई ज़मानत देनेवाला नहीं।

जब मैं इस प्रकार सब तरहसे निराश हो रहा था, उसी समय मैंने इसका जिक्र अपने मंगोल दोस्तसे किया। उसने कहा—"इसमें क्या मुश्किल है, राहदारी मैं ले आता हूँ।" और सचमुच ही वह थोड़ी देरमें दो राहदारी लेकर चला आया, जिसमें डंपुङ विहारके दो भिक्षुओंका नाम था, जो बोधगया दर्शन करके अपने विहारको लौट रहे थे। अब हम सत्तूके देसमें घुस रहे थे, फिर पीठपर बोझा लादे पैदल ही चलना भी था। सत्तू पेटभर खा सकूँगा, इसमें मुझे सन्देह था, इसलिये चूरा चीनी और कितनी ही चीज़ें थोड़ी-थोड़ी जमा कीं। मंगोलके पास मनसे ज़्यादा बोझ था और मेरी पीठकेलिए भी २०, २५ सेरका सामान हो गया था। लामाने मेरेलिए एक अच्छी चिट्ठी लिख दी, रास्तेकेलिए कितनी ही खाने-पीनेकी चीजें दीं, और दोपहरके बाद हम दोनों चल दिए। हम दोनों हीका भेस ऐसा था, कि जिसको देखकर भिखमंगा छोड़कर और कोई कुछ कह ही नहीं सकता था। मेरा छुपा (चोगा) फटा तो नहीं था, लेकिन उसका लाल रंग बहुत जगह फीका पड़ गया था और कपड़ा भी था टाट जैसा। पैरका जूता भी उसीके अनुसार था। हाँ, अब वह काटता नहीं था। पीठपर दो कमानीदार लकड़ियोंके बीचमें सामान बाँधकर उसे दोनों बाहोंको बाहर निकाले हुए मैंने मोढ़ोंमें रस्सीसे लटका लिया था। हमलोगोंके हाथमें एक-एक डंडा भी था। चारों ओर नंगे पहाड़, जिसमें एक तरफ़ दुनियाका सबसे ऊँचा शिखर गौरीशङ्कर अपने रुपहले सौन्दर्यको नीले आसमानमें प्रतिफलित

कर रहा था। दो भिखमंगे पुल पार करके चढ़ाई चढ़ने लगे। मुमकिन है, तुरन्त चढ़ाई नहीं मिली होती, तो थोड़ी देरतक और मैं गौरीशङ्करके सौन्दर्यकी झाँकी करता, किन्तु वहाँ थोड़ी ही देरमें सारी दुनिया कड़वी मालूम होने लगी। मेरा मोढ़ा टूटने लगा, पिंडली फटने लगी, और मंगोल साथीकी हँसानेवाली बातें मुझे बुरी लगने लगीं। डेढ़-दो मील जानेके बाद तो मैं उससे बार बार पूछता कि पड़ाव कहाँ है, यद्यपि अभी अपनी कायरताको बाहर प्रकट करनेकेलिए तैयार नहीं था। १२, १३ हजार फ़ीटकी ऊँचाईपर वैसे ही आक्सीजनकी कमीसे साँस फूलने लगती है और आदमी जल्दी थक जाता है; फिर मैं तो साथ ही पीठपर बोझा भी लिये हुए था, मंगोलभिक्षु मेरे कंधेके बराबर भी नहीं था, लेकिन वह कूदता चल रहा था। मैंने उस दिन पहिले अपने नानाको फिर अपनेको बहुत बुरा-भला कहा। मैं समझने लगा कि लड़केको सुकुमार कभी नहीं बनाना चाहिए, उससे पूरा शारीरिक परिश्रम लेना चाहिए। बोझा ढोना, ज़मीन खोदना यह सबसे अच्छे शारीरिक व्यायाम हैं। भीतर ही भीतर रोता ३, ४ घंटा चलने और बैठनेके बाद हम एक बड़े मठमें पहुँचे। तिब्बतके भीतर यह पहिला अच्छा खासा मठ देखनेको मिला। दर्शन वैसे भी करता, लेकिन अब तो उसके बहाने विश्राम करना था। वहाँके भिक्षु अच्छे थे। हमलोग दर्शन करने गए, और उधर गर्मागरम चाय तैयार होके चली आई। तिब्बतमें एक बैठकीमें एक प्यालेसे थोड़े ही काम चलता है। मैं धीरे-धीरे चाय पी रहा था, यह ख्याल करके कि ज़रा और अबेर हो जाय, जिसमें आगे जानेकी बात न आए। डाम्‌में मुझे एक सुसंस्कृत भोटिया सज्जन मिल चुके थे। वह गोरखा भाषा और थोड़ी-थोड़ी हिन्दी भी बोल लेते थे। हमारे साथ ही वह ञेनम् तक आए थे। अब पता लगा, कि वह अगले गाँवमें ठहरे हुए हैं। उस गाँवका एक लड़का अपने घर लौट रहा था, मंगोलभिक्षुने कहा कि चलो उसी गाँवमें आज रहेंगे। कितना दूर है पूछनेपर बतलाया गया, यही पाव-धाप भर। वहाँसे उठनेका मन तो नहीं कर रहा था, लेकिन मंगोलभिक्षुने लालच दिखाई, उस गाँवमें चलेंगे तो उक्त सज्जनकी मददसे कोई बोझा ढोनेवाला मिल जायगा। उठ पड़ा।

अब जो वह धाप बढ़ना शुरू हुआ, तो मालूम नहीं होता था, कि उसका अन्त सौ कोसपर होगा या दो सौ कोसपर। पाँच-छै बार तो "कितना दूर है" मैंने पूछा, लेकिन वही जवाब "अब दूर नहीं"। मैंने फिर बात पूछनी बन्द कर दी, और भीतर ही भीतर घुलने लगा। उन दोनोंके पीछे मैं रस्सीसे घसीटा हुआ वैसे ही आ रहा था, जैसे क़साईके पीछे गाय। रातके नौ या दस बजे थे, जब हम उस गाँवमें पहुँचे।

कुशोक् (सज्जन) जिस घरमें ठहरे थे, वहाँ पहुँचकर मैंने रस्सीमेंसे बाँह निकाली, और बिना बोले ही बिछौनेपर चित पड़ गया। मंगोलने बात बतलाई होगी। कंडेकी आगसे लोहेकी अँगीठीपर थुक्-पा पक रहा था—सत्तू या चावलके साथ मूली, हड्डी और मिल सके तो थोड़ा मांस भी बहुत पतली लेईकी तरह घंटों पकाया थुक्-पा कहा जाता है। थुक्-पा तैयार हुआ, तो मैंने भी अपना काठका प्याला (कटोरा) निकाला और दो-चार प्याले पिए।

कुशोक् लप्चीके बड़ तीर्थको जा रहे थे। ग्यारहवीं सदीमें हमारे ८४ सिद्धोंकी परम्परामें तिब्बतमें एक बहुत बड़ा सिद्ध पैदा हुआ था, जिसका नाम जे-चुन्-मिला-रेपा है। उसकी बहुतसी सिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं। मिलारेपा सिद्ध होनेके साथ-साथ तिब्बतका सबसे बड़ा कवि है। तिब्बतकी सरदीमें भी वह एक सूती कपड़ेको पहनता था, इसीलिए उसको रेपा—सूती कपड़ेवाला कहते हैं। लप्चीमें मिला-रेपा कई वर्षोंतक रहा था, इसीलिए उसे आजकल बहुत बड़ा तीर्थ मानते हैं। डुक्पालामा भी अपना अन्तिम जीवन वितानेकेलिए वहीं जा रहे थे। हमारे कुशोक् भी लप्चीके रास्तेमें थे। उन्होने मंगोलभिक्षुको भी चलनेकेलिए कहा। उसके मुँहमें पानी भर आया। जव उसने मेरी राय पूछी, तो पहिले मैंने चलनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया, लेकिन कुशोक्ने यह कहके मेरा मुँह बन्द कर दिया, कि सामान दूसरा आदमी अपनी पीठपर ले चलेगा। मैं समझता था, कि हम रास्तेसे बेरास्ते जा रहे हैं और एककी जगह दो बड़ी-बड़ी ऊँची जोतें (डाड़ें, ला) पार करने होंगे। लप्चीके आगे बोझा ढोनेवाला कोई मिलेगा, इसकी भी आशा नहीं थी। लेकिन अब नहीं कहनेका मतलब था अपनेको अश्रद्धालु प्रकट करना, इसलिए मौन रहकर स्वीकृति देनेके सिवा कोई चारा न था।

दूसरे दिन हम लप्चीकी ओर चले। पीठ ख़ाली रहनेसे चलनेमें कोई दिक़्क़त नहीं थी, सिर्फ़ एक जगह रास्ता पहाड़के ऊपरसे नीचेकी ओर वहती पथरीली मिट्टीकी धार परसे था; वहां मेरा रोंगटा खड़ा होने लगा। मैंने तीनसाल पहिले लदाखसे लौटते वक्त ऐसीही एक बड़ी धार पार की थी। सोचने लगा, इस रास्तेमें न जाने कितनी ऐसी धारें मिलेंगी। सवसे पीछे छूटा देखकर लोग मुझे हाथ पकड़कर पार करना चाहते थे, लेकिन मैं अपने आत्माभिमानको छोड़नेके लिए तैयार नहीं था और जीपर खेलकर उसपार चला गया।

जब जोत चार-पांच मील रह गई तो वहीं रातको ठहरनेका विचार हुआ, क्योंकि आगे चाय पकानेके लिए सूखे कंडे भी न मिलते और सर्दी भी अधिक पड़ती, संभव है

बर्फभी मौजूद होती। कुशोक्की रावटी (छोलदारी) तान दी गई, लोगोंने जहाँ-तहाँसे याकके सूखे गोबरको जमा किया। अभी आग जलाके भाथीका धोंकना शुरु नहीं हुआ था कि रुईके बड़े-बड़े फाहेकी तरह बरफ़ पड़ने लगी। शायद मैंने यह पहिली बार बरफ़को आसमानसे पड़ने देखा था। बर्फ़ बराबर पड़ती गई, बहुत मुश्किलसे हमलोग चाय पका सके। चायको चोङीमें सोडा नमक मक्खन मिलाकर कूटनेके-लिए गुंजाइश नहीं थी। लोगोंके प्यालोंमें चायके ऊपर थोड़ा-थोड़ा मक्खन डाल दिया गया। हमलोगोंने उस दिन चिउरा खाया और कुछ प्याले चायके पिए। कुशोकके पास लालटेन थी, उन्होंने धर्मचर्चा करनेकेलिए कहा। मेरे पास शान्तिदेवकी "बोधि-चर्या" संस्कृतमें थी। कुशोक्को श्लोक तिब्बती अनुवादमें याद थे। मैं संस्कृत श्लोक पढ़कर टूटी-फूटी भाषामें कुछ भावार्थ कहता, इसपर वह तिब्बती श्लोकको बोल जाते और चार-पाँचकी श्रोतृमंडलीकेलिए व्याख्या भी कर देते थे। बड़ी राततक हमारी चर्चा रही, बर्फ़ वैसी ही पड़ती जा रही थी। रावटीपर जब ज्यादा बर्फ़ जमा होती, तो झटककर उसे गिरा दिया जाता। मेरे शरीरमें अभीतक जूएँ नहीं पड़ी थी, लेकिन अब उसी छोटीसी रावटीके भीतर पाँच-छ आदमी सट-सटकर सोये थे। रातको मालूम होने लगा, कि शरीरमें सैकड़ों चींटियाँ काट रही हैं। जब हमने खानेमें बाँट-चोंट लगाई थी, तो जूओंमें भी लगाना चाहिए। सबेरे उठ-कर देखा, तो चारों ओर ज़मीन हाथ-हाथ भर मोटी बरफ़से ढँकी थी। मेरे कहनेसे कुछ पहिले ही लोब्ज़ङ्-शेरब् मंगोलभिक्षुने आकर कहा—जब यहाँ इतनी बर्फ़ है, तो और ऊपर चढ़नेपर तो वह और ज़्यादा होगी। मैंने कहा—फिर क्या सलाह है? उन्होंने कहा—लप्चीका इरादा छोड़ देना चाहिए। मैंने दो-एक मज़ाक किये, और उनसे सहमत तो था ही। लोब्ज़ङ्-शेरब्का अर्थ है सुमतिप्रज्ञ, सुमतिप्रज्ञ या सुमति कहनेसे पाठकोंको नाम ज़्यादा याद रहेगा, इसलिए आगे मैं मंगोलभिक्षुको इसी नामसे पुकारूँगा।

सुमतिने कुशोक्से लौट चलनेकेलिए कहा। वह खुद तो जानेका निश्चय कर चुके थे, इसलिए क्यों लौटने लगे; लेकिन हमलोगोंको बिदाई दे दी। कुछ घंटोंमें लौटकर हम उसी गाँवमें चले आए। और अबकी गोवा (गाँवके मुखिया)के घरमें ठहरे। रातको मालूम हुआ, कि कुशोक् और उनके आदमी भी भूल-भटकके लौट आए। बर्फ़में कोई रास्ता नहीं मालूम हुआ और आदमियोंके पास काले चश्मे भी नहीं थे, इसलिए वह हिमांध हो गए थे। हम दोनोंने अपने भाग्यको सराहा।

सुमति कई सालोंसे हर जाड़ेमें बोधगया तीर्थ करने आते थे, और रास्तेमें गंडा और दूसरा प्रसाद देते यजमानोंसे दक्षिणा वसूल करते लौटते थे। उन्हें पढ़ने-बढ़नेसे कोई वास्ता नहीं था। सालके ६ महीने तो यात्रामें कट जाते थे और इसीमें कुछ पैसे भी मिल जाते थे, जिन्हें वह डेपुङ् विहारमें रहकर खाते थे और फिर नई यात्रा शुरू कर देते थे। उन्होंने गोवासे चिरौरी-मिनती करके दूसरे दिनकेलिए एक आदमी कर लिया। सामान उसकी पीठपर रखकर हम चल पड़े। और अगले गाँवमें—जो मुख्य रास्तेपर था—वहाँके गोवाके घरमें पहुँच गए। उस घरमें दो ही परानी थे, एक २५ वर्षका जवान और एक बयालीस-तैंतालीसकी बुढ़िया। हमें आज यहीं रहना था। एक तो आगेकेलिए हम कोई भरिया (भारवाहक) लेना चाहते थे, दूसरे सुमतिके इस गाँवमें कुछ यजमान थे, जिन्हें कपड़ेका गंडा और प्रसाद बाँटना था। तिब्बतमें लोग तो नहाते साल-दो-साल बाद ही हैं, लेकिन मरदों और औरतों दोनोंके लम्बे-लम्बे बालोंमें तेल डालने और झाड़कर बाँधनेकी जरूरत हर महीने-दो महीने पड़ती है। गृहपत्नीका आज शृंगारका दिन था। यहाँकी औरतोंका शृंगार और भी मुश्किल है। बालोंको दो फाँक कर दो चोटियाँ बनाना और फिर बाँसकी कमानीपर लाल कपड़ा और क्षमताके अनुसार मोती-मूँगा-फ़िरोज़ा लपेटे धनुषको सिरपर दोनों चोटियोंके सहारे खड़ा करना पड़ता है। गृहपत्नीका शृंगार जवान कर रहा था। माँका शृंगार कर रहा हो, इसमें कोई अचरज नहीं, और इसीलिए मैंने सुमतिसे पूछा कि ये दोनों माँ-बेटे हैं? मेरी आवाज़ कुछ शायद ऊँची थी, सुमतिने मेरे हाथको दबाया और कानमें कहा—"चुप, दोनों पति-पत्नी हैं।" मैंने पढ़ा तो था कि तिब्बतमें बड़े भाईकी शादी होती है और वही सभीकी पत्नी होती है—कितने ही छोटे पति तो ब्याहके बाद भी पैदा होते हैं; क्योंकि सगे भाइयोंकी एक ही पत्नी हो सकती है। लेकिन किताब पढ़नेसे काम थोड़े ही चलता है, आँखों देखनेसे विश्वास होता है।

सुमति गाँवमें घूम-घाम आए, फिर मुझे साथ चलनेकेलिए कहा। तिब्बतके बड़े-बड़े कुत्ते बड़े ही खतरनाक होते हैं। मैं बाहर निकलनेकी हिम्मत नहीं करता था, लेकिन सुमति अपना डंडा लिए हुए गाँवभर घूमा करते थे। मैंने पूछा—कहाँ चलना है? बोले—"एक धनी गृहस्थिनके सन्तान नहीं है, उसकेलिए एक तावीज़ लिख देना है। कुछ भी लिख देना, जो तीर लग गया तो हर यात्रामें मक्खन, मांस, सत्तू और कुछ पैसेका बन्धान हो जायगा।"

मित्रके लिए इतनी सहायता कोई बड़ी चीज़ नहीं थी, मैं उनके पीछे-पीछे चल

पड़ा। घरपर पहुँचा। सीढ़ियोंसे ऊपर चढ़ना था और सीढ़ीकी बग़लमें ही एक ख़ूँख़्वार कुत्ता लोहेकी जंजीरसे बँधा था। वह हाँव-हाँव करने लगा। ख़ैर, एक औरत आकर अपने कपड़ेसे कुत्तेके मुँहको ढाँककर बैठ गई। हमलोग ऊपर चले गए। डेढ़ बालिश्त ऊँचे मोटे गद्देका आसन पड़ा हुआ था, सामने चायकी पतली चौकी रखी थी, हम दोनों बैठ गए। गृहपत्नीने लाकर प्यालेमें चाय डालना शुरू किया। सुमतिने कागज़-पत्र मँगवाया। वह कागज़-पत्र लेने गई, मैंने पूछा—"किसकेलिए तावीज़ लिखवा रहे हो?" उन्होंने कहा—"यही तो गृहपत्नी है।" मैंने आश्चर्यके साथ कहा—"इस बावन बरसकी बुढ़ियाको तुम पुत्र देने जा रहे हो!" सुमतिने धीरे बोलनेकेलिए इशारा करते हुए कहा—"हमारा क्या जाता है, कुछ सत्तू-मक्खन तो मिलेगाही।" मैंने तावीज़ लिख दी। पुत्र हुआ कि नहीं, इसकी बात सुमति जानें। सुमति स्तोत्रकी पुस्तकें, कुछ टो-टाके पढ़ लेते थे, लेकिन उन्हें लिखना नहीं आता था। आगेकेलिए गोवाने हमें आदमी दिया। यह नेपालसे तिब्बत जानेका मुख्य रास्ता है। फरी-कलिङ्पोङ्का रास्ता जब नहीं खुला था, तो नेपाल ही नहीं हिन्दुस्तानकी भी चीज़ें इसी रास्ते तिब्बत जाया करती थीं। यह व्यापारिक ही नहीं सैनिक रास्ता भी था, इसीलिए जगह-जगह फ़ौजी चौकियाँ और क़िले बने हुए हैं, जिनमें कभी चीनी पलटन रहा करती थी। आजकल बहुतसे फ़ौजी मकान गिर चुके हैं। दुर्गके किसी भागमें, जहाँ किसानोंने अपना बसेरा बना लिया है, वहाँ घर कुछ आबाद दिखाई पड़ते हैं। ऐसा ही परित्यक्त एक चीनी क़िला था। हम वहाँ चाय पीनेकेलिए ठहरे। तिब्बतमें यात्रियोंकेलिए बहुतसी तकलीफ़ें भी हैं, और कुछ आरामकी बातें भी। वहाँ जाति-पाँति, छुआ-छूतका सवाल ही नहीं है और न औरतें परदा ही करती हैं। बहुत निम्नश्रेणीके भिखमंगोंको लोग चोरीके डरसे घरके भीतर नहीं आने देते; नहीं तो आप बिलकुल घरके भीतर चले जा सकते हैं। चाहे आप बिलकुल अपरिचित हों, तब भी घरकी बहू या सासुको अपनी झोलीमें से चाय दे सकते हैं। वह आपकेलिए उसे पका देगी। मक्खन और सोडा-नमक दे दीजिए, वह चायचोङीमें कूट कर उसे दूधवाली चायके रंगकी बनाके मिट्टीके टोटी-दार बरतन (खोटी) में रखके आपको दे देगी; यदि बैठककी जगह चूल्हेसे दूर है और आपको डर है, कि सारा मक्खन आपकी चायमें नहीं पड़ेगा, तो आप ख़ुद जाकर चोङीमें चाय मथकर ला सकते हैं—चायका रंग तैयार हो जानेपर फिर नमक-मक्खन डालनेकी ज़रूरत होती है।

परित्यक्त चीनी क़िलेसे जब हम चलने लगे, तो एक आदमी राहदारी माँगने

आया। हमने वह दोनों चिटें उसे दे दीं। शायद उसी दिन हमथोड़्लाके पहलेके आखिरी गाँवमें पहुँच गए। यहाँ भी सुमतिके जान-पहचानके आदमी थे, और भिखमंगे रहते भी ठहरनेकेलिए अच्छी जगह मिली। पाँच साल बाद हम इसी रास्ते लौटे थे और भिखमंगे नहीं, एक भद्र यात्रीके वेशमें घोड़ोंपर सवार होकर आए थे; किन्तु उस वक्त किसीने हमें रहनेकेलिए जगह नहीं दी, और हम गाँवके एक सबसे गरीब झोपड़ेमें ठहरे थे। बहुत कुछ लोगोंकी उस वक्तकी मनो-वृत्तिपर ही निर्भर है, खासकर शामके वक्त छङ् पीकर बहुत कम होश-हवासको दुरुस्त रखते हैं।

अब हमें सबसे विकट डाँड़ा थोड़्-ला पार करना था। डाँड़े तिब्बतमें सबसे खतरेकी जगहें हैं। सोलह-सत्रह हज़ार फ़ीटकी ऊँचाई होनेके कारण उनकी दोनों तरफ़ मीलोंतक कोई गाँव-गिराँव नहीं होते। नदियोंके मोड़ और पहाड़ोंके कोनेंके कारण बहुत दूरतक आदमीको देखा नहीं जा सकता। डाकुओंकेलिए यही सबसे अच्छी जगह है। तिब्बतमें गाँवमें आकर खून हो जाय, तब तो खूनीको सज़ा भी मिल सकती है, लेकिन इन निर्जन स्थानोंमें मरे हुए आदमियोंकेलिए कोई परवाह नहीं करता। सरकार खुफ़िया-विभाग और पुलिसपर उतना खर्च नहीं करती और वहाँ गवाह भी तो कोई नहीं मिल सकता। डकैत पहिले आदमीको मार डालते हैं, उसके बाद देखते हैं कि कुछ पैसा है कि नहीं। हथियारका क़ानून न रहनेके कारण यहाँ लाठीकी तरह लोग पिस्तौल, बन्दूक लिये फिरते हैं। डाकू यदि जान से न मारे तो खुद उसे अपने प्राणोंका खतरा है। गाँवमें हमें मालूम हुआ, कि पिछले ही साल थोङलाके पास खून हो गया। शायद खूनकी हम उतनी पर्वाह नहीं करते, क्योंकि हम भिखमंगे थे, और जहाँ-कहीं वैसी सूरत देखते, टोपी उतार जीभ निकाल, "कुची-कुची (दया-दया) एक पैसा" कहते भीख माँगने लगते। लेकिन पहाड़की ऊँची चढ़ाई थी, पीठपर सामान लादकर कैसे चलते ? और अगला पड़ाव १६, १७ मीलसे कम नहीं था। मैंने सुमतिसे कहा कि यहाँसे लङ्कोर तककेलिए दो घोड़े कर लो, सामान भी रख लेंगे और चढ़े चलेंगे।

दूसरे दिन हम घोड़ोंपर सवार होकर ऊपरकी ओर चले। डाँड़ेसे पहिले एक जगह चाय पी और दोपहरके वक्त डाँड़ेके ऊपर जा पहुँचे। हम समुद्रतलसे १७, १८ हज़ार फ़ीट ऊँचे खड़े थे। हमारी दक्खिन तरफ़ पूरबसे पच्छिमकी ओर हिमालयके हज़ारों श्वेत शिखर चले गए थे। भीटेकी ओर दीखनेवाले पहाड़ बिलकुल नंगे थे, न वहाँ बर्फ़की सफ़ेदी थी, न किसी तरहकी हरियाली। उत्तरकी तरफ़ बहुत

कम बरफ़वाली चोटियाँ दिखाई पड़ती थीं। सर्वोच्च स्थानपर डाँड़ेके देवताका स्थान था, जो पत्थरोंके ढेर, जानवरोंकी सींगों, और रंग-बिरंगे कपड़ेकी झंडियोंसे सजाया गया था। अब हमें बराबर उतराईपर चलना था। चढ़ाई तो कुछ दूर थोड़ी मुश्किल थी, लेकिन उतराई बिलकुल नहीं। शायद दो-एक और सवार साथी हमारे साथ चल रहे थे। मेरा घोड़ा कुछ धीमे चलने लगा। मैंने समझा कि चढ़ाई की थकावटके कारण ऐसा कर रहा है, और उसे मारना नहीं चाहता था। धीरे-धीरे वह बहुत पिछड़ गया, और मैं दोन्क्विक्स्तोकी तरह अपने घोड़ेपर झूमता हुआ चला जा रहा था। जान नहीं पड़ता था, कि घोड़ा आगे जा रहा है या पीछे। जब मैं ज़ोर देने लगता, तो वह और सुस्त पड़ जाता। एक जगह दो रास्ते फूट रहे थे, मैं बाएँका रास्ता ले मील-डेढ़ मील चला गया। आगे एक घरमें पूछनेसे पता लगा, कि लङ्कोरका रास्ता दाहिनेवाला था। फिर लौटकर उसीको पकड़ा। चार-पाँच बजेके क़रीब मैं गाँवसे मीलभरपर था, तो सुमति इन्तज़ार करते हुए मिले। मंगोलोंका मुँह वैसे ही लाल होता है, और अब तो वह पूरे गुस्सेमें थे। उन्होंने कहा—"मैंने दो टोकरी कन्डे फूँक डाले, तीन-तीन बार चायको गर्म किया।" मैंने बहुत नरमीसे जवाब दिया—"लेकिन मेरा क़सूर नहीं है मित्र? देख नहीं रहे हो, कैसा घोड़ा मुझे मिला है। मैं तो राततक पहुँचनेकी उम्मेद रखता था।" ख़ैर सुमतिको जितनी जल्दी गुस्सा आता था, उतनी ही जल्दी वह ठंडा भी हो जाता था। लङ्कोरमें वह एक अच्छी जगहपर ठहरे थे। यहाँ भी उनके अच्छे यजमान थे। पहिले चाय-सत्तू खाया गया रातको गरमागरम थुक्पा मिला।

अब हम तिङ्रीके विशाल मैदानमें थे, जो पहाड़ोंसे घिरा टापूसा मालूम होता था, जिसमें दूर एक छोटीसी पहाड़ी मैदानके भीतर दिखाई पड़ती है। उसी पहाड़ीका नाम है तिङ्री-समाधि-गिरि। आसपासके गाँवमें भी सुमतिके कितने ही यजमान थे। कपड़ेकी पतली-पतली चिरी बत्तियोंके गन्डे ख़तम नहीं हो सकते थे, क्योंकि बोधगयासे लाए कपड़ेके ख़तम हो जानेपर किसी कपड़ेसे बोधगयाका गण्डा बना लेते थे। वह अपने यजमानोंके पास जाना चाहते थे। मैंने सोचा, यह तो हफ्ताभर उधर ही लगा देंगे। मैंने उनसे कहा कि जिस गाँवमें ठहरना हो, उसमें भले ही गण्डे बाँट दो, मगर आसपासके गाँवोंमें मत जाओ; इसकेलिए मैं तुम्हें ल्हासा पहुँचकर रुपए दे दूँगा। सुमतिने स्वीकार किया। दूसरे दिन हमने भरिया ढूँढ़ने-की कोशिश की, लेकिन कोई न मिला। सबेरे ही चल दिये होते तो अच्छा था, लेकिन अब १०, ११ बजेकी तेज़ धूपमें चलना पड़ रहा था। तिब्बतकी धूप भी

बहुत कड़ी मालूम होती है, यद्यपि थोड़ेसे भी मोटे कपड़ेसे सिरको ढाँक लें, तो गर्मी ख़तम हो जाती है। आप २ बजे सूरजकी ओर मुँह करके चल रहे हैं, ललाट धूपमें जल रहा है, और पीछेका कन्धा बर्फ़ हो रहा है। फिर हमने पीठपर अपनी-अपनी चीज़ें लादीं, डंडा हाथमें लिया, और चल पड़े। यद्यपि सुमतिके परिचित तिङ्-रीमें भी थे, लेकिन वह एक और यजमानसे मिलना चाहते थे, इसलिए आदमी मिलनेका बहाना कर शेकर विहारकी ओर चलनेकेलिए कहा। तिब्बतकी जमीन बहुत अधिक छोटे-बड़े जागीरदारोंमें बँटी है। इन जागीरोंका बहुत ज़्यादा हिस्सा मठों (विहारों)-के हाथमें है। अपनी-अपनी जागीरमें हरेक जागीरदार कुछ खेती ख़ुद भी कराता है, जिसकेलिए मज़दूर बेगारमें मिल जाते हैं। खेतीका इन्तज़ाम देखनेकेलिए वहाँ कोई भिक्षु भेजा जाता है, जो जागीरके आदमियोंकेलिए राजासे कम नहीं होता। शेकरकी खेतीके मुखिया भिक्षु (नमसे) बड़े भद्र पुरुष थे। वह बहुत प्रेमसे मिले, हालाँकि उस वक़्त मेरा भेष ऐसा नहीं था कि उन्हें कुछ भी ख़्याल करना चाहिए था। यहाँ एक अच्छा मन्दिर था; जिसमें कन्जुर (बुद्धवचन-अनुवाद)की हस्तलिखित १०३ पोथियाँ रखी हुई थीं, मेरा आसन भी वहीं लगा। वह बड़े मोटे कागज़पर अच्छे अक्षरोंमें लिखी हुई थीं, और एक-एक पोथी १५, १५ सेरसे कम नहीं रही होगी। सुमतिने फिर आसपास अपने यजमानोंके पास जानेके बारेमें पूछा, मैं अब पुस्तकोंके भीतर था, इसलिए मैंने उन्हें जानेकेलिए कह दिया। दूसरे दिन वह गए। मैंने समझा था, २, ३ दिन लगेंगे, लेकिन वह उसी दिन दोपहर बाद चले आए। तिङ्री गाँव वहाँसे बहुत दूर नहीं था। हमने अपना-अपना सामान पीठपर उठाया और भिक्षु नम्सेसे बिदाई लेकर चल पड़े।

तिङ्रीमें भूतपूर्व जोङ्-पोन् सुमतिका परिचित था। जब उन्होंने जोङ्पोन्के घर चलनेको कहा, तो मुझे बहुत डर लगा। मैंने और जगह ठहरनेकेलिए कहा, लेकिन मेरा साथी बोला—कोई हरज नहीं, वह तुम्हें नहीं पहचान सकेगा। बाहरके आँगनमें ज़ंजीरसे बँधे कुत्तोंने हाँव-हाँवसे स्वागत किया। हम भीतरके आँगनमें जैसे ही पहुँचे, तैसे ही गृहपति स्वयं उठकर मुस्कुराते हुए बोले—"ओ हो सोग्पो गेलोङ (मंगोल भिक्षु) और यह लदापा (लदाख़ी) भी।" वह अपने हाथसे हमारे पीठके बोझेको उतारकर ज़मीनपर रखने लगे। वहीं आँगनमें आसन बिछा दिया गया और सूखा मांस-सत्तू और चाय तुरन्त हमारे सामने चली आई। अभी सूखा मांस खानेकी तैयारीमें मेरे काफ़ी दिन लगने थे, लेकिन चाय पीने लगा। अबतक मैं अपनेको खुनूपा (कनौरवाला) कहता था, लेकिन दो-तीन जगह लोगोंको

खुद लदापा कहते सुनकर मैंने भी अब अपनेको लदापा कहनेका निश्चय किया। गृहपति सुमतिसे रास्तेके बारेमें पूछते रहे। उनकी चाम-कुशो (भद्रमहिला) भी सुमतिसे परिचित थीं। दोनों ही हमारे स्वागतकेलिए तैयार थे। मेरा डर जाता रहा। मैं समझता था कि वह अब भी जोङ्पोन् हैं, लेकिन जोङ्पोन्का पद छोड़े उन्हें काफ़ी समय हो गया था और अब वह एक खासे व्यापारी थे। वह रहनेवाले तो ल्हासाके थे, लेकिन अब ज्यादातर यहीं तिङ्रीमें रहते थे। यहाँ वह एक अच्छे खासे अमीरकी तरह रहते थे, लेकिन कितने ही महीने बाद मैंने जब ल्हासामें देखा, तो वे बहुत मामूली कपड़ेमें थे।

शामके वक़्त वर्त्तमान जोङ्पोन् (मजिस्ट्रेट) भी उस घरमें आया—शामके ५ बजेसे ही तिब्बतमें छङका समय हो जाता है। उसे चाँदीके प्यालेमें छङ प्रदान की गई, लेकिन वह खड़े ही खड़े दो-एक प्याला पीकर चला गया। सूर्यास्तके समय गृहपतिने अपनी वीणा (एक तारा और वीणाके बीचका बाजा) उठाई और पत्नीको साथ लिये सुमतिसे कहा—अब तो मैं चला नृत्य-गोष्ठीमें, और तुम नौकरोंसे जिस चीज़की ज़रूरत हो, माँग लेना। अमीरोंके घरोंमें शामके वक़्त पान और नृत्य-गान खूब चलता है। वहाँ अमीरज़ादियाँ और बड़े-बड़े घरोंकी औरतें भी खुलेआम नाचनेमें कोई लज्जा नहीं करतीं। रातको हमलोगोंके सोनेका इन्तज़ाम रसोईघरमें हुआ। तिब्बतमें लकड़ी जलानेकेलिए बहुत कम मिलती है, इसलिए लेंडी और उपले ईंधनका काम देते हैं। रास्ते चलते भी आदमीको आग जलानेकेलिए भाथीकी ज़रूरत पड़ती है, तो रसोई-घरकी बातही क्या। चूँकि सभी भाइयोंकी एक ही पत्नी होती है और लड़कियोंकी संख्या लड़कोंसे कम नहीं, इसलिए बहुतसी स्त्रियोंको आजन्म कुँआरी रह जाना पड़ता है। स्त्रियाँ ज्यादातर वाल कटाकर साधुनी हो जाती हैं। कोई भिक्षुणियोंके मठमें रहने चली जाती है, कितनी ही माँ-बापके घरमें रहती हैं और कुछ गरीब घरोंकी लड़कियाँ किसी अमीरके यहाँ परिचारिकाका काम करती हैं। उस घरमें तीन परिचारिकाएँ थीं। एक दश-ग्यारह सालकी छोटी लड़की, एक षोड़शी और तीसरी थी साधुनी रसोइया। साधुनीको अनी कहा जाता है, यह मैं कह आया हूँ। अनीकी उमर ३०, ३५की होगी। उसका मुँह और हाथ बिल्कुल कोयले जैसा काला था। काले मुँहके भीतरसे लाल किनारीवाली सफ़ेद-काली आँखें डरावनीसी मालूम होती थीं। सचमुच ही हमारे यहाँका कोई लड़का जो उसे रातको देखता, तो ज़रूर डरके मारे उसे बुखार आ जाता। वर्षोंसे उसने स्नान ही नहीं छोड़ दिया था, बल्कि मैल, कालिख, जो कुछ भी हाथमें आता वह उसे बदनपर

लपेटती जा रही थी। मक्खन तेलकी भी, मालूम होता है, पालिश कर लेती थी, इसीलिए काले मुँहमें भी एक तरहकी चमक थी। कभी ख्याल आता था, कि वह इन्हीं गन्दे हाथोंसे खाना पकाती होगी, लेकिन जब कलछीसे थुक्पा निकालकर उसने मेरे प्यालेमें डाला, तो पीते वक्त मुझे कोई उबकाहट नहीं आई। बहुत काफ़ी रात गए गृहपति बाजा किन-किन करते लौटे और हल्कीसी शराबीकी आवाज़-में सुमतिसे खाने-पीनेके बारेमें पूछकर सोने चले गए। हम बहुत राततक थुक्पा पीना समाप्त कर सके। मैं सोनेकी जगहका ख्याल कर रहा था। मालूम हुआ कि इसी रसोई-घरमें सोना है। खैर इस वक्त अब चूल्हा जलनेवाला नहीं था, इसलिए धूँयेंका डर नहीं था। दीवारके सहारे चबूतरेसे बने थे। मैंने आसन लगाया, मेरे सिरहाने हम दोनोंके सिरको इकट्ठा रखते हुए सुमतिने आसन लगाया। षोड़शी-का आसन उनके पैरोंके पास था। मेरे पैरोंके पास छोटी लड़कीने बिस्तरा लगा दिया। कालीमाईने भी एक कोनेमें अपना बिछौना डाल दिया। यद्यपि यह गर्मी-का वह महीना था, जब कि आदमी भारतमें दिनरात पसीने-पसीने रहा करता है, लेकिन तेरह हज़ार फ़ीट ऊँची जगहमें सर्दीका क्या पता होगा? वहाँ तो माघ-पूसका सख्त जाड़ा था, लेकिन अब मैं जाड़ेसे अभ्यस्त होता जा रहा था, इसलिए मुझे वह उतना मालूम नहीं होता था। चिराग़ टिमटिमा रहा था, तभी सबने अपना-अपना कपड़ा उतारा। हाँ, इतना ज़रूर था, कि उन्होंने कपड़ेको अलग करके दिगंबरीका रूप धारण नहीं किया। सोनेके पहिले तिब्बतके बौद्ध स्त्री-पुरुष कुछ प्रार्थनावाक्य बोलकर अपने ही सिरहानेकी ओर मुँह करके बुद्ध और गुरुको दण्डवत करते हैं। सुमतिने भी किया; षोड़शीने भी, और शायद बाक़ी दोने भी। मैंने दण्डवत नहीं की, यद्यपि यह उचित नहीं था। डुक्पालामाके यहाँ अपनेको सिंहलवाले धर्मका कहकर मैं बच सकता था, लेकिन यहाँ कोई बहाना नहीं हो सकता था। वस्तुतः मैं स्वाभाविक अभिनेता नहीं हूँ, इसीलिए अपने पार्टको पूरी तरहसे अदा नहीं कर पाता था।

मैंने तो सोचा था कि जहाँ इतना स्वागत हुआ है, सुमति इतना जल्दी चलनेके-लिए तैयार नहीं होंगे, लेकिन तड़के ही उन्होंने सूचित किया——हमें चलना है। गृहपतिने हमें कुछ खाने-पीनेकी चीज़ें दीं, और हम चाय पीकर तिङ्रीसे रवाना हुए। थोड़ी ही दूर चलनेपर मैदान छूट गया, और हम दाहिने ओरके पहाड़के साथ-साथ चलने लगे। ज़मीन बहुत कुछ समतल थी। पहिले दिन जैसा कन्धा कट तो नहीं रहा था, लेकिन मैं आरामसे नहीं चल रहा था। मेरा बोझा आमदनी-

खर्च मिलाकर बराबर हो गया था। कई मील चलनेके बाद हम एक गाँवमें पहुँचे अभी दोपहर था, हम लोग चाय पीनेकेलिए एक घरमें चले गए। चाय बनी, सत्तू खाया और घरकी औरतोंसे तीर्थोंकी बात छिड़ गई। मैं भी चाहता था, कि सुमति बातमें खूब लगजायें, क्योंकि थकावटके मारे अब मैं और आगे चलना नहीं चाहता था। सुमति सच-मुचही बातमें फँस गए और जब ३,४बजनेका वक्त आया तो फिर चलनेके लिए बोले; लेकिन तिब्बतके गाँव ५-५,७-७,मीलसे कहीं कम दूरीपर नहीं होते; मैंने देर होनेकी बात कहकर आज वहीं रहनेके लिए कहा, सुमतिभी मान गए। हमने समझा था, कि जिस घरमें हमने चाय पी है, वहीं एक कोनेमें सोनेकी जगहभी मिल जायगी। लेकिन मालूम होता है, शामको खेतों और भेड़-बकरियोंमेंसे घरके और प्रभावशाली व्यक्ति आ गए थे, इसलिये दिनका परिचय कोई काम नहीं आया और हमें दूसरी जगह जानेकेलिए कहा गया। डम्बा छोटासा गाँव था। जब हम जानेमें हिचकिचा रहे थे, तो आदमीने गाँवके भीतरकी धर्मशालाके बारेमें बतला दिया। धर्मशाला क्या दो छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं, जिनमें एकमें किसीने भुस भर रखा था, दूसरी कोठरीमें हम लोगोंने अपना आसन लगाया। लेकिन सुमति बहुत घबराये हुए थे। मैं समझानेकी कोशिश करने लगा तो बोले—"तुम्हें मालूम नहीं, इस गांवमें सारे कुमा बसते हैं। (कुमा चोर और डाकू दोनोंकेलिए कहा जाता है)। उन्होंने इसीलिए हमें बाहर निकाल दिया कि रातको मारकर जो कुछ मिले छीन लें।" मैंने कहा—"हमारे पास क्या है; जो वह छीन लेंगे (मेरे पास डेढ़ सौसे ऊपरके नोट कहीं बँधे हुए थे)?" सुमतिने जवाब दिया—"पहिले तो वह अपनी लम्बी तलवारसे दो टूक कर देंगे, फिर सत्तू-वत्तू जो कुछ मिलेगा, उसे ले जाएँगे। वहाँ खून होनेपर कोई गवाह नहीं मिल सकेगा, इसीलिए हमें यहाँ भेज दिया है।" किसी तरह उनको शान्त न होते देख मैंने कहा कि—जाइये, ठहरनेकेलिए किसी-का घर ढूँढ़ आइए। वह एक गरीब बुढ़ियासे बात ठीक कर आए और अँधेरा हो रहा था, जब हम अपना सामान लेकर बुढ़ियाके घरमें चले गए। तिङ्रीसे चलनेके बाद मैं अब निर्भय हो गया था, मुझे अपने लदाखी होनेपर पूरा विश्वास था। बुढ़ियाके घरमें बीचमें कन्डेकी अँगीठीपर चाय पक रही थी। उसके किनारे बुढ़िया और दो आदमी और बैठे हुए थे। हम भी जाकर आगके किनारे बैठ गए। उन्होंने सुमतिसे यात्राके बारेमें कुछ पूछा, डम्बाके सामने चिबरीका अत्यन्त पवित्र पहाड़ था, जिसकी परिक्रमामें १०८ मन्दिर बतलाए जाते हैं। चित्रकूटके कामतानाथसे भी ज्यादा पवित्र इस पहाड़को तिब्बती श्रद्धालु भगत मानते हैं। आजकल यात्राका

समय था। दूर-दूरके यात्री परिक्रमाकेलिए आए हुए थे। बहुतसे उग्र भक्त तो अपने शरीरसे नापते हुए परिक्रमा करते हैं। मुझे ख़्याल नहीं, बुढ़ियाके पास बैठे दोनों ढावा (साधू) दण्डवत करते हुए परिक्रमा कर रहे थे, या साधारण। उन्होंने चिबरीका थोड़ासा महातम कहा और यह भी कि अबकी साल यात्री ज़्यादा आए हैं। सुमतिने कहना शुरू किया, तब तो हमें भी परिक्रमा करनेकेलिए चलना चाहिए, लप्चीकी तरह मामला कहीं और आगे न बढ़ जाय, इसलिए मैंने एक साङ् (तीन-चार आना) पैसा ढावाके सामने रखकर हाथ जोड़कर कहा— 'हमारी ओरसे भी आप चिब्री धामको प्रणाम कर देंगे और यह पैसा वहाँ चढ़ा देंगे। हम दोनोंको जल्दी ल्हासा पहुँचना है, इसलिए अबकी बार परिक्रमा नहीं कर सकते, दूसरी बार ज़रूर आएँगे।" सुमतिको पसन्द तो नहीं आया होगा, लेकिन उन्होंने बात और आगे नहीं बढ़ाई।

सबेरे फिर हम पीठपर सामान लिये चल पड़े। अगला गाँव मेमो था। यह ङम्वासे बड़ा गाँव था। यहाँ भी सुमतिको अपने यजमानोंके पास जाना था। पहिले एक ग़रीबके घरमें अपना सामान और हमें छोड़कर सुमति देखने चले गए, फिर आकर साथ चलनेकेलिए कहा। एक लड़का आगे आगे चल रहा था, फिर सुमति और सबसे पीछे मैं। एक फाटक आया। फाटकके भीतर लम्बी ज़ंजीरसे कुत्ता बँधा हुआ था, हमें देखते ही वह जोर-ज़ोरसे भूकने लगा और ज़ंजीरको झटका देने लगा। ज़रा ही देरमें ज़ंजीर टूट गई, कुत्ता हमारी ओर लप्का। मैं सबसे पीछे था, लेकिन भागनेमें सबसे पहिले। मैं भागकर फिर उसी घरमें चला आया। सुमति डंडा हिलाते हुए भागकर सीढ़ीके पास चले गए, घरवालोंने आकर बचाया, फिर वह हमें भी लिवा ले गए। सुमति बहुत भर्त्सना कर रहे थे—"तुम कुत्तोंसे इतना क्यों डरते हो? कुत्तोंका जितना बड़ा शरीर होता है, उतना दिल नहीं होता।" लेकिन मैं दिलकी परीक्षा करनेकेलिए तैयार नहीं था, मेरेलिए अपने दिलकी परीक्षा ही काफ़ी थी। कोठा क्या एक लम्बा-चौड़ा खंभोंपर खड़ी छतके नीचे हालसा था, जिसमें एक दर्जनके क़रीब परिवार रहते थे। आरंभिक युगमें जब मनुष्यकी जीविका और घर सम्मिलित हुआ करते थे, उस वक़्त शायद वह ऐसे ही घरोंमें रहा करते होंगे। घरवाले खाते-पीते किसान मालूम होते थे। सुमतिको मालूम था कि मट्ठा मुझे चायसे भी ज़्यादा प्रिय है। मैंने पेटभरके मट्ठा पिया। सुमतिने बोधगयाका प्रसाद बाँटा। घरवालोंने हमें दस सेर सत्तू भेंट किया। चलने लगे तो सुमतिने कहा, इसे अपनी पीठपर रख लो। मैं उतने ही बोझेसे मर रहा था,

और उसमें एक सेर भी बढ़ानेको तैयार नहीं था, सुमतिका भी बोझा काफ़ी था, इसलिए सत्तू लेनेसे इनकार करना पड़ा। सुमति क्षुब्ध जरूर हुए।

वहाँसे चलकर हम चकोर गाँवमें पहुँचे। गाँवके पहिले ही चीनी सैनिकोंकी चौकीके खँड़हर मिले, फिर एक पहाड़के ऊपर किसी पुराने महलकी दीवारें खड़ी दिखाई पड़ीं। अकबर और जहाँगीरके समय तिब्बतमें हर दो-दो चार-चार गाँवके स्वतंत्र राजा शासन किया करते थे, उस वक़्त ऐसे राजमहल जगह-जगह पहाड़ोंपर मौजूद थे। १६४२ ई०के आसपास मंगोलोंने इन छोटे-छोटे राजाओंको खतम करके सारे तिब्बतको जीतकर दलाई लामाको भेंट कर दिया, तबसे तिब्बतपर दलाई लामा उपाधिधारी महन्त-राजोंका शासन शुरू हुआ। प्रथम शासक पाँचवें दलाई लामा थे, और इस समय तेरहवें दलाई लामा राज कर रहे थे। दलाई लामाकी गद्दीका उत्तराधिकारी चेला नहीं होता। मरनेपर वह कहीं अवतार लेते हैं, और जोतिसी, ओझा आदि मिलकर अवतारको ढूँढ़ निकालते हैं, फिर वही बच्चा दलाई लामा बनकर गद्दीपर बैठता है।

चकोर गाँवमें हम काफ़ी दिन रहते पहुँच गए थे। सुमतिके यजमान एक गरीब घरवाले थे। चकोर किसी समय एक छोटी राजधानी थी, उस वक़्त बस्ती ज्यादा बड़ी थी, लेकिन अब कुछ थोड़ेसे घर रह गए थे, जिनको देखने ही से मालूम हो जाता था, कि गाँव श्रीहीन है। अब भी खेतके लायक़ बहुतसी ज़मीन पड़ी हुई थी और कितने ही पुराने आबाद खेत अब परती पड़े थे। सब भाइयोंकी एक ही शादी होनेसे तिब्बतमें जनसंख्या बढ़ नहीं सकती। आज पाँच भाइयोंकी एक स्त्री है, मान लो उनके तेरह लड़के हुए, तेरहोंकी फिर एक ही स्त्री होगी। तीसरी पीढ़ीमें शायद उस घरमें एक ही लड़का रहे। किसी घरमें यदि लड़का नहीं है लड़की है, तो घर-जमाई लाकर वंश आबाद रह जाए। इसीलिए घरोंकी संख्या कम होनेकी ही आशा की जा सकती है। तिब्बतमें एक पीढ़ीने जितने खेत आबाद कर लिये, अब वह बीसियों पीढ़ीकेलिए काफ़ी है, क्योंकि खेतोंको भाइयों-में बँटना नहीं है। चकोरके पासकी दूरतक फैली खेती लायक़ ज़मीन वर्त्तमान जनसंख्याके रहते आबाद नहीं हो सकती। पास हीमें कोसीकी एक बड़ी धार बहती है, जिससे नहर निकालकर जितना चाहे, पानी लाया जा सकता है। पहाड़ वृक्ष-वनस्पति-शून्य हैं, इसलिए उनकी मिट्टीसे खाद मिलनेकी संभावना नहीं है, लेकिन खादकी पूर्त्ति गोबर और मींगनी से हो सकती है।

उस दिन वर्षा होने लगी, जिससे हमारा आगे जाना भी रुक गया। किसी समय

तिब्बती लोग अनगढ़ पत्थरोंसे बड़ी सुन्दर दीवारें बनाते थे। चार-चार सौ पाँच-पाँच सौ बरस पुरानी दीवारें अबभी जहाँ-तहाँ खड़ी मिलती हैं, लेकिन अब उस तरहकी जुड़ाई नहीं दिखाई पड़ती। अबतो पत्थरोंकी जगह मिट्टीकी दीवारें ज्यादा बनती हैं, छतभी मिट्टीकी होती है, लकड़ीकी कमीके कारण उसे कमसे कम इस्तेमाल करना चाहते हैं। वर्षा बहुत कम होती है, इसलिए चार अंगुल मोटी मिट्टी बहुत काफी समझी जाती है। छत जब कहीं चूने लगती है, तो उसपर मिट्टी डालकर पैरसे दबा देते हैं। वह घर उस दिन चूने लगा था और हमें इधर-उधर हटके बैठना पड़ा। दस सेर सत्तू मैं छोड़ आया था, इसके लिए सुमति बहुत जलभुन गए थे। वह यजमानिनसे मेरी क्या-क्या शिकायतें करते रहे, मैं ज्यादा सुनना नहीं चाहता था। आखिर मैंने कसूरतो किया ही था।

दोनों कोठरियोंके बाहर एक चौड़ा हाता था, जिसके दरवाजेके पास जंजीरसे कुत्ता बँधा हुआ था। कल मैंने देख लिया था, कि कुत्तोंकी जंजीरपर भरोसा नहीं करना चाहिए, आज फिर वही हुआ। कुत्ता हम लोगोंको देखकर झटका दे रहा था, सुमति आगे थे, और मैं उनसे दस हाथ पीछे। जंजीर टूटी, सुमति पीछेकी ओर भाग आए और मुझे डाटने लगे कि तुम साथ-साथ क्यों नहीं रहते। खैर, मालकिनने कुत्तेको पकड़कर रखा और हम लोग फाटकसे बाहर निकल गए। यहाँसे सक्याकेलिए भी एक रास्ता जाता था, लेकिन हमने शेकरका रास्ता लिया था। कुछ दूर जानेपर कोसीकी प्रधानधार मिली। जाँघभर पानी था, और चलकर ही उतरना था। धार बहुत ज्यादा तेज नहीं थी, लेकिन पानी तो बरफमें पिघलकर आ रहा था, उसकी सर्दीके बारेमें क्या कहना? हमने अपना जूता और दूसरा कपड़ा भी उठाकर पीठपर डाल लिया। सुमति बहुत छोटे थे, इसलिए उन्हें कमरतक नंगे होकर चलना था। ऐसी जगहोंमें तिब्बती नर-नारी बहुत बेतकल्लुफ़ी बरतते हैं। धार काफ़ी चौड़ी थी, आधी दूर जाते-जाते तो मेरी जाँघ सुन्न मालूम होने लगी। खैर, किसी तरह नदी पार हुए। फिर कभी चलते कभी बैठते हम आगे बढ़ने लगे। चार-पाँच मील जाते-जाते मैं बहुत थक गया, पीठपर बोझ लेकर एक क़दम भी चलना मुश्किल मालूम होने लगा। इसी समय लङ्कोरके चार-पाँच आदमी मिले, वह भी शेकर जा रहे थे। सुमतिने बड़ी प्रार्थना की, और मजूरी देनेकेलिए कहा। फिर एक आदमीने मेरे सामानको उठा लिया, और फिर पहाड़ियोंको जहाँ-तहाँ उतरते हम शेकर पहुँचे। इतनी कमज़ोरीका मुख्य कारण था, सत्तू-भोजन, जिसे मैं आधा पेट भी नहीं खा सकता था।

शेकरके पासकी पहाड़ीपर एक बड़ी गुंबा (मठ) है, जिसमें कई सौ भिक्षु रहते हैं। ठहरे तो हम पहाड़के नीचे गाँवमें थे, लेकिन सुमतिके गुंबामें परिचित भिक्षु थे, इसलिए मैं भी उनके साथ वहाँ गया। प्रधान अधिकारी—खन्पो (पंडित)—ल्हासाके किसी मठके थे और अच्छे साक्षर संस्कृत थे। मैंने उनसे बातचीत की। वह बहुत खुश हुए। हमने कोशिश की, कि कोई आदमी या घोड़ा किरायेपर मिल जाय तो अच्छा लेकिन वहाँसे कोई जानेवाला नहीं था। टशील्हुन्पोके दो सौदागर-भिक्षु माल लेकरके जा रहे थे, उनमें एक खन्पोका सम्बन्धी था। शायद उन्होंने उससे हमारे बारेमें कह दिया, लेकिन हम समयपर उनके साथ नहीं हो सके। लङ्कोरके आदमियोंमें एक नौजवान ढावा (भिक्षु) भी था। सुमतिने उसको ल्हासा, सम्-ये, आदि महातीर्थोंके दर्शन करानेका प्रलोभन दिया, और वह नौजवान चलनेकेलिए तैयार हो गया।

दो-तीन बजे हम शेकरसे रवाना हुए। खाली हाथ होनेसे चलनेमें लुत्फ़ आ रहा था, सुमतिका भी बोझा हल्का था। उनका एक यजमान आगे चार-पाँच मील-पर रहता था। हम दो घंटा दिन रहते ही वहाँ पहुँच गये। यह किसी अच्छे गृहस्थ-का घर था। मकान भी बहुत बड़ा और कोठेवाला था। चारों कोनोंपर रीछकी तरह लम्बे-लम्बे काले-काले बालोंवाले चार बड़े-बड़े कुत्ते बँधे हुए थे। उनकी गलेकी रस्सी इतनी बड़ी थी, कि बाहरकी दीवारका कोई हिस्सा किसी न किसी कुत्तेकी पहुँचके भीतर था। पाँचवाँ कुत्ता छूटा हुआ था। हम तीनोंको देखते ही वह हमारी तरफ़ दौड़ा, लेकिन तीन आदमी होनेके कारण मुझे डर नहीं लगा। घरके नौकरने कुत्तेको भगाया और हम लोग फाटकके भीतर दाखिल हुए। रातके वक़्त कुत्तोंके छोड़ देनेपर किसकी मजाल है, जो उस घरके पास फटक पावे। बस्तीसे अलग अपना घर बनाके रहनेकी हिम्मत शायद इन कुत्तोंके बलपर हुई होगी। डाकुओंका डर तो यहाँ बराबर बना रहता होगा, लेकिन इसकेलिए मालिकके पास बन्दूकें भी थीं।

हम हातेके भीतर, फाटकके पासकी कोठरीमें अपना सामान उतारने लगे, उसी वक़्त हमारे साथ आया ढाबा आठ बरसके बच्चेकी तरह फूट-फूटकर रोने लगा। कह रहा था—"मेरी एक ही माँ है, वह रो रोके मर जायगी, मुझे लौट जाने दो।" सुमति उसे झिड़क रहे थे और उधर नौजवानकी हिचकी बँधती जा रही थी। मैंने कहा, जाने दो। खैर, उसको जानेकी छुट्टी मिल गई। गृहपति हमें ऊपरके कोठे-पर ले गए। शायद बातचीत करनेमें घंटेभर बीत गए। चाय तैयार होके आई

और सुमतिने अपने बोझेमेंसे सत्तू निकालना चाहा, देखा सात सेरकी थैली ग़ायब है। वह ढावाको गाली देने लगे, कि वही सत्तू चुराके ले गया। चाय छोड़कर वह डंडा सँभालने लगे। मैंने पूछा—"कहाँ जा रहे हो ?"

"जा कहाँ रहा हूँ ? सत्तू ले आना है ।"

मैं उन्हें जितना ही ठंडे दिलसे न जानेकेलिए समझा रहा था, उतनी ही मेरी बात उनके क्रोधाग्निमें घीका काम दे रही थी। अन्तमें गृहपतिने सात-आठ सेर सत्तू ले आकर सामने रख दिया और कहा वह ढाबा शेकर पहुँच गया होगा, वहाँ जाते-जाते रात हो जायगी। सुमतिको गुस्सा इसलिए ज्यादा आ रहा था कि मैंने मेमोंमें दस सेर सत्तू छोड़ दिया, और अब इस सत्तूको भी चुपचाप जाने देनेकेलिए कह रहा था।

शेकरसे खन्पोने रास्तेके किसी गाँवके गोवा (मुखिया)को आदमी देनेकेलिए चिट्ठी दी थी, लेकिन ऐसी चिट्ठियोंकी गाँववाले बहुत कम परवाह करते हैं। आख़िर ये चलते रास्ते हैं, आदमी आते ही जाते रहते हैं, जो वह ऐसी हर फ़रमायश-को पूरा करते जायँ, तो गाँववालोंको अपना सब काम छोड़ना पड़े। तिब्बतमें यात्रियोंकेलिए यात्राका तभी सुभीता होता है, जब कि पेशेवर घोड़े-खच्चरवालोंसे दूर-दूरतकका किराया ठीक हो जाय, या बेगार पानेकेलिए सरकारी चिट्ठी हो। तीसरा यही रास्ता हो सकता है, कि आदमीको समयकी परवाह न हो और वह इन्त-ज़ारमें हफ्ते दो हफ्ते पड़ा रह सके। मेरे पास तीनोंमेंसे किसीका भी सुभीता नहीं था। चिट्ठीवाले गाँवमें शायद हमें घरके अन्दर बैठनेकेलिए भी जगह नहीं मिली और हम किसी दूसरे घरमें रहे। हमें अगले गाँवमें किसीका नाम मालूम हो गया उसके पास गए। एक छोटीसी कोठरीमें दो तरुण-तरुणी रहते थे। दोनों पूरी मेहनत करते थे, लेकिन हालत अच्छी नहीं थी। तरुण पहिले सिपाही था। उसके बड़े भाई और घरकी स्त्री भी मौजूद थीं, लेकिन उसका किसी दूसरी तरुणीसे प्रेम हो गया। अविवाहिता तरुणीसे प्रेम होना बहुत बुरी चीज़ नहीं है, लेकिन तरुणने उसे प्रेयसी बनाना चाहा, फिर घरकी पत्नी कैसे बरदाश्त करती, उसने उसे निकाल बाहर किया। घरकी सम्पत्ति बँट सकती ही नहीं। उसने अपनी सम्मिलित पत्नीके पाँवपर सिर नहीं रखा। बड़ी मेह-नतसे दोनोंने मिलकर एक छोटीसी कोठरी बनाई। जूता बनाते थे, कभी किसीकी मजूरी कर लेते थे, बस इसी तरह काम चलाते थे। मेरेलिए घोड़ा ढूँढ़ देनेके वास्ते उसने दूर-दूरतक चक्कर लगाया, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। पता लगा कि शेकर-

से माल लेकर कुछ गदहे ब्रह्मपुत्रकी ओर जा रहे हैं, हमने उन्हींकी आशा लगाई। गधेवालेने तीन-चार साङ् (दस-बारह आना पैसा)में हमारे सामानको ल्हर्चेतक ले चलनेकेलिए स्वीकार किया। उनके साथ एक बड़ा कुत्ता था। मैं सत्तू खाते वक़्त उसे खूब सत्तू खिलाया करता था। मैंने समझा, इसके साथ दोस्ती करनेके सिवा कोई चारा नहीं है। गधेवाले बहुत थोड़े चला करते हैं सो भी रातको ही ज्यादातर। शायद गधेवाले तीन थे और तीन ही व्यापारी थे, जिनमें एक शेकरके खन्पोका भतीजा था। इस प्रकार हमारी संख्या आठके क़रीब थी। गधोंकी संख्या काफ़ी थी, सामानमें ज़्यादातर चमड़ेकी थैलीमें बँधा नैपालका चावल था। एक बहुत बड़ा डाँड़ा हमें पार करना पड़ा, कह नहीं सकते वहाँसे ब्रह्मपुत्र दिखलाई पड़ा या नहीं। चन्द दिनों बाद हम ब्रह्मपुत्रके किनारे गधेवालोंके गाँवमें पहुँचे। सामान गाँवके बाहर रख दिया गया। हम दोनों पासमें एक बुढ़ियाकी झोपड़ीमें चले गए। शायद यहाँ दो-एक दिन सुस्ताए। मैं एक बार ठहरनेकी जगहसे जहाँ सामान रखा था, वहाँ जा रहा था; आदमी भी वहाँ खड़े थे, लेकिन वही कुत्ता मुझे काटने दौड़ा, जिसको मैं रास्तेमें सत्तू खिलाता आया। सुमति मेरे सामने बराबर लेक्चर दिया करते थे—"कुत्तोंका दिल उतना बड़ा नहीं होता, जितना शरीर।" आज वह छत्ता लेकर यजमानोंके पास जानेकेलिए निकले थे। बुढ़ियाकी कोठरीके बाहर छातीभर ऊँची चहारदीवारी थी। चहारदीवारीके दरवाज़ेसे दस क़दम भी ज़्यादा आगे नहीं बढ़े थे, कि चार-पाँच कुत्ते उनके ऊपर टूट पड़े। आवाज़ सुनते ही मैंने चहारदीवारीके पास जाकर देखा कि सुमतिकी जान खतरेमें है, मैंने पत्थर उठाकर कुत्तोंको मारना शुरू किया। इन खूँखार तिब्बती कुत्तोंमें बड़ी बेवक़ूफ़ी यह है, कि यदि आप पत्थर फेंकें, तो पत्थर जितनी दूरतक लुढ़कता जायगा वह भी उतनी ही दूरतक पीछा करते जायँगे। खैर सुमति भीतर चले आए। मैंने पूछा—"कुत्तोंका दिल छोटा होता है या बड़ा" ? बेचारे घबराये हुए थे।

अब हमें ब्रह्मपुत्रके दाहिने किनारेसे चलकर ल्हर्चे पहुँचना था, लेकिन वह बहुत दूर नहीं था। खन्पोके भतीजेने कहा, कि ल्हर्चेमें हमारा माल ब्रह्मपुत्रके किनारे गिर जायगा फिर वहाँ चमड़ेकी नाव जैसे मिलेगी, हम उसपर चढ़कर टशील्हुन्पो पहुँच जायँगे। सुमतिकी सलाह थी कि हम ल्हर्चेकी गुंबामें ठहरें, लेकिन मैंने गुंबामें ठहरनेकी जगह सौदागरोंके साथ नदीके किनारे ठहरना ज्यादा पसन्द किया। सुमति नावसे जाना भी नहीं चाहते थे।

अब चमड़ेकी नाव कल आएगी, परसों आएगी करते में नदीके किनारे सौदागरों-

का माल अगोरने लगा, और सुमति अपने यजमानोंके पास घूमनेमें लगे। अबतक जितनी दूर मैं आया था, उसमें ञेनम्, तिङ्री, शेकर्के बाद यह चौथा ज़ोङ (मजिस्ट्रेटका स्थान) था। यहाँ खानेकेलिए चाय बना लेते थे, और सत्तू पासमें मौजूद ही था। सौदागरोंमें एक ल्हासाका गृहस्थ नौजवान था और दो ढाबा (भिक्षु) थे। सौदागर ढाबोंमें मीठे स्वभाववाला शायद ही कोई मिले। खाओ-पिओ मौज करो, चाहे जैसे भी हो, यही उनके जीवनका उद्देश्य होता है। वह छङ शराब खूब पीते हैं, लेकिन तिब्बतमें यह चीज़ें इतनी सस्ती हैं, कि इनके पीनेसे कोई दिवालिया नहीं होता। औरतें तो पड़ाव-पड़ावपर होती हैं। हमारे दो ढाबोंमें खन्पोका भतीजा अच्छा था, लेकिन दूसरा तो निरा जानवर था। ठिलियाकी ठिलिया छङ् कोई तरुणी उसके पास लाती, और वह खूब पीता। बड़ा ढाबा तो अक्सर गाँवमें सोने जाता था। वहाँ स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध कितना सरल है, इसे मैंने यहीं घाटपर देखा। एक षोडशी नदीपर कपड़ा धोने आई थी। हमारे साथी ढाबाने जाके दस-पाँच मिनट मज़ाक़ किया और फिर देखा कि दोनों तम्बूके भीतर आकर प्रणय पूर्ण कर रहे हैं—वर्षासे बचानेकेलिए सामानपर उन्होंने तम्बू तान दिया था। जोङ्पोन्के महलमें शायद कोई मकान बन रहा था। बेगारमें औरत-मर्द पत्थर ढो-ढोके ले जा रहे थे। बीच-बीचमें वह गाते भी रहते थे। उनमें ज़्यादातर नौजवान और नवयुवतियाँ थीं। मज़ाक़-मज़ाक़में मैं देखता था कि वह कपड़ोंको छीनकर औरतोंको नंगा कर देते थे। ये गर्मीके दिन थे और जिसको नहाना हो वह सालभरमें इन्हीं दिनों नहा सकता था, मैं देख रहा था कि कितने ही स्त्री-पुरुष नंगे नहा रहे हैं। पानी बहुत ठंडा था लेकिन मैं उन्हें कूद-कूदकर दो-दो सौ गज़तक बहते देखता था। औरतोंके सामने पुरुषोंका नंगे होकर बालोंका पानी निचोड़ना या शरीर सुखाना बिल्कुल मामूली बात थी। इन बातोंको सुनकर पाठक समझेंगे, कि तिब्बती लोग बहुत कामुक होंगे, इसके बारेमें मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि कामुकतासे जो अर्थ हम लेते हैं,उसमें वह हिन्दुस्तानियोके शतांश भी नहीं हैं। बात इतनी ही है कि वहाँ स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध बहुत कुछ खुला सा है और इसको खान-पानसे बहुत थोड़ा ही अधिक महत्त्व दिया जाता है।

ल्हर्चेसे टशील्हुन्पो या शिगर्चे चमड़ेकी नावसे दो दिनमें पहुँचा जा सकता है। नाव पानीके बहावके साथ नीचे तो जा सकती है, किन्तु ऊपर नहीं आ सकती। ब्रह्मपुत्रकी कछारमें यहाँ कुछ जंगली झाड़ भी उगते हैं। इन्हींकी डालियोंको काटकर रस्सीसे बाँधकर एक चौकोरसा ढाँचा बनाया जाता है, जिसपर भिगाए चमड़े-

को लपेट दिया जाता है। यही चमड़ेकी नाव है। बहावके साथ गंतव्य स्थानपर पहुँच कर चमड़ेको निकाल लिया जाता है और सुखाके गदहे या पीठपर लादे मलाह फिर पहिली जगहपर पहुँच जाता है। ल्हासाकी तरफ़ मैंने कहीं-कहीं नावको सुखाकर आदमीको पीठपर लादे लौटते देखा था।

एक युग बीत गया इन्तज़ार करते-करते। आखिर नावें आईं, लकड़ी काटी जाने लगी। दूसरे दिन चलना था, उससे एक दिन पहिले मैंने पूरी भेड़का सूखा मांस खरीदा। सूखा मांस पकाया नहीं रहता, लेकिन तिब्बतमें उसे पका समझकर ही खाया जाता है। मैं अभी वैसा समझनेकेलिए तैयार नहीं था। मैंने सोचा कि दो दिनकी नावकी यात्रा होगी, इसलिए मांसको उबालकर रख लिया जाय। छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे उबाले। उबले टुकड़ोंको थैलीमें रखा, बड़ा ढाबा बैठा-बैठा देख रहा था। मांसका रस चार-पाँच प्याला था, मैंने उसके प्यालेमें भी डाला और अपनेमें भी रखा। मैं नहीं समझ रहा था, कि मैं कोई ख़तरेकी बात कर रहा हूँ। उसने मांसरस पीनेसे इनकार कर दिया। इनकार ही नहीं कर दिया, बल्कि उसकी चेष्टासे मैंने देखा कि वह बहुत गुस्सा हो गया। मांसको मैंने इसीलिए अभी ख़र्च करना नहीं चाहा था, कि मैं उसे पाथेय बना रहा था। मैंने स्वयं उसमेंसे एक टुकड़ा भी न खाया, फिर उसे गुस्सा होनेकी क्या ज़रूरत थी? लेकिन देशके शिष्टाचारमें तर्क-वितर्ककी गुंजायश नहीं होती, और हरेक नवागंतुकको शिष्टाचार सीखते वक़्त कितनी ठोकरें खानी पड़ती हैं—यद्यपि यह अच्छा है, नवागंतुक सिर्फ़ दूसरोंके किएकी नक़ल भर करता रहे। दूसरे दिन नाव बँधकर तैयार हो गई, सामान लदने लगा, देवताओंकी लाल-पीली झंडियाँ भी नावकेलिए आ गईं। बड़े ढानेबा एकाएक कहा कि नावमें जगह नहीं है। मैं समझ नहीं पा रहा था। आख़िर दो हफ्तेसे मैं वहाँ उनकी चीज़ोंकी रखवाली कर रहा था, इसी आशासे कि साथ में शिगर्चे जाऊँगा। छोटा ढाबा उसके सामने कुछ बोल नहीं सकता था। दो-तीन बार कहनेके बाद मुझे मालूम हो गया कि वह साथ नहीं ले जायगा। सुमति मुझे बिदाई देनेकेलिए आए थे, मैंने उनसे सारी बात कही और अपना सामान उठाए गुंबा (मठ)में चला गया। घंटा-दो घंटा बाद छोटा ढाबा और ल्हासावाला सौदागर दोनों मेरे पास आए और चलनेकेलिए कहने लगे। मैंने कहा, सुमतिको भी साथ ले चलो तो चलूँगा। वह अकेले चलनेकेलिए बहुत आग्रह करते रहे, लेकिन मैं राज़ी नहीं हुआ। ब्रह्मपुत्रमें नौयात्राका आनन्द नहीं मिला।

ल्हासे लदाख और नैपाल दोनोंके बणिक-पथपर एक अच्छी खासी बस्ती है।

कुछ छोटी-छोटी दूकानें भी हैं, और यहाँ कुछ भोटिया मुसलमान भी रहते हैं। सौदागर तो आते ही रहते हैं, इसलिए ख़च्चर, घोड़ा या गधेका मिलना मुश्किल नहीं होता, लेकिन हमें उनके जल्दी मिलनेकी उमेद नहीं थी। सुमति पता लगाने गए, तो मालूम हुआ कि शिगर्चे जानेवाले कुछ ख़च्चर मौजूद हैं। हमने वहाँतक केलिए ख़च्चर किराये किए। ख़च्चरवाले किसी सौदागरका माल ले जा रहे थे।

गधोंसे ख़च्चर तेज़ चलते हैं, लेकिन तिब्बतकी घड़ी बहुत सुस्त होती है। लोग यात्रामें भी मौज-मेला करते चलते हैं। ख़च्चरवाले तीन थे, और ख़च्चर तीसके क़रीब। ख़ैर अब दूसरेकी पीठपर चलना था। इधरके गाँवोंमें मुर्ग़ीका अंडा बहुत मिलता था। सत्तूका गलेसे नीचे उतारना मेरेलिए मुश्किल हो रहा था, इसलिए मैंने क़रीब-क़रीब फलाहार व्रत ले लिया। २०, ३० अंडे उबालकर सत्तूवाल थैलेमें रख लेता, और जब जब भूख लगती, उसीको खाता। दिनमें पचीस-तीस अंडे मामूली बात थी। सुमति वैसे तो बहुत ही अच्छे थे, लेकिन जब गुस्सा आता, तो बहुत गरम भी हो जाते थे, और मेरे ठंडे पड़नेसे भी कोई फ़ायदा नहीं होता था। गुस्सा होनेकी एक बड़ी बात तो यह थी, कि पड़ावपर घोड़ेसे उतरकर जहाँ मैं कोठे-पर पहुँचता, तो फिर नीचे आने या दरवाज़ेसे बाहर जानेका नामतक नहीं लेता था। अँधेरेमें तिब्बतियोंसे डरता हूँ, यह बात नहीं थी, लेकिन कुत्तोंके छोटे दिल होते हैं, यह नहीं मानता था। कभी ईंधन लाना पड़ता था, कभी कोई दूसरा काम होता था, वह सब सुमतिको करना पड़ता था। मैं चूल्हा जला सकता था, चाय या थुक्पाको उबाल सकता था, लेकिन इतनेसे सुमति सन्तुष्ट नहीं थे। कई दिनों चलनेके बाद हम नरथङ पहुँचे। नरथङ ग्यारहवीं शताब्दीका एक पुराना मठ है। यह उस वक़्त बना था, जबकि हिन्दुस्तानमें बौद्धधर्म ज़िन्दा था। कंजूर (बुद्ध-वचन अनुवाद) तंजूर (शास्त्र-अनुवाद)के ३३८ बड़े-बड़े पोथे जिनमें दस हज़ारके क़रीब भारतीय ग्रन्थोंका तिब्बती अनुवाद सुरक्षित है, उसका छापाख़ाना यहीं है। लेकिन ख़च्चरवालोंको तो सीधे शिगर्ची जाना था। कुछ घंटे बाद पहाड़की जड़में अनेक सोनेकी छतों और बड़े-बड़े महलोंवाले टशील्हुन्पोके सुन्दर महाविहार (गुंबा)को सामने देखा, सबने सादर प्रणाम किया। मैंने भी सिर नवाया। टशील्हुन्पो गुंबासे लगा ही हुआ शिगर्चे नगर है। जिस तरह दलाई लामाके बाद तिब्बतके सबसे ज्यादा प्रभावशाली व्यक्ति टशी लामा हैं, उसी तरह ल्हासाके बाद तिब्बतका सबसे बड़ा शहर शिगर्चे है। कई सालसे टशी लामा भागकर चीन चले गए थे, इसलिए शिगर्चीका वैभव कुछ कम हो गया था, तो भी वहाँका जोङ बहुत

बड़ा जोङ है और जोङ पोन् बड़े ऊँचे दरजेके अफ़सर होते हैं। साथ ही टशी लुन्पोकी जागीर भी बहुत बड़ी है, इसलिए शिगर्चे बाज़ार उतना बिगड़ नहीं सका। शिगर्चे और टशील्हुन्पोके बीचमें कच्चा चीनी क़िला है, जो बहुत कुछ गिर-पड़ गया है। शायद चीनी पलटन और अफ़सरोंके रहते वक़्त शिगर्चे और भी श्रीसंपन्न रहा हो। शिगर्चे पहुँचकर फिर हमने सामान अपने पीठपर उठाया और सुमतिके परिचित किसी घरमें रातके रहनेकेलिए चले गए।

काठमांडो छोड़नेके बाद मालूम होने लगा, कि मैं अब फिर सभ्य संसारमें आ गया हूँ। यहाँ काफ़ी नेपालियोंकी दूकानें थीं। मैं यद्यपि तिब्बती पोशाकमें था, लेकिन उनकी उपस्थितिसे अपनेको कुछ ज़्यादा परिचितसा अनुभव करने लगा। मैं जल्दीसे जल्दी ल्हासा जाना चाहता था, क्योंकि वहाँ पहुँचे बिना मैं अपनेको प्रकट नहीं कर सकता था। सुमतिकी बात सुनते-सुनते भी अब बहुत विरक्तसा हो गया था, इसलिए मैं उनके साथ अब जाना नहीं चाहता था। दूसरे दिन पता लगानेसे ललितपट्टनके एक साहुके भाईका नाम मालूम हुआ। साहुको मैं एक-दो बार महाबौधामें मिला था और उन्होंने कहा था कि मेरा एक भाई शिगर्चेमें रहता है। रास्तेमें किसी नेपालीसे पूछनेपर घर मालूम हो गया। मैं उनसे मिला। उन्होंने बड़े आग्रहसे अपने यहाँ ठहरनेकेलिए कहा और मैं अपना सामान लेकर उनके पास चला आया। शिगर्चेके जोङपोन्से उनकी दोस्ती थी। उन्होंने जोङपोन्से मिलानेकेलिए कहा, लेकिन मैं अभी मिलना नहीं चाहता था। मैंने यहाँसे आनन्द-जीको हिन्दुस्तान छोड़नेके बाद सीलोन पहिली चिट्ठी लिखी। ल्हासाके लिए सवारी ढूँढ़ी जाने लगी और वही खच्चरवाले फिर मिले। साहुके साथ मैं एक दिन टशील्हुन्पो गुंबामें दर्शन करने गया। पाँच छ सौ बरससे जहाँ मन्दिरोंको सजाया जाता रहा हो, वहाँकी मूर्त्तियों, चाँदी-सोनेके बड़े-बड़े प्रदीपोंकी संख्याका क्या ठिकाना था। हम बहुतसे मन्दिरोंमें गए, पता लगा यहाँ कनोरके भी कितने भिक्षु रहते हैं, और रघुवरसे मुलाक़ात हुई। रघुवर हिन्दी-उर्दू जानते थे, अब तीन-चार सालसे वह बौद्धग्रन्थ पढ़ रहे थे। उनसे मालूम हुआ, कि ल्हासाके पास डेपुङ् गुंबामें भी कनौरके कितने ही भिक्षु रहते हैं।

यह जुलाईका आरंभ था। मैं फिर खच्चरोंके साथ रवाना हुआ। लेकिन खच्चरवालोंको कोई जल्दी नहीं थी। तिब्बतमें डाकका प्रबन्ध हिन्दुस्तानसे ग्यान्-ची, ल्हासा और ग्यान्चीसे शिगर्चेतक ही है, बाक़ी चिट्ठी-पत्री आदमियोंके हाथ भेजी जाती है। हमारे खच्चरवाले डाकियाका भी काम करते थे। जहाँ चिट्ठी

पहुँचाते, वहाँ खच्चरोंके घास-भूसे और आदमियोंके ठहरनेका भी इन्तज़ाम हो जाता था। पहिले दिन तो वह कुछ ही मील जाकर एक बड़े घरमें ठहरे। शिगर्चेमें साहुन खच्चरवालोंको मुझे अच्छी तरह ले जानेकेलिए बहुत कहा था, लेकिन, मैं समझता था कि ऐसी बातोंका उनपर स्थायी असर नहीं होगा। यद्यपि भेस तो मेरा भिखमंगोंका था, लेकिन चेहरेको मैं वैसा नहीं बना सकता था। गृहपतिने यहाँ मेरे ठहरनेकेलिए अच्छी जगह दी। आगे चलनेपर हमारा टिकाव एक और धनीके घरपर हुआ। यहाँ उस समय लीला हो रही थी। भला हमारे साथी लीलाका बिना पूरा आनन्द लिये कैसे आगे बढ़ सकते थे ? बड़े अस्तबलमें खच्चरोंको बाँध दिया गया। हम रोज़ लीला देखने जाया करते थे। लीला करनेवाले नदी पारके किसी गुंबाके भिक्षु थे। गाना, बजाना, नाचना, सभी था। लीला लगवानेवाले भी हमारे वही मेज़बान थे।

लीला खतम होनेपर फिर हम आगेकी ओर रवाना हुए। शिगर्चेसे एक रास्ता सीधे भी ल्हासाको जाता है, लेकिन हम चक्कर काटकर ग्यान्चीके रास्तेसे जा रहे थे। ७ जुलाई (१९२९)को हम ग्यान्ची पहुँचे। ग्यान्चीमें अंगरेजी सरकारका एक व्यापारदूत (ट्रेड एजेन्ट) और १०० के करीब पलटन रहती, लेकिन मुझे उनसे क्या लेना-देना था ? मुझे मालूम था कि वहाँ धर्मासाहुकी दुकान है, लेकिन जब तक ल्हासामें दलाईलामाको अपने आनेकी सूचना न दे दूँ, तब तक किसीको मैं अपना पता देना नहीं चाहता था।

दूसरे दिन हम दिकी-ठोमो गाँवमें रहे। डेरा तो बाहर खलिहानमें पड़ा था, लेकिन एक दिन मैं भी अपने खच्चरवालेके साथ गृहपतिके पास गया। यह खूब धनी घर था, यहाँके काले कुत्ते बहुत ही बड़े-बड़े थे, छोटे-मोटे गधेके बराबर। उनकी हरताल जैसी पीली आँखें बड़ी भयंकर मालूम होती थीं। मैंने शायद अपनेको लदाखका भिक्षु ही बताया होगा, चाय पीके फिर डेरेपर लौट आया। वर्षाका मौसम था, लेकिन तिब्बतमें न उतनी ज्यादा वर्षा होती है, न लोग भीगनेकी उतनी पर्वाह करते हैं। वहाँसे आगे चलते-चलते हम जाराला डाँडेसे पहिले ही ठहर गए। पानी बरस चुका था, और वैसे भी धाराके आस-पास खुली जगहमें हरी घास थी। ऐसी जगहोंपर डाकुओंका बहुत डर रहता है, लेकिन खच्चरवाले अपनेको कम नहीं समझते। उनके पास बंदूक भी थी और तलवारें भी। ज़ाराला बहुत क़ाफी ऊँचा है, लेकिन बहुत मुश्किल नहीं। अगले दिन नगाचे पहुँचे। सामने विशाल झील थी। झील और गाँवके बीचमें खूब हरा-हरा घासका मैदान था। यहाँ खच्चरोंके लिए

घास खरीदनेकी जरूरत नहीं थी। हाँ बकला और जौका दाना कुछ ज़रूर देना पड़ता था।

नगाचे बहुत ठंडी जगह है। इसकी उँचाई १४, १५ हजार फीटसे कम न होगी। हमारा रास्ता एक दिन झीलके किनारे-किनारे रहा। दूसरे दिन सबसे बड़े डांड़े ख्मबालाको पार किया। अब हम फिर ब्रह्मपुत्रके किनारे आ गए। छूओरीमें नावसे ब्रह्मपुत्रको पार हो, चलते-चलते १६ जुलाईको हमें कई मील दूरसे पोतलाकी सुनहली छत दिखलाई दी। उस वक़्त न जाने क्या-क्या भाव दिलमें पैदा हो रहे थे। हिन्दुस्तान और सीलोनमें रहते तिब्बतके बारेमें जो कुछ पढ़ा-सुना था, उससे मैं अच्छी तरह समझता था, कि पोतलाका दर्शन दुनियाकी सबसे कठिन चीज़ोंमें है और आज उसी पोतलाको मैं अपने सामने देख रहा था। एक बड़ी नदीके पुलको पारकर दो-तीन घंटे चलनेके बाद हम ल्हासामें दाखिल होनेकेलिए पोतलावाले फाटकके अंदर घुसे। आगे बाईं ओर कई तलोंका लालरंगसे रंगा दलाई लामाका प्रासाद पोतला था। अब हम तिब्बतकी राजधानीमें थे। खच्चरवालोंको मंत्री शाठाके यहाँ सामान उतारना था। वह सीधे वहाँ गए। मैं सोच ही रहा था, कि धर्मासाहुकी कोठी छु-शिङ्-शामें पहुँचनेकेलिए किसीकी मदद लूँ। उसी वक़्त एक नेपाली जवान मंत्रीके महलकी ओर जाते दिखाई पड़े। मैंने उनसे पूछा, तो उन्होंने कहा, ठहरिये मैं छुशिङ्साको जानता हूँ; दरबारसे होकर आता हूँ, फिर आपको साथ ले चलूँगा। घोड़ेकी पीठपर रखे जानेवाले चमड़ेके थैलों (ताड़ू)में मेरा सामान पड़ा हुआ था, मैंने सबको समेटकर फिर बोझ तैयार कर लिया और फिर धीरेन्द्रवज्र—यही उस तरुणका नाम था—के आते ही पीठपर सामान लाद हाथमें डंडा और सिरपर भिक्षु-णियों जैसी पीली टोपी लगाए चल पड़ा—अभीतक मैं पीला कंटोप लगाए चला आता था, लेकिन मुझे यह नहीं मालूम था, कि यहाँ ऐसी टोपी भिक्षुणियाँ लगाती हैं।

२. ल्हासामें

काठमांडोसे चलते वक़्त मैंने धर्मासाहुसे चिट्ठी ले ली थी। मेरे पास जितने रुपये थे, उनमेंसे कितनेका तो ञेनम्में तिब्बती सिक्का भुना लिया था, लेकिन सौ रुपयेसे कुछ अधिक मैंने अलग रख लिए थे। मैं ल्हासामें आया था डटकर तिब्बती भाषा और बौद्धग्रन्थोंके अध्ययनकेलिए। सौ रुपयेका उस वक़्त तिब्बती सिक्केके हिसाबसे डेढ़ सौ साङ् मिलता, जिसमें सिर्फ़ खानेपर साढ़े चार साङ् (तीन रुपया) मासिक लगता, बहुत सादगीसे रहनेपर। लेकिन जाड़ोंकेलिए कपड़ा बनवाना

पड़ता, जिसकेलिए कमसे कम ४० रुपये लगते। बरतन-भाँड़ा और दूसरी चीज़ों-पर भी ५० रुपये लग जाते। उसके बाद किताबोंकी ज़रूरत होती। सब देखनेसे रुपयेकी दिक़्क़त ही दिक़्क़त सामने थी। लेकिन मैं इन पासके रुपयोंके भरोसे तो अँधेरेमें नहीं कूदा था ?

धर्मसाहुके पुत्र पूर्णमान और ज्ञानमान दोनों ही नौजवान थे। यद्यपि अपने पिताकी तरहकी भक्तिकेलिए वह उमर नहीं थी, लेकिन वह दोनों ही बड़े सुशील थे। उन्होंने खुलकर मेरा स्वागत किया। ५ महीनोंसे मैंने अख़बार नहीं देखा था। त्रिरत्नमान साहु 'स्टेट्समैन'का साप्ताहिक संस्करण मँगाते थे। चिट्ठी देने और थोड़ी-बहुत बात करनेपर मैंने कई महीनेके अख़बारोंको लेकर पढ़ा। अब मैं सभ्य लोगोंमें आ गया था, इसलिए मैल जमा करनेकी ज़रूरत नहीं थी। दूसरे दिन (२० जुलाई) मैंने स्नान करनेकी इच्छा प्रकट की। मिट्टीकी छतोंवाले घरोंमें स्नानका इन्तिज़ाम करना बहुत मुश्किल है। उसी घरमें क़ादिर भाई भी रहते थे। उनकी लड़की रास्ता बतानेकेलिए चली और मैंने ल्हासासे पच्छिमवाली नहरमें जाकर स्नान किया।

धर्मसाहु बहुत दिनोंसे अपने घर हीपर रहते थे। लड़के छोटे-छोटे थे, और दूकानका इन्तज़ाम उनके भानजे जगतमान किया करते थे। मेरे जानेके दूसरे दिन कई बरस बाद अब वह नेपाल लौट रहे थे। उनको बहुत अफ़सोस हुआ, कि मेरी सेवा नहीं कर सके। मैं भी समझता था, उनका बड़े-बड़े लोगोंसे बहुत परिचय है और वह कुछ दिन और रह जाते, तो ज़रूर मेरे काममें बड़ी सहायता करते। यात्रा-केलिए सारे मंगलानुष्ठान हुए, मंगल-पाठ हुआ। भूनी मछली, सारसका उबला अंडा यात्रामें मंगल भोजन समझे जाते हैं। इसके बाद थोड़ा शराबका पीना भी। मित्रों, बन्धुओंने सफ़ेद खाता (रेशमी चीट) उनके गलेमें डाला, और जगत-मान साहु ख़ुशी-ख़ुशी वहाँसे बिदा हुए।

अब चूँकि मुझे प्रकट होके रहना था, इसलिए दलाई लामाके पासतक सूचना पहुँचा देनी ज़रूरी थी। मैंने पढ़ रखा था, तिब्बतमें सैकड़ों भारतीय पंडित गए, उन्होंने हज़ारों ग्रन्थोंका तिब्बती भाषामें अनुवाद किया, और हज़ारों तरुणोंको बौद्धतत्त्वज्ञानकी शिक्षा दी। मैंने सोचा था, मैं भी तो पंडित हूँ, यद्यपि शताब्दियोंसे तिब्बत और भारतका धार्मिक सम्बन्ध नहीं रहा, और जहाँ भारतीय गुरु बनकर आते थे, वहाँ मैं शिष्य बननेकेलिए आया हूँ; तो भी मेरे जैसे भारतीय विद्यार्थीकेलिए यहाँ ज़रूर सुभीता होगा। २१ जुलाईको मैंने दलाई लामाकी सेवामें अर्पण करनेके-

लिए १५ श्लोक बनाये। लेकिन संस्कृत भेजनेसे फ़ायदा क्या? इसलिए अनुवादक ढूँढ़नेकी ज़रूरत पड़ी, जो उतना आसान काम नहीं मालूम हुआ।

त्रिरत्नमान और ज्ञानमान दोनों भाई तो मेरी सहायता करनेकेलिए तैयार थे ही; लेकिन अभी वह ल्हासासे पूर्ण परिचित नहीं थे। उनसे भी ज़्यादा मेरी सहायताकेलिए तत्पर थे धीरेन्द्रवज्र, जिनको वहाँ लोग गुभाला कहा करते थे, जो गुभा (गुरुभाजू, गुरुमहाराज)के साथ तिब्बती भाषाके ला (जी)को मिलाकर बना है। गुभाला मेरी यात्रामें जितने आदमी मिले, उनमें कुछ चुने हुए रत्नोंमेंसे एक थे। मैंने जब दलाई लामाके पास ख़बर पहुँचानेकेलिए किसी प्रधान व्यक्तिको ढूँढ़ निकालनेकेलिए कहा, तो गुभालाने ठी-रिन्पो-छेका नाम लिया; अर्थात् तिब्बतमें बौद्धोंके चार प्रधान सम्प्रदायों—ञिग्मापा, कर्‌युद्‌पा, सक्यपा और गेलुग्पा—में सबसे प्रभावशाली गेलुग्पाकी मूल गद्दीके स्वामी। यद्यपि ठी-रिन्पो-छेने गद्दी छोड़ दी थी, तो भी उनका सम्मान बहुत ज़्यादा था। गुभालाके साथ मैं उनके पास गया। उनकी अवस्था ७० से अधिक थी। स्वभाव बहुत ही शान्त और वाणी बहुत ही मधुर। उनसे मैंने तिब्बत आनेका उद्देश्य बतलाया और कहा कि आप दलाई लामाको सूचित कर दें, जिससे कि मैं निश्चिन्त होकर अपने अध्ययनमें लग जाऊँ। उन्होंने सलाह दी कि चुपचाप अपना काम करो। मैं जानता था, यद्यपि १९११की चीनी क्रान्तिके बाद दलाई लामाकी जिसने सबसे ज़्यादा सहायता की, वह अँगरेज़ ही थे, किन्तु साथ ही डेढ़ सौ बरसोंसे चला आता सन्देह अब भी तिब्बती लोगोंके ख़ूनमें है और अँगरेज़ोंको वह बड़ी शंकित दृष्टिसे देखते हैं। दुर्भाग्यसे मैं अँगरेज़ी प्रजा था। वहाँ किसको मालूम था, कि अँगरेज़ोंसे बचकर आनेमें मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ा। मुझे किसी तरह अपने पत्रको दलाई लामाके पास भेजना था। चुपचाप रहनेमें शायद मैं सफल होता, लेकिन पीछे मेरेलिए न जाने कितने लोगोंको कष्ट उठाना पड़ता; इसलिए मैंने इसे पसन्द नहीं किया। ल्हासामें धनी लड़कोंको अँगरेज़ी और तिब्बती पढ़ानेकेलिए दार्जिलिंगके एक भोटियाभाषी सज्जनने प्राइवेट पाठशाला खोल रखी थी। पहिले उन्होंने तिब्बतीमें अनुवाद करना स्वीकार किया, पर पीछे डर गए। ङरी-छाङ् दलाई लामाके एक बहुत ही विश्वासपात्र दरबारी थे। उनकेलिए मेरे पास लदाख़का एक पत्र था। पता लगानेपर मालूम हुआ, कि वह आजकल ल्हासासे ५, ७ मील दूर क्येमोलिङ्के अपने उद्यान-प्रासादमें हैं। एक नेपाली साहुका उनसे बहुत परिचय था, उन्होंने साथ ले चलने-

केलिए कहा भी, लेकिन उस दिन बहाना कर गए। त्रिरत्नमान साहुने घोड़ेका इन्तज़ाम कर दिया, और मैं अकेला ही घोड़ेपर चढ़कर चल पड़ा। रास्ता भूल जानेसे २, ३ मीलका चक्कर पड़ा, लेकिन आख़िर वहाँ पहुँच गया। वह बड़े स्नेहसे मिले। जूता उतारकर तिब्बतमें जानेका रिवाज नहीं है, गर्मियोंमे भी घरका फ़र्श इतना ठंडा रहता है, कि लोग जूता पहिने ही घूमते हैं। आसनपर भी जूता पहिने ही बैठते हैं। मैं अपना जूता नीचे छोड़ आया था, ङरी छाङ् किसी कामसे नीचे गए थे, वह मेरा जूता भी उठाकर लेते आए। उनसे मैंने सारी बातें कहीं। उन्होंने विश्वास दिलाया, कि मैं आपके पत्रको ज़रूर दलाई लामाके पास पहुँचा दूँगा। कई आदमियोंसे मदद लेकर श्लोकोंका भोटिया अनुवाद तैयार किया। संस्कृतमें मैंने बहुत सुन्दर अक्षरोंमें लिखा, और ६ अगस्तको बड़े तड़के ही गुभालाके साथ दलाईलामाके राजोद्यान नोर्बूलिङ्का (मणिउद्यान) गया। अनुवाद-सहित श्लोकके पत्र और एक रेशमी खाताको ङरीलामाके हाथमें दिया। मैं तो उस दिन दूसरी जगह चला गया था, लेकिन ङरीलामा स्वयं छुशिङ्-शामें आकर कह गए कि मैंने दलाईलामाको पत्र दे दिया। पंडित आपकी कोठीमें रहें। सरकार किसी दिन उन्हें बुलाएँगे।

एक बातसे तो संतोष हो गया, कि अब मुझे छिपकर रहनेकी ज़रूरत नहीं; लेकिन मैं डेपुङ या सेरामेंसे किसी एक गुंबामें रहना चाहता था, जहाँ विद्वानोंका सत्संग होता और चौबीस घंटा तिब्बती भाषा बोलनेका मौका मिलता। छुशिङशामें त्रिरत्नमान साहु, ज्ञानमान साहु, माहिला साहु और दो-तीन दूसरे कर्मचारी नेपाली थे, सब हिन्दी बोलते थे। कोठेकी एक कोठरी कादिर भाईकी थी, वह भी हिन्दी बोलते थे; इस प्रकार तिब्बती भाषा बोलनेका उतना मौका नहीं था। लेकिन क्या करता?

वहाँ भोजन था सत्तू, चाय और मांस। दो बजे चिउरा और सूखा तला मांस, शामको भात-दाल और मांस। चायके प्यालोंकी तो कोई गिनती ही न थी; वह तो सोते वक्त तक चलते ही रहते थे। लेकिन मैं यह पसन्द नहीं करता था। मैं वर्षों रहनेकी इच्छासे आया था, फिर इतने दिनों तक अपना भार छुशिङशाके ऊपर रखना कैसे ठीक होता? आगे मैंने भोजनके लिए पैसा देनेका आग्रह किया, जिसे साहु लोगोंने अनिच्छापूर्वक सिर्फ मेरा ख्याल करके स्वीकार किया।

ङरीछाङ्को पत्र देकर मैं उसी दिन डेपुङ् गुंबा चला गया। डेपुङ् तिब्बतका सबसे बड़ा मठ है, जिसमें सात हज़ार भिक्षु रहते हैं। यह एक शहर सा है। मैंने ख्याल किया कि आज्ञा मिल गई, तो यहीं आकर किसी कोठरीमें रहूँगा। कई घरों-

को देखा, लेकिन जगह पाना वहाँ इतना आसान नहीं था। सारा गुंबा बहुतसे छात्रावासों (खम्ज़न) में बँटा हुआ है और हरेक खम्ज़न एक-एक देशकेलिए निश्चित है। लदाखवाले पितोक्-खम्ज़न्में रहते हैं, कनौरवाले गूगे-खम्ज़न्में। भारतका तो वहाँ कोई खम्ज़न् था नहीं। नवागंतुक छात्र अपने देशके खम्ज़न्पर अपना खास अधिकार समझते हैं। इन खम्ज़नोंके बनानेमें उन देशोंने आर्थिक सहायता दी है और संचालनकेलिए रुपयेका दान भी किया है। सभी खम्ज़नोंके पास छोटी-बड़ी जागीरें हैं। २० साङ (१४ रुपया) वार्षिकमें एक आदमीकेलिए एक अच्छा कमरा मिल सकता था। १०, १२ रुपयेमें खानेका भी काम चल जाता। ३, ४ रुपया और खर्च देनेपर रसोई बनी-बनाई मिल सकती थी, गोया २० रुपया महीनेमें किताब छोड़कर मैं बाक़ी काम चला सकता था। ४, ५ महीने तो पासके रुपयोंसे गुज़ारा हो ही जाता, फिर कोई न कोई रास्ता निकल आता। लेकिन इन खम्ज़नोंमें नाम लिखाना आसान न था। सुखराम और कुछ दूसरे कनोर निवासी छात्र कुङ्गारवा महलमें रहते थे, मालूम हुआ कि वहाँ नाम लिखानेकी ज़रूरत नहीं। यह वही महल है, जिसमें दलाईलामा-राजके आरंभ करनेवाले पाँचवें दलाईलामा शासक बननेसे पहिले रहा करते थे, अब भी यह दलाईलामाका महल है। लेकिन जब वर्त्तमान दलाईलामा पोतला जैसे भव्य प्रासादको पसन्द नहीं करते, और नोर्बूलिङ्का (मणिद्वीप)के उद्यान-भवनमें रहते हैं, तो वह कुङ्गारवामें क्यों आने लगे? समलो-खम्ज़न् रूसी इलाक़ेके मंगोल-छात्रोंका छात्रावास है। गेशे थब्-दङ्-शेरब् भारत हो आए थे, उनका जन्मस्थान साइबेरियामें बैकाल सरोवरके पास बुरयत प्रजातंत्रमें है। आजकल वह यहींपर थे। पहिली रात मैं उन्हींके यहाँ रहा, सुमतिप्रज्ञ भी डेपुङ् पहुँच गए थे। १० अगस्तको उनकी ओरसे भोज था, और उन्होंने मंगोल लोगोंका एक बहुत ही प्रिय भोजन मांसका परोठा तैयार किया था। मंगोलियाके ४ इलाक़े हैं, जहाँसे भिक्षु-विद्यार्थी तिब्बतके मठोंमें पढ़ने आया करते थे—बाहरी मंगोलिया (उरगा, आधुनिक उलन्बातुर्), भीतरी मंगोलिया, बुर्यत (बैकालके पास) और कलमुख (वोल्गा नदीके दक्षिणी तटपर अवस्थित); लेकिन रूसी क्रान्तिके बाद बुर्यत और कलमुख सोवियत प्रजातंत्र बन गए (पिछले युद्धमें कलमुख वोलगातट छोड़ पूर्वकी ओर चले गए), बाहरी मंगोलियामें भी साम्यवादी शासन क़ायम हो गया। अब भीतरी मंगोलिया ही एकमात्र ऐसा इलाक़ा रह गया था, जहाँसे मंगोल भिक्षु तिब्बत पढ़नेकेलिए आया करते थे। सुमति भिक्षु भीतरी मंगोलियाके थे। जहाँ पहिले डेपुङ्में हज़ारके क़रीब मंगोल भिक्षु रहा करते थे, अब उनकी

संख्या २, ३ सौसे ज़्यादा नहीं थी। साम्यवादी प्रजातंत्रोंसे तो नए भिक्षु अब एक तरहसे आते ही नहीं। उनकेलिए ३०, ३० सालतक मठोंकी पुरानी विद्या पढ़ना बेकार है। लेकिन अब भी सबसे मेधावी और परिश्रमी छात्र और पंडित मंगोल ही देखे जाते हैं। मैंने सुमतिको जितना कहा था, उससे भी अधिक पैसे दे दिए, वह बहुत ख़ुश हुए, और अपनी ही कोठरीमें रहनेकेलिए कह रहे थे। रहना तो छुशिङ्शामें ही था, अब पढ़ने-लिखनेका प्रबंध ठीक करना था। मैंने नैपाली लोगोंके मंदिरों (पाला) में जो नौ संस्कृत ग्रन्थ (नव व्याकरण) थे, उनको मँगाया और तिब्बती अनुवादके साथ मिलाकर पढ़ना शुरू किया। मुझे ख्याल आया कि यदि इन शब्दोंको अलग करता जाऊँ, तो एक भोट-संस्कृत-कोष तैयार हो सकता है; इसलिए मैंने छोटे-छोटे काग़ज़के टुकड़ोंपर शब्दोंको लिखना शुरू किया। भिक्षुओं और तिब्बती विद्वानोंसे बातचीत और सत्संगके बाद मेरा तिब्बती पढ़नेका ज़्यादातर काम संस्कृत और भोट-अनुवाद ग्रन्थोंके द्वारा ही होता रहा। अन्तमें मैंने १६ हज़ारके करीब शब्दोंको अपने कोषके लिए जमा कर लिया। ठी-रिन्पो-छे ने तंजूरकी पोथियोंको देनेकेलिए मुरु विहारको कह दिया। वहाँसे पुस्तकें मेरे निवासस्थान-पर चली आया करतीं।

मैं जिस कोठरीमें रहता था, उसमें कई और आदमी भी थे, इसलिए त्रिरत्नमान साहुने एक दूसरी कोठी दे दी। भीतरकी ओर तो कुछ चीज़-वस्तु रहा करती थी, लेकिन मेरेलिए बाहरका बरांडा काफ़ी था। सर्दी बढ़ती गई। मैंने अपना पुराना रद्दी चोगा तो हफ्ते-डेढ़ हफ्ते बाद ही किसीको दे डाला और २५, ३० रुपये लगा-कर ऊनी भिक्षु वस्त्र बनवा लिया। जब सर्दी और बढ़ी तो २० रुपयेमें एक पोस्तीन-का लम्बा चोगा ख़रीदा। यह कुछ पुरानासा था और गुदड़ीबाज़ारसे लिया था। पहिले तो किसी-किसीने महँगा कहा। लेकिन पीछे एक आदमी उसके ऊपरके लाल रेशमकेलिए ही आधा दाम देनेकेलिए तैयार थे। ख़ैर, मुझे अब जाड़ेका डर नहीं रह गया था। लेकिन लिखते वक़्त हाथ और अँगुलियोंको कैसे छिपा सकता था। अक्तूबरके अन्ततक अँगुलियाँ फटने लगीं और हाथसे ख़ून निकलने लगा। जाड़ेमें बस यही एक तकलीफ़ रही, लेकिन वेसलीन लगाके काम चलने लगा। मैं एक दिन क़लमसे लिख रहा था, देखता था स्याही काग़ज़पर नहीं आ रही है, झटका देकर लिखनेकी कोशिश की, तब भी स्याही नहीं उतरी। देखा तो स्याही बरफ़ बनके क़लमकी नोकपर जम गई है। फिर मैं फ़ाउनटेन्पेनका इस्तेमाल करने लगा। वह नहीं जमती थी।

युद्धके बादल—मेरे आए अभी १ महीना भी नहीं हुआ था, कि तिब्बतपर लड़ाईके बादल मँडराने लगे। सीमाओंपर जुलुम, नेपाली प्रजापर जुलुम इत्यादि कई तरहकी शिकायतें नेपाल सरकारको तिब्बती सरकारसे थीं। इधर एक और दुर्घटना घटित हुई। शरबा ग्यल्पो एक बहुत ही खुशहाल भोट-भाषा-भाषी व्यापारी नेपाली प्रजा था। वह कुछ ज़्यादा निर्भीक था, और कभी-कभी तिब्बती शासन और दलाईलामा तककी कड़ी आलोचना कर बैठता था। पिछली शताब्दीकी कई लड़ाइयोंमें हराकर नेपाल सरकारने भोट सरकारसे कई रियायतें हासिल कर ली हैं। उनमेंसे एक यह थी, कि नेपाली प्रजाके मुक़दमेंका फ़ैसला नेपाली प्रतिनिधि ही कर सकता है, तिब्बती अदालतको इसकेलिए कोई अधिकार नहीं। हाँ, यदि दोनोंकी प्रजा किसी मुक़दमेमें हो, तो दोनोंकी संयुक्त अदालत फ़ैसला करेगी। शरबाको भोट सरकारकी क्या परवाह थी, वह नेपाली प्रजा था। दलाईलामाके पास शरबा-की शिकायत पहुँच चुकी थी, किसीने कहा कि शरबा नेपाली नहीं भोटिया प्रजा है। शरबा बहुत वर्षोंसे ल्हासामें रह रहा था, भोट सरकारका कर्त्तव्य था कि पहिले उसके बारेमें ज़्यादा जाँच करती। लेकिन जहाँ एक आदमीके हाथमें शासनकी असीम शक्ति होती है, वहाँ कर्त्तव्य और क़ानूनको कौन देखता है। दलाईलामाने हुकुम दिया और शरबा पकड़के जेलकी हवालातमें डाल दिया गया। मामूली क़ैदियोंकी हवालातमें नहीं रखा गया, नहीं तो उसका जीवन और भी नरक हो जाता। मामूली क़ैदियोंकी हवालात है गन्दी अँधेरी कोठरी, जिसमें पिस्सुओं और खटमलों-की गिनती नहीं। वहाँ यदि बरस दिन रह जाना पड़े, तो बिरला ही जीता निकल पाता है। १४ अगस्तको शरबा मौक़ा पा भागकर नेपाली दूतावासमें आ गया। नेपाली राजदूतको मेरे आनेकी ख़बर मालूम हुई तो, उन्होंने मुलाक़ात करनेकेलिए बुलाया था। मैं जब राजदूतसे मिलकर लौट रहा था, तो देखा कि एक बहुत हट्टा-कट्टा लम्बा आदमी वहाँ टहल रहा है, यही शरबा था। दलाईलामाका क्रोध और भड़का। वह सिर्फ़ कुछ ज़िम्मेवार अफ़सरोंके सज़ा दे देनेपर ठंडा नहीं हो सकता था। शहरमें तरह-तरहकी अफ़वाहें उड़ने लगीं। नेपाली ल्हासाके मारवाड़ी हैं, एक-एक कोठीमें लाखोंकी सम्पत्ति है। सब डरने लगे कि भोट सरकारने अगर ज़बर्दस्ती की और राजदूतने कुछ भी विरोध किया, तो शहरके गुंडे बदमाश नेपालियोंको लूट लेंगे। २३ अगस्तको हल्ला हुआ कि भोटिया पलटन शरबाको पकड़नेकेलिए नेपाली दूतावास गई। लोगोंने धड़ाधड़ दूकानें बन्द कर दीं। सड़कपर थोड़ी-थोड़ी चीज़ लेकर बेचनेवाले, फेरीवाले नर-नारी भी चम्पत हो गए। जहाँ अभी थोड़ी ही देर

पहिले चहल-पहल थी, वहाँ बिल्कुल नीरवता छा गई। सब लोग अपने-अपने पिस्तौल और बन्दूकको सँभाल-सँभालकर बैठे थे। पीछे मालूम हुआ कि सिपाहियोंमें आपसमें झगड़ा हो गया है। २७ अगस्तके १२ बजे फिर उसी तरह दूकानें दनादन बन्द हो गईं। अबकी झूठी खबर नहीं थी, दलाईलामाके सैनिक नेपाली दूतावासमें शरबाको पकड़नेकेलिए घुस गए। अन्तर्राष्ट्रीय विधानके अनुसार दूतावासपर हमला करना अभद्रोचित समझा जाता। लेकिन जब सोवियत दूतावासोंके साथ इंग्लैंड और चीन वैसा बर्ताव कर चुके हैं, तो पाँच सौ वर्ष पिछड़े तिब्बती सरकारके बारेमें क्या पूछना? सबको आशङ्का थी कि राजदूत भरसक शरबाको नहीं देना चाहेगा। दूतावासमें बहुत ज़्यादा नेपाली सैनिक नहीं थे, लेकिन जो थे, वह भोटिया सैनिकोंकी तरह नवसिखिये बन्दूक़ची नहीं थे। यदि वह चाहता, तो नेपाली प्रजामेंसे भी हज़ार-डेढ़ हज़ारको हथियारबन्द कर सकता था। कुछ घड़ी, कुछ दिन तो वह ज़रूर डटकर मुक़ाबिला कर सकता था। शायद इसे बहादुरी समझा जाता, लेकिन बुद्धिमानी हरगिज़ नहीं; क्योंकि अब एक शरबा हीके प्राणोंकी बात नहीं थी, बल्कि हज़ारों नेपाली मारे जाते। राजदूतने ज़बानी विरोध किया। भोटिया सैनिक शरबाको पकड़कर ले गए। उसी दिन शरबाके ऊपर दो सौ बेंत पड़े। उसका मांस और चमड़ा कट गया। लोग कह रहे थे, शरबाने एक बार सी भी नहीं किया। १७ नवम्बरको शरबा मर गया। ल्हासा कोई आधुनिक शहर नहीं, यद्यपि वहाँकी दूकानोंपर आधुनिक चीज़ें भी बिकती हैं। शहरोंकी हड़तालके बारेमें हम लोग समझते हैं कि यह आधुनिक दुनियाकी चीज़ है। लेकिन जान पड़ता है, नागरिकोंकी हड़ताल या दूकानबन्दी पुराने जगतमें भी होती थी। २६ अगस्तको नगरके अधिकारीने सौदागरोंको बुलाकर पहिले तो सांत्वना दी, और फिर कहा, कि जो फिर दूकान बन्द की गई तो सख़्त सज़ा दी जायगी। दूकान तो ख़ैर तबसे बन्द नहीं हुई, लेकिन नेपालियोंमें बड़ी बेचैनी फैल गई। अब साफ़ मालूम होने लगा कि तिब्बत और नेपालमें ज़रूर लड़ाई होके रहेगी। सेनाकेलिए तम्बू बनने लगे और बाज़ारमें जितना ज़ीन कपड़ा मिला, सरकारने सब ख़रीद लिया। सितम्बरके अन्तमें चीनके इलाक़े सीनिङसे सैकड़ों ख़च्चर बिकनेकेलिए आए, सरकारने सबको ख़रीद लिया। नेपाली भी १, २ करके ल्हासा छोड़ने लगे। ज्ञानमान साहुने अपने बड़े भाई त्रिरत्नमानको २० अगस्तको ही भारतकेलिए रवाना कर दिया। अक्तूबरके पहिले हफ़्तेमें नेपाली सौदागरोंके पास नेपाल और कलकत्तासे चिट्ठीपर चिट्ठी और तारपर तार आने लगे—सब कुछ बेंच-बाचकर चले आओ।

३ अक्तूबरको सरकार ल्हासाके नागरिकोंकी मर्दुमशुमारी करा रही थी। ५ अक्तूबरको मालूम हुआ, कि दोनों सरकारोंमें तारसे बात हो रही है; यह भी मालूम हुआ कि नेपाली सेना तिब्बती सीमाकेलिए चल चुकी है। ६ तारीखको ज्ञानमान साहुको भी सब छोड़कर चले आनेका तार आ गया, लेकिन वह जानेकेलिए तैयार नहीं हुए, शायद कितने ही नेपालियोंकी तरह उन्हें भी विश्वास था, कि युद्ध नहीं होगा। ८ अक्तूबरको मालूम हुआ कि नेपाल सरकारने दो शर्तें रखी हैं—अपराधी अधिकारियोंको दंड दिया जाय और तिब्बती सरकार खुले तौरसे माफ़ी माँगे। तिब्बती सरकार इसकेलिए तैयार नहीं थी। ८ तारीखको पता लगा कि दलाई-लामाने डेपुङ्, सेरा, गन्दन तीनों गुंबाओंके प्रतिनिधियोंको सलाहकेलिए बुलाया, लोग युद्धके पक्षमें नहीं हैं। लेकिन दलाईलामा, प्रधान सेनापति और कुंभेला—लामाके प्रिय दरबारी—तीनों युद्धकेलिए उतारू थे। ४ नवम्बरको ल्हासाकी सड़कोंसे भोटिया पलटन "राइट-लेफ्ट" करती निकली। बिलकुल महादेवबाबाकी बरात, कोई ५५ बरसका बूढ़ा, कोई १२ बरसका छोकरा। उरदी-फुरदीकी कोई ज़रूरत नहीं। लेकिन इससे लोगोंको युद्धकी आशंका और बढ़ गई। अब फ़ौजी तम्बू तैयार हो गए थे, चाय पकानेकेलिए बड़े-बड़े बरतन भी खरीदे जा रहे थे। १० नवम्बरको पता लगा, कि शरबाके पकड़नेकी सारी ज़िम्मेवारी दलाई-लामा और उनके भतीजे लोङ्छेन (प्रधान मंत्री)के ऊपर है। इंग्लैंडसे पढ़कर लौटे प्रधान सेनापति भी युद्धके पक्षमें है। मैंने एक भोटिया भद्रपुरुषसे पूछा—आधुनिक सैनिक दृष्टिसे नेपालकी पलटन भी लठियल फ़ौज है, लेकिन वह भोटिया फ़ौजसे तो हज़ार गुना अधिक शिक्षित है। संख्या भी उसकी ज्यादा है, फिर किस उमेदपर भोटिया सरकार तनी हुई है? उन्होंने कहा—रूस मदद करने आएगा। मैंने कहा—रूसके मदद करनेकेलिए आनेका मतलब है, इंग्लैंडका भी उसमें कूदना, यह असंभव है। फिर रूसका तो तुम्हारा तारका भी सम्बन्ध नहीं, बेतार भी तुम्हारे पास नहीं, छ महीनेमें जब तक मास्को ख़बर पहुँचेगी, तबतक तो नेपाली पलटनें ल्हासा पहुँच जायेंगी। फिर उन्होंने कहा—चीन हमारी मददकेलिए आएगा। मैंने सोचा—यह कोरा भाग्यवाद है। ११ नवम्बरको नेपालसे आई चिट्ठियोंसे मालूम हुआ कि कुत्ती और केरोङ्के रास्ते तैयार हो गए हैं, पलटनें दनादन जा रही हैं। घरवाले अपने आदमियोंको जल्दी आनेकेलिए ज़ोर दे रहे थे। १४ या १५ तारीखको किसी नेपाली सौदागरने अपने आदमीको बुलाया था जिसके जवाबमें नेपालसे तार आया था "आना खतरेकी बात है" (Unsafe to Come)।

हिन्दुस्तानसे ल्हासातक तार है, जिसमें ग्यानचीतक अँगरेज़ी तार है, इसके बाद भोट सरकारका। उस वक़्त तारके खंभोंको बदलनेकेलिए भारतीय तार-विभागने मिस्टर रोज़मेयर—एक एंग्लो-इंडियन सज्जन—को उधार दिया था। वह उस वक्त ल्हासामें थ। मेरे पास एक दिन मिलने आ चुके थे। मैं समझता था कि वह सौजन्य दिखलानेकेलिए नहीं, बल्कि यह जाननेकेलिए मेरे पास आये, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मेरा काम तो बिलकुल साहित्यिक था। लेकिन उन्होंने सरकारको क्या लिखा होगा, यह कौन जाने? १७ नवम्बरको फिर रोज़मेयर आए, वह दूसरे रोज़ हिन्दुस्तानको रवाना होनेवाले थे। उन्होंने कहा—अँगरेज़ी सरकार अपने दोनों दोस्तोंमें कैसे लड़ाई होने देगी? यह बात बिलकुल सच थी। इस युद्धकी ख़बर आनन्दजीके पास मैंने सीलोनमें भी भेज दी थी। हमारे नायक स्थविर यह सुनकर बहुत घबड़ा गए थे और आनन्दजीसे पूछ रहे थे, कि वहाँ हवाई जहाज़ पहुँच सकता है या नहीं। मैंने जवाब लिख दिया था—"आजतक तो तिब्बतके आकाशमें कोई हवाई जहाज़ नहीं उड़ा।" २१को नेपालसे तार आया कि नेपालका सम्बन्ध सब सुन्दर है, डरना नहीं चाहिए, पूर्ववत् कार्य करो। पहिली दिसम्बरको मालूम हुआ, कि सुलह होनेमें बहुत सन्देह है।

उधर महीनोंसे लामा लोग पुरश्चरण कर रहे थे। नेपालके महामंत्री चंद्रशमशेर बहुत बूढ़े थे, २५ नवम्बरको उनका देहान्त हो गया; लेकिन ल्हासामें इसकी ख़बर दो दिन बाद मिली। सब जगह हल्ला हो गया, कि तान्त्रिक लामाओंका पुरश्चरण सफल हुआ, उसीके कारण नेपालके प्रधान मंत्री मरे। २८ दिसम्बरको सुना कि नेपालसे युद्ध होनेमें कोई सन्देह नहीं है। नेपालमें अब चन्द्रशमशेरके छोटे भाई भीमशमशेर प्रधान मंत्री हुए। मुझे निश्चय हो गया, कि अब लड़ाईकी कोई संभावना नहीं है। ११ और १३ फरवरीको पता लगा कि नेपाली सेना सीमापर पहुँच गई। तिब्बती अधिकारियोंमें अब ज्यादा घबराहट थी। इसी समय चीन सरकारका दूतमंडल ल्हासा पहुँचा, जिसमें एक स्त्री भी आई। १३ फ़र्वरीको नाव और पैदल दोनों रास्तोंपर सिपाही बैठा दिये गए और अब कोई नेपाली या अर्द्ध-नेपाली (भोटिया औरतोंसे नैपाली पुरुषोंकी सन्तान) ल्हासा छोड़कर बाहर नहीं जा सकता था। अब युद्धमें क्या सन्देह हो सकता था?

१३ फ़र्वरीको यह भी पता लगा कि नेपाल और भोटमें मेल करानेकेलिए सरदार बहादुर लेदन्ला आ रहे हैं। लेदन्ला दार्जिलिंगके एक भोट-भाषाभाषी सज्जन थे। वह पुलीसमें मामूली थानेदारसे तरक़्क़ी करते-करते सुपरिन्टेन्डेन्ट बने थे।

अँगरेज़ी सरकारके बड़े ख़ैरख़्वाह थे, लेकिन, साथ ही भोटके लोगों और बौद्धधर्मसे उन्हें बहुत प्रेम था। वह कुछ दिनोंतक भोटिया पुलिसके नवसंगठन और शिक्षणके लिए ल्हासामें भी रह चुके थे। १५फरवरीको तोप लिए पलटन शहरके भीतरसे घूमी। युद्धका पारा बहुत ऊँचा हो गया। नेपाली न चलेजानेके लिए अब पछता रहे थे। उसी दिन यह भी मालूम हुआ, कि लेदन्ला ल्हासासे दो दिनके रास्तेपर आकर लौट गए। ल्हासामें इस वक़्त चीनी दूत भी आकर मौजूद थे, इसके कारण भोटिया लोगोंको ज्यादा बल मालूम हो रहा था। १६फर्वरीको लेदन्ला ल्हासा पहुँच गए। २५फर्वरीको पता लगा, कि लेदन्ला दलाईलामासे तीन घंटा एकांतमें बात करते रहे, उसके बाद उन्होंने मंत्रियोंसे बात की। २६ फ़र्वरीको मालूम हुआ कि कुम्-भेला और सेनापति समझौतेके पक्षमें नहीं हैं। ७ मार्चतक लेदन्लाको अपने काममें सफलता नहीं हुई। ११ मार्चको ख़बर मिली, कि लेदन्ला अपने प्रयत्नमें सफल हुए हैं, और समझौतेकी बातें नेपाल सरकारके पास स्वीकृतिकेलिए भेज दी गईं। १६ मार्चको फिर ख़बर उड़ी, कि लेदन्ला हताश होकर लौटे जा रहे हैं। १८ ता०-को अब भी युद्धकी आशंका थी, लेकिन प्रामाणिक लोग सुलहकी आशा कर रहे थे। २० नवम्बरको मैं लेदन्लासे मिला, वह बड़े ही चतुर और मिष्टभाषी मालूम हुए। २२ मार्चके मध्याह्नको ख़बर आई, कि समझौता हो गया। चारों ओर ख़ुशी ही ख़ुशी दिखलाई देने लगी। लेदन्ला ही थे, जो इस गुत्थीको सुलझा सके, नहीं तो भोटिया पागल राजनीतिज्ञ न जाने क्या कर बैठते। लेकिन पीछे यह देख मुझे बड़ा अफ़सोस हुआ, कि अँगरेज़ी सरकारने लेदन्लाके प्रयत्नका उचित सत्कार नहीं किया। यदि कोई अँगरेज़ उतनी सफलता प्राप्त किये होता तो वह 'सर' या न जाने क्या बनाया जाता।

उधर यह सारा तूफ़ान चल रहा था, उसी वक़्त ल्हासामें रहकर मुझे अपने काममें लगा रहना पड़ता था। शायद ऊपरके लिखनेसे मालूम हो, कि मैं बड़े प्रयत्नसे इन सूचनाओंको जमा करता था। बात यह नहीं थी। नेपाली या भोटिया जिससे भी मेरी मुलाक़ात होती, बातके दौरानमें युद्धकी बातें ज़रूर आती थीं, और मैं उनको डायरीमें नोट करता जाता, दिमाग़ भी बातोंके विश्लेषणमें लग जाता था। मैं लड़ाईसे बहुत चिन्तित नहीं था, यह ज़रूर था, कि उसके छिड़नेपर मुझे छुशिङ-शा छोड़कर किसी दूसरी जगह जाना पड़ता। जिस नई कोठरीमें मैं चला आया था, उसकी बगल हीमें क़ादिर भाईकी स्त्री खतीजा रहती। क़ादिर भाई आधे तिब्बती और आधे कश्मीरी थे, लेकिन खतीजा शुद्ध तिब्बती थी, और सिर्फ़ तिब्बती

बोल सकती थी। सब लोग जानते थे कि मैं अपने काममें दत्तचित्त रहता हूँ, इसलिए ज़्यादा बातचीत करने नहीं आते। ८ सितम्बरको धीरेन्द्र गुभालाको उनके मालिकने निकाल दिया। मालिककी कोठी ल्हासाके नेपालियोंकी बड़ी कोठियोंमें थी, बड़ी कोठीवाले अक्सर औरत नहीं रखते—ख़ासकर खुल्लमखुल्ला नहीं रखते—लेकिन यह मालिक अर्धचीनी तरुणीको घरमें बैठा ऐश-जैशमें अंधा-धुंध ख़र्च करता था। लोगोंको आश्चर्य होता था, कि कोठीका असली मालिक उसका मामा इसपर क्यों नहीं ध्यान देता। इस मालिक और नौकरके झगड़ेसे एक फ़ायदा हुआ कि धीरेन्द्रवज्र छुशिङ्शामें चले आए। ल्हासामें ५, ६ सौ घर अर्धकश्मीरी मुसलमानोंके हैं, इनके अतिरिक्त कुछ चीनी मुसलमान हैं, लेकिन दोनोंमें कोई वैसी घनिष्टता नहीं। कश्मीरी मुसल्मान १७वीं सदीके मध्यमें पाँचवें दलाईलामाके शासनके वक़्त ल्हासामें प्रथम-प्रथम आए। अबतो उनकी काफ़ी संख्या है। पहिले वह अपने मुर्दोंको नदीमें बहा देते थे, लेकिन पीछे दलाईलामाने ज़मीन देदी, जहाँ मसजिद और कबरस्तान बना। एक दिन कादिरभाईके घर मौलूदशरीफ़की कथा हुई, मौलवीने उर्दूमें कथा कही, फिर भोज हुआ। कादिरभाईने एक अच्छे करीगरसे घेवर बनवाया। प्रसाद पड़ोसमें रहते मेरे पास क्यों न आता ?

सितंबरमें अब फ़सल कटने लगी, इस वक़्त ल्हासामें पतंगबाज़ी होती है। शायद नेपालियोंने इस खेलको ल्हासामें फैलाया। सर्दी बढ़ रही थी। १७सितंबरको दक्षिणके पर्वतोंपर पहले-पहले बर्फ पड़ी। लड़ाई और उसके बाद तिब्बत और अंग-रेजोंसे जो घनिष्ठता बढ़ी, उसका एक फल यह हुआ कि ल्हासा तक तार लग गया। इससे मुझे भी फायदा था, क्योंकि मैं हिन्दुस्तान या लंका आसानीसे तार भेज सकता था। तारकी दर कई वर्षों पहिले मुक़र्रर की गई थी, लेकिन तबसे भोटिया सिक्के-का मोल अब चौथाई रह गया था, तो भी वही दर क़ायम थी। इसी घनिष्टताके वक़्त दलाईलामाने तिब्बतके ४, ५ लड़कोंको इंगलेंड पढ़नेकेलिए भेजा था, जिनमें एक तो लौटकर मर गया। एक बिजलीका इंजीनियर बना, और पानीसे बिजली तैयार की, जो सारी टकसालमें काम आती है, और लामाके उद्यानप्रासादमें भी लगी हुई है। शहरमें अभीतक बिजली नहीं आई थी। एक नौजवान आजकल भोटका प्रधान सेनापति था, और चौथा एक छोटेसे जोङ्का अफ़सर बना दिया गया था।

ल्हासासे दो-दो, तीन-तीन मीलपर डेपुङ् और सेराके बड़े-बड़े विहार हैं। डेपुङ्में सात हज़ारसे ज़्यादा और सेरामें पाँच हज़ारसे ज़्यादा भिक्षु रहते हैं। वैसे तो ये नालन्दाकी तरहके विश्वविद्यालय हैं, लेकिन इनमें रहनेवाले पाँच-पाँच, सात-

सात हज़ार भिक्षु सारेके सारे विद्या पढ़नेकेलिए वहाँ नहीं रहते। मामूली पढ़नेवालोंकी संख्या शायद बीस, पच्चीस सैकड़ा हो। असली विद्यार्थी तो दश सैकड़े ही होंगे। बचे हुओंमें बाक़ी संख्या उजड्ड ढाबोंकी है। वह मठका रसोई-पानीसे लेकर जागीरका इन्तज़ाम और व्यापारतक करते हैं। ज़रा-ज़रा बातमें झगड़ पड़ते हैं, और कितने ही समय तो द्वंद्वयुद्धकी नौबत आ जाती है। उनका द्वंद्वयुद्ध मामूली कुश्ती नहीं होता। वह तलवार ख़ूब तेज़ करते हैं, युद्धस्थान निश्चित कर लेते हैं, फिर शराब पीकर वहाँ अपने मित्रोंके साथ पहुँचते हैं। तलवार लेकर अखाड़ेमें कूदते हैं, जिसमें एकका मरना निश्चित है, दूसरा फिर वहाँसे किसी दिशाकी ओर चला जाता है। इन ढाबोंसे लोग बहुत डरते हैं। गुंबाके बड़े अफ़सरोंको छोड़ वह किसीको कुछ नहीं मानते। गेलुग्पा संप्रदायके भिक्षुओंका शराब न पीना मशहूर है और मठोंमें तो वह बिल्कुल नहीं जा सकती, इसलिए छङ् पीनेकेलिए उन्हें शहर आना पड़ता है। उनकी नशा कभी-कभी ख़तरनाक सूरत ले लेती है। कभी-कभी तो बिना शराब पिये ही ऐसी नौबत आ जाती है। ३० सितंबरको कटे पतंगका सूत लूटनेकेलिए एक पुलीसमैनका ढाबासे झगड़ा हो गया, ढाबाने पत्थर मारकर पुलीसवालेको वहीं ख़तम कर दिया।

लदाख़में ठिक्से एक अच्छा विहार है। मठोंमें जब कोई प्रभावशाली महन्त हो जाता है, तो उसके मरनेपर यहाँवाले अवतारकी कल्पना कर लेते हैं, और शिष्यकी जगह किसी लड़केको उसका अवतारी मान कर गद्दी पर बैठाते हैं। तिब्बती बौद्धधर्म जहाँ-जहाँ आया, सभी जगह ऐसे अवतारी लामाओंका प्रचार है, आजकल उनकी संख्या कई हज़ारोंतक पहुँच गई है। इन अवतारी लामाओंका ही तिब्बतमें सबसे ज्यादा मान है। लेकिन विद्याबुद्धिमें शायद ही कोई अच्छा निकलता हो। अवतारी लामाओंसे एक फ़ायदा ज़रूर है, ये आमतौरसे बड़े ख़ान्दानोंके लड़के होते हैं, छोटे घरका होनेपर भी अपनी शिक्षा-दीक्षाके कारण वह बड़ी जातिवाले बन जाते हैं। इनकी सारी मनोवृत्ति राजाओं और सामन्तों जैसी होती है। बचपनहीसे उनका बहुत अदब और दुलार किया जाता है, बड़े-बड़े लोग तीन-तीन बरसके बच्चेके सामने आशीर्वाद पानेकेलिए अपना शिर नवाते हैं, फिर उसका दिमाग क्यों न आसमानपर चढ़ जाये? पढ़नेकेलिए मेहनत करनेकी उन्हें क्या ज़रूरत? ऊँचे तबक़ेके लोग उनके आसपास रहते हैं, इसलिए उनकी भाषा स्वभावसे ही अधिकांशतः परिमार्जित हो जाती है। ठिक्से है तो लदाख़में, लेकिन वहाँका अवतारी लामा बना ल्हासासे ले जाया गया एक लड़का। जवान होनेपर उसे मठका जीवन पसन्द

नहीं आया। वह खुल्लमखुल्ला विलासी बन गया। अन्तमें मठवाले भिक्षुओंको विरोध करना पड़ा, और वह ल्हासा चला आया। आजकल ल्हासाके पच्छिमी थानेमें वह अफ़सर था। आदमी होशियार था। मुझसे अक्सर बात होती रहती थी। इसका बाप एक अच्छा अफ़सर था, लेकिन दोनोंकी पटरी नहीं बैठती। एक बार ठिक्सेके भूतपूर्व अवतारी लामा, इस रंगीले तरुणसे मैंने हँसते हुए पूछा। "क्या तुम इन अवतारी लामाओंको मानते हो ?" उसने कहा—"मैं खुद अवतारी लामा हूँ, लेकिन उसे बिल्कुल धोखा समझता हूँ। दलाईलामाको छोड़ मैं किसीको अवतारी नहीं मानता। दलाईलामा राजा है। राजाको अवतारी माने बिना जान कैसे बच सकती है।"

२२ नवंबरको वह तिथि थी, जिस दिन बुद्ध देवलोकमें माँको उपदेश देकर पृथ्वीपर उतरे थे। यह घटना संकास्यमें हुई थी, इसे पहिले मैं बतला चुका हूँ। देवावतरणका उत्सव ल्हासामें बहुत धूमधामसे मनाया जाता है। कुछ दिन पहिले हीसे घरोंकी सफ़ाई और सफ़ेदी होने लगती है। नवंबरमें अब जाड़ेका दिन था। जाड़ोंमें पशुओंको चारेका सुभीता नहीं होता, इसलिए वह दुबले हो जाते हैं, उनका मांस घटने लगता है; अतएव अक्तूबर और नवंबरमें पशुओंको मारकर ८ महीनेके लिए मांस जमा कर लिया जाता है। भेड़ोंका मांस तो आमतौरसे चमड़ा निकालनेके बाद पूराका पूरा टाँग दिया जाता है, और धीरे-धीरे वह सूख जाता है। याक और दूसरे बड़े जानवरोंके मांसको टुकड़े-टुकड़े काटकर रस्सियोंपर टाँग दिया जाता है। क़ादिर भाईने एक याक मरवाया था और उसका मांस मेरी ही कोठरीके भीतर सूखनेकेलिए टाँगा था। याक आमतौरसे काले रंगका होता है, लेकिन कितनों हीकी पूँछें सफ़ेद होती हैं। मरनेके बाद उसे थोड़ीसी पूँछके साथ काट दिया जाता है, जिसमें बाल उसमें लगा रहे। इसी कटी पूँछको चाँदी या किसी और धातुके मुट्ठेमें जमा दिया जाता है और वह हमारा पवित्र चँवर बन जाता है।

याक् ल्हासासे बहुत उत्तर अब भी जंगली अवस्थामें मिलते हैं, और वह पालतू याकसे तीन-तीन, चार-चार गुने बड़े होते हैं। पालतू याक भैंसके बराबर होता है। वह ठंडी जगहका बैल है, लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी बैलों (गायों)की अपेक्षा वह यूरोपीय बैलोंकी तरह ककुद-शून्य होता है। हमारी गाय और याक् दोनोंके जोड़से पैदा हुई नसल बराबर चलती है, इसलिए दोनोंकी जाति एक है, इसमें सन्देह नहीं। नेपाली लोग तिब्बतमें याक्का मांस बराबरसे खाते आए हैं. और अब भी खाते हैं। मैं तो पहिली यात्रामें उसे नहीं खा सका, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि

वह गाय है और पुराने संस्कार मुझे उसके आस्वादकी ओरसे विरक्ति पैदा करते थे।

मेरे पास पैसे बहुत थोड़े थे, यह मैं कह चुका हूँ। मैंने पहिले चाहा था कि महीनेमें दो-तीन लेख किसी अखबारकेलिए लिख दिया करूँ, और उससे बीस-पचीस रुपये चले आएँगे, लेकिन अभी मैंने एक ही दो बरससे हिन्दी पत्रिकाओंमें लेख देने शुरू किये थे, इसलिए पत्रोंसे क्या आशा हो सकती थी। हाँ, अपने मित्रोंको मैंने सूचना दे दी थी और ल्हासा पहुँचनेके डेढ़ महीने बाद ही आचार्य नरेन्द्रदेवजीने बनारससे डेढ़ सौ रुपये भिजवा दिये। हफ्तेभर बाद एक सौ चौदह रुपये चार आना उन्होंने और भेजवा दिये। उधर आनन्दजी भी स्थायी प्रबन्धकी कोशिश कर रहे थे। अब आठ-दश महीनेके खाने-कपड़ेकी चिन्तासे तो मैं मुक्त था। लेकिन निश्चिन्त हो लम्बा प्रोग्राम तो मैं तभी बना सकता था, जब कि खाने-पीनेका स्थायी प्रबन्ध कर लेता। मैंने पहिले सोचा था, कि मेरा संस्कृतका ज्ञान लंकाकी तरह तिब्बतमें सहायता करेगा, लेकिन यहाँ संस्कृतको कोई पूछनेवाला नहीं था। मंत्र तिब्बतमें भी संस्कृत हीमें जपे जाते हैं, लेकिन भोट भाषाको वह संस्कृतसे कम पवित्र नहीं मानते। और वैसे भी देखा जाय, तो जहाँतक बौद्धसाहित्यका सम्बन्ध है, आज संस्कृत भाषा भोट भाषाके सामने अत्यन्त दरिद्र है। यह ठीक है कि तिब्बती भाषाके दश हज़ार ग्रन्थोंका संस्कृतसे ही अनुवाद किया गया था, लेकिन अब तो दो-ढाई सौसे अधिक ग्रन्थ संस्कृतमें नहीं मिलते। इनमें भी ज़्यादा वही हैं, जिन्हें पीछेकी तीन यात्राओंमें मैंने तिब्बतके पुराने मठोंमें पाया। जनवरी (१९३०)में आनन्दजी और आचार्य नरेन्द्रदेवकी चिट्ठियाँ आई थीं कि वह स्थायी प्रबंध कर रहे हैं। आनन्दजीने यह भी लिखा था, कि यहाँसे रुपया जानेपर आपको सारी किताब वहाँसे खरीद कर चला आना पड़ेगा। नरेन्द्रदेवजी काशीविद्यापीठसे प्रबंध करवा रहे थे और वह प्रबंध हो जानेपर मैं तिब्बतमें रहके पढ़ सकता। दोनों जगहोंमें मैं विद्यापीठकी छात्रवृत्तिको ही पसन्द करता था, क्योंकि मैं तिब्बतमें कुछ वर्षोंतक रहकर पढ़ना चाहता था। तेईस फ़र्वरीको आनन्दजीका तार आया कि दो हज़ार रुपये लंकासे भेज दिये गये। नरेन्द्रदेवजीका पत्र उससे चार दिन पहिले (उन्नीस फ़र्वरी)को ही मिल गया था। जिसमें पचास रुपये मासिक और डेढ़ हज़ार रुपये पुस्तकोंकेलिए सहायताकी बात लिखी थी, लेकिन उसमें अभी मुझसे राय माँगी गई थी और फिर वैशाखसे वह मिलता। मुझे लंकावाले प्रस्तावको स्वीकार करना पड़ा, बहुत पछताते हुए। नायक स्थविर उसमें पड़े हुए थे, और मैं उनको निराश नहीं कर सकता था।

इस तरह कमसे कम तिब्बतमें तीन सालतक रहनेका मेरा संकल्प पूरा नहीं हो सका।

मंगोल भिक्षुओंकी ओर मैं ल्हासामें बहुत ज़्यादा आकृष्ट हुआ, क्योंकि मैंने उन्हें ज़्यादा मेहनती और मेधावी पाया। मेरे रास्तेके साथी सुमतिप्रज्ञने तो इसके बारेमें बिलकुल उलटा असर डाला था। हो सकता है, इसमें कारण पिछले बारह सालोंसे बढ़ता हुआ मेरा सोवियत प्रेम भी हो। यद्यपि अभीतक मुझे मार्क्स, एंगेल्स और लेनिनके ग्रन्थोके पढ़नेका मौक़ा नहीं मिला था, और न किसी दूसरे साम्यवादीके किसी मौलिक ग्रन्थको पढ़ा था। तो भी छ साल पहिले मैं 'बाईसवीं सदी' लिख चुका था। और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया था, कि दुनियाकी भलाईकेलिए साम्यवाद छोड़ दूसरा कोई रास्ता नहीं। धर्मसे मैं अब लम्बी-लम्बी आशायें नहीं रखता था, लेकिन अभी धर्मविरोधी नहीं बना था, ख़ासकर बुद्धके धर्ममें मेरी बड़ी ही श्रद्धा थी, वस्तुतः उसीके प्रतापसे मैं अनीश्वरवादी बना था। से-रा, डे-पुङके मंगोल छात्र ज़्यादातर साम्यवादी इलाक़ेके थे। उन्होंने क्रान्तिके पहिले अपने देशको छोड़ा था। उन्हें जो ख़बरें पीछे मिलती थीं, उनसे यही मालूम होता था कि गुंबा (मठ) उजड़ती जा रही हैं, भिक्षु कम होते जा रहे हैं। मेरा परिचय ज़्यादातर थब्-दङ्-शेरब और गेशे तन्-दर जैसे मेधावी विद्वानोंसे था। वह सोवियतके विरोधी नहीं थे, बल्कि अपने मातृभूमिके साथ-साथ सोवियत् व्यवस्थाकेलिए कुछ गर्व करते थे। गेशे तन्-दर पाँच साल बाद तिब्बतकी सबसे श्रेष्ठ परीक्षामें सारे तिब्बतमें प्रथम आये थे। ल्हारम्-पा (डाक्टर या आचार्य)की पदवी सरकारकी ओरसे प्रतिवर्ष सिर्फ़ सोलह आदमियोंको मिलती, और ऐसे ही विद्वानोंको, जो शास्त्रार्थ और कड़ी मौखिक परीक्षाओंमें पास होते हैं। गेशे तन्-दर् अभी ल्हा-रम्-पा नहीं हुए थे, लेकिन उनकी विद्वत्ताकी ख्याति हो चली थी। वह से-राके विद्यार्थी थे। बारह अक्तूबरको मैं उनके साथ से-रा गया। (अफसोस १९४७ ई० इस महान् विद्वान्के खन्-पोको गुंडे ढाबोंने शांतिका उपदेश करनेके लिए मार डाला)।

से-रा भी मानो एक छोटासा शहर है। पाँच-छः हज़ार भिक्षु जहाँ रहते हों, वह शहर छोड़कर और क्या हो सकता है? से-रामें चार ङ-सङ् (कॉलिज) हैं। और हर ङ-सङ्का प्रमुख खन्-पो (पंडित) कहलाता है। लेकिन चारोंमेंसे तीन—ग्ये, म्ये, ङग्-पा इन तीन ही ङ-सङ्में पढ़ने-पढ़ानेका काम होता है। ङग्-पा ङ-सङ् सबसे छोटा है और उसमें कोई खम्-जन् (छात्रावास) नहीं है। ग्येमें बीस खम्-जन् है और म्येमें चौदह। खम्-जन् हरेक देशके अलग-अलग हैं, यह मैं डे-पुङ्के प्रसंगमें

बतला आया हूँ। गुंबामें कई बड़े-बड़े देवालय हैं और पाँच सदियोंसे श्रीवृद्धि होते रहनेके कारण यहाँके अनेकों देवालयोंमें बहुत सोना-रतन भरा हुआ है, बीस-बीस, तीस-तीस सेरके सोनेके दीपकोंमें घीका चिराग जलता रहता है। मैं म्येके खन्-पोके पास गया, वह मुझे बहुत सूखासा असंस्कृत आदमी जान पड़ा। खन्-पो-की नियुक्तिमें चूँकि दलाईलामा और उनके खुशामदी दरबारियोंका हाथ होता है, जो कि खुद पंडित नहीं होते, फिर अच्छे आदमियोंकी नियुक्ति कैसे हो सकती है? १९३३में दलाईलामाके मरनेके बाद आनेवाले दलाईलामाकी नाबालिगी भरके-लिए रे-डिङ् लामा रिजेन्ट (स्थानापन्न राजा) वने। उस समय रे-डिङ् लामा अठारह वर्षके तरुण थे, और से-रामें पढ़ते थे। गेशे तन्-दर् मुझे उनके पास ले गये। वह मुझे बहुत ही सौम्य तरुण मालूम हुए। एक बहुत बड़े मठके अवतारी लामा होनेके कारण उनकी पढ़ाई उतनी अच्छी नहीं थी, यह स्वाभाविक ही था।

नवंबर-दिसंबर पहुँचते-पहुँचते सर्दी खूब बढ़ गई थी और तापमान अक्सर हिमविन्दुसे नीचे रहता था। घड़े या लोटेका पानी रातको जम जाता था। गमलेके फूल शाम होनेसे पहिले ही घरके भीतर रख लिये जाते थे, जिससे कि वह सूख न जायँ। दलाई लामा, टशी लामा जैसे बड़े बड़े लामा, गनदन, सेरा, डेपुङ् और टशी-ल्हुन्-पो जैसे बड़े-बड़े विहार जिस गेलुक्-पा संप्रदायके अनुयायी हैं, उसके संस्थापक चोङ-ख-पाका भोटिया दसवें महीनेकी दसवीं तिथिको (पूस बदी दशमी) देहान्त हुआ था, वह अबकी बार २५ नवंबरको पड़ी थी। उस रात ल्हासा और से-रा, डे-पुङ आदि विहारोंमें खूब धूमधामसे दीवाली मनाई गई। ल्हासा एक बड़ी चौड़ी उपत्यकामें बसा हुआ है, जिससे पहाड़ पाँच-पाँच, छ-छ मील दूर पड़ते हैं। इन पहाड़ोंमें जहाँ-तहाँ सैकड़ों छोटे-छोटे विहार हैं। उस रात सभी जगह दीप जलाये गये थे। कृष्ण-पक्षकी दशमीकी अँधेरी रातको यह दीपमालिका देखनेमें बड़ी सुन्दर मालूम होती थी। ल्हासाकी सड़कोंपर यह प्रकाशपर्व देखनेके-लिए दर्शकोंकी भीड़ लगी थी। मंत्री लोग भी अपने परिचारकोंके साथ घूम रहे थे। लेकिन साढ़े सातबजे बाद ही स्त्रियोंका सड़कोंपर घूमना खतरेकी बात थी।

१९ जनवरीको खबर फैली, कि सातवें दलाईलामाकी समाधिमें चोरी हो गई, और चोरी करनेवाला पुजारी अफ़सर पकड़ा गया। दलाईलामाओंके शवको फूँका नहीं जाता, उसे दो तीन महीना नमककी ढेरमें डाल दिया जाता है, नमक शरीरके सारे रसको सोख लेता है, और सड़नेसे भी बचाता है, फिर मसालेका लेप लगा आँख आदि लगाके लाशको पद्मासन बैठी मूर्त्तिसा बना देते

हैं—पद्मासन तो प्राण छूटते ही बना देते हैं। लोग इस नमकका प्रसाद समझकर उपयोग करते हैं। चार साल बाद जब फिर मैं ल्हासा आया था, तो हाल हीमें मरे तेरहवें दलाईलामाका यह लवणप्रसाद बाँटा जा रहा था। मूढ़विश्वासके वारेमें मत कुछ पूछिये। हमारे सभ्य कहलानेवाले भारतीय भी तो धर्मके नामपर गुरुओंकी थूक और नहाये जलको ग्रहण कर अपनेको पुण्यवान् समझते हैं। विवेकानन्दके प्रशंसकोंने यहाँतक लिख दिया है कि वह एक बार रामकृष्ण परमहंसके कफ़ (थूक, खखार) भरे बरतन (उगालदान)को गुरु-श्रद्धाके मारे उठाकर पी गये! फिर यदि तिब्बतके कुछ भोलेभाले भगत अपने अवतारी लामोंके मूत्र-पुरीषका चरणामृत बनाते हों, तो इसकेलिए वहुत आश्चर्य नहीं है।

दलाईलामाका मृत शव एक बड़े स्तूपमें रखा जाता है, और उसके साथ-साथ लामा की बहुतसी प्रिय वस्तुएँ,—हीरा, मोती, रत्न-जड़े प्याले, हस्तलिखित पुस्तकें और न जाने क्या क्या डाल दी जाती हैं। स्तूपके बाहर भी कितनी ही कीमती चीजोंसे उसे सजाया जाता है। पाँचवा दलाईलामा ही पहिला शासक था, उससे लेकर आगेके सभी दलाईलामाओंकी समाधियोंपर बड़े स्तूप बने हुए हैं। उनकी पूजा और पहरेदारीकेलिए एक भिक्षु अफ़सर और कितने ही सहायक रहते हैं। उक्त अफ़सरने कितने ही महीनोंसे सातवें दलाईलामाकी समाधिके मोती, फ़ीरोज़े आदि बेचने शुरू किये थे, जब बदली होनेका वक्त क़रीब आया, तो वह वहाँसे भाग गया। साल या अधिकसे कन्-छी लम्-मर (एक सुन्दरी)के साथ वह बड़े मौजसे रहता था। किसीने सन्देह नहीं किया, कि उसके पास इतना पैसा कहाँसे आता है। उसने ज्यादातर माल नेपाली सौदागरोंके हाथ बेचा था और वह अवतक अधिकतर जवाहिरात तिब्बतसे बाहर निकाल चुके थे। ख़ैर, चोरी तो की, लेकिन उसमें उतनी अक़ल नहीं थी। दक्खिन (हिन्दुस्तान) भागनेकी जगह वह उत्तरकी ओर भगा। किसी पहाड़में दो-तीन दिनतक छिपा रहा, फिर भूख लगी, तो बस्तीमें खाना लेने आया और पकड़ लिया गया। वह और कन्-छी लम्-मर दोनों पकड़े हुए पोतलाकी हवालातमें गये, और तब उनपर खूब मार पड़ी। उन्होंने सबका नाम बतला दिया और जिन-जिनने माल ख़रीदा था, सब पकड़े जाने लगे। नेपाली प्रजाकी ज़िम्मेदारी नेपाली राजदूतने ली। हमारे सामने मोतीरतन रहते थे, उन्होंने भी दोनोंको एक रात-दिन अपने घरमें छिपाया और एक बड़े बकसमें बन्द करके रखा था। सब पकड़े गये।

२४ जनवरीको अखबारोंसे मालूम हुआ कि श्री मज़हरुलहक़का देहान्त हो गया। उनके नामके साथ 'मौलाना' लगानेमें मुझे संकोच होता है, क्योंकि वह जितने महान

थे, उसकेलिए यह उपनाम बिल्कुल तुच्छ है। उतने सीधे-सादे, सच्चे, निर्भीक निष्पक्ष त्यागी व्यक्ति दुनियामें बहुत दुर्लभ हैं। मैंने उन्हें नजदीकसे देखा था। एक मरतबे उन्होंने अपने "आशियाना"में रहनेकेलिए आग्रह किया था, किन्तु उड़ती चिड़ियाकेलिए आशियाना भी पिंजड़ा है। मुझे हक़ साहबके प्रति अटूट श्रद्धा थी। किसी समय काफ़ी दिनोंतक उनके साथ रहनेकी मेरी इच्छा कभी पूरी न हुई। मृत्युकी ख़बर सुनकर मुझे बड़ा अफ़सोस हुआ। मैंने उस दिन अपनी डायरीमें लिखा, कि छपरामें उनकी स्मृतिमें एक हक़ कालेज खोला जाय। १९३०में छपरामें कालिजकी बात बहुत दूर थी। पीछे कालिज तो खुला, लेकिन हक़ कालेज नहीं, राजेन्द्र कालेज। राजेन्द्र बाबू भी विहारके एक अद्वितीय रत्न हैं, इसलिए उनके नामसे कालेज खोलकर लोगोंने अच्छा ही किया, मगर मुझे डर है कि लोग धीरे-धीरे अपने इस अद्वितीय देशभक्तको कहीं भूल न जायँ। छपरा-डिस्ट्रिक्टबोर्डको अपने हाथमें लेकर हक़ साहबने वहाँ शिक्षामें कायापलट कर दी। छपरावालोंको हमेशा याद रखना पड़ेगा, कि गाँवोंमें शिक्षा-प्रसारकेलिए सबसे प्रथम सबसे बड़ा काम हक़ साहबने किया है।

शो-गङ् जेनरलका परिवार तिब्बतके सबसे धनी रईसों हीमें नहीं है, बल्कि बहुत सम्माननीय भी है। तिब्बतके रईसोंकी आठ श्रेणियाँ हैं, जिनमें ऊपरवाले चार अपने केशको आभूषणके साथ चाँदपर बाँधते हैं। पाँचवीं-छठवीं श्रेणीवाले भी अपने केशोंके ऊपर बाँधते हैं, किन्तु वहाँ आभूषण नहीं होता। सातवीं-आठवीं श्रेणीके रईस चोटी गूँथकर उसे पीठपर लटकाते हैं, साथ ही उसमें आभूषण भी लगाते हैं। प्रथम तीन श्रेणीके अमीरोंकी स्त्रियाँ ल्हाचम-कुशो कही जाती हैं और बाकी की चामकुशो। शो-गङ जनरल प्रथम श्रेणीके अमीर हैं। तिब्बतमें स्त्रियोंका कितना अधिकार है, इसका अच्छा उदाहरण शो-गङ जनरलकी जीवनी है। जनरल कहनेसे यह न समझें, कि पुराने सैनिक-साइंसके भी वह बड़े भारी पंडित थे। बड़े घरके होनेसे वह जनरल बन गए थे। जनरल साहबने दार्जिलिङ (दोर्जे लिङ) से गई एक तरुणीको अपना दिल दे डाला। मैंने उनकी प्रेयसीको नहीं देखा, लेकिन ल्हाचम्को कई बार देखा। मैं नहीं समझता, वह तरुणी ल्हाचम्से ज्यादा सुन्दरी होगी। घरमें रहनेवाला उनका कोई भाई भी नहीं था, कि जिससे अपनी अलग स्त्री रखनेका लोभ होता। ल्हाचम्ने जब वैसा रंग ढंग देखा, तो पतिको महलसे निकाल बाहर कर दिया। बेचारे जनरल किराएके एक छोटेसे मकानमें रहते थे। ल्हाचम् सत्तू-मक्खन जो कुछ भिजवा देती थी,

उसीपर गुजारा करते थे। जब कभी कपड़ा बनवानेकी ज़रूरत होती, तो पहिले पता लगवा लेते, कि ल्हाचम् महलकी खिड़कीपर बैठी हैं या नहीं, और फिर अपने फटे-पुराने कपड़ेको पहिने बहुत धीरे-धीरे सामने सड़कसे निकलते। ल्हाचम् सच-मुच ही बहुत दयालु स्त्री थीं, और वह उनके पास कपड़ा-लत्ता भिजवा देतीं। शो-गङ् देपोन (देपोन-सेनापति) की यह घटना सर्वसाधारणको इतनी आकर्षक मालूम हुई, कि किसी अज्ञात कविने गीत बना डाले और चन्द ही दिनोंमें लड़के उस गीतको गलियोंमें गाते फिरते थे। बहुत दिनों तक वह गीत लोगोंका प्रिय गीत बना रहा। शो-गङके नौकरने एक-दो बार मुझसे भी आकर कहा था कि जरनैल आपसे मिलना चाहते हैं। मैंने समझा, कोई जोतिस-ज्ञोतिसकी बात पूछेंगे, इसलिए नहीं जा सका।

६ फर्वरीको ल्हासामें पहली हिमवृष्टि हुई, लेकिन वह हलकी-सी थी। पीछे एक दिन सोलह अंगुल मोटी बर्फ पड़ी थी, किन्तु दोपहर तक गल गई। ल्हासा शहरके बीचो-बीच तिब्बतका सबसे पुराना बुद्ध-मन्दिर जोखङ है, यह सातवीं शताब्दीके मध्यमें बना था। मैं वहाँ अनेक बार दर्शन करने गया था। वह एक पवित्र स्थान ही नहीं, बल्कि तेरह शताब्दियोंकी मूर्ति-कलाका एक सुन्दर संग्रहालय है। जोखङके दरवाजेके बाहर एक सूखा हुआ पुराना पेड़ है, कहते हैं कि यह उसी समयका पेड़ है, जब मंदिर बना था।

पहिली मार्च (माघ सुदी परवा) को तिब्बती नववर्षका प्रथम दिन था। नववर्षके प्रथम दिनसे एक महीने तक ल्हासाका राज दलाई लामा छोड़ देते हैं, और उनकी जगह डे-पुङ विहारके निर्वाचित भिक्षु राज करते हैं। मैं बतला चुका हूँ, कि प्रथम महंतराज पाँचवें दलाई-लामा डे-पुङके एक महंत (खनपो) थे। शायद उसी स्मृतिमें यह राज्य डे-पुङ विहारकी ओरसे होता रहा। पाँचवें दलाई लामा बौद्धभिक्षु और अच्छे पंडित थे। हो सकता है, उन्होंने व्यक्तिकी जगह भिक्षुओंके संघकी ओरसे एक महीने राज करनेकी प्रथाको चलाकर संघके राजकी खूबी दिखलानी चाही हो। यदि यह बात सोची हो, तो नतीजा बिलकुल उल्टा हुआ है। राज करनेके लिए भिक्षु अपने-अपने चुनावके लिए खूब रिश्वत देते हैं। जुर्माना और दूसरी तरहसे एक महीनेमें काफ़ी आमदनी करते हैं। और फिर इन अधिकारियोंके चुननेमें कुछ मुट्ठीभर खुशामदी दरबारियोंका हाथ होता है। इतना ज़रूर होता है, कि एक महीनेके लिये ल्हासाका फैला हुआ शरीर खूब चुस्त हो जाता है।

दो मार्चको नये शासक घोड़ेपर चढ़े डे-पुङसे ल्हासा पहुँचे। दो बजे चौरस्तेपर

उनके शासनकी घोषणा की गई। जोखङ ही उनकी कचहरी और बेंत मारने आदिका स्थान है। जान पड़ता है, शासक चुननेमें डील-डौल और क़दका भी ख्याल किया जाता है। शासक और अनुशासक दोनों ही बहुत लम्बे-चौड़े थे। ऊपरसे जाकटके भीतर कन्धेपर कपड़ेकी मोटी तह रखकर उन्हें और विशालकाय मल्ल बना दिया गया था। आगे-पीछे खूब मोटे-तगड़े भिक्षु अरदलीकी ड्यूटी बजा रहे थे। अरदलियोंके हाथमें छोटा डंडा या तलवार नहीं, बल्कि पाँच इंच गोलाईका एक चार हाथ लंबा और दूसरा उससे कुछ कम मोटा तथा दो हाथका डंडा—या पेड़की डाली थी। सभी चीजें दर्शकके दिलमें भय-संचार करनेके लिये थीं। शासक अनुशासक सड़कपर चलते, तो उनके अनुचर बड़े जोरसे चिल्लाकर बोलते—"फा-क्यु-क्ये ! पी क्ये मा शमो !" (हटो रे, टोपी उतारो रे)। उनके कहनेकी ज़रूरत नहीं थी। लोग पहिले हीसे सड़क छोड़कर भाग जाते थे। कोई खड़ा रहा, तो वह बहुत पहलेसे टोपीको उतारे रहता था। वैसे ल्हासाकी सड़कोंको साफ़ करनेकी किसीको परवाह नहीं होती, न कोई म्यूनि१पैल्टीका ही इंतजाम है। इस महीनेभरके राजकी कुछ न पूछो, लोग दिनमें दो-दो बार अपने सामनेकी सड़कें बुहार रखते थे, इतना ही नहीं, सफ़ेद मिट्टीसे चौक पूरते थे। महीनेभर तक घोड़ोंके गरदनमें घंटी नहीं बाँधी जा सकती। डे-पुङ्, सेरा, गन्दन तथा दूसरे मठोंसे बीस-पच्चीस हज़ार भिक्षु ल्हासा शहरमें आकर जमा हो जाते। उनकेलिये पानी भी तो पर्याप्त नहीं होता। लेकिन हरेक कुएँको चौथाई पानी निकालकर जोखङके रसोईघरमें भेजना पड़ता था। पानी जल्दी सूख सकता था; इसके लिये शहरसे पच्छिम तरफ़ बहती नहरका पानी ल्हासाके सभी गड़होंमें भर दिया जाता। ये गड़हे ११ महीने तक पाखानेका काम देते हैं। आस-पासका कूड़ा-करकट इन्हींमें फेंका जाता है। मरे कुत्तों, बिल्लियोंके यही श्मशान हैं। पानी भर देनेसे कैसा माजूम तैयार होता है, यह आप खुद अनुमान कर सकते हैं। यही खैरियत है, कि ल्हासा ११–१२ हज़ार फीट ऊँचाई पर बसा है, ठंडा है, उसपरसे यह माघ पूसका महीना होता है; नहीं तो हैज़ा हर साल ही होता। लोग भी ठंडा पानी पीनेकी जगह उसे गरम चायके रूपमें पीते हैं। नैपाली छोड़ दूसरे दूकानदारोंको "नई सरकार" को पैसा देकर लैसंसका-काग़ज़ लेना पड़ता है। मार-पीट या कोई दूसरा मुक़दमा कचहरीमें जाता है, तो न्यायाधीश जेल या बेंतकी सज़ा कम देते हैं, बड़े-बड़े जुरमाने ही करना चाहते हैं—उसीमें फ़ायदा भी तो है। महीनेभर जोखङमें खूब पूजा होती है। भिक्षु तीन-तीन बार दर्शन करने जाते हैं। मुँहमें कपड़ा बाँधे पचासों परोसनेवाले टोटीदार बर्तनोंमें चाय लिए तैयार रहते हैं।

६ मार्चको दलाईलामा जलूसके साथ शहरमें पधारने वाले थे। पता लगा, दो मंगोल भक्तोंने इसके लिए लामाको बड़ी भेंट चढ़ाई थी। मैंने एक बार दलाई लामाको लीला देखते हुए पोतलामें देखा था, उस दिन उनके जुलूसको देखा। सबेरे ७ बजेसे पहिले लोग अपनी-अपनी देखनेकी जगहपर खड़े हो गए। फिर कोई सड़क भी आर-पार नहीं कर सकता था। पहिले मंत्रियोंके परिचारक गोल तवेसे लटकती लाल भालरोंवाली टोपी पहने चल रहे थे। उनके बाद गृहस्थ-राजमंत्री थे, तब भिक्षु-अफसर, फिर गृहस्थ-अफसर, फिर नागरिक वेषमें प्रधान सेनापति, तब छारोङ भूतपूर्व मंत्री सैनिक वेषमें, फिर दो जनरल, फिर सेनापतिके वेषमें लेदन-ला। तब दलाई लामाकी डोली चारों ओर रेशमी पर्देसे ढँकी चल रही थी, पीछे चलनेवाले अनुचरोंमें कितने ही मंगोल भेषमें थे, कुछ चीनी और कुछ नैपाली वेषमें भी थे।

सप्ताह भर राज करते हो गये, ल्हासाकी आबादी भी दूनीसे ज्यादा हो गई और स्वास्थ्य सफाईका कोई इंतजाम नहीं, फिर थोड़ी-बहुत भी बीमारी न हो, यह कैसे हो सकता था? सड़कपर तो गंदगी नहीं थी, लेकिन घरोंके पिछवाड़ेकी गंदगी कैसे रोकी जाय—जब कि गंदा करनेवाले वही भिक्षु हैं, जो महीनाभरके लिये राजा बन गये हैं। स्वास्थ्य सफाई विभागका स्थान वहाँ लामा पुजारियोंने अपने हाथमें ले लिया था, और सड़कोंपर जगह-जगह मंत्र-जाप होते देखा जाता था। ९ मार्चकी रातको ३ अंगुल बरफ पड़ी। १०के सबेरेको तो छत, आंगन, सड़क, भूमि और पासके पहाड़ सभी सफ़ेद कपाससे ढँके जैसे मालूम होते थे। लोग सबेरेसे ही बरफको भाड़कर गलियोंमें फेंकने लगे; छतकी बरफको भी नीचे गिराने लगे, नहीं तो धूपसे पिघलनेपर मिट्टीकी छत फाड़कर वह नीचे चूने लगती है। दोपहर तक सारी बरफ गल गई।

अमावस्याको बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। आज सब जगह परिक्रमा (ल्हासाकी मूल सड़क वस्तुतः जोखङ्की परिक्रमा है) में खंभे गाड़े और सजाये जा रहे थे। फिर परदा करके लोग तरह-तरहकी मूर्तियाँ बनानेमें लगे हुये थे। राजमंत्री और सामन्तों, तथा भिन्न-भिन्न विहारोंमें होड़ लगी हुई थी। शामके वक्त पर्दे खोल दिये गये। रंग-बिरंगी पत्तियोंसे सजी सैकड़ों तरहकी सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ वहाँ सजाई हुई थीं और घीके दियोंसे चारों ओर जगमग-जगमग हो रहा था। पहिले सिपाही सड़कमें घूम-घूमकर देखते फिरे, फिर दर्शकोंकी भीड़ टूट पड़ी। प्रमुख लोग अपने-अपने प्रदर्शनके पास खड़े थे। उस साल रामोछे बिहारके भिक्षुओंका स्तूप और मूर्तियाँ सजावटोंमें सबसे सुन्दर मानी गईं। लोग तिनकोंका मशाल लेकर चल रहे थे। भीड़ होनेपर मोटे डंडेवाले लोगोंको मारकर हटाते थे। इक्की-दुक्की स्त्रियोंकी

खैरियत नहीं थी, ढावा पकड़कर उन्हें गलियोंकी ओर ले जाते थे। १२ बजे रात तक बड़ी भीड़ रही। नाच-गाना तो सारी रात और दूसरे दिन तक था। दूसरे दिन १५ मार्चको चैत बदी पड़वा थी। आज हीसे वस्तुतः नया वर्ष शुरू हो रहा था। लोग एक दूसरेसे मिलनेपर मंगल-गाथा पढ़ते थे। पहिले महीनेकी चौबीसवीं तिथितक भिक्षुराज्य रहता है। महीनेभर बाद फिर १२ दिनके लिये उन्हें राज करनेको मिलता है। २३ तारीखको बड़ा भारी जलूस निकला। पुराने युगके वेषमें सैनिक वर्मधारी सवार, धनुष और खड्ग लिये पैदल हज़ारोंकी तादादमें चल रहे थे, कितने ही सिरपर पंख सजाये पुरानी बंदूकोंको लेकर चल रहे थे। कहते हैं, आज हीके दिन मंगोल सरदारने तिब्बतको जीतकर उसे दलाई लामाको भेंट चढ़ाया था। २४ तारीखको बड़े सबेरे मैत्रेय बोधिसत्त्वकी रथयात्रा थी। आगे शंख-झाल लिये पीली टोपी और उत्तरासंग धारण किये भिक्षु चल रहे थे। फिर चमड़ेका बाजा बजाते कंचुकधारी पुरुष थे। उनके पीछे रथारुढ़ मैत्रेयकी प्रतिमा थी, जिसके पीछे दो हाथी चल रहे थे। तिब्बत-जैसी सर्द जगहमें हाथीका जीना बहुत मुश्किल है और उसका हिन्दुस्तानसे लाना और भी। लेकिन बचपन ही में यह हाथी पहाड़ पार करा लिये जाते हैं। जाड़ोंमें उनके घरको गरम रखनेकी कोशिश की जाती है। आज ही भिक्षुओंका राज खतम हुआ और दलाई लामाने फिर राजको अपने हाथमें लिया। २५ मार्चको सबेरेसे दोपहर तक हिमवर्षा होती रही और धरतीपर १६ अंगुल बर्फ जम गई। बर्फके कारण सर्दी भी बहुत बढ़ गई थी। उस दिन घुड़दौड़ और वाणवेधका तमाशा हुआ। २८ मार्चको गर्मी खतम मालूम हो रही थी। अब पोस्तीन पहनकर चलना मुश्किल था।

सम्येकी यात्रा—आनंदजीका तार पाते ही यह तो निश्चय कर लिया था, कि अब मुझे लंका लौटके जाना है, इसलिए हर तरहकी पुस्तकोंको मैं खरीदने लगा। कुछ अच्छी-अच्छी तसवीरें भी खरीदीं। ३० मार्चको पता लगा कि सैनिक हटा लिये गये। अब रास्ता खुल गया था। मैंने मंगोल-भिक्षु धर्मकीर्ति (छोइडक)को कहा। वह साथ चलनेके लिये तैयार थे। मैंने तिब्बतके सबसे पुराने बुद्धमंदिरको तो देख लिया। लेकिन सबसे पुराने मठ (सम्ये)का दर्शन करना भी ज़रुरी था। ५ अप्रैलको मध्यान्हके समय हम ल्हासावाली नदीसे चमड़ेकी नावपर रवाना हुए। ४ बजेसे हवा बहु तेज हो गई। रातको नदीके बगलके मन्डो गाँवमें ठहरे। हमारी नावपर एक ५० सालकी बुढ़िया और उसका २४,२५ सालका पति भी चल रहा था। यहाँ मैंने पूछनेमें गलती की, लेकिन धर्मकीर्तिने ठीक कर लिया। तरुण ओझा था,

उसके सिरपर देवता आया करता था। मौसिम साफ बदला दिखाई देता था। वृक्षोंपर पत्तियाँ कोपलकी शकलमें निकल आई थीं। एक रात और हमें रास्तेमें ठहरना पड़ा। ७ ता० को सबेरे हम ब्रह्मपुत्रमें पहुँच गये। अब हम ल्होखा-प्रदेशमें थे। चाङ् प्रदेशकी स्त्रियाँ सिरमें धनुषको आभूषण बनाके पहिनती हैं। उइ (मध्य)-प्रदेश यानी ल्हासाकी औरतें एक बड़ा त्रिकोणाकार शिरोभूषण धारण करती हैं। ल्होखामें आधा उल्टा कंटोप उनका शिरोभूषण है।

मध्याह्नको हम कनेनुम्बा नामक ६,७ घर वाले छोटेसे गाँवमें पहुँचे। तिब्बतकी नदियोंमें मछलियाँ, काफ़ी होती हैं। तिब्बती लोग मछली और चिड़ियाके मांसको खाना बुरा समझते हैं, लेकिन इस गाँवमेंका तो, मालूम होता था, मछलीका व्यापार है। डेढ़-डेढ़ दो-दो सेरकी मछलियाँ सुखाई जा रही थीं। हमने भी दो मछलियाँ उबलवाकर मँगाई, लेकिन उनमें मोटे काँटोंके अतिरिक्त बाल-जैसे बारीक काँटे सब जगह भरे पड़े थे। खाना मुश्किल था और स्वाद भी कुछ नहीं था। हमने समझा था, थोड़ी देर विश्राम करके चल देंगे, लेकिन बुढ़ियाके पतिके ऊपर देवता आने लगा। उस दिन देवता चढ़ा रहा और ८ अप्रैलको भी दोपहर तक भूत-खेलाई जारी रही। हमारे मल्लाह और गाँव वालोंके लिये वह दलाई लामासे कम नहीं था। अनाज, पट्टू और क्या-क्या चीजें उसे उपहारमें मिलीं। हमने अपने भाग्यको सराहा, जब हमारी नाव आगे चली। उस दिन ७ बजे हम ब्रह्मपुत्रके किनारे "सो-नम्-फुन-सुम" नामक शिलाके पास पहुँचे। वहाँ छोटी-बड़ी तीन चट्टानें हैं, जिनमें दोको माता-पिता और एकको पुत्र कहा जाता है। ८ बजे हम "डक्-छेन-फुर-बु" शिलाके पास रातके विश्रामके लिये उतर पड़े। यह चट्टान ब्रह्मपुत्रके बीचमें हैं और १०० हाथ ऊँची त्रिकोणके शकलकी। कहते हैं, जब सम्‌ये-विहार बना, तो चित्रपट टाँगनेके लिये इसी शिलाको भारतसे लाया गया। लाने वालेने ग़लतीसे यहाँ रख दिया और तबसे वह यहीं है। दूसरे दिन मध्याह्नमें हम जम्-लिङ घाटपर उतरे। ब्रह्मपुत्रसे दाहिने कुछ दूर हटकर यहाँ एक बड़ा स्तूप है, जो नैपालके महाबौद्धासे बहुत मिलता जुलता है। वहाँसे परलेपार हम नाववाले गाँवमें पहुँच गये। गाँवमें आदमी नहीं मिला, इस-लिये जो कुछ थोड़ा बहुत सामान था, उसे हम लिये दिये पैदल ही सम्-येकी ओर चल पड़े। सम्-ये यहाँसे चार मीलसे ज्यादा नहीं था। कुछ दूर जानेपर पत्थर काटकर बने पुराने स्तूप मिले। आखिर हम सम्-ये पहुँच गये। सम्-येको नालंदाके आचार्य शान्त-रक्षितने आठवीं सदीमें उडन्तपुरी विहारके नमूनेपर बनवाया था। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक तिब्बतके विहार (मठ) समतल भूमिपर बना करते थे, पीछे तो दुर्गम

पर्वत-स्कंधोंको लोगोंने विहारके लिये सबसे अनुकूल स्थान समझा। सम्-ये समतल भूमिपर बना हुआ है। चारों ओर चहार दीवारी, जिसके भीतर चारों कोनोंपर चार पक्की ईटोंके छत्रधारी चार स्तूप हैं। बीचमें प्रधान देवालय है। विहारका मुख्य दरवाजा पूर्वकी ओर है। हमलोग पच्छिम दरवाजेसे घुसे और पहिले ही शिकमके विद्वान भिक्षु 'उ-र्ग्येन कुशो'' से भेंट हुई। उनसे पूछा-पेखी हुई, फिर मिलनेकी बात कहकर हम लोग पहिलेसे निश्चित किये स्थानमें चले गये।

उस दिन तो हम कहीं नहीं आये-गये। दूसरे दिन दर्शनके लिये निकले। पहले प्रधान मंदिरमें गये। यह लकड़ीकी तीन-तला इमारत है। बीचमें किसी वक्त सम्-ये जल गया था, इसलिये यही वह मंदिर नहीं हो सकता। मंदिरमें मुख्य मूर्ति बुद्धकी है। विहारके निर्माता और भारतके प्रचंड दार्शनिक आचार्य शांतरक्षित, उनके शिष्य भोटभिक्षु वैरोचन और आचार्यके गृहस्थ-शिष्य सम्राट् "ठि-स्रोङ"-की भी मूर्तियाँ हैं। आचार्य ७० वर्षसे अधिक उम्रमें तिब्बत गये थे और उनका देहांत यहीं सम्-येमें ही हुआ। आचार्यकी मूर्तिके मुँहमें एक दाँत बचा हुआ दिखलाई देता है। सबसे अधिक प्रभावित मैं तब हुआ, जब मैंने अपनी आँखोंके सामने शीशेके भीतर आचार्य शांतरक्षितका कपाल देखा। वही कपाल, जिसके भीतरसे "तत्त्वसंग्रह" जैसा महान् दार्शनिक ग्रन्थ निकला। मैं कुछ देर तन्मय होकर उस ओर देखता रहा। आचार्यके देहान्त होनेके बाद उनके शरीरको पूरबवाली पहाड़ीके ऊपर एक स्तूपमें रखा गया था। कुछ ही साल पहले जीर्ण-शीर्ण हो वह स्तूप गिर गया और आचार्यकी हड्डियाँ बिखर गईं। उन्हींको लाकर लोगोंने यहाँ रख दिया। मुख्य मंदिरके अतिरिक्त बारह और मंदिर तथा निवास हैं। इन मंदिरोंको लिङ्-द्वीप कहते हैं। ग्य-गर लिङ् (भारतद्वीप) वही स्थान है, जहाँ रहकर कितने ही भारतीय पंडितोंने संस्कृत पुस्तकोंका भोटभाषामें अनुवाद किया था। ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें सम्येमें संस्कृत पुस्तकोंका कितना विशाल संग्रह था, यह इसीसे मालूम होगा, कि भारतीय पंडित दीपङ्कर श्रीज्ञानने उसे देखकर कहा था—यहाँ कितनी ऐसी पुस्तकें हैं, जो विक्रमशिलामें भी नहीं मिलतीं। आज वहाँ कोई संस्कृतकी पुस्तक नहीं सुननेमें आई। दीपङ्कर श्रीज्ञानके देहांतके कुछ समय बाद सम्-येमें आग लगी। फिर रा-लो च वा (बारहवीं सदी) ने उसे नए सिरेसे बनवाया। संभव है, उसी आगमें बहुत-सी पुस्तकें जल गई हों। यह भी हो सकता है कि कुछ पुस्तकें स्तूपों और मूर्तियोंके भीतर अब भी सुरक्षित हों।

हम दोनों उर्गेन् कुशोके पास भी गए। वह भोटियाके पंडित तो थे ही, साथ ही

चान्द्र व्याकरणके सारे सूत्र उन्हें कंठस्थ थे। लेकिन संस्कृत-भाषाका ज्ञान कुछ भी नहीं रखते थे। मैं दो-चार दिन और रहना चाहता था, लेकिन तिब्बती सरकारने चाँदीके सिक्कोंको हटाकर सिर्फ ताँबेके सिक्के रख छोड़े थे, जिनका दाम बहुत गिर गया था, कितना ताँबा बाँधकर साथ ले चलते। फिर यहाँ हमें कितने ही चित्रपट और हाथकी लिखी भोटिया पुस्तकें मिल रहीं थीं। हमने २५ चित्रपट और एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक "पद्म-क-थङ्" खरीद लिया था। अब और ज्यादा पैसे रह नहीं गए थे। छु-शिङ्शासे हम उनके एक भोटिया दोस्तके नाम पैसेकेलिए चिट्ठी लाए थे, लेकिन वह इस वक्त यहाँ मौजूद नहीं थे। उर्गेन् कुशोकी मेहरबानीसे दो घोड़े किराये पर ले हम कुछ दूर निकल गए थे, तब चिट्ठीवाले सज्जन मिले। उनका घर आगे "हङ्गो-चङ्-गङ्" गाँवमें था। गाँवसे कुछ पहले ही हमने एक छोटा-सा मकान देखा, यही वह जगह है जहाँ तिब्बतके अशोक, सम्राट् "ठि स्रोङ्" पैदा हुए थे।

यद्यपि हम दोही आदमी थे, घोड़ेपर सवार और कपड़े-लत्तेसे भी अच्छे, इसलिए देखनेवाला समझ सकता था कि यह पैसेवाले आदमी हैं। रास्ते भी सुनसान और आगेका डाँड़ा तो और भयंकर तथा खतरनाक था। लेकिन हमें अब आत्मविश्वास ज्यादा था। धर्मकीर्ति भी भिक्षुके वेषमें होनेपर भी अपने पूर्वज चंगेजखाँके एक मंगोल सैनिककी तरह हट्टे-कट्टे थे। ऊपरसे हमलोगोंके पास भरे हुए पिस्तौल थे।

१२ तारीखको सूर्योदयके पहिले ही दोनों घुड़सवार गाँवसे निकल पड़े। इधरके पहाड़ोंमें कुछ छोटे-छोटे जंगली वृक्ष भी दिखाई दिये। ल्हासाकी अपेक्षा सम्-ये और उसके पासकी भूमि ज्यादा गरम है, ब्रह्मपुत्रके कारण उपत्यका भी बहुत चौड़ी। यहाँ बीरी और सफ़ेदा ही नहीं, अखरोटके भी वृक्ष होते हैं। तिब्बती लोगोंको शौक नहीं है, नहीं तो यहाँ सेब, अंगूरके भी अच्छे बाग लग सकते हैं। अब हम डाँडेकी ओर जा रहे थे। ऊपर सर्दी ज्यादा थी। एकाध जगह कुछ बर्फ दिखाई पड़ी। चढ़ाई उतनी कड़ी नहीं थी, लेकिन उतराई ज्यादा मुश्किल थी। उतराईमें हमलोग घोड़ोंसे उतर गये। रास्तेमें देखा एक गदहा मर रहा था, और उसकी मालकिन बैठी रो रही थी। उतराईमें दूर तक बरफ ही बरफपर चलना पड़ा। रास्तेमें एक जगह हमने चाय पी और सात बजे ल्हासावाली नदी (उइ छू) के बाँये किनारेपर अवस्थित "दे-छेन् जोङ्" गाँवमें पहुँचे।

गन्दन्की यात्रा—गे-लुग्-पा संप्रदायके संस्थापक चोङखा-पाने जिस विहारको स्थापित किया था, जहाँ अब भी तिब्बतका वह अद्वितीय पंडित अनंत निद्रामें लीन है; दलाई लामाके वैभवके बढ़ जानेपर भी उनके गे-लुग्-पा संप्रदायकी गद्दी जहाँपर है,

और जो भिक्षु-संख्यामें तिब्बतका तृतीय विहार है; उस गन्दन् (स्था० १४०५ ई०)का दर्शन करना मेरे लिये जरुरी था। वह यहाँसे बहुत दूर भी नहीं था। कोशिश करनेपर भी सिर्फ एक घोड़ा मिल सका और धर्मकीर्तिको पैदल ही चलना पड़ा। १३ तारीखको कुछ घंटोंके सफरके बाद पहाड़की रीढ़पर बसे गन्दन्-विहारमें पहुँच गये। पहाड़की जड़से ही चढ़ाई कड़ी है, ऊपर पानी भी नहीं है। सबको पानी नीचेसे ढोके ले जाना पड़ता है। इन विहारोंके संस्थापक न जाने किस धुनमें रहते थे और लोगोंके कष्टका ख्याल नहीं करते थे। अजन्ता, कार्ले, कनेरी, किसी पुराने बौद्ध विहारको देखिये, विहार बनाने वालोंने पानीकी ओर सबसे पहले ध्यान दिया। कनेरीमें कोई चश्मा या जलाशय नहीं, लेकिन पहाड़ काटकर बने घरोंके नीचे बड़े-बड़े चहबच्चे खुदे हैं, और बरसातके पानीको जमा करनेके लिये नालियाँ बनी हैं, कि सालभर पानी खतम नहीं होता। बंबईके पास कनेरीकी गुफाओंके भिक्षुओंको खतम हुये आज छः-सातसौ वर्ष हो गये, लेकिन कदम-कदमपर मौजूद शीतल निर्मल जलके इन चहबच्चोंसे प्यास बुझा यात्री आज भी बनानेवालोंकी बुद्धिमानीकी सराहना करते हैं। चोङ-खापाने समझदार होकर ऐसी गलती क्यों की। गन्दन्में पहले मंगोल भिक्षु ज्यादा रहा करते थे, लेकिन अब उनकी संख्या बहुत कम है।

जिस स्तूपमें चोङ-खपा (१३५७-१४१९ ई०)का शरीर है, उसके ऊपर किसी मंगोल-राजाका दिया तंबू तना है। जिस कोठरीमें चोङ-खपा रहता था, वह भी सुरक्षित है। ५०० साल पहले उसने अपने हाथोंसे जिन पुस्तकोंको लिखा था, वह भी एक संदूकमें बन्द करके रखी हैं। चाँदी-सोनेके चढ़ावोंके बारेमें कुछ कहनेकी जरुरत नहीं। नीचे १०८ खंभोंका विशाल उपोसथागार (संघशाला) है। यहीं चोङ-खपाका सिंहासन है। उस समय पूजा हो रही थी। रंगीन आटेके चित्र-विचित्र मंडल (फुलवारीवाले चौक) बने हुए थे। एक तरफ हवनवेदी थी, किसी मूर्तिकारने वर्त्तमान (तेरहवें) दलाई-लामाकी बड़ी मूर्ति बनाकर रखी थी। भीतर जानेकेलिए जूता ले जानेका निषेध था—तिब्बतमें शायद यह एक ही ऐसी जगह थी। गन्दन्में एक डसङ (कालिज) है, जिसमें तीन खनपो और ३ हजार भिक्षु रहते हैं। खनपोलोगोंका काम अधिकतर प्रबंध देखना है, पढ़ानेका काम ग्येर-ग्येन् करते हैं। हमलोग मंगोलोंके खम्जन्में ठहरे। वहाँका ग्यर-ग्येन् मंगोल-विजेता गुश्री खाँ—जिसने १६४२ ई०में सारे तिब्बतको जीतकर दलाई लामाको प्रदान किया था—के वंशज थे।

दूसरे दिन घंटाभर दिन चढ़नेके बाद हमलोगोंने अस्थान किया। हम ल्हासा

जानेवाले चार थे, दूसरे दोमें एक मंगोल और दूसरी खम्-मो (खम्-प्रदेशकी स्त्री) थे। हमें दे-छेन्-ज़ोङसे चमड़ेकी नावपर ल्हासा जाना था। हम सीधे मलाहके घरपर गए, बहुत गरीबका घर था, तो भी वहाँ पाँच-सात मिट्टीकी सुन्दर मूर्तियाँ और तीन-चार चित्रपट टँगे हुए थे। ४ साँग (प्रायः २ रुपया) पर हमने नाव की, १५ अप्रैलको घड़ीभर दिन चढ़े नाव नीचेकी ओर चली। नदीके दोनों तरफ थोड़ी-थोड़ी दूरपर कितने ही गाँव थे। दोपहरको हम ल्हासा पहुँचे। अब जाड़ा बिल्कुल खतम होगया था।

ल्हासामें—जिस वक़्त तिब्बतमें चाँदीका सिक्का (टंका) चलता था, उस वक़्त हिन्दुस्तानी रुपएका तीन टंका होता था। भोटिया-सरकारने चाँदीके रुपएको खींचकर सिर्फ ताँबेका सिक्का रहने दिया, और अब दाम गिरते-गिरते रुपएका साढे १५ टंका हो गया था। चाँदीके आनेसे किस तरह सिक्केका दाम बढ़ जाता है, यह इसीसे मालूम होगा, कि जिस वक़्त रुपएकी दर ८ टंका थी, उसी वक़्त भूटानके राजाके मरनेपर पूजाके लिए एकलाख रुपया ल्हासा आया। उसके बाद ही रुपया ७ टंकेका होगया। मैं जिस वक़्त ल्हासा पहुँचा था, उस वक़्त रुपया ६ टंकेका था। रास्ता बन्द होने-पर १२ टंकाका होके रुका रहा। सुलहकी खबर आनेपर १३½ टंका हो गया, और आज वह साढ़े १५ टंका था। व्यापारी लोग हिन्दुस्तानी रुपया भुनाना चाहते थे और वह मिलता नहीं था।

व्यापारी रो रहे थे। मेरे नेपाली दोस्त पूछते थे—अभी भोटिया सिक्का और कितना नीचे गिरेगा ? मैंने कहा—शोगाङके ताँबेके दामतक। शोगाङ करीब-करीब हमारे पैसेके बराबर था और १½ शोगङ एक टंकेके बराबर है।

अब मुझे भारतकेलिए रवाना होना था। पुस्तकें, चित्रपट और दूसरी चीजें बाँधकर १७, १८ खच्चरोंपर कलिम्-पोङ्को रवाना कर दिया। १८ अप्रैलको मैं फिर जोखङ्में दर्शन करनेकेलिए गया। सैकड़ों वर्षोंकी पुरानी होनेसे मूर्तियोंके ऊपरी प्लासतर कुछ बिगड़से गए हैं। यह अच्छा है, जो आज-कल लोग मरम्मतकी कोशिश नहीं कर रहे हैं। जोखङ्की प्रधान बुद्धमूर्तिके सामने दर्जनों सोने-चाँदीके दीपक अखंड जलते रहते हैं। सोनेके दीपकोंमें सबसे बड़ा ४०० तोले (पाँचसेरका) एक नेपाली उपासकने चढ़ाया था, पिछले साल भूटानके राजाने ७०० तोले सोनेका दीपक चढ़ाया, यह सबसे बड़ा दीपक है। यहाँके इन सोने-चाँदीके दीपकों और मणि-मुक्ताओंको देख मुझे साफ़ मालूम होने लगा, कि महमूद गजनवी और मुहम्मद बिन बख्तियार क्यों मंदिरोंकी ओर इतने आकृष्ट होते थे। महमूद और बख्तियारकेलिए

ही क्यों रोना रोवें ? ल्हासाके भीतर १८, १६ साल पहले "तं-ग्ये-लिङ्"का एक बहुत बड़ा विहार था। दलाईलामा और चीनियोंका झगड़ा १६०७ ई० के आस-पास जब हुआ और दलाईलामाको भागकर अंगरेजोंकी शरणमें दार्जिलिंग आना पड़ा, उस समय तिब्बतपर चीनी सीधे शासन करने लगे। तंग्ये-लिङके लामाका यही कसूर था, कि चीनी उसका बहुत सन्मान करते थे। १६११के बाद जब दलाईलामा फिर शासनसूत्र अपने हाथमें लेनेके लिए सफल हुए तो तं-ग्ये-लिङ् गुंबाको उन्होंने तोपसे उड़वा दिया और लामाको कुँएमें डुबाके मरवाया। लामाके साथ चाहे जो भी करते लेकिन गुंबा तो बुद्ध और बोधिसत्त्वोंके देवालयोंसे भरी थी, उसपर तोप लगाना क्या महमूदके हमलेसे कम था।

प्रस्थान—लंकाके तीन हज़ार रुपयोंमेंसे प्रायः दो हज़ारकी हमने चीज़ें खरीद ली थीं। कंजुर मिल गया था, लेकिन तंजुर नहीं मिला था, इसलिए हमें उसके छपवाने-केलिए नर-थङ् जाना ज़रूरी था। धर्मकीर्ति भी हमारे साथ लंका चलनेके लिए तैयार थे। हमलोग भाड़ेके खच्चरोंका भरोसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनको जगह-जगह बदलना पड़ता और मिलनेमें भारी अड़चन होती। इससे बचनेकेलिए हमने दो खच्चर खरीद लिए, जिसमें करीब ढाईसौ रुपये लगे। रास्तेकेलिए दो पिस्तौल भी ले लिए। चौबीस अप्रैलको ७॥ बजे सबेरे हम दोनोंने ल्हासा छोड़ा। दोपहर बाद ने-थङ् गाँवमें पहुँचे। इसके पास ही वह ऐतिहासिक तारामंदिर "डोल-मा-ल्ह-खङ्" जहाँपर भारतीय पंडित दीपंकर श्रीज्ञानने १७ वर्षतक तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रचार करनेके बाद १०५२ ई०में शरीर छोड़ा था। ठहरनेकी जगहसे मंदिर दो मीलपर है। हम दोनों वहाँ गए। लालचंदनके खुरदरे खंभे ही बतला देते हैं, कि मंदिर ६०० वर्षसे क्या कम होगा। यहाँ २१ तरहकी ताराओंकी मूर्तियाँ हैं। एक ओर एक बड़ा-सा पिंजड़ा है, जिसमें दीपंकरका भिक्षापात्र, खत्तर-दंड और ताँबेका धर्मकरक रखा हुआ है। भीतर ही कुछ अनाज और भक्तोंके फेंके चाँदीके सिक्के पड़े हुए हैं। सरकारी मुहर लगी हुई थी, इसलिए हम खुलवाके देख नहीं सकते थे।

२५ अप्रैलको हम फिर आगेकेलिए रवाना हुए (१६३० ई०)। अब खेत बोए जा रहे थे। नीचे छुशोरमें तो अंकुर भी जम आए थे। रातको हम छुशोरमें रहे। गृहस्वामिनीने हमारे आरामका बहुत ख्याल रखा। वह किसी चीनीकी स्त्री थीं। पति बहुत दिनोंसे बाहर चला गया था, लौटा नहीं। उन्होंने कहा कि जो हिन्दुस्तानमें कहीं मिले, तो उसे भेजनेकी कोशिश करेंगे।

२६को हम नावसे ब्रह्मपुत्र पार हो गए। ग्यान्ची जानेवाले तीन और सवार

आगए, अब हम पूरे पाँच सवार थे। पिछली बार जितने रास्तेको हमने दो-दो तीन-तीन दिनमें काटे थे, उसे हम एक-एक दिनमें पार हो रहे थे। हमारी खचरियाँ भी मज़बूत थीं। उसी दिन खंबाला पारकर रातको हम लुङ्गाँवमें ठहरे। २७को बड़े सबेरे फिर रवाना हुए। हवा तेज़ चल रही थी। सर्दी बहुत अधिक थी। रास्तेमें पानी जमा हुआ था, लेकिन महासरोवरमें नहीं। महासरोवरके किनारे-किनारे चलते साढ़े तीन बजे नगाचे पहुँचे। दूसरे दिन जरालाकी ओर रवाना हुए। पिछली बार जहाँ हमारे खच्चरवालोंने मुकाम किया था, वहाँ अब बहुत बर्फ़ थी। रास्तेमें हमें अच्छेसे अच्छे घरमें टिकनेको जगह मिलती थी। इसमें सिर्फ हमी दोनोंके खच्चर और पोशाकका प्रताप नहीं था, बल्कि हमारे तीन साथियोंका परिचय भी सहायक था। ल्हासासे चलकर छठें दिन हम दोपहरको ग्यान्ची पहुँच गए। अब मैं चोरकी तरह ग्यान्ची नहीं जा रहा था, कि ग्यान्चीके अंगरेजी किलेमें जानेसे डरता। अंगरेज इसे किला नहीं कहते, लेकिन तिब्बती और दूसरे लोग इसे किला ही कहते हैं। तिब्बती हथियारोंकेलिए यह काफी मजबूत है। पत्थरकी दीवारोंके भीतर, कहते हैं, फौलादकी मोटी-मोटी चादरें लगी हुई हैं। मशीन-गन और छोटीतोप भी है। सौके करीब सीखे हुए जाट सिपाही और उतने ही भूत-पूर्व गोरखा सिपाही खेतीका काम करते हुए रह रहे हैं। बेतारका भी इंतिजाम है। उस वक्त वहाँ ट्रेड-एजेन्ट, सहायक ट्रेड-एजेन्ट और डाक्टर तीन अंगरेज अफ़सर थे। किलेके भीतर ही डाकखाना और तारघर है। डाकमुंशी और तारबाबू मेरे नामसे अच्छी तरह परिचित थे, क्योंकि मेरी चिट्ठियाँ उन्हींके हाथसे होकर ल्हासा जाती थीं। ग्यानचीमें पलटनकी रसदके ठेकेदार एक मारवाड़ी सज्जन हैं, जिनके दो गुमाश्ते वहाँपर रहते हैं। भोटियालोग मारवाड़ियोंको "काइयाँ" कहते हैं। मारवाड़ी भाषाके "काइयाँ" (क्यों) शब्दको लेकर उन्होंने यह नाम दिया है।

पहिली मईको सूर्योदयके साथ ही हमने शिगर्चेका रास्ता पकड़ा। बादल घिर आया, बरफ पड़ने लगी, फिर कुहरेने चारों ओर अंधेरा कर दिया। हम रास्ता भूल गए, लेकिन हमें नदीके बाएँ-बाएँ जाना था और अपनी बाँई ओरके पहाड़को हम लाँघ नहीं सकते थे, इसलिए उम्मीद थी कि रास्तेसे बहुत दूर हटकर नहीं जाएँगे। आगे एक बड़े गाँवके बड़े घरमें चाय पीनेकेलिए ठहरे; साथमें अण्डे भी मिल गए। रास्तेमें एक दिन ठहरकर दूसरे दिन दोपहरको शिगर्चे पहुँच गए। हम ल्हासासे अपने साथ पैसे ढोकर नहीं ले आए थे, लेकिन एक खम्बा (खमदेशीय) सौदागरके नाम छु-शिङशा-की चिट्ठी थी। कुछ हिचकिचाके उसने रुपया देना स्वीकार किया। टशील्हुन्पोमें भी

सौ रुपयेकी पुस्तकें खरीदीं। ४०० रुपयेका काग़ज़-स्याही खरीद तंजूर छापनेकेलिए नरथङ् पहुँचाया। ८ अप्रैलको नरथङ्-विहारमें गए। यह ग्यारहवीं शताब्दीका पुराना विहार है। २०० भिक्षु रहते हैं। यद्यपि संस्कृतकी पुस्तकें यहाँ नहीं हैं, भारतकी लाई मूर्त्तियोंकी तरफ़ उस यात्रामें मेरा ध्यान नहीं गया था, लेकिन पीछे मैंने वहाँ कई भारतीय चित्रपट देखे। बोधगया मंदिरका पत्थरका नमूना भी वहाँपर मौजूद है, जिसे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीमें कोई गयासे बनवाके लाया था। हमारे काममें हमारे मेजबान मणिरत्नके साले भिक्षु धोलाने मदद की। धोला खचरा-नैपाली थे। नेपाली पिता और भोटिया माँके लड़केको खचरा कहा जाता है और लोग इसे बुरा नहीं मानते, शायद वह खचरा शब्दका अर्थ नहीं जानते या तिब्बतमें खच्चरको बुरा नहीं समझा जाता। उस वक्त भारतमें गाँधीजीका सत्याग्रह चल रहा था। उसकी खबर हिमालयके उस पार भी पहुँच गई थी। एक तिब्बती भिक्षु बड़ी गंभीरतासे कह रहा था—गाँधीजी लोबोन् रिन्-पो-छे (सिद्ध पद्म-संभव)के अवतार हैं। तिब्बतमें लोबोन्‌रिन्‌पोछे बुद्धसे भी ज्यादा सिद्ध और पूज्य समझे जाते हैं।

तंजूरके ऊपर १४०० साङ $\frac{(१४०० \times २०)}{३} \times$ १७ रु० लगे। कंजूर-तंजूर दोनोंपर २१-२२ सौ रुपए खर्च हुए।

१६ अप्रैलको जब मैं शिगर्चे हीमें था, तभी शलू विहारके रिंसुरलामाने "वज्रडाकतंत्र"की तालपत्रकी पुस्तक भेंट की। मैंने ल्हासामें अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता जैसी मुद्रित एक-दो पुस्तकोंके खंडित तालपत्र देखे थे, लेकिन यह दुर्लभ पुस्तक थी, और लिपिसे भी ग्यारहवीं शताब्दीसे पीछेकी नहीं मालूम होती थी।

मुझे अब सारी पुस्तकें और यहाँसे खरीदे चित्रपटोंको कलिम्पोङ रवाना करना था। फरी तकके गधे भी मिल गए थे। पुस्तकोंकी रक्षाकेलिए ज़रूरी था, कि उन्हें कपड़े और फिर चमड़ेसे लपेटकर भेजा जाय। मैंने शिगर्चेके कसाईको याक्के चमड़ोंकेलिए पैसा दिया। उसने याक्की जगह गायका चमड़ा भेजा। मैंने उसे बुलाकर जब शिकायत की, तो वह गुर्राने लगा। वैसे मुझे गुस्सा बहुत कम आता है, लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर आये, जब मैं अपनेपर संयम नहीं कर पाया। १७ मईको उस वक़्त ऐसे ही हुआ। मैं बहुत गुस्सेमें होगया और उसे धकेलकर बाहर कर दिया—मारा नहीं यह सच है।

यद्यपि ल्हासामें लड़ाईका बुखार उतर गया था, लेकिन शिगर्चेमें उसकी गर्मी कम

नहीं हुई थी। नेपालियोंके आने-जानेका रास्ता नहीं खुला था। गाँवके जवानोंका अब भी सेनाकेलिए नाम लिखा और उनके हाथोंमें पैसा बाँधा जा रहा था। ल्हासासे दो महीना उत्तरके रास्ते सिनिङ (कन्सू)से आए एक लामाने बताया, कि उधर लाल (बोलशेविकों)का राज्य है, डाकुओंका अब उपद्रव नहीं है। लाल न लामाओंका विरोध करते हैं, और न पक्षपात ही। तिब्बतके लोगोंमें प्रतिसैकड़ा जितने लोग बोलशेविकोंके नामसे परिचित थे, उस वक्त हिन्दुस्तानमें भी उतने लोग परिचित नहीं थे। इसका कारण यही था, कि बोलशेविकोंकी व्यवस्था उन देशोंमें पहुँच गई थी, जहाँका धार्मिक नेतृत्व तिब्बती लामा करते थे। लेकिन यह सिनिङवाले लाल रूसी बोलशेविक नहीं थे, यह चीनी बोलेशेविक थे।

२० मईको ९ गदहोंपर लदवा यहाँसे खरीदी पुस्तकों और दूसरी चीजोंको हमने फरीकेलिए रवाना कर दिया। दूसरे दिन सबेरे ही हम दोनों शलू विहारकेलिए रवाना हुए। शलू ग्यानचीके रास्तेसे मील-डेढ़ मील हटके पड़ता है। ३ घण्टेके बाद हम वहाँ पहुँच गए। यह भी ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दीका पुराना विहार है, और समतल भूमिपर बना हुआ है। विहारके चारों तरफ कच्ची चहारदिवारी है। हम रिसुँर लामाके पास पहुँचे। ये मेरे तिब्बतके उन दोस्तोंमें हैं, जिन्होंने मेरे काममें बराबर सहायता पहुँचाई। उन्होंने रहनेकेलिए कहा, लेकिन हम विहार देखके चले जाना चाहते थे। इस पहिली तिब्बतयात्रामें मैं पहिले-पहल तो संस्कृत पुस्तकोंके खोजनेमें बड़ा उत्साह दिखाता था, लेकिन कई मर्तबेके प्रयत्नमें असफल होनेपर मेरी धारणा बँध गई कि भारतसे यहाँ लाई संस्कृत पुस्तकें नष्ट हो चुकी हैं, या मूर्तियों अथवा स्तूपोंके भीतर बन्द कर दी गई हैं, जिससे वह देखनेकेलिए मिल नहीं सकतीं। चलते-चलाते रिसुर लामाने "वज्रडाकतंत्र"की तालपोथी देकर मेरी गलत धारणापर चोट पहुँचाई, लेकिन मुझे क्या मालूम था कि दो ही मील दूर इसी शलूगुंबाके शाखा-विहारमें तीन दर्जनसे अधिक अनमोल तालपोथियाँ रखी हुई हैं। लामाने भी उनके बारेमें मुझे कुछ नहीं बताया। यदि वह बतलाते तो मैं ५,७ दिनकेलिए वहाँ डट जाता। मैंने विहारको घूमकर देखा। वहाँ कितनी ही भारतीय मूर्तियाँ थीं। दीवारोंपर सुन्दर चित्र थे। भारतीय पुस्तकोंके भोटिया अनुवादोंको कंजूर और तंजूरके दो बृहत-संग्रहोंके रूपमें क्रमबद्ध करनेवाले महाविद्वान् बु-तोन इसी शलूविहारके थे, यह मैं जानता था। उस कंजूर-तंजूरको भी वहाँ देखा, जिसके आधारपर सत्रहवीं सदीमें मि-वङ्-ने नरथङ्के छापाखानेके लकड़ीके ब्लाकोंको खुदवाया था, और उन ब्लाकोंपर छपे प्रथम कंजूर-तंजूर भी इस विहारमें मौजूद हैं। रिसुरलामाने चलते वक्त दो चित्रपट भेंट

किए। हम १२ बजे शलूसे रवाना हुए। रातको रास्तेमें रहकर दूसरे दिन ग्यानची पहुँच गए, गोया शिगर्चेसे ग्यानचीके रास्तेको डेढ़ दिनमें तय किया। ग्यानचीमें हमारी छोटी उमरवाली खचरी बहुत बीमार होगई। हमें तो डर लगने लगा था।

२३ मईको दोपहर बाद हम भारतकी ओर रवाना हुए। ग्यानचीसे कलिम्-पोङ्का रास्ता अच्छा है। कितने ही सालोंतक यह अंगरेजोंके हाथमें रहा। अब भी ग्यानचीका डाकखाना और तारघर भारतीय तारविभागके आधीन है। थोड़े-थोड़े दूरपर यहाँ डाकबँगले भी बने हैं, टेलीफून और तार भी हैं। अगर सरकारी आज्ञा मिल जाय, तो ग्यानची तक आदमी आरामसे जा सकता है। मुझे डाकबंगलोंकी जरूरत नहीं थी, न मेरे पास आज्ञा थी, न उतना खर्च करनेकेलिए पैसे ही। इस रास्तेमें भी जहाँ-तहाँ पत्थरकी बहुत अच्छी चिनाईके उजड़े घर मिले। लोग कहते हैं, अठा-रहवीं सदीमें दलाईलामाके खिलाफ हुई बगावतको दबानेकेलिए जब दूसरी बार मंगोलसेना तिब्बतमें आई, तो उसीने इन घरोंको उजाड़ा। पहिले दिन हम थोड़ा ही चले थे, खचरीको भी आराम देना चाहते थे। तीसरे दिन (२५ मई) हम विशाल सरोवरके किनारे-किनारे चलकर रातको दोजिङ्गाँवमें ठहरे। ऊँचाई बहुत होनेसे यहाँ खेती कम होती है, लोग भेड़-बकरी ज्यादा पालते हैं। इसी घरमें पहले-पहल एक पुरुषकी दो स्त्रियाँ देखीं। लेकिन दोनों सगी बहनें थीं। उनके बापको कोई लड़का नहीं था, घरजमाईने आकर दोनों लड़कियोंको ब्याहा था।

दूसरे दिन (२६ मई) थोड़ा आगे चलनेपर सरोवरका अन्त हो गया। हमारे सामने विशाल मैदान था और आगे ऊपरकी ओर हिमाच्छादित हिमालयकी चोटियाँ थीं। सर्दी अधिक थी। रास्तेमें एक छोटासा घर मिला, जिसमें हमने चाय पी। निर्जनप्रदेशमें चलते एक डाँड़ेको पार किया। वस्तुतः यह डाँड़ा नहीं था, जल-विभाजक होनेसे ही हम इसे डाँड़ा कहते हैं। साढ़े तीन बजे हम फरी पहुँच गए। फरी बहुत ठंडी जगह है। जौ-गेहूँ यहाँ बड़े-बड़े तो हो जाते हैं, लेकिन बीज पड़नेसे पहिले ही जाड़ा आ जाता है, और वह पक नहीं पाते। कलिम्-पोङ् और ल्हासा दोनों ओरसे रोज़ सैकड़ों खच्चर यहाँ आया करते हैं। लोगोंको गेहूँ-जौके डंठलको दानेके दामपर बेचनेसे काफी नफा होता है। यहाँ भोट-सरकारका जोङ् और अंगरेजी तार-डाकघर भी हैं। १९०४के पहिले यहाँके जोङ्की इमारत बहुत बड़ी थी, लेकिन अंगरेजी तोपोंने उसे तोड़ दिया, अब इमारत छोटीसी है। दक्खिनके पहाड़को पार करके आधे ही दिनमें आदमी भूटान पहुँच सकता है। एक घरके भीतर खानेकी चीज़ोंकी हाट लगती है, जिसमें भूटानी लोग चावल-चूरा लाके बेचते हैं।

यहाँसे किरायेके खच्चर हमें मिल सकते थे। अपने खच्चरोंके २७० रु० मिल रहे थे, लेकिन लोगोंने बतलाया कि कलिम्-पोङ्में और दाम मिलेगा—यद्यपि यह बात गलत निकली।

२८ मईको फरीसे हम आगेकी ओर चले। अब हम नीचे-नीचेकी ओर जा रहे थे। कितने ही मील चलनेके बाद छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हुए और आगे बढ़ते-बढ़ते काफ़ी देवदार आने लगे। यह डोमो (छुम्बी)का इलाका है। अँगरेजोंकी लड़ाईके बाद डोमोंको उन्होंने लड़ाईके हरजानेके तौरपर दखल कर लिया और कई सालोंतक उन्हींका शासन रहा। फरीसे तीन घंटा चलनेके बाद नंगेपहाड़ खतम हुए थे, अब तो गाँवमें घरोंकी छतें भी लकड़ीकी थीं—मानो मैं फिर एल्मोमें आगया था। यहाँकी स्त्रियाँ एल्मोकी ही तरह सुन्दर हैं, लेकिन पुरुषोंकेलिए वही बात नहीं कही जा सकती। डोमोवाले ज्यादातर खच्चर लादनेका काम करते हैं। इनकी स्त्रियाँ बाहर जानेपर भोटिया कपड़ा पहनती हैं, नहीं तो कनौरियोंकी तरह ऊनी साड़ी उनकी पोशाक है। ३१ तारीखको १० बजे हम स्या-सीमा पहुँचे। पहिले यहाँ अंगरेजोंकी काफी बड़ी पलटन रहा करती थी, लेकिन अब ४०-५० सिपाही रहते हैं। डाकबँगला, तारघरके अतिरिक्त एक खासा अच्छा बाजार भी है। मकान ज्यादातर टीनसे छाए हुए हैं। बरस भरसे आँखें हरियालीकेलिए तरस रही थीं, अब पहाड़में जिधर देखो हरियाली ही हरियाली थी। हर गाँववाले खच्चरोंसे एक-एक टंका चराई वसूल करते हैं। मैंने १६ रु०पर खच्चर किराया किया था। धर्मकीर्ति पैदल चल रहे थे और दोनों खच्चर इसलिए खाली ले चल रहे थे, कि कलिम्-पोङ्तक वह काफ़ी तगड़े हो जाएँगे। दोनों खच्चरोंकेलिए हरगाँवमें दो टंका चराईका देना पड़ता था। उस दिन रातको हम ग्यू-थङ्में ठहरे। चारों ओर बड़े-बड़े देवदारोंका जंगल था। कई प्राइवेट सरायें थीं। हमलोगोंकेलिए एक अच्छी कोठरी मिली। मकानकी दीवारें, छत सब कुछ देवदारकी लकड़ीकी थी। सरायवाली बुढ़ियाने हमारे स्वरूपको देखकर समझ लिया कि भद्रपुरुष हैं, चलते वक्त छङ्रिन् (इनाम) देंगे। हमारे बैठनेके थोड़ी ही देर बाद दो स्त्री-पुरुष आए। बुढ़ियाने उनकेलिए पान प्रस्तुत किया। थोड़ी ही देर बाद स्त्री अगँड़ाई लेने लगी। पुरुष बार-बार हाथ जोड़ने लगा। धर्मकीर्तिने बतलाया कि स्त्रीके ऊपर देवता आ रहा है, और पुरुष उसे न आने देनेकेलिए नकल कर रहा है। स्त्री उठ खड़ी हुई, देवताकी पोशाक पहन डंडे लगा डफ बाजा लिवाए वह मालकिन बुढ़ियाकी कोठरीमें चली गई। सामने बत्ती बाल दी गई, धूप जलने लगी और पतली लकड़ीसे बाजेपर ताल देते देवता धाराप्रवाह पद्यमें बोलने लगा। सारे खच्चर-

वाले और दूसरे मुसाफिर देववाहिनीके सामने पैसा रख-रखकर अपने दुख-सुखके बारेमें पूछने लगे, गद्यमें नहीं, सारा जवाब पद्यमें था। फरीसे हमारे साथ धर्मासाहुके भानजे कानछा चल रहे थे। मैंने उनसे मज़ाक़ करनेकेलिए कहा—कुछ पैसा रखकर तुम भी देववाहनीसे पूछो कि मेरा लड़का नेपालमें बीमार है, उसका क्या होगा। कानछाने पूछा। देववाहनीने कहा—"कुछ देवता नाराज़ हैं, लेकिन बहुत अनिष्टका डर नहीं।" कानछाका ब्याह भी नहीं हुआ था। लेकिन जो लोग वहाँ देववाहनीसे पूँछके संतोष-लाभ कर रहे थे, वह इस झूठको थोड़े ही मानते।

पहिली जूनको हम फिर आगे बढ़े। कल भी हमें दो-ढाई घंटा चढ़ाई चढ़के आना पड़ा था, लेकिन वह चढ़ाई उतनी कठिन नहीं थी। आज यह जेलपला (डाँड़े)की चढ़ाई थी, खूब कड़वी। वर्षा भी काफ़ी हुई। बर्फ बहुत कम थी। दोपहरके वक्त हम डाँड़ेके सर्वोच्च स्थानपर पहुँच गए। यहीं शिकम और तिब्बतकी राजसीमा है। अब उतराई थी। २,३ मील चलनेपर कुपुक आगया। यहाँ बाक़ायदा चाय-रोटीकी दूकानें थीं। गोया हम पंद्रहवींसे बीसवींसदीमें आगए।

२ जूनको ज़रासा चढ़ करके हम तुकोला पार हुए। अब हिमालयकी उतराई शुरू हुई, जो उतरनेमें जितनी कड़ी थी, इधरसे तिब्बतकी ओर जानेमें भी उतनी ही कड़ी होगी। कई मीलतक हम देवदारोंके क्षेत्रमें ही चलते रहे। फद्म् चेङ् गाँव पहुँचते-पहुँचते देवदार पीछे छूट गए। अब घरोंमें बाँसकी छतें थीं। गर्मी काफ़ी मालूम होती थी। चाय-रोटी सब जगह तैयार थी, उसके साथ मक्खियोंकी भरमार थी। रातको हम इसी गाँवमें रहे। रोलिङ्-छुगङ् तक उतराई ही उतराई रही। यहाँ छपराकी एक दूकान थी, लेकिन मैंने अपनेको प्रकट नहीं किया। नदी पार करनेपर फिर कुछ कड़ी चढ़ाई मिली, यहाँ महुवेकी तरहके बड़े-बड़े चम्पा-वृक्षोंका जंगल था, नीचे फूलोंका ढेर लगा हुआ था। अब गोरखोंके गाँव मिल रहे थे। नारंगीके वृक्ष और मक्काके खेत थे। दोपहर बाद डुम्पे फङ्में पहुँचकर हम ठहरे। यहाँसे ४ मील और शिकमराज्य है, उसके बाद अंगरेज़ी इलाका आ जाता है। अब हमें कलिम्-पोङ् पहुँचनेकेलिए १६ मील और चलना था। ४ जूनको हम फिर चले और एक-दो वस्तियोंको पार करते अलगरहा पहुँच गए। यहाँ छपराकी कई दूकानें थीं, पूछनेपर शीतलपुर-बरेजाके एक ब्राह्मण-देवता मिल गए। उनकी ससुराल परसामें है, फिर परसाके नाते वे मुझे खिलाए-पिलाए बिना कैसे आगे जाने देते। पुआ बना हुआ था, उन्होंने खिलाया। दो घंटेके विश्रामके बाद फिर चले और शाम तक कलिम्-पोङ्

पहुँच गए। भाजू रत्नसाहुके द्वारा ही हमारी सारी चीजें नीचे रेलतक पहुँचने वाली थीं, पहिले हीसे मेरे आनेकी उन्हें खबर थी।

यद्यपि कलिम्-पोङ् चार हज़ार फीटसे ऊँचेकी एक ठंडी जगह समझी जाती है किन्तु सवा बरस हिमालयमें रहनेके बाद यहाँ मुझे बहुत गरम मालूम हो रहा था, और धर्मकीर्ति बेचारा साइबेरियाका बाशिन्दा, उसने इतनी गरम जगह तो जिन्दगीभरमें कभी नहीं देखी थी। मैंने ख्याल किया, जल्दीसे जल्दी लंका पहुँचने हीमें खैरियत है, नहीं तो वह कहीं और अधिक बीमार न हो जाय। हम एक ही दिन कलिम्-पोङ्में ठहरे। खचरियोंके बेंचने-बाचनेका काम भी भाजूरत्नसाहुके जिम्मे लगाया और ६ जूनको तीन बजे मोटरसे सिलीगुड़ीकेलिए रवाना हो गये। एक तो पहाड़ोंके घूम-घुमौवे रास्तेमें ऐसे भी बहुत आदमियोंको मोटरमें चलनेसे कै होती है, धर्मकीर्ति तो गर्मीके मारे भी परेशान थे, उधर मोटरपर भी पहिली मरतबे चढ़े थे। सिलीगुडी हम शामको पहुँचे, वहाँ पहुँचते-पहुँचते वह बहुत परेशान हो गए। उन्होंने लौट जानेकेलिए कहा। मैंने खरच दे उसी मोटरसे उन्हें कलिम्-पोङ् लौटा दिया। रातको कलकत्ताकी गाड़ी मिली और ७ जूनको मैं वहाँ पहुँच गया। बड़ा-बाजारमें सत्याग्रहियोंपर लाठी पड़ते देखी। मेरा दिल बहुत ललचाने लगा, लेकिन मैं इक्कीस खच्चरोंपर ग्रंथराशि तिब्बतसे जमा करके लाया था, जब तक उन्हें सीलोन नहीं पहुँचा देता, तब तक मैंने अपने लालचको दबाना ही पसन्द किया।

१० तारीखको पटना पहुँचा। सदाकत आश्रममें बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीका केन्द्र था, ब्रजकिशोर बाबूसे मुलाकात हुई। देखा सरकारके इतने दमनपर भी देशभक्त किस तरह काम कर रहे हैं। ११ जूनको पता लगा, बीहपुरमें राजेन्द्र बाबूपर पुलीसने लाठी चलाई। १२को सारनाथ गया। वहाँ मालूम हुआ कि छपराकी पुलीस मेरी खोजमें यहाँ भी कई बार हैरान होनेकेलिए आई। बनारसमें डा० भगवान दाससे मुलाकात हुई। वह थ्योसोफीके पुराने भक्त हैं। थ्योसोफीके नेताओंने तिब्बतके नामपर सैकड़ों तरहका मिथ्या विश्वास फैलाया है। उनके लालसिंह, कुथुमी आदि कितने ही महात्मा तिब्बतमें रहते हैं। डा० भगवान-दासने उनके बारेमें पूँछा। मैं उनकी श्रद्धापर चोट नहीं करना चाहता था, मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि वहाँवाले इन महात्माओंका कोई ज्ञान नहीं रखते। १५को मैं फिर कलकत्ता चला आया। सिन्धिया कम्पनीके जहाज़ कलकत्तासे कोलंबो जाया करते हैं, मैंने उनसे अपने बहुमूल्य संग्रहके बारेमें बतलाया, और उन्हें हिफाजतसे कोलंबो पहुँचा देनेकेलिए कहा। १६को मद्रास-

मेल पकड़ा, और वहाँ होके २० जूनको लंकामें विद्यालंकार विहारमें पहुँच गया।

६

लंकामें दूसरी बार (१९३० ई०)

ल्हासामें रहते ही वक़्त लाहौर-काँग्रेस और नमक-सत्याग्रहकी खबर मिल चुकी थी। तिब्बतमें संग्रहीत पुस्तकों और चित्रोंको सुरक्षित स्थानमें बिना पहुँचाए मुझे सत्याग्रहमें भाग लेनेकेलिए व्यग्रताको दबाना पड़ा। जूनमें ही मेरे भिक्षु-उपसम्पदा लेनेका निश्चय हुआ था, इसलिए भारतमें ज्यादा ठहरकर राजनीतिक आन्दोलनको देखनेका अवसर नहीं था।

कलकत्तासे लौटकर लंका (२० जून) जानेपर भिक्षु आनंदजीके बाद जिससे मिलकर सबसे अधिक प्रसन्नता हुई, वह थे नायकपाद। तिब्बतकेलिए विदाई देते वक़्त उनकी आँखें कितनी अश्रुपूर्ण हो गई थीं, यह मुझे अब भी याद हैं।

लंकामें बौद्धभिक्षुओंके रामण्य, अमरपुर, श्याम—तीन निकाय (संप्रदाय) हैं, श्याम निकाय सबसे पुराना संख्या और प्रभावमें सबसे बड़ा है। लंकामें पोर्तुगीज और डच शासनकाल तक धीरे-धीरे भिक्षुसंघ उच्छिन्न हो गया था। फिर १७५४ ई०के क़रीब मध्यलंकाके स्वतंत्र नरेश कीर्तिश्रीराजसिंहने श्यामसे भिक्षुसंघको बुलाकर शरणांकर संघराज आदिकी उपसंपदा करा भिक्षुसंघकी स्थापना कराई थी। उस वक़्तकी राजधानी कांडीमें यह कार्य्य संपन्न हुआ था, और तबसे श्यामीय निकायका केन्द्र मलवत्तविहार कांडी ही है। श्यामनिकायके भिक्षुओंकी उपसम्पदा सालमें एक ही बार एक निश्चित मासमें होती है। उपसम्पदामास समाप्त हो रहा था, और सिर्फ़ मेरे लिए अभी समाप्तिको रोक रखा गया था।

उपसम्पदाकेलिए कांडी जानेसे पहिले विद्यालंकार विहारमें नायकपादके उपाध्यायत्वमें मेरी प्रब्रज्या (२२ जून) हुई। मैं लंकामें रामोदार स्वामीके नामसे प्रसिद्ध था, और लंका छोड़नेसे पूर्व ही अपने गोत्रको जोड़कर अपनेको रामोदार सांकृत्यायन बना चुका था। मैं समझता था, यही नाम बना रहेगा, क्योंकि इस नामसे मैं साहित्यिक

क्षेत्रमें अवतीर्ण हो चुका था; किन्तु प्रव्रज्या संस्कार शुरू होनेके चन्द ही मिनट पहिले नायकपादकी आज्ञा हुई नये नामकरणकी। समय होता, तो मैं समझानेकी कोशिश करता, किन्तु अब कुछ करना आज्ञाभंग होता। नाम शायद एकाध और पेश किये गये थे, किन्तु मैंने रामोदारके राकी साम्यताके देखते हुए राहुल नामका प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हुआ। इस प्रकार राहुल सांकृत्यायनके नामसे मैं प्रव्रजित (श्रामणेर) हुआ।

२ जूनको कांडीमें मेरी उपसम्पदा हुई। उपसम्पदाकी काररवाई बहुत प्रभावोत्पादक होती है, यह इसीलिए नहीं कि वह ढाई हज़ार वर्ष पहिलेकी भाषा और स्वर में होती है, बल्कि उसमें उस समयके वैशाली और कपिलवस्तुके प्रजातंत्रोंकी सांघिक कारवाइयोंकी झलक दिखलाई पड़ती है। बड़ी शालामें संघका अध्यक्ष प्रमुख स्थानपर किन्तु समान आसनपर बैठता है। उसकी दोनों तरफ़ पाँतीसे अपने उपसम्पदा वर्षके क्रमसे भिक्षुलोग बैठते हैं। दो जानकार भिक्षु सारे संघको 'सुणातु भन्ते संघो' (सुने माननीय संघ) कह संबोधित करते हुए उम्मीदवार (उपसंपदापेक्ष) को पेश करते हैं। संघ उम्मीद-वारकी योग्यताकी परीक्षा सिर्फ विद्या हीमें नहीं करता है, बल्कि उन शारीरिक मानसिक व्याधियोंके बारेमें भी जाँच करता है, जिनके कारण एक व्यक्तिको संघमें नहीं लिया जा सकता। इस उपसम्पदासे पहिले ही मैंने त्रिपिटक पढ़ा था, बुद्धकालीन भारतको मानस-पटलपर साकार देखनेकी कोशिश की थी, उस समय गणतंत्रों और उनकी नकलपर भिक्षु-उपसम्पदाके बारेमें बहुत कुछ जान चुका था। भारतके बाहर तिब्बत-जैसे बौद्धदेशमें सवासाल रह भी चुका था; इसलिए उपसम्पदाकी सारी कार्रवाईका मुझपर बड़ा असर हुआ।

वर्षावास नज़दीक था। बौद्धभिक्षुओंका सारा संघठन संघवादके आधारपर है। वैशालीके गणतंत्रकी दृढ़ता, उसकी स्वातंत्र्यप्रियता आदिको देखकर बुद्धपर इतना असर पड़ा था और साथ ही अपने शाक्य गणतंत्रकी कार्रवाईयोंमें भाग लेनेका भी उनपर काफ़ी असर था, इसीलिए सांघिककर्म—सांघिक स्वाध्याय, सांघिक विवाद-निर्णय आदि—पर उनका बहुत ज़ोर था। भिक्षुओंके नियमोंमें महीनेमें दो बार—अमावस्या और पूर्णिमाको—सारे भिक्षुओंका संघसन्निपात (सम्मिलन) आवश्यक करार दिया गया है, किन्तु बीचकी पच्चीस शताब्दियोंमें इतने सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए, कि उसका महत्त्व लोगोंकी दृष्टिमें जाता रहा; और अब संघसन्निपात या उपोसथ सिर्फ वर्षाके दो या तीन महीनोंमें होता है। उपसंपदाकी भाँति प्रथम उपोसथका भिक्षुसन्निपात भी मुझे बड़ा प्रभावशाली मालूम हुआ।

उस दिन (६ जूलाई आषाढ़-पूर्णिमा) पासके एक विहार (मठ) के नए बने उपोसथागारमें प्रथम उपोसथ करके उसकी-प्रतिष्ठा भी करनी थी, इसलिए हमें वहाँ जाना पड़ा। दोपहरका भोजन समाप्त हुआ, थोड़े समयके विश्रामके बाद लोगोंने अपने अंतर-वासकको कटिबंधसे ठीक तौरसे बाँधा। फिर दाहिने कंधेको नंगा रखते उत्तरा संगके दोनों कोनोंको मिलाकर उसपर चौपेती संघाटी रख कटि-बंधन (एक बालिश्त चौड़ी कई हाथ लंबी चोट) से ठीकसे बाँधा। कुछ भिक्षुओंने पहिले ही शालामें जा आसन बिछा रखा था। पैर धो हाथमें ताल-व्यजन लिए हरएक भिक्षु उपसम्पदा-वयसके क्रमसे उपोसथागारमें प्रविष्ट होने लगा। सबके आ जानेपर दर्वाजा भीतरसे बंद कर दिया गया। आसनोंके सिरेपर पंखेके साथ एक रिक्त आसन धर्मासनकेलिए रहता है। धर्मासनको तीन बार प्रणाम करके उपस्थित संघ सबसे पहिले अपनेमेंसे किसीको—चाहे वह कल ही उपसम्पदा पाए क्यों न हो—धर्मासनपर बैठकर (सभापति बन) आजकी कार्रवाईको संचालित करनेकेलिए चुनता है। यह बात विशेष तौरसे ख्याल रखनेकी है, कि शालामें बुद्धमूर्तिके होनेपर भी प्रणाम उसकी ओर न कर सिर्फ धर्मासनकी ओर किया जाता है। उपोसथके समय सारे प्रातिमोक्ष-सूत्र (भिक्षुनियमों) को दुहराना चाहिए, किन्तु आज-कल उसके आरंभके थोड़ेसे भागोंको ही दुहराया जाता है। अपराध-स्वीकारका भावी जीवनपर कोई असर नहीं रहता, इसलिए यह कार्रवाई यंत्रवत् मालूम होती है।

वैसे भी लंकाके गृहस्थों और भिक्षुओंमें मेरी खासी इज्जत थी, किन्तु भिक्षुसंघमें शामिल हो जानेपर वह सम्मान कई गुना बढ़ गया था। लंकामें सिंहल और अंग्रेज़ी अखबार सार्वजनिक शिक्षाके विस्तारके कारण बहुत पढ़े जाते हैं, इसलिए मेरी तिब्बत-यात्राके बारेमें लिखे लेखोंके बाद उपसंपदा-संबंधी लेखों और चित्रोंसे जनतामें काफ़ी प्रसिद्धि हो गई थी; और धर्मोपदेशकेलिए अनेकों निमंत्रण बराबर आते रहते थे—आनंदजीने भी धर्मोपदेश देनेमें काफ़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। मुझे अब समय भी था, इसलिए हर महीनेमें मैं एक-दो व्याख्यान दे आता। विहारमें रहते वक्त अध्यापनके साथ मैंने हिन्दीमें एक बुद्धकी जीवनी लिखनेमें हाथ लगाया। अपने शब्दोंमें स्वतंत्र जीवनी लिखनेकी अपेक्षा मैंने पसंद किया, कि वह त्रिपिटकसे संग्रह कर उसीके शब्दोंमें हो, ताकि लोग त्रिपिटककी ऐतिहासिक, भौगोलिक सामग्रीका लाभ उठाते हुए बुद्धके जीवनको पढ़ें और स्वतंत्र निर्णय करें। पढ़ते वक्त किए नोटोंसे मुझे सामग्री जुटानेमें बड़ी आसानी हुई, और इस प्रकार मैंने बड़ी तेज़ गतिसे "बुद्धचर्या" लिखनेका काम शुरू किया।

तिब्बतसे मैं पंडित अनन्तराम भट्टको बराबर पत्र लिखता, तथा उन्हें जर्मनी जानेकेलिए उत्साहित करता था। वह लंदन-मेट्रिककी परीक्षामें असफल रहे, इसलिए और भी इतने समय बर्बाद करनेकी जगह मेरी जर्मनी जानेकी सम्मतिको उन्होंने पसन्द किया। उनके मामा (जो ससुर भी थे)के पास कुछ धन था, किन्तु उसमेंसे कुछ मिलना मुश्किल था। मैंने जर्मनीमें प्रोफेसर रुडाल्फ ओटोको उनके बारेमें लिख दिया था, उन्होंने टुबिन्गेन्के एक प्रोफेसरको लिखा। फ़ीस माफ़ तथा कुछ सहायताका इन्तिज़ाम तो हो गया, किन्तु साथमें जहाज़के किराएके अतिरिक्त चार-पाँच सौ रुपये चाहिए थे। मैं नहीं समझता, उतने रुपये भी वह पूरे कर सकते थे। उसी वक़्त अनागारिक धर्मपालने मेरेलिए डेढ़ सौ रुपये भेजे थे। बेकार रुपया जमा रखना मुझे भारी लगता है, और इधर भट्टके कामसे बढ़कर उसका क्या उपयोग हो सकता है। खैर, किसी तरह ढकेलकर मैंने भट्टको जर्मनीकेलिए रवाना किया। १९३०से अभी (१९४० ई०) तक वह वहीं हैं।

लंकामें जोतिसकी भाँति भूत-प्रेत, जादू-मंतरपर साधारण जनता नहीं शिक्षितों तकका बहुत विश्वास है। भिक्षु-नियमके विरुद्ध होनेपर भी भिक्षु लोग पैसेके लोभसे इन बातोंके प्रचारमें खासतौरसे सहायता पहुँचाते हैं। ईश्वरवादके विरुद्ध कहनेपर तो वह खुश होते हैं, किन्तु भूतवादके विरुद्ध बात करना पसंद नहीं करते। विद्यालंकारमें मैं भूतवाद, मंत्रवाद, जोतिसवादका खूब खंडन किया करता था, इसलिए यहाँके भिक्षु उसे सहते तथा कितने ही विश्वासहीन भी होने लगे थे। तिब्बतसे लौटनेपर एक दिन मैं तिब्बतके भूतों और तांत्रिकोंका वर्णन मजाकिया तौरसे करने लगा। तरुण भिक्षु हँस रहे थे, किन्तु उस वक्त हमारे गुरुभाई प्रज्ञाकीर्तिके पिता वहाँ आगए, उन्हें बहुत बुरा लगा। बेचारे बड़े श्रद्धालु जीव थे। संघके दायाद (संबंधी) बनने तथा बौद्धधर्मकी सेवाकेलिए उन्होंने अपने एकमात्र पुत्रको भिक्षु बना दिया था। लंकामें ऐसे गृहस्थ आसानीसे मिल जावेंगे, जिन्होंने एकलौते पुत्रको भिक्षु बना दामाद, या दत्तक पुत्रसे अपना वंश चलाना पसंद किया। हमारे दूसरे गुरुभाई आचार्य प्रज्ञालोक भी ऐसे ही पिताकी एक मात्र सन्तान थे।

भारतमें सत्याग्रह चल रहा था। महात्मा गांधीके पत्र 'यंग इंडिया'की कितनी ही टाइप की हुई कापियाँ लंका भी पहुँचती थीं, और उन्हें भारतीय बड़े चावसे मेरे पास पहुँचाते थे। ऐसे समयमें आन्दोलनसे अलग रहना मेरेलिए असह्य मालूम हो रहा था, यही अवस्था आनंदजीकी भी थी। किन्तु अभी तिब्बतसे लाई पुस्तकें, चित्रपट आदि कलकत्तासे कोलंबोके रास्तेमें थे। उन्हें सुरक्षित तौरसे रखना भी जरूरी था। मैं

आनंदजीको उसका जिम्मा देकर भारत आ जाना चाहता था, किन्तु उनका भी कहना बजा था--पुस्तकोंके बारेमें उनकी जानकारी नहीं थी। नायकपादसे भारत जानेकी इजाजत मिल नहीं सकती थी, इसलिए एक दिन चुपकेसे वे कोलम्बोसे तलेमन्नार-केलिए रवाना हो गये। नायकपादको बहुत दुःख हुआ, जब उन्होंने उनके चले जाने तथा उसके भीतर छिपे अभिप्रायको सुना। वे पुराने ढंगके भिक्षु थे, जिन्हें राजनीति उतनी ही त्याज्य थी, जितना गृह-परिवारका संबंध।

आखिर सिंधिया नेवीगेशन कम्पनीके जहाज़से तिब्बतकी चीज़ें भी पहुँच गईं। कम्पनीके कोलम्बोवाले प्रतिनिधि श्री नानावतीने मुफ्त मँगवा देनेका इन्तिज़ाम कर दिया था। चीज़ें कई महीनेसे चमड़ेमें सीकर बंद थीं। तिब्बतके अक्षांश, उन्नतांश और सर्दीमें बंद होकर अब भूमध्य-रेखाके पास लंकाकी गर्मीमें खुलीं। बड़ी बदबू आ रही थी। मैंने अपने रहनेका बड़ा कमरा पुस्तकोंकेलिए खाली कर दिया। नेप्थलीन गोलियोंका अच्छा प्रबंध किया, तो भी उस बदबूके सामने नेप्थलीनका क्या वश चलता ?

तिब्बतकी चीज़ोंको सँभालकर रख दिया गया। चित्रोंका प्रदर्शन भी कोलम्बोमें हुआ। समाचार-पत्रोंने फोटो आदि छापे। हमारे विहारवालोंकेलिए यह बड़ी खुशीकी बात थी, और नायकपादकेलिए खासतौरसे। अब मैंने भारत जानेका निश्चय किया, किन्तु आनंदजीकी भाँति मैं बिना पूछे जाना नहीं चाहता था। एक दिन शामको, जब कि दूसरे भिक्षु सायंप्रणाम करके चले गए, मैं नायकपादके पास बैठ गया। और बातोंके बाद मैंने भारतके राजनीतिक आन्दोलनका जिक्र छेड़ा—वैसे भी नायकपाद उसके बारेमें कभी-कभी पूछा करते थे। फिर बड़ी सावधानीसे उसमें भाग लेनेकी कितनी आवश्यकता है कहकर, मैंने अपने जानेकी आज्ञा माँगी। मैंने सोचा था, उत्तर 'हाँ', 'नहीं' अथवा समझाने-बुझानेके रूपमें होगा। लेकिन मैंने विस्मित हो एक चीख सुनी, जिसकी प्रतिध्वनि बिहारके कोने-कोनेमें व्याप्त हो गई। खैरियत यही हुई, कि वहाँ पासमें कोई था नहीं, और मेरे तुरन्त वहाँसे चले आनेपर दूसरी बार वैसा नहीं हुआ।

नायकपाद स्नेहमय जीव थे, और मेरे ऊपर उनका स्नेह बहुत ज्यादा था। वह अखबारोंमें पढ़ रहे थे, भारतमें कैसे लोगोंपर लाठियाँ पड़ रही हैं, कैसे लोग जेल जा रहे हैं; यही बातें मेरे साथ भी होतीं, इसी बातका ख्याल करके उस वक्त उनका चित्त विचलित होगया था। मैंने कुछ दिनोंतक फिर उस बातकी चर्चा न की।

इधर "बुद्धचर्या"का लिखना भी समाप्त (७ अक्तूबरसे लेकर १४ दिसम्बरको)

होगया था, जिससे मन किसी काममें नहीं लगता था। आनन्दजीके बारेमें मालूम हुआ, कि वह दर्भंगामें गिरफ्तार हो गये, और कुछ दिनों जेलमें उन्हें रखकर छोड़ भी दिया गया। मैंने धीरे-धीरे नायकपादको समझाना शुरू किया, और बतलाया कि बौद्धभिक्षुको अपने आचरणसे दिखलाना चाहिये, कि वह दूसरोंकेलिये कितना कष्ट सह सकता है। अन्तमें नायकपादने आज्ञा दे दी। १५ दिसम्बरको मैं भारतकेलिये रवाना हो गया।

७

सत्याग्रहकेलिये भारतमें (१९३०-३१ ई०)

उस वक्त अभिधर्मकोश (मेरी टीका सहित) काशी-विद्यापीठकी ओरसे छप रहा था, प्रूफकी गड़बड़ीकी वजहसे छपनेमें दिक्कत हो रही थी, इसलिये एक महीनेके भीतर पहिले मुझे उसको खतम करना था, इसलिये मैं पटना, छपरा सिर्फ आन्दोलनकी स्थिति जाननेकेलिये गया। दिसंबरका महीना काशी-विद्यापीठमें बीता और जनवरीका भी कुछ भाग (२१ दिसम्बरसे—१५ जनवरी)। देखा, प्रेसवाले भी प्रूफ देनेमें ढिलाई करते हैं, इसलिये उसके शीघ्र प्रकाशनकी आशा छोड़ मैं (२५ जनवरीसे) छपरा चला गया। अपना कार्यक्षेत्र छपराको ही बनाना था।

उस वक्त सरकारका दमनचक्र बड़े जोरोंसे चल रहा था। जेलखानोंमें इतने सत्याग्रही भर गये थे, कि वहाँ और भी भरना सरकारको तरद्दुदकी चीज़ मालूम होती थी। उसने इसकेलिये बड़े-बड़े जुर्माने और मारपीटका इन्तिज़ाम कर रखा था। एकमा गया, देखा, बहुतसे कार्यकर्ता जेलमें चले गये हैं, आश्रमकेलिये जब्त होनेकी डरसे कोई घर नहीं मिलता। स्वयंसेवकोंने स्टेशनसे पच्छिम रेलकी सड़कसे दक्खिन एक कूँयेके पास अरहर-ऊखसे ढँकी भूमिमें अपना आश्रम बनाया था। एक झंडा छीन ले जानेपर दूसरा झंडा गाड़ दिया जाता था। बरेजाके लोगोंने सत्याग्रहमें बड़ी बहादुरी दिखलाई थी, जिसके फलस्वरूप वहाँ गोर्खा पल्टन लाकर रख दी गई थी। देशी सिपाहियोंमें लोगोंके प्रति सहानुभूति पैदा होनेका डर था, इसलिये गोर्खा लाये गये; तो भी बरेजाके लोग त्रस्त न थे। गिरीशका छोटाभाई पंडित बचपनमें हम लोगोंकी दृष्टिमें बौड़म-सा था, किन्तु आज वह वहाँके स्वयंसेवकोंका नेता

बन गया था। गाँवसे पच्छिम-उत्तरकी परतीमें उन लोगोंने राष्ट्रीय झंडा गाड़ा था। गोर्खे हटा देते थे। मैंने झंडेको फिर भी फहराते देखा था। पंडितसे पूछा—पंडित कैसे झंडा गड़ा रहता है? उत्तर मिला—"हमलोग अरहरके खेतमेंसे चुपकेसे जाकर गाड़ आते हैं। अब उसे उतारते-उतारते सिपाही इतने तंग आगये हैं, कि हरवक़्त उतारनेकेलिये नहीं आते।" मैंने (२८ जनवरीसे २ फरवरी तक) एकबार सारे जिलेका चक्कर लगाया। सालभरके दमनके बाद भी आन्दोलन जारी रखनेकेलिये धन, जनकी कमी न थी। जिलेके बड़े-बड़े ज़मीदार और धनी सर्कारसे थर-थर काँपते, तथा अमन-सभाओं द्वारा जनताको डराने-धमकानेमें लगे हुये थे। गाँधीजीका उपदेश था कि सत्याग्रही अपनी किसी कारवाईको छिपाकर न करे, किन्तु सालभरके तजर्बेने राष्ट्रकर्मियोंको समझा दिया था, कि बिना गुप्त-संगठनके कार्य चलाया नहीं जा सकता। उस वक्त छपरा जिलेमें अन्दोलनके संचालक गुह्यबाबू (यतीन्द्रनाथ सूर) और जगन्नाथ मिश्र थे। बाहर रहकर स्वयं-सेवकोंको जमा करना, उनके खाने-पीनेका इन्तिज़ाम करना जेल जानेसे कहीं मुश्किल काम था। जेलमें चले जानेपर तो निश्चिन्त हो पढ़ते-खेलते-खाते अपने समयको बिताया जा सकता था। बनारससे आन्दोलनमें भाग लेनेकेलिये छपरा आकर रहने लगा, तो गुह्यबाबू और जगन्नाथ पंडितका आग्रह हुआ, कि उनका काम मैं सभालूँ और उन्हें विश्राम करनेकेलिये जेल जाने दूँ। कई महीनेसे जितने परिश्रम जितनी मानसिक चितासे वे लोग काम कर रहे थे, उसे देखकर उनकी माँग मुझे युक्ति-युक्त जँची। मैं जानता था, कि छपराकी पुलिस मुझसे काफ़ी परिचित है, और बाहरसे काम न दिखलाई देनेपर भी वह कुछ उपाय किये बिना नहीं रहेगी; तो भी अपनेको बाहर रहता दिखलाते हुये मैंने काम करना तय किया। गुह्यबाबू, और जगन्नाथ पंडित उसी दिन गांजेकी दूकानपर धरना देने गये, और वहींसे पकड़कर जेल भेज दिये गये। छपरामें एक बड़ा जलूस निकला, मैं जलूससे अलग-अलग फुटपाथसे चल रहा था। मेरे पुराने परिचित दारोगा नन्दीने देखा, प्रणाम किया। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि इन पुलिस-अफ़सरोंमें एक ईमानदार अफ़सर भी है। शहरके थानेके दारोगा आदि भी अच्छे आदमी थे।

धरना, जलूस आदि का काम बराबर ज़ारी रहा। राजेन्द्रबाबूके बड़ेभाई बाबू महेन्द्र प्रसादका मेरा पुराना परिचय था। उनके हृदयकी थोड़ी-बहुत पहिचान मुझे पहिलेसे भी थी, किन्तु बिहार बैंक—जिसके कि वह छपराशाखाके मैनेजर थे—के अपने कमरेमें उनके मुँहसे निकले हुये शब्दोंको यादकर आज भी उनके हृदयकी

महानता, उनके देशप्रेमके प्रति श्रद्धा उमड़ आती है। उन्होंने कहा था—"बाबू" (राजेन्द्र प्रसाद) जेलमें हैं, उतनेसे मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है, यह मैं मानता हूँ; तो भी घर-परिवारका ख्याल करके मैं जेल नहीं जा रहा हूँ, किन्तु, मैं एक काम कर सकता हूँ, वह है आन्दोलनको जारी रखनेकेलिये रुपयोंका इन्तिज़ाम करना। आपको जब ज़रूरत हो मुझसे कहनेमें संकोच न करें। . . . रुपये-पैसेकी समस्या उस समय सबसे बड़ी समस्या थी।

३१ जनवरीको मैंने सुना कि नारायणबाबूके गाँवमें पुलिसने जुल्म ढाया है। गोरखा गारदने लोगोंके घरोंमें घुस-घुसकर मार-पीट की है। मैंने बाबू जानकीशरण शाही वकीलको फोटोके कैमरेके साथ चलनेको कहा। हमलोग १० फर्वरीको छपरासे चलकर सिधवलिया स्टेशनपर उतरे। मसरखसे थावेतककी नई रेलवेलाइनसे जानेका मुझे यह पहिला मौका मिला था। इस लाइनको निकले एक ही डेढ़ वर्ष हुए थे, और अब भी गाड़ीके चलनेपर धूल खूब उड़ती थी। जलालपुरमें बाबू लालचंदरायके घरपर जानकी बाबूने केमरेमें नई प्लेटें भरीं। गोरयाकोठीमें गोरखा सिपाही पड़े हुए थे, और हमारे काममें बाधा होनेका डर था, इसलिये हमलोग चुपकेसे पैदल वहाँ पहुँचे। नारायण बाबूके घरमें गोरखोंने कुर्सी पलंग, चौकियोंको काट डाला था। गाँवके एक ग़रीबके घरमें देखा, उसकी चौखट-किवाड़ोंको उखाड़ फेंका गया था, कोठिलीको तोड़कर अनाजको मिट्टीमें मिला छींट-छाँट दिया गया था। काँसे-ताँबेके बर्तनों-घड़ोंको तोड़ दिया गया था। यही हालत कितने ही और घरोंकी हुई थी। लोगोंपर मार पड़ी थी सो अलग। पुलिसने सारे गाँवमें आतंक फैलानेकी कोशिश की थी। सरकार लोगोंको कानूनन् सज़ा देते-देते तंग आ गई थी। जेलों और कैम्पोंके भर जानेपर जेलकी सजा जितनी जनता-को घबड़ाहट नहीं पैदा कर सकती थी, उतनी सरकार और उसके कर्मचारियोंको परे-शानी में डाले हुये थी। इसीलिये सरकार इस बर्बरतापर उतर आई थी। लेकिन तो क्या जनताको वह भयभीत करनेमें समर्थ हुई थी? नहीं—जौके साथ घुनोंको पिसते देख, आन्दोलनसे अलग रहनेवाले लोग भी अब उसमें सम्मिलित हो रहे थे, सरकारके खैरख्वाहोंकी संख्या शून्य बनती जा रही थी। इतने अत्याचारपर स्त्रियों तकके धैर्यको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। नारायण बाबूकी स्त्रीको मैं सान्त्वनावाक्य कह रहा था, किन्तु वह पहिले हीसे बहुत दृढ़ थीं। कह रही थीं—मुझे घबराहट नहीं है। मैं बच्चोंके साथ जेलमें जानेकेलिये तैयार हूँ। और वस्तुतः, उनकी सबसे छोटी लड़की अपनी मझली बहिनके साथ जलूसमें भाग ले

रही थी, और छपरामें धरनामें शामिल हुई थी। सैकड़ों वर्षोंसे पर्देकी घृणित प्रथाकी मारी बिहारकी इन कुलांगनाओंमें एक भारी सामाजिक क्रान्ति फैलती साफ़ दिखलाई पड़ रही थी।

हमलोगोंने फोटो लिये। कई घंटे राततक गाँवमें फिरकर लोगोंको समझाया, और फिर आकर रातको जलालपुरमें विश्राम किया। सबेरे छपरा पहुँचे। राष्ट्रीयपत्र अधिकांश बंद हो चुके थे, इन अत्याचारोंकी खबर छापनेवाला कोई पत्र मिलना मुश्किल था। हमने प्रयागके "भविष्य" में चित्रोंको प्रकाशित कराया। किन्तु, क्या सरकारको अपने कर्मचारियोंकी काली करतूतोंसे शरम आती थी? बंबईमें स्त्रियोंतकपर लाठियोंकी वर्षाको तो विदेशी पत्रकारोंतकने अपनी आँखों देखा, अमेरिकन और दूसरे पत्रोंमें उनके संबंधमें लेख छपे, किन्तु उससे क्या बृटिश सरकारपर कोई असर हुआ? क्या उसने अपने रवैयेको बदला? विलायतकी मजदूर-सरकारके भारतमंत्री मिस्टर वेजवूड बेनने जब उसका समर्थन किया, तो बाहरी सहानुभूति तथा संसारकी नैतिक शक्तिके बलपर भारतको स्वतंत्रता पाना असंभव है, यह मालूम हो गया। आशा सिर्फ उस शक्तिसे हो रही थी, जो इन आततायी कृत्योंके कारण जनतामें अपार घृणा तथा स्वार्थत्यागकेलिये होड़के रूपमें उत्पन्न हो रही थी। अंग्रेज केवल अपने संसारमें फैले प्रतिद्वंदियों और अपनी भविष्यकी विपत्ताका ख्यालकर जनताके इस सर्वव्यापी क्रोधसे डर रहे थे। संसारके दूसरे देशोंके शासनकी बागडोर जिनके हाथोंमें है, उन्हें तो वे अपने ही जैसे जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेवाले समझ रहे थे।

इस वक्त तक बिहारके कितने ही राष्ट्रकर्मियोंको गाँधीवादसे निराशा हो गई थी, और वे समाजवादके आधारपर जनताको तैयार करनेकी जरूरत महसूस करने लगे थे। गाँधी-इर्विन समझौतेके बाद हमने बिहार सोशलिस्ट पार्टीकी स्थापना (१३ जूलाई) की, मैं उसका एक मंत्री बनाया गया। जबसे राष्ट्रीय आन्दोलनमें मैंने भाग लिया, मुझे तो ऐसा समय नहीं मालूम होता, जब कि मैंने सरकारके साथ शोषकोंको भी अपनी आलोचना अपनी घृणाका लक्ष्य न बनाया हो; अब समयको उस आदर्शके प्रचारके अनुकूल देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जिसका चित्रण मैंने बाईसवीं सदीमें किया था।

मैं बहुत दिनों काम नहीं कर सका था, कि इसी बीचमें ५ मार्च (१९३१ ई०) को गाँधी-इर्विन समझौतेकी बात अखबारोंमें पढ़ी। जेलोंमें पड़े राजनीतिक कैदी छूटने लगे। १० मार्चको छपरा जेलसे छूटनेवाले कैदियोंके स्वागतकी प्रतीक्षामें कई

साथियोंके साथ मैं जेलपर पहुँचा। इंतिज़ार करते बारहके करीब बजनेको आये। उस वक़्त भिक्षु होनेसे मैं दोपहरके बाद खाना नहीं खाता था। खाना खानेकेलिये अपने मेज़बान बाबू गुणराज सिंहके घरपर जानेमें देर होती, मैंने जुमराती मियाँसे पूछा तो उन्होंने कहा—खाना तैयार है। उनका घर जेलसे नजदीक था। बाहरके बैठकेमें चौकीपर बैठा, और जुमराती मियाँने खाना लाकर सामने रखा। छूआ-छूतको मैं कबका न छोड़ चुका था, किन्तु छपरामें निस्संकोच हो मुसलमानके घर खाना खानेका यह पहिला अवसर था। मेरे कितने ही साथी जनतामें इसकेलिये घृणा पैदा होनेका डर दिखला रहे थे, किन्तु मैं कह देता—"आप कह सकते हैं, कि अब वह राम-उदारबाबा नहीं राहुल सांकृत्यायन है, हिन्दू नहीं बौद्ध हैं।" राजनीतिक क्रान्तिके साथ सामाजिक क्रान्तिकी मैं अनिवार्य आवश्यकता बहुत पहिलेसे समझ रहा था। मुसाफिर विद्यालयके समयसे ही छुआछूत और जात-पाँतके विरुद्ध कड़ीसे कड़ी आलोचना करनेमें मैं ज़रा भी नहीं हिचकिचाता था। जुमराती मियाँके घर खाना मैंने खुल्लंखुल्ला खाया था, और खुल्लंखुल्ला उसकी चर्चा करता था। मुझे तो ऐसी कोई घटना याद नहीं आती, जब इसकेलिये मैं किसीके तिरस्कारका भाजन हुआ। वस्तुतः जिनकेलिये हम काम करते हैं, वे तो हमें हमारी सार्वजनिक सेवासे तौलते हैं, बाकी प्रतिगामी, सरकारपरस्त मक्कारोंकी हमें पर्वा क्या होनी चाहिये?

अबके (२९–३१ मार्च) काँग्रेस कराँचीमें हुई। मैं भी कई साथियोंके साथ (२३ मार्चको) कराँचीकेलिये रवाना हुआ। रास्तेमें जब हमारे साथी पूरी तर्कारी ढूँढ़ते, तब मैं रोटी-गोश्त लेता—युक्तप्रन्त बिहारमें उस वक़्ततक स्टेशनोंपर रोटी-गोश्तकी फेरी करनेवाले मुसल्मान ही होते थे। २६ को कराँची पहुँचे। वहाँ आनन्दजी भी मिल गये। हम लोग एक ही जगह ठहरे। काँग्रेसमें सम्मिलित सारे प्रतिनिधियों और जनतामें भगतसिंह और उनके साथियोंकी फाँसीसे एक भारी उत्तेजना थी। गाँधी-इर्विन सबझौतेसे कितने लोगोंने समझा था, अंग्रेज़ी सरकारका हृदय-परिवर्तन हो गया, किन्तु ऐसी सरकारोंके पास हृदय कहाँ होता है? गाँधीजी घुटने टेककर बगुलाभगत क्रिश्चियन वायसराय इर्विन्से भगतसिंहके प्राणोंकी भिक्षा माँगते ही रह गये, किन्तु देशके एक श्रेष्ठ नेता लाजपतरायपर प्रहार करनेवाले एक अंग्रेज पुलिस अफ़सरको उसको कियेका मज़ा चखानेवाला भगतसिंह कैसे क्षमा किया जा सकता था?

काँग्रेसके अवसरपर जो नई चीज़ें मुझे देखनेमें आई, उनमें एक थी हँसुवा-हथौड़ावालोंकी सभा। उसके कुछ कर्णधारोंसे मैं मिला भी, किन्तु उनकी गम्भीरताके

अभी मुझे पता न था, इसीलिये घनिष्टता नहीं पैदा की। आतंकवादियोंकी वीरता उनके आत्मबलिका भारी प्रशंसक होते हुये भी मैं उस दलमें क्यों शामिल नहीं हो सका था, इसके बारेमें पहिले कह चुका हूँ। हँसुवा-हथौड़ावालोंकेलिये भी मैं वही कसौटी इस्तेमाल करना चाहता था। कांग्रेसके वक्त राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ, मैंने रोमनलिपिके स्वीकारकेलिये प्रस्ताव रखा, किन्तु विवादके डरसे काका कालेलकरने लौटा लेनेकेलिये कहा।

करांचीमें ही सिंहलके वृद्ध भिक्षु स्थविर जिनवंशको देखा, जिनसे पीछे जापानमें मिलनेका मौका मिला। वह अपने धुनके पक्के थे। कुछ छपे हुये पम्फ्लेट लिये लोगोंमें वितरण करते तथा बातचीत द्वारा बौद्धधर्मका प्रचार कर रहे थे। प्रोफ़ेसर धर्मानन्द कौशाम्बीकी आत्मकथाको मैं गुजरातीमें पढ़ चुका था, और आनंदजीसे उनके बारेमें सुन भी चुका था, किन्तु उनके हिमश्वेतकेश-कूर्चश्मश्रु-अच्छादित गोरे चेहरे, उससे छिटकती शान्ति, गम्भीरता और सादगीको देखनेका मौका पहिले-पहल यहीं मिला। हम करांची शहर और उसके बन्दरगाहको भी देखने गये, किन्तु उसकी कोई खास बात याद नहीं। अभी उस वक्त (१९३१ ई०) तक करांची विमान-केन्द्र नहीं बन पाया था।

करांचीसे आनंदजी जहाजद्वारा बंबई और फिर लंका जानेवाले थे, और मुझे बिहार लौटना था, जिसे बंबईके रास्ते भी कर सकता था, किन्तु मैं अब तक इतिहास और पुरातत्त्वका एक विद्यार्थी बन चुका था, इसलिये माहेन-जो-डरो और हड़प्पा देखनेका लोभ-संवरण नहीं कर सकता था। सात साथियोंके साथ मैं हैदराबादमें उतरा (१ अप्रैल)। गर्मी अब काफ़ी पड़ने लगी थी, और इस वक्त हैदराबादके घरोंकी छतोंपर खुले दर्वाजोंवाले कोठरीनुमा हवादानोंकी उपयोगिताको मैं समझ सकता था, जब बतलाया गया, कि इनसे हवा घरके भीतर ली जाती है।

हैदराबादसे रेलद्वारा कोटरी होते सिन्धुके दाहिने किनारेकी ओरसे मोहन-जो-डरो गये। डेरागाज़ीखाँ और जामपुरीकी यात्रामें मैं सिन्धुकी कछारसे परिचित हो चुका था, इसलिये स्टेशन (डीकरी)से मजबूत घोड़ेवाले ताँगेपर चलते जब वही कछार आने लगी, तो मुझे कोई नवीनता न मालूम हुई। स्टेशनपर मैंने सभी ताँगोंके घोड़ोंको एक सा ही मजबूत पाया। मुझे हठात् संस्कृत साहित्यमें प्रख्यात सैन्धव अश्वोंका स्मरण हो आया, किन्तु अब मैं पाली साहित्य भी पढ़ चुका था, और जानता था, कि जिसे आज सिन्ध प्रांत कहते हैं, वह पहिले सौवीरके नामसे प्रसिद्ध था; इसका कि प्रधान नगर रोरुक (वर्तमान रोरी) था। सैन्धव (सेन्धा)

नमक और सैंधव अश्वकी सम्मिलित प्राचीन जन्मभूमि सिन्धुदेश पिंडदादन खाँ आदिकी नमककी पहाड़ियाँ तथा उनके आस-पासके जिले हैं। नदियोंके साथ नाओंका नीचेकी ओर बहनेका उदाहरण और भी देखे जाते हैं। बुद्धके समय पैठन (प्रतिष्ठान) और औरंगाबादके पास होने वाला अंधक (आंध्रक) प्रान्त अब गोदावरीके निचले भागमें चला गया है।

दस बजे दिनमें हम मोहन्-जो-डरो पहुँचे। उस वक्त काफ़ी गरमी पड़ रही थी, और सबसे मीठी चीज़ ठंडा पानी मालूम होता था। हमने उसी धूपमें वहाँके ध्वंसावशेषोंको देखना शुरू किया। मोहन्-जो-डरोके बारेमें मैं काफ़ी पढ़ चुका था, वहाँकी निकली चीज़ों तथा ध्वंसावशेषोंके बहुतसे फोटो देख चुका था। लेकिन अब वह मूल वस्तुयें आँखोंके सामने थीं। आज-कलकी विलायती ईंटोंके आकारकी पकी ईंटें धरतीको गोल साबित कर रही थीं। शहरकी सड़कें, पानीकी नालियाँ, पाँचहज़ार वर्ष पहिलेके आर्योंसे पुराने सिन्धुवासियोंके नागरिक जीवनके उत्कर्षको बतला रही थीं। उनके ईंटोंके घर, ईंटोंके कूयें, उनके स्नानागार सभी इस बातके साक्षी थे, कि ताम्रयुगमें भी वहाँके लोग बहुत समृद्ध संस्कृत जीवन बिता रहे थे।

मोहन्-जो-डरोसे शाम तक हम सक्खर पहुँच गये। सिन्धुनदके तटसे थोड़ा भीतर उदासी साधुओंका मठ साधुबेला बड़ा रमणीय स्थान है। कोई समय था, जब सिंधके गृहस्थकी साधुसेवा तथा साधुओंके भव्यस्थानोंकी प्रसिद्धिने मुझे वहाँकी यात्राकेलिये आकर्षित किया था, किन्तु अब मेरे पास उसकेलिये उतना समय न था, इसलिए साधुबेलामें एकाध घंटाके विश्राम हीपर सन्तोष करना पड़ा। उस वक़्त महन्त हरनामदास वहीं थे, और उनके वर्तावसे मालूम हुआ, कि जन मनोरंजनमें वह बहुत पटु हैं। वहाँ मैंने शीतलपुर(छपरा) के महन्त ईश्वरदासके एक शिष्यको देखा, जो घूमता-फिरता यहाँ तक पहुँच गया था। दो पैसेमें लेमोनेडकी बोतल पीकर मैंने समझा, कि सिन्धी लोग भारत ही नहीं उससे बाहर मध्य-एसिया, लंका, सिंहापुर, चीन, जापान, मिश्र, इताली, आदि तक क्यों सफल व्यापारीके रूपमें अपना कारबार चलाते हैं।

सिन्धुके बिना पायेके पुलसे पैदल ही हम रोरी आये और वहाँसे (३ अप्रेल) और लोग तो सामासट्टासे होते बिहारकेलिये रवाना हो गये, किन्तु मैं लाहोरकी लाईनसे माँटगोमरी जा लारीसे हडप्पारोड स्टेशन लौटा। रातको वहीं ठहर सबेरे स्टेशनसे हडप्पा पहुँचा, और प्राचीन ध्वंसावशेषकी खुदाइयोंमें घूमने लगा। यहाँ मोहन-जो-डरोकी तरह शहरका एक भाग आँखोंके सामने ही उद्घाटित हुआ

है, किन्तु ईटें उसी नाप-तौलकी हैं। पत्थरके चिकने छल्लोंको देखकर मुझे बहुत जिज्ञासा हुई, उनके उपयोगके बारेमें। बड़े-बड़े मटकोंमें मुर्दोंकी हड्डियोंको रखकर समाधि देनेके बारेमें तो पढ़ चुका था, और गिरी हुई छतोंवाले लंबी पतली ईंटके घरोंमें उस वक़्त कितने ही ऐसे मटके खोदकर बाहर निकाले जा रहे थे। साथके म्युजियममें भी मैंने कुछ समय दिया, और मुझे पुरातत्त्वका एक विद्यार्थी समझकर स्थानीय अधिकारीने उसे अच्छी तरह दिखलाया। उस वक़्त मेरी स्मृति मुझे सिन्धु-उपत्यकाकी पुरानी सभ्यताके इन चिन्होंके प्रथम आविष्कारक श्री राखालदास बनर्जीके उस वार्त्तालापकी ओर ले जाती थी, जो कि तिब्बत जानेसे पहिले हिन्दू विश्व-विद्यालयमें हुई थी। मेरे उत्साहको देखकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की थी, किन्तु ४६,४७ वर्षकी आयुमें अपने कार्य तथा आयुकी समाप्तिकी बात उनके मुँहसे सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ था। मैंने लंका रहते प्रोफेसर रुडाल्फ ओटो और प्रोफेसर लूडर जैसे बूढ़े जर्मन विद्वानोंको तरुणाईके उत्साहके साथ कार्यतत्पर देखा था, इसलिये भी राखालबाबूकी निराशा अरुचिकर मालूम हुई थी। लेकिन उस वक़्त मुझे यह विश्वास न हुआ था, कि उनके जीवनका अवसान इतना क़रीब है।

हडप्पा देखते-देखते दोपहर हो गया। उस धूपमें स्टेशन लौटनेकेलिये कोई जल्दी न थी, किन्तु भूखसे अँतड़ियाँ ऐंठने लगी थीं। उसी वक़्त एक सिक्ख सज्जन मिल गये, उन्होंने बतलाया—दूकान तो यहाँ नहीं है, किन्तु पासके गुरुद्वारेमें सदावर्ती लंगर चल रहा है, वहाँ रोटी-दाल मिल जायगी। उनके साथ मैं वहाँ गया। गुरुद्वाराकी बगलमें एक तालाब बन रहा था, और श्रद्धालु गृहस्थ—स्त्री-पुरुष दोनों—श्रद्धासे उसकी मिट्टी निकाल रहे थे। रोटियाँ बहुत मीठी थीं, और साबत उड़दकी दाल भी, किन्तु लाखों मक्खियोंकी भिनभिनाहट बुरी मालूम होती थी। खाने और कुछ समय विश्राम करनेके बाद उसी सज्जनके साथ मैं स्टेशनकेलिये रवाना हुआ। अपनी यात्राओं और पुस्तक-पत्रोंकी कृपासे मेरे पास कहने सुननेकेलिये इतनी चीजें थीं, कि हमें स्टेशन तककी यात्रा खतम होते मालूम न हुई। हडप्पा स्टेशनसे माँटगोमरी दूर न थी, और वहाँकेलिये मोटर-बसें जा रही थीं। मैंने माँटगोमरी या शाहीवाल जातिकी सुंदर दुधार गायोंको रास्तेमें ही देख लिया था, इसलिये माँटगोमरी शहर देखनेकी खाहिश न की। शामके वक़्त स्टेशनमें बैठे दीहातके स्त्री-पुरुषोंकी बातचीत सुनते वक़्त 'करसाँ' (करिष्यामि—करूँगा) 'जासाँ' (यास्यामि—जाऊँगा) जैसे शब्द जब मेरे कानोंमे पड़े, तो मुझे मालूम हुआ, संस्कृतभाषाके सबसे नज़दीक भारतकी यही बोली है।

लाहौरके मित्रोंसे मिलने-जुलनेकेलिये मैं वहाँ ५–१० अप्रैल तक ठहरा, और फिर छपराकेलिये रवाना हो गया।

गाँधी-इर्विन समझौतेके बाद आन्दोलनने साधारण रूप धारण कर लिया, और गाँधीजीके गोलमेज़ कान्फ्रेंसमें जानेकी बात चलने लगी। मुझे गर्मियाँ छपरामें बितानी थीं। बहुत दिनोंबाद—१९२२ से १९३१ तक—अबके उत्तरी भारतकी गर्मी और लूहसे सामना पड़ा था, इसलिये वह कुछ असह्य मालूम होती थी। दससे चार बजे दिन तक तो पसीनेके मारे शरीर चिप-चिप और मन व्याकुल रहता था, उस वक़्त कोई काम करना मुश्किल था।

तो भी मैं सारन ज़िलेके "राजनीतिक संघर्षके इतिहास" के लिखनेमें लगा रहा। १४ जून तक छपरा मुफस्सिल, मसरख, परसा, बडहरिया, कटया, गोपालगंज थानोंका वर्णन लिख चुका था। आगे और परिबर्द्धन हुआ, मगर पीछे वह पुस्तक जिसके पास रखी गई उसने खो दी। मुझे अभिधर्मकोषके साथ साथ "बुद्धचर्या" के छपवानेकी फिक्र थी। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्रमें मैं एक अजनबी-सा आदमी था, फिर 'बुद्धचर्या' जैसे पोथेको छापनेकेलिये प्रकाशकका मिलना आसान न था। मेरे मित्र धूपनाथने डेढसौ रुपये उसके प्रकाशनकेलिये दिये, यद्यपि वह कुल ख़र्चका दशाँश ही होता, तो भी 'आगे कोई रास्ता निकल आयेगा'के भरोसे मैंने काशी-विद्यापीठमें वर्षावास करते पुस्तक-को तारा-प्रिंटिंग-प्रेसमें छापनेकेलिये दे देना तै कर लिया। ८ अगस्तको मैं बनारस चला आया। आचार्य नरेन्द्रदेवजीसे परिचय १९२९ई० में तिब्बत जानेसे पहिले हुआ था, और अब यह मित्रताका रूप धारण कर चुका था। रहता पंडित रुद्रदेवके यहाँ और भोजन होता, आचार्य नरेन्द्रदेवजीके यहाँ। बड़ी तेज़ीसे 'बुद्धचर्या'का प्रूफ़-संशोधन और मुद्रण आरंभ हुआ। हिन्दीकी यह मेरी पहली पुस्तक थी, बल्कि अभिधर्मकोशके अभी प्रकाशित न होनेसे वह किसी भी भाषामें मेरी पहिली पुस्तक थी, इसलिये उसे प्रकाशित देखनेकी बड़ी लालसा थी, लेकिन जितने रुपये मेरे पास थे, उनसे वह काम साध्य न था, इसे मैं जानता था। नरेन्द्रदेवजीने बा० शिवप्रसाद गुप्तसे सिफ़ारिश की। उन्होंने पुस्तककी परखकेलिये बाबू भगवानदासजीको भी दिखला लेनेकेलिये कहा। पुस्तकके विवरण और एकाध पन्नोंको सुनकर बा० भगवानदासने राय दी कि मैं उसे शब्दानुवाद न रख स्वतंत्र ग्रंथके रुपमें परिणत कर दूँ, इसकेलिये उन्होंने पुराणोंका उदाहरण दिया। ऐतिहासिक दृष्टि और ईमान-दारी मुझमें अब काफ़ी थी, इसलिये उनकी बातका मुझपर असर क्या पड़ता? मैंने "बुद्धचर्या" के रूपमें बुद्ध और बुद्धकालीन भारतके इतिहासकी सामग्री मौलिक रूपमें

रखनी चाही थी, बाबू भगवानदासकी बात माननेसे उस पुस्तकको आगमें डाल देना मैं पसंद करता। खैर, पाँच-सात फर्मोंके छप जानेके बाद बाबू शिवप्रसादजीने पुस्तकको अपनी ओरसे प्रकाशित करना स्वीकार किया। मैंने पुस्तकमें हर जगह ईसवी सनका व्यवहार किया था, सौर तिथि और विक्रम संवत्के स्वीकारके रूपमें मैं काफ़ी वर्षों तक देशप्रेमको पहिले ही दिखला चुका था, और अब समझता था कि सारे संसारमें प्रचलित मास-सनकी जगह विक्रम संवत् और सौर तिथिके प्रचारका आग्रह अन्तर्राष्ट्रीयताका वहिष्कार है। तो भी पुस्तकके प्रकाशकके भावोंका ख्याल करना जरूरी था, खासकर जबकि उसे स्वीकार न करनेपर पुस्तकका प्रकाशन ही अनिश्चित कालकेलिये रुक जाता। बाबू शिवप्रसादकी बातको स्वीकार कर लेनेके बाद धूपनाथजीका भी पत्र आया, कि वह पुस्तकके प्रकाशनकेलिये सभी अपेक्षित रुपयोंको देनेको तैयार हैं, किन्तु अब तो उसके बारेमें तै हो चुका था।

उसी वर्षावासमें एक दिन (४ सितंबर) यागेशसे मुलाकात हुई। वह अपने पिता-की चिकित्साकेलिये हिन्दू विश्वविद्यालयके आयुर्वेदिक चिकित्सालयमें ठहरे हुये थे। काल्पीके बाद यह पहिली मुलाकात थी। मैंने देखा अब उनका वह तरुणाईका भरा हुआ लाल चेहरा न था। घरके जंजालने उनके स्वास्थ्यपर असर किया था। मुझे अपनी जीवन-यात्रापर संतोष हुआ।

विद्यापीठमें एक दिन अच्छा मजाक रहा। पंडित रुद्रदेवजीसे हमने दावतकेलिये तक़ाजेपर तक़ाजे शुरू किये। मेरे अतिरिक्त नरेन्द्रदेवजी और बाबू शिवप्रसादजी जैसे आदमी भी जब उस तक़ाजेमें शामिल हों, तो पंडित रुद्रदेवजी रनपर क्यों न चढ़ जाते। पंडित रुद्रदेवजी गुरुकुल वृन्दावनके स्नातक तथा वैदिक साहित्यके विद्वान् थे, इसलिये मैंने प्रस्ताव किया, कि भोजमें सोम और मधुपर्कका जरूर इन्तिजाम होना चाहिये। लेकिन असली सोम यानी भंगको हममेंसे कोई न पी सकता था, और माँस खानेवाला अकेला मैं ही था, इसलिए तै हुआ कि 'नामासो मधुपर्को भवति' इस भगवती स्मृतिका पालन करनेकेलिये गुच्छियों—जिनका स्वाद माँस-जैसा ही होता है—की तरकारी बने, और सोमकी जगह झंडूका द्राक्षासव आये। द्राक्षासव तो नहीं मिल सका, किन्तु मधुपर्कके साथ रसगुल्ले, अमरती तथा दूसरे सुस्वादु नफ़ीस खाद्य—भोज्य-चोष्य-पेयकी दावत हुई। दस-पंद्रह प्रतिष्ठित अतिथि उसमें शामिल हुये। भोजनके बाद मेजवानकी प्रशंसामें वक्तृतायें हुईं। उसमें भाषणके उल्लेखमें यह भी कह दिया गया, कि कैसे पाँच आदमियोंसे शुरू करते-करते अतिथियोंकी संख्या पंद्रह तक पहुँचा दी गई। इतना तक तो कोई बात न थी, किन्तु मैंने सूचीके भिन्न-भिन्न संस्करणोंमें

आये नामों तक को प्रकट कर दिया। मूल सूचीमें बाबू शिवप्रसादजीका नाम न आया था, वह झट बोल उठे—तो हमलोग पीछेसे ज़बर्दस्ती बढ़ाये हुओंमें हैं ? पंडित रुद्रदेवजीको इससे भी चिढ़ हुई थी, कि उन्हें बेवकूफ़ बनाकर दावत देनेकेलिये मजबूर किया गया, और अब वक्तृतामें मज़ाकिया तौरपर ही सही, बाबू शिवप्रसाद गुप्तको गौण अतिथियोंमें बतला दिया गया। वह नाराज़ हो पड़े, और सबसे ज्यादा मुझपर। लेकिन जो मजाक करना चाहता है, उसे इसकेलिये भी तैयार रहना चाहिये। इसी वक्त विद्यापीठमें मुरादाबादके पंडित ज्वालादत्त शर्मासे मुलाकात हुई। उनका नाम "सरस्वती" के उन लेखकोंमें देखा था, जिनके लेख सरस्वतीके प्रथम परिचयके वक़्त पढ़नेको मिले थे। उन्होंने मेरे लंका-संबन्धी लेख "सरस्वती" में देखे थे। वे लेख नौसिखिया नहीं प्रौढ़ लेखनीसे निकले थे,—अपनी कलमपर दस-बारह बरस संयम रखनेका मुझे अफ़सोस न था—इसलिये यकायक ऐसे लेखकका साहित्यक्षेत्रमें अवतरण होना उन्हें कुछ अचरजसा मालूम हुआ था, यह पंडित ज्वालादत्तकी बातचीतसे मालूम हुआ। वह मेरे लेखोंकी प्रशंसाके सिलसिलेमें कह रहे थे—मैंने तो संपादकसे पूछा, यह नई विभूति कहाँसे निकल आई ? किसी सहृदय व्यक्तिके मुँहसे संयतभाषामें यदि प्रशंसाके शब्द निकलें, तो वह किसको बुरे लगते हैं ? उसी साल पंडित पद्मसिंह शर्मासे मुलाकात हुई। वह उस वक़्त मेरी "बाईसवींसदी" को पढ़ रहे थे। उस वक़्त तक बाइसवीं सदीका प्रथम संस्करण पटनासे निकाल दिया गया था क्या ? मेरी लेखनीसे वह भी परिचित हैं, इसका भी मुझे कम सन्तोष नहीं हुआ; तो भी यह बातें ऐसे समय हो रही थीं, जब मुझे अपनी लेखनीपर भरोसा करनेकेलिये बाहरके प्रोत्साहनकी आवश्यकता न थी।

बरसात खतम होते-होते "बुद्धचर्या" और "अभिधर्मकोश"की छपाईका भी काम खतम होनेको आया। प्रेसपर ताक़ीद रखनेकेलिये मुझे अक्सर ताराप्रिंटिंग प्रेस जाना पड़ता था। एक दिन वहीं पंडित अयोध्यासिंह उपाध्यायसे भेंट हुई। उनके "चोखे चौपदे" वहाँ छप रहे थे। एक दिन राष्ट्रीयता और हिन्दूसभा लेकर बात छिड़ गई। मैंने भी उसमें भाग लिया। उस वक़्त उपाध्यायजी यह नहीं जानते थे, कि मैं उनकी जन्मभूमि निज़ामाबादके तहसीली स्कूलका विद्यार्थी हूँ, और उनके शिष्य पंडित सीताराम श्रोत्रिय मेरे अध्यापक रह चुके हैं। मैंने उनको हिन्दूसभाई पक्षका गर्मा-गर्म समर्थन करते देख, एकाध चुभती टिप्पड़ियाँ की। उपाध्यायजीको एक बौद्धभिक्षुका इस तरह हिन्दुत्वपर हम्ला करना बहुत बुरा लगा। मैं भीतरसे

मज़ा लेने लगा, जब उन्होंने कहा—तुमलोग कब हमारे हुये ? इसीलिये तो तुमलोगोंको भारतसे निकाल बाहर करना पड़ा।

सारनाथके नये बौद्ध बिहारका निर्माण समाप्तिपर आ रहा था। अनागरिक धर्मपाल सारनाथमें थे, और कभी-कभी मैं भी वहाँ जाया करता था। अनागरिक की बातें बड़ी रोचक हुआ करती थीं। एकबार कह रहे थे—मैंने महादेवसे पूछा तुम यहाँ बनारसमें क्यों चले आये ? यहाँ सारनाथ तो बुद्धका स्थान है ?' बेचारा गिड़-गिड़ाने लगा—'मुझे मत कुछ कहो। मैं तो भले तिब्बतके कैलाशमें—बड़ी ठंडी जगहमें रहता था। यह औरत—पार्बती—सारे खुराफातकी जड़ है। इसको यह आग उगलती गरम जगह ही पसन्द है। इसीने जिद किया' 'लेकिन औरतपर काबू रखना तो चाहिये।' यही तो मेरी कमज़ोरी है।

अनागरिक उस वक़्त चिर-रोगी थे—पैरोंकी कमज़ोरीके कारण चल-फिर नहीं सकते थे। कहते थे जब अकेला रहता हूँ, तो अक्सर देवताओंसे सवाल-जवाब करता रहता हूँ। महादेव भला आदमी है, लेकिन औरतपर उसका वश नहीं। अपनी बातचीतमें एकबात वह बहुत दुहराते—'मैंने जीवनके बेहतर हिस्सेको भारतमें बौद्धधर्मकी पुनः स्थापनामें खर्च किया। जड़ पड़ गई है, किन्तु अभी भी काम करनेवालोंकी बड़ी ज़रूरत है। आप लोग काम सँभाले रहें, मैं तो मरकर इसी बनारसमें ब्राह्मणके घर पैदा होऊँगा। मुझे पढ़ाई समाप्तकर लेने दीजियेगा, फिर तो मैं कामकेलिये आ ही जाऊँगा।

११–१३ नवंबर (१९३१) को सारनाथके नये विहार (मूलगंधकुटी विहार) का उद्घाटन-महोत्सव था। उसका भव्य पाषाण शिखर और पूजागार बहुत अच्छा बना था, किन्तु सामनेके छोटे-छोटे शिखरोंकी लंकाके युद्धस्मारक जैसी आकृति मुझे खटकती थी। लेकिन अब तो वह बन चुका था। भीतर स्थापित होनेवाली प्रतिमा तो इतनी भद्दी थी, कि मुझे यह बर्दास्त नहीं होती थी। बेचारे अनागरिकने स्वदेशीके ख्यालसे जयपुरके कारीगरोंसे बनवाया था, और एक आधुनिक कलाकारके तत्त्वावधानमें। सारनाथ म्युज़ियमकी प्रसिद्ध गुप्तकालीन प्रतिमाकी नक़ल कराना चाहते थे, जो यदि किसी योरोपीय कलाकारके हाथमें सौंपी गई होती, तो आसानीसे यांत्रिक तरीक़ों-द्वारा सफलताके साथ बनाई जा सकती थी। उत्सवतक मैं पुस्तककी छपाईके कामसे फुर्सत पा गया था। कांग्रेसको रचनात्मक काम—चर्खा-खद्दर, अछूतपन-निवारण, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा गांधी-इर्विन समझौतेको अक्षरशः पालन—की हिदायत दे, गांधीजी गोलमेज़ कांफ्रेंसमें जानेकी तैयारी कर

रहे थे। कांग्रेसके तत्कालीन प्रोग्राममें मेरी कोई रुचि न थी, इसलिये मैं लंका जानेकी फिक्रमें था।

उत्सवमें लंकाके कितने ही भिक्षु आये थे, जिनमें मेरे उपाध्याय श्री धर्मानंद नायकमहास्थविर भी थे। उत्सवमें मैंने भी भाग लिया। सभी बौद्ध देशोंके प्रतिनिधि आये हुए थे। दर्शकपर बौद्धधर्मकी अन्तर्राष्ट्रीयताकी छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। उत्सवमें सम्मिलित होनेकेलिये शान्तिनिकेतनसे पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य भी आये थे। उनका नाम पहिले ही सुन चुका था, लेकिन दर्शन करनेका यह पहिला अवसर था। वह भी मेरे लेख "भारतमें बौद्धधर्मका उत्थान और पतन" पढ़ चुके थे, इसलिये मैं उनकेलिये अपरिचित न था। उनकी सादगी, सदास्मितमुखता और मधुरभाषिता नवागन्तुकको देखने मात्रसे आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती, और फिर मैं तो उनकी विशाल विद्वत्ताका कुछ परिचय रखता था। उन्होंने कहा—'मैंने आपके उस लेखको पढ़ा, और लेखकको देखनेकेलिये उत्सुक था।' मैंने पूछा—'हिन्दीमें ?'—वह गंगा जैसी बहुत अल्पप्रसिद्ध पत्रिकामें निकला था। उत्तर मिला—'हाँ, मैंने निशान लगाकर रखा है'। मर्मज्ञसे अपने लेखकी प्रशंसा आत्मविश्वासको बढ़ाती है, इसमें शक ही नहीं।

उत्सवके बाद नायकपाद और आनंदजी—वह भी लंकासे चले आए थे—की राय हुई, कि मैं भी लंका चला चलूँ। तिब्बतसे लाई सारी साहित्यिक सामग्रीको कीड़े-मकोड़ेसे बचाना ही नहीं बल्कि उसका उपयोग भी करना था। लंकाकी एक पूरी जमात—जिसमें पंद्रह-सोलह भिक्षु तथा पचासों गृहस्थ थे—१४ नवंबरको सारनाथसे जेतवन (बलरामपुर)को रवाना हुई। वहाँसे नौतनवा होते लुम्बिनी गए, और फिर कसया। त्रिपिटकका जिसने गंभीर अध्ययन किया है, वह जानता है, कि बुद्धके जीवनमें जेतवनका कितना महत्त्व है। अपने प्रचारक-जीवनके आधे वर्षावास उन्होंने यहीं बिताए। जेतवनकी गंधकुटीके ध्वंसके सामने भिक्षु, गृहस्थ खड़े हुए, कि नायकपाद कुछ उपदेश करें। उन्होंने जेतवनकी प्रशंसामें संयुत्तनिकायकी गाथा "इदं जेतवन" कहना शुरू किया, कि उनका कंठ रुद्ध हो गया, और आगे बोलना असंभव, उनके आँखोंमेंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। ख्याल कीजिए उस आदमीकी मानसिक अवस्थाका, जिसने जेतवनके बारेमें, श्रावस्तीके राजकुमार जेतके राजोद्यानके रूपमें सिर्फ पढ़ा ही नहीं बल्कि उसका मानसिक साक्षात्कार किया, जिसने अनाथ पिंडकको मुहरें बिछाकर उसे खरीदते देखा, जिसने बुद्धको अपने प्रमुख शिष्योंके साथ वहाँ वर्षायें बिताते देखा, और जिसने बुद्धनिर्वाणवाले वर्षमें

आनंदको इसी गंधकुटीमें झाड़-बुहारकर, आसन जलकुम्भ सभी चीजें बुद्धके जीवित रहनेकी अवस्थाकी भाँति श्रद्धासे रखते देखा। पिछली शताब्दियोंमें जहाँ अपनी श्रद्धाके फूल चढ़ानेकेलिए मोग्गलिपुत्र तिस्स जैसे अनेकों संघज्येष्ठ, अशोक जैसे अनेकों मुकुटधर आए और जिसे आज एक निर्जन ज़मीनसे जीर्ण-शीर्ण ईंटोंकी टूटी-फूटी दीवारोंके रूपमें खोदकर निकाला गया है।

कसया (१९ नवंबर) से हम लोग छपरा-पटना होते नालंदा (२२ नवंबर) राजगृह गए, और फिर (कलकत्ता २४ नवंबर) से लंकाकेलिए रवाना।

८

लंकामें तीसरी बार (१९३१-३२ ई०)

२८ नवंबरको हम विद्यालंकार पहुँच गए। अबकी बार बिहारमें मैंने एक चीनी विद्वानको देखा। वाङ्-मो-लम् (यही उनका नाम था) शाँघाईसे निकलनेवाले एक बौद्ध अंग्रेज़ी पत्रके सम्पादक थे, उन्हें पाली संस्कृत पढ़नेकी तीव्र इच्छा हुई, जिसकी पूर्तिकेलिए वह यहाँ आए हुए थे। मुझे इस अवसरसे फायदा उठानेका अवसर मिला। एकाध बार चीनी अक्षर सीखनेका मैंने प्रयास किया था, किन्तु वह दूर तक न जा सका। लेकिन मैं चीनी अक्षरोंको सीखकर पंडित बननेकी जगह यह ज्यादा पसन्द करता था, कि अक्षर सीखनेके साथ किसी संस्कृत पुस्तकका पुनरनुवाद होता चले। अभिधर्मकोशको मैंने पूसिन्‌के फ्रेंच-अनुवादके सहारे पूरा किया था, पहिले मैंने उसीके चीनी अनुवादको लिया, और फिर ह्वेन्-चाङ अनुवादित विज्ञप्तिमात्रतासिद्ध और दीर्घनिकायके कुछ सूत्रोंको लिया। बाबू शिवप्रसाद गुप्तकी कृपासे काशी विद्यापीठने थैसो संस्करणके चीनी त्रिपिटककी एक प्रति मँगवानेमें पैसोंकी मदद की थी। अब मेरी इच्छा थी, कि चीनी-लिपिको अच्छी तरह पढ़ूँ, किन्तु पीछेकी बहुकार्यव्यस्तताने श्री वाङ्के साथ पढ़े अक्षरोंको भी भुलवा दिया। श्री वाङ् हृदयके बहुत ही कोमल व्यक्ति थे। बौद्धदर्शनपर—विशेषकर योगाचारदर्शनपर—उनकी अपार श्रद्धा थी, किन्तु उनका मिज़ाज बहुत जल्द गरम हो जाता था। ज़रासी बातमें उनको ग़लतफ़हमी हो जाती, और फिर तुरन्त उबल पड़ते; थोड़ी ही देर बाद उन्हें ग़लती मालूम हो जाती, फिर आकर बच्चोंकी तरह बेचैन हो क्षमा-प्रार्थना

करते। विहारके तरुण भिक्षु उनके चिड़चिड़ेपनको अपने मनोरंजनकी सामग्री बनाना चाहते थे, जिससे उन्हें दुःख होता था। चीनमें जूठ-मीठका विचार नहीं है। वाङ् महाशय अक्सर अपने रूखे चमड़ेको मुँहके थूकसे मल-मलकर नरम कर लेते, मैंने इसे तिब्बतमें बहुत देखा था, इसलिए अच्छी आदत न मानते हुए भी मैं उसकी ओर उतना ख्याल न करता था; लेकिन दूसरे भिक्षु इस आदतको बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। वाङ महाशय कितनी ही बार नंगे नहाने लगते, यद्यपि कूयेंके पास थोड़ीसी दीवार घिरी थी, किन्तु वहाँ दर्वाज़ा न था, और आदमियोंकी नज़र पड़ती रहती। यह भी टिप्पणीका विषय था। वस्तुतः, वाङ् महाशयने इस गुरको स्वीकार नहीं किया था, कि नये देशमें अपने ही तरीक़ेसे चिपटे रहनेकी अपेक्षा बेहतर है, वहाँवालोंके व्यवहारको देख-देखकर नक़ल करना। वाङ महाशयके प्रति स्वाभाविक सहानुभूतिके अतिरिक्त मेरा जो अधिक पक्षपात हो गया था, उसका एक कारण यह भी था, कि मैं एक-दूसरे सरल किन्तु पंडित चीनी भिक्षु बो-दम् (बोधिधर्म)को तिब्बत जानेसे पहिले राजगिरके सोन-भंडार गुफामें आधे पागल जैसा देखा था। पीछे उनसे सम्बन्ध ज्यादा हुआ, और जब वह नेपाल गये, तो उन्होंने वहाँके बौद्धोंके बारेमें एक विस्तृत पत्र लिखा था। श्री बोदम् जीवन-मरणसे निस्पृह थे, किन्तु मुझे जब उनकी मृत्युकी खबर मिली, तो चीनी पर्यटकोंके ग्रंथोंमें वर्णित, भारतकी गर्मी और प्रतिकूल आबोहवाके कारण मृत पुरातन चीनी भिक्षुओंकी शोकपूर्ण स्मृति जागृत हो उठी। मुझे अपने मित्रके बारेमें रह-रहकर वह आशंका हो आती थी, विशेषकर उनके दुर्बल स्वास्थ्यको देखकर। आखिर वह आशंका ठीक ही उतरी, मेरे लंकासे अनुपस्थित होनेके समय वाङ यक्ष्माके शिकार हुए। उन्हें जाफनाके समुद्रतटवर्ती सेनीटोरियम्में भेजा गया। एक बार स्वस्थ होकर विहारमें लौट आये, किन्तु कुछ ही महीनों बाद बीमारी फिर लौट आई। वाङको घुल-घुलकर महीनोंमें मरना पसन्द न आया, और एक दिन समुद्रमें उनकी लाश तैरती मिली। यह था एक मित्रके स्नेहका अवसान !

आनन्दजीका पढ़ना-लिखना खतम हो चुका था। मुझे खुद ही सैर करना पसन्द नहीं आता, बल्कि दूसरेको वैसे करते देख भी आनन्द आता है। आनन्दजीने जब ऐसी यात्राकेलिए इच्छा प्रकट की, तो मैंने उसका सहर्ष अनुमोदन किया। उन्होंने स्यामकेलिए पासपोर्ट माँगा। लंकाकी पुलीसके पास हम लोगोंके बारेमें भारतीय पुलीसकी कुछ सूचना मौजूद थी। पुलीस-अधिकारीने पूछ-ताँछ करते वक़्त उनके उन मित्रोंके बारेमें पूछा, जो भारतीय पुलीसकी

दृष्टिमें खतरनाक थे। तो भी उनका रेकार्ड उतना खराब न था, और पास-पोर्ट मिल गया।

इसी बीच महाबोधि सभाके द्वारा लन्दनमें प्रचारार्थ भेजे गये भिक्षुओंके लौटनेकी खबर आई। सभाके ट्रस्टी नये प्रचारक भेजना चाहते थे। ट्रस्टके प्रधान श्री एन्० डी० एस्० सिल्वा और उनकी पत्नी दोनों नायकपादके अनुरक्त भक्त थे, उनकी दृष्टि आनन्दजीपर पड़ी। आनन्दजी अकेले लन्दन जानेकेलिए तैयार न थे, इसलिए मुझे भी चलनेकेलिए कहा गया। मैं कुछ ही महीनोंकेलिए जाना पसन्द करता था, और सो भी उस वक्त इस ख्यालसे कि एक बार बाहर जानेका पासपोर्ट तो मिल जावे। तबतक श्री (पीछे सर) डी० बी० जयतिलक सीलोन सर्कारके प्रधान-मंत्री हो चुके थे। मैंने सिर्फ़ इंग्लैंड जानेकेलिए पासपोर्टकी दर्ख्वास्त दी, सोचा इसमें कम दिक्क़त होगी। आनन्दजीने अपने पासपोर्टमें इंग्लैंडका नाम बढ़वानेकेलिए भेजा। पुलीसके पास मेरे बारेमें काफ़ी शिकायतें भारतसे पहुँची थीं। आखिर मैं दो-दो बार जेलखानेकी हवा भी तो खा चुका था। कुछ ही दिनोंमें सर्कारकी ओरसे मेरे पास जवाब आया—आप भारत सर्कारसे पासपोर्ट माँगें, हम उसकी आज्ञा बिना पासपोर्ट देनेमें असमर्थ हैं। आनन्दजीको जवाब मिला—असावधानीके कारण पासपोर्ट दे दिया गया था, उसे हम वापिस लेते हैं, आप भारत-सर्कारसे पास-पोर्ट माँगें। हमें तो निराशा और अफ़सोस हुआ ही, किन्तु हमसे भी अधिक तरद्दुद महाबोधि सभाके ट्रस्टियोंको हुआ, क्योंकि उन्हें लन्दन भेजनेकेलिए कोई अंग्रेज़ीसे परिचित योग्य भिक्षु नहीं मिल रहा था।

सर डी० बी० जयतिलकको भी चिन्ता हुई, और उन्होंने हमारे पासपोर्टकी बात अपने हाथमें ली। अपने प्रधान-मंत्रीकी बात न मानना लंकाके पुलीस और चीफ़ सेक्रेटरीकेलिए भी मुश्किल था, आखिर वास्तविक नहीं तो दिखावेकेलिए तो मंत्रियोंको अधिकार दिया गया था,। इस प्रकार सर जयतिलकके प्रयत्नसे हमें पासपोर्ट सिर्फ़ इंग्लैंडका ही नहीं बल्कि सारे बृटिश साम्राज्यका दे दिया गया। जबसे पासपोर्टकेलिए रावलपिंडीमें दर्ख्वास्त (१९२६ ई०) दी थी, तभीसे मुझे अनुभव होने लगा था, कि बृटिश-सर्कारने सारी भारतभूमिको भारतीयोंकेलिए जेलखाना बना दिया है। पासपोर्ट मिल जानेसे उसी तरहका आनन्द हुआ, जैसे चिरबन्दीको जेलसे बाहर जानेकी इजाज़त मिले।

काशी विद्यापीठमें रहते ही समय "गंगा" (सुल्तानगंज) के सम्पादकोंको आग्रह

हुआ था, कि मैं उनके पुरातत्त्वांक (विशेषांक) का सम्पादक बनूँ। मैंने उसे स्वीकार कर विषयसूची भी तैयार कर दी थी, और लंकामें आ उसकेलिए कई लेख लिखे, जिनमेंसे "चौरासी सिद्ध" और "महायानकी उत्पत्ति और विकास"के अनुवाद फ्रेंचमें हो "जूर्नाल-आसियातिक"में भी छपे।

९

युरोप-यात्रा (१९३२-३३ ई०)

आनन्दजी और मैं ५ जुलाईको ६ बजे कोलम्बो बन्दरपर पहुँचे। हमें बिदाई देनेकेलिए विहारके बहुतसे भिक्षु आये थे। "दार्तनना" (D' Artagnen) जहाज़ किनारेसे थोड़ा हटके खड़ा था, क्योंकि कोलम्बोका बन्दर किनारेतक उतना गहरा नहीं है। फ़ोटोग्राफ़र फ़ोटो लेना चाहते थे, लेकिन अभी आनन्दजीको इससे सख्त विरोध था। नाव जहाज़के पास पहुँची, हम फ्रेंच जहाज़के फ्रांसीसी नाविकोंके पाससे गुज़रे। यूरोपमें लोग कोट-बूट पहनके जाते हैं, और हमारे बदनपर थी, ढाई हज़ार बरसके पहिलेकी भिक्षुओंकी पोशाक—चीवर। उन्होंने देखकर खूब ज़ोरसे हँसकर हमारा स्वागत किया। अभी बत्ती नहीं जली थी, इसलिए भीतर अँधेरा था, ३०० नम्बरके केबिनमें हमारी वर्थ थी। १० बजे राततक पिछड़े दोस्त मिलने आते रहे। ग्यारह बजे जहाज़ खुला, और हम सो गये। भिनसारमें ही सोते-सोते मुझे मालूम हो रहा था कि खूब ज़ोरका झूला झुल रहा हूँ। समुद्र बहुत क्षुब्ध था, तेज़ हवा चल रही थी। सबेरे उठकर पाखाने गया। वह काफ़ी गन्दा था। मुँह धोते वक्त वमनसा होता दिखाई पड़ा। आनन्दजी सामुद्रिक बीमारीसे बहुत पीड़ित थे। दिनभरमें तीन बार वमन हुआ और उन्होंने खानेका नाम नहीं लिया। मैंने ८ बजे मक्खन पावरोटीके साथ चाय पी ली। ११ बजे भोजनका समय था, उस वक्त चावल, मांस, पावरोटी, मक्खन और आम खानेको मिला। मैंने खाया तो, लेकिन आज मुझे भी भोजनकी कम इच्छा थी। सामुद्रिक बीमारीकेलिए हमने बहुतसा नीबू और अदरक साथमें ले लिया था। दिनमें कई बार उसे खाते रहे। हमारा केबिन और बिछौना बहुत साफ़ था। हमारे दोनों वर्थ ऊपर-नीचे थे। केबिनमें एक ओर हाथ धोनेकेलिए पानीका नल था, जिसके पास ही छल्लेमें

पीनेका पानी (कांचकी सुराहीमें) और एक ग्लास रखा था। हमारे सहयात्री ज्यादातर यूरोपियन थे, और उनमें भी ज्यादा फ्रेंच-भाषा बोलनेवाले। मैं तो १ दिन हीमें सामुद्रिक बीमारीसे काफ़ी अभ्यस्त हो गया। मुझे उतना कष्ट नहीं था, लेकिन आनन्दजीकी हालत खराब थी। तीसरे दिनसे तो मैं सहयात्रियोंसे परिचय भी बढ़ाने लगा। लखनऊके तरुण ए० के० दासगुप्त ही एकमात्र भारतीय मिले। मुकदन विश्वविद्यालयके भूतपूर्व प्रोफ़ेसर ल्यूसे भी परिचय हुआ। एक अमेरिकन प्रोफ़ेसर फ़िलिपाइनसे अपने देशको लौटे जा रहे थे। बौद्धधर्म और महात्मा गांधीके बारेमें वह बहुत पूछते रहे। एक यवद्वीपीय बतावू (वटेबिया)-निवासी मुसल्मान भी इसी जहाज़से अरब जा रहे थे। तीसरे दिन आनन्दजीने थोड़ासा भोजन किया, लेकिन उनकी परेशानी कम नहीं हुई। वह ऊपर खुले डेकपर सोते थे। केबिनमें पंखा था, मैं तो अपने आसनपर सोता था। ७ जुलाईके शामको तूफ़ान और ज्यादा मालूम हुआ। ६से ११ तारीख तक पूरे ६ दिनोंतक अरब-समुद्र वैसा ही क्षुब्ध रहा।

८ तारीखको तूफ़ान और तेज़ हुआ। ल्यू, दासगुप्त और आनन्द सभी बहुत पीड़ित थे। आनन्दजीको वमन होता रहा। ल्यूने भी कुछ नहीं खाया। हम लोग तीसरे दर्जेके यात्री थे, तो भी कोई तकलीफ़ नहीं थी। भोजनमें मांस, मछली, चावल, पावरोटी, मक्खन, उबली हुई तरकारियाँ सभी मेरेलिए अच्छी चीजें थीं। पीने-वालोंको एक-एक बोतल शराब मिलती थी। खाना भी जहाज़के किरायेमें शामिल था। यद्यपि समुद्रका रोष और बढ़ता ही गया और मेरे साथी भी परेशान रहे, लेकिन मैं दूसरे दिनसे प्रकृतिस्थ हो गया। लड़के बहुत मगन थे, वह खूब दौड़ते चलते थे, जब कि सयानों को हाथसे दीवार पकड़कर चलना पड़ता था।

१२ जुलाईको समुद्र शान्त हुआ। ८-६ बजे हमें अफ़रीका-तट दिखलाई पड़ने लगा। तृण-वनस्पति-रहित पहाड़ नज़र आ रहे थे, हम शुमालीलैंडके किनारे-किनारे चल रहे थे। शुमाली मछुवोंकी नावें भी जब-तब जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती थीं। हमारा जहाज पद्मिनी नायिकाकी तरह हंसगति और गजगतिसे चल रहा था। अब सब लोग प्रसन्न थे। गर्मी थोड़ी जरूर बढ़ गई थी। सहयात्रियोंके पाससे जो भी काम लायक पुस्तकें मिलती थीं, मैं कभी उन्हें अपने केबिनमें और कभी डेककी कुर्सीपर लेटकर पढ़ता रहता था। स्नानगृह उतना अच्छा नहीं था, लेकिन नहानेकेलिए खारा मीठापानी मौजूद था। मुझे किसीने पहिले बताया नहीं था, लेकिन अपने ही हैरान होकर देख लिया, कि खारे पानीसे साबुन लगानेपर मालूम होता था, आप पत्थर घिस रहे हैं। मीठे पानीसे शरीरको भिगोकर साबुन लगा

खारे जलसे नहाना चाहिए। नहानेमें अच्छा आनन्द आता था। रेडियोकी खबरें टाइप करके लगा दी जाती थीं, हमें उससे मोटी-मोटी खबरें मालूम होती रहतीं। मैं अपनी टूटी-फूटी फ्रेंच भाषाका भी उपयोग करता था। १४ तारीखको हम जिबूती पहुँचे, यह फ्रांसके आधीन है। हम लोग भी किनारे जाना चाहते थे, लेकिन कोई छोटी नाव नहीं मिली। और जहाजपर हीसे देखकरके संतोष करना पड़ा। लोग समुद्रमें पैसा फेंकते थे। शुमाली लड़के डुबकी लगाके नीचे पहुँचनेके पहिले ही निकाल लाते थे। जिबूतीमें कितने ही गुजराती व्यापारी भी रहते हैं, नारंगी बेचनेवाले हिन्दी भी बोल लेते थे। हमारा जहाज ४ बजे रातको ही आया था, ४ घंटे बाद वह फिर आगेकेलिए रवाना हुआ। कुछ ही समय बाद अब हम लालसागरमें चल रहे थे। हमारा जहाज अफ्रीका-तटके करीबसे चल रहा था, लेकिन दाहिनी ओर एसिया (अरब)-तट भी साफ़ दिखाई देता था। गर्मीकी कुछ मत पूछिए, पंखेके नीचे भी पसीना होता था। रातके वक्त दाहिनी ओर किसी छोटी पहाड़ीके दीप-स्तम्भसे भुक्-भुक् करके प्रकाश दिखाई पड़ रहा था।

१५ जुलाईको तो मालूम होता था, हम समुद्रमें नहीं हैं, किसी शान्त सरोवरमें चल रहे हैं।

दोपहर बाद उसी फ्रेंच कंपनी—मेसाज़री मरीतीम—का दूसरा जहाज सामनेसे आ रहा था। दोनों जहाज़ोंने भोपू बजाकर एक दूसरेका स्वागत किया। आनंदजीकी वैसे तो तबियत अच्छी थी, लेकिन भोजनकी बड़ी तकलीफ थी। वह मेरी तरह सर्वभक्षी नहीं थे। बेचारे कई पुश्तके घासाहारी थे, और उस धर्मको अपने देह तक बचा ले जाना चाहते थे। तो भी रोटी-मक्खन, उबले साग और तले आलू जितना चाहे उतना मिल सकती थीं। फल और चाय भी मौजूद थी। १६ को मालूम होता था, स्नानघरकी कोई खबर लेनेवाला नहीं है, वह बहुत मैला और पानी भी बहुत कम था। १७ को छोटे-छोटे स्टीमर ज्यादा आते-जाते दिखाई पड़ने लगे। पासके नंगे पर्वतोंको देखकर तिब्बत याद आ रहा था, लेकिन तिब्बतकी शीतलता वहाँ कहाँ ? तो भी भूमध्यरेखासे हम काफ़ी उत्तर हो गए थे, इसलिए गर्मी कुछ कम थी। शामके वक्त योरोपीय स्त्री-पुरुष डेकपर जमा होते, फोनोग्राफ बजता और वह खूब नाचते। योरोपीय स्त्री-पुरुषोंको बहुत नजदीकसे और सो भी चौबीसों घंटे पहिले-पहल यहीं देखनेका मौका मिला। कल तक एक-दूसरेसे बिलकुल अपरिचित, आज खूब हँसते खेलते थे। स्त्री-पुरुषोंमें कोई-कोई बिलगाव नहीं था। तो भी मैंने अपनी डायरीमें लिखा था "यूरोपीजन स्त्री-पुरुष प्रेमके विषयमें

बहुत खुले होते हैं, वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता, तो भी इसके कारण नहीं कह सकते कि वह दूसरोंकी अपेक्षा ज्यादा कामुक हैं। कामुकता तो सर्वत्र एक समान है" (यूरोप-जना इत्थिपुरिस-राग-विसये बहुपाकटा, न तथा अञ्ञत्थ दिस्सति। तथापि तेनेते अञ्ञापेक्खं बहुकामुका' तिन वत्तुं सक्का। कामुकभावो तु सब्बत्थ समानो' व)।

विलायती कागजी पौण्डको उसके सोनेके आधारसे छुड़ा दिया गया था। मैं देख रहा था कि उसका दाम दिनपरदिन गिरता जा रहा है। १० जुलाईको जहाँ एक पौंडका ९६ फ्रांक (फ्रांसीसी सिक्का) मिलता था, वहाँ ८ दिन बाद १८ जुलाईको वह ९०·५० रह गया। १८ तारीखके ३ बजे भिनसारे ही हमारा जहाज़ स्वेज़ पहुँचा। ५ घंटा वह वहीं ठहरा रहा। यूरोपियन आवास बन्दरके पास ही थे, लेकिन नगर कुछ दूर हटकर था। कहीं-कहीं कुछ खेत भी दिखलाई पड़े, खजूर और छुहारेके दरख़्तोंके झुरमुट भी जहाँ-तहाँ थे, लेकिन ज्यादातर भूमि नंगी थी। हमें ५ घंटेतक यहीं ठहरना पड़ा। जहाज़पर फल और दूसरी चीज़ें बेचनेकेलिए आए आदमियोंमें कुछ सिन्धी भी थे। वह फ्रांसीसी, अंग्रेज़ी, अरबी तीनों भाषाएं फरफर बोलते थे।

अब हम स्वेज़ नहरसे चल रहे थे। बाएँ ओरसे सड़क जा रही थी। नहर इतनी चौड़ी नहीं थी, कि २ बड़े-बड़े जहाज़ साथ चल सकते, इसलिए कुछ-कुछ दूरपर चौड़े तालाबसे बना दिये गये हैं। हमारे बाएँसे रेलकी सड़क भी जा रही थी। १२ घंटे बाद हम ८ बजे शामको पोर्टसईद पहुँचे। १३ फ्रांक देकर हम नावसे किनारे-पर पहुँचे और शहर देखने चले। पथप्रदर्शक तो बनारसके पंडोंकी तरह पीछे पड़े थे, और भाषासे मालूम होता था कि शायद दुनियाकी कोई भाषा उन्होंने छोड़ी नहीं है। शहर वैसे ही था, जैसे आजकलके शहर हुआ करते हैं। पोर्टसईदमें सिन्धी सौदागरोंकी तीन दूकानें थीं, उनसे मालूम हुआ कि काहिरा, इस्माइलिया, स्वेज़, सिकन्दरिया आदि मिश्रके दूसरे शहरोंमें भी हिन्दुस्तानी दूकानदार हैं। हिन्दू तो दूकानदारी करते हैं, लेकिन भारतीय मुसल्मान, ख़ासकर पंजाबी जोतिस और हाथ देखनेका ख़ूब व्यवसाय करते हैं। ५०से अधिक हिन्दुस्तानी जोतिसी तो सिर्फ़ पोर्ट-सईदमें हैं। हम लोग बालूरामजीकी दूकानपर गए। हिन्दुस्तानी यात्री पोर्टसईद होकर रोज़ ही आते-जाते रहते हैं, लेकिन पोर्टसईदने पीले कपड़े वाले भिक्षुओंको बहुत कम ही देखा होगा। वैसे २२०० वर्ष पहिले मिश्रमें बौद्ध भिक्षुओंका अभाव नहीं था। सिकन्दरिया आदि जगहोंपर उनके विहार थे, और यहांके भिक्षुओंको हम सिंहल और भारततक जाते देखते हैं।

रातको ११ बजे हम लौटे। हमारे सहयात्री अपना-अपना तजर्बा बता रहे थे। स्त्री-पुरुषोंमें नंगे वीभत्स फोटो वहाँ बहुत बिक रहे थे, तीनों महाद्वीपों रूपाजीवाओंकी पोर्टसईदमें हाट है, एक सज्जनको तो पथप्रदर्शक घुमाते-घुमाते वहाँ तक ले गया था।

रातको ही हमारा जहाज़ चल पड़ा था। अब हम भूमध्य सागरमें चल रहे थे। समुद्र हल्का-हल्का हिल रहा था। पोर्टसईदसे बहुतसे नए मुसाफ़िर जहाज़पर चढ़े थे, जिनमें कुछ यहूदी भी थे। हम लोगोंकी तरफ़ हरेक नवागन्तुकका ध्यान आकर्षित होना ज़रूरी था। हम भी उत्सुक थे, क्योंकि अब हम यूरोपके समुद्रमें चल रहे थे। १४वीं सदीतक यूरोप बर्बर समझा जाता था। इटालियन विद्वान् अपने देशवासियोंको इस बातकेलिए फटकारते थे, कि वह क्यों अरबोंको सर्वगुण-सागर और देवता समझते हैं। लेकिन आज ६०० वर्ष बाद पासा उल्टा हो गया है। २२०० वर्ष पहिले भी अशोकके वक्त बौद्धभिक्षु मकदूनिया और दूसरे यूरोपीय सभ्य देशोंमें धर्म प्रचारकेलिए गए थे, हम दोनों भी उसी कामकेलिए यूरोप जा रहे थे, लेकिन हममें उतना आत्मविश्वास नहीं था। हमारे पूर्वजोंके पास दूसरे देशोंको देनेकेलिए उच्च सन्देश था—धर्म-दर्शनका ही नहीं, कला, विज्ञान-का भी।

२० जुलाईको साढ़े दस बजे क्रेत द्वीप दिखलाई पड़ने लगा। भारत, और मिश्र-की तरह क्रेत द्वीपमें भी मानव-सभ्यताने सबसे पहिले प्रकाश किया था। अब यह सूखे पहाड़ोंका द्वीप यूनानके आधीन है, तो भी भूमध्यसागरमें यह सैनिक महत्त्वका द्वीप है।

कहाँ लालसागरमें गर्मीके मारे हम पसीने-पसीने हो रहे थे, लेकिन अब मौसिम बहुत अच्छा था। २१को ५ बजे सवेरे हमने पहिले-पहिल यूरोपके भूखंडको देखा। दाहिनी तरफ़ इतालीके छोटे-छोटे पर्वत थे, जिनपर सब जगह गाँव बसे दिखाई पड़ते थे। पहाड़ोंकी रीढ़ों परभी बगीचे लगे हुए थे। मसीना नगर दूरसे देखनेमें पाँतीसे लगाए छोटे-छोटे घरौंदों-सा मालूम होता था, उसकी सीधी सड़कें पतली रेखा-सी मालूम होती थीं। बाईं तरफ़ एक पर्वतको दिखलाकर हमारे एक सहयात्रीने बत-लाया, कि यही सिसिलीका एटना ज्वालामुखी है। कुछ ही साल पहिले यह जगा था और अपने मुँहसे धुआँ और अंगारे उगल रहा था। सिसली द्वीपके गाँव और नगर भी इतली-जैसे ही मालूम होते हैं। एक जगह, जहाँसे कि हमारा जहाज़ पार हुआ, द्वीप और महाद्वीप एक-दूसरेके बहुत नज़दीक आ गए थे। ८ बजे शामतक

हम चकित आँखोंसे यूरोप-महाद्वीपकी भूमि देखते रहे। ५ बजेसे तेज़ हवा चलने लगी, जिससे ठंढक बढ़ गई। ८ बजेके क़रीब सूर्य डूब गया था, अब केबिनमें पंखा चलानेकी ज़रूरत नहीं रह गई थी।

२२को भी हम यूरोपको देखते हुए बढ़ रहे थे। सारदीनिया और कारसीकाके द्वीप हमारे बाईं ओर दिखाई पड़ रहे थे। नैपोलियन इसी कारसीकामें पैदा हुआ था। यूनानी तरुणने कहा—मैं नैपोलियनको पसन्द नहीं करता, वह युद्धका प्रेमी था। फिलस्तीनसे एक यहूदी सज्जन भी यूरोप जा रहे थे। वह बतला रहे थे, कि वहाँ २ लाख यहूदी हैं, उनके अलावा सभी अरब हैं, जिनमें ज्यादा मुसल्मान हैं। कुछ ईसाई और एक तीसरे धर्मके भी माननेवाले हैं, जो सूअरका मांस और शराब नहीं पीते और तीनों धर्मोंको समान जानते हैं। उस दिन (२२ जुलाई) शामको जहाज़के स्टोवर्डने हमारे पासपोर्ट ले लिये। अगले दिन हमें मारसेइ (मारसेल) पहुँचना था। हम स्थलके रास्ते फ्रांस पार करना चाहते थे। बकसोंको साथ ले जाना फ़जूल था, इसलिए उन्हें जहाज़से ही लन्दन जानेकेलिए छोड़ दिया।

फ्रांसमें—दोपहरसे पहिले ही हम मारसेईके बन्दरगाहमें पहुँच गए थे। दोपहरका भोजन जहाज़ हीमें करके किनारेपर गए। किनारेपर पहिले हीसे नर-नारियोंकी भीड़ लगी हुई, उनमेंसे कितनों हीके हाथोंमें रूमालें हिल रही थीं। हमारे जहाज़से उनके कितने ही सम्बन्धी आ रहे थे। यूरोपकी भूमिको देखकर पहिली उत्सुकता तो शान्त हो गई, लेकिन अब उस भूमिपर पैर रखा था। हमारे मनमें न जानें क्या-क्या भाव उठ रहे थे, जब हमारे पैर तीरकी ओर बढ़ रहे थे। टॉमसकुकके आदमीने सामानका जिम्मा ले लिया था।

पेरिसकी रेल अभी ८ घंटे बाद खुलनेवाली थी, हमें इस समयका सदुपयोग करना था। टॉमसकुकके आफ़िसमें जाकर फ्रांसमें खर्च करनेकेलिए हमने सवा ग्यारह सौ फ्रांक भुनाए। उस समय फ्रांक एक रुपयेमें प्रायः ७ मिलता था। बीस-बीस फ्रांक देकर हम शहर दिखलानेवाली मोटरमें बैठे। एक बड़े गिरजेको पहिले देखने गए। वहाँ बहुतसी सुन्दर मूर्त्तियाँ और कलापूर्ण सजावट थी। रास्तेमें क़िला मिला, फिर जन-उद्यानको देखा। और पर्वतके किनारे पहुँचकर बिजलीकी सीढ़ीसे नोत्रदम नामक प्रसिद्ध गिरजेको देखने गए। ऊपरसे सारा नगर दिखाई पड़ता था, वहाँ शिशु ईसाको लिए मरियमकी मूर्त्ति थी। यह देवी सारे फ्रांस और शायद यूरोपमें भी बड़ी जागता मानी जाती है। सैकड़ों वर्षोंसे इसने अपने चमत्कारसे दुनियाके हर कोनेमें भक्तोंकी रक्षा की। दूर समुद्रमें कोई जहाज़ डूब रहा था। आरोहियोंने

त्राहि-त्राहि करके मारसेईकी देवीको पुकारा और उसने उन्हें बचा लिया। ऐसे कृतज्ञ पुरुषोंने कृतज्ञता-प्रकाशनकेलिए मंदिरमें बहुतसे लेख लगा रखे हैं। माईने न जाने कितने करोड़ अंधोंको आँख दी, कितने ही लुंजोंको पैर दिया, प्रमाण-स्वरूप लुंजों, लँगड़ोंकी बहुतसी बैसाखियाँ मंदिरमें टँगी हुई हैं। माईके प्रतापकेलिए बड़े-बड़े लोगोंने प्रमाणपत्र दिए हैं, जिनमें एक इंग्लैंडकी राजमाताका भी है। कौन कह सकता है कि ईसाइयोंके पास कामाख्या माई, विन्ध्यवासिनी भवानी और महाकाली-की कमी हैं। मुझे ज़रूर इसका अफ़सोस हुआ, कि मेरे पास अब वह हिन्दू-हृदय नहीं, कि इन कहानियोंपर विश्वास करता।

ऊपरसे उतरकर हम नीचे आए। फिर समुद्रके किनारे तथा ऊँची-नीची पहाड़ी भूमिपर बसे ८ लाखकी आबादीवाले मारसेई नगरको देखा; घुड़दौड़-मैदान, जादूघर, हज़ारों तरहके गुलाबोंका बाग़ और और भी कितनी चीज़ोंको देखकर टामस-कुकके पास गए। ३७५ फ्रांकमें लन्दनतकका टिकिट लिया। हम लोग एक रेस्तोराँमें चाय पीने गए। मिस्टर ल्यू पेशाब करने गए थे, लौटकर कहने लगे—"ताज्जुब है, यह लोग पेशाबका भी पैसा लेते हैं।" तीन फ्रांक (७ आना) उन्हें मूत्रशुल्क देना पड़ा था।

८ बजे हमारी ट्रेन रवाना हुई। हम लोग तीसरे दरजेके मुसाफ़िर थे, लेकिन यहाँका तीसरा दरजा हिन्दुस्तानके दूसरे दरजेके समान था; यदि कोई ख़राबी थी, तो यही कि पाखाना उतना साफ़ नहीं था। ९ बजेके बाद अँधेरा होने लगा। हम फ्रांसकी ग्रामीण भूमिको देखते रहे। घर छोटे-छोटे थे, लेकिन देखनेमें बहुत साफ़ थे, भूमि सारी पहाड़ी थी। जेतून और दूसरे वृक्षोंके जहाँ-तहाँ बग़ीचे थे। घासके गंज बड़े क़ायदेसे पाँतीसे रखे हुए थे। अभीतक हमने गौरांगोंको प्रभुके तौरपर पूरबमें देखा था, और वह लाखोंके समुन्दरमें एक बूँदकी तरह थे। अब यहाँ हम अपनेको लाखोंके समुन्दरमें बूँदकी तरह पाते हैं। हमारे डिब्बेमें दो स्त्रियाँ भी थीं। एक तो वैसे ही हमारा रंग कुछ कौतूहल पैदा करता, लेकिन वह देख रही थीं दो सर घुटी हुई पीले कपड़ोंसे ढँकी मूर्त्तियोंको। उनकी नज़रसे ही आश्चर्यका पता लगता था। इधरके स्टेशनोंपर हर जगह खाने-पीनेकी चीज़ें नहीं मिलतीं। हम देख रहे थे, मुसाफ़िर अपने साथ बोतलमें पानी भी लिए हुए थे।

९ बजे शामको सूर्यास्त हुआ था। २४ जुलाईको हमने ५ बजेसे पहिले ही सूर्यको उगते देखा। ८ घंटेकी रात और १६ घंटेका दिन, और अभी जुलाईका महीना था। ९ बजे हमारी गाड़ी गर्-द-लियों नामक पैरिसके स्टेशनपर पहुँची।

माणिकलालजीने लंका हीमें अपने भाईका पता दे दिया था और हमने मारसेईसे उन्हें तार भी दे दिया था। स्टेशनपर अंबालालजी मौजूद थे। मोटरसे हमें वह एक होटलमें ले गए। दो कमरे हमारेलिए वहाँ ठीक कर चुके थे। यूरोपमें मुसाफ़िरको ओढ़ना-बिछौना ढोनेकी ज़रूरत नहीं, यह सब चीज़ें होटलकी ओरसे मिलती हैं। हमारे कमरेके भीतर चारपाई, कुर्सियाँ, बड़े शीशेके साथ एक आलमारी, दो बिजलीकी बत्तियाँ थी। पासमें ही पाख़ाना और नहानेका घर था, जिसमें गरम और ठंडे पानीके नल लगे हुए थे। अंबालाल हमारा सारा इन्तज़ाम करके ४ बजे आनेकेलिए कहकर चले गए। हमने स्नान-भोजन करके विश्राम किया।

४ बजे अंबालालजी हमें शहर दिखानेकेलिए ले चले। हमारेलिए पेरिस नगर तमाशा था और दूसरोंकेलिए हम तमाशा थे। यह इस बातकी सत्यताको बतला रहा था, कि "जैसा देश वैसा भेष"। रास्तेमें श्री सी० ए० नायडूको भी साथ ले लिया। पेरिसमें रहनेवाली अमेरिकन महिला लून्ज़बरीका पता हमें मालूम था। वह बौद्धधर्ममें बहुत अनुराग रखती थीं। नायडू मुझे उनके घर लिवा ले गए, लेकिन वह वहाँ मौजूद न थी। पेरिस नगरके बीचोंबीचमें सेन नदी बहती है। सेन पार करके हमने पेरिस विश्वविद्यालय और छात्रावास देखे। पास हीमें एक बहुत बड़ा बाग़ है। कितने ही नर-नारी वहाँ घूम रहे थे, और कितने ही कुर्सियोंपर बैठे थे। निश्चय ही एसियाकी अपेक्षा यहाँका मानव ज़्यादा स्वतंत्र है। फिर हम राफ़ेल मीनारपर चढ़े। यह लोहेका ढाँचा क़ुतुबमीनारसे भी तिगुना ऊँचा है। ऊपरसे सारी पेरिस नगरी दिखाई पड़ती है। उसी दिन प्रतिनिधि (प्रजातंत्र)-भवन नैपोलियनकी समाधि और पुराने राजमहलको देखा। विश्वविद्यालयके पास हम वहाँ उतर गए, जहाँ मिश्रसे लाया हुआ विशाल पाषाण-स्तम्भ खड़ा है। यहीं फ्रांसके ८ नगरोंकी प्रतीक-स्वरूप ८ मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। पासके विशाल उद्यानमें गए, यहाँ भी कितनी सुन्दर मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। हम एक जगह कुर्सीपर बैठकर उद्यान-शोभा निहार रहे थे। कितने ही नागरिक भी मनोविनोद कर रहे थे। ६ बजे रातको लौटकर हम अपने होटलमें आए। अभी दो दिन (२५, २६ जुलाई) और हमें पेरिसमें रहना था। हम यहाँके विद्वानोंसे भी मिलना चाहते थे। पता लगा कि प्रोफ़ेसर सेल्वेन् लेवी और दूसरे प्राच्यतत्त्वविशारद ग्रीष्मावकाशमें शहरसे बाहर गए हुए हैं। फोन करनेसे पता लगा, कि डाक्टर पेलियो (पेइयो) घरपर ही हैं। साढ़े तीन बजे हम उनके पास गए। डाक्टर पेलियो चीनी भाषाके प्रकाण्ड पंडित थे। मध्य-एसियाके अनुसंधानमें स्टाइनकी तरह इन्होंने भी बहुत काम किया।

मैंने उन्हें अपनी संपादित "आभिधर्मकोष"की एक प्रति भेंट की। कितनी ही देर-तक हम लोग बात करते रहे। उन्होंने बतलाया कि जाड़ोंमें सभी विद्वान् विश्वविद्यालयमें लौटते हैं, उस वक्त ज़रूर आइए। नीचे उतरनेके बाद अंबालालजी टेकसी देखने गए; और हम दोनों एक बुढ़ियाके पास बैठ गए। चुपचाप बैठे रहनेकी जगह कुछ बात करना अच्छा है, इसलिए मैंने अपने फ्रेंच ज्ञानका परिचय देना शुरू किया, लेकिन एकाध ही मिनटमें गाड़ी अटक गई। मैंने बुढ़ियासे लड़के-बालोंके बारेमें पूछा था। बुढ़ियाने जवाब दिया—"ज़ स्वि तू सेल्" (मैं बिल्कुल अकेली-कुमारी हूँ)। और शब्दोंका अर्थ तो मुझे लग रहा था, लेकिन अंतिम शब्दका अर्थ मुझे न मालूम था, इसलिए कुछ नहीं समझ पाया। वस्तुतः भाषाके सीखनेका अच्छा तरीक़ा किताब नहीं, वार्त्तालाप है। किताब पढ़नेवालेका ध्यान ज़्यादातर अक्षरोंकी ओर होता है, शब्दोंके उच्चारणकी ओर नहीं।

हमने आज सोरबोन् विश्वविद्यालयकी विशाल इमारतोंको देखा। उसकी रंगशालामें पिछली कई शताब्दियोंसे जिन विद्वानोंने अध्यापनका कार्य किया, उनकी तसवीरें टँगी थी। यहाँ हमें पांडेचरीके दो तरुण विद्यार्थी मिले। फिर पुस्तक-विक्रेताओंकी दुकानोंकी ओर गए। मुझे कुछ पुस्तकें लेनी थीं, लेकिन वहाँ मालूम हुआ, कि पेरिसके प्रकाशक और विक्रेता सिर्फ़ अपने-अपने विषयकी पुस्तकें रखते हैं। मुझे जो पुस्तकें अपेक्षित थीं, वह साहित्य सम्बन्धी थीं। लारूसके यहाँसे मुझे अपनी पुस्तकें मिलीं। पासमें हेरमान कम्पनीकी दूकान थी। यद्यपि यह साइंसके प्रकाशक थे, किन्तु कम्पनीके मालिक मेशियो फ्रेमान भारतमें बरस-डेढ़ बरस रह आये थे, और भारतीयोंके प्रति बड़ा अनुराग रखते थे। वह देरतक हमसे बात करते रहे। उन्हें कई भारतीय मित्रोंका स्मरण आ रहा था। उन्हींसे मैंने डाक्टर बदरीनाथप्रसादकी प्रतिभाकी सराहना सुनी थी। वह कह रहे थे, कि डाक्टर प्रसादके अध्यापक उनके गणित-ज्ञानकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, और आगेकेलिए बहुत आशा रखते हैं। उन्होंने डा० प्रसादके निबन्धकी एक कापी मुझे दी। डा० बदरीनाथने अपने निबन्धको अपने बड़े भाई बैजनाथप्रसादको समर्पित किया था। फ्रेमानने उन्हें इलाहाबादका बतलाया था, मैं उस वक़्त नहीं समझ सका था कि डाक्टर बदरीनाथ मेरी अपनी तहसील महमदाबाद (आज़मगढ़)के सुपरिचित बाबू बैजनाथप्रसादके अनुज हैं; उस वक़्त क्या मालूम था, कि आगे चलकर डाक्टर बदरीनाथप्रसाद मेरे घनिष्ठ मित्र बनेंगे। ८ बजे लौटकर हम होटलमें आए। मैंने होटल-संचालिकासे किसी समाजवादी पत्रको मँगा देनेकेलिए कहा। उसने "ला पोपुलेर"की एक प्रति मँगा

दी। मैंने यह भी देखा, कि यहाँके पत्र हमारे यहाँके अँगरेज़ी पत्रोंसे कम पृष्ठोंके होते हैं।

दूसरे दिन (२६ जुलाई) १२ बजे बाद हम फिर घूमनेकेलिए निकले। आज भी मोशियो फ्रेमानसे देरतक बात होती रही। शहर देखनेकेलिए हमने टेकसी की थी, लेकिन कुछ दूर भूगर्भी रेलसे भी गए। यह बिलकुल नया अनुभव था। ऊपर पेरिसका महानगर बसा हुआ है, और सैकड़ों हाथ नीचे सुरंगोंका जाल बिछा हुआ है, जिसमें बिजलीकी रेलें दौड़ रही हैं, ।१·१५ फ्रांक दे देनेपर आप नगरके एक छोरसे दूसरे छोरतक कहीं भी उतर सकते हैं।

शामको थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई थी।

यूरोपमें होटल ठहरनेके मकानको कहते हैं, भोजनशाला या रेस्तोराँ अलग चीज़ है। हमारे होटलकी बग़लमें एक रेस्तोराँ था, जहाँसे हमारेलिए खाना चला आता था। भिक्षु-नियमके अनुसार हम दोपहरके बाद खाना नहीं खा सकते। इससे कुछ बचत भी होती थी। २७ जुलाईको हम क़रीब ही एक मिश्री रेस्तोराँमें खाना खाने गए। आनन्दजी तो फलाहारी थे, इसलिए उन्होंने मांस नहीं छुआ, लेकिन खानेका हिसाब करनेपर मेरा यदि तीन रुपया ख़र्च आया था तो उनका साढ़े तीन रुपया (२५ फ्रांक); इसलिए कह सकते हैं कि यूरोपमें प्रायः घासाहारसे मांसाहार सस्ता है। उस दिन हम अंबालाल भाईके जौहरी पार्टनर (भागीदार) यहूदी सेठके घर भी गए थे। सेठने नगरसे बाहर अपने उद्यानमें चलनेका निमंत्रण दिया, लेकिन हम तो उसी दिन पेरिसको छोड़नेवाले थे।

३ बजकर १० मिनटपर हमने रेलसे पेरिस छोड़ा। फिर रास्तेमें देहातका नज़ारा था। भूमि ऊँची-नीची थी, इस वक़्त गेहूँके खेत काटे जा रहे थे। कितने ही किसान अपने खेतोंको यंत्रसे काट रहे थे, कितने हँसियोंसे। किसानोंके घोड़े बड़े-बड़े थे। गायें भी अच्छी थीं। गाँववालोंकेलिए घड़ी बाँधनेकी ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि हरेक गाँवमें गिरजा था और हरेक गिरजेमें घड़ी लगी थी। ७ बजे हम बोलोयँ जंकशनपर पहुँचे। क़ुलीको ५ फ्रांक दिया। हमें दूसरी गाड़ी मिली, जिसने थोड़ी ही दूर आगे बन्दरपर पहुँचा दिया।

सरकारी अधिकारियोंने हमारे पासपोर्टको देखा, लोग एकके पीछे एक आगे बढ़ते रहे। अब हम इंगलिश चेनलके जहाज़पर सवार हो गए थे।

१०

इंगलैण्ड और युरोपमें

समुद्र आज बहुत तरंगित था। हम दोनों पहिले दर्जेके कमरेमें बैठे थे, इधर-उधर देखा लेकिन वहाँ कोई बरतन नहीं दिखलाई पड़ा। मैं घबराया कि अगर कहीं क़ै होने लगी तो? मुझे अपनेलिए नहीं, आनन्दजीकेलिए डर था। वह सामुद्रिक संघर्षमें अपनेको बहुत बहादुर साबित कर चुके थे। मैं दुनियाके छियासठ करोड़ देवताओंको मना रहा था, कि किसी तरह पत-पानीसे दूसरे पार उतर चलें। रास्ता भी डेढ़ घंटे हीका था। खैर, देवताओंने प्रार्थना सुन ली, हम उस पार पहुँच गए। एक अँगरेज़ क़ुली सामान उठानेकेलिए आया। हमारे पास जो कुछ सामान था, उसके सुपुर्द किया, पासपोर्ट दिखाया और लन्दन जानेवाली रेलपर बैठ गये।

लन्दनमें—१० बजकर ५० मिनटपर हमारी गाड़ी विक्टोरिया स्टेशन पहुँची। महाबोधि सभाके प्रतिनिधि दया हेवावितारणे आदि स्टेशनपर पहुँचे हुए थे। रात थी, लेकिन बिजलीके प्रदीपोंसे लन्दनकी सड़कें जगमग-जगमग कर रही थीं। हम मोटरसे महाबोधि सभा-भवनमें चले गए। रातको खूब टाँग पसारकर सोए।

अनागारिक धर्मपाल जब नवतरुण थे, तभीसे लंकामें बैठे-बैठे बाहर बौद्धधर्मके प्रचारका स्वप्न देखा करते थे। जवानी हीमें वह भारत चले आए, और उनका प्रायः सारा जीवन यहींपर बीता। उन्होंने इस कामकेलिए महाबोधि सभा स्थापित की, कोलंबो, कलकत्ता, सारनाथ आदिमें केन्द्र क़ायम किए। उनकी इच्छा थी, कि अँगरेज़ोंके पास भी बुद्धका सन्देश पहुँचाया जाय। लन्दनमें रिजेन्ट-पार्कके पास एक लाखसे ऊपरमें उन्होंने यह चौमहला मकान खरीदा था और अब यह विलायतमें बौद्धधर्म प्रचारका केन्द्र था। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, प्रचारक होकर तो आए थे भिक्षु आनन्द, मैं एक मित्रके तौरपर उनका साथ देनेकेलिए आया था।

हम लोगोंका निवास दूसरे तल्लेके एक बड़े कमरेमें था। इस मकानके प्रायः सारे ही कमरे बड़े-बड़े थे। सबसे नीचे, या ज़मीनके नीचे, रसोईघर और कुछ कोठरियाँ थीं। उसके ऊपर यानी प्रथम तलमें मन्दिर, व्याख्यानशाला, पुस्तकालय और आफ़िसके कमरे थे। उसके ऊपरवाले तल्लेपर हमारा कमरा और कुछ दूसरे कमरे भी थे, जिनमें भारतीय या सिंहल विद्यार्थी रहते थे। इसी तरह सबसे ऊपरवाले तल्लेके

कमरोंमें भी विद्यार्थी रहते थे। यह बात मुझे ज़रूर खटकी, बौद्धधर्म यदि इंगलैण्डवालोंका धर्म बनना चाहता है, तो उसे इंगलैण्डके वातावरणमें रहना चाहिए। लेकिन यहाँ धर्म-प्रचार के लिए जो भिक्षु आए थे, वह अपने साथ लंकाका वातावरण लेकर आए थे। उनका रसोइया लंकावासी, भोजन लंका जैसा, और साथमें रहनेवाले विद्यार्थी भी सारे लंका ही के, ऐसी अवस्थामें वह कैसे इंगलैंड-निवासियोंके साथ मिश्रित हो सकते थे। ख़ैर, मैं धर्म-प्रचारकी दृष्टिसे तो वहाँ आया नहीं था, और न महाबोधि सभाके प्रबन्धक मुझसे इसके बारेमें कुछ राय पूछते थे।

दूसरे दिन (२८ जुलाई)को इंगलैण्डके कुछ बड़े पत्रोंके संवाददाता हमारे पास आए। उन्होंने उद्देश्यके बारेमें पूछा। हमने उसका जवाब दे दिया। अभी अँगरेज़ी पत्रोंका हमें पहिला तजर्बा था, और भारतीय पत्रोंके झूठ-साँचको देखकर कुछ शंकित दृष्टिसे देख रहे थे। लेकिन आगे जो तजर्बा हुआ, उससे मालूम हो गया, कि कालेको सफ़ेद और सफ़ेदको काला करनेकी जितनी क्षमता इंगलैण्डके पत्रोंमें है, अभी वहाँतक पहुँचनेमें हमारे पत्रोंको बहुत दिन लगेंगे। मज़दूर पार्टीके पत्र "डेली हेरल्ड"—जो उस समय इंगलैण्डके दो सबसे अधिक छपनेवाले पत्रोंमें एक था—के प्रतिनिधिने आकर हमसे कुछ सवाल किए, हमने सीधे-सादे शब्दोंमें जवाब दे दिया, कि हम लोग इंगलैण्ड-वासियोंके सामने बुद्धकी शिक्षा रखना चाहते हैं। उसने छाप दिया, कि ये दोनों बौद्धभिक्षु सारे इंगलैण्डको बौद्ध बना डालनेकी सोच रहे हैं। "डेली मेल"का संवाददाता आया, उसने मुझसे तिब्बत-यात्राकी दो-एक बातें पूछी। मैंने साधारण तौरसे बतला दिया। उसने लिख दिया, कि इस भिक्षुने दुनियाके बड़े-बड़े बीहड़ जंगलोंमें बहुत वर्ष बिताए, लेकिन आजतक किसी जंतुने उसे कष्ट नहीं पहुँचाया। एक दिन भिक्षु तिब्बतके एक घोर जंगलमें जा रहा था (नंगे पहाड़ोंवाले तिब्बतमें घोर जंगलका अत्यन्ताभावसा है), उस वक़्त ६, ७ डाकुओंने आकर चारों ओरसे घेर लिया। वह तलवार चलाना ही चाहते थे, कि इसी वक़्त जंगलसे शेर निकला, उसने घोर गर्जना की। डाकू प्राण लेकर भग गए। संपादकीय विभागसे भेजी टाइप की हुई कापी मेरे पास देखनेकेलिए आई। मैंने ग़लत बातोंको काट दिया, लेकिन दूसरे दिन देखा कि मेरी काटी हुई पातियाँ वैसीकी वैसी छपी हुई हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या हो सकता था? समझदारोंके दिलमें यह बैठा देना, कि यह कितना झूठा, धोखेबाज़ आदमी है, बेवक़ूफ़ोंके दिलमें यह बैठा देना कि आदमीमें दिव्यशक्ति होती है और जो क्रांतिकारी तरुण धनियोंकी जड़ उखाड़ फेंकने-केलिए यह कहते फिरते हैं कि धर्म, दिव्यशक्ति आदि बातें ग़लत हैं, वह झूठ बोल रहे

हैं। विलायतमें करोड़पति छोड़ दूसरा कोई अखबार नहीं निकाल सकता। उनका काम है चीनी लपेटी ज़हरकी गोलियाँ लोगोंको खिलाना। ल्यू महाशय तो और बुरी तरह फँसे। वह अभी यूरोपमें रह गए थे, और चन्द दिनों बाद लन्दन आनेवाले थे। एक संवाददाताने मुझसे बहुत चिरौरी-मिनती की थी, कि ल्यूके आनेपर मुझे ही पहिले सूचना दे दें, जिसमें पहिले मैं अखबारमें दे सकूँ। मिस्टर ल्यू आए। मैंने संवाद-दाताको सूचना दे दी। उन्हीं दिनों मंचूरियामें दो अँगरेज़ स्त्री-पुरुष हरे गये थे। अखबारोंमें बहुत सनसनी फैलानेवाली खबरें छप रही थीं। श्री ल्यूके आनेपर चीनी डाकुओंके बारेमें कई बातें पूछी गईं। श्री ल्यूने एक घंटा बैठकर खूब समझानेकी कोशिश की—यद्यपि जापानने मंचूरियाको हड़प कर लिया है, किन्तु चीनी देशभक्त अपनी स्वतंत्रताकेलिए प्राणोंकी बाज़ी लगाए हुए हैं। जहाँ वह खुलकर नहीं लड़ सकते, वहाँ उन्होंने गोरीला (छापामार) पलदनका रूप धारण किया है। जिन लोगों-को अंग्रेज़ी पत्र डाकू लिख रहे हैं, वे वस्तुतः देशभक्त गोरीला हैं। वह घने पहाड़ोंमें रहते हैं, और मौक़ा पाते ही जापानी फ़ौजोंपर टूट पड़ते हैं।" इन दो अँगरेज़ स्त्री-पुरुषोंको गोरिल्ला क्यों पकड़ ले गए, इसका जवाब महाशय ल्यूने किस तरह दिया यह मुझे याद है। शायद उन्होंने कहा हो कि वे जापानियोंकी मदद करते रहे होंगे। मंचूरियाके हड़प करनेमें अंग्रेज साम्राज्यवादियोंने अप्रत्यक्ष रूपसे जापानको मदद दी ही थी, इसमें क्या संदेह है। खैर, दूसरे दिन मज़दूरपार्टीके अखबार "डेली हेरल्ड" (उस वक़्त मज़दूरदली रेम्ज़े मेक्डान्ल्ड इंगलैण्डके प्रधानमंत्री थे) में छपा। और थोड़ा नहीं, करीब-करीब एक कालम—चीनकी एक बड़ी यूनीवर्सिटी के वड़े प्रोफेसर मि० ल्यूने हमारे संवाददातासे मंचूरियाके इन डाकुओंके बारेमें बतलाया कि वे ऐसे-वैसे डाकू नहीं हैं, उनमें अद्भुत शक्ति है, उनके पास ऐसी जड़ीबूटियाँ हैं कि कटे सिरको धड़पर रखके बूटी लगानेसे जुड़ जाता है, वह दूर-दूरकी बातोंको अपनी दिव्यशक्तिसे जान सकते हैं। इत्यादि-इत्यादि। मैं "टाइम्स", डेली हेरल्ड" "डेली-वर्कर" और किसी एक और अखबारको रोज़ पढ़ा करता था। अखबारके हरएक कालमको पढ़ना तो तभी हो सकता था, जब दिनभर बैठा अखबार ही पढ़ा करता। कुछ दिनोंतक पढ़ते रहनेके बाद मुझे उन कालमोंका पता लग गया था, जिन्हें पढ़ना चाहिए।

कम्यूनिस्ट पार्टीके पत्रको मैं ज़रूर पूरा-पूरा पढ़ता था, क्योंकि वही एक अखबार ईमानदारीसे चल रहा था। सारे पत्र उसका बायकाट किए हुए थे। विलायतमें खाने-पीनेकी चीज़ें जिन दूकानोंमें बिकती हैं, अखबार भी वहींसे आते

हैं। पूँजीपतियोंके अखबारों (मज़दूर पार्टीके "डेली हेरल्ड"का भी आधेसे ज्यादा हिस्सा एक करोड़पतिका है)ने एक ओरसे तय कर लिया था, कि जो कोई "डेली वर्कर"को बेचेगा, उसको हम अपना अखबार नहीं देंगे। डेली-वर्करको हर महीने कई हज़ारका घाटा पड़ता था, जिसे इंग्लैंडके ग़रीब चन्दा देकर पूरा करते थे। मेरे चले आनेपर कुछ सालों बाद पूँजीपति अखबारोंका यह षड्यंत्र टूट गया। बड़े पूँजीपतियोंके अत्याचारके विरुद्ध ख़ुदरा-फ़रोशोंको संघर्ष करना पड़ा, जिसको छापने-केलिए "डेली वर्कर"को छोड़कर कोई भी तैयार नहीं था। तब ख़ुदरा-फ़रोशोंने डेली-वर्करके महत्त्वको समझा। तीन साल बाद जब मैंने "डेली वर्कर"को देखा, तो वह बहुत सजधज के बड़े आकारमें निकलता था, उसके लाखों ग्राहक हो गए थे। मैं कम्यूनिस्ट पार्टीका मेम्बर नहीं था, लेकिन लेनिन, स्तालिनकी पार्टी छोड़ मैं किसीके विचारों और कार्यप्रणालीको पसन्द नहीं करता था। मेरेलिए कहाँ स्थान है, शायद इसे "बाईसवीं सदी"के लिखने और उससे भी छ साल पहिले रूसी क्रान्तिके प्रति अगाध प्रेम और सहानुभूतिने ही निश्चय कर दिया था। "डेली वर्कर"से मैं जितना इंगलैण्डकी साधारण जनताके बारेमें जान सकता था, उतना किसी पत्रसे सम्भव नहीं था। वह रूसकी भी ताज़ी-ताज़ी ख़बरें देता था, और मैं उसका सबसे ज्यादा प्यासा था।

ख़ैर, दूसरे दिन शामको महाशय ल्यूने बहुत उत्तेजित स्वरमें कहा—क्या आपने मेरे वक्तव्यको "डेली हेरेल्ड"में पढ़ा? मैंने कहा—"नहीं, कैसा छपा है?"

मिस्टर ल्यूने बतलाया कि वह छप गया है, और बहुत बुरी तरहसे छपा है। मैं अख़बार ढूँढ़ लाया। सचमुच ही उसमें सारी खुराफात छपी थी। ग़ुस्सेके मारे मिस्टर ल्यूके कान लाल हो रहे थे। वह कह रहे थे कि मैं इसका प्रतिवाद करूँगा। मैंने कहा—"कोई छापेगा भी।" यह तो निश्चय ही था कि उसे वहाँ कोई नहीं छापता। इन बातोंने इंगलैण्डके करोड़पतियोंके अख़बारोंके बारेमें मुझे अपनी राय क़ायम करनेमें मदद दी।

स्कूल, पुस्तकें, अख़बार, ज्ञान फैलानेके साधन समझे जाते हैं। लेकिन विला-यतमें इनका सबसे बड़ा काम है अज्ञान फैलाना। घुड़दौड़, कुत्तेकी दौड़, लाटरी आदि पचीसों तरहके क़ानूनी जुए वहाँ खेले जाते हैं। कल बेकार हो जानेकी चिन्तामें मरे जाते मजूर पेट काटकर इन जुओंमें अपना पैसा खर्च करते हैं। विलायती अखबारोंके कालमके कालम इन बातोंकेलिए खुले हुए हैं। अब तो बल्कि हाथ देखना (सामुद्रिक), जोतिस आदिकेलिए भी विलायती अखबार उदारता दिखलाते

हैं। इसका असली मतलब यही है, कि विलायती कमेरे अपनेको भाग्यके हाथोंकी कठपुतली समझ लें, और निकम्मे करोड़पतियोंका टाट उलटनेकेलिए तैयार न हो जायँ। दूसरे दिनके पत्र-प्रतिनिधियोंमें एक तरुणी भी थी। उसने बतलाया कि मैं मोतिहारीमें पैदा हुई थी, और मेरा पिता अब भी वहीं है।

हमारे निवास-स्थानके नज़दीक ही रिजेन्ट-पार्क नामक विशाल उद्यान था। उसीमें चिड़ियाखाना भी है। रातको अक्सर शेरोंका गरजन हमें सुनाई देता था। पास हीमें कहींसे रेल जाती थी। ट्रेनके चलते वक्त ज़मीन दहलती थी और सारा मकान गनगनाने लगता था। चार महीनेतक इस गनगनाहटका इतना अभ्यास हो गया था, कि जब १६३४का भूकम्प हुआ, तो उस वक्त इलाहाबादमें मकानके हिलनेको कितनी देरतक मैं वैसा ही कुछ समझ रहा था। आकाशमें बादल घिरा रहना, तो मालूम होता था, लन्दनकेलिए बिल्कुल स्वाभाविक बात है। हम लोगोंके वहाँ पहुँचनेके बाद कई दिनोंतक ऐसा ही रहा।

३० जुलाईको हम लोग मोटरपर घूमनेकेलिए निकले। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि लन्दनवाले हम पीतवस्त्रधारियोंको उतना ही चकित होकर देख रहे थे, जितना कि पेरिसवाले।

रिजेन्ट-पार्क देखा। उस विशाल उद्यानमें दिनमें भी कितने ही आदमी घासपर सोये रहते। मेरे पूछनेपर एक दोस्तने बतलाया, कि यह बेघरबारवाले हैं, इनकेलिए न कोई काम है, न खानेका ठिकाना। रातको पार्क बन्द हो जाता है, इसलिए दिन-दिनमें ही सो रहे हैं। रात इन्हें सड़कोंपर घूमते हुए काटनी पड़ती है। मैं सोचने लगा—दुनियाके चौथाई हिस्सेका धन खिंचकर विलायतमें आता है, आखिर वह कहाँ जाता है और किसके पास जाता है ?

बकिंघम प्रासाद, हाइड पार्क, केनसिङ्टन म्यूज़ियम, पार्लियामेण्ट भवन, वेस्ट मिनिस्टर एबे, कौन्टी कौंसिल, सेन्ट जेम्स प्रासाद आदि स्थानोंको हमने ३० जुलाईको देखा। हाइड पार्कमें कितनी ही जगहोंपर भाषण दिए जा रहे थे, और कितने ही जगह लोग मनोविनोद कर रहे थे।

महाबोधि सभामें हर रविवारको अधिवेशन हुआ करता था, कभी-कभी मैं भी बोला, लेकिन ज्यादातर भाषण देनेका काम था, आनन्दजीका। लन्दनकी दिनचर्या प्रायः इस प्रकार थी : १२ बजे रातके बाद सो जाना, ७ बजे उठना, ८ बजेतक शौच जलपानसे छुट्टी। साढ़े नौ बजेतक अख़बार पढ़ना, १० बजेतक डायरी चिट्ठी लिखना, साढ़े ११ बजेतक पढ़ना। फिर भोजन, फिर पढ़ना, बीचमें यदि

कोई आ गया, तो उससे बातचीत करना, ८ बजे टहलना, ६ बजे रातको नहाना, फिर १२ बजे राततक पढ़ना।

एक-दो बार हम तरुण-ईसाई-सभाके भारतीय छात्रावासमें भी गए। वहाँ कितने ही ऐसे छात्र मिले, जो पीछे आई० सी० यस०, बैरिस्टर या....होकर भारत लौटे। और भी कितने भारतीय छात्रोंसे मुलाक़ात होती रहती, देश-भक्ति और क्रान्तिकी जिनमें आग जलती दिखाई देती। लेकिन भारतमें आनेपर कुछ ही वर्षों बाद उन्हें मुर्दा देखा गया। शायद इन वर्षोंमें वह ज़्यादा समझदार हो गए, और उन्होंने अपना यह दर्शन बना लिया, कि रुपया कमाओ और मौज करो, क़ाज़ीजीको शहरके अन्देशे दुबला नहीं होना चाहिए।

एकाध अखबारोंमें जो मेरी दिव्यशक्तिकी बात निकल गई थी, उसका एक फल यह हुआ था कि इंगलैण्डमें जहाँ-तहाँसे यंत्र या तावीज़केलिए मेरे पास चिट्ठियाँ आईं। साहेब लोग गंडा-तावीज़ नहीं मानते, यह धारणा तो मेरी बहुत पहिले ही हट गई थी। १६२३में हमारे जेलखानेके सुपरिन्टेन्डेन्ट एक अँगरेज़ कप्तान आई० एम० एस०ने उस वक़्त बन्दी एक प्रसिद्ध संन्यासीसे बड़े आग्रहपूर्वक तावीज़ माँगकर लिया था। ४ अगस्तको एक महिला बात करने आई। वह चित्र-विचित्र सपने देखा करती थी। स्वप्नकी अद्भुत शक्तिपर विश्वास प्राथमिक मानवसे चला आ रहा है। आखिर मैं वहाँ ऐसे धर्मका प्रचारक हो गया था, जो ध्यान-योग-समाधिके अद्भुत चमत्कारोंको मानता है, फिर मेरे पास लोग इन बातोंमें मदद लेनेकेलिए क्यों न आएँ। यह स्वप्नके बारेमें बातचीत थी, नहीं तो गूढ़ आध्यात्मिक वृत्तियोंको सुलझानेकी ज़िम्मेवारी आनन्दजीको थी। ज्योतिष, भूत-प्रेत, तंतर-मंतर, गंडा-तावीज़परसे मेरा विश्वास आर्यसमाजने सदाकेलिए खतम कर दिया था। सीलोन आनेपर बेचारे ईश्वरने भी पिण्ड छोड़ दिया। तिब्बत जानेके बाद योग, ऋद्धि-सिद्धि और दिव्यशक्तिपरसे भी मेरा विश्वास जाता रहा। उसकी सारी शक्तियाँ त्राटक और मेस्मरिज्मके कुछ हथकंडे आत्मसम्मोहनके परिणाम हैं। वस्तुतः अब मेरे और भौतिकवादमें इतना ही अन्तर रह गया था, कि मैं मरनेके बाद भी जीवनप्रवाहके जारी रहनेपर विश्वास करता था। बौद्धोंके बड़े प्रिय सिद्धान्त-निर्वाणको तो मैं पहिलेसे भी दिएकी तरह बुझकर जीवनप्रवाहको सदाकेलिए खतम हो जानेके सिवा और कुछ नहीं मानता था। उक्त महिलाका कभी-कभी बैठे-बैठे होश जाता रहता था, यह किसी मनोविज्ञानके विशेषज्ञका काम था, लेकिन महिला पूरबके "तत्त्वज्ञान"से बहुत आकृष्ट हुई थी। वह मुझसे साइंस-सम्मत

विश्लेषण सुननेकेलिए नहीं आई थी। मैंने कहा जो स्वप्न तुम्हें आते हैं, उन्हें लिखती जाओ, कई दिनोंके स्वप्नोंका लेखा जमा हो जानेपर मैं कुछ परामर्श दूँगा। शायद मेरी बातोंसे उनका उत्साह बढ़ा नहीं, और वह फिर परामर्श लेने नहीं आई।

यहाँ मुझे थियोसाफ़ीकी बहुतसी पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। सिनेटकी पुस्तक "महात्माओंकी चिट्ठियाँ"को पढ़कर दिलमें आग लग गई। दिन दहाड़े झूठ और बौद्धिक डकैतीको देखकर ऐसा होना ही चाहिए। तिब्बतमें उन महात्माओंको कोई नहीं जानता, जिनकी चिट्ठियाँ यहाँ एक भद्र पुरुषने छापी थीं। तारीफ़ यह कि इन महात्माओंमेंसे कितनोंके स्थान शिगर्चे आदि बतलाया गया। शिगर्चे शायद अज्ञात तिब्बतका अज्ञात स्थान होनेसे बाहरके लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेकेलिए अच्छा नाम था, किन्तु मैं जानता था कि वह भी हिन्दुस्तानके हज़ारों क़सबोंकी तरह एक क़स्बा है, हाँ, कुछ ज्यादा पिछड़ा हुआ। थियोसोफ़ीको तो मैं समझने लगा कि यह धोखेबाज़ोंका एक गुट्ट है, जो धर्मके नामपर पच्छिमी प्रभावके नामपर लोगोंको उल्लू बनाता है।

६को हम हेम्पस्टेड-हीथ्की ओर घूमने गए। स्थान एक स्वाभाविक जंगलसा मालूम होता था। हमारे निवास-स्थानसे यह स्थान बहुत दूर नहीं था। लन्दन है भी ज़्यादातर विषमतल भूमिपर बसा हुआ, और यह जगह तो और भी ज़्यादा ऊँची-नीची मालूम होती है। यहाँसे नगरकी शोभा अच्छी दिखाई पड़ती थी। उसी दिन हम आर्य-भवन देखने गए। लन्दन आनेसे पहिले ही अख़बारोंमें पढ़ा था, कि भारतके कुछ करोड़पति सेठ लन्दनमें एक हिन्दू मन्दिर बनवा रहे हैं। आर्य-भवन वही मंदिर था। अभी वस्तुतः मंदिर बनानेकेलिए एक मकान ख़रीद लिया गया था, और शायद ठाकुरजीको उसीके भीतर पधराया गया था। शायद इसलिए कहता हूँ, कि कितने ही हफ़्तोंसे आर्यभवन सूना था और उसके दर्वाज़ेमें ताला लगा था। अगर ठाकुरजी उसके भीतर ही बन्द रहे होंगे, तो बेचारोंकी क्या गति हो रही होगी। सुना कि पहिले यहाँ ठाकुरजी भी थे, पुजारी भी थे, यह नहीं मालूम हो सका कि आरती उतारते वक़्त शंख और घड़ी-घंटा बजानेवाले जमा हो जाते थे कि नहीं। यदि मामूली पानी और मक्खीके मूँड़भर चीनीको चरणामृत और प्रसादके तौरपर बाँटा जाता, तो निश्चय ही प्रसाद माँगनेवाले लड़के या भगत न मिलते। हाँ, यदि ठाकुरजी लन्दनमें जाकर "जैसा देस वैसा भेस" अपनाते और उसीके अनुसार चरणामृत और प्रसाद बाँटा जाता, तो ज्यादा आशा थी। लेकिन चाहे हमारे करोड़पति सेठ सट्टेबाजीमें अपनी बुद्धिसे ब्रह्माको भी मात करते हों,

लेकिन और कितनी ही बातोंमें उतने भाग्यशाली नहीं हैं। चलते वक्त हमने देखा कि दरवाज़ेके पास कालिख लगा हुआ था। मैंने आनन्दजीसे कहा कि ठाकुरजी लन्दन आएँगे, तो सेठ लोगोंको कलकत्ता और बनारसके पुजारियोंका लाना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि उनकी शुद्धि सफ़ाईका मान तो वही पुराना ही रहेगा न। अब कितने ही विश्वविद्यालयोंके ग्रेजुएट और वकील-बैरिस्टर भक्तिके मारे गदगद हो रजस्वला होने लगे हैं, ऐसोंको लन्दनमें ठाकुरजीका पुजारी बनाके भेजना चाहिए।

लन्दन—और जो लन्दन है, वह इंगलैण्ड है—को अपने-अपने धर्ममें खींचनेकेलिए ही कितने ही धर्मप्रचारक ज़ोर लगा रहे हैं। बौद्ध भी इस काममें कुछ तत्परता दिखला रहे थे। लेकिन वह तत्परता कितनी हल्की थी, यह इसीसे मालूम है कि चीन, जापान जैसे विशाल बौद्ध देशने भी नहीं, श्याम जैसे स्वतंत्र राष्ट्रने भी नहीं, बर्माने भी नहीं, सीलोनने—बल्कि कहना चाहिए, सीलोनके एक व्यक्तिने—लन्दनपर बौद्धधर्मका झंडा गाड़ना चाहा। इसीसे मालूम होता था, कि बौद्ध इसके बारेमें ज़्यादा गम्भीर नहीं हैं। रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट ईसाई-धर्म तो खैर इंगलैंडको अपनी बपौती जागीर समझता है, क्योंकि वह वहाँ हज़ार पाँच सौ वर्ष पहिले पहुँचा था। इस्लामने भी अपनी मसजिद बना ली है—पहिले डेढ़ ईंटकी, लेकिन द्वितीय महायुद्धके बाद वह डेढ़ लाख ईंटकी बनेगी। यहूदी तो खैर अपने धर्मको खूनसे सम्बद्ध मानते हैं, और उनके कितने ही मंदिर हैं। हिन्दूधर्म बचा हुआ था, अब वह भी वहाँ पहुँच गया। लेकिन शायद, हिन्दू सेठ अपने मंदिरको हिन्दुस्तानसे आये-गये सेठोंकी धर्मशालाका रूप देना चाहते हैं। श्री चम्पतराय बैरिस्टर भी कई सालोंसे जैनधर्मका प्रचार करनेकेलिए यहाँ डटे हुए थे। बुढ़ापेमें एक तरह वह काशी-वास कर रहे थे। वह मुझे सबसे ज़्यादा सच्चे और सीधे-सादे धर्मप्रचारक मालूम होते थे, लेकिन उनकेलिए दिक्क़तें भी सबसे ज़्यादा थीं। जिस देशमें मांस बिलकुल साधारण भोजन है, वहाँ निरामिषाहारपर सबसे ज़्यादा ज़ोर देनेवाले जैनधर्मको कठिनाइयाँ छोड़ और क्या हो सकती थीं। बौद्ध भी अहिंसाको मानते हैं, लेकिन मांसको वर्जित नहीं करते, बल्कि कुछ अपवाद छोड़कर उनमें शत-प्रतिशत मांसाहारी ही हैं। श्री चम्पतरायजी अपना रोना रो रहे थे। मैंने पूछा—यहाँ जैन विद्यार्थियोंके खाने-पीनेका कैसा होता है। उन्होंने कहा कि इस देशमें निरामिषाहारका प्रबन्ध करना बहुत मुश्किल है। अंडेको भी तो यह लोग फलाहारमें गिन लेते हैं। मैंने चाहा, एक ऐसा छात्रावास खोल दिया जाय, जिसमें शुद्ध सात्विक निरामिष भोजन मिले। मैंने पहिले कुछ जैन विद्यार्थियोंसे ही शुरू करले-

केलिए उनमेंसे कुछके साथ बातचीत की। एकने कहा—हम लोग आपके छात्रावासमें चले तो आते, लेकिन आप तो अंडा भी खाने नहीं देंगे ? चम्पतरायजीने हँसते हुए अपनी बातको समाप्त किया, मैंने उनसे कहा—जब तुम्हारी ही यह हालत है, तो निरामिष छात्रावास खोलनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है। उस वक्त एक और भी महायोगी और कवि लन्दनमें मौजूद थे, उनका ढंग ज़्यादा सफल होने लायक़ था, क्योंकि वह योग-समाधि, कैलाश-मानसरोवर, सिद्धों और देवताओंके दर्शनकी बात ज़्यादा करते थे, अगर उसके साथ घुड़दौड़के जीतनेवाले घोड़ेका नम्बर भी बतलाया करते, तो और पौबारह थे। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी मध्यम-वर्गकी एक शिक्षिता चिरकुमारी थी, यह भी सफलताकेलिए एक कुंजी थी। मुश्किल थी, तो यही कि हिन्दूधर्म ग़ुलामोंका धर्म है, दूसरे धर्म यह दावा कर सकते थे, कि उनके माननेवाले कुछ देश स्वतंत्र हैं।

लन्दनमें मैं बराबर बादलोंको मँडराते देखता था। उससे यह बात साफ़ मालूम होने लगी, कि लन्दनवाले क्यों सूर्यके दर्शन होनेपर बड़ी ख़ुशी मनाते हैं। लन्दनका ब्रिटिश म्यूज़ियम सिर्फ़ पुरानी मूर्त्तियों और कलाकी चीज़ोंका एक अच्छा संग्रह रखनेकेलिए ही प्रसिद्ध नहीं, बल्कि वह दुनियाके सबसे बड़े पुस्तकागारोंमें है। और दोषोंके साथ किताबका कीड़ा होना भी मेरेमें एक दुर्गुण है। मैं वहाँ पढ़नेकेलिए जाना चाहता था। वहाँ पढ़नेवालोंकेलिए बड़ा अच्छा इन्तज़ाम है। साधारण पाठकोंकेलिए बैठनेके ख़ास स्थान हैं और गम्भीर विद्यार्थियोंकेलिए तो और भी अच्छा एकान्त घर है। डा० बरनेट भारतीय तत्त्वज्ञानके अच्छे वृद्ध पंडित थे। उन्होंने मेरी सहायता की और मुझे साधारण वाचनालय और छात्रवाचनालय दोनोंमें बैठकर पढ़नेका आज्ञापत्र मिल गया। ८ अगस्त और उसके बाद कितनी ही बार मैं ब्रिटिश म्यूज़ियम-पुस्तकालय जाया करता था। यद्यपि अपने भेस और दूसरी कठिनाइयोंके कारण मैं जितना चाहता था, उतना उससे फ़ायदा नहीं उठा सकता। पेरिसमें भी भूगर्भो-रेलमें मैं चढ़ चुका था, और यहाँ तो उसका और ज़्यादा सहारा लेना पड़ता था। भूगर्भी रेलके स्टेशन ज़मीनसे सैकड़ों हाथ नीचे होते हैं, जल्दी उतरने-चढ़नेकेलिए वहाँ बिजलीकी सीढ़ियाँ होती हैं। पुरानी दुनियासे नई दुनियामें आनेमें कितनी दिमाग़ी अड़चनें पड़ती हैं, वह इस सीढ़ीके उतरने-चढ़नेमें मुझे मालूम हो रही थीं। सीढ़ी बिजलीके ज़ोरसे स्वयं सरकती जाती, लेकिन सरकनेवाली सीढ़ी और स्थिर धरतीका एक संधिस्थान था, जहाँ अचलसे चल आधारपर पैर रखना पड़ता था। सीढ़ी लगातार सरकती जा रही है, अगर

आप दाहिना पैर रखकर ज़रा देर भी सोचने लगते हैं, तो बायाँ पैर अपनी जगह रह जाता है और दाहिनेको सीढ़ी खींचे जा रही है। इसलिए ज़रूरी है कि एक क्षणकी देरी किये बिना ही दूसरे पैरको भी सीढ़ीपर रख दें। फिर दूसरी दिक़्क़त, अचलसे चल अधारपर जाते ही आपको अपने शरीरके सारे बोझ को नई तरहसे सँभालना पड़ता है। न सँभाले तो गिरनेका डर है, फिर सैकड़ों आँखें आपके गिरनेका तमाशा देखेंगी, चोट लगेगी, सो अलग। सीढ़ीकी बग़लमें बाँह रखनेका कटघरा है, पहिले मैंने समझा था कि कटघरा अचल है, इसलिए अचल और चलका वहाँ भी ख़तरा है; लेकिन पीछे देखा कि कटघरा भी चल है। गाँवके आदमीकेलिए शहर ही बहुत परेशानीका कारण होता है, फिर एसियाके शहरोंसे पेरिस और लन्दन और भी ज्यादा अन्तर रखते हैं। और उसमें इस बिजलीकी सीढ़ीने तो कमाल कर दिया है। मुझे इस बिजलीकी सीढ़ीपर चढ़ने-उतरनेमें बड़ा तरद्दुद मालूम होता था और इसीलिए मेरा दिमाग़ बहुत सोचनेकेलिए मजबूर होता था। मैं ख्याल करता था, दुनिया भी इसी तरह चलनेवाली एक सीढ़ी है। हमारे एक पैरको तो वह ज़बर्दस्ती पकड़कर खींच चल देती है, लेकिन दूसरेको हम स्थिर भूमिपर गाड़ करके रखना चाहते हैं। हिन्दुस्तान इस बीमारीका सबसे ज़बर्दस्त शिकार है। परिस्थितियाँ ज़बर्दस्ती एक टाँगको खींचकर उसे भविष्यकी ओर ले जा रही हैं, लेकिन वह अपनी धार्मिक, सामाजिक सभी बातोंमें अतीतको पकड़े रखना चाहता है। हमारे लोग साइंस पढ़ते हैं, भूगोल पढ़ते हैं, ज्योतिष पढ़ते हैं, फिर ग्रहण नहाकर पुण्य-दानकर सूर्य-चन्द्रकी मुक्ति कराते हैं, और पुराने भ्रमपूर्ण ज्योतिषपर आधारित भविष्यद्वाणीपर पूरा भरोसा रखते हैं, हिमालयकी ओर स्वर्ग जाते वक़्त पांडवोंके गल जानेकी बातपर विश्वास करते हैं; चुटिया, जनेऊ, धोती, छूतछात सबको लिये दिये इस बिजलीकी सीढ़ीके भवसागरको पार कर जाना चाहते हैं!

२४ अगस्तको मैं म्यूज़ियममें पढ़ने गया था, कोई साथ लिवानेकेलिए आनेवाला था, मैं उसका इन्तज़ार कर रहा था, लेकिन चन्द ही घड़ियों पहिले मेरे परिचित बने श्री आनन्दराय चिन्नप्पा निकल आए। उन्होंने कहा—मैं आपको पहुँचा देता हूँ। आनन्दराय पिछली लड़ाईके पहिले इराक़, मिश्र आदि देशोंमें होते इंगलैण्ड पहुँचे थे। अब वह लन्दनके ही निवासी थे। उनकी ५ लड़कियाँ और १ लड़का था। बीबी अँगरेज़ महिला थी और आनन्दरायका रंग कोयलेसे कुछ ज्यादा ही काला था। वह रेशमी पगड़ी बाँधना धर्मसा समझते थे। वह मुझसे एक दिन कह रहे थे—"हम लोगोंको टोप कभी नहीं लगाना चाहिए, नहीं तो अँगरेज़ निगर

(हबशी) कहते हैं, मैं बराबर पगड़ी बाँधता हूँ।" आनन्दरायजी मुझे भूगर्भी रेलके नज़दीक स्टेशनसे ले आए, फिर हम लोग ग्लौसेसटर रोडके अपने निवासको ढूँढ़ने लगे। कुछ बहक गए थे। आनन्दरायने एक औरतसे रास्ता पूछा। वह छोटी गाड़ीपर बच्चेको बैठाकर टहला रही थी। औरतने जवाब दिया। आनन्दराय तुरन्त बोल उठे—तुम अमुक इलाक़ेकी हो न ? उसने हाँ किया। आनन्दरायने तुरन्त यह कहते हुए चाय पीनेका निमंत्रण दे दिया—मेरी स्त्री भी उसी इलाक़ेकी है। आनन्दराय मुझसे कह रहे थे, मैं बोलीसे पकड़ लेता हूँ कि कौन आदमी इंगलैण्डके किस हिस्सेका रहनेवाला है। बोलीमें तो फ़रक़ है ही, जिस अँगरेज़ीको हम किताबोंमें पढ़ते हैं, उसके बोलनेवाले कितने हैं ? ९ अगस्तकी बात है, एक श्यामवर्ण हट्टा-कट्टा पुरुष अपने दो गोरे लड़कोंको साथ लिए हमारे पास पहुँचा। उसने बौद्धगृहस्थकी तरह हाथ जोड़, सिर झुकाकर प्रणाम किया। उसके चेहरे से प्रसन्नता झलक रही थी। उसने कहा—१७, १८ वर्ष हुए, जब कि पिछली लड़ाईके वक़्त में १४, १५ वर्षका लड़का था, लंकासे भागकर यहाँ चला आया। यहीं ब्याह किया, और तबसे यहीं हूँ। मुझे कितनी ही बार अपने भगवान (बुद्ध) और अपने भिक्षु याद आते थे। मैंने हाल हीमें एक अख़बारमें देखा, कि लन्दनमें हमारा विहार है, और हमारे भिक्षु भी रहते हैं। ३, ४ घंटेतक ढूँढ़नेके बाद मैं इस स्थानको पा सका। जवान इसकेलिए बहुत सन्तुष्ट था कि अब वह भी उपोसथ रख सकेगा। बुद्धकी पूजा कर सकेगा, भिक्षुसे "त्रिशरण" और "पंचशील" ले सकेगा। आनन्दजी उस तरुणको लेकर नीचे मंदिरमें गए। वहाँ उसने अश्रु-गदगद हो पूजा-पाठ किया। पीछे भी वह अपनी पत्नी और पुत्रोंके साथ विहारमें आया करता था।

जिस वक़्त हम तरुणसे बातें कर रहे थे, उससे कुछ पहिले ही हमीरपुरके भाई अज़ीज़ आके हमारे पास बैठे थे। अज़ीज़को भी १७, १८ वर्ष यहाँ रहते हो गये थे, लेकिन अज़ीज़ एक दूसरे ही टाइपके आदमी थे। लंकाका तरुण इस समय भी, जब कि बीसियों लाख आदमी इंगलैण्डमें बेकार हो भूखे मर रहे थे, ४५-५० रुपये हफ़्ते कमाता था। वह एक समूर (बेश क़ीमती चर्मवस्त्र)के कारख़ानेमें कारीगर था। अज़ीज़ने कभी कोई नौकरी करनेकी कोशिश की होगी, इसमें सन्देह है। सारा इंगलैण्ड, स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड उनके पैरोंके नीचे था, बस घूमना उनका काम था। शहर गाँव सभी जगह ख़र्च-वर्च कैसे चलता था—इसे मत पूछिए। वह पूरे फक्कड़ थे। और सच बताऊँ मुझे अज़ीज़पर ईर्ष्या होती थी। भूख तो लगती ही है, और इंग-लैण्डके जाड़ेकेलिए ज़्यादा कपड़ोंकी ज़रूरत होती है। मैंने पूछा खानेकेलिए कैसे

इन्तज़ाम करते हो, यहाँ तो भीख माँगनेके खिलाफ़ क़ानून है। अज़ीज़ने कहा—मैं गिड़गिड़ाके माँगनेवाला भिखमंगा नहीं बन सकता, यद्यपि वैसे भी भिखमंगे हैं यहाँ; मैं मज़दूरों या निम्न मध्यमवर्गके महल्लेमें चला जाता हूँ। किसी घरपर जाकर दस्तक लगाई, कोई स्त्री दरवाज़ा खोलने आई, तो बड़ी गम्भीरताके साथ उससे कहा—"क्या मेहरबानी करके एक प्याला चायका पानी देंगी ?" चायका पानी देनेका मतलब है, चीनी और थोड़ा दूध भी, साथ ही एक टुकड़ा रोटीका भी। अगर घरमें रहा तो अकसर "ना" नहीं मिलता। मैंने पूछा—"बड़े घरोंमें क्यों नहीं जाते ?"

"बड़े घरोंके लोग ज़्यादा कठोर-हृदय होते हैं, कुत्ता छोड़ देते हैं, नहीं तो टेली-फ़ोन करके पुलिस बुला उसके हवाले कर देते हैं।"

अज़ीज़ गाँवोंके लोगोंको ज़्यादा पसन्द करते थे। वह उन्हें ज़्यादा सहृदय मालूम होते थे। सिंहल तरुणने अँगरेज़ी बोलते-बोलते सीखी थी और वह किताबी अँगरेज़ी नहीं, अपने महल्लेके मजूरोंकी बोली बोलता था। जब उसे आनन्द लिवाके नीचे गए, तो अज़ीज़ने नाक सिकोड़ते हुए कहा—"कैसा आदमी है, १८ साल हो गए और अँगरेज़ी भी अच्छी नहीं बोल पाता! किसी रात्रिपाठशालामें भर्ती हो गया होता, अँगरेज़ी ठीक हो गई होती।"

यद्यपि हिन्दुस्तान और सीलोनके कितने ही विद्यार्थियोंसे हमारी मुलाक़ात होती रहती थी मैं जानता था कि यही हिन्दुस्तानके बड़े आदमी बनने जा रहे हैं—कोई इनमें जज कलक्टर होगा, कोई बैरिस्टर और कोई डाक्टर-प्रोफ़ेसर। इनमेंसे डाक्टर मोतीचन्द , डा० श्रीनिसावाचार, डा० अधिकारम् जैसे कितने ही तरुणोंसे मित्रता भी हुई, लेकिन अधिकांश विद्यार्थियोंको मैं बेकारसा समझता था। शायद, इसके भीतर मेरा साम्यवादी भाव काम कर रहा हो; शायद इसके भीतर नानाके चार बीघे खेतोंपर गुज़ारे जीवनकी कटुता भी हो, और सबसे बड़ी बात यह हो सकती है, कि मेरेलिए सदा साहसमय जीवन आकर्षक रहा है, और ऐसा जीवन लन्दनमें जाकर पढ़नेवाले लड़कोंमें मिलना मुश्किल था। पर उनमें बहुतसे तो बचपनसे ही नौकरों-चाकरोंके हाथों पान-फूलकी तरह पैदा हुए और पले थे। दूसरी तरहके नौजवानोंमें रामचन्द्र इस्सर और हंसराज थे। रामचन्द्र रावलपिंडीके रहनेवाले थे भागकर करांचीमें जहाज़ी खलासियोंमें भरती हुए दुनियाके समुन्दरों-की कई परिक्रमा करते रहे। उन्हें मालूम हुआ कि कोई जहाज़ी कम्पनी हिन्दुस्तानमें भरती हुए नौकरको यदि २० रुपया महीना देती है, तो विलायतमें भरती हुएको

२५) रुपया हफ़्ता। उन्होंने इंगलैण्डमें पहुँचकर वह नौकरी छोड़ दी और फिर दूसरे जहाज़में भरती हो गए। अब उन्हें अँगरेज़ों जैसा वेतन मिलता था। कितने ही समयतक जहाज़ी नौकरी की, फिर लन्दनमें एक होटलमें रसोई-परोसू बन गए। तनख़्वाह और ज़्यादा थी। कुछ सौ पौंड जमा किए, फिर अपनी एक छोटीसी दूकान खोल ली। दूकान अच्छी चल रही थी। लेकिन इसी बीचमें १९२९में विश्वव्यापी मन्दी शुरू हो गई। बड़े-बड़े लखपतियोंके दिवाले निकल गए, तो रामचन्द्रके बारेमें क्या कहना। आजकल उन्हें बेकार फंडसे कुछ पैसे मिल जाते थे, किसी हाटमें एक संदूक़ रखी थी, वहाँ भी कुछ बेंच आते थे। ४, ५ वर्षका लड़का था, बीबी टाइप और शार्टहैंडका काम जानती थी। स्त्रियोंके शृंगारके कामको भी उन्होंने सीखा था, लेकिन मन्दीके कारण आजकल काम मिलना मुश्किल था। तो भी औरोंकी अपेक्षा रामचन्द्र अच्छी हालतमें थे।

रामचन्द्र पाँच ही सात दर्जे पढ़े थे, किन्तु उनके दोस्त हंसराज पंजाब विश्वविद्यालयके ग्रेजुएट थे। बर्मा, चीन, अमेरिका कहाँ-कहाँकी खाक छानते लन्दन पहुँचे थे। उनके घरवाले धनी थे, लेकिन वह अपने ही पैरपर खड़ा होना पसन्द करते थे। रामचन्द्रकी तरह उन्होंने भी यहीं शादी की थी और उनको एक लड़की थी। हंसराजकी दूकान मंदीने बन्द कर दी थी। हमारे सामने ही उनका घरसे तार आगया, और उन्हें हिन्दुस्तान लौटना पड़ा। एक और जवान हमारे बलियाके सोवरनराय थे। पलटनके सिपाही हो पिछली लड़ाईमें गए थे, फिर लन्दन हीमें रह गए। विलायतमें तनख्वाह चौगुनी-पँचगुनी ठहरी, हिन्दुस्तानी हाथ खर्च करते कुछ बचा सकते ही हैं। सोवरनरायने हज़ार या अधिक पौण्ड (१४ हज़ारसे अधिक रुपए) जमा कर लिये थे। लोग सलाह दे रहे थे कि १४-१५ हज़ार रुपया हो गया, हिन्दुस्तानकेलिए बहुत है, चले जाओ। लेकिन सोवरनराय उसे पूरा नहीं समझते थे। लन्दनमें रहते बोली तो उन्होंने सीख ली थी। लेकिन पढ़ने-लिखनेसे कोई वास्ता नहीं रखा। वह अब एक रेस्तोराँ (भोजनशाला) खोलना चाहते थे। किसी मकानवालेसे किराएपर मकान लिया, पेशगी रुपया देना पड़ा। दस्तावेज़पर ५-६ बरसकी जगह १ बरस लिख दिया गया। बेचारोंका आधासे ज्यादा रुपया इसी तरह कम हो गया और आगे रेस्तोराँ भी नहीं चल सका।

एक और भारतीय बरेलीके रहनेवाले पं० हरिप्रसाद शास्त्री मिले। शायद युद्धसे भी पहले वह हिन्दुस्तानसे बाहर गए थे। किसी समय मैंने सरस्वतीमें लेख पढ़ा था, जिसमें उनके जापानमें जाकर धर्मकी धूम मचानेका वर्णन था। शायद उस

वक़्त मैं भी दुनियाँमें वैदिकधर्मकी धूम मचानेका स्वप्न देख रहा था । वह लेख और नाम मुझे याद था । एक दिन शास्त्रीजी मुझे मिल गए । परिचय, प्रणाम हुआ । उन्होंने अपने घर आनेका निमंत्रण दिया । २४ सितंबरको साँझके ५ बजे हम दोनों शास्त्रीजीके घरपर गए । उनकी स्त्री एक जापानी महिला हैं । पति-पत्नी दोनोंका स्वभाव बहुत मधुर है । उनके कोई संतान नहीं है । लन्दनका जीवन अत्यंत संघर्षमय जीवन है । शास्त्रीजी कुछ पढ़ाकर कुछ व्याख्यान देकर और शास्त्रिणी नृत्य-शिक्षा देकर अपना गुज़ारा करते थे । बरेली अब भी उन्हें स्मरण आती है, लेकिन कभी देख सकेंगे, इसमें भारी सन्देह है ।

मैं पहले अकसर घरको बगीचेमें—जो कि पिछवाड़े थी, शामको टहला करता था । पड़ोसी कुमारियोंको हमारा वेष देख कौतूहल होता था और वह कोई कपड़ा लपेटकर हमारी नक़ल करती थीं । जब मैं हिन्दुस्तानमें था । उसी समय "गंगा" पत्रिका (सुल्तानगंज, भागलपुर)के सम्पादक पं० रामगोविन्द त्रिवेदीने पुरातत्त्वांक-का मुझे सम्पादक बननेकेलिए कहा था । मैंने उसे स्वीकार कर लिया था, और लंकामें रहते वक़्त उसकेलिए कई लेख लिख दिए थे । लन्दनमें उन्होंने दूसरे लेखोंको भी सम्पादनकेलिए भेजा था । मुझे उसकेलिए भी समय देना पड़ता था । तिब्बतसे लाए चित्रोंमें ३४, ३५ बहुत अच्छे चित्रोंको मैं अपने साथ लन्दन लेता गया था । यहाँ और पेरिसमें भी उनकी प्रदर्शनी हुई थी । पहिले मैं नहीं समझता था, कि वह इतने सुन्दर और महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन यहाँ आनेपर मुझे उनका मूल्य मालूम हुआ । कई वर्षोंसे नालन्दाके पुनरुद्धारका मेरे दिमाग़में खब्त था । लंकामें रहते मैं यह भी ख्याल कर रहा था, कि अगर सारे चित्र ३०, ३५ हज़ारपर बिक जाएँ तो उस रुपएसे नालन्दामें ज़मीन ख़रीद ली जाय । यहाँ आनेपर जब मुझे चित्रोंका महत्त्व मालूम हुआ, तो बेंचनेका ख्याल छोड़ दिया । किस जगहपर इन्हें सुरक्षित तौरसे रखा जा सकता, इसपर विचार करते ही मुझे ख्याल आया कि पटना म्यूज़ियम ही इसकेलिए सबसे उपयुक्त स्थान होगा । २८ अक्तूबरको मैंने म्यूज़ियमके सभापति जायसवालजीको पत्र लिखा "मैं अपने तिब्बती चित्रपटको म्यूज़ियमको देनेकेलिए तैयार हूँ । किन्तु नालन्दामें यदि कोई सुरक्षित स्थान बन गया, तो वह वहाँ चले जायँगे ।" २२ नवम्बरको जायसवालजीका तार मुझे पेरिसमें मिला । "तिब्बती चित्रोंके बारेमें आपके २२ अक्तूबरके लिखे पत्रकी शर्तें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हैं, टामसकुकको लिख रहा हूँ कि वह चित्रोंको सँभाल ले । जायसवाल, पटना म्यूज़ियम सभापति" (Thankfully accepted terms

in your letter twentyeight Oct. for Tibetain paintings. Instructing Thomes Cook to take charge. Jayaswal President Patna Museum)। सारे चित्रपट डेढ़ सौके क़रीब थे, जिन्हें मैंने पटना म्यूज़ियमको दे दिया उनका मूल्य एक लाखसे कम न होगा। नालन्दाके स्वप्नकेलिए मैंने एक अमेरिकन म्यूज़ियमके हाथमें बेचनेकेलिए एक पत्र लिख दिया था और यदि मैं लन्दन न गया होता, तो उनके महत्त्वको इतना जल्दी न समझ पाता, और फिर शायद ग़लती कर बैठता।

हमारा महल्ला मध्यम-वर्गके लोगोंका महल्ला था। ज़्यादा मालदार और शौक़ीन लोग लन्दनके वेस्टएन्ड महल्लेमें रहते हैं, और ईस्ट-एंड है ग़रीबोंका मुहल्ला। ३० अगस्तको हम ईस्ट-एंड देखने गए। वहाँ मालूम हुआ कि हमारे साहेबोंने अपने देश-भाइयोंकेलिए भी कैसा नर्क तैयार कर रखा है। पिंजड़ेकी तरहके उनके छोटे-छोटे मकान, मैले-कुचैले वस्त्र, और भूखे-दुबले नरकंकाल चारों ओर दिखलाई पड़ते थे। यहीं कुमारी लिस्टर—एक मध्यम वर्गीय महिला—ने किङ्सलेहाल नामकी अपनी संस्था ग़रीबोंकी सेवाकेलिए क़ायम की थी। धनियोंने पृथ्वीपर इस नरकको तैयार किया है, जहाँ नरककी आग करोड़ों नर-नारियोंको धायँ-धायँ करके जला रही है। जब किसी-किसी धनिक सन्तति या उसके भाई-बन्धुका दिल पसीजता है, तो वह सारी विपत्तियोंकी जड़ धनी-ग़रीबके भेदको नष्ट करनेकी जगह पत्तोंको पानी देते हुए किङ्सलेहाल जैसी संस्थाएँ क़ायम करता है। कुमारी लिस्टर उस वक़्त वहाँ नहीं थीं। गांधीजी जब राउंड टेबुल कान्फ्रेन्स (१९३१)में आए, तो वह यहीं ठहरे थे। अपनी शक्तिके अनुसार यह संस्था ग़रीबोंकी सेवा करती है। एक पुस्तकालय है, लड़कोंके खेलनेका भी कुछ इन्तज़ाम है। कुछ बच्चोंको दूध भी दिया जाता है।

मिसेज़ रीज़-डेविड्स पाली भाषाकी प्रख्यात पंडिता थीं। वह और उनके स्वर्गीय पतिने पाली साहित्यके अनुसन्धान और प्रकाशनमें बहुत काम किया था। लड़ाईके वक़्तमें उनका प्रिय पुत्र मर गया। कुछ समय बाद पति भी मर गए। बेचारी बुढ़िया इस शोकको बरदाश्त नहीं कर सकीं। प्रेतविद्यावालोंके पास पहुँचने लगीं। पुत्र-वियोगमें प्रेमान्ध तो थी हीं, उन्हें विश्वास हो चला कि उनका पुत्र प्रेतलोकमें ज़िन्दा है। बस, उनकी पाली-विद्वत्ताका उपयोग अब अप्रत्यक्ष-रूपेण एक-दूसरे विषयके प्रतिपादनमें इस्तेमाल होने लगा। वह सोचने लगीं, यदि प्रेतलोक है—जहाँ कि उनका पुत्र रहता है—तो देवलोक भी है। जब लाखों बरसतक रहनेवाले ये प्रेतलोक और देवलोक मौजूद हैं, तो कोई ज़रूर अजर-अमर नित्य आत्मा है,

जो इस शरीरको छोड़कर दूसरे लोकमें जाती है। अब उन्होंने कहना शुरू किया कि बुद्ध अनात्मा नहीं आत्माको मानते थे, इसी तरहसे और कई नई कल्पनाएँ करके बुद्धके उपदेशोंका उन्होंने बिलकुल उल्टा-पुल्टा अर्थ करना शुरू किया। आश्चर्य तो यह है, कि उनके पुत्रशोकविकृत मस्तिष्ककी उपज इन बातोंका लोग बड़ी गम्भीरतासे अध्ययन करते रहे। एक दूसरे साइंसवेत्ता सर आलिवर लाजके बारेमें भी यही बात सुनी। लड़ाईमें उनका भी लड़का मारा गया था और मृत पुत्रसे बात-चीत करनेकेलिए उन्होंने प्रेत विद्याविशारदों (विलायती ओझों)की शरण ली। फिर तरह-तरहकी खुराफातें लिखने लगे। कितने ही अक़लके अन्धे इन अर्ध-विक्षिप्तों-की बकवासको भी विद्वत्ता समझते थे। मैंने मिसेज़ रीज़डेविड्सके विचारोंका परिहास-पूर्वक एक खंडन लिखा था, जो कि एक बौद्ध मासिकमें छपा था।

जिस वक़्त हम लन्दनमें थे, उस वक़्त विश्वव्यापी मन्दीका तीसरा साल चल रहा था। ३० लाखसे ऊपर आदमी बेकार पड़े हुए थे। विलायतकी बेकारी हिन्दुस्तानकी बेकारीसे बहुत अधिक असह्य होती है। लन्दनमें आप अगर किसी पाखानेमें जायँ, तो एक पेनी (आना) डालनेपर पाखानेका दरवाज़ा खुलेगा। एक प्याला चाय और एक टुकड़ा रोटीकेलिए बारह आना चाहिए। हर चीज़ महँगी, चादरकी धुलाई एक शिलिंग (१० आनेसे ऊपर), रूमालकी धुलाई ३ पेनी (३ आनेसे ऊपर), रूमाल धुलानेसे अच्छा यही था कि नई ख़रीद ली जाय। जहाँ जीवन-सामग्री इतनी महँगी हो, वहाँ अतिथिसेवा या बन्धुसेवा आसान काम नहीं है। एक दिनके मामूली खानेपर ही ३) खतम हो जाते। इस सारी व्यवस्थाका कारण वही पूँजीवाद है, जिसने इंगलैण्डके ६० सैकड़ा आदमियोंके जीवनको कलकेलिए अनिश्चित और सदाकेलिए चिन्तापूर्ण बना दिया है। इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं है कि ट्राममें चलते वक़्त माँ-बेटी, अपना-अपना अलग-अलग टिकट खरीदें।

२७ जुलाईसे १३ नवम्बरतक साढ़े तीन महीना मैं इंगलैण्डमें रहा। इसमें भी प्रायः सारा समय लन्दन हीमें बीता। विम्बल्ड्न लन्दनसे ११ मीलसे अधिक बाहर है, लेकिन वह भी शहर जैसा ही है। ६ सितम्बरको हम वहाँ गए। एक बृद्ध अँगरेज़ दंपतीके निमंत्रणपर १६ सितम्बरको ५ मील बाहर डलविच गाँवमें गए थे। पिछली शताब्दीमें उदार विचारोंकी जो बाढ़ आई थी, उसमें फ्रांसके विचा-रक कोंतेने बहुतसे दर्शनों, धर्म और साइंसकी खिचड़ी पकाके एक नई विचारधारा चलानी चाही थी। जान पड़ता है, कुछ दिनोंतक शिक्षित निम्न मध्यमवर्गपर उस-का असर हुआ था, यह वृद्ध दंपति उसी विचारधाराके माननेवाले थे।

धर्मोंके कितने ही पक्षपाती इस बातका बहुत खतरा महसूस कर रहे हैं कि आगे चलकर धर्म कहीं लुप्त न हो जाय। इसीलिए वह सारे धर्मोंका संयुक्त-मोर्चा बनाके धर्मविरोधियोंका मुक़ाबिला करना चाहते हैं। धर्मका हटना धनिकोंकेलिए बड़े खतरेकी चीज़ है। रोमका पोप तो मोक़े-बेमोक़े हर वक़्त वैयक्तिक सम्पत्तिको धर्मका एक अभिन्न अंग बतलाते हुए वैयक्तिक सम्पत्तिके विरोधियों, साम्यवादियोंके खिलाफ़ जहादकी घोषणा करता रहता है। यद्यपि १९४४के सितम्बरमें वह पूर्वी ईसाई-चर्चके साथ हाथ मिलानेकेलिए तैयार थे, क्योंकि, लालसेनाकी विजयसे धनिकोंके पिट्ठू और स्वयं भी एक बड़े धनिक इस महन्तराजके हृदयमें शूल होने लगा था। लेकिन जिस वक़्तकी मैं बात कर रहा हूँ, उस वक़्त अभी छोटे-छोटे आदमी ही सर्व-धर्म-समन्वयकी कोशिश कर रहे थे। मैं बौद्धधर्मका पक्षपाती था। साथ ही दूसरे धर्मोंका धर्मके ख्यालसे विरोधी नहीं था; लेकिन मैं यह जरूर समझता था कि ईश्वर-वादी धर्म जन-हित और विश्वप्रगतिके विरोधी हैं। अभी यह समझनेमें देर थी कि साधारण बौद्धधर्म भी धर्मके तौरपर प्रगति-विरोधी है। लन्दनमें कई धर्मोंके छुट-भैया नेता मिलके सर्वधर्म-मित्र-मंडली (Fellowship of faiths) की स्थापना करने जा रहे थे। बौद्धधर्मके बिना ऐसी मंडली भला पूरी कैसे हो सकती थी? उन्होंने हमारे यहाँ भी निमंत्रण भेजा। आनन्दजी गए, तबतक बहुत कुछ उद्देश्य और नियम बन चुके थे, जिसमें आरम्भ हीमें था—एक परमेश्वरकी सन्तान होनेसे मनुष्यमात्रमें भ्रातृभावका प्रसार करना। आनन्दजीने देखा, तो कहा—यह नियम रहनेपर तो बौद्ध इस संगठनमें नहीं शामिल हो सकते, क्योंकि बौद्ध ईश्वरको नहीं मानते। वहाँ बैठे एक मोलवीको यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, कह उठे—"या अल्लाह! यह भी कोई धर्म है, जिसमें ख़ुदाकेलिए कोई स्थान ही न हो।" ख़ैर, बौद्धोंको उसमें रखना था, इसलिए ईश्वरकी बात हटा दी गई।

२२ सितम्बरको अब सरदी इतनी बढ़ गई थी कि घरको गरम करनेकेलिए अँगीठी जलानी पड़ने लगी। अब बादल और ज़्यादा छाया रहता था, सबेरे मुँह धोते वक़्त हम देखते थे कि कण्ठसे काले रंगका कफ बाहर निकलता है। लन्दनकी वायुमें इतना धुआँ मिला रहता है, जिसकेलिए स्वाभाविक है।

२७ सितम्बरको गांधीजीके उपवास-भंगकी ख़बर सुनकर लन्दनके सभी भार-तीयोंको बहुत प्रसन्नता हुई। मेकडानल्डके निर्णयके विरोधमें गांधीजीको यह उपवास करना पड़ा था। अछूतोंके ऊपर हिन्दुओंने हज़ारों वर्षोंसे ज़ुल्म कर रखा है और उन्हें मनुष्यसे पशुकी अवस्थामें पहुँचा दिया है, इसे देखकर अछूतोंको

ज़्यादा सजग रहनेकी ज़रूरतसे कौन इनकार कर सकता है। गांधीजीके रास्तेसे अछूतोंकी समस्या नहीं हल हो सकती, यह भी निश्चित है। फिर अछूत नेता कोई दूसरा रास्ता अख़्तियार करना चाहें, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। गांधीजीने इसीलिए हड़ताल की थी कि अंग्रेज़ी शासक-वर्गने पृथक्-निर्वाचनकी नीतिको मुसल्मानोंके बाद अब अछूतोंकेलिए भी स्वीकृत किया था, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही था, कि हिन्दुस्तानकी शक्ति और छिन्न-भिन्न हो जाय। जिस दिन आमरण उपवासकी ख़बर लन्दनके अख़बारोंमें निकली, वहाँ बहुत सनसनी फैली हुई थी। एक चीनी विद्यार्थी मेरे पास आए, और पूछने लगे कि यह अछूतपन क्या चीज़ है। मैं देरतक कई तरहसे उन्हें समझानेकी कोशिश कर रहा था, लेकिन उनकी समझमें आ नहीं रहा था, कि स्वस्थ निरोग आदमीको छूना या उसके हाथका खाना भी बहुत बुरी चीज़ है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि जिसे हमारे यहाँके लम्बी नाकवाले पंडित ब्रह्माका विधान मानते हैं, उसे दूसरे देशके लोग इतनी बड़ी बेवक़ूफ़ी समझते हैं, कि उसपर विश्वास करनेकेलिए उनका जी नहीं चाहता।

गांधीजीके जन-जागृतिके कामका मैं बहुत प्रशंसक था, लेकिन उनकी पुराण-पंथिता मेरेलिए असह्य मालूम होती थी। २९ सितम्बरकी अपनी डायरीमें मैंने लिखा था कि भारतमें जाकर एक ऐसी पुस्तक लिखनी है, जिसमें गांधीके पुराण-वादकी आलोचना हो।

केन्‌सिङ्टन म्यूज़ियम में पहिले भी गया था; वहाँके अधिकारी मिस्टर केम्‌बेल्‌से परिचय था, वह हमारे यहाँ भी आए थे। ५ तारीख़को हम वहाँ ख़ास तौरसे भगवान बुद्धके दो प्रधान शिष्यों सारिपुत्र, और मौद्‌गल्यायनकी अस्थियोंका दर्शन करने गए थे। २२०० वर्ष पहिले इन दोनों सत्पुरुषोंकी थोड़ी-थोड़ी हड्डी डिबियोंमें रखकर साँची और सोनारीके स्तूपोंमें रख दी गई थीं अब (१९४७ में) वह भारत लाई गईं। मिस्टर केम्‌ब्रेल्‌ने इन डिबियोंको दिखलाया, उनपर ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी की लिपि में उन दोनों सत्पुरुषोंका नाम अंकित था। भीतर खोलनेपर हड्डीके छोटे टुकड़े दिखलाई पड़े। बुद्धके सबसे अधिक मेधावी इन दोनों शिष्योंके शरीरका अवशेष अब दुनियामें इतना ही रह गया है। हम लोगोंने बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें देखा। मिस्टर केम्‌वेल्‌ने म्यूज़ियमकी और भी कितनी चीज़ें घूम-घूमकर दिखलाईं। वह हमें अपने आफ़िसमें ले गए। वहाँ उस वक़्त भारतीय सरकारके कोई अंग्रेज़ अफ़सर उनका इन्तज़ार कर रहे थे। शिष्टाचारके तौरपर उन्होंने मेरा भी परिचय कराया। लेकिन जितने संकोचके साथ उसका हाथ और जीभ हिली, उसे देखनेसे

मालूम हो गया, कि वह आदमी हम हिन्दुस्तानी गुलामोंको इस योग्य नहीं समझता था, कि हमसे हाथ मिलाए, और खुलकर बात करे। हिन्दुस्तानमें रहे अंग्रेजोंमें अक्सर ऐसी मनोवृत्ति पाई जाती रही, जो ऐसा नहीं करते, वह सरकारी नौकरीमें तरक़्क़ी भी नहीं कर सकते थे। इसके उदाहरण मिस्टर शटलवर्थ थे। वह आई० सी० एस्० होकर हिन्दुस्तानमें आए, और ज़िन्दगी भर ज़िलेके अधिकारी रहकर ही पेन्शन ले विलायत चले गए। उस वक़्त वह लन्दन विश्वविद्यालयमें तिब्बती भाषाके अध्यापक थे। १२ नवम्बरको बड़ी देरतक हमारी उनसे बात होती रही थी। उनमें इतनी सहृदयता थी, कि मैं समझ रहा था, यह कोई ईसाई मिशनरी होंगे। उन्होंने अपने घरपर चाय पीनेकेलिए बुलाया। उनकी पत्नीने चाय तैयार करके पिलाई। घरका सारा कामकाज वह अपने हाथसे करती थी। ख़ैर, इंग्लैण्ड लौटनेपर तो गवर्नरोंको भी ट्रामपर चलना होता है। लेकिन शटलवर्थ दंपती अवश्य भारतके अंग्रेज़ शासकोंमें अपनी प्रकृतिकेलिए अपवाद थे।

७ अक्तूबरको हम लन्दन टावर देखने गए। "एक तो करैला, दूसरे नीम चढ़ा" वाली कहावत थी। हमारा ही भेष बहुत आकर्षक था और हमारे साथ गए थे लंकाके करोलिस महाशय, जिन्होंने अपने लम्बे केशोंको जूड़ेकी तरह बाँध रखा था। यह वह जगह है, जहाँ शताब्दियोंतक राजा अपने विरोधियोंको बन्द रखा करते थे। कितनी हतभागिनी रानियोंका यहींपर सर काटा गया था। जिन कुल्हाड़ोंसे सर काटा गया था, वह भी यहाँ सुरक्षित हैं। पुराने हथियारोंका यहाँ बहुत अच्छा संचय है, और उन्हें शताब्दीके क्रमसे रखा गया है। कोहिनूर-जटित राजमुकुट और दूसरे बहुतसे हीरे भी यहीं रखे हुए हैं। हमने घूम-घूमकर सब चीज़ों-को देखा।

अनागरिक धर्मपालके कई पत्र मेरे पास आए। उनकी बड़ी इच्छा थी, कि मैं उनके कार्यभारको सँभालूँ, लेकिन मैं अपनेमें धर्मके प्रति उतनी श्रद्धा नहीं देखता था। हिन्दुस्तान आनेके बाद भी अनागरिकने कुछ चर्चा की थी, लेकिन मैं अपनेको विद्या और अन्वेषणके क्षेत्रमें ही लगा चुका था। महाबोधि सभावालोंकी इच्छा थी, कि मैं इंग्लैण्डसे अमेरिका जाऊँ। कोई समय था, कि जब मैं धर्मप्रचारक बननेका तीव्र अनुरागी था, लेकिन अब अवस्था बिल्कुल बदल गई थी। बौद्धधर्मके साथ भी मेरा कच्चे धागेका ही सम्बन्ध था। हाँ, बुद्धके प्रति तो मेरी श्रद्धा कभी कम नहीं हुई। मैं उन्हें भारतका सबसे बड़ा विचारक मानता रहा हूँ, और मैं समझता हूँ कि जिस वक़्त दुनियाके धर्मका नामोनिशान न रह जायगा, उस वक़्त

भी लोग बड़े सम्मानके साथ बुद्धका नाम लेंगे। मैंने उनके वचनोंके पढ़नेके बाद समझा, कि वह भी दुनियाके साम्यवादी बननेका सपना देखते थे। यद्यपि वह समयसे बहुत पहिलेकी बात थी। लन्दनमें मेरा बहुतसा समय साम्यवादी साहित्य, उसमें भी विशेषकर रूस-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकोंमें लगता था। "डेलीवर्कर"का तो मैं नित्य बाक़ायदा पारायण करता था। वह साधारण दूकानोंमें नहीं मिलता था, इसलिए उसे पानेकेलिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त सोवियतमें छपनेवाले कितने ही सचित्र मासिक साप्ताहिक पत्रों और पुस्तक-पुस्तिकाओंको जमा करके पढ़ता रहा। हाँ, किसी अँगरेज़ कम्यूनिस्टसे सीधे सम्बन्ध स्थापित करनेका मुझे मौक़ा नहीं मिला। हो सकता है, वह मेरे कपड़ेसे भड़कते रहे हों; और मैं भी सोवियत जानेकी धुनमें था, इसलिए ख़ुफ़िया विभागकी आँखोंमें काँटा नहीं बनना चाहता था।

२६ अक्तूबरको हम दोनों केम्ब्रिज विश्वविद्यालय देखने गए। रास्तेमें किसानों-के घरों और खेतोंको देखा। अब जाड़ा शुरू होनेवाला था, वृक्षोंकी पत्तियाँ पीली हो गईं, या गिर गई थीं। खेतोंमें कोई काम नहीं होता था। गाँवके घर साफ़-सुथरे थे, सिर्फ़ एक जगह घोड़ेको हल चलाते देखा। केम्ब्रिजके एक दर्जनसे अधिक कालेजों और उनके छात्रावासोंको घूम-घूमकर देखा। उस वक़्त मुझे तिब्बतके सेरा और डेपुङ विहार याद आ रहे थे। केम्ब्रिज भी किसी समय ईसाई भिक्षुओंका विहार था। उन्होंने ही इसे विद्यापीठ बनाया था। हमारे यहाँ भी नालन्दा और विक्रमशिलाके विशाल विद्यापीठ थे, जो अपने समयमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति रखते थे। अचरजकी बात है कि जिस वक़्त नालन्दा और विक्रमशिला उजाड़े जा रहे थे, उसी वक़्त केम्ब्रिज और आक्सफ़ोर्डकी स्थापना हो रही थी।

१० नवम्बरको हम आक्सफ़ोर्ड गए। वहाँके भी कालेजोंके देखते वक़्त मुझे नालन्दाकी याद आती थी। सबसे ज़्यादा भक्तिभावसे मैं ९ तारीखको हाईगेटके क़बरिस्तानमें गया। १९३०-३१में मैंने मार्क्सके कई ग्रन्थोंको पढ़ा, यद्यपि अभी मार्क्सके भौतिकवादको पूरी तौरसे अपना नहीं सका था, खासकर इस शरीरके साथ ही जीवनके अन्तको अभी मैं नहीं मान रहा था। लेकिन मार्क्सकी और बातोंको मैं मानता था। बारह वर्षोंके बाद डाक्टर श्रीनिवासाचारने मेरी उस समयकी बातको स्मरण दिलाते हुए कहा था—आप उस वक़्त भी कहते थे, कि बुद्ध और मार्क्स यही दोनों हैं, जो आजकी दुनियाका बेड़ा पार कर सकते हैं। मैंने पढ़ा था, मार्क्सका देहान्त लन्दनमें हुआ था, और वह यहीं हाईगेटके क़बरिस्तान-

में दफ़नाए गए। मेरे आसपास रहनेवाले अपनेको उसके बारेमें बिल्कुल अजान बतलाते थे। ख़ैर, हम ढूँढ़ते-ढाँढ़ते उस क़बरिस्तानपर पहुँच गए। बाहर कोई स्त्री फूल बेंच रही थी, हमने उससे फूल लिया। चौकीदारसे मार्क्सकी समाधिके बारेमें पूछा, उसने कहा—मुझे मालूम नहीं। मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस वर्गकी ग़ुलामीको हटानेकेलिए मार्क्सने इतना काम किया, उसीका एक आदमी उस क़ब-रिस्तानका चौकीदार होते हुए भी मार्क्सकी समाधिको नहीं जानता। मैं समझता हूँ, बारह साल बाद आज वही अवस्था नहीं होगी, क्योंकि आज १९४४, मार्क्सकी सेना—लाल फ़ौज—की बहादुरीकी ख़बरें वहाँवाले रोज़ अख़बारोंमें पढ़ते होंगे। वहाँ हज़ारों क़ब्रें थीं। एक-एकपर नाम पढ़ते हुए पता लगाना एक दिनका काम नहीं था। उसी वक़्त एक आदमी क़ब्रोंकी तरफ़से फाटककी ओर आया। उसने कहा चलिए, मैं बतलाता हूँ। वह बिल्कुल साधारणसी क़ब्र थी, जिसपर घास उगी हुई थी। यहीं दुनियाके श्रमजीवियोंका त्राता अपने जीवनके अन्ततक परिश्रम और दरिद्रता सहनेके बाद अपनी स्त्री जेनी और नातीके साथ नीरव सो रहा है। मैंने बड़े भक्तिभावसे फूलोंको समाधिपर चढ़ाया। सिरहानेके पत्थरपर मार्क्सका नाम भी खुदा था, और किसीने छोटासा लाल झंडा रख दिया था। उसी दिन मैं वेस्ट-मिनिस्टर एबे देखने गया। यहाँ ग़रीबोंके ख़ून चूसनेवालोंकी समाधियाँ हैं। दर्जनों राजा-रानियों और उनके दरबारियोंकी समाधियाँ, जिनको सजाने और बनानेमें रुपयोंको पानीकी तरह बहाया गया है!

फिर फ्रांसमें—१४ नवम्बरको मैंने आनन्दजी और दूसरे मित्रोंसे बिदाई ली। ११ बजे रेल पकड़ते वक़्त आकाशमें बादल छाया हुआ था। अबकी डोवर-केलेका रास्ता पकड़ा। लन्दनसे डोवर रेलपर आया, फिर जहाज़में बैठा। समुद्र स्थिर था। अब मैं बिलकुल अकेला था। केलेमें जहाज़ छोड़कर रेलपर बैठा और छ बजे पेरिसके "गार-दे-नार" स्टेशनपर पहुँचा। मिस लून्ज़बरी स्वागतकेलिए तैयार थीं। पेरिसमें तिब्बती चित्रपटोंकी प्रदर्शनी होनेवाली थी, इसलिए मैं उन्हें साथ लाया था। अभी चित्रपटोंके दिखलानेमें कस्टमवाले देर करते, इसलिए वह काम दूसरे आदमीके जिम्मे देकर मिस लून्ज़बरीने मुझे एक होटलमें पहुँचाया। चित्रपटोंकी संख्या पूछनेपर मैंने अन्दाज़न एक चित्र अधिक बतला दिया। चित्रपट तो चले आए लेकिन फ्रांससे बाहर निकलनेपर एक चित्रपट कम हो रहा था। जिसका दाम आँककर मेरे मित्रोंको सरकारी महसूल देना पड़ा। होटलमें कमरा बहुत साफ़-सुथरा मिला था। किनारेपर ५ अंगुल चिपटे गर्म

पानीके नलोंकी घूमघुमौवा पाँती थी, जिसके कारण मकानमें सर्दीका नाम नहीं था।

दूसरे दिन (१५ नवम्बर) अपराह्णको हम मुज़ी-ग्वीमें गए। यह पेरिसका एक अच्छा संग्रहालय है, ख़ासकर एसियाई कलाका यहाँ बहुत अच्छा संग्रह है। पुराने दलाईलामोंके ८ चित्रपटोंका यहाँ भी अच्छा संग्रह था, लेकिन वह मेरे संग्रहके मुक़ाबिलेमें कुछ नहीं थे। गन्धार मूर्त्तियोंका भी यहाँ बहुत अच्छा संग्रह है, ख़ासकर हड्डा (अफ़ग़ानिस्तान)की खुदाईमें निकली चूनेकी मूर्त्तियाँ अनुपम हैं। रातके वक़्त बुद्ध-प्रेमियोंकी सभामें मुझे बोलना भी पड़ा।

१६ नवम्बरको आचार्य सेल्वेन् लेवीके घरपर गया। ७० वर्षके क़रीब उनकी अवस्था थी। भारतीय संस्कृतिके वह दुनियामें सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे। सारे बाल सफ़ेद हो गए थे। इस अवस्थासे बहुत पहिले ही भारतीय विद्वान बूढ़ा समझ कामको छोड़ बैठते हैं। १९२९ में मैं हिन्दूविश्वविद्यालयमें प्रोफ़ेसर राखालदास बनर्जीसे जब मिला था, तो वह ५० सालके भी नहीं हो पाए थे, और कह रहे थे—"हमें जो कुछ करना था वह कर चुके, अब आगे तुम लोगोंको करना है"। और यहाँ मैं आचार्य लेवीको देख रहा था, इस बुढ़ापेमें भी वह दस-दस बारह-बारह घंटा अनुसंधान करते तथा अपने कामकेलिए दुनियाके किसी भी कोनेमें जानेकेलिए तैयार थे। मैंने अपने संपादित "अभिधर्मकोष"को भेंट किया। उनके कमरेमें चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें दिखाई पड़तीं, जिनमें आधुनिक योरोपीय भाषाओंके अतिरिक्त चीनी, पाली, *संस्कृत, तिब्बतीकी पुस्तकोंकी संख्या ज्यादा थी। एक टूटी हुई काले पत्थरकी मूर्ति दिखलाकर आचार्यने कहा "इसे मैंने नालन्दामें पाया था।"*

हम ४ घंटातक बात करते रहे। ज्ञानके उस अगाधसमुद्रमें डुबकी लगानेसे मैं तृप्त कैसे हो सकता था? उन्होंने तिब्बती राजवंशावलीकी कुछ समस्याओंके बारेमें मुझसे पूछा। मध्यएसियामें प्राप्त तिब्बती हस्तलिखित काग़ज़ोंमें एक अपरिचितसे राजकुमारका नाम आया था। मेरे पास अपनी नोटबुक मौजूद थी, उसमें देखनेपर वह नाम मिल गया। आचार्यको बड़ी खुशी हुई। उन्होंने हाल हीमें गिलगितमें मिले हस्त-लेखोंका ज़िक्र करते हुए कहा—"आप वहाँ जरूर जायँ और उन पुस्तकोंके बारेमें लिखें।" मैंने "गंगा" पुरातत्त्वाँककेलिए "महायानकी उत्पत्ति" और "चौरासीसिद्ध" पर दो लेख लिखे थे, जिनका अंग्रेज़ी अनुवाद मेरे पास था। उन्होंने लेखोंको बहुत पसन्द किया और "जूर्नाल् आसियातिक" में छापनेकेलिए ले लिया, पीछे वह छपे भी। वहीं अनेक भाषाओंके पंडित गोवानिवासी बरगन्ज़ा महाशय मिले, जो मुझे

होटलतक पहुँचाने गए। वह भारतीय नृत्यपर एक पुस्तक लिख रहे थे, और "भरत-नाटचशास्त्र" के नृत्यसंबंधी अध्यायोंके अनुवादमें मेरी सहायता चाहते थे। मैंने खुशीसे इसे स्वीकार किया। वह पश्चिमी नृत्यशास्त्रके जानकार थे, उनके मुँहसे यह सुनकर मुझे बड़ा अभिमान हुआ, कि भरतने जितनी नृत्यमुद्राएँ बतलाई हैं, उनसे ज्यादा योरोपियन-नृत्यशास्त्रमें भी नहीं हैं।

मैं रहता तो था होटलमें। खाना लेकिन खाने मिस लून्ज़बरीके घर जाता था। उनका घर दूर नहीं था। खानेमें भात, सूप, मछली, रोटी, मक्खन, भाजी, कितने ही तरहके फल थे। फलोंमें ताज़ी अंजीर उतनी मीठी तो नहीं थी, लेकिन मैंने पहले पहल ताज़ी अंज़ीर वहाँ चखा था, इसलिए नया स्वाद मालूम होता था। उस दिन बरगंजा महाशय मुझे राष्ट्रीय पुस्तकालय (Bibliothic Nationale) दिखलानेकेलिए ले गए। ब्रिटिश म्यूज़ियमकी तरह यह भी दुनियाके सबसे बड़े पुस्तकालयोंमें है। यहाँ पढ़नेका इंतज़ाम और अच्छा है। ३ बजे हम सोरबोन् विश्वविद्यालयमें गए। प्रोफेसर लेवी, प्रोफेसर फूशे तथा दूसरे अध्यापक मिले। कितनी ही देर तक शास्त्र-चर्चा होती रही। मिस सिल्वर बौद्धदर्शनकी छात्रा थीं, उन्होंने कई बुद्धिमानीके सवाल पूछे। हमारे गम्भीर वार्त्तालापको देखते हुए सरदार उमरावसिंहने मज़ाक़ करते हुए कहा—"हम बूढ़ोंको ये छोकरियाँ कहाँ पूछती हैं।" मैंने कहा—"दाढ़ी तो और बुढ़ापेको बढ़ा-चढ़ाके बतलाती है"।

मैं सोवियत जानेकेलिए बहुत उत्सुक था। यूरोपके बहुतसे और देशोंका नाम तो मैंने लन्दन हीमें विदेश-विभागमें अपने पासपोर्टको भेजकर लिखवा लिया था, लेकिन अभी उसमें सोवियतका नाम नहीं था। मैं इसकेलिए पेरिसमें ब्रिटिश कौंसिलके पास गया। समझता था, बहुत दिक़्क़त होगी, लेकिन कौन्सलने चीनमें रहते कोई बौद्धमूर्त्ति प्राप्त की थी, उसके बारेमें उन्होंने कुछ जानना चाहा। मैंने बतलाया और उन्होंने भी पोलैण्ड और सोवियतका नाम मेरे पासपोर्टपर चढ़ा दिया। यद्यपि अभी बिल्कुल निश्चित नहीं था, कि मैं सोवियत जा सकूँगा, लेकिन मैंने रूसी भाषा पढ़ना शुरू कर दिया। पोलैण्डकी एक कोनटिस बड़े प्रेमसे पढ़ा रही थी, वह रूसके बोलशेविकोंको फूटी आँखों भी नहीं देख सकती थीं, लेकिन उनको क्या पता था कि सामने पीले कपड़ोंमें बोलशेविकोंका एक ज़बर्दस्त हिमायती बैठा हुआ है। सोवियत-दूतावासमें जानेपर पता लगा, कि सोवियत वीसा मिलनेमें बहुत देर लगेगी। उन्होंने सोवियत यात्रा एजेन्सी—इन्तूरीसूत—के पास भेज दिया। इन्तूरीसतवालोंने बतलाया कि वीसा मिलनेमें ७ दिनसे कम नहीं लगेगा और खर्च लगेंगे ३६ पौंड।

निराशा ज़रूर हुई, फिर भी अभी आशा बिलकुल खतम नहीं हो गई, क्योंकि लन्दनमें ए तरुण मित्रने बतलाया था कि जरमनीसे बहुत सस्तेमें और आसानीसे सोवियत जाया जा सकता है।

मैं एक दिन फ्रेमान्से मिलने गया था। उनकी दूकान बन्द थी, इसलिए सोरबोन्के पास घूम रहा था। एक मिश्री विद्यार्थी गलाल (जलाल) मिल गया। वह अपने रहनेकी जगहपर ले गया। हिसाब लगाके उसने बतलाया, कि मेरा ख़र्च महीनेमें ६ सौ फ्रांक (प्राय: ७५ रु०) मासिक पड़ता है। लन्दनमें तो इससे दूनेसे भी काम नहीं चल सकता।

एक दिन (२९ नवम्बर) मदाम् ला-फ़्वान्तने पेरिसके उपनगरकी सैर कराई। ढाई बजे हम मोटरसे बाहर निकले। मदाम् ला-फ़्वान्त खुद मोटर चला रही थीं। बाहर एक विशाल क्रीड़ावन था, जिसे प्राकृतिक देवदारु-वनकी शकलमें रखा गया था। तीन ही बजे सूर्यबिम्ब पच्छिमी क्षितिजपर खूनी लाल रंगसे रँगा मालूम होता था। कम्पि गाँव होते वरसाइ महाप्रासादतक गए। पहिले यह फ्रांसके वाजिदअली शाहोंका महल था, लेकिन आजकल सैनिक म्यूज़ियम है। वहाँसे हम लोग लौट गए। उसी दिन मिस्टर नायडूने मदाम करीकी अनुसंधानशाला दिखाई। वहाँ एक रूसी तरुण भी अनुसंधानका काम कर रहा था। उससे सोवियतके बारेमें कुछ बातें हुईं। नायडू सोवियतके साथ भारी सहानुभूति रखते थे।

जर्मनीमें—सवा ९ बजे मैं पेरिससे जर्मनीकेलिए रवाना हुआ, पहिला मुक़ाम था फ्रांकफुर्त। वहाँ ठाकुर इन्द्रबहादुरसिंहको पहिले हीसे चिट्ठी भेज दी थी। अपने कम्पार्टमें मैं अकेला ही था। सारी यात्रा रात हीमें बीती थी, इसलिए मैं आस-पासकी भूमिको नहीं देख सका। रास्तेमें फ्रांससे जर्मनीकी सीमा पार करते समय आठ बजे अधिकारियोंने पासपोर्ट देख लिया था। ३० नवम्बरको आठ बजे खूब सबेरा हो गया था, मैंने सबेरेके प्रकाशमें देखा—चारों ओर पहाड़ियाँ हैं, जहाँ-तहाँ गाँव बसे हुए हैं। वृक्षोंके पत्ते झड़ चुके हैं। एक जगह घोड़ोंका हल चल रहा था। मारबुर्गके पास मैंने बैलोंका भी हल चलते देखा, और पूछनेपर आचार्य ओटोने कहा कि उनके लड़कपनमें ज़्यादातर हल बैल हीसे चला करते थे। जान पड़ता है, यूरपमें धीरे-धीरे लोगोंने हलमें बैलोंकी जगह घोड़ा जोतना शुरू किया और अब तो सोवियत जैसे देशोंसे हल, बैल, घोड़े तीनों गए और उनकी जगह ट्रेक्टर आ गया। अभी हम हिन्दुस्तानी बैलोंवाले युगमें ही हैं। १० बजे मैं फ्रांकफुर्त पहुँचा। स्टेशनपर ठाकुर इन्द्रबहादुरसिंह और जापानी विद्वान डाक्टर कितायामा पहुँचे हुए थे। मेरा कपड़ा

परिचयकेलिए काफ़ी था। डाक्टर कितायामा यहाँ और मारबुर्ग दोनों विश्व-विद्यालयोंमें बौद्धधर्मका अध्यापन करते थे। हम सब ठाकुर साहबके घरपर गए। ठाकुर इन्द्रबहादुर काशीविद्यापीठके शास्त्री थे, वह वहाँ पी-एच० डी०की तैयारी कर रहे थे। वहाँ डाक्टर सुधीन्द्र बोसके भतीजे इंजीनियर बोस और दिल्ली-निवासी डा० देवीलाल भी मिले। डा० देवीलाल और बसु अब विद्यार्थी नहीं थे, वह भारतसे चाय मँगाकर उसीकी बिक्रीसे अपनी जीविका चलाते थे। डा० कितायामाने बतलाया कि डा० ओटो बाहर जानेवाले हैं, इसलिए आप पहले मारबुर्ग चलिए। डा० ओटो जर्मनीके अच्छे संस्कृतज्ञोंमें थे। वह विद्वान भी थे, और ईसाई भगत भी, लेकिन विचारोंमें बड़े उदार थे। जब मैं पहिली बार सीलोन गया था और वहाँ पहुँचे कुछ ही महीना हुआ था, तभी उनसे वहीं मुलाक़ात हुई थी। वार्त्तालापके द्वारा हम एक-दूसरेके बहुत नज़दीक आ गए थे और पीछे बराबर पत्र-व्यवहार रहा। उन्होंने मारबुर्ग आनेकेलिए बहुत आग्रह किया था और इसीलिए डा० कितायामाको भेजा था।

सबेरे मैंने इन्द्रबहादुरजीके घर हीपर चाय-पानी किया, दोपहरको हम एक रसोईघरमें भोजन करने गए। पहले गोमांस आया, नाम मालूम होते ही मैंने उसे छोड़ दिया। भारतीय विद्यार्थी, जो यूरोप आते हैं, वह इन बातोंकी पर्वाह नहीं करते; मैं भी यदि ज़्यादा दिन रहता तो शायद पर्वाह न करता।

भोजनोपरान्त एकाध चीज़ें साथमें ले कितायामाके साथ स्टेशन पहुँचा। चार मार्क देकर मारबुर्गका तीसरे दर्जेका टिकट लिया। यद्यपि अभी बर्फ़ नहीं दिखाई पड़ रही थी, लेकिन हरियाली कहीं नहीं थी। किसान खेतोंको जोत रहे थे। यहाँकी किसान औरतें अपने लम्बे-लम्बे बालोंको वैसे ही रखे थीं। पेरिस और लन्दनकी तरह उन्होंने काटकर पटा नहीं बना लिया था। पहाड़ वृक्षोंसे ढके हुए थे। ४ बजे हम मारबुर्ग पहुँचे। ट्रामपर चढ़के होटलमें गए। थोड़ा ठहरके मैं डाक्टर ओटोके घरपर गया। उनका घर पहाड़पर थोड़ा ऊँचे था। पाँच घंटेतक हमारी शास्त्र-चर्चा चलती रही। कभी पाली और बौद्धधर्म, कभी महायान, कभी रामानुजका विशिष्टा-द्वैत वेदान्त और कभी आर्योंका अश्वपालन, ये सब हमारे वार्तालापके विषय थे।

२ दिसम्बरको मुझे मारबुर्गमें ही रहना था। सबेरे रोटी, मक्खन और काफीका नाश्ता हुआ। होटलमें नहानेका इन्तज़ाम नहीं था। हम दोपहरके भोजनकेलिए डा० ओटोके घरपर गए। मांस, उबले हुए आलू, गोभी और दूसरे कई तरहके पदार्थ थे। वहाँसे आकर होटलमें थोड़ा विश्राम किया। ३ बजे बाद कितायामा

अपने साथ मुझे विश्वविद्यालय ले गए। डाक्टर ओटो जाड़ेकी छुट्टियोंमें इटलीकेलिए रवाना होनेवाले थे, इसलिए आज ४-५ सौ शिष्य-शिष्याओंकी मंडली उनके व्याख्यानको सुननेकेलिए एकत्रित हुई थी। डाक्टर ओटोने आज महात्मा गांधीके बारेमें भाषण दिया। मैं भी पीला कपड़ा पहिने वहाँ बैठा था। श्रोताओंको जिज्ञासा थी, उन्होंने मेरे बारेमें भी कुछ कहा। चायपानके बाद वह अपने धार्मिक संग्रहालयको दिखलानेकेलिए ले गए। वहाँ बौद्ध, हिन्दू, यहूदी, ईसाई और मुसल्मान पाँचों धर्मोंकी पूजाकी चीज़ें—पुस्तकें, पूजाभाण्ड, मूर्तियाँ और चित्रपट—बाक़ायदा सजाकर रखे हुए थे। मैंने तिब्बतसे लाए जिन चित्रपटों और पुस्तकोंको सीलोनसे उनके लिए भेजा था, वह भी वहाँ रखे हुए थे।

पेरिससे तिब्बती चित्र यहाँ आनेवाले थे, डाक्टर ओटो उनकी प्रदर्शनीकेलिए बहुत उत्सुक थे—पेरिसमें भी उन चित्रोंकी प्रदर्शनी मूजीग्वीमें हुई थी, और दर्शकोंने बड़ी तारीफ़ की थी, लेकिन चित्रपट अभी मारबुर्ग नहीं पहुँचे थे। ३ तारीखको डा० ओटोसे शास्त्र-चर्चा रही। आज ही वह इटली जानेवाले थे, और मैं भी सोवियत जानेकी आशा बाँधे बर्लिन पहुँचनेकी जल्दीमें था।

पौने ५ बजेकी गाड़ी पकड़ पौने दो घंटेमें फ्रांकफुर्त पहुँच गए। स्टेशनसे मोटर ले इन्द्रबहादुरजीके घर पहुँचा। आज भारतीय मित्र-मण्डलकी बैठक थी। मुझे भी वहाँ कुछ बोलना पड़ा। ११ तारीखतक अब यहीं रहना था। ४ तारीखकी रातको हम दोनों शहर घूमने गए। पीले कपड़ेका प्रदर्शन न करनेकेलिए मैंने इन्द्रबहादुरजीका ओवरकोट पहन लिया—वस्तुतः वह ओवरकोट नहीं, बल्कि घरके भीतर पहना जानेवाला कोट था। उसको पहनकर बाहर निकलना देशाचार विरुद्ध था। खैर, हम लोग सड़कपर घूमते रहे। आज अतवारका दिन था, सड़कपर बड़ी भीड़ थी, बिजलीके प्रदीपोंको वृक्षोंमें इतना ज्यादा लगाया गया था, कि जान पड़ता था वह विद्युत्-प्रदीपोंका झाड़ है। जहाँ-तहाँ कुछ जवान औरतें खड़ी थीं। इन्द्रबहादुर हर जगह उन्हें दिखलाते हुए कहते—यह वेश्याएँ हैं। हर १० क़दमपर चार-पाँच वेश्या खड़ी हैं, इसका मुझे विश्वास नहीं हुआ, और आठ-दस बार दुहरानेके बाद मैंने कह दिया—रहने दो मुझे बनाओ मत। फिर क्या था, हम एक गलीके रास्ते जा रहे थे, उन्होंने इशारा कर दिया, औरतोंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरे पास जर्मन शब्दों की जो पूँजी थी, उसमें नाइन (नाही) बस यही मुँहसे निकल रहा था। मैंने इन्द्रबहादुरके हाथ जोड़े, तब जान बचाके निकल पाया।

५ तारीखको आनंदजीका पत्र आया। उन्होंने लिखा कि महाबोधि सभावालोंका

बहुत आग्रह है, कि आके लन्दनमें रहें और फिर अमेरिका जायें। लेकिन यूरपका पूँजी-वादी जीवन मुझे बहुत रूखा मालूम होता था। मैंने समझा जो देखना था, सो देख लिया, अमेरिकामें भी यही लोग और यही चीज़ें हैं, इसलिए फ़िज़ूलका समय बर्बाद नहीं करना चाहिए। यात्राका तो मैं बचपन हीसे भारी प्रेमी हूँ, फिर यात्रामें यह अनासक्ति क्यों हुई? इसीलिए कि वह साहस यात्रा नहीं थी, एक आरामकी यात्रा थी। रेल, मोटर, जहाज़से चलना, कोठियोंमें रहना, कहीं अमीरोंके विलासको देखकर कुढ़ना, और कहीं ग़रीबोंके दु:खको देखकर जलना। मैंने लिख दिया कि मैं अब देश ही लौटूँगा। हाँ, इच्छा रूस जानेकी तो वैसी ही प्रचण्ड थी, फ्रांकफुर्तमें रहते दस पौण्ड और आगए इसलिए यात्राकेलिए पैसोंकी कुछ निश्चिन्तिता होती जा रही थी।

डाक्टर ओटोने एक स्विस् महिला (Olga Frobe Keptyr) के बनाए हुए कुछ रंगीन ज्यामितीय चित्र दिखलाए। उन्होंने कहा था कि यह महिला स्वप्न समाधिमें ऐसे चित्रोंको देखती है, और उसीको पीछे कागज़पर अंकित करती है। उन्होंने मेरी राय पूछी, तो मैंने कहा कि इनमेंसे कुछ चित्र तिब्बती मंडल-चक्रसे मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वह महिला आपसे मिलना चाहती है। ६ तारीखको स्विस्‌महिलाका तार मिला, कि वह अगले दिन आ रही है। खैर, अभी तो मुझे वहाँ रहना ही था। दूसरे दिन (७ दिसंबर) को ४ बजे वह आईं। देरतक उनसे बात होती रही। योगमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी और कुछ योग किया करती थीं। उनका बहुत आग्रह था, कि मैं उनके घरपर चलूँ। योगियोंके हथकंडोंसे मैं वाकिफ़ था। मेरी प्रकृति इतनी बुद्धिप्रधान है कि मैं आत्मसम्मोहन (Self-hypnotization)नहीं कर सकता था, लेकिन दूसरोंको समाधि लगवा देना कोई मुश्किल नहीं था। लेकिन मैं हृदय-हीन चिरनाटकको खेलनेकेलिए तैयार नहीं। विद्यासंबंधी अनुसंधान ही मुझे प्रिय है। महिलाने ध्यानमें उन रंगोंको देखा था, मैं बोधगयाके मंदिर और कौन-कौनसे शहर सम्मोहनद्वारा दूसरोंको लदाखमें दिखला चुका था, और जानता था, कि हरएक देखे-सुने संस्कार चित्रकी एकाग्रतासे भौतिक रूप धारण किए दिखलाई पड़ते हैं। तिब्बतके भी सिद्धोंको मैं देख चुका था। मैंने महिलाके चित्रोंके बारेमें जो व्याख्या की, उससे वह बहुत सन्तुष्ट हुई।

अगले दिन मैंने विश्वविद्यालय देखा, सब चीज़ोंमें बड़ी बाकायदगी थी। संस्कृत और दूसरी प्राच्य विद्याओंके पढ़ानेका इन्तज़ाम था। श्री सत्यनारायणसिंह (छपरा) यहीं पढ़ रहे थे, लेकिन वह ठहरे एक नम्बरके घुमक्कड़। आजकल वह नारवे-स्वीडनकी ओर चक्कर लगा रहे थे।

अतवारको मध्याह्न-भोजनके बाद शहरके पुराने भागको देखने गए। उस घरको भी देखा, जिसमें महाकवि गेटे पैदा हुए थे। पुराने फ्राँकफुर्तकी गलियाँ बनारसकी गलियों जैसी टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी थीं, लेकिन उतनी गन्दी नहीं। फिर हम राइन नदीके किनारे-किनारे देवदार वृक्षोंके साथ घूमते रहे। आज सर्दी बहुत तेज़ थी।

शामको मारबुर्ग विद्यालयके प्रोफ़ेसर फ़िक मिलने आए। वह धर्मके अध्यापक थे। उन्होंने बतलाया, दुनियामें ऐसे ख़तरनाक ख़्यालात फैल रहे हैं कि अगर सावधानी न की गई तो धर्म लुप्त हो जाएँगे। इस वक़्त धर्मोंकी आपसी प्रतिद्वंदिताका समय नहीं है, सभी धर्मोंको मिलकर नए ख़तरेका सामना करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि हमें आपसमें छात्रोंका परिवर्त्तन करना चाहिए। विश्वविद्यालय आपसमें छात्रोंका परिवर्त्तन करें, इसे तो मैं पसन्द करता था, लेकिन धर्मोंकी नाव डूब जाय, इसपर एक बूँद आँसू बहानेकेलिए मैं तैयार नहीं था; तो भी मैं शिष्टाचारके नाते उनसे बातें करता रहा। उन्होंने एक दिनकेलिए मारबुर्ग आनेको कहा, लेकिन मैंने यह कहकर क्षमा माँग ली, कि मैं कल ही बर्लिन जा रहा हूँ।

आदमी जीवनयात्रामें कितने ही सहृदय नर-नारियोंसे मिलता है, उनसे कितनी ही सहायता और सहानुभूति पाता है। इन उपकारोंका बदला चुकाना आदमीकी शक्तिसे बाहरकी चीज़ है। मैं नहीं समझता, क्यों आदमीकी प्रकृतिको इतना स्वार्थपूर्ण चित्रित किया जाता है। मैं यह मानता हूँ, कि स्वार्थके पीछे अन्धे हो गए आदमी भी मिलते हैं, लेकिन यदि आदमी केवल स्वार्थमय होता, तो किसीकी जीवन-यात्रामें ज़रा भी माधुर्य न रह जाता। मैं तो जब अपनी जीवन-यात्राको याद करता हूँ, तो हज़ारों स्नेहपूर्ण चेहरे आँखोंके सामने घूमने लगते हैं। मैं मन ही मन उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, उनके उपकारसे उऋण होना असम्भव है। मनुष्यमें जो स्वार्थान्धता आती है, उसे भी मैं उसकी स्वाभाविक प्रकृति नहीं मानता। उसकी निन्नानवे सैकड़ा ज़िम्मेवारी है आजके समाजकी बनावटपर। अगर यह स्वार्थान्धतापूर्ण बनावट हट जाय, तो मानव सचमुच ही दिव्य दिखलाई पड़ने लगेगा।

१२ दिसम्बरको, अभी पेरिससे चित्रपट नहीं आए थे, रातको पौने ग्यारह बजेकी गाड़ीसे बर्लिनकेलिए रवाना हुआ। किराया था २४ मार्क (प्रायः १८ रुपये)। बर्लिन यहाँसे ६०० किलोमीतर (४०० मील)से ज़्यादा है। डब्बेमें भीड़ नहीं थी, और मैं सोता चला गया। चाँदनी रातमें ऊँची-नीची ज़मीन और पहाड़ दिखलाई पड़ रहे थे, कहीं-कहीं जुते हुए खेत थे, लेकिन अभी ज़मीनपर बरफ़ नहीं थी।

१३ दिसम्बरको ७ बजे अनटेनहलट स्टेशनपर पहुँचे। एक तरुणके साथ कुमारी वर्था डालके स्टेशनपर आई हुई थीं। मुझे बर्लिनमें नहीं फ्रोनोंके बुद्ध-भवनमें रहना था। स्टेशनसे मोटर द्वारा बिजलीवाले स्टेशनपर पहुँचे, फिर फ्रोनों स्टेशनपर पहुँच गए। फ्रोनों बर्लिनका उपनगर है। जर्मनीके चिकित्सक और प्रसिद्ध विद्वान डा० पाल डालकेने एक छोटीसी पहाड़ीपर इस बौद्ध विहारको बनवाया था। पहाड़ी ज़्यादानर मिट्टीसे ढँकी हुई है, उसपर देवदारके वृक्ष हैं। इन्हींमें अलग-अलग निवासभवन, बुद्ध-मन्दिर, समाधि-भवन आदि कई भवन बने हुए हैं। डा० डालकेने चाहा था, कि इस मकानका एक ट्रस्ट बना जाएँ, लेकिन वैसा करनेसे पहिले उनका देहान्त हो गया। अब यह उनकी तीन बहनों, अनुजवधू, और भतीजेकी सम्पत्ति है। बहनें, खासकरके वर्था, कोशिश करती हैं कि उनके भाईकी यह कीर्त्ति बौद्ध धार्मिक केन्द्रके रूपमें रहे। रास्तेमें हमने मज़दूरोंके छोटे-छोटे घर देखे, जिनके ऊपर लाल झंडा फहरा रहा था। घरपर डालके परिवारने मेरा स्वागत किया। वहाँ मुझे श्री जुन्‌जी सकाकिवारा मिले। सकाकिबारा जापानके सिन्‌सू सम्प्रदायके तरुण पुरोहित थे। वह यहाँ पढ़नेकेलिए आए हुए थे। मैंने स्नान भोजनके बाद विश्राम किया। ७ बजे शामको ५० बुद्धभक्तोंकी सभा हुई। डाक्टर ब्रूनोने भाषण दिया, और मैंने भी। वहाँ एक लाहौरके मौलवी साहेब भी आए थे, जो इसलाम-धर्मका प्रचार कर रहे थे।

जहाँ पीले कपड़ेको देखकर ख्वाहमख्वाह सैकड़ों आँखें चकित हो देखने लगें, जहाँ की भाषा भी न मालूम हो और फिर बार्लिन जैसा शहर जहाँ जानेमें रास्ते-में कई स्टेशन बदलने हों, वहाँ अकेले यात्रा करनेमें दिक्क़त ज़रूर मालूम होती है। १४के मध्याह्न-भोजनके बाद मैं फ्रोनों स्टेशनसे सवार होकर बर्लिन गया। यूनीवर्सिटीके तरुण छात्र ऑसूटेर स्टेशनपर ही मिल गए। उनके साथ दूसरी गाड़ी बदल शर्लोटन्‌बेर्ग स्टेशनपर पहुँचे। मैं आज बर्लिन वस्तुतः आया था सोवियत जानेकेलिए कोई प्रबन्ध करने। सरोजनी नायडूके पुत्र बाबा नायडू, भगिनी पति नम्बियर और दूसरे कितने ही भारतीय कम्यूनिस्ट बर्लिनमें रहते हैं, यह मैंने सुना था। नम्बियर प्रमुख थे। मैं उनके पास मिलनेकेलिए गया। लेकिन वह घरपर नहीं थे। टेलीफूनसे बात करनेपर उन्होंने एक रेस्तोरांमें आकर मिलनेका वक़्त दिया। मैं वहाँ चला गया। पचीसों आदमी वहाँ भोजन कर रहे थे, यद्यपि मैं कोनेमें जाकर बैठा, लेकिन मेरे कपड़ोंपर सभीकी नज़रें केन्द्रित थीं। जान पड़ता था शरीरमें उतनी सूइयाँ चुभोई जा रही

हैं। ढाई घंटा बाद नम्बियरने खबर भेजी, कि आज मुझे मिलनेकी छुट्टी नहीं। यह मैं मानता था, कि भारतीय कम्यूनिस्टोंके पीछे विदेशमें भी ब्रिटिश सरकार हाथ धोकर पड़ी रहती है, उनके चर बराबर पीछा करते रहते हैं। उनको यह सन्देह होना आवश्यक था, कि यह आदमी शायद अंग्रेज़ोंका आदमी हो ऐसा ख्याल आना बिलकुल ठीक था, लेकिन दूसरी ओर भी ख्याल करना होगा—हो सकता है मिलनेवाला आदमी ईमानदार हो, हमारे ही विचारोंवाला हो, हमारे ही तरह उसे भी गुप्तचरों (अँगरेज़ी)से बचकर रहना हो। फिर उसको मिलनेकेलिए हमने समय दिया है वह अजनबीकी तरह, चिड़ियाघरके जानवरकी तरह लोगोंकी भीड़में बैठा रहा। ढाई-ढाई घंटे इन्तज़ार करता रहा, ऐसे आदमीसे दो मिनट बोले बिना खबर भेज देना कि मुझे आनेकी छुट्टी नहीं है, क्या इसे भद्रोचित कहा जा सकता है ? मैं किसी नम्बियरकी परवाह नहीं करता, लेकिन सोवियत भूमि देखनेकेलिए बेक़रार था। किसीने बतलाया कि नम्बियरकी मददसे वहाँ जानेका इन्तज़ाम हो सकता है। अपार क्षोभके साथ मैं उस भोजनशालासे बाहर निकला। जहाँ-तहाँ पता लगाकर लखनऊ निवासी अपने मित्र रामचन्द्रसिंहसे मिला। रामचन्द्रसिंह लखनऊ यूनीवर्सिटीके एक बहुत ही होनहार विद्यार्थी थे। एम० एस-सी० करके वह बर्लिन विश्वविद्यालयमें आइन्स्टाइन्के नीचे अनुसन्धान कर रहे थे। उनका जीवन भी बड़ा ही शोक-पूर्ण जीवन है। डी० एस-सी०की समाप्तिकेलिए कुछ ही महीने रह गये थे। हिटलरने जर्मनीका शासन हाथमें ले यहूदियोंपर ज़ुल्मके पहाड़ ढाने शुरू किये। आइन्स्टाइन्को जर्मनी छोड़कर भाग जाना पड़ा। रामचन्द्रका अनुसन्धान भी खटाईमें पड़ा रह गया। साइंसका रास्ता छोड़कर उन्होंने अब कभी किसी कम्पनीकी एजंसी ली, कभी वकालत शुरू करनी चाही, कभी कोई जीविकाका दूसरा रास्ता अपनाया। रामचन्द्र जर्मन फासिस्टवादके शिकार हुए, उसके साथ ही आजकी हमारी सामाजिक व्यवस्थाके भी। यदि अपने विषयमें लगा रहता, तो साइंसज्ञानकी वृद्धिमें देशकी समृद्धिमें जो भारी सहायक होता, उस मस्तिष्कने एक ओर अपनी सारी महत्त्वाकांक्षाओंको धूलमें मिलते देखा, दूसरी ओर उसे नून-तेल-लकड़ीकेलिए उन कामोंको करना पड़ा, जिनकेलिए उसने अपनेको कभी तैयार नहीं किया था। फिर यदि वीणाके तार उतर जाएँ, तो आश्चर्य क्या है। वस्तुतः ऐसी प्रतिभाओंको व्यर्थ करनेका जो प्रयत्न वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था करती है, उसे देखकर दिल खौल उठता है, और चाहता है कि इस समाजकी ईंटसे ईंट बजा दें। रामचन्द्र ऐसे मेधावी छात्र विश्ववंद्य गुरुके चले जानेके कारण एक ओर तरद्दुदमें

पड़ते हैं, ख़र्च-बर्चकी अलग दिक़्क़त होती है और वह अपने कामको पूरा नहीं कर पाते। दूसरी ओर गधोंके लड़के गधे सिर्फ़ सोने, चाँदीके बलपर आक्सफ़ोर्ड-केम्ब्रिजमें पानीकी तरह रुपये बहाते अपना समय और दूसरोंका समय बरबाद करते हैं।

रामचन्द्रकी बीबी कमला भी दो बरससे बर्लिनमें ही थीं। उनका नैहर पटना है। उन्होंने सिर्फ़ हिन्दी पढ़ी थी। रामचन्द्रने पत्नीको वहीं बुला लिया, और अब तो वह जर्मन भाषा ख़ूब बोलती पढ़ती हैं, अँगरेज़ी भाषा बेचारी नहीं जानतीं। दोनों पति-पत्नी बड़े प्रेमसे रहते और कमसे कम ख़र्चपर गुज़ारा करते थे। रामचन्द्रजीने बतलाया कि १५० मार्कमें लेनिनग्राडकी यात्रा हो सकती है—जाना-आना दोनों। मेरे पास २५० मार्कके क़रीब थे, इसलिए जहाँतक पैसेका सवाल था, मैं निश्चित था। उन्होंने कहा कि मैं यात्राके बारेमें पूछ-पाँछकर जो इन्तज़ाम हो सकेगा, करूँगा। रामचन्द्र स्वयं सोवियत नहीं गये थे, क्योंकि सोवियत चले जानेपर पीछे भारत आनेमें सरकार रुकावट डालती। लेकिन कमला वहाँ हो आई थीं। रामचन्द्रजीने भी सोवियतके बारेमें बहुत पढ़ा और सुना था, और उसके बड़े पक्षपाती थे। मैंने अपनी किताब "बाईसवीं सदी" उन्हें दी। उस वक़्त रूसमें प्रथम पंच-वार्षिक योजना बड़ी सफलताके साथ समाप्तिपर पहुँच रही थी। उन्होंने पुस्तक पढ़कर कहा—कैसे आपने इन बातोंकी कल्पना की, जिनपर सोवियतकी योजना आज अमल कर रही है। मेरेलिए यह कल्पना कोई मुश्किल नहीं थी। यद्यपि मैंने अपनी पुस्तकको १९२३-२४में समाप्त किया था, किन्तु समयकी कमी थी, नहीं तो बाईसवीं सदीको १९१८ या १९२२में समाप्त कर चुका होता। आख़िर जब आप इन सिद्धान्तोंको मान लेते हैं कि सारे देशका एक परिवार हो, देशकी सारी सम्पत्तिपर उस विशाल परिवारका अधिकार हो, साइंसके नयेसे नये अनुसन्धानोंको जल्दीसे जल्दी अपनानेकेलिए वह परिवार बेक़रार है, तो चाहे आदमीने मार्क्स और मार्क्स-वादियोंको न भी पढ़ा हो, वह वैसे ही, गाँवों, नगरों, खेती-बारी, बाग़-बग़ीचों, विद्याशाला, रंगशाला इत्यादिकी कल्पना करेगा।

रातको फ़ोनों लौटते वक़्त ट्रेनको कई जगह बदलना था, रामचन्द्रजीने अन्तिम परिवर्त्तन-स्टेशनतक मुझे पहुँचा दिया, और मैं आधीरातको बुद्धभवनमें लौट आया।

उस वक़्त नम्बियरके बर्त्तावसे एक ओर चित्त खिन्न था, और दूसरी ओर रामचन्द्रके सौहार्दसे हृदय स्नेह-सिक्त।

१९ दिसम्बरको मैं और सकाकिवारा दोनों साथ बर्लिन गये। रामचन्द्रजीने

बतलाया कि २८ जनवरीसे पहिले लेनिनग्राड जानेका इन्तज़ाम नहीं हो सकता, और यह भी बतलाया कि मैं एक हफ़्ते पहिले आया होता तो आसानीसे जा सकता था।

लन्दनमें एक सिंहल तरुणने मुझे एक जर्मन कम्यूनिस्टका पता दे दिया था। मैंने उन्हें एक पोस्टकार्डपर लिख दिया, और दूसरे-तीसरे दिन देखा, कि एक हट्टा-कट्टा आदमी नंगे सर साधारण मज़दूरों जैसा चमड़ेका कोट पहने दोनों हाथोंमें पन्द्रह-पन्द्रह सेरके बेग लटकाये हमारे सामने खड़ा है। उसने अपना परिचय दिया। उनकी शकल-सूरत देख हम मज़दूर छोड़ और कुछ नहीं कह सकते थे। लेकिन वह पी-एच० डी० (दर्शन-आचार्य) थे, और बोलचाल बर्त्तावमें तो और भी मधुर थे। हम देरतक बातें करते रहे। सोवियत-यात्राके बारेमें इस वक़्त कोई प्रबन्ध न कर सकनेकेलिए उन्हें बहुत खेद था। कुछ दिनों बाद (२२ दिसम्बर)को मैं रामचन्द्रजीके साथ ज़ीमान कम्पनीके विशाल कारखानेको देखकर झुटपुटा होते समय सड़कसे जा रहा था, उस वक़्त किसीने पीछेसे आवाज़ दी। मैंने देखा वही चर्मकंचुकधारिणी विशालमूर्त्ति मेरे पास आ रही है। उन्होंने हाथ मिलाया। मैं सोचने लगा, यह भी कम्यूनिस्ट है, और नम्बियर जैसे भी हैं। हाँ, एक बात कहना भूल गया, कि कमलाने जब मेरे बारेमें उन्हें कुछ बतलाया, तो मिलनेकेलिए आग्रह होने लगा, किन्तु मैं फिर वहाँ नहीं गया।

ज़्यादातर मैं बुद्धभवनमें रहता। कभी सकाकिवारासे बात होती, और कभी बर्थासे। बुद्धभवनको बर्माके उत्तम भिक्षु ख़रीद लेना चाहते थे। डालके परिवार भी उसे बेचनेकेलिए तैयार था। शायद यूरोपीय ढंगके मकान होते, तो दूसरे ख़रीदनेवाले भी आसानीसे मिल जाते। लेकिन वहाँ कोई मकान चीनी ढंगका था, तो कोई बर्मी ढंगका, कोई भारतीय ढंगका तो कोई लंका जैसा। भिक्षु उत्तम स्वयं जर्मनी इस कामकेलिए आना चाहते थे, लेकिन सरकार उन्हें आनेकेलिए पासपोर्ट नहीं देती थी। डालके आजकल करते-करते मकानका ट्रस्ट नहीं बना सके। भिक्षु उत्तम आजकल करते उसे खरीद नहीं सके।

जर्मनीके शिक्षित मध्यम-वर्गमें बुद्धके प्रति अनुराग रखनेवाले आदमियोंकी बहुत काफ़ी तादाद थी। संस्कृत और पाली भाषाओंके बड़े-बड़े विद्वान जर्मनीमें पैदा हुए। उन्होंने हज़ारों ग्रंथोंका सम्पादन और अनुवाद किया। उन्हें मालूम हुआ कि एक ऐसा भी व्यक्ति संसारमें पैदा हुआ था, जिसके जीवनमें ईसासे भी ज़्यादा स्नेह, माधुर्य और सादगी थी, जिसकी प्रतिभा कितनी ही बातोंमें ढाई हज़ार बरस

बाद आज भी बिल्कुल ताज़ी है। ऐसे व्यक्तिके प्रति निम्न मध्यम-वर्गके शिक्षितोंका आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यदि वे अधिक धनी होते, तो उन्हें ऐसे धर्मकी ज़रूरत होती, जिसके द्वारा साधारण जनताकी आँखोंमें ज्यादा धूल झोंकी जा सकती, और ऐसा धर्म वही हो सकता है, जिसको सैकड़ों वर्षोंसे अपनाकर जनता हज़ारों परम्पराओं और मिथ्याविश्वासोंका ताना-बाना अपने गिर्द घेर चुकी है। यदि वे सम्पत्तिहीन मजूर-वर्गके होते, तो ध्यान और निर्वाणके शराबके नशेमें गर्क़ होनेकी जगह कोई बेहतर काम अपने हाथमें लेते, जिससे संसारमें लोगोंका जीवन अधिक सुखपूर्ण हो सकता।

डाक्टर डालकेकी तरह और भी कितने ही जर्मन शिक्षित थे, जो बुद्धकी ओर आकृष्ट हुए थे। सीलोनमें दोडन्दुवके दीपको जर्मन भिक्षुओंने एक विहारके रूपमें परिणत कर दिया था और वहाँके स्थविर ज्ञानातिलोकने अपनी मातृभाषा जर्मनमें कई कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बौद्धधर्मपर लिखे थे। डालकेकी क़लम तो और भी ज़ोरदार थी और उन्होंने आधे दर्जनसे अधिक बहुत ही अच्छे ग्रन्थ लिखे थे। जर्मनीके शहरोंमें सभी जगह बुद्धके भक्त मिलते थे। उनमें प्रोफ़ेसर और डाक्टर भी काफ़ी थे। डाक्टर स्टाइन्के थे तो अर्थशास्त्रके प्रोफ़ेसर, लेकिन उन्होंने बौद्धधर्मका अच्छा अध्ययन किया था और अपनी वाणी-द्वारा उसका खूब प्रचार भी किया था। दो-तीन बार मुझसे उनकी बात हुई थी। डाक्टर डालकेने जर्मनीके उत्तरवाले समुद्रतटपर भी एक छोटासा बुद्धभवन स्थापित किया था। अब जाड़ेका मध्य आ गया था। सर्दी खूब पड़ रही थी, लेकिन हमारे पास फलालैनका चीवर था, इसलिए सर्दीकी कोई चिन्ता नहीं थी।

रामचन्द्रजीने ज़ीमानके कारखानेको देखनेका इंतज़ाम किया था। दुनियामें बिजली-सम्बन्धी यन्त्रोंके बनानेका यह सबसे बड़ा कारखाना था। २२ दिसम्बरको रामचन्द्रजी मुझको लेकर वहाँ गये। कारखाना क्या, एक पूरा शहर था। दो साल पहिले यहाँ एक लाख बीस हज़ार काम करनेवाले थे। विश्वव्यापी मन्दीके कारण ४० हज़ार लोगोंको जवाब दे देना पड़ा। कारखानेके मैनेजरने हमें अपनी मोटर और एक पथप्रदर्शक दे दिया। हम घूम-घूमकर कारखानेके भिन्न-भिन्न विभागों और मज़दूरोंके घरोंको देखते रहे। शामको रामचन्द्रजीके घरपर ठहरे। उनके घरकी मालकिन एक जर्मन जरनैलकी लड़की थीं। पच्छिमी देशोंमें लड़कियोंका ब्याह इतना आसान नहीं, इसलिए वृद्धा, प्रौढ़ा कुमारियाँ बहुत देखी जाती हैं। कुछ साल पहिले जब जर्मन सिक्का मार्क मिट्टीके मोलका हो गया, उस वक़्त बापके जमा

किये हुए पैसे बैंकमें रखे-रखे हवा हो गये। और महाधनी जरनैलकी लड़कीको जीविकाका कोई अवलम्ब नहीं रह गया। उसने ४, ५ कमरे मकानवालेसे किरायेमें लिया और अब उन कमरोंको किरायेपर दे तथा किरायादारोंके चायपानीका इन्तज़ाम करके वह अपनी जीविका चला रही थी। तीन दिन बाद बड़ा दिन, ईसाइयोंका सबसे बड़ा पर्व, आ रहा था, इसकेलिए घर-घरमें तैयारी हो रही थी। गृहपत्नीने जिस कमरेमें मेरे सोनेका इन्तज़ाम किया था, उसमें ईसाके जन्मकी झाँकी दिखलानेकेलिए भेड़ें और माँ-बाप मरियम तथा जोज़फ़ (यूसुफ़)की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ बनाकर रखी हुई थीं।

दूसरे दिन (२३ दिसम्बर) हम बर्लिनके विश्वविद्यालय और बहुतसे संग्रहालयों (म्यूज़ियम)को देखने गये। जर्मनीमें विद्याका बहुत प्रेम है। साइंसकी हरेक शाखामें जर्मनोंकी देन बहुत ज़्यादा है, पूर्वी भाषाओं और संस्कृतिके अध्ययनमें वह सदा आगे रहे हैं। उनके संग्रहालयोंमें चीज़ोंको बहुत अच्छी तरह सजाया गया है, लन्दन और पेरिसकी तरह उनको सूचीपत्रकी भाँति पाँतीसे रख नहीं दिया गया है, बल्कि जिस तरह दर्शकोंको उनके बारेमें ज़्यादासे ज़्यादा ज्ञान हो सकता है, उस क्रमसे उन्हें रखा गया है। मध्य-एसियाके भित्तिचित्रोंको, उनके वातावरणको दिखलानेकेलिए मन्दिर खड़ा करके दीवारोंमें लगा दिया गया है।

टामस कूकने चित्रपटोंका ज़िम्मा लेना स्वीकार कर लिया, इसलिए मैं उनकी तरफ़से निश्चिन्त था।

जर्मनीमें आठ सालकी पढ़ाई अनिवार्य है, फिर ५ साल हाईस्कूलमें पढ़ना अपनी इच्छा और शक्तिपर निर्भर है। १३ बरस बाद हाईस्कूलकी परीक्षा खतम करके विद्यार्थी विश्वविद्यालयमें जाता है, और वहाँ तीन सालमें पी-एच० डी०की उपाधि प्राप्त करता है।

आज (२४ दिसम्बर) बड़े दिनकी पहिलेवाली रात्रि है। हमारे यहाँ भी डालके परिवारने देवदारुकी शाखा गाड़ी थी, उसपर बहुतसे चिराग़ जल रहे थे। लोग इष्ट-मित्र और बच्चोंको भेंट दे रहे थे। ईसाईधर्म स्वीकार करनेसे पहिले भी जर्मनीमें ऐसा उत्सव मनाया जाता था, जो सूर्यके उत्तरायणके आरम्भके उपलक्षमें होता था।

२४को ही लन्दनसे तार आ गया, कि मारसेईमें "फेलीरुसल" फ्रेंच जहाज़से यात्रा करनेका प्रबन्ध किया गया।

२५ दिसम्बर....आज बड़ा दिन था। ७ बजे मैंने फ्रोनौं छोड़ा। ६२

मार्क (१ रुपया बराबर १ मार्क) में बर्लिनसे मारसेई नगरका टिकट मिला। रास्तेमें पहाड़ोंके ऊपर और नीचे भी अब बरफ़ दिखलाई पड़ती थी। ५ बजे शामको मैं फ्रांकफुर्त पहुँचा। इन्द्रबहादुरके मकानपर जानेपर मालूम हुआ कि वह छुट्टियोंमें बाहर चले गये हैं। डा० लाल भी घरपर नहीं थे। भाषाकी मुश्किल भी सिरपर थी। बहुत इधर-उधर चक्कर काटा, अन्तमें ३ दिनकेलिए १२ मार्क (१२ रुपया) देकर एक कमरा किरायेपर मिला। दूसरे दिन (२६ दिसम्बर) इन्द्रबहादुर आ गये। फ्रांकफुर्तमें अब कोई नई चीज तो देखनी थी नहीं, लेकिन तो भी शहरमें घूमते रहे। हिटलरके नाज़ियोंका ज़ोर पहिलेसे कुछ कम हो रहा है, यही सब बतलाते थे। बर्लिनमें मैंने स्टेशनोंके बाहर नाज़ियोंको मुसाफ़िरोंसे चन्दा माँगते देखा। जान पड़ रहा था, यदि जल्दी ही कुछ और नहीं हुआ तो जैसे सोशलिस्टोंसे लोग उदास होने लगे, वही हालत नाज़ियोंकी भी होगी, लेकिन इस बातको अब जर्मनीके जागीरदारोंको समझाना था। पूँजीपतियोंने तो अपनी थैली खोल दी थी क्योंकि कम्यूनिस्टोंके प्रभावको बढ़ते हुए देखकर वह बहुत भयभीत थे। जर्मन जागीरदार जर्मनसेनाके सर्वेसर्वा रहे हैं, आज भी उन्हीं जागीरदारोंका आदमी हिन्डनवर्ग जर्मन प्रजातंत्रका राष्ट्रपति था। अभी जागीरदारोंकी नजर राजवंशपर थी। यद्यपि राजवंशकी जागीरें अब भी सुरक्षित थीं, लेकिन उसके राजप्रासाद अब सरकारके हाथोंमें थे। भूतपूर्व कैसर हालेण्डमें दिन काट रहा था। जर्मनी छोड़नेके महीनेभर बाद ही हिन्डनवर्गने अपने वर्गके भविष्यपर अच्छी तरह विचार करके हिटलरको शासनकी बागडोर थमाई, और वह दुनियाको पिछले महायुद्धसे भी भयंकर खूनीजंगमें ढकेलनेकेलिए तैयारी करने लगा।

२८ दिसम्बरको ५ बजकर ५४ मिनटपर मैंने रेल पकड़ी। इन्द्रबहादुरजीसे विदाई ली। ९ बजे एक जगह गाड़ी बदली, किन्तु मेरा डब्बा सीधे ही मारसेई जानेवाला था। दूसरे दिन (२९ दिसम्बर) मारसेई पहुँचा। मोटर लेकर ब्रिस्टल-होटलमें गया। ४३ फ्रांक (६ रुपया) दिनपर रहनेकेलिए कोठरी मिली। जहाजकी कम्पनी मेंसाजिरी मारीतीमके आफिसमें गये। वहाँ लन्दनसे मेरेलिये सीट सुरक्षित करनेकी सूचना नहीं आई थी। टामसकूकके यहाँ जानेपर लन्दनका तार मिला, जिसमें लिखा था कि जहाजके टिकिटको रजिस्ट्री चिट्ठीसे कल भेज दिया गया। दूसरे ही दिन "फेरीस्सल" मारसेईसे छूटनेवाला था। अगर टिकिट नहीं पहुँचता तो न जाने फिर कितने दिनों इन्तज़ार करना पड़ता।

यूरपसे प्रस्थान—दूसरे दिन (३० दि०) टामसकूकके पास गया। टिकिट

आया हुआ था। दिन-रात रहनेका मकान और खाना मिलाकर १६ रु०से ऊपर खर्च हुआ। यूरपमें चीज़ें हैं ही सब मँहगी। सामान उठवाकर जहाजपर पहुँचा। केबिन अच्छा था, उसमें ४ बर्थ (शैय्या) थीं, लेकिन आदमी दो ही थे। दूसरे सहयात्री मिस्टर यूअन् चीनके युन्नानप्रान्तके निवासी थे, और अमेरिकासे अध्ययन करके लौट रहे थे। हमारा जहाज ४ बजे शामको रवाना हुआ। इस जहाजमें कोई दूसरा हिन्दुस्तानी नहीं था, यूअन् महाशय अँगरेजी बोलते थे। लेकिन वह बोलते बहुत कम थे। अबकी पढ़नेके लिए पुस्तकें भी कोई नहीं थी। दूसरा दिन (३१ दिसम्बर) १९३२का अन्तिम दिन था। मैंने फ्रान्सीका और सार्दीनियाँको अपने सामनेसे हटते देखा। शामको समुद्र ज्यादा तरंगित हो चला, लेकिन मैं अब अभ्यस्त हो गया था। इसी समय मैंने निश्चय किया कि साधारण हिन्दी भाषा-भाषियोंकेलिए साम्यवादपर कोई पुस्तक लिखनी चाहिए, जिसकी पूर्ति मैं दो साल बाद कर सका।

नये वर्ष (१९३३)का पहिला दिन था। आज लोग बहुत उत्सव मना रहे थे, आधीरातके बाद तक नाच-गान होता रहा। पोलैण्डके लोग ज्यादा ज़िन्दादिल मालूम होते थे। समुद्र भी जोर लगा रहा था। यूअन् महाशयकी तबियत बहुत परेशान थी। दूसरे और तीसरे दिन भी समुद्र बहुत चंचल रहा। यूअन महाशयको बात करनेकी कहाँ हिम्मत थी? हमारे जहाजमें पोलैण्डके ३० स्त्री-पुरुष पोर्ट-सईद तक जा रहे थे, वह यहूदी तीर्थोंकी यात्रा कर रहे थे। उनमेंसे कुछसे मैंने परिचय किया लेकिन बोलीकी बड़ी दिक़्क़त थी।

चार जनवरीको ७ बजे सवेरे ही हम पोर्टसईद पहुँचे। वहाँ कोई देखनेकी चीज़ नहीं थी, इसलिए मैं जहाज हीपर पड़ा रहा। जहाजमें एक ईसाई प्रचारक बाइबिल बेंच रहे थे। उनके पास १४ भाषाओंकी बाइबिलें थी। मैंने ५० फ्रांक (७ रुपये) देकर सबकी एक-एक प्रति खरीदी। लिथुआनियन भाषाकी बाइबिल उनके पास नहीं थी। मैंने उनको दाम दे दिया और पीछे उन्होंने मेरे पास पुस्तक भेज भी दी।

दोपहर बाद एक बजे जहाज स्वेज़ नहरमें दाखिल हुआ। ५ जनवरीको अब सर्दी कम मालूम हो रही थी, हम लालसागरमें चल रहे थे। शाम तक एसिया और अफरीका दोनोंके पर्वत हमें अगल-बग़लमें दिखाई पड़ते थे। ज्यादा यात्री पोर्टसईदमें उतर गए थे, अब जहाजमें बहुत कम यात्री रह गए थे। तीसरे दर्जेमें उनकी संख्या दो दर्जनसे ज्यादा नहीं थी। खाली समयको मैं किसी काममें लगाना चाहता था। यहीं लालसागरमें ५ तारीखको "डीहबाबा" कहानी लिख डाली।

बातचीत करनेकेलिए एक अनामी दम्पती आ गये थे, जो ५ सालसे फ्रांसमें क़ानून पढ़ रहे थे। जैसे-जैसे हम पूरब बढ़ रहे थे, वैसे-वैसे घड़ीकी सुइयोंको बढ़ाते रहना पड़ रहा था। अब गर्मी मालूम होती थी। जहाँ मारसेईसे पोर्टसईद तक हमारे केबिनको गरम रखनेका इन्तज़ाम किया गया था, वहाँ अब हवा फेंकनेवाली कुप्पी चल रही थी। ८ जनवरीको बेतारकी खबरने बतलाया कि राजेन्द्र बाबू गिरिफ़्तार हो गये। उस दिन शामको मुझे बुखार आ गया। मैंने निर्जला भूख हड़ताल कर दी, और चौथे दिन ११ तारीखको ७२ घंटे बाद नमकके साथ जल पिया। जिबूतीको उतरकर देखना था, जहाज़ ७ बजेसे १२ बजेतक (९ जनवरी) वहाँ खड़ा रहा। लेकिन ज्वरके कारण मैं किनारेपर नहीं जा सकता था। ९ तारीख ही से हमारा जहाज हिन्द महासागरमें चल रहा था। समुद्र एक दो दिन चंचल रहा, फिर ठीक हो गया।

चीनी तरुण बड़े विचित्र स्वभावका मालूम होता था। पोर्टसईदमें उसने बहुत सी गन्दी-गन्दी चीज़ें खरीदी थीं, और मेरे बीमार होनेपर भी इतना हल्ला मचाता था कि केबिनमें रहना मुश्किल था। मैंने कभी कुछ नहीं कहा। १२ जनवरीके १०२ घंटोंके उपवासके बाद मैंने नारंगीका रस लिया। जहाज़का स्टीवर्ट बहुत अच्छा था, वह बराबर खानेकेलिए पूछा करता था। १३ तक २, ३ दिनकेलिए समुद्र और चंचल हो उठा था। यद्यपि अब बुखार नहीं था, और मैं खाना खाने लगा था, लेकिन मुँहका स्वाद फीका रहता था।

लंकामें—१९ जनवरीके ९ बजे सबेरे जहाज़ कोलम्बोमें पहुँचा। बन्दरपर मिस्टर एन० डी० यस० सिल्वा, माणिकलाल भाई तथा कुछ दूसरे सज्जन आए हुए थे। सिल्वा महाशयके घरपर जाकर स्नान-भोजन किया। उनके पुत्र विमल अपनी मोटरपर मुझे विद्यालंकार विहार ले जा रहे थे, रास्तेमें वह एक जगह मोटरको बाईं-तरफ हटाने लगे, तो मैं उनका हाथ रोकने जा रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यसे बाहर सारी दुनियाँमें आदमीको अपने दाहिनेसे रास्ता जाना पड़ता है। मैं अभी फ्रांस, जर्मनीमें इसे देख आया था, इसीलिए मैं वैसा करने जा रहा था; मुझे ख्याल नहीं आया कि अब ब्रिटिशसाम्राज्यके भीतर आगया हूँ। इसी तरहकी एक गलती और की थी। ३० जनवरीको भारत जानेकेलिए मैं कोलम्बो स्टेशन गया, वहाँ जाके बड़े इतमीनानसे दूसरे दर्जेके जनाने मुसाफिरखानेकी कुर्सीपर बैठा। किसीने आकर बड़ी नम्रतासे कहा कि यह स्त्रियोंका स्थान है, तब मुझे ख्याल आया कि अब योरपमें नहीं हूँ।

कई महीने बाद चारों ओर हरियालीसे ढँकी भूमिको देखा। विद्यालंकारके लोग बड़े प्रेमसे मिले। देर तक उनसे यात्राके बारेमें बात होती रही। नायक महास्थविर इस समय अनागारिक धर्मपालको भिक्षु बनानेकेलिए लंकाके और भिक्षुओंके साथ भारत गये थे। तबियत अभी भी अच्छी नहीं थी। पेटमें गड़बड़ी थी। ठंडी जगहसे गरम जगह आनेमें अक्सर ऐसा होता है।

१८ जनवरीको अब भी नालन्दाका खब्त मेरे सिरसे हटा नहीं था। मैंने उस दिन अपनी डायरीमें लिखा था—"अबकी जाकर नालन्दामें कुछ भूमि लेनेका प्रबन्ध करना है। यदि उसी जगह न हो सका तो मोहनपुरमें थोड़ीसी ले लेंगे और वहीं झोंपड़ी बनेगी।..किन्तु (अभी) तो पैसेका भी कोई इन्तिजाम नहीं हुआ। २,३ हजार रुपयोंकी जरूरत होगी। जिस वक्त मठके भरण-पोषणके तरद्दुदोंका ख्याल आता है, उस वक्त चित्त हिचकिचाने लगता है। स्वतंत्रता जाती रहेगी। धनिकोंके आगे हाथ पसारना होगा।"

इस तरद्दुदने आगे चलकर नालन्दाका ख्याल मेरे दिलसे निकाल दिया। मैंने योरोप जाते वक्त अधीर बनर्जी और वाङ-मो-लम्को यहाँ छोड़ा था। अधीर अपनी अंग्रेजी पढ़ाईमें लगे थे। वाङ-मो-लम्पर एकबार तपेदिकका आक्रमण हो चुका था और वह दुबारा सेनीटोरियममें गये थे, मुझे क्या पता था कि अब फिर अपने मित्रका दर्शन न कर सकूँगा। अब मैं अपने कार्यक्षेत्रको भारतमें परिवर्तित करनेवाला था, तिब्बतसे लाई पुस्तकों और चित्रपटोंको भारत भेजना था। खैर, उसकेलिए सिंधियाकम्पनीवाले तैयार थे, और फिर मेरी कितनी ही चीजें लन्दनसे आई नहीं थीं। नायक महास्थविर भी हिन्दुस्तानसे नहीं लौटे थे। इसलिए अभी कुछ दिनों रुकना था। "गंगा पुरातत्त्वांक" के संपादनकी भी जिम्मेवारी थी। ६० के करीब लेख मेरे पास देखनेकेलिए आ चुके थे। २३ जनवरीको गंगावालोंने मार्गव्ययकेलिए ५० रु० भेज भी दिए। ११बजे नायक महास्थविर भी आ गये।

२६ जनवरीको मैं वीरहनेके विहारमें गया था। दोनों वक्त (सबेरे और दोपहर) मछलीमें खूब मिर्च डाली गई थी, मिर्चखानेमें लंकावाले मदराससे कम नहीं है। वहाँ बेजवाड़ाके एक जोतिषी ब्राह्मण मिले। सिंहलमें जितना ही अधिक अंग्रेजी पढ़ने-लिखनेका जोर है, उतना ही अधिक जोतिसका जोर है। आदमी जितना ही अधिक खर्च बढ़ाता है, आज-कलके समाजमें उसकी चिन्ता भी उतनी ही बढ़ती है, फिर वह जोतिसियों, हाथ देखनेवालों और मंत्र-तंत्र-विशारदोंके हाथकी कठपुतली बनता है। यह आन्ध्र ज्योतिषी रोज ३,४ रुपया कमा लेते थे, लेकिन उन्हें इतनेसे सन्तोष नहीं

था, वह चाहते थे कि छप्पर फाड़कर इकट्ठा ही लाख दो लाख गिरे; इसीलिए वह अपने रुपयोंको घुड़दौड़के जुएँमें लगाकर फ़ाँक़ेमस्त रहते। वह बहस करने लगे, कि मांस-मछली खाना अधर्म नहीं। मैंने पूछा—"आप किस हैसियतसे कह रहे हैं।" उन्होंने कहा—"ब्राह्मणकी हैसियतसे।" मैंने कहा—विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज, गौतम (दीर्घतमा) का आप अपने शरीरमें एक बूँद भी खून मानते हैं या नहीं ?" उन्होंने 'हाँ' कहा। फिर मैंने पूछा—"फिर जाने दो भाई, गोत्रोच्चार मत करवाओ। हमारे ये बड़े-बड़े ऋषि खड़ी-खड़ी गाय खा जाते थे, डकारतक नहीं लेते थे, और तुम चले हो मांस-मछलीका वर्जन कराने ! फिर तुम दक्षिणवाले ब्राह्मण वशिष्ठ, विश्वामित्रकी जन्मभूमिसे सैकड़ों योजन दूर चले आये हो, तुमको क्या पता है कि काशी, और मिथिलाके ब्राह्मण मांस-मछलीसे कितना प्रेम करते हैं।" विहारके भिक्षुको मेरे जवाबसे बड़ा सन्तोष हुआ, क्योंकि ज्योतिसीने उनकी नाकमें दम कर दिया था।

३० जनवरीको मुझे शामकी गाड़ीसे हिन्दुस्तान रवाना होना था। नायक महास्थिवर दोपहरको ही किसी जगह धर्मोपदेश करनेकेलिए जा रहे थे। मैंने प्रणाम करके उनसे छुट्टी ली। मैंने डायरीमें लिखा—"विदा होते वक्त (उनकी) आँखोंमें आँसू आ गये। उनका बड़ा प्रेम है, कौन जानता है, यही अन्तिम दर्शन हो।" सममुच ही श्री धर्मानन्द नायकमहास्थविरका हृदय बहुत ही कोमल था, और मेरे ऊपर तो उनका अपार स्नेह था।

भारतके जाड़ेमें (१६३३ ई०)

यद्यपि मैंने अपने लेख "गंगा" के पास भेज दिये थे, किन्तु प्राप्त लेखोंके निर्वाचन और सम्पादकीय टिप्पणियोंका काम दूर रहते नहीं हो सकता था, और गंगावालोंके पत्रपर पत्र आ रहे थे; इसलिए लंकामें अधिक रहनेकी छुट्टी न थी। साथ ही अब मुझे स्थायी तौरसे भारत जाना था, इसलिए तिब्बतसे लाई अपनी पुस्तकों और सामग्रीको भी भारत ले चलना था। मैंने चीज़ोंको पैक कराया, और सिन्धिया कम्पनीने बिना किरायेके उन्हें कलकत्ता भेज देनेका ज़िम्मा लिया। मैं सिर्फ़ उतने ही दिनोंकेलिए वहाँ ठहरा।

३० जनवरी (१६३३) को भारतकेलिए रवाना हुआ। अबके मद्रासमें म्युज़ियम् देखना तथा दक्षिण हिन्दी प्रचार सभाके कुछ दोस्तोंसे मिलना था, इसलिए

मद्रासमें दो-तीन दिनोंकेलिए ठहर गया। पुरातत्त्व अब मेरा अपना विषय था, उसमें रस आने लगा था—रस आने हीसे तो मैं उसके विशाल साहित्यके अवगाहनमें व्यस्त हुआ था। मैंने मद्रास म्युज़ियमके अमरावती, गोली, नागार्जुनीकोंडासे प्राप्त पाषाणशिल्पको बड़े चावसे देखा। एक दिन त्रिपलीकेनके उत्तरार्धीमठमें गया हरिप्रपन्नाचार्य और तिरुमिशीके बारेमें जाननेकेलिए। मठकी स्थापिका बुढ़िया साधुनी अब अन्धी हो गई थी, और वह मेरे स्वरको पहिचान न सकी। मालूम हुआ हरिप्रपन्ना स्वामी अब नहीं रहे, मठका काम देवराज करते हैं। पुराने सहपाठी और सखा भक्ति (वेंकटाचार्य)को देखनेकी उत्कट इच्छा हुई, किन्तु 'गंगा'के तक़ाजेसे वैसा करना सम्भव न था। अबकी प्रबल इच्छा थी नागार्जुनी-कोंडाकी खुदाई देखनेकी। पंडित हरिहर शर्मा और ब्रजनन्दन बाबूने गुंटूर, अमरावतीकेलिए पत्र और तार भी दे दिये थे, किन्तु अन्तमें दिन गिननेपर उस इच्छा-को भी दबाना पड़ा।

मद्राससे (२ फ़र्वरीको) रवाना होनेपर गाड़ीमें एक आन्ध्र वृद्ध ब्राह्मण मिले, उनके एक पैरमें कड़ा था। बात आरम्भ करनेपर मालूम हुआ, वह संस्कृतज्ञ पंडित भारतीय नृत्यकलाके मर्मज्ञ और स्वयं श्रेष्ठ नर्त्तक हैं। कुछ ही महीने पहिले मैंने भरतनाट्यशास्त्रके नृत्य-सम्बन्धी अध्यायके अनुवाद करनेमें पेरिसमें श्री बर्गाज़ाको मदद की थी, इसलिए नृत्यकी गतियों और आसनोंकी बहुत कुछ स्मृतिमें थी। उस विषयमें मेरा कुछ प्रवेश देखकर, उन्होंने बड़ी रुचिके साथ वार्तालाप जारी रखा।

कलकत्तामें दो-एक दिनोंकेलिए ठहरते मैं ६ फ़र्वरीको सुल्तानगंज पहुँचा। धूपनाथ और बाबू देवनारायण वहीं थे, और उनके रहते सुल्तानगंज मुझे घरसा मालूम होता था। अभीतक जब-जब मैं यहाँ आया, तब-तब निरामिष भोजन करता था, किन्तु अबतक युरोपयात्राके सम्बन्धमें मेरे कितने ही लेख "गंगा"में छप चुके थे, जिनमें आनन्दजीके घासाहारका मज़ाक़ करते मैंने अपने मांसाहारका वर्णन किया था। धूपनाथ, देवनारायण बाबू और वहाँ रहनेवाला उनका परिवार मांसा-हारी था, इसलिए मुझे घासाहार करनेकी ज़रूरत न थी।

"पुरातत्त्वांक"में कितने ही लेख छप चुके थे, बाक़ीमेंसे महत्त्वपूर्ण लेखोंका चुनाव; और पुरातत्त्व क्या सभी विज्ञानोंके अवगमनकेलिए 'विकासवाद'का जानना ज़रूरी है, इसलिए वहीं रहते "भारतमें मानवविकास"पर एक लेख लिख डाला। विक्रमशिलाकी खोजमें कहलगाँव और पथरघट्टा की एक दिन यात्रा की, किन्तु वह विक्रमशिलाके उपयुक्त स्थान नहीं जँचा। प्राकृतिक अनुकूलता सुल्तानगंज हीके

पक्षमें है, जिसे कि डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने भी माना था, किन्तु विक्रमशिला जैसे विहारके अनुरूप यहाँ विस्तृत ध्वंसावशेष नहीं है।

"गंगा"के स्वामी कुमारकृष्णानन्दके दर्बारमें मैं एकाध ही बार गया। कुमार साहेबका बर्ताव मेरे साथ बहुत नम्रतापूर्ण होता, किन्तु मुझे उनके पासकी जमातपर इतनी घृणा थी, कि वहाँ जाना असह्य मालूम होता था। सभी गिद्धकी तरह उनको नोंच खानेकेलिए तैयार थे। स्त्री-पुरुष और दो-तीन बच्चोंकेलिए दस-बारह हजार मासिक कम नहीं हैं, किन्तु इन खुशामदियोंको फ़ायदा तो तब था, जब कि वह हर महीने बीस हजार खर्च करें। खर्चके रास्ते ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाले जा रहे थे। कुमारको खुद अपने भलेबुरे समझनेकेलिए पैनी परख न थी। धूपनाथ एक बार नौकरी छोड़ साधु बननेको तैयार थे, किन्तु पीछे उतना लम्बा क़दम न उठा सके और इसमें मेरा भी कुछ हाथ था। वह कुमार साहेबके खज़ांची सिर्फ़ नौकरीकी साधसे नहीं हुए थे, इसीलिए वहाँके कुत्सित वायुमंडलसे वह तंग आ गये थे। वह चाहते थे कुमारको समझावें, किन्तु "जिमि दशननमें जीभ बेचारी" करें क्या?

सुल्तानगंजसे मैंने श्री काशीप्रसाद जायसवालके पास पत्र लिखा था, जिसका उत्तर इतना आत्मीयता भरा हुआ था, कि मुझे उसकी कभी आशा नहीं हो सकती थी। मैं उनकी विशाल कोठी, भारी साहेबी ठाटको देख चुका था। और वह मेरे भारतमें प्रत्यागमनका स्वागत और स्नेहपूर्ण निमन्त्रण भेजते हुए लिख रहे थे, अब तो मैं भी दुनियासे ऊब गया हूँ, और चाहता हूँ बुद्धका भिक्षु बनूँ। मैं खुद भिक्षु था, आनन्दजी मेरी सम्मतिसे भिक्षु हुए, तो भी खास-खास आदर्शवादियोंको ही मैं घरकी ज़िम्मेदारीसे मुक्त होनेकी राय दे सकता था। खैर! यह जानकर मुझे खुशी हुई, कि भारतमें भी मेरेलिए एक खुला हृदय है।

९ मार्चको पटना जंकशनपर उतरते वक़्त देखा, जायसवालजी प्लेटफ़ार्मपर इन्तिज़ार कर रहे हैं। मेरे भिक्षु-वस्त्र परिचय देनेकेलिए काफ़ी थे, और उनके चेहरेको मैं १९२५ और १९२९में देख चुका था। बड़े स्नेहसे अपनी कोठीपर ले गये, स्नेहका आरम्भ बड़े वेगसे हुआ था, और बड़ा आरम्भ पीछे असफलतामें परिणत होता है; किन्तु यहाँ जिस स्नेहका सूत्रपात हुआ, वह दिनपर दिन बढ़ता ही गया, और ९ मार्च (१९३३ ई०)से लेकर ५ अगस्त १९३७ तक जब कि मैंने अपने कन्धोंपर उनकी अरथी उठाई, वह मेरे प्रिय ज्येष्ठ भ्राता और मैं उनका स्नेहभाजन अनुज रहा। हर साल जाड़ोंमें मैं मैदानमें रहता, और उसका अधिकांश उनके साथ उनके

घरमें गुजारता। आज जब कभी भी अपने उस मित्रकी याद आती है, तो कलेजा सुन्न होने लगता है, आँखें पिघलने लगती हैं।

जायसवालजी उस वक्त अपने बड़े लड़केकेलिए परेशानीमें थे। चेतसिंहकी शादी पहिले ही हो चुकी थी। जातिके भीतर बहुत संकुचित क्षेत्रमें योग्य कन्याका मिलना आसान नहीं है। चेतसिंहके जैसा संस्कृत रुचि रखनेवाला तरुण साधारण युवतीको कैसे पसन्द करता। जब वह विलायत बैरिस्टरी पढ़ने गये, तो वहाँ उनका एक अंग्रेज युवतीसे स्नेह हो गया, और वह घनिष्ठता पति-पत्नीके रूपमें परिणत हो गई। भारत आते वक्त वह अपनी उस स्त्रीको भी लेते आये, लेकिन पिता अपने पुत्रके इस जोड़ेको आश्रय देकर अपनी पहिली बहूके साथ अन्याय करनेको तैयार न थे। चेतसिंह बहुत मुसीबतमें फँस गये, लेकिन साथ ही वह इतने नीच हृदयके न थे, कि अपनी प्रेमिका अंग्रेज तरुणीको आश्रयहीन छोड़ देते। उन्होंने कोशिश की कि कोई स्वतन्त्र जीविका ढूँढ लें, किन्तु एक नये बैरिस्टरको पहिले तो कुछ साल निराशापूर्ण स्थितिमें रहनेकेलिए मजबूर होना पड़ता है। कुछ महीनोंतक इधर-उधरकी खाक छाननेके बाद चेतसिंहको यही उचित मालूम हुआ, कि अपनी बेबशी-को जाहिरकर तरुणीको विलायत पहुँचा आयें। मुझे चेतसिंह एक बड़े ही सहृदय और संस्कृत तरुण जँचे, और उनके प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति थी, साथ ही उनके पिताकी चिन्ता भी सहानुभूतिकी पात्र थी। मैं सोचता था, जायसवाल जैसा समझदार देश-देखा आदमी लड़केकी शादी करनेमें वैसी ग़लती क्यों कर बैठा? वह खुद विलायतमें रहते किसीके प्रेममें फँस चुके थे। किसी-किसीका कहना है, कि उनकी प्रेमिका सीलोनतक आई भी थीं। लेकिन क्रान्तिकारी विचार भी जमाने और समाजके थपेड़ेसे ढीले पड़ जाते हैं। इसी कारण जायसवालजीके राजनीतिक क्रान्तिकारी विचार दब गये थे, और परिवारके स्नेह, तथा बन्धुजनोंके हृदयको ख्यालकर उनके सामाजिक क्रान्तिके भाव भी लुप्त हो गये। उनको बड़ी प्रसन्नता हुई, और हृदयपरसे एक भारी बोझ उतरासा जान पड़ा, जब कि उन्होंने सुना कि चेत तरुणीको इंग्लैंड पहुँचा आया।

मेरे साम्यवादी विचारको फिर फिरसे उत्तेजना देनेमें जायसवाल जैसे व्यक्तियोंके जीवनसंघर्ष भारी सहायक हुए। यहाँ भारतीय इतिहासका अगाध ज्ञान रखनेवाला एक व्यक्ति था, जो प्रथम श्रेणीकी प्रतिभाका धनी था, जो चलती बैरिस्टरीके कामसे बचा आवश्यक नींद और विश्रामको तिलांजलि देकर गम्भीर ऐतिहासिक चिन्तन करता, नई-नई बातें निकालता था; किन्तु समाजकी राजनीतिक व्यवस्थाने मजबूर किया था, कि वह अपने अमूल्य जीवनके सबसे अधिक समयको किसी धनीके

इन्कमटेक्सको कम करानेकेलिए बड़ी-बड़ी क़ानूनी बहसें तैयार करे, क्योंकि उसे अपनी रोज़ी भी चलानी थी, अपने पुत्रों और पुत्रियोंको उच्च शिक्षा दिलानी थी, जिसमें कि वह अपने पिताके कर्त्तव्यसे च्युत न समझा जाये। मैं सोचता था, जायसवालके जीवनको इस तरह बेकारके कामोंमें बितानेकेलिए मजबूर कौन कर रहा है? उस वक़्ततक मैंने सोवियत्के विद्वानोंके निश्चिन्त जीवनको नहीं देखा था, तो भी 'बाईसवीं सदी' मेरे दिमाग़से प्रसूत चुकी थी, मैं इसकी सारी ज़िम्मेवारीको वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाके ऊपर डालता था।✓

सप्ताह बीतते-बीतते जायसवालजीकी प्रकृतिसे मैं परिचित हो गया। न उनको बनावटी रूपमें अपनेको रखनेकी आवश्यकता थी, न मैं अपनेको यथार्थसे अधिक दिखलानेकी ज़रूरत समझता था, उनके लड़के नारायण, दीप, छोटी लड़की ज्ञानशीला (बबुनी) मेरे पढ़ने-लिखनेके बादके समयकेलिए प्यार और मनोरंजनकी सामग्री थीं। गिल्गितके पास धरतीसे खोदकर निकले प्राचीन बौद्ध ग्रंथोंके मिलनेकी बात मैं बहुत पहिले ही सुन चुका था। पेरिसमें आचार्य सेल्वेन लेवीने उसकी और चर्चा चलाई थी, और यहाँ भी उनका पत्र आया था, कि मैं उन ग्रंथोंको देखूँ। मैं भी उनकेलिए उत्सुक था, और जायसवालजी भी मुझसे सहमत थे। अबकी गर्मियोंमें गिल्गित जाना है, मैंने यह तै किया। जायसवालजी ने कुछ रुपयों और एक फोटो-कैमरेका इन्तिज़ाम कर दिया।

मुझे २९ अप्रैलको सारनाथसे देवप्रियका तार मिला, कि श्री धर्मपालका देहान्त हो गया। दूसरे ही दिन सारनाथ पहुँचा। चालिस सालसे अनथक परिश्रम करनेके बाद आज वह महापुरुष अनन्त निद्रामें सो रहा था। पहिले उनका शरीर लंका ले जाना चाहते थे, मगर तीसरे दिन शरीर जाने लायक़ नहीं रह गया, इसलिए इस वीर लंकापुत्रको ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ)की पवित्र भूमिपर ही जलाया गया।

११

द्वितीय लदाख यात्रा (१९३३ ई०)

सारनाथमें अनागारिक धर्मपालका शव सम्मान करते प्रयागमें पंडित जयचन्द्र विद्यालंकारसे मिलते मैं लाहौरकेलिए रवाना हुआ। अबकी यात्रा जम्मूके रास्ते करनी

थी, उसी रास्तेसे दूसरी बार न जाना मेरे स्वभावमें दाखिल हो गया है। १५ मईको जम्मूमें पहुँच वहाँ विज्ञानके प्रोफ़ेसर माणिकचन्दके यहाँ ठहरा। मुझे यह मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई, कि मेरे लदाखके सहायक श्री रामरखामल इंजीनियर यहीं हैं। जिस वक्त मैं उनकी कोठीपर मिलने गया, तो वे वहाँ मौजूद न थे; लेकिन लौटनेपर जैसे ही उन्हें खबर मिली, वह मिलने आये। अब वह डिविज़नल इंजीनियर थे। सात वर्षोंकी उनके चेहरेपर छाप थी, किन्तु अब भी वह वैसे ही सहायताकेलिए उत्सुक थे, जैसे लदाखकी यात्रामें।

१७ मईको जम्मूसे मैं मोटरद्वारा श्रीनगरकेलिए रवाना हुआ। यह सड़क मेरी पिछली यात्राके बाद तैयार हुई थी। रास्तेमें हर जगह खाने-पीनेकी दूकानें थीं। झीवर (धीवर) लोग बहुत सस्ती और स्वादिष्ट रोटी-मांस बेचते थे। रास्तेके पहाड़ और गाँव सुन्दर थे, किन्तु मेरी आँखोंको तो तबतक तृप्ति न हुई, जब-तक कि मैं देवदारोंके पहाड़में न पहुँच गया।

पुराने परिचित डाक्टर कुलभूषणसे मेरा बराबर पत्र-व्यवहार रहा, इस-लिए मुझे वे भूले न थे, और श्रीनगरमें उन्हींके यहाँ ठहरना तै हुआ था। डाक्टर कुलभूषण विलायतके पढ़े डाक्टर, और श्रीनगर म्युनिस्पेल्टीके हेल्थ-आफ़िसर थे। विलायतसे लौटनेपर उन्हें संस्कृत पढ़नेका अनुराग पैदा हुआ, और इसकेलिए उन्होंने नियमसे कुछ घंटे देने शुरू किये थे। उनका सिद्धान्तकौमुदी पढ़ना मुझे नापसन्द था, इसलिए नहीं कि सिद्धान्तकौमुदी पाठ्य पुस्तकके तौर पर बेकार चीज है, बल्कि इसलिए कि डाक्टर साहेबको उन सूत्रोंको याद करनेकी फ़ुर्सत न थी। उसकी जगह यदि उन्हें साहित्यिक ग्रंथोंको पढ़ाया जाता, और प्रयोगात्मक व्याकरण-का ज्ञान कराया जाता, तो ज़्यादा लाभप्रद होता। उन्हें संस्कृत बोलनेका बड़ा शौक़ था। डाक्टर कुलभूषण अब शहरसे बाहर अपने निजी घरमें रहते थे, जहाँ मेरेलिए एक कमरा रिज़र्व था। डाक्टर साहेब कट्टर आर्यसमाजी थे। छै साल पहिले भी मेरे व्याख्यानोंमें बुद्धकी प्रशंसा पाकर उन्होंने कहा था, कहीं आप बौद्ध न हो जायें, और वह बात सच निकली। इस वक्त उन्हें यह देखकर अफ़सोस होता था, कि मैं आर्यसमाजमें नहीं रहा।

अबकी बार मेरी मुख्य मंशा थी गिल्गित जानेकी। मेरे दोस्त श्रीश्यामबहादुर बैरिस्टरने कश्मीर-सरकारके शिक्षा-मंत्री चौधुरी वजाहतहुसेन (I.C.S.)को मेरे बारेमें परिचय-पत्र लिख दिया था। मुझे यह भी मालूम हुआ था, कि गिल्गितमें प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथोंका एक भाग यहींपर है। चौधरी साहेबसे मिलने मैं उनके

आफ़िसमें गया, वह बड़े प्रेमसे मिले, और कहा कि मुझसे जो कुछ हो सकता है मैं आपकी सहायताकेलिए तैयार हूँ। उन्होंने बड़े उत्साहके साथ अपने साथी एक दूसरे अधिकारीसे 'मेरे मुल्की' (स्वप्रान्तीय)के तौरपर परिचय कराया, किन्तु मुझे बड़ी निराशा हुई जब हस्तलेखोंके अधिकारीने इस शर्तके साथ उनकी झाँकी कराना स्वीकार किया, कि मैं नोट न लूँ। उनका कहना था, कि ग्रंथ सरकार स्वयं प्रकाशित कराना चाहती है, इसलिए वह नहीं चाहती, कि कोई दूसरा विद्वान् उसमें हाथ लगाये। वे महत्त्वपूर्ण हस्तलेख बस्ते बाँधकर ऐसे रखे गये थें, कि मालूम होता था, किसी व्यापारीका बहीखाता है। बारह-तेरह सौ वर्ष पुराने भोजपत्रपर लिखे उन हस्तलेखोंकी दुर्गति हो रही थी, उनमेंसे कितने ही टुकड़े झड़ रहे थे—पुराना भोजपत्र बहुत हल्के दबावसे टूट जाता है। सर्कारी ग्रंथमालाके अध्यक्ष श्री मधुसूदन कौलसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह भी मेरी ही तरह इन ग्रंथोंकी रक्षा और सम्पादनकेलिए व्यग्र थे। उन्होंने ग्रंथोंकी एक विस्तृत सूची भी तैयार की थी, किन्तु राज्यके बहुधंधी उँचे अधिकारी काक अपने नामसे प्रकाशित करा यश अर्जन करना चाहते थे। मेरी निराशाकी सीमा न रही, जब मैंने वहाँके म्युजियमकी दुरावस्थाको देखा। महाराजा उसे बेकार समझते थे, और एक बार तो नीलाम करदेनेपर तुल गये थे, किन्तु जब लोगोंने समझाया कि इससे भारी बदनामी होगी, तो अपने इरादेसेबाज आये। आधुनिक विज्ञानके आविष्कारोंकी भाँति भोग-विलासकी सामग्रीमें भी धनिकोंने बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं, जिसकेलिए लाख नहीं करोड़ भी कोई चीज़ नहीं हैं। फिर यह रंगीले महाराज तो एक रातकेलिए पेरिसकी एक अप्सराको बीसलाखका चेक काटनेकेलिए जगद्विख्यात हो चुके थे।

म्युजियम जिस अवस्थामें था, उससे तो कहीं अच्छा होता, कि वह किसी अधिकारी संस्थाके हाथ नीलाम कर दिया जाता। उसे एकाध चौकीदारोंके हाथमें रख दिया गया था, जिनसे कुछ रुपयोंमें इतिहास और कलाकी अनमोल सामग्री खरीदी जा सकती थी और खरीदी जा रही थी। शायद युरोपका पतितसे पतित धनी भी ऐसी बर्बता नहीं कर सकता था।

गिलगितके हस्तलेखोंके सिलसिलेमें एक दूसरे मंत्री श्री बी० एम० मेहतासे भी मिला। वह जायसवाल जीके दोस्त थे, उन्होंने भी मेरे उद्देश्यके साथ सहानुभूति प्रकट की; किन्तु वह ऐसे यंत्रके पुर्जे थे, जिसमें उन्हें अपनी बेवसी प्रतीत हो रही थी। कुछ दिनों बाद श्री एन्० सी० मेहता (I. C. S.) श्रीनगर आये, और मेरे आनेकी बात सुनकर उन्होंने मिलनेकी इच्छा प्रकट की। उन्हें

कलापारखीके तौरपर मैं जानता था, इसलिए फोन ग्रानेपर मैं उनसे मिलने गया।

श्रीनगरमें रहनेका अधिकांश समय मैंने वहाँके पुराने स्थानोंको देखने, दोस्तोंसे मिलने और लिखने-पढ़नेमें बिताया। रोज़ सबेरे नदीके बाँधपर ३, ४ मील टहलने जाता, जिसमें बहुधा डाक्टर कुलभूषण भी शामिल होते। कई बार शंकराचार्यके पहाड़पर चढ़ा, यद्यपि पिछली बारकी तरह प्रतिदिन चढ़कर पहाड़पर चढ़नेके अभ्यासकेलिए नहीं। मार्तंड और दूसरे ध्वंस अबकी मैंने ज्यादा शौक़से देखे, क्योंकि अब मैं उन पुराने पाषाणोंकी मूकभाषाको समझता था। कश्मीरी पंडितोंमें कुछकी रुचि बौद्धधर्मकी ओर थी, और उनके कई निमंत्रण भी मुझे स्वीकार करने पड़े। कुछ ही दिनों बाद जर्मनबौद्ध ब्रह्मचारी गोविन्द भी आगये, फिर तो 'ख़ूबनिवहैगी जब मिल बैठेंगे दिवाने दो' की कहावत चरितार्थ होने लगी।

गिल्गित और लदाख़ जानेकेलिए अंग्रेज़ ज्वाइंट कमिश्नरसे परमिट (आज्ञापत्र) लेनेकी ज़रूरत पड़ती थी। मैंने गिल्गितका परमिट माँगा, तो उन्होंने कहा—अफ़सोस हम वहाँ जानेका परमिट नहीं दे सकते। अपने ही घरमें आख़िर हम भारतीय बेगाने थे, फिर कलेजेमें सूई चुभनेकी शिकायत करनेकी ज़रूरत? गिल्गित दूसरे युरोपियन—फ्रेंच या हुंगेरियन—जा सकते हैं, किन्तु एक भारतीयको उधर जानेकी इजाज़त नहीं। सोवियत ताजिकिस्तानकी सीमा गिल्गितसे दूर नहीं है, इसलिए ब्रिटिश सर्कार गिल्गितमें अपना एक हवाई मोर्चा और फ़ौजी छावनी बनानेकी धुनमें थी। उस वक़्त भी अफ़वाह थी, कि अंग्रेज़ गिल्गितको राजसे ले लेना चाहते हैं। गिल्गित-यात्रासे निराश होनेपर मैंने लदाख़ जाना तै किया, ब्रह्मचारी गोविन्दने भी साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की। पासपोर्ट देखनेपर ब्रिटिश ज्वाइंट कमिश्नरने परमिट देना मंज़ूर कर लिया।

ज़ोजीला पारके घोड़ेवाले अब श्रीनगर पहुँचने लगे। हमने द्रास या कर्गिलकेलिए सवारी और बारबर्दारीकेलिए टट्टू किराये किये, और ६ जूनको श्रीनगरसे रवाना हो गये। घोड़ेवाले घास देखकर रातको ठहरना पसन्द करते थे, हमने भी उनके काममें सहयोग देना पसंद किया। मैं तो फोटोग्राफीमें बिल्कुल नौसिखिया था, लाहौरमें तो फोटो लेनेमें असफल रहा, किन्तु यहाँके दो-चार चित्रोंसे कुछ आशा बँधी थी। ब्रह्मचारी गोविन्द फोटो ही अच्छा नहीं लेते थे, बल्कि वह एक अच्छे चित्रकार थे। हम लोग पहिली रात गाँवसे कुछ दूर नदीके किनारे रातकेलिए ठहरे। सबेरेके वक़्त

काफ़ी सर्दी थी, किन्तु इसी वक़्त मुझे पश्मीनेकी चादरकी करामात मालूम हुई—उस पतली चादरमें लोई जितनी गर्मी थी।

हमारा खाना घोड़ेवाले दरद बनाते थे, और सिवाय कोकोके हमारा भोजन सोलहों आना हिन्दुस्तानी होता था। ब्रह्मचारी गोविन्दके साथ बात करनेमें आनन्द आता था। वह कलाकार, दार्शनिक होनेके अतिरिक्त युरोप, अफ्रीका और एसियाके कितने ही भागोंमें घूमे हुए थे। उनका स्वभाव मृदुल, वार्तालापका ढंग आकर्षक और रहन-सहन सीधी-सादी थी। चिड़चिड़ापन तो उनमें छू तक नहीं गया था। साम्यवादके साथ भी उनकी सहानुभूति थी, यद्यपि वह उसमें उतना दूरतक जानेके लिए तैयार न थे, जितना कि मैं। पिछले महायुद्धमें वह सैनिक रह युद्धके भयानक दृश्यको अपनी आँखों देख चुके थे, वह खूब महसूस करते थे, कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाके बदलनेकी भारी ज़रूरत है। वह एक आदर्शवादी व्यक्ति हैं, यद्यपि उस आदर्शवादमें एक धर्मप्रेमी भी कलाकारका हृदय होनेसे उनमें शान्तिकामना और करुण सम्मिश्रण—मंज़िलके अन्तमें ही नहीं आरम्भ और मध्यमें भी—बहुत ज्यादा है।

ज़ोजीला (जोत) पार हो घोड़ेवाले हमें रास्तेसे बायें हटकर काली सिन्धके किनारे अपने गाँव होलियालमें (११ जून) ले गये। दरद-भाषामें हर एक नदी सिन्ध या सिन्द कही जाती है। अभी भी, मानो, इस शब्दका वैदिक अर्थ वहाँ प्रचलित है। गाँवमें तीसके क़रीब घर हैं, और वे बहुत ग़रीबीकी जिन्दगी बसर करते हैं। वनस्पतिहीन नंगे पहाड़, अपनी ऊँचाई, वर्षाकी कमी और सिंचाईकी कठिनाईके कारण खेती या बाग़बानीके अनुकूल नहीं हैं। घोड़ोंसे माल लादना ही यहाँके लोगोंकी प्रधान जीविका है। मेरे मित्र एक दिन एक आदमीसे पूछ रहे थे—"जब खानेकी यह हालत है, प्रकृति तुम्हारे साथ इतनी निष्ठुर है, तो इतने बच्चे क्यों पैदा करते हो?"—हमें बतलाया जा चुका था, कि उस गाँवमें पिछले ५० वर्षोंमें तिगुने घर बढ़ गये हैं। उत्तर मिला—जिसने पैदा किया है, अर्थात् खुदा, वही सब सँभालेगा। ब्रह्मचारी गोविन्दने कहा—'हाँ, यदि खुदा नहीं, तो भूख और महामारी तो उन्हें सँभालनेकेलिए तैयार ही हैं।' यहाँ हम लोगोंको बहुपति-विवाहकी उपयोगिता मालूम हुई। यदि तिब्बती लोगोंकी तरह यहाँवाले भी सब भाइयोंकेलिए एक स्त्री लाते, तो पचास क्या पाँच सौ बरस बाद भी उतने ही घर रहते, किन्तु वे तो खुदाके भरोसे बच्चेपर बच्चे पैदा करते जा रहे हैं।

'सिन्ध'के किनारे-किनारे हम आगे बढ़े। द्राससे कुछ आगे पहुँचनेपर रास्तेमें हमें वह खंडित मूर्तियाँ और शिलालेख मिले। शिलालेख सातवीं-आठवीं शताब्दी-

की लिपिमें था। पढ़ने भरका समय न था, मैंने फोटो लिये, किन्तु अभी उतना उसका अन्दाज़ा न था, और उसमें मैं सफल नहीं रहा।

कर्गिलमें हम दो दिन (१५-१६ जून) ठहरे। यद्यपि जोज़ीलासे पहिले पर्मिट देखनेकेलिए एक आदमी दौड़ा आया था, किन्तु वह शायद ब्रह्मचारी गोविन्दके युरोपीय रंगके कारण। वैसे कर्गिलतक अब पर्मिटकी ज़रूरत नहीं पड़ती थी। पिछली यात्राके समयसे जरूर कुछ उदारता दिखलाई गई है। कर्गिलमें तहसीलदारने पर्मिट देखा। हमें वहाँ दो-तीन दिन ठहरना था। यहीं मालूम हुआ, कि ङरी-लामा—जिन्होंने ल्हासामें दलाईलामासे मिलकर मेरे रहनेमें बड़ी सहायता की थी—आजकल लदाख़से होते ज़ान्स्करमें ठहरे हुए हैं। रास्ता छोड़कर ज़ान्स्कर जानेमें फिर घोड़ोंके पानेमें दिक़्क़त होती, इसलिए हमने उधर जानेका ख्याल छोड़ दिया।

मुल्-वेक्में भी हम दो दिन (१८-१९ जून) ठहरे। गोविन्दजी वहाँके रंगबिरंगे पर्वतोंको चित्रित करना चाहते थे, वे तो अपने काममें व्यस्त रहे, और मैं वहाँके लोगोंकी सामाजिक आर्थिक अवस्थाका अध्ययन करने लगा। प्रकृति यहाँ भी निष्ठुर है, किन्तु सन्ततिनिरोधमें बहुपति-विवाह बहुत सहायक है, इसलिए लोगोंको उतनी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ एक स्कूल है, जिसमें पढ़ाई उर्दूद्वारा दी जाती है। नौकरीका लोगोंको आकर्षण नहीं, फिर ये तिब्बती-भाषाभाषी लोग क्यों उस मुश्किल भाषा और उससे भी ज़्यादा मुश्किल लिपिको पढ़नेमें मन लगावें। तिब्बती भाषाके पढ़ानेका कोई बाक़ायदा इन्तिज़ाम नहीं है, तो भी कितने ही व्यक्ति साक्षर हैं। यदि कश्मीर सर्कार उन्हें अपनी भाषामें शिक्षा दिलाती, तो ये लोग बड़े चावसे पढ़ते। किन्तु सर्कार सबको साक्षर करना अपना फ़र्ज़ थोड़े ही समझती है। मुल्बेक्में पर्वतगात्रमें खुदी मैत्रेयकी एक सुन्दर प्रतिमा है, जो बतलाती है, कि किसी वक़्त यहाँ भारतीय मूर्तिकलाके अच्छे शिल्पियोंकी कमी न थी।

मुल्बेक् और उससे आगेके गाँवोंपर अधिकार जमानेमें इस्लाम और बौद्धधर्मका संघर्ष रहा है, कर्गिलसे मुल्बेक्तकके गाँव अभी लोगोंके होशमें मुसल्मान हुए। मुल्बेक् पहुँचनेसे पहिले हम यहाँ कुछ अच्छे-अच्छे मकानोंवाले एक गाँवसे गुज़र रहे थे। उसी वक़्त एक भद्र पुरुषने आकर हमें चाय पीकर जानेकेलिए आग्रह किया। बैठकमें अच्छे यारकन्दी कालीन बिछे हुए थे। मकानमें कुछ सजावट भी थी। मालूम हुआ, वह एक अच्छे व्यापारी हैं। इस्लामी देश-दुनिया देखे होनेसे इन्होंने भी स्त्रियोंको पर्देमें रखना अपना कर्त्तव्य समझा था।

मुल्बेक्से आगे लामायुरुके पहिलेतक मुस्लिम-बौद्ध-मिश्रित बस्तियाँ थीं।

आबादी दूर-दूर। वही नंगे पहाड़, वही सूखी जमीन, किन्तु फ़सलके जम आनेसे कितने ही हरे-हरे खेतोंको देखकर आँखोंकी थकावट दूर हो जाती थी।

मुल्वेकसे पहिले शरगोलमें १७ जूनको हम गाँवके मुखियाके घरपर ठहरे थे। मुखिया स्वयं कट्टर मुसल्मान था, ब्याहने या रखेली रखनेसे जैसे भी हो दूसरोंको मुसल्मान बनानेमें वह भारी पुण्य (सवाब) समझता था, किन्तु उसकी माँपर उसका असर नहीं हुआ था। बुढ़ियाको जब मालूम हुआ, दो बौद्ध भिक्षु आए हैं, तो वह छतके ऊपर आई, और तिब्बती क़ायदेसे उसने साष्टांग प्रणाम किया। वह फूट-फूटकर रोते हुए कहने लगी—"मेरा लड़का बड़ा ज़ुल्म करता है, मुझे पूजापाठ और लामाओंका सत्कार तक नहीं करने देता। मैं तो मृत्युके घाटपर बैठी हुई हूँ, और यह कुछ कमाई नहीं कर लेने देता। अपने तो यह नरकमें जायेगा ही, और अपनी बूढ़ी माँको भी वहीं ढकेलना चाहता है।" गाँवसे थोड़ी दूरपर एक गुम्बा (बौद्धविहार) थी, जो पर्वतकी स्वाभाविक गुहामें इस तरह बनाई गई थी, कि बाहरी दीवारें शिलासे मिली हुई उसमें चिपकीसी मालूम होती थीं। किन्तु रास्तेमें शिम्सा-खर्बू और दूसरी जगहोंपर उजड़ी गुम्बाओंकी खड़ी दीवारें हमने देखी थीं और साफ़ मालूम हो रहा था कि अनुयायी जिस तरह कम हो रहे हैं, उससे इस, गुम्बाकी भी वही हालत होनेवाली है।

हमें पता लगा था, कि यहाँसे कुछ दूरपर एक प्राकृतिक गुफा है, जिसमें पुरानी मुद्रायें और मिट्टीकी मूर्तियाँ मिलती हैं। वैसे होता तो मुखिया (नम्बरदार) हमारी मदद नहीं करता, किन्तु तहसीलदारका पत्र था, इसलिए उसने भाड़ेपर टट्टू कर दिये। हम लोग पूरबकी तरफ़ उस गुहाकी तलाशमें गये। रास्ता चालू नहीं है, इसलिए कितनी ही जगह खतरनाक था, तो भी जब हम चल चुके थे, तो लौटनेका सवाल ही न था। गुहा काफ़ी बड़ी थी, और उसमें कुछ अंकित मुद्रायें भी थीं, किन्तु वह उतनी पुरानी न थीं।

गाँवमें लौटकर हम फिर सड़कसे आगे बढ़े, और मुल्बेक् होते लामायुरू पहुँचे। गोविन्दजीने गुम्बाका एक चित्र बनाया। मैं लामाओंसे बात करना चाहता था, किन्तु सभी अशिक्षित उजड्ड थे। वस्तुतः लदाखमें—और विशेषकर मुल्बेक् प्रदेशमें बौद्धोंका लोप इन्हीं अयोग्य साधुओंके कारण हो रहा है। हर जगह गुम्बाके पास खेत हैं, और खाना—छंग (शराब) पीना—बस इतने हीमें ये लोग अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री समझते हैं। हरएक धर्मका मूल्य इसीसे तौला जा सकता है, कि वह अपने अनुयायियोंमें नैतिक बल कितना लाता है, इस कसौटीपर कसनेसे मालूम होता

है, कि लदाखी लोग मुसल्मान बनकर कई अपने अच्छे गुणोंको छोड़ बैठे हैं। लदाखी बौद्ध स्वभावतः झूठ बोलना, चोरी करना नहीं जानते। कर्गिलके कश्मीरी तहसीलदार कह रहे थे कि कभी-कभी इनकी ईमानदारी महँगी पड़ती है। वह आप-बीती या किसी दूसरेकी बात कर रहे थे—उनका लदाखी बौद्ध नौकर बैठकमें झाड़ू दे रहा था, वहाँ एक अठन्नी पड़ी हुई थी। चोरीके डरसे नौकर उसे हाथ नहीं लगा सकता था, उसने चाक़ूसे अठन्नीके किनारे-किनारे क़ालीन काट डाली, और झाड़कर फिर उसे वैसे ही बैठा दिया। हो सकता है आजकलके जमानेमें ईमानदार आदमी संसार-संघर्षमें सफल नहीं हो सकता, किन्तु इससे ईमानदारीका नैतिक मूल्य कम नहीं होता।

खल्-चेमें हमें एक बौद्ध ग्रामीण अध्यापक मिले, उन्होंने आग्रह किया रातको अपने गाँवमें रहनेका। उनका घर (नुरला) सड़कसे बहुत दूर न था, इसलिए हमने उसे स्वीकार किया। अध्यापकका घर काफ़ी समृद्ध था। उसके बाग़में खूबानी, सेब और अंगूर लगे हुए थे, घर भी साफ़-सुथरा था। माँ-बाप लड़केसे सन्तुष्ट न थे, क्योंकि वह शराब बहुत पीता था, और अपनी स्त्रीसे विरक्त था। उसकी स्त्री इतनी सुन्दर थी, कि मुझे समझमें नहीं आया, उससे वह विरक्त क्यों है। शराबी-पनकी तो लदाखमें आम शिकायत है। यद्यपि जौकी सस्ती छंगसे कोई कंगाल नहीं हो सकता, तो भी उससे कामकी बेपर्वाही होती है, और उक्त अध्यापककी नौकरी इसीलिए बची हुई थी, कि लदाखमें अध्यापक सुलभ न थे।

रास्तेमें हम रिजोङ्-गुन्पा (गुम्बा)में गये। यह लदाखकी प्रधान गुन्पाओंमें है। यहाँका पिछले लामा लदाखका सबसे अधिक सुशिक्षित और सुसंस्कृत लामा थे, और पिछली यात्रामें मैं उनसे मिल चुका था। अब उनका देहान्त हो चुका था, और तीन-चार वर्षके छोटेसे बच्चेको अवतार समझकर उनकी जगह लामा बनाया गया था। गुन्पाके भिक्षुओंने चाय पीनेका आग्रह किया। बच्चा-लामाकेलिए भी आसन और चाय-चौकी रख दी गई। हमने दर्शन आदिका काम खतम कर चाय पी। ब्रह्माचरी गोविन्दने फिसलाऊ खड़े पर्वत गात्रोंपर कूदते हुये, अपने रोलैफ़्लेक्ससे कई फोटो लिये।

सस्पोला (२३ जून) बहुत बड़ा गाँव है, और वर्षके दस महीनेमें दूरतक फैली खेतोंकी हरियाली, बीच-बीचमें खूबानी, सेब, सफ़ेदे और वीरीके हरे-भरे दरख्तोंवाले बाग़ उसकी शोभाको और बढ़ा देते हैं। मिस्टर शटलवर्थने जब सुना, कि मैं लदाखकी ओर जानेवाला हूँ, तो उन्होंने लन्दनसे एक विस्तृत पत्र लदाख-ज़ान्स्कर-

लाहुलके प्राचीन ऐतिहासिक स्थानोंके बारेमें लिखा था, उसमें उन्होंने अल्चीके मन्दिरका भी जिक्र किया था। नीमूसे थोड़ा पीछे हट नदी पार हो हम अल्ची पहुँचे। अल्चीमें भी काफ़ी खेत हैं, किन्तु लोचवाके मन्दिरके पासवाले घर अधिकतर ग़रीब हैं। बाहरसे उस मन्दिरको देखकर किसीको भान नहीं हो सकता, कि यह ग्यारहवीं शताब्दीकी उत्तर-भारतीय चित्रकलाका महान् संग्रहालय है। पुजारी आया, हम लोग भीतर गये। कुछ अँधेरासा था, किन्तु उस सम्पत्तिको देखकर आँखें चकाचौंध हो गईं। नौ सौ वर्ष बाद आज भी सूक्ष्म तूलिकाओंद्वारा मात्रायुक्त वर्णोंमें चित्रित ये चित्र सजीव मालूम होते हैं। सभी चित्र सुन्दर हैं, किन्तु अवलोकितेश्वरकी मूर्तिके ऊपर छोटे-छोटे चित्रोंके अंकनमें तो और कमाल किया गया है। गोविन्दजी स्वयं कलाकार थे, वह तो इस कलाभंडारको देखकर कुछ समयतक स्तब्ध रह गये। अजन्ताके अर्धलुप्त चित्रोंसे आदमीको पूरी तृप्ति नहीं होती, और यहाँ थे पूर्ण चित्र, सो भी ऐसे समयके जिसके कुछ नमूने सिर्फ़ हस्तलिखित पुस्तकोंमें ही मिलते हैं। रोशनी काफ़ी नहीं थी, इसलिए फोटोकी सफलताका हमें विश्वास न था, तो भी हमने कुछ फोटो लिये।

पहिले भी हमने विहारकी दयनीय दशाको देखा था, किन्तु अब बाहर निकलकर उस रत्नकोशकी रक्षिका इमारतकी ओर खासतौरसे देखना शुरू किया। वहाँ मरम्मतका चिह्नतक न था। लदाखमें वर्षा बहुत कम होती है, किन्तु शताब्दियोंकी वर्षाका असर न होना असम्भव था। बाहरी द्वारके ऊपरके खम्भे टेढ़े पड़ गये थे, मोटी दीवारकी मिट्टी कट-कटकर दरारसी बन गई थी, और साफ़ मालूम होता था, कि जिस उपेक्षित दशामें यह मन्दिर है, उससे वह चन्द दिनोंका ही मेहमान है। फिर हमें ख्याल आया—पास-पड़ोसके रहनेवाले ग़रीब हैं, अनभिज्ञ हैं—किन्तु कश्मीर रियासतकी सर्कार क्या करती है? लेकिन, अफ़सोस! सभ्यताकी नक़ल करनेवाले पशुओंको पालने और ऊँचा बढ़ानेकी भारी क़ीमत हमारे समाजको चुकानी पड़ेगी। तिब्बतके महान् विद्वान् लो-च-वा रिन्-छेन्-ज़ङ्-पो (मृ० १०५२ ई०) ने जैसे सैकड़ों संस्कृत ग्रंथोंका अनुवाद कर तिब्बती भाषामें सुरक्षित किया, उसी तरह उसने तत्कालीन भारतीय चित्रकलाके सुन्दर नमूनोंको इस मन्दिरके रूपमें सुरक्षित किया था, लेकिन बीसवीं सदीमें अब हमारी आँखोंके सामने वह लुप्त होनेवाला है। भावी भारतीय जनता अवश्य इन कर्त्तव्यविमुख मूढ़ोंको क्षमा नहीं करेगी, किन्तु उससे खोई हमारी यह सम्पत्ति लौट तो नहीं आयेगी। लदाखसे लौट मैंने अंग्रेजी-हिन्दी पत्रोंमें वक्तव्य दिया था; राजमन्त्री, तथा स्थानीय अधिकारियोंसे तो

उसी वक्त प्रार्थना की थी, किन्तु हमारी प्रार्थनाका जिस तरह स्वागत हुआ, उससे कोई आशा नहीं बँधी।

सस्पोला लौटकर हम ले (लेह) केलिए रवाना हुए। २५ को ले पहुँचे। लाला शिवरामका देहान्त हो चुका था, किन्तु उनके भतीजे लाला कुन्दनलाल भी वैसे ही उत्साही व्यक्ति थे। हमलोग हेमिस् लब्रङ्में ठहरे। रातको निश्चिन्त हो सोनेकी तैयारी कर रहे थे, कि शरीरमें चिंगारीसी लगती दिखाई पड़ी। टार्च उठाकर देखा, तो बिस्तरोंपर हजारों खटमल रेंग रहे थे, और सदियोंकी पुरानी दीवार तो उनके चल कारवाँ से लालसी हो गई है। हमलोग तुरन्त अपना बिस्तर उठाकर बाहर छतपर लाए। हेमिस्का वार्षिक मेला तुरन्त आनेवाला था, इसलिए कुछ ही दिनों बाद १ जुलाईको हेमिस्केलिए रवाना हो गये।

हेमिस् लामा उस वक्त तिब्बत गये हुए थे, इसलिए वहाँ हमारा कोई परिचित न था। हेमिस् बहुत धनी मठ है, लदाखके खेतोंका बहुत भारी हिस्सा उसकी जागीर है, किन्तु उसके प्रबन्ध करनेवाले आदमी निकम्मे थे। छग्-ज़ोद (मैनेजर) तो निरा जानवर था, उसे किसी चीज़की तमीज़ न थी। हमलोगोंके बारेमें वह सुन चुका था, कि यहाँके उच्च अधिकारी भी सम्मान करते हैं, हेमिस्लामा मेरे पुराने मित्र थे, और उनसे मेरा बराबरका पत्रव्यवहार है, तो भी उसने बँगलेमें कमरोंके खाली रहते भी बाहर रखना चाहा। खैर, दूसरे लोगोंने समझाया, तब हमें एक कमरा मिला। मेला और 'भूतनृत्य' को मैं दूसरी बार देख रहा था, तो भी अब उसे ज्यादा समझ सकता था, क्योंकि अब मैं तिब्बत और बुद्धधर्मके इतिहाससे परिचय रखता था। वस्तुतः वह 'भूतनृत्य' (डेविल डैन्स) नहीं धार्मिकनाटक था, जिसमें बुद्ध, तिब्बतके पुराने सम्राट् साङ्चन-गैम्बो, लङ्-दर मा और क्रूर देवताओंका अभिनय होता था। क्रूर देवताओंके विकराल चेहरेको देखकर युरोपीययात्रियोंने इसे 'भूतनृत्य' का नाम दे दिया। गोविन्दजीने नृत्यके कई फोटो लिए।

पिछली यात्रामें मैंने नाट्यस्थानके बगलकी चौपालमें चौरासी सिद्धोंके चित्र पाषाण पर अंकित देखे थे, किन्तु उस वक्त तक आठवींसे बारहवीं सदीके भारतीय बौद्धधर्म और हिन्दी साहित्यके सम्बन्धमें चौरासी सिद्धोंके महत्त्वको मैंने नहीं समझ पाया था, अबकी मैंने उन्हें गौरसे देखा, और ब्रह्मचारी गोविन्दका ध्यान भी उधर आकर्षित किया। इन चित्रोंकी कापी करना निश्चितकर गोविन्दजी ठहर गये, और पीछे ले लौटकर उन्होंने बतलाया कि पाषाणपर उत्कीर्ण रेखाचित्र, बाहरी रंगसे अंकित चित्रोंसे ज्यादा सुन्दर हैं।

३ जुलाईको ले लौट आया। लेमें मेरे रहनेका इन्तिज़ाम हेमिस्-लामके नये मकानमें हुआ था, वह ज़्यादा साफ़-सुथरा हवादार और खटमलोंकी बलासे पाक था। मेरे ले चले आनेपर एकरात खूब वर्षा हुई। लोग बतला रहे थे ऐसी वर्षा बूढ़ों तकने नहीं देखी थी। लदाखके मिट्टीकी दीवारें मिट्टीके छतोंके मकान एकाध इंच सालाना वर्षाकेलिए बनाये होते हैं, सदियोंके तजर्बेसे वर्षाके एक ख़ास परिणाम तक ही लोगोंका ध्यान जा सकता है। उन्हें क्या मालूम, कि इतनी भी वर्षा हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन लेके पचासों घर भहरा-भहराकर गिर पड़े, जिनमें हेमिस् लबरङ भी था, और जिसमें हम पहिले दो-चार दिनकेलिए ठहरे थे।

लदाखमें अब मुझे कहीं घूमनेकी इच्छा न थी, जिसमें हाथमें लिए काम भी बाधक थे। मैंने पिछले साल 'धम्मपद' का हिन्दी-संस्कृत अनुवाद किया था, अबकी बार सारे मज्झिमनिकायका अनुवाद कर डालना था। तिब्बतमें बौद्धधर्मके इतिहास-पर एक निबन्ध डाक्टर कुलभूषणके आग्रहपर उनकी संस्कृत पत्रिका "श्री"केलिए श्रीनगर हीमें लिखकर दे आया था, अब उसे हिन्दीमें सप्रमाण लिखना था। तीन महीनेकेलिए यही काम काफ़ी थे, किन्तु लदाखके बौद्धोंकी शिक्षाकेलिए, विशेषकर आरम्भिक पाठशालाओंकेलिए तिब्बती भाषाकी पाठ्यपुस्तकों और व्याकरणकी बड़ी जरूरत थी। नोनो छेर्तन्-फुन्-छोग् एक उत्साही तरुण थे, उनका भी आग्रह हुआ और, मुझे व्याकरण तथा चार पुस्तकोंके लिखनेका काम भी हाथमें लेना पड़ा। कामसे घिरे रहनेमें भी एक आनन्द आता है, और इसलिए रात-दिन व्यस्त रहते भी वे तीन मास मेरेलिए ख़ुशीके दिन थे।

लदाखमें सबसे अधिक प्रसन्नता मुझे पादरी जोज़ेफ़ गेर्गेन्से मिलकर हुई। गेर्गेन बहुत बूढ़े थे, किन्तु अब भी वह शारीरिक मानसिक कर्मठता रखते थे। यद्यपि उन्हें कन्-जुर् तन्-जुर्के रूपमें भारतीय वाङ्मयके विस्तृत अनुवादोंको पढ़नेका मौक़ा न मिला था, और न वह उसके दर्शनसे ही परिचय रखते थे, किन्तु शुद्ध तिब्बती साहित्य, भाषा, और इतिहासका उनका ज्ञान बहुत गम्भीर था। उन्हें अपनी तिब्बती जातीयताका अभिमान था, इसलिए वह इन सभी चीज़ोंको बड़ी श्रद्धाके साथ अध्ययन करते थे। डाक्टर फ्रांकेके लेमें रहते वक्त उन्होंने उनकी खोजोंमें बहुत सहायता की थी, और उक्त जर्मन विद्वान्के संसर्गसे गेर्गेन्की अन्वेषण-दृष्टि कुछ वैज्ञानिक भी हो गई थी। हम दोनोंका सम्पर्क मित्रताके रूपमें परिणत हो गया, क्योंकि मैं भी उन्हींकी भाँति तिब्बती जातिके भूतको श्रद्धाकी चीज़ समझता था।

कितनी ही बार वह मेरे यहाँ आते और कितनी ही बार मैं उनके घर जाता। वस्तुतः यह घर भी, जिसमें मैं ठहरा हुआ था, गेर्गेन्का ही बनवाया हुआ था, जिसे पीछे हेमिस्लामाने खरीद लिया। उनका नया मकान कुछ पूरब हटकर खेतोंमें था, और पहिलेसे ज्यादा हवादार, रोशनीदार था।

लेमें काफ़ी पंजाबी दूकानदार हैं, उनका बराबर निमन्त्रण पड़ा रहता था, किन्तु मैंने जितने काम अपने सिरपर ले रखे थे, उनकी पूर्तिकेलिए समयको बहुत कंजूसीसे खर्च करना पड़ता था, और सिर्फ़ रविवारको ही निमन्त्रण पर जाता था। साबित उड़द और लोबियाकी दाल बहुत मीठी होती है, किन्तु समुद्रतटसे १३,५०० फ़ीट ऊपर उसको पकानेकेलिए आठ-आठ, दस-दस घंटोंकी ज़रूरत होती है। मेरे मेज़बान, हो नहीं सकता था कि, पंजाबके श्रेष्ठ खानेसे निम्न कोटिका खाना खिलाते, और रोज़का खाना मकानमें रहनेवाले मास्टर—जो मिडल स्कूलमें तिब्बती भाषाके द्वितीयाध्यापक थे—की पत्नी पका दिया करती थीं। दोपहरके बाद मैं सिर्फ़ चाय पी सकता था, इसलिए उनके ऊपर बहुत भार भी नहीं था। मास्टर नम्-ग्यल् बड़े सीधे-सादे आदमी थे, मैंने चाहा कि तिब्बती साहित्यकी ओर उनकी विशेष रुचि हो, किन्तु अब उनकेलिए वह समय बीत चुका था। मेरी आँखें दुखनेको आई थीं। मैं अस्पतालसे आई-लोशन् (नेत्ररस) ले आया। शामको मास्टरसे कहा, कि दवा आँखोंमें डाल दें। मास्टरने कहा—'आज नहीं कल'। मैंने दोबारा कहा, फिर वही जवाब। तीसरी बार भी दुहरानेपर कोई फल नहीं हुआ। मैं समझ नहीं सकता था, कि वह कलकेलिए क्यों कर रहे हैं। मैंने कहा—'नहीं, दवाई डालनेकी सख्त ज़रूरत है, आज ही डालना चाहिए।' फिर उसके बादका नज़ारा! मास्टर धीरेसे आकर मेरे आसनके पास बैठ गये, और ऊपरकी ओर मुँह करके, आँखोंके पास अँगुली रखकर कहा—'अच्छा तो डाल दीजिए'। मेरी हँसी रुकनेवाली न थी, और कुछ देरतक मुँहसे बात निकालनी मुश्किल हो गई। फिर मैंने कहा—'आँखें मेरी दुख रही हैं, इनमें दवा डालनेकी ज़रूरत है।' उन्होंने कहा—'मैंने तो समझा था, मेरी आँखोंमें दवा डाली जायेगी, इसीलिए कलकेलिए कह रहा था।' मास्टरकी स्त्री उनसे ज्यादा चतुर थीं, और घरका काम-काज वही सँभालती थीं।

एक दिन शामको हेमिस्का मैनेजर (छग्-जोद्) आया। उसे रातको वहीं रहना था। उसने कहला भेजा, आज कमरेमें मैं रहूँगा, आप दूसरे कमरेमें चले जायँ। बिखरे हुए पुस्तक-पत्रोंके ढेरको दूसरे कमरेमें ले जाना आसान काम न था, फिर वह तो निरा अपमान था। मैंने कह दिया—छग्-जोद् साहेब ही मेहरबानी करके उस

कमरेमें चले जावें। वह क्या-क्या बुड़बुड़ाता रहा। जब यह बात अधिकारियोंको मालूम हुई, तो उन्होंने उसे बुलाकर बहुत फटकारा। वह तो निरा बैल था, तो भी डरके मारे बहाना किया—मैं उस वक्त शराबके नशेमें था। लेकिन यह तो उसकी रोज़-बरोज़की बात थी।

हेमिस्से लौटकर गोविन्दजी ले आये। उन्होंने अपने पेंसिलके रेखाचित्रोंको दिखलाया, और मूल चित्रोंकी बड़ी प्रशंसा की। मन्-पङ-गोङ जानेकी न मेरी इच्छा थी, न उसकेलिए समय; किन्तु उसके सौन्दर्य, उसके नीलम जैसे जलकी मैंने उनसे तारीफ़ करके वहाँ जानेकी राय दी। वह घोड़ा किराया करके उधर गये, और मेरी प्रशंसाको वास्तविकतासे कम बतलाया। खाने-पीनेकेलिए मैंने कह दिया था, कि काफ़ी सामान लेकर जावें। एक जगहके मक्खनके बारेमें कह रहे थे—मैंने एक रुपयेका मक्खन ख़रीदा। सामने आनेपर पूछा—दाम ऊनके लिए है या मक्खनके।

मन्-पङ-गोङसे लौटकर गोविन्दजीको नीचेकेलिए रवाना होना था, क्योंकि शान्तिनिकेतनकी पढ़ाई शुरू होनेवाली थी, जहाँपर वह अध्यापनका काम करते थे। हिट्लर मेरे जर्मनी छोड़नेके दो ही महीने बाद अधिकारारूढ़ हो गया था। गोविन्दजीको जर्मनीमें मौजूद उनकी सम्पत्तिसे कुछ रुपये भारतमें आया करते थे। नाज़ी शासनने बाहर रुपये जाने बन्द कर दिये। गोविन्दजी और उनकी बूढ़ी धर्ममाताकेलिए विदेशमें एक विषम परिस्थिति उपस्थित हो गई। उन्होंने कलकत्तास्थ जर्मन कौंसल-जेनरलको कड़ा पत्र लिखा—जर्मनीके सम्बन्धमें हम जितना सांस्कृतिक काम कर रहे हैं, उससे जर्मनशासकोंको हमारा कृतज्ञ होना चाहिए था, और वे उल्टा हमें दंड देना चाहते हैं। यह कशमकश कुछ वर्षोंतक रही, और पीछे जब भारतमें रहनेवाले नाज़ियोंने सम्बन्धको असह्य कर दिया, तो युद्धारम्भसे बहुत पहिले ही वह जर्मन जातीयताका परित्यागकर भारतीय प्रजा बन गये। गोविन्दजीके अकेले लौटनेसे हम दोनोंको अफ़सोस हुआ। हम दोनोंकी यात्रा एक-दूसरेके साथ बड़े प्रेम और सहानुभूतिके साथ हुई थी, नाना सांस्कृतिक सामाजिक विषयोंपर मधुर चर्चा होती रहती थी।

ले सौ ही वर्ष पहिले स्वतन्त्र लदाख राजाकी राजधानी थी। आज भी राजाका विशाल प्रासाद एक पहाड़ी टेकरीपर मौजूद है, और वह पुराने राजवंशके हाथमें है, तो भी उसकी वह श्री नहीं है। जम्मूकी सेनाने इस राज्यके दखल करते वक्त काफ़ी बर्बरतासे काम लिया था। राजप्रासादमें मोटे काले चिकने हाथके बने काग़ज़पर सुनहले अक्षरोंमें ढेरके-ढेर कंजूरके पत्रे मैंने देखे थे, अबकी सोच रहा था, यदि

वह वैसे सड़नेकेलिए कूड़ेके ढेरकी तरह रखे हों, तो मालिकोंसे कहकर ले चलूँगा, किन्तु अबकी देखनेपर मालूम हुआ, पत्रोंको सिल्सिलेसे लगानेकी कोशिश की गई है। मैंने लुप्त पत्रोंके बारेमें पूछ-ताँछ की, तो मालूम हुआ, कितनी ही धार्मिक पुस्तकोंसे जम्मूके सेनापतिने स्थानीय क़िलोंकी छतोंके पाटनेका काम लिया था! इस बातकी सत्यताकी परीक्षाकेलिए एक दिन क़िलेमें गया। छत कच्ची है, उसे एक जगह ज़रासा खोदकर देखा; सचमुच ही सुनहले अक्षरोंमें लिखे काले पत्रोंके टुकड़े निकले। यह है हिन्दुओंकी धार्मिक सहिष्णुताका नमूना!!

मैंने राजप्रासाद और वहाँकी गुम्पाके पुस्तकालय और मूर्तियोंकी छानबीन की, सभी जगह पुरानी चीज़ें थीं। लेहप्रासादके पास हेमिस्के आधीन एक मन्दिर है, जिसमें आठवीं-नवीं सदीकी चाँदीकी अम्लान आँखोंवाली बुद्धमूर्ति देखी। खोज की जाये, तो लदाख़में अभी भी कितनी ही पुरानी चीज़ें मिल सकती हैं, लेकिन यह काम सिर्फ़ एक आदमीके वशका नहीं है।

पिछली बार जब लदाख़ आया, तब भी चीनी तुर्किस्तान जानेकी बड़ी इच्छा उत्पन्न हुई थी, किन्तु उस वक़्त मेरे पास पासपोर्ट न था। अबकी भी इच्छा हुई, और मेरे पास पासपोर्ट भी था, किन्तु दूसरे कामोंके पूरा करनेका भी आकर्षण इतना था, कि वह इच्छा पूरी नहीं कर सकता था। लदाख़में तुर्किस्तानके व्यापारी और हजके यात्री गर्मियोंमें अक्सर आया करते हैं। अबकी बार तुर्किस्तानमें गृहकलह जारी थी, जिसकेलिए भारतीय व्यापारी—जिनमेंसे कितनों हीकी दूकानें लेमें भी हैं, बड़े चिन्तित थे। वहाँ गये कितने ही भारतीय लुट गये थे, और कुछकी जान भी गई थी। चीनी अधिकारियोंको निकालनेमें तो तुर्क लोग सफल हुए, किन्तु पीछे एक जातिका दूसरी जातिसे झगड़ा हो गया। तुर्किस्तान किसी वक़्त आर्य-भाषाभाषियोंका प्रदेश था। चौथी-पाँचवीं सदीमें कूचाके निवासी भारतीय-लिपि और संस्कृतसे सम्बद्ध भाषाको बोलते थे—उनके कुछ ग्रंथ गोबीकी रेतसे प्राप्त हुए हैं। पीछे तुर्किस्तान भिन्न-भिन्न आक्रमणकारी जातियोंका अखाड़ा बन गया। हूण, उइगुर, तुर्क, मंगोल और सातवीं सदीमें तिब्बती लोगोंने भी उसपर आक्रमण किया। इन जातियोंके बहुत से लोग वहाँ बस भी गये। तुर्कोंकी संख्या और प्रभाव अधिक होनेसे देशवासियोंपर उन्हींकी भाषाकी छाप पड़ी। आठवीं-नवीं सदीमें जब अरबोंका अधिकार हुआ, तो तुर्क मुसल्मान हो गये। इसपर भी मूल जातियोंका भेद कुछ बना ही रहा। हालके विद्रोहमें उस भेदने ज़ोर मारा, और एक जातिके मुखियाने नहीं चाहा, कि दूसरी जातिके प्रभावशाली व्यक्ति देशके

सर्वेसर्वा बन जावें। परिणाम हुआ, उनकी जातीय स्वतन्त्रता फिर उनके हाथसे जाती रही। अभी भी यह संघर्ष कितने ही स्थानोंपर चल रहा था। मेरे ले छोड़नेसे पूर्व एक बड़ा क़ाफ़िला यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान या सिङ्-क्याङ्)से आया। अच्छे-अच्छे घोड़े महीनोंकी मंज़िलसे दुबले होकर हड्डी-हड्डी रह गये थे।

यहीं बड़ौदासे तार पहुँचा—आप ओरियंटल कान्फ्रेंसके हिन्दी विभागका सभापतित्व स्वीकार करें। इस कान्फ्रेंसके सभापति जायसवालजी होनेवाले थे और उनके साथ मुझे बड़ौदा जाना ही पड़ता, इसलिए उसके स्वीकार करनेमें कोई खास तरद्दुद न था। मैंने स्वीकृति भेज दी।

लौटनेकेलिए मैंने लाहुल-कुल्लूका रास्ता चुना था। जून-जुलाईके महीनेमें होशियारपुरके घोड़ेवाले आ चुके थे। खर्चके रुपयोंकी कमी हो गई थी, किन्तु नेपालके साहु धर्ममानजीकी एक शाखा यहाँ भी खुल गई थी, माहिला साहु वहाँ मौजूद थे, इसलिए मुझे पैसोंके मिलनेमें दिक़्क़त न हुई।

लदाखसे प्रस्थान—लेमें मैं ४ जुलाईसे १६ सितम्बरतक अबकी लगातार रह गया। काम भी बहुत हुआ। "मज्झिमनिकाय"का हिन्दी अनुवाद "तिब्बतमें बौद्धधर्म", भोटिया पुस्तकें और यात्रापर कई लेख लिख डाले।

१७ सितम्बरको मुझे ले छोड़ना था। क़ानूनगो, तहसीलदार, वज़ीर साहेब सबसे बिदाई ली। सबसे ज़्यादा अफ़सोस हुआ जोज़फ़ गेरगेनसे बिदाई लेते वक्त। लदाखमें वही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनको अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्यका बहुत अभिमान है, और उन्होंने अपनी सारी ज़िन्दगी उसीके अध्ययनमें लगा दिया। अब वह बहुत बूढ़े हो गये थे, पके आमकी तरह किसी समय वृन्तसे टूट सकते थे। गेरगेनसे फिर मुलाक़ात हो सकेगी, इसमें सन्देह था। दोपहर बाद मैं अपने घोड़ेपर सवार हुआ। आज बहुत दूर नहीं जाना था, सिर्फ़ ८ मीलपर ठिकसे गुंबामें रहना था। ३ बजे शेके महलमें पहुँचा। लदाखका राजवंश लेमें राजधानी बनानेसे पहिले इसी जगह रहता था। सिन्धुकी धार यहाँसे नज़दीक है। अब भी यहाँ एक महल और गुम्बा मौजूद है। १०० वर्ष पहिले जब लदाख स्वतन्त्र था, तबतक रानियाँ पुत्र जन्मके वक्त इसी महलमें आती थीं। पचीसों पीढ़ियोंतक लदाखके राजा यहीं पैदा होते रहे। उस वंशका उत्तराधिकारी अब भी मौजूद है। लेके राजप्रासादकी तरह शेका प्रासाद भी उसीके हाथमें है, लेकिन बेचारेकी इतनी आमदनी नहीं, कि महलोंकी मरम्मत करा सके। गुम्बामें बुद्धकी एक विशाल मूर्त्ति है। हस्तलिखित कंजूर-तंजूरके बहुतसे पत्रे ढेर किये हुए हैं। ७ साल पहिले

यह ढेरी और बड़ी थी, जान पड़ता है, लोग पत्रोंको प्रसादमें लेते जा रहे हैं। गाँवके पास एक विहार है, जिसमें कुछ पुरानी मिट्टीकी मूर्त्तियाँ हैं। यह मूर्त्तियाँ लताओंमें बनी हैं और किसी वक्त वह न्यार्माके पुराने मठ विहारमें रहती थीं। ठिकसे दो ही मील था, पाँच बजे हमने वहाँकेलिए प्रस्थान कर दिया। ठिकसे गुम्बा लदाखकी ६ प्रधान गुम्बाओंमें है। यहाँके अवतारी लामापर क्या-क्या बीती, इसका ज़िक्र मैं पहिले कर चुका हूँ। अभी जबतक वह अवतारी लामा ज़िन्दा है, तबतक दूसरा लामा (महन्त) कैसे बनाया जा सकता है? हाँ, जब वह मर जायगा, तो लोग फिर उसकी तलाशमें निकलेंगे। यह गुम्बा उतनी पुरानी नहीं है, लेकिन कुछ चीज़ें पुराने विहारोंकी भी यहाँ रखी हुई हैं। प्रधान मन्दिरमें एक लकड़ीका बहुत सुन्दर प्रभामंडल रखा हुआ है, यह भी किसी पुराने विहारसे आया है। सम्भव है, यह भी न्यार्मके विहारसे आया हो, जो कि दसवीं-ग्यारहवीं सदीमें बना था। लदाखमें इधर ६०-७० वर्षोंमें बहुतसे घर मुसलमान हो गये। यह देखकर मुझे बड़ी ख़ुशी हुई, कि खल्सर परिवारने मुसलमान होनेपर अपने घरकी दो अच्छी मूर्त्तियोंको सिन्धुमें बहानेकी जगह इस गुम्बामें फेंक दिया। आजकल मठके अधिकारियोंमें आपसमें बहुत झगड़ा है।

दूसरे दिन (१८ सितम्बर) मैं आगेकेलिए रवाना हुआ। दो मीलपर अरमा विहारका ध्वंसावशेष है। यह बहुत पुराना विहार था। यहाँ कई बड़े-बड़े देवालय थे, जिनकी मिट्टीकी मोटी दीवारें अब भी खड़ी हैं। कुछ स्तूपोंके भीतर अब भी पुराने चित्रोंके चिह्न हैं, लेकिन चरवाहोंने पत्थरसे कूट-कूटकर उन्हें बिगाड़ दिया है। नागरी अक्षरोंमें कच्ची मिट्टीपर छापी बहुतसी मुहरें स्तूपोंमें मिलती हैं। मैंने उनमेंसे ४, ५ इकट्ठा कीं। चित्र निस्सन्देह अच्छे थे। एक चित्रका निचला भाग रह गया था और उसपर "दीपंकरायनमो" लिखा हुआ था, मैंने चाक़ूसे पलस्तरको काटकर उसे निकाला और ऊनके भीतर बक्समें बन्द करके पटना म्यूज़ियमकेलिए ले लिया। मुझे तो विश्वास नहीं था, कि वह सही सलामत पटना पहुँच जायगा। लेकिन वहाँ ठीक तरहसे पहुँचा देख बड़ा सन्तोष हुआ। अब आसपासमें दो ही चार घर बौद्ध रह गये हैं, वे भी कुछ सालोंमें मुसल्मान हो जायेंगे। इसकेलिए अफ़सोस करनेकी क्या ज़रूरत है? आखिर आदमी पुराने धर्ममें किसी सामाजिक त्रुटिको देखकर ही नये धर्मको अपनाता है। रणवीरपुर होते मैं हेमिस गुम्बाके सामनेके लकड़ीके पुलपर पहुँचा और उससे सिन्धुको पार किया। ऊपरकी ओर चलते हुए सवा चार बजे मर-चेलङ् गाँवमें पहुँचा। आज १४ मील आया,

लेकिन घोड़ेपर होनेसे कुछ मालूम नहीं हुआ। यह गाँव साढ़े ग्यारह हजार फ़ीटकी ऊँचाईपर है। रातमें बूँदाबाँदी रही। यहीं होशियारपुरके हमारे घोड़ेवाले भी मिल गये।

दूसरे दिन (१६ सितम्बर) १६ मील चलकर मीरु गाँवमें रहना था। घोड़े खच्चरवाले खा-पीकर १०, ११ बजे चलते हैं। हिन्दू होनेसे उन्हें खाने-पीनेमें बहुत ख्याल रखना पड़ता है। उपशी गाँवतक हम सिन्धके किनारे-किनारे गये, फिर ग्य नदीका किनारा पकड़ा। आबादी कहीं नहीं दीख पड़ी। जगह-जगह छोटी-छोटी झाड़ियाँ मिलीं। दिनभर बादल रहा और गाँवमें पहुँचते-पहुँचते वर्षा होने लगी। मीरु बहुत पुराना गाँव है। कहावत मशहूर है—"म्खर्-लस् स्ञ-व ख-ल-र्चे। युल्-लस् स्ञ व मि-रु-र्चे।" (प्रासादोंमें पुराना खलचे हैं, गाँवोंमें पुराना मिरु है)। किसी वक़्त यह बड़ा गाँव था, दूरतक खँडहर ही खँडहर दिखलाई पड़ते हैं। सभी भाइयोंकी सिर्फ़ एक स्त्री होनेके कारण तिब्बतकी और जगहोंकी तरह लदाखकी भी आबादी कम होती गई, और अभी उम्मेद नहीं कि गाँवोंके बढ़नेकी नौबत आयेगी। गाँवसे आगे एक चट्टान आगेकी ओर निकली हुई थी, उसीके नीचे हम लोगोंका डेरा पड़ा। ओरगेन् (रामदयाल) इसी गाँवमें रहते थे। वह रहनेवाले बुशहरके थे, लेकिन अब यहीं घरजमाई बनकर रह गये। मुझे वह हेमिसमें मिल चुके थे, यहाँ भी मिल गये। उनके घरपर गया। घर क्या पत्थरोंका ढेर था। गेहूँका होला और ५ अंडे लेकर शामको वह मेरे पास पहुँचे। उनका बहुत आग्रह था, कि मैं उनकेलिए यन्त्र लिख दूँ, मैं कितना ही समझाता, किन्तु वह माननेकेलिए तैयार नहीं थे। फिर उन्होंने दो यन्त्र लिखवाये, एक तो सन्तान होनेकेलिए, और दूसरा गृहिणीके गरम स्वभावको ठंडा करनेकेलिए। मैंने ब्राह्मी अक्षरमें यही लिख दिया "मन्त्र कुछ नहीं।" गरम स्वभाव ठंडा होगा, इसकी तो आशा नहीं थी, लेकिन जो कहीं सन्तान हो गई, तो वह हिन्दुस्तानके लामाके मन्त्रका ही प्रभाव समझा जायगा। दूसरे दिन (२० सितम्बर) खाते-पीते साढ़े बारह बज गये। रास्तेमें दो-एक घर मिले फिर ग्यका बड़ा गाँव आया। ग्य गाँव ग्यारहवीं सदीमें मौजूद था। यहाँका ही भिक्षु चोन्ड्सेङ्गे विक्रमशिलामें पढ़ने गया था और दीपंकरके साथ तिब्बत लौटा था। यहाँ आसपास पुराने स्तूपों और विहारोंके बहुतसे ध्वंसावशेष हैं। ३ मील आगे जानेके बाद लदाखका आखिरी गाँव मिला, अब इसके बाद लाहुलमें ही घर दिखलाई पड़नेवाले थे। उस वक़्त फसल कट गई थी। हम ऊपरकी तरफ़ जितना ही बढ़ते जा रहे थे, उपत्यका भी उतनी चौड़ी होती जा

रही थी। नालेमें घास उगी हुई थी। सवा सात बजे हम १६ मील चलकर टिकान-पर पहुँचे।

दूसरे दिन (२१ सितम्बर) फिर ग्यारह बजे रवाना हुए। आज अगला पड़ाव २२ मीलपर था और साढ़े १७ हज़ार फ़ीट ऊँचे तग्न्लुङ-लाकी जोतको पार करना था। चढ़ाई बहुत कठिन नहीं थी, लेकिन दम बहुत फूल रहा था। हमारे साथी कह रहे थे, यहाँ गन्धक बहुत है, इसीलिए दम फूल रही है; उन्हें क्या पता था कि हम समुद्रतलसे साढ़े १७ हज़ार फ़ीट ऊँचे आसमानमें चल रहे हैं, और वहाँ हवा पतली तथा आक्सीजनकी मात्रा बहुत कम है। कई खच्चरोंको मुश्किलसे डाँड़ा पार कराया गया। दूसरी तरफ़ नीचे आनेपर देवरिङका विशाल मैदान मिला। यह मैदान १५ हज़ार फ़ीटसे अधिक ऊँचाईपर है। जाड़ोंमें भेड़वाले यहीं रहते हैं। इस वक्त वहाँ काफ़ी घास थी। क्याङ (जंगली गदहा)का झुंड जगह-जगह चर रहा था। अँधेरा होते-होते हम ठहरनेके मुकाम रोग्चिनमें पहुँचे। तम्बूवाले पशुपालकोंका गाँव था और पासमें एक छोटीसी धार बह रही थी। जान पड़ता है, यहाँ कभी कोई गाँव भी था। हम एक पुरानी दीवारके पास ठहरे। चमरियोंके बछड़े खूब फुदक रहे थे।

खानेकी चीज़ोंमें हम आटा, चाय, चीनी, सेब, उबले अंडे और मांस साथ लाये थे। छठें दिन अब मांस (२२ सितम्बर) खाने लायक़ नहीं रह गया। जान पड़ता है देवरिङ और आसपासकी उपत्यकाओंका पानी बाहर नहीं जाने पाता। यहाँ पानी है भी बहुत कम। आज हम १८ मील चलकर नदीके किनारे ठहरे। शामको सर्दी काफ़ी थी। पहाड़ ज्यादातर मिट्टीके मालूम होते थे, यहाँ खच्चरोंकेलिए चरनेकी घास नहीं थी। लेकिन लोग घास साथ ले आये थे। रातको ६ बजे रुद्शू-का एक आदमी वहीं ठहरनेकेलिए आया। बेचारा गिड़गिड़ाता ही रह गया, लोगोंने हज़ारों गालियाँ दीं, और धमकाकर भगा दिया। मुझे बहुत बुरा लगा, किन्तु वहाँ कहता किससे। आज ला-च-लुङ्के सोलह हज़ार छ सौ फ़ीट ऊँची जोतको पार करना था, हमारे साथी सबेरे ७ बजे ही चल पड़े। तीन मील चलनेपर चढ़ाई शुरू हुई, लेकिन असली जोत ८ मीलपर मिली। यद्यपि यह जोत तग्-लुङसे ऊँची नहीं थी, लेकिन आदमी और जानवरोंको बड़ा कष्ट हुआ। मेरा घोड़ा लेमें पोलोका घोड़ा था, उसकी नाकसे भी खून निकल रहा था। तिब्बती नामोंका अर्थ तो हमारे साथी जानते नहीं थे, इसलिए उन्होंने एक जोतको लोङलाचा बना दिया और दूसरे-को बड़ा-लाचा। लाचासे उनका मतलब इलायचीसे है। हम लोग जोत पार होकर

उतराईमें आये। सबने सन्तोषकी लम्बी साँस ली। ऐसी जोतोंपर यदि कोई घोड़ा-खच्चर चलनेमें असमर्थ हो जाता है, तो उसे वहीं छोड़ देना पड़ता है। क्योंकि घास-पात तो कहीं है नहीं, टिकनेका मतलब है २, ४से और हाथ धोना। लोङ-लाचाने किसी पशुकी बलि नहीं ली, इसकेलिए उन्हें सन्तोष होना ही चाहिए। छूट गये गदहे या खच्चरका फलाहार करनेकेलिए पहाड़ोंमें भेड़िये काफ़ी रहते हैं। अब हम चर्ब नदीके किनारे आ गये। आगे कुछ दूर जानेपर हम लोग ठहर गये। आज ७ मीलसे ज्यादा नहीं चल सके। यह जगह भी १३ हज़ार ४०० फ़ीट ऊँची थी, लेकिन हमको गरम मालूम होती थी, क्योंकि हम बहुत सर्द जगहसे आ रहे थे। नदीपार खूब घास थी। खच्चरवाले जानवरोंको वहाँ चरनेकेलिए ले गये। रातको कोई जानवर घोड़ोंपर हमला न करे, इसलिए ३ आदमी भी आटा-चाय लेकर वहीं सोने गये। अभी भी हम कश्मीर रियासतमें थे। अगले दिन (२४ सितम्बर) सवा ग्यारह बजे हमने कूच किया। हमारे बाएँसे एक नदी आई, यही लदाख (काश्मीर) और कुल्लूकी सीमा है। कुछ दूर आगे जानेपर सामने एक पहाड़की जड़से पानीकी पचासों धाराएँ निकलती दिखाई दीं। हमारे साथी इस जगहको टूटूपानी कहते थे। मुझे आश्चर्य है, ब्राह्मणोंने इसे कोई बड़ा तीर्थ क्यों नहीं बनाया? पानीका इतना सुन्दर चमत्कार बहुत कम मिलेगा। इसे आसानीसे सहस्र-धारातीर्थ कहा जा सकता है और दस-बीस श्लोकोंको गढ़कर महातम भी बनाया जा सकता है। शायद, थैलीवाले भक्तोंको यहाँतक आनेकी हिम्मत नहीं होगी। अगली जोत कितनी खतरनाक है, यह आगे बतायेंगे। सिक्खोंको भी हिमालयके तीर्थोंकी बड़ी ज़रूरत है, वही क्यों न अपने किसी गुरुके नामपर सहस्रधारातीर्थ अपना लें। कोई-कोई कहते भी हैं कि यहाँ पाण्डवोंने यज्ञ किया था।

आगे लिङरीका बड़ा मैदान मिला। यहाँ एक डिस्ट्रिक्टबोर्डकी सराय है। नदीके किनारे घास भी खूब है। जहाँ-तहाँ कुछ पुराने स्तूप मौजूद हैं। हम मैदानके छोरतक पहुँच गये थे। वहाँ एक चश्मा था। बादल चारों ओरसे घिर आये थे। लोगोंने यहींपर ४ बजे ही डेरा डाल दिया। अभी फोलकडंडाकी जोत यहाँसे १२ मील थी। यहाँ ठहरनेका एक और भी कारण था—कुछ ही दूरपर जंगली चना, और गेहूँ खूब उगा हुआ था। जंगली कहनेसे आश्चर्य करनेकी ज़रूरत नहीं, क्योंकि पहिले सभी अनाज जंगलमें पैदा होते थे, आदमीने उन्हें खेतोंमें बोना शुरू किया और बुद्धि लगाकर उनसे और अच्छे बीज तैयार किये। गेहूँका दाना तो मुझे नहीं

मिल सका, लेकिन चनेका दाना—जो मामूली चनेसे छोटा था, मैंने पटना म्यूज़ि-यमकेलिए ले लिया।

रातको ही बरफ़ पड़नी शुरू हो गई। आज (२५ सितम्बर) दोपहरतक बरफ़ और वर्षा पड़ती रही। दोपहरको आसमान खुला, लेकिन लोग अब भी चलनेमें हिचकिचा रहे थे। जंगली गेहूँ-चने खिलाकर खच्चरोंको तगड़ा करनेका ख़्याल हो रहा था। मैंने कहा—"चार दिनतक ऐसा ही मौसिम रहेगा, चलना हो तो चलो।" उनको चने-गेहूँका लालच था, और मुझे जल्दी आगे बढ़नेका। कुछ भी हो, उस दिनकी भविष्यवाणी ठीक उतरी, और चौथे ही दिन जाके बादल आसमानसे हटा। उस दिन वह टससे मस नहीं हुए। इस इलाकेमें जंगली गेहूँ और चने ही नहीं हैं, बल्कि जंगली भेड़-बकरियाँ भी रहती हैं। प्राणिशास्त्रियों और कृषिशास्त्रियोंके अनुसंधानके लिए यह अच्छी जगह है। इन अनाजोंकी घासका महत्व पशु-पालक खूब समझते हैं, और गर्मियोंमें गूजर हजारों भेड़ें इधर चरानेके लिए ले आते हैं।

लाहुलमें—अगले दिन (२६ सितम्बर) भी बादल नहीं हटा। लोग घबराने लगे, और साढ़े ग्यारह बजे वहाँसे चल पड़े। ५ मीलपर केलू (केनलुङ)की सराय थी। यहाँ मैंने भी जंगली चनोंको उगे हुए देखा। रास्ता बहुत खराब है, खासकर छोटे-बड़े लाखों पत्थरोंके ऊबड़-खाबड़के कारण, डाँड़ासे दो-तीन मील पहिले यूनन्-छो झील मिली। इसका घेरा एक मीलसे ज्यादा नहीं होगा और इस वक्त तो पानी और भी कम था। १०४वें मीलवाले पत्थरसे हम बरफ़पर चलने लगे और १०२ वाले तक वह बराबर वैसी ही बिछी हुई थी, फिर कुछ कम हुई। १०३-१०४ वें मील पत्थरोंके बीचमें बड़ा-लाचा जोत मिली। वहाँ खूब बरफ़ पड़ रही थी। कुछ घोड़ों-पर चढ़े कुछ पैदल, हम एक पाँतीसे चल रहे थे। खच्चरोंकी घंटियाँ टुनटुना रही थीं, जान पड़ता था बराती जा रहे हैं और उनके ऊपर खीलें बरसाई जा रही हैं। हम ४ बजे जोतपर पहुँचे। वहाँ बरफ़का खेत मालूम होता था। २ मील नीचे उतरनेपर सूरजदल झील मिली, आकारमें छोटी पर बहुत गहरी। हम थोड़ा ही आगे बढ़े, कि लोग अत्यन्त संत्रस्तसे दौड़ने लगे। यह बहुत खतरनाक जगह है। बग़लकी पहाड़ीसे हर वक्त छोटे-बड़े पत्थर गिरते रहते हैं। यदि मैं फ़ाह्यान और ह्वेनचाङके समय यात्रा करता होता, तो लिखता—इस पहाड़पर एक बहुत भारी दैत्य रहता है, वह हर वक्त पत्थर बरसाया करता है, और कितने ही आदमी और पशु बेचारे प्राणसे हाथ धोते हैं। मेरे सामने भी दो-चार छोटे-छोटे पत्थर गिरे।

पहिलेके गिरे हुए भी वहाँ मौजूद थे। मेरा घोड़ेवाला सुक्खू कह रहा था कि पत्थरके लगनेसे पिछले साल उनकी चायकी मोटरी गिर गई और पीछे आनेवाली खचरीकी तो टाँग झुल गई थी। बरफ़ इस वक्त बराबर पड़ रही थी। इस पहाड़से पत्थरोंके गिरनेका कारण है—मिट्टीका नाम नहीं है, लाखों बरसोंसे टूटकर अरबों छोटे-बड़े पत्थर जमा हैं, जो बरफ़के पिघलनेसे खिसकते और एक-दूसरेसे टकराते नीचेकी ओर गिरते हैं।

उतराई मुश्किल नहीं थी, कहीं-कहीं पैर फ़िसल रहा था। मैंने अपने घोड़ेको आगे बढ़ाया। ६८, ६७ मीलवाले पत्थरोंके बीच जीजीङबड़की सराय मिली। लोगोंने परसेव (दो-सम्) में आज रहनेकेलिए कहा था, मैं वहाँ सरायमें पहुँचा। सराय बहुत गन्दी थी। एक फुट लेंड़ी-गोबर भरा हुआ। १ घंटा प्रतीक्षा की, लेकिन वह डाकबँगलेके पासवाली सरायमें ठहरने वाले थे, इसलिए मैं भी वहाँ चला गया। सावनके महीनेमें यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसमें जाँस्कर, लदाख, तिब्बत, स्पिति, लाहुलके हज़ारों आदमी आते हैं; ऊन, नमक, भेड़बकरी तथा नीचेकी चीज़ोंकी ख़रीद-फरोख्त होती है।

अगले दिन २७ सितम्बर मैं ६½ बजे ही घोड़ेसे रवाना हो गया। ६३वें मीलसे ८७वें मीलके पास तक रास्ता उतराईका था और कहीं-कहीं वह बहुत कठिन था। इस जगह पहाड़ोंपर बाँसी-जैसी घास थी। नदीकी दूसरी ओर भोजपत्रके वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। अब हम भागानदीके किनारे-किनारे चल रहे थे। ६१वें मीलके पास पहिला देवदार दिखलाई पड़ा। लदाखके वृक्ष-बनस्पति-शून्य नंगे पहाड़ोंको साढ़े तीन महीनोंसे देखते-देखते आँखें हरियालीकेलिए तरस रही थीं। ८६वें मीलके बाद पहिला घर मिला। यह घर भी लदाखियों जैसा था। इस इलाक़ेको दारचा कहते हैं। सारे लाहुल-प्रदेशकी आबादी १०,१२ हज़ारसे ज्यादा नहीं, किन्तु यहाँ आधी दर्जन भाषाएँ बोली जाती हैं, और पोशाकमें भी एक दूसरेसे अन्तर है। दारचाकी औरतें लदाखी औरतोंकी भाँति ही फीरोज़ा-जटित नागफणवाला भूषण और कानोंपर ऊनी हाथी-कान लगाती हैं; हाँ उसके साथ-साथ नाकमें एक दुअन्नी भरकी लवंग भी, जो बतलाती है कि हम हिन्दुस्तानके पास पहुँच रहे हैं। आगे तीन नदियोंकी सम्मिलित धार आई। हम उसके दाहिने किनारेसे चलने लगे। अब देवदार काफ़ी दिखलाई पड़ रहे थे। रास्तेके नीचे बहुत दूर तक छोटे-बड़े पत्थर पड़े हुए थे। मालूम देता था, सचमुच ही सैकड़ों दैत्योंने हज़ारों वर्षोंसे पत्थर तोड़-तोड़कर यहाँ फेंका है। पीछे ठाकुर खुश-

हालचन्दने इस जगहका इतिहास बतलाया । वहाँ १०८ घरोंका एक बहुत अच्छा गाँव बसता था । एक दिन लोग किसी दावतमें भोजन करनेकेलिए इकट्ठा थे । सब लोग बैठ गए, उसी वक्त तिब्बतकी ओरसे एक बूढ़ा आया । पाँतीमें वह जहाँ भी बैठना चाहता, लोग हटो-हटो कह देते । एक लड़केने अपनी जगह बूढ़ेको दे दी । लोगोंने भोजन किया, शराव पी और नाचने लगे । इसी वक्त पत्थरोंकी वर्षा होने लगी । बूढ़ा तब-तक लापता हो गया था । सारा गाँव बरवाद हो गया । लड़केको हवा उड़ाके नदीपार ले गई, और उसकी सन्तान अब भी वहाँ लुम् पाचन गाँवमें बसती है । वहाँ एक बहुत ज़बर्दस्त भूत रहता है । ठाकुर खुशहालचन्द कह रहे थे, कि दिनमें भी उधरसे गुज़रना खतरेसे खाली नहीं है । मैं तो सोचने लगा था कि अकेले चलकर बड़ी गलती की । ठा० खुशहालचन्दने यह भी बतला दिया, कि हेमिसके लामाने २, ३ साल पहिले मंत्रसे उसे बाँध दिया है, तब मुझे बहुत सन्तोष हुआ । लेकिन इतनी बात सच मालूम होती है, कि पहिले वहाँ कोई गाँव था । १९३७ में जब मैं दूसरी बार लाहुल गया, तो सड़कके किनारे पत्थरोंको हटाकर देखा, वहाँ स्याहीसे भोजपत्रपर लिखे कुछ मंत्र मिले थे । संभव है, किसी वक्त इन पत्थरोंके हटानेमें ज्यादा परिश्रम किया जायगा और उस वक्त ध्वस्त गाँव कितनी ही ऐतिहासिक चीज़ोंको प्रदान करेगा । आगे पहाड़ोंपर और देवदारके जंगल बढ़ते गये, २,३ गाँवोंको पारकर हम कोलङ्में पहुँचे । यह कुल्लूसे ७९ मीलपर है । अभी ढाई बजा था, लेकिन हम ग्यमुर्के ठाकुर मंगलचन्दसे मिलना चाहते थे । मिस्टर शटलवर्थने एक लम्बे पत्रमें लाहुल-स्पिति, और जाँसकर-की पुरानी मूर्तियों और गुम्बाओंके बारेमें लिखा था और यह भी कहा था, कि आप ठाकुर मंगलचन्दसे ज़रूर मिलें, वह आपको बहुतसी पुरानी चीज़ोंका पता देंगे । मैं ठाकुर साहेबके घरमें गया । भीतर अँधेरा था, मैं चुपचाप कितनी देरतक खड़ा रहा । ठाकुरानी अपने मजदूरोंको खिला-पिला रही थीं, खुशहालचन्द कुल्लू हाई स्कूलमें ९वें दर्जेमें पढ़ रहे थे, वह भी वहाँ चुपचाप बैठे थे । देरतक खड़े रहनेके बाद वह मेरे पास आये । मैंने ठाकुर मंगलचन्दके बारेमें पूछा और शटलवर्थकी चिट्ठी दिखलाई । वह मुझे सबसे ऊपरके कमरेमें ले गये । कमरा अच्छा, साफ़ हवादार था । ठा० खुशहालचन्दने बतलाया कि ठाकुर साहेब केलङ् गये हैं, लेकिन आज लौट आयेंगे । रातको सोनेकेलिए चारपाई आ गई । खुशहालचन्दकी बीबी और एक नौकरानी मेरेलिए बिस्तरा बिछा रही थीं, और साथ-साथ हँसी-मज़ाक़ करती जा रही थीं । वह शुद्ध तिब्बती बोल रही थीं, मेरे समझनेमें तो कोई दिक़्क़त न थी,

किन्तु मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। मैं उस वक्त यह नहीं अनुमान कर सकता था, कि उनमें वह हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ तरुणी खुशहालचन्दकी बीबी है। खुशहालचन्द-को वह तीन अँगुलीसे उठा सकती थी। ऐसा अनमेल विवाह क्यों? लाहुलमें कोलङ्, खङ्सर् और गुनदलामें ठाकुरोंके तीन परिवार हैं। वह किसी समय अपने-अपने इलाक़ेके सामन्त राजा थे। और उनकी ब्याह-शादी अपने ही जैसे उच्च वंशोंमें हुआ करती थी। अब भी वह इन्हीं तीनों परिवारोंमें शादी करते हैं, इसलिए लड़के-लड़कियोंकी जोड़ी बैठाना उनके हाथमें नहीं। रातको देरसे ठाकुर मंगलचन्द आये। उन्होंने आकर मेरे आरामकेलिए पूछ-ताछ की।

अगले दिन (२८ सितम्बर) ठाकुर मंगलचन्दसे बात होती रही। उन्होंने बतलाया कि कोलङ्में तिब्बत सम्राट स्रोङ्-चनके वंशका कोई सामन्त शासन करता था। उस वक्त एक लड़की गद्दीपर थी। नीचेके पहाड़ोंसे नीला राणा नामक एक राजकुमार आया। उसने लड़कीसे ब्याह कर लिया। नीला राणा बहुत ज़ुल्म करता था, लोग उससे तंग आ गये थे। एक दिन उसने शिकार मारा। शिकार खड्डमें गिर गया। कोई उतरनेकेलिए तैयार नहीं था। नीलाराणा खुद उतरा, लेकिन रस्सेकी सहायता बिना ऊपर नहीं आ सकता था। उसके नौकर-चाकर नीलाको वहीं छोड़कर चले आये। कोलङ् ठाकुरवंश उसी लड़कीकी सन्तान है—माँकी तरफ़से तिब्बती और बापकी तरफ़से पहाड़ी राजपूत। मुझे पता लगा कि पासकी गुम्बामें एक बहुत सुन्दर चित्रपट है। गुम्बा ठाकुर साहेबके घरसे आधे मीलकी चढ़ाईपर थी। वह मुझे वहाँ ले गये। चित्रपट रेशमपर बना है, और बहुत सुन्दर है।

भोजन और थोड़ा विश्राम करके दो बजे मैं अपने घोड़ेपर केलङ्केलिए रवाना हुआ। रास्ता दस मीलका है, लेकिन मुझे कोई जल्दी नहीं थी; और तीन घंटे चलकर केलङ् (१०१०० फ़ीट) पहुँचे। घोड़ेवाले कल ही यहाँ पहुँच गये थे। केलङ् लाहुल्का शासनकेन्द्र है। लाहुल यह ल्ह-युल् (देवदेश) से बिगड़कर बना है, लेकिन यहाँवाले अपने प्रदेशको ह-श अथवा गर्ज़ा कहते हैं। लोग तिब्बती बौद्ध-धर्मको मानते हैं, और नाम प्रायः दो-दो रखते हैं, जैसे ठाकुर मंगलचन्दका तिब्बती नाम है टशी-दावा और उनके पुत्र खुशहालचन्दका कल्ज़ङ्-दावा। जिस वक्त पंजाबमें सिक्खोंका राज था, तो लाहुलने महाराजा रणजीतसिंहकी अधीनता स्वीकार की थी। लेकिन जैसे ही अंग्रेज़ कुल्लूतक पहुँचे, वैसे ही लाहुलके ठाकुरोंने अधीनता स्वीकार करते हुए अंग्रेज़ोंके पास भेंट भेजी। अंग्रेज़ोंने लाहुलपर हथियारका क़ानून

कभी नहीं लगाया, आज भी वहाँ बन्दूकपर लाइसेंस नहीं है। शायद हिन्दुस्तानमें कुर्ग और लाहुल दो ही ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ हथियारोंका क़ानून नहीं है। केलनमें तहसीलदारके भाई ठा० पृथ्वीचन्द मिले। यह ठाकुर मंगलसिंहके बड़े भाईके लड़के हैं। शुरु हीसे लाहुलकी तहसीलदारी कोलङ्के ठाकुर-खानदानमें चली आई। पृथ्वीचन्द एफ़० एस-सी०में फ़ेल हो गये। आजकल वह फ़ौजमें अफ़सर होनेकी कोशिश कर रहे थे।

अगले दिन (२९ सितम्बर) ठाकुर पृथ्वीचन्दके साथ घोड़ेपर चढ़कर मैं गुङरङ गया। लदाख (स्तोक्)की रानी इसी खानदानकी हैं। यहाँकी गुम्बामें सहस्रबाहु अवलोकितेश्वरकी मूर्त्ति है। उस वक्त वहाँ सेरा गुम्बाका एक ढोंगी-ढाबा ठहरा हुआ था। गुम्बाकी दीवारोंमें चित्र बने हुए हैं और लताके साथ कुछ मूर्त्तियाँ हैं, जिनमेंसे कुछ टूट गई हैं। यह मूर्त्तियाँ काफ़ी पुरानी हैं। कड़ी उतराई उतरकर हम भागाके किनारे आये, और पुलपार करके जो-लिङ् गये। यहाँ एक मन्दिरमें बुद्ध और देवताओंकी पुरानी काष्टमूर्त्तियाँ हैं। मन्दिरकी मरम्मत करने-की कोई परवाह नहीं करता। वर्षाके पानीसे मूर्त्तियोंको बहुत नुक़सान पहुँचा है। हम केलङ् लौट आये। यहाँ मोरावियन् मिशनका बहुत दिनोंसे काम हो रहा है, लेकिन लोगोंको ईसाई बनानेमें उसे बहुत कम सफलता हुई। पादरी अशबो बहुत भद्र पुरुष हैं, वह चाहते हैं कि केलङ्वाले सुशिक्षित बनें और सुखी रहें।

दो बजे हम आगेकेलिए रवाना हुए। नज़दीकका पुल टूट गया था, इसलिए कठिन चढ़ाई-उतराईके बाद हमें नीचेके पुलसे भागाको पार करना पड़ा। फारदङ् अगला गाँव था, यहाँ कपड़ा बुननेवाले बुशहरियोंके बहुतसे घर थे, पहाड़में खोदी कुछ मूर्त्तियाँ भी थीं। बाईं ओरके एक ऊँचे पहाड़पर गनधोलाकी गुम्बा है, इसे गुरू-घंटाल भी कहते हैं, और इसका सम्बन्ध सिद्धवज्रघंटापासे जोड़ा जाता है। यहीं नीचे चन्द्रा और भागा दोनों नदियोंका मेल होता है फिर वह चन्द्रभागा बन चम्बा रियासतकी ओर जाती हैं। अब हमारा रास्ता चन्द्राके दाहिने तटसे था। आगे ५८वें मीलपर हम गूंदला पहुँचे। गूंदलाके ठाकुर फ़तेहचन्दसे पृथ्वीचन्दकी बहन ब्याही है और फ़तेहचन्दकी बहन ख़ुशहालचन्दसे। यहाँके ठाकुरोंका मकान बहुत विचित्रसा है, ज्यादातर काठका है, और छः तल्लोंमें विभाजित है—दूरसे देखनेमें एक बड़ी आलमारीसा मालूम होता है। यद्यपि ठाकुर फ़तेहचन्द इस वक़्त कुल्लूके मेलेमें गये थे, लेकिन पृथ्वीचन्द हमारे साथ थे, कोई कष्ट नहीं हुआ। अमबा (फाफड़)के आटेका चीला, मक्खन और खट्टी दहीकी चटनी खानेमें बहुत

अच्छी लगी। तीसरे तल्लेपर मन्दिर है। मूर्तियोंमें प्रथम संस्थापक ठाकुरकी भी मूर्त्ति है, उसकी पोशाक मुग़लकालकी पगड़ी और चौवन्दी। तिब्बती भाषामें "कर्मशतक"का एक पुराना खंडित हस्तलेख देखा। यहाँ एक लचकदार खाँडा रखा हुआ है, जिसके बारेमें कहा जाता है कि यह तिब्बतमें मिला था, पहिले टूटा हुआ था, फिर जुड़ गया। संगमरमरकी एक जैनमूर्त्ति भी है, जो बुद्धके नामसे पूजी जा रही है। कुछ और भी तिब्बती हस्तलिखित ग्रंथ हैं।

ठाकुर पृथ्वीचन्दको यहींसे लौट जाना था, मुझे आज खोक्सर पहुँचना था। लेकिन बीचमें कुछ पुरानी मूर्त्तियोंका पता लगा था, इसलिए मुझे वहाँ भी जाना था। अगले दिन (३० सितम्बर) साढ़े आठ बजे रवाना हुआ। ५५वें मीलपर सुक्खू और उनके साथी ठहरे हुए थे, उन्होंने वहाँ घोड़ेको दाना खिलाया, फिर मैं सीसू गाँवकी ओर चला। वह रास्तेसे हटकर पहाड़के ऊपर था। किसी वक़्त लाहुलके सारे पहाड़ देवदारके वृक्षोंसे ढके रहे होंगे। लेकिन सैकड़ों वर्षोंसे लोगोंने वृक्षोंको बेदर्दीसे काटा है। फलतः जंगल बहुत कम रह गया है। कूटका रोज़गार जबसे चमका है, तबसे लोग और नये खेतोंके बनानेमें पिल पड़े हैं। कूट एक बहुत ही सुगन्धित जड़ है। उस वक़्त वह ५ रुपया बट्टी (१ बट्टी—३० छटाँक) बिकता था। कूट पहिले सिर्फ़ जांस्करके जंगलोंमें मिलता था। लाहुलवाले वहाँ कूट चुराने जाया करते थे। फिर उन्होंने यहाँ लगाकर देखा और अब वह बाक़ायदा कूटकी खेती करते हैं, और कूट सिर्फ़ कश्मीरकी इजारादारी नहीं रह गई। सीसूकी मूर्त्तियाँ मुझे उतनी पुरानी नहीं जँचीं। वहाँसे दो गाँव और आगे जानेपर मुझे वैद्य घास काटता हुआ मिला, जिसके पास कुछ पुरानी मूर्त्तियोंको बतलाया गया था। पीतलकी ललितासना मूर्त्ति वस्तुतः सुन्दर है, कहा जाता है वह बनारससे उड़कर आई है। दूसरी छोटीसी मूर्त्ति मुकुटधारी धर्मचक्र प्रवर्त्तन-मुद्रासन बुद्धकी है। इसकी पीठपर संस्कृतमें कुछ लिखा हुआ है। अक्षर १०वीं सदीके आसपासके मालूम होते हैं। वैद्य दूरतक मुझे पहुँचाने आया। बेरास्ता ही उतरकर चन्द्राके किनारे आना पड़ा। रास्तेकी कठिनाईकेलिए क्या पूछना? सूर्यास्तके समय खोक्सर पहुँचा। हमारे साथी पहिले हीसे डाकबँगलेके पास डेरा डाले हुए थे।

कुल्लूमें—कुल्लू ५३ मील रह गया था। अगले दिन (१ अक्टूबर) मैं ७ बजे सबेरे ही चल पड़ा। घोड़ेवाले अभी हुक़्क़ा-चिलममें लगे हुए थे। कुछ दूरतक तो मामूली चढ़ाई रही, फिर ३ मील ज़बर्दस्त चढ़ाई आ गई। आगे रटङ्-जोतका समतलसा मैदान मिला! उच्चतम स्थानसे ज़रासा आगे बढ़नेपर व्यास-

कुण्ड था। व्यास नदीका आरम्भ इसीसे होता है, ब्राह्मणोंने इसे छोटा-मोटा तीर्थ बना लिया और इसे व्यासमुनिका स्थान बतलाते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि व्यास नदीका नाम 'विपाश्' है। कुंडके पास एक खंडित मूर्त्ति है। आगे सिर्फ़ एक जगह थोड़ीसी बरफ़ मिली, जो फिसलाऊ भी थी। उतराईमें घोड़ेपर चढ़ना सवार और जानवर दोनोंकेलिए तकलीफ़की बात है। मैं लगाम पकड़े पैदल चल रहा था। सोचा लगाम छोड़ दें, घोड़ाको ऐसे ही ले चलें, लेकिन वह नीचेकी ओर चल पड़ा। खैर, दौड़कर किसी तरह उसे हाथमें किया। कितनी ही दूर जाकर फिर उतराई आई। लोगोंने बतलाया था कि वहाँ साँपोंकी मढ़ी है, सैकड़ों साँप पड़े रहते हैं, लोग मिठाई चढ़ाते हैं, और नाग भगवानको हाथ जोड़ते हैं। मैं भी नाग भगवानका दर्शन करना चाहता था, पर उस वक्त उनका पता नहीं था। नीचे एक पुल मिला। अब जगह अच्छी आ गई थी, इसलिए घोड़ेपर चढ़ गया। मैंने उसे तेज़ किया। कई बार व्यास नदीको आरपार करना पड़ा। सड़क रालाके डाक-बँगलेसे ही अच्छी मिल गई थी। रास्तेमें एक जगह लदाख़के सेब और साथके परोठे खाये। दो बजे मैं मनाली पहुँच गया। यह अच्छा ख़ासा बाज़ार है और पंजाबी दूकान-दार हर तरहकी चीज़ें बेचते हैं। पासमें देवदारोंका एक अच्छासा बाग़ है, जिसे जंगलके मुहकमेने लगाया है। सेवके बग़ीचे भी यहींसे शुरू हो जाते हैं, मोटर कुल्लू जानेकेलिए तैयार थी। कुल्लू यहाँसे २३ मील है। गोया आज मैं ३० मील घोड़ेसे आया। सवाल था, यहाँ रहकर सुक्खूका इन्तज़ार करें या आगे चले जायँ। मीरू दूकानदारसे सुक्खूकी जान-पहिचान थी। मैंने घोड़ेके खिलानेकेलिए चार आने पैसे दे दिये और कह दिया कि इसे सुक्खूको दे देना। सवा दो रुपया दे मोटरपर बैठा। कुल्लू तक सड़क काफ़ी चौड़ी नहीं है, इसलिए एक वक्त एक ही ओर लारी आती है और मनाली तथा कुल्लू दोनों ओरकी मोटरें कटराईमें मिलती हैं। यहाँ हरे-हरे दरख़्तोंसे ढँके पहाड़ दोनों तरफ़ हैं। सड़कके किनारे बग़ीचोंमें लाल-लाल सेब लटके हुए थे। शामको मैं कुल्लू पहुँच गया। लाला थेब्बड़मलके लड़के रुलियारामने लदाख़ हीमें पता बता दिया था, इसलिए मैं उनके घरपर पहुँचा। लाला थेब्बड़मलके देखनेसे मालूम होता था, कि कोई महाग़रीब है, लेकिन उन्होंने ख़ूब धन पैदा किया है। कुल्लूमें उनकी पाँच, छ दूकानें हैं। एक लड़का लदाख़का अच्छा सौदागर है, दूसरा यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान)में रोज़गार करता है। लाला थेब्बड़मल व्यापारी ही नहीं हैं बल्कि खुद ही अपने मकानोंके इंजीनियर हैं; किंतु आदमी सजग न रहे, तो दिनमें ज़रूर कोई न कोई अंग टूटके रहेगा।

आजकल कुल्लूमें दशहरेका मेला लगा हुआ था। मैं भी दूसरे दिन (२ अक्तूबर) मेला देखने गया। हर तरहकी चीज़ें तो बिकती ही हैं, लेकिन यहाँकी खास बात थी सारे पहाड़के ३६५ देवताओंका एकत्रित होना। मुझे संख्या तो पूरी नहीं मालूम होती थी, लेकिन देवता आये थे बहुत सजधजके। छोटी-छोटी डोलियाँ थीं, जिनके भीतर देवता कपड़ोंमें लपेटकर रखे थे। शायद वहाँ कपड़े और चाँदीके पत्तरपर बेढंगी तसवीरें खुदी हुई थीं। अपने-अपने देवताको लोगोंने अलग स्थान निवास-स्थानमें रखे थे। स्त्री-पुरुष शराब पी-पीकर ख़ूब मस्त थे, जगह-जगह नाच हो रहा था। स्त्रियोंकी नाकमें दुअन्नीभरकी गोल लवंग ज़रूर होती थी और किसी-किसीने तो नाकमें तीन-तीन छेद करवाये थे। तिब्बतकी स्त्रियोंने अभी इसे नहीं समझा है, कि नाकका सूँघनेके अलावा दूसरा भी इस्तेमाल हो सकता है। दूसरा मार्केका आभूषण था टिकली। पोशाक, पाजामा, कुर्त्ता और शिरपर रूमाल। किसी-किसीने कुर्तेके ऊपर जाकेट भी पहिन रखी थी। यहाँके स्त्री-पुरुष दोनों सिगरेटके शौक़ीन हैं। कुल्लूमें एक राजा भी रहता है, लेकिन अब वह जागीरदार भर था। उसका महल सुल्तानपुरमें है। टालपूर, सुल्तानपुरकी अपेक्षा अखाड़ा बाज़ारमें ज़्यादा बड़ी-बड़ी दूकानें हैं। दूसरे दिन (३ अक्तूबर) रावण जलाया गया, देवताओंको पाँच प्राणियों—मछली, मुर्ग़ी, मेष, भैंसा और सूअरकी बलि दी गई। कुल्लू सिर्फ़ सेब हीकेलिए मशहूर नहीं है, बल्कि इधर पहाड़की एक बड़ी मंडी है। तिब्बतका ऊन यहाँ आता है। हमारे साथ चीनी तुर्किस्तानके चरसको ढो-ढोकर ला रहे थे और यहींसे वह सारे हिन्दुस्तानमें जाती है।

४ अक्तूबरको मेलेकी तरफ़ गये, मालूम हुआ, घोड़ेवाले कल ही यहाँ पहुँच गये। सामान काफ़ी था, सबको अपने साथ ले जाना जहमत समझ मैंने यहींसे रेलवे एजेन्सीको देकर पटनाकेलिए बिल्टी करा दिया। लाला थेब्बड़मल खाने-पीनेमें कंजूस नहीं थे। उनके यहाँ मांस पकता था और कुल्लूके झीवर (कहार) व्यासकी मछलियोंको पकाकर बेचते थे। वह स्वादिष्ट थीं।

५ अक्तूबरको सबेरे ही उठकर हाथ-मुँह धो नाश्ता किया। मोटर साढ़े ६ बजेसे आकर मेलेके मैदानमें ठहरी रही। फिर ८ बजे डाक लेकर वहाँसे रवाना हुई। रास्तेमें गद्दियोंकी भेड़ें मिलती थीं, और उनके हटनेमें देर होती थीं। अब हमें गरमी मालूम हो रही थी। ११ बजे मंडी पहुँचे, यहीं मध्याह्न-भोजन किया। १२ बजे फिर लॉरी चली। थोड़ा ही आगे व्यासका पुल पार करना पड़ा। पुलवालेने एक पैसा महसूल लिया। कुछ देर चलकर फिर हमें पहाड़ोंपर ऊपर ऊपर चढ़ना

पड़ा। एक जगह और रियासतको ६ आना कर देना पड़ा। ४ बजे हम योगेन्द्रनगर पहुँच गये। आर्यसमाजमें ही गुज़ारा हो सकता था, क्योंकि सनातनधर्ममन्दिरवाले शायद हमारे भक्ष्याभक्ष्यसे सन्तुष्ट न होते।

६ अक्तूबरको ९ बजे सबेरे हमारी गाड़ी रवाना हुई। बैजनाथमन्दिर आनेपर बहुत गरमी मालूम होने लगी। मैंने समझा था, अक्तूबरमें गर्मी ख़तम हो जायेगी। गाड़ीमें भीड़ नहीं थी। ज्वालामुखी-रोड स्टेशनको पार किया, देवीका दर्शन नहीं कर सके, इसकेलिए अफ़सोस रहा। एक सज्जन ज्ञानयोग, कर्मयोगपर बात करते रहे। अन्तमें उन्हें मालूम हुआ कि मैं नास्तिक हूँ, तो कुछ उन्हें आश्चर्य हुआ। साढ़े ५ बजे पठानकोट पहुँचे। छोटी लाइन ख़तम हो गई, और बड़ी लाइनकी गाड़ी ६ बजे रवाना हुई। अमृतसरमें गाड़ी बदलनेकी ज़रूरत नहीं पड़ी। मैं साढ़े दश बजे रातको लाहौर पहुँच गया।

लाहौरमें (७-११ अक्तूबर १९३३ ई०)—लाहौरसे मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध है, लेकिन पुराने सम्बन्धवाले स्थानोंमें सालों बाद जब आदमी जाता है, तो कितने ही परिचित चेहरोंको सदाकेलिए विलुप्त हो गया देखता है, जिससे दिलपर हलकीसी टीस लगती है। यह प्रसन्नताकी बात थी, कि एक पुराने मित्र पं० सन्तराम वहाँ मौजूद थे। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप तो कल स्टेशनपर लेने गये थे, किन्तु मैं वहाँसे चला आया था। वह कहाँ छोड़नेवाले थे, इसलिए उनके घरपर चला जाना पड़ा। लाहौरमें मुझे एक विशेष कार्यकेलिए प्रयत्न करना था, वह था पंजाब-विश्वविद्यालयमें तिब्बती भाषाको भी परीक्षाकेलिए स्वीकार कराना। डाक्टर वुलनर उस वक़्त विश्वविद्यालयके वाइस-चान्सलर थे। उन्होंने इस विषयमें बड़ी दिलचस्पी दिखाई और कहा कि यदि कश्मीर-सरकारका शिक्षाविभाग सिफ़ारिश कर दे, तो हमारे काममें आसानी हो जायेगी। कश्मीरके शिक्षाविभागसे आशा नहीं थी और वह बात वहींकी वहीं पड़ी रही।

यद्यपि अक्तूबरका प्रथम सप्ताह बीत चुका था, किन्तु मुझे यहाँ गर्मी मालूम हो रही थी। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूपने अपना जीवन निरुक्तके लिए दे दिया था। अपने सामने मैंने उन्हें नवतरुण देखा था, जब कि मैं पहले-पहल लाहौर गया था, किन्तु अब वह शरीर और मन दोनोंसे बूढ़े हो गये थे। मालूम होता था कि अब वह अपनेको जीवनके अन्तिम छोरपर समझ रहे हैं। प्रोफ़ेसर सिल्व्याँ लेवीका पत्र लेकर कुमारी लाजवंती रामकृष्णा कश्मीर गई थीं, किन्तु तबतक मैं लदाख़ चला गया था। वहाँ डाकसे उनका पत्र मिला। मैंने लाहौर आनेपर उनको सूचित कर दिया

था। उनके पत्रके उत्तरमें डाक्टर साहबने बड़ी नम्रताके साथ लिख दिया था कि मैं उनके यहाँ ठहरा हूँ, यदि इच्छा हो (If she Cares) तो अमुक समय मिल सकती है। 'इच्छा हो'केलिए डाक्टर साहबने जिस शब्दका प्रयोग किया था, उसका अंग्रेज़ीसे अक्षरशः अनुवाद करनेपर अर्थ निकलता था 'यदि ग़रज़ हो'। इसपर लाजवंतीजी बहुत नाराज़ हो गईं। मुझे और डाक्टर साहबको बहुत सफ़ाई देनी पड़ी। डिक्शनरियाँ खोलकर भी हम दिखानेको तैयार थे, किन्तु उधर 'तिरियाहठ' था। लाजवंतीजीने मीठी-मीठी चाय पिलाई। मुझपर तो वह रंज नहीं थीं, किन्तु मालूम नहीं, डाक्टर साहबको उन्होंने क्षमा किया या नहीं? डाक्टर साहब होम्योपैथिक डिब्बा भी रखते थे। मैंने पूछा यह क्यों? उत्तर मिला—सचमुच राजी-खुशीसे नहीं ठोंक-पीटकर वैद्य बनाया गया हूँ। पहाड़पर जाया करता था। लोग डाक्टर सुनकर दवाई लेने चले आया करते थे। यह डाक्टर नहीं वह—इसके बारेमें कौन माथा-पच्ची करे, मैंने होम्योपैथीका डिब्बा मँगा लिया और जो आता उसे दवा देता था। यह अच्छी तरह जानता ही था, कि होम्योपैथीकी गोलियाँ नुकसान नहीं करतीं। "और फ़ायदा भी रामभरोसे ही होता है"—मैंने हँसते हुए कहा।

लाहौरमें कुछ व्याख्यान भी देने पड़े। लाहौर अब १८ साल पहलेवाला लाहौर नहीं था। अभी वह वहाँ नहीं पहुँचा था, जहाँ कि वह उजड़नेके समय पहुँचा था, किन्तु यहाँका शिक्षित मध्यम-वर्ग यूरोपके आधे मार्गसे ही यूरोपकी भूमिपर पहुँच गया था। रमणियाँ पेरिसकी अप्सराओंका कान काट रही थीं। लाहौरकी जन-संख्या भी तेजीसे बढ़ती जा रही थी। शिक्षा ही लोगोंको गाँवोंकी तरफ़से नगरोंकी तरफ़ फेंकती है। यहाँ तो हिन्दुओंको शहरोंकी तरफ़ भागनेकेलिए मजबूरियाँ भी पैदा हो गई थीं। उस समय वह लाहौरको अलकापुरी बनानेमें लगे हुए थे, किन्तु तब उनको क्या पता था—"सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बनजारा"।

११ अक्तूबरको अपने दो मित्रों पं० सन्तरामजी और पं० भूमानन्दजीके साथ स्वामी सत्यानन्दजीसे मिलने अमृतधारा गये। आर्यसमाजके ये बड़े प्रसिद्ध वृद्ध संन्यासी थे। जैनसाधुसे वह आर्यसमाजी बने थे। उनके मधुर व्याख्यानोंकी बड़ी धूम रहती थी। मैंने मुसाफिर विद्यालयके ज़मानेमें आगरेमें उनके दर्शन किए थे। लाहौरमें जब पहले पहल आया, उस वक़्त उन्होंने मेरी सहायता की थी। उन दिनों आर्यसमाजी प्रचारक बननेकी मुझमें धुन थी। अब मैं नास्तिक हो गया था। ईश्वरके अभावका मुझे चौबीसों घंटे साक्षात्कार होता था और उधर स्वामी सत्यानन्दजी भगवानका दर्शन कर चुके थे। अजब विरोधि-समागम था। उनका स्वभाव भी मधुर है और

मैं भी बात करनेमें उत्तेजित नहीं होता। मैंने चर्चा चलनेपर अपनी नास्तिकताके बारेमें स्पष्ट कहा। वह आँखें मूँदे ध्यानावस्थित हो बातें कर रहे थे, ईश्वरदर्शनकी भी बातें करते जा रहे थे।

११ अक्तूबरको मैं लाहौरसे पूरबकी ओर चला।

जाड़ेके दिन

अबकी लदाख-निवासमें मैंने 'मज्झिमनिकाय'का पालीसे हिन्दीमें अनुवाद किया था। उसका दिसम्बरतक छप जाना भी अनिवार्य था; इसलिए प्रयागमें रहनेकी आवश्यकता थी; क्योंकि वहीं लॉ जर्नल प्रेसमें पुस्तक दी जानेवाली थी। लेकिन, बीचमें जहाँ-तहाँ मित्रोंके आग्रहको पूर्ण करना भी आवश्यक था।

बनारस-सारनाथ—हमारी गाड़ी लाहौरसे फ़ैज़ाबाद होती सीधे बनारस पहुँची। यहाँके मित्र सभी बाहर गये हुए थे। १३ अक्तूबरको भाई साहब मौलवी महेशप्रसादसे मिलने नगवा गया। अब बड़े परिवारके स्वामी थे, लेकिन आर्यसमाज-की लगन अब भी उनमें बनी हुई थी। १४ ता०को सारनाथ गये। अनागारिक धर्मपालके देहान्त हो जानेके बाद अभी महाबोधी सभाके खर्चका अधिकार मंत्रीको मिला नहीं था, इसलिए 'मज्झिमनिकाय'के अनुवादके छापनेका निश्चय नहीं हो सका। विसेसरगंजमें पुराने मित्र राजवैद्य मुरारीलालजी मिले। उनको वैद्य बनानेमें मेरा भी कुछ हाथ था। मैंने ही आर्यसमाजकी उपदेशकी छोड़ वैद्यक पढ़नेकेलिए कहा था, लेकिन उनकी वैद्यक कुछ चल नहीं रही थी। हाँ, वेदान्तकी बीमारी अभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ रही थी।

पटना—१४ ता०को ही मैं पटना पहुँच गया। तीन बजे रातको कौन नौकरों-को परेशान करे, मैं जायसवालजीकी कोठीके बरामदेमें कुर्सीपर ही लेट रहा। सबेरे जायसवालजीने देखा और दोनों गंगाजी स्नान करने गये—वह गंगास्नानके बड़े पक्षपाती थे और कहते थे इससे जुकाम कभी नहीं होता। गंगाजल अब भी रजस्वल था, इसलिए नहानेमें मुझे तो आनन्द नहीं आया, मालूम हुआ अबकी सालकी अति-वृष्टिसे लदाख हीमें घर नहीं गिरे बल्कि इधर भी अच्छे-अच्छे घर चूने लगे थे।

"मंजुश्रीमूलकल्प"को देखते वक्त मुझे उसके कुछ अध्याय ऐतिहासिक महत्त्वके मालूम हुए। मैंने इसकी चर्चा जायसवालजीसे की। वह अबकी गर्मियोंमें उसपर भिड़ गये और उन्होंने उसके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण लेख लिख डाला। मैंने जब उसके हस्तलेखको सका, तो मुँहसे निकल आया—जायसवालजी जादूगर हैं, कहाँसे इतनी

बातें निकाल लेते हैं। सचमुच ही उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी। अफ़सोस यही रहता कि जीवनके बहुमूल्य समयको वह अपने योग्य काममें नहीं लगा सके।

छपराके मेरे राजनीतिक सहकर्मी अब भी जबतब मिलते और कभी-कभी कार्यक्षेत्रमें आनेकेलिए जोर भी देते थे। किन्तु जान पड़ता है मैं प्रकृत्या राजनीतिकेलिए नहीं बनाया गया। १६ अक्तूबरको मैंने दैनन्दिनीमें लिखा भी था—(१) "अत्यन्त आदर्शवाद, पुराने साथियोंके विरोधपर पश्चात्तापका प्राबल्य; (२) इतिहासकी खोजकी ओर उत्कटरुचि" . . . . । मेरे राजनैतिक सहकारी जैसी बयार बहती थी, वैसे बन जाते थे—कहीं जाति-पाँतिकी भावनाके सहारे काम निकालना चाहते थे और कभी निजी स्वार्थके फेरमें पड़ जाते थे। मैं इस पैंतरेबाजीमें कितनीबार अकेला रह जाता था। दूसरी ओर विद्यासंबंधी कार्योंका आकर्षण था ही। तो भी वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक विधानसे मैं सन्तुष्ट नहीं था, इसीलिए समय-समयपर मैं अपनेको क़ाबूमें नहीं रख पाता था। उस वक़्त छपरामें कोई चुनावकी धूम थी।

भागलपुर—भागलपुरमें बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन था, जिसके सभापति जायसवालजी निर्वाचित हुए थे। २० अक्तूबरको जायसवालजीके साथ भागलपुरकेलिए रवाना हो गया। उसी दिन श्री बलदेवचौबे (वर्तमान स्वामी सत्यानन्द) की चिट्ठी मिली। उन्होंने अन्तिम परीक्षासे तीन महीने पहिले बी० ए० की पढ़ाईसे असहयोग करना चाहा था, उस समय मैंने उन्हें रोकना चाहा था; किन्तु वे रुके नहीं, अब लोकसेवकसमितिकी सदस्यतासे इस्तीफ़ा देने जारहे थे। मैंने परिवारका विचार करके वैसा न करनेकेलिए कहा, लेकिन वे माननेको तैयार नहीं थे। खैर, आदमी या परिवार हरएक परिस्थितिमें कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं। और मैं तो चौबेजीके परिवारकी जीवन-यात्राका काफ़ी श्रेय बहन महादेवीजीको दूँगा। उन्होंने अध्यापकी करके लड़के-लड़कियोंकी पढ़ाईको संभाला, नहीं तो चौबेजी आरंभ हीसे घरफूँकू थे। घुमक्कड़ होते हुए घरफूँकूकी चिन्ता मुझे क्यों होने लगी, यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु मेरी चिन्ता चौबेजीकेलिए नहीं थी।

भागलपुरमें हम श्री देवीप्रसाद ढंढनियाँके यहाँ ठहरे, जायसवालजीके कारण ही समझिए, नहीं तो मुझे वहाँ ठहरनेकी आवश्यकता नहीं थी। ढंढनियाँजीका मकान खूब साफ़-सुथरा था, कमरे सजे हुए थे। कितनी ही कलासम्बन्धी वस्तुओंका भी उन्होंने संग्रह किया था। लेकिन मैंने टिप्पणी लिखी थी—

"जिनके परिश्रमके बलपर यह सब उपजता है, उनकी क्या अवस्था है ?"

अगले दिन (२१ अक्तूबर) हम सुलतानगंज गये। गढ़पर एकाध मूर्तिखंड नये देखनेमें

१४

आए। नावसे हम गंगाके भीतर अजगैबीनाथ देखने गये। जिस शिलाका यह टापू है, उसपर बहुतसी मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जायसवालजी भी सहमत थे, कि वे गुप्तकालकी हैं। गुप्तकाल अर्थात् विक्रमादित्यकाल, फिर यह शिला विक्रमशिला कही जा सकती है। तो भी सुलतानगंज विक्रमशिला है यह निस्संकोच नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विक्रमशिला जैसे महाविहारका ध्वंसावशेष यहाँ दीख नहीं पड़ता।

सवा बजेसे साहित्य-सम्मेलनका आरंभ हुआ। बनैलीके कुमार रामानन्दसिंह स्वागताध्यक्ष बनाये गये थे, लेकिन उन्हें आनेकी फुर्सत नहीं थी! जायसवालजीका भाषण विद्वत्तापूर्ण रहा। शामको गृहपतिके भतीजे हमें अपना सुन्दर वन दिखलानेको ले गये। वहाँ ८० बीघेमें एक विशाल बाग था। एक बड़ी साफ़-सुथरी मिट्टीकी भीत जैसी सीमेंटकी कुटिया भी थी। गृहपतिका बहुत आग्रह था, कि मैं जब-तब यहाँ आकर उनके आतिथ्यको स्वीकार करूँ। किन्तु मेरे पैरमें तो चक्कर है।

सम्मेलनकी दूसरे दिनकी बैठकमें प्रवाहके विरुद्ध मैंने कचहरियोंमें रोमन लिपिके पक्षमें बोलना चाहा। चारों ओरसे घोर विरोध हुआ और कहा गया कि चूँकि मैं सदस्य नहीं हूँ इसलिए मुझे बोलनेका अधिकार नहीं। किन्तु, जायसवालजीके कहनेपर लोग मेरी बात सुननेकेलिए तैयार हो गये। उस वक्त सरकार अंग्रेज़ोंके इशारेपर उर्दू लिपिको भी बिहारकी कचहरियोंमें घुसेड़ना चाहती थी। मैंने यही कहा, कि यदि रोमन अक्षर स्वीकार करते हैं, तो उर्दूसे पिंड छूटता है, नहीं तो उर्दू भी सबको अवश्य पढ़ना पड़ेगा। कचहरियोंके बाहर हमारा सब काम-काज हिन्दी नागरीमें होना चाहिए।

भागलपुर जानेके अवसरपर एक और काम हो गया। मैंने अपनी यात्राओं और यात्रा-सम्बन्धी लेखोंके लिखनेसे अनुभव किया था, कि घुमक्कड़के पास फ़ोटोका केमरा अवश्य होना चाहिए। मैं अपने साथ लदाख एक केमरा ले गया था, किन्तु वह उतना अच्छा नहीं जँचा। लाहौरमें एक दूकानपर रोले-फ़्लैक्सको देखा। था पुराने माडलका इसलिए १७० रु०में मिल रहा था, किन्तु उस वक्त तो यह रक़म भी मेरेलिए बहुत थी। सुलतानगंजसे निकलनेवाली 'गंगा'में मैंने बहुतसे निःशुल्क लेख दिये थे। अब मैंने कहा—आगे लेख तभी मिलेंगे, यदि केमरा मिल जाय। 'गंगा'वालोंने रुपया मनीआर्डर कर दिया और केमरा कुछ समय बाद मेरे पास चला आया। तबसे ११ सालतक वह केमरा मेरे साथ देश-विदेश घूमता रहा, मैंने उससे हज़ारों फ़ोटो लिये। १९४४ ई०में रूस जाते वक्त साथ ले जानेकी आज्ञा न होनेके कारण क्वेटामें एक सज्जनके पास रख दिया और वह सदाकेलिए बिछुड़ गया।

प्रयाग—पहली नवम्बरको मैं सारनाथमें था। 'मज्झिमनिकाय'के छपवानेकी बड़ी चिन्ता थी। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जब महाबोधिसभाके मंत्री देवप्रियजीने उसका छपवाना स्वीकार कर लिया और लॉ जर्नल प्रेसकेलिए ५०० रुपयेका चेक भी दे दिया। मैं अगले ही दिन प्रयाग पहुँचा। लेकिन अभी छपाईके कामके पहले एक और बला सामने आई। भागलपुरसे ही पैरके अँगूठेमें दर्द होने लगा था, जो दिन-दिन बढ़ता ही गया और एक समय तो मालूम होने लगा कि शायद आपरेशन कराना पड़ेगा। डाक्टर धोते रहे, दवाई देते रहे, किन्तु कोई लाभ नहीं। रातको नींद हराम हो गई थी। मैं तो अँगूठेसे वंचित होनेकेलिए भी तैयार था। शायद यह पीड़ा काफ़ी दिनोंतक रही। मैं समझता था कि फोड़ा भीतर ही भीतर पक रहा है। किन्तु अँगूठा फूला भी नहीं था। काफ़ी दिनों बाद पता लगा, कि रबड़के जूतेके कारण, नंगे अँगूठेपर रबड़की रगड़ ही इस दर्दका कारण थी। मैंने जूता हटा दिया और एक-दो दिनमें पैर बिल्कुल ठीक हो गया।

लॉ जर्नल प्रेसको पुस्तक ३ नवम्बरको सौंप दी। पं० कृष्णप्रसाद दरने कहा कि बड़ौदा जानेतक पुस्तक छपकर तैयार हो जायेगी। पौने दो महीनेमें अस्सी फ़रमेकी किताब छापना आसान काम नहीं था और उस समय अभी लॉ जर्नल प्रेसमें मोनोटाइप मशीन भी नहीं थी। हिसाब लगानेसे मालूम हुआ कि १५०० प्रतियों पर क़रीब २७०० रुपये खर्च होंगे।

श्री वाङ्मोलमको मैं युरोप जाते सिंहलमें छोड़ गया था। उनपर यक्ष्माका आक्रमण हुआ। एक बार कुछ महीने कनक-शान्तुरेके स्वास्थ्य आश्रममें होकर लौट भी आये थे, किन्तु फिर पुराने लक्षण प्रकट होने लगे और उन्हें लौट जाना पड़ा। सिलोनसे ८ नवम्बरको चिट्ठी मिली, जिसमें वाङ्मोलमके देहान्तकी सूचना थी। आगे यह भी पता लगा, कि वाङ् महाशयने समुद्रमें कूदकर आत्महत्या की थी। वह जीवनसे निराश थे, घुल-घुलकर जीनेकेलिए तैयार नहीं थे और इस तरह उन्होंने छुटकारा पा लिया। किन्तु उनके मित्रोंको तो जीवनभर उनकी स्मृति अपने पास रखनी होगी, जब-तब उस आदर्शवादी हृदय और उसकी सौम्यमूर्तिका ध्यान करना होगा। हाँ, यह ध्यान एक ही पीढ़ीतक रहेगा। अगली पीढ़ी क्या जानती है, कि चीनमें एक आदर्शवादी तरुण था, उसने अपना जीवन बुद्धके सन्देशको फैलानेमें अर्पण किया, फिर बुद्धके देश और उनके व्यक्तित्वसे अधिक घनिष्टता प्राप्त करनेकेलिए वह भारतके पास सिंहलमें आया। वहाँ कितनी सादगी और बालसुलभ स्वभावसे वह रहता रहा और अन्तमें इस प्रकार अपने जीवनका अन्त किया।

सारनाथ—सारनाथका वार्षिकोत्सव आया। ८से १६ नवम्बरतक मुझे वहाँ रहना पड़ा। सारनाथ लोगोंको अधिक और अधिक आकर्षित कर रहा था। उस साल ४००से अधिक यात्री चटगाँवसे आये थे। १० नवम्बरको बनारसमें मैंने भाषण दिया, वहीं एक आदमी मेरे पास आकर खड़ा हुआ। मैंने पूछा कि तुम कहाँ रहते हो? जवाब मिला—बनारस। मुझे उस समय यह नहीं मालूम हुआ, कि वह मेरा द्वितीय सहोदर रामधारी है। पीछे जब स्मृति ताजी हुई, तो मुझे दुख हुआ, वह अपने मनमें न जाने क्या समझेगा। लेकिन पचीस-पचीस साल बादतक स्मृति कैसे ताज़ी रह सकती थी।

११ नवम्बरको सारनाथमें बौद्धोंकी सभा थी। जापानी प्रोफ़ेसर व्योदो भी उसमें बोले थे, मैं तो सभाका सभापति ही था। वक्ताओंमें पं० जवाहरलाल भी थे, उन्होंने बुद्धके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट की थी। पेनांग (मलाया)के भिक्षु गुणरत्नने अपने यहाँ आनेका आग्रह किया, किन्तु उसे मैं दो साल बाद पूरा कर सका। उसी समय श्री व्योदोके यहाँ भी अतिथि बननेका सौभाग्य मिला।

मैं प्राच्य सम्मेलन (Oriental Conference) बड़ौदाके हिन्दी-विभागका अध्यक्ष चुना गया था। उसकेलिए भाषण लिखना आवश्यक था, किन्तु मेरा लिखनेका मन नहीं करता था। बेमनका लिखना मेरेलिए बड़ा भार होता है। वस्तुतः उसे भाषण देनेके एक दिन पहिले बड़ौदा जाकर पूरा कर सका।

फिर प्रयागमें—मैंने सोचा था कि सारनाथ रहकर प्रूफ़ देख लूँगा; किन्तु तजर्बेने बतलाया, कि लग्गीसे पानी नहीं पिलाया जा सकता। इसलिए १९ नवम्बरको प्रयाग चला आया। उदयनारायण तिवारी (अभी वह डाक्टर नहीं हुए थे) उस वक्त दारागंजकी एक सकरी गलीके भीतर रहते थे, वहीं १९ नवम्बरसे प्रायः एक महीनेकेलिए मैंने डेरा डाल दिया। प्रूफ़का काम बड़े ज़ोरसे चला। कभी-कभी तो रातके ढाई-तीन बज जाते थे। अन्तमें तो एक दिन (१७ दिसम्बर) प्रेसमें जाकर डेरा डालना पड़ा। वहाँ सबेरे आठ बजेसे रातके आठ बजेतक प्रूफ़ देखनेका काम हुआ। १८ दिसम्बरको 'मज्झिमनिकाय'की छपाई समाप्त हो गई। मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

प्रयागसे मेरा यह प्रथम परिचय हो रहा था। उस समय मुझे क्या मालूम था, कि प्रयागमें घर-द्वार न होते भी वह मेरा घर-सा बन जायेगा और वहाँ बहुतसे हितमित्र, बन्धुबान्धव तैयार हो जायेंगे। डा० बद्रीनाथप्रसाद और डा० उदयनारायण तिवारी तो आरंभिक दिन हीसे मेरे मित्र बन गये। यह मित्रता धीरे-

धीरे और अधिक आत्मीयतामें परिणत हो गई। २६ नवम्बरको म्युनिसिपल म्यूजियम देखनेका अवसर मिला। दो ही साल पहले पं० ब्रजमोहन व्यासने संग्रहके कामको शुरू किया था और केवल आन्तरिक भक्तिसे प्रेरित होकर। वहाँ भारशिव कालकी मूर्तियाँ और कितने ही लेख संग्रहीत थे। दो शिलालेख महाराज भद्रमाघके थे। व्यासजीने कितने ही चित्र और हजारों हस्तलिखित ग्रंथ भी जमा कर लिये थे। व्यासजीको पुरानी वस्तुओंके संग्रहका नशा है। जबतक नशा न हो, तबतक कोई आदमी असाधारण काम नहीं कर सकता। अल्पसाधन या असाधन आदमी भी धुनमें लग जानेपर क्या कर सकता है, इसका उदाहरण यह म्यूजियम है। दशाब्दियाँ बीतते-बीतते शताब्दीका रूप ले लेंगी, तब तक यह संग्रहालय भी एक विशाल संग्रहालयका रूप ले लेगा। उस समय प्रयागके ही नहीं बाहरके भी इतिहासप्रेमी पं० ब्रजमोहन व्यासका नाम बड़े आदरसे लेंगे। कितने ही लोगोंने पुरातत्व-सामग्रीके संग्रहका शौक़ किया, काफ़ी सिक्के और मूर्त्तियाँ भी जमा कीं, वह व्यापारकेलिए भी यह काम नहीं करते रहे, किन्तु उनके देहान्तके बाद संग्रहीत निधि तितर-बितर हो गई। हर बातमें पुत्र पिताका उत्तराधिकारी नहीं हुआ करता, इसीलिए अग्रसोचीको व्यास-पथका अनुसरण करना चाहिए। और वस्तुओंके संग्रहमें व्यासजीने जो-जो पथ स्वीकार किए, जैसे-जैसे मूजियोंके पेटमेंसे अनमोल सामग्रीको निकाल लाए, यदि उन बातोंको उल्लेखबद्ध कर दें, तो वह अत्यन्त मनोरंजक ही नहीं बल्कि भविष्यके संग्राहकोंकेलिए बड़े लाभकी चीज़ होगी।

लदाखमें रहते 'मज्झिमनिकाय'के अनुवादके अतिरिक्त मैंने जो तिब्बती प्राइमर, तिब्बती पाठावलियाँ और तिब्बती व्याकरण लिखे थे, उनके छपानेकी भी फिक्रमें था; किन्तु उस समय केवल प्राइमरके छपनेका प्रबन्ध हो सका, व्याकरण अगले साल निकला। "तिब्बतमें बौद्धधर्म" भी उसी वक्त लिखा गया था। हिन्दुस्तानी एकेडमीकी पत्रिकाने सौ रुपया देकर उसे छापना स्वीकार किया। उस जाड़ेमें चालीस रुपये जायसवालजी और चालीस रुपये महाबोधिसभासे भी मिले थे। यह था संबल जिसके बलपर घुमक्कड़ी नहीं की जा सकती, किन्तु तो भी देनेवालोंकेलिए कृतज्ञता तो प्रकट करनी ही होगी।

४ दिसंबरको मैं उस कल्पनाको सोच रहा था, जो आगे चलकर "वोल्गासे गंगा"के रूपमें प्रकट हुई। चाहता था कि शिकारी जीवनसे लेकर ईस्वी १२वीं शताब्दीतककी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जायँ। कहानियाँ १०से अधिक न हों और प्रत्येक ४० पृष्ठसे अधिक न हों। किन्तु यह कल्पना ९ साल बाद हजारीबाग-जेलमें कागजपर उतरी।

६ दिसंबरको पुस्तक-प्रेमी-चक्करवालोंके चक्करमें पड़ गया और उनकी बैठकमें जाना पड़ा। बैठक तेजबहादुर सप्रूके भवनमें थी, जिसमें हाईकोर्टके दो जज बाजपेयी और नियामतुल्ला तथा दो अंग्रेज सज्जन भी आए थे। मैंने तिब्बत-यात्रापर कुछ कहा। वहाँवालोंमें सप्रूका दिमाग तो बिल्कुल बूढ़ा मालूम होता था। वह यूरोप और जर्मनी होकर उसी समय लौटे थे। बोल्शेविकोंकी निंदा और हिटलरकी तारीफ़ बड़ी गंभीरताके साथ कर रहे थे। नियामतुल्लाके दिमागमें कुछ अधिक ताजगी मालूम होती थी। दो घंटे वहाँ देने पड़े, जो उस समय बड़े मूल्यवान थे, किन्तु तो भी समाजकी नाकको नजदीकसे देखनेका मौक़ा मिला—वहाँ यद्यपि सिर्फ़ लिफ़ाफ़ा और ढोलके अन्दर पोल थी, किन्तु मेरेलिए वह अनुभव बेकार नहीं हो सकता था।

पटनासे ही भिक्षु धर्मकीर्ति मेरे साथ हो लिये थे। धर्मकीर्ति बइकालके पास बुरियत मंगोलियाके रहनेवाले मेरी प्रथम तिब्बत-यात्राके साथी थे। वह दार्जिलिंगमें आए हुए थे। मेरे पत्र लिखनेपर चले आए थे। यहाँ आनेपर उनकी तबियत खराब हो गई और मैंने बनारसमें रामकृष्ण मिशन अस्पतालमें आपरेशनकेलिए रख दिया। १० दिसंबरको उनका आपरेशन हुआ। चौथे दिन पता पाकर मैं वहाँ गया। देखा, वह अच्छी हालतमें हैं। उनका घाव पूरा नहीं हुआ था कि जनवरीमें भूकंप आया, धर्मकीर्ति मकानको हिलते देखकर उस अवस्थामें भी निकलकर बाहर हो गए थे।

बड़ौदाकी यात्रा

२० दिसंबरको प्रयागसे बड़ौदाकेलिए चलना पड़ा, किन्तु सभापतिका भाषण अब भी तैयार नहीं हो पाया था। हाँ, मुझे बड़ा सन्तोष था, कि मैं अपने साथ 'मज्झिमनिकाय'की १२ हिन्दी प्रतियाँ विद्वानोंको भेंट करनेकेलिए ले चल रहा हूँ। प्रयागसे पं० जयचन्द्र विद्यालंकार भी साथ चल रहे थे। रेल-यात्राके बारेमें हम दोनोंके सिद्धान्तोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। मैं ट्रेनके समयसे आधा घंटा पहिले स्टेशन पहुँचनेका पक्षपाती हूँ और विद्यालंकारजी एक सेकेंड भी आगे पहुँचनेको समयका भारी अपव्यय समझते हैं। मैंने तो समझा, शायद वह साथ नहीं चल सकेंगे, लेकिन गार्डके झंडी दिखलाते-दिखलाते वह हाँफते-दौड़ते डिब्बेके भीतर पहुँच गये। छिउकीमें हमें गाड़ी बदलनी पड़ी और वहाँ हम उसी ट्रेनमें बैठे जिससे जायसवालजी चल रहे थे। हमारी एक पूरी जमात थी, जिसमें जायसवाल-परिवारके अतिरिक्त पटना म्यूजियमके क्यूरेटर श्री मनोरंजन घोष, फ़ोटोग्राफ़र

तथा दूसरे सहायक भी थे। श्री क्षीरोदकुमार रायके साथ तो सबसे अधिक समय और अधिक दूरतक मुझे रहना पड़ा था। आज भी आर्थिक कठिनाइयोंसे पीड़ित किन्तु चेहरेपरकी हँसीकी रेखाको कभी मलिन न होने देनेवाले उस प्रतिभाशाली पुरुषकी स्मृति जब आती है, तो कह उठता हूँ—राय मोशाय, तुम क्यों इतने जल्दी चले गये और अपने जौहरको बिना दिखलाये जाना क्या उचित था?

कटनीमें डा० हीरालाल मिलने आये। बड़ौदा वह कुछ ठहरकर आनेवाले थे। उनकी आयु ६० वर्षसे अधिककी थी, किन्तु शरीरसे स्वस्थ थे। किसे मालूम था कि वह इतनी जल्दी और हाथमें इतना बड़ा काम लेकर हमें छोड़ जायेंगे।

अजन्ता-एलौरा—२१ दिसम्बरको ट्रेन जलगाँव पहुँची। वहाँसे फ़र्दाबाद-के लिए मोटर-बस की गई। तेरीगाँव भी प्राचीन **नगरी** रही होगी। पाहुरमें हमने हाथ-मुँह धोकर जलपान किया। आठ बजेके क़रीब फ़र्दाबादके अतिथिभवनमें पहुँचे। जायसवालजीकी पार्टी निज़ामकी अतिथि थी। वहाँ सरकारी प्रबन्ध था। भोजन करते-करते बारह बज गये। फिर हम **लेना** (गुफा) देखने गये और साढ़े तीन घंटेतक घूमते रहे। अधिकांश लेना बाकाटक-कालकी हैं। वहाँ वज्रयान-का पता नहीं है। महायानी बोधिसत्त्वोंकी मूर्त्तियाँ भी दो-एक ही जगह दिखाई पड़ीं। यह मुख्यतः हीनयानी विहार था। एक जगह भवचक्क (भवचक्र)का चित्रित था, किन्तु खंडित था, इसलिए कहा नहीं जा सकता कि तिब्बती भवचक्रसे क्या अन्तर रखता है। चैत्य(-स्तूप)वाले घर बहुत पुराने हैं। एक चैत्यको काट-कर बुद्धमूर्त्ति बनाई गई थी, जो पीछेका काम था। चित्रोंके अधिकांश उत्तम पात्र तुंगनास हैं, चित्रोंके सौन्दर्यके बारेमें कहनेकी क्या आवश्यकता?

अगले दिन हम वहाँसे एलौराकेलिए रवाना हुए। देवगिरि (दौलताबाद) रास्तेमें पड़ा। यह दुर्जय दुर्ग कैसे पराजित हुआ, कैसे मुट्ठीभर मुसलमान दिल्लीसे आकर इसे दखल करनेमें सफल हुए? देवगिरि, जिसका मंत्री हेमाद्रि जैसा विद्वान् था, जिसके दरबारमें भास्कराचार्य जैसा ज्योतिषशास्त्री था, क्या वह पराजित होनेकेलिए था? दुर्गपाल हैदराबादका सैनिक था। वह और उसके सिपाही सभी मुसलमान थे। मुसलमान होना बुरा नहीं, किन्तु अपनी संस्कृतिके साथ सहानुभूति-का अभाव, ज़रूर बुरी तरह खटकता है। देवगिरिको ऊपर-नीचे देखकर हम लौट रहे थे। सिपाहियोंके सर्दारसे मैंने पूछा—तुम्हारे यहाँ शरियतकी पाबन्दी कैसी की जाती है? उसने बड़े अभिमानसे कहा—हमारी इस्लामी बादशाहत है। मैंने पूछा—तुम्हारे इस्लामी बादशाहकी दोनों पुत्रबधुएँ मुँह खोलकर क्यों

घूमती हैं ? तुरन्त उत्तर मिला—सारी रियाया उनकी औलाद है, औलादके सामने पर्दा करनेकी क्या आवश्यकता ?

रास्तेमें खुल्दाबाद मिला । यहीं औरंगजेबकी क़ब्र है । औरंगजेबसे चिढ़नेकी क्या आवश्यकता ? समाजका कोढ़ कहींसे फूटकर निकलेगा ही, व्यक्ति तो निमित्तमात्र होता है ।

साढ़े ग्यारह बजे हम बेरूल पहुँचे । इसी बेरूलको अंगरेजोंने एलौरा बना दिया । अहल्याबाई यहीं पैदा हुई थी, बल्कि उसने एक बार फिर "कैलाश"में पूजा शुरू करवाई थी । उसी समय कुछ भद्दी मरम्मतका भी उपक्रम हुआ था । अब भी उस समयका कुछ रंग जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ता है । पल्लवोंके महाबलीपुरमके गुहाप्रासादोंसे प्रेरणा पाकर राष्ट्रकूटोंने "कैलाश"का निर्माण किया था । पल्लव-कलाने यहाँ ही नहीं समुद्रपार 'बरोबुदूर' (जावा)के बनानेवालोंको प्रेरणा दी थी, जहाँसे प्रेरणा पाकर कंबुजनरेशोंने अङ्कोरथोमका निर्माण किया था । हम बौद्ध, जैन, ब्राह्मण सभी गुफाओंको देखते रहे । वज्रयानका यहाँ भी पता नहीं था । हाँ, महायानके अमोघपाश अवलोकितेश्वर, प्रज्ञापारमिता और ताराकी मूर्त्तियाँ अवश्य थीं । इन गुहाओंका निर्माण वाकाटकोंसे भी पहलेसे शुरू हुआ था ।

आगे २३ दिसंबरको नासिक और २४ दिसंबरको हमने कार्लाकी गुफायें देखीं । नासिककी पाण्डवलेनी गुफायें शक-शातवाहनकालकी हैं । यहाँ बहुतसे अभिलेख हैं । यहाँपर भी कुछ स्तूपोंपर पीछे बुद्धकी मूर्त्ति खोदी गई ।

२३ ता०को ही हम लोनावड़ा पहुँच गये और श्री खोटेके बँगलेपर ठहरे । श्री दुर्गा खोटे सिनेमातारका वहाँ मौजूद नहीं थीं, किन्तु उनके घरके बच्चे फर्र-फर हिन्दी बोल रहे थे । मैंने पूछा—तुमने हिन्दी कहाँसे सीखी ? जवाब मिला—सिनेमासे, और कहाँसे ? हाँ, सिनेमाने अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तोंमें जो हिन्दीका प्रचार किया है, वह कम महत्त्वकी चीज नहीं है । अगले दिन हमने कार्ला और भाजाकी गुफायें देखीं । बड़े दिनकी छुट्टियाँ थीं, इसलिए दर्शक बहुत आए थे । पहाड़से एक मीलसे कम हीकी चढ़ाई थी, हमने पानीके चश्मे, संघारामकी कोठरियाँ, सिंहस्तम्भ और चैत्यघर देखे । चैत्यघरके भीतर स्तम्भोंकी पाँतियाँ हैं, जिनके ऊपर हाथियोंपर सुन्दर स्त्री-पुरुषमूर्तियाँ बनी हुई हैं । बहुतसे हस्तलेख हैं, जो ब्राह्मीमें होनेके कारण मेरेलिए दुष्पाठ्य नहीं थे । मैं भीतर उन अभिलेखोंको पढ़ रहा था और ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी-की वेष-भूषाको बड़े ध्यानसे देख रहा था; इधर बरामदेमें जायसवालजी राय महाशयसे कुछ लिखवा रहे थे । मेरे बाहर निकलनेपर उन्होंने बड़ी गंभीरतासे कहा—

यह देखिए, इस कालमें बुद्धमूर्त्ति बना करती थी। मैंने कहा—यह हो नहीं सकता। किन्तु सचमुच वहाँ बुद्धमूर्त्ति उत्कीर्ण थी। मैंने ध्यानसे देखा तो मालूम हुआ कि जहाँ बुद्धकी मूर्त्ति उत्कीर्ण है, वहाँ पहिले एक वृक्ष था, जिसका ऊपरी भाग अब भी वहाँ मौजूद था; बुद्धमूर्त्ति भित्तिके साधारण तलके भीतरसे खोदकर बनाई गई है। मैंने इस बातको समझाया। जायसवालजीने कहा—आपने ठीक कहा, मैं भारी गलती करने जारहा था। रायमहाशयसे नोटबुककी पंक्तियाँ कटवा दी गईं। कार्लेसे मड़वली स्टेशनके पाससे हो वहाँसे आधमीलपर अवस्थित भाजा गाँव गये। थोड़ीसी चढ़ाई चढ़नेपर बौद्ध गुफायें मिलीं। यहाँकी गुफायें कार्लेसे भी प्राचीन हैं। अंतिम चैत्यगुहाके बरामदेमें सात चैत्य बने हुए हैं। यहाँ सातवाहन राजा कौशिकीपुत्रका अभिलेख है। इस उपत्यकाका नाम नाड़ी मांवड़ है। किसी समय यहाँ बहुतसे समृद्ध गाँव और नगर रहे होंगे। भाजाकी गुफाओंके ऊपर लोहगढ़का पुराना दुर्ग है, जिसका शिवाजीके वीरतापूर्ण इतिहाससे विशेष सम्बन्ध है।

बंबई—२५ दिसम्बरको हम बंबई पहुँच गये। वहाँ एक उच्च मध्यम-वर्गके शिक्षित महाराष्ट्र परिवारमें ठहरे। दिनभर बंबईमें रहना था। हमने एलिफैंटाके गुहाप्रासाद और सुंदर मूर्त्तियाँ भी देखीं। फ़ादर हेरासने भी सांत्-सावियें महाविद्यालय (सेंटजेवियर कालेज)में अपने पुरातत्त्व-संग्रहालयको दिखलाया। फ़ादर हेरास अपनी धुनके पक्के हैं, पंडित ब्रजमोहन व्यासकी तरह तो नहीं, किन्तु उनका भी संग्रह बहुत अच्छा है। सबसे विचित्र बात हमें घरकी गृहपत्नी-की मालूम होती थी। वह गलित-यौवना थीं, किन्तु उनकी साध बुझी नहीं थी। जिस समय सासें अपने शृङ्गारसज्जाको बहूकेलिए छोड़ देती हैं, उस समय भी वह अपनेको सजानेमें अपनी त्रिपुर-सुन्दरी पुत्रवधूके कान काट रही थीं। हम तो दश ही बारह घंटे वहाँ रहे, किन्तु इसीमें न मालूम कितनी बार उन्होंने अपनी साड़ियाँ बदलीं। हाँ, मैं मानूँगा कि उनका यह कार्य किसीको अरुचिकर नहीं मालूम हो सकता था, क्योंकि पतझड़के समयमें भी चिरविस्मृत वसंतकी सुगन्धि उनके मुख-मंडलसे सर्वथा विलुप्त नहीं हुई थी, फिर अतिथियोंके सत्कारकेलिए तो वह बराबर हाथ बाँधे खड़ी रहती थीं।

बड़ौदा—२६ दिसम्बरको सूर्योदयसे पहिले ही बड़ौदा होटलके पास अतिथिशाला-में हमें पहुँचा दिया गया। जायसवालजी थोड़ी देर बाद दूसरी गाड़ीसे आये। रियासत-के मेहमानोंका यह भवन था, फिर आराम और सफ़ाईकेलिए क्या पूछना? डाक्टर हीरालाल और डाक्टर हीरानन्द भी उसी दिन आ गये और हम लोगोंके साथ ही ठहरे।

बड़ौदामें प्राच्य-सम्मेलनके अतिरिक्त जो चीजें देखीं, उनमें एक आर्यकन्या महाविद्यालय भी था। बिहारके मेरे परिचित बन्धु श्री श्रुतबन्धु शास्त्री वहाँ अध्यापक थे, उन्होंने विद्यालय दिखलाया। लड़कियाँ कुर्ता और हाफ़पेंट पहने घूमती बुरी नहीं मालूम होती थीं। व्यायामका भी उनमें बहुत शौक़ था और संगीत जैसी ललित-कलाको भी वह भुलाना नहीं चाहती थीं। पढ़ानेका ढंग आधुनिक और प्राचीन दोनों था। विद्यालयके संस्थापक राजरत्न पं० आत्माराम अमृतसरी बड़े प्रेमसे मिले। आर्यसमाजके प्रथम आवेगमें मैंने उनके ग्रंथोंसे लाभ उठाया था, इसलिए ६८ वर्षके उस कर्मठ पुरुषसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

श्री देवप्रियने महाबोधिसभाके प्रकाशनके कार्यकेलिए महाराजासे सहायता प्राप्त करनेके बारेमें कहा था। चन्दा माँगनेमें मैं हमेशा कच्चा रहा हूँ और राजा-महाराजाओंकी तो परछाईं भी मुझे कड़वी लगती है, किन्तु जब महाराजाकी ओरसे मिलनेकेलिए सूचना आई, तो मैं "मज्झिमनिकाय"के प्रकाशकके आग्रहको कैसे ठुकरा सकता था? वह इन्द्रभवन जैसे राजप्रासादके उपवनमें धूपनिवारक छत्र लगी कुर्सीपर बैठे थे। एक-एक करके लोग सामने लाये गये, मैं भी पहुँचा। मैंने इस भेंटके बारेमें उस दिन लिखा था :—"अच्छे पुरुष हैं। भाषान्तरके कार्यमें सहानुभूति प्रकट की। 'विद्याधिकारीसे कहेंगे' बोले।"

उसी दिन (२७ दिसम्बरको) न्यायमन्दिरमें साढ़े चार बजे प्राच्य-सम्मेलनका कार्य आरम्भ हुआ। सारे भारतके बड़े-बड़े इतिहासकार, पुरातत्त्ववेत्ता, मुद्रा-शास्त्री, पुरालिपिशास्त्री, भाषातत्त्वज्ञ, उस विशाल शालामें आसीन हो चाँद-चकोर हो प्रतीक्षा कर रहे थे, महाराजा पूरे आध घंटेके बाद पधारे। महाराजोंकी कुछ तो विशेषता होनी चाहिए, आखिर वह पृथ्वीपर विष्णुभगवानके अवतार होते हैं। और बड़ौदाके महाराजा सयाजीराव कोई दकियानूसी उजड्ड राजा नहीं थे। वह सभी बातोंमें बहुत आगे बढ़े हुए बतलाये जाते थे। ख़ैर! उनका भाषण बहुत अच्छा हुआ और अन्तमें अलिखित भाषण उन्होंने और भी अच्छा किया। जायस-वालजीने सभापति पदसे बहुत सुन्दर भाषण दिया।

आगे अलग-अलग विभागोंकी सम्मिलनियाँ शुरू हुईं। २८ दिसम्बरतक मैंने इसी तरह अपने भाषणको तैयार कर लिया था। २९ तारीखको दोपहरको हिन्दी विभागकी बैठकमें उसे पढ़ा। दूसरे विद्वानोंने भी कुछ निबन्ध पढ़े, किन्तु प्राच्य-सम्मेलनमें तो अंग्रेजी सर्वेसर्वा थी, वहाँ हिन्दीको कौन पूछता था?

बड़ौदामें उस समय कर्नल वेयर रेजिडेण्ट थे। उनसे मिलकर अवश्य प्रसन्नता

हुई। जब मैं अपनी पहली तिब्बत-यात्रासे लौट रहा था, उस समय यही "बड़े साहेब" थे। उन्होंने अपने तिब्बती चित्रों, मूर्त्तियों तथा दूसरी चीज़ोंके संग्रहको दिखलाया। अवलोकितेश्वरकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति उनके पास थी। पति-पत्नी दोनों सज्जन, संस्कृत और कलाप्रेमी थे। उनकी लड़कीने भी अपने बनाये कितने ही चित्र दिखलाये।

बड़ौदासे लौटते वक़्त हमारा प्रोग्राम अहमदाबाद, आबू, अजमेर, चित्तौड़, उदयपुर, साँची और भिल्सा देखनेका था, लेकिन जायसवालजीका साथ अजमेर ही तक रहा। उन्हें किसी मुक़दमेकी पैरवीकेलिए वहाँसे सीधे पटना चला जाना पड़ा।

अहमदाबाद—३१ दिसम्बरको दोपहरसे पहिले ही हम अहमदाबाद पहुँच गये। सर गिरिजाप्रसाद-चिनूभाई माधवलालके प्रासादमें ठहरे। यह साधारण "सर" नहीं बल्कि पुश्तैनी "सर" पदवीधारी (बेरोनेट) थे। उनका प्रासाद युरोपीय ढंगसे सजा हुआ था, लेकिन भोजन भारतीय, और भारतीय ढंगसे परोसा जाता था। मेज़बानने आतिथ्य-सत्कार बड़े खुले दिलसे किया। जहाँ सर गिरिजाप्रसादने अपने खींचे सिनेमा फ़िल्मोंमें प्राकृतिक दृश्योंकी झाँकी कराई, वहाँ गृहललनाओंने गर्बानृत्य देखनेका भी मौक़ा दिया। वैसे तो भारतका कौनसा भाग है, जिसमें मुझे आत्मीयता नहीं मालूम होती, किन्तु गुजरातका माधुर्य एक विलक्षण है। गुजरातकी यह मेरी दूसरी यात्रा थी। प्रथम यात्रा (१६१३)में भी भूल गया था, कि मैं किसी और जगह आ गया हूँ। उस बार तो अभी मेरी आँखें बन्द थीं, उस वक़्त जो कुछ ज्ञान होता था, वह केवल स्पर्शसे। आणंद और नडियाद उस वक़्त भी देखे थे, और अहमदाबादमें तो महीनेभर रहा था, किन्तु उस वक़्त कहाँ मालूम था, कि यहाँ "हठीभाईनी बाड़ी" (१८४६ ई०) जैसा सुन्दर जैनमन्दिर है। यहीं हिलते मीनारोंवाली मस्जिद है, जिसका दूसरा नमूना दो साल बाद मुझे अस्पहानमें देखनेको मिला। यहाँके मस्जिदोंकी सजावटमें एलौराकी छाप दिखाई पड़ती थी, सैकड़ों स्तम्भवाली मस्जिदें देवगिरिके मस्जिद बने मन्दिरका स्मरण दिला रही थीं। हमने अहमदाबादकी पुरानी इमारतें देखीं और आधुनिक युगकी विभूति कपड़ेकी मिलोंको भी देखा। नगरके भीतर एक मस्जिदके पास एक बावड़ी देखी, जिसके दो तले पानीसे ऊपर और पाँच पानीके नीचे हैं। इसे किसी मुसलमान महिलाने बनवाया था, लेकिन इसपर संस्कृतमें भी अभिलेख है। अहमदाबाद आकर सत्याग्रह आश्रम देखे विना कैसे लौट सकते थे? लेकिन हम साबरमती (सत्याग्रह) आश्रममें तब गये, जब कि सोनचिरैया चिरकालसे इस पिंजड़ेको सूना

कर गई थी। मकानोंकी कौन सुधि लेता? लोग लकड़ियाँ उठाये लिये जा रहे थे। अस्पृश्यता-निवारणका कुछ काम यहाँसे होता था; लेकिन आँगन सहित दो-महला मकान अधिकतर खाली पड़ा था। वहाँसे लौटते वक्त मुनि जिनविजयजीके दर्शनका सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वत्ता और विद्याप्रेमकी सुगन्धि तो पहिले भी पहुँच गई थी, किन्तु परिचय प्राप्त करनेका यहीं अवसर प्राप्त हुआ।

राजस्थानमें—३१ दिसम्बरकी रातकी गाड़ीसे जायसवालजी, मैं और एक कोई और आबूकेलिए रवाना हुए। 'जीवन-यात्रा'का ७ अक्तूबर १९३३से सितम्बर (१९३४) प्रथम सप्ताहतक प्राय: ग्यारह महीनेका वर्णन खो जानेके कारण मुझे दोबारा लिखना पड़ रहा है, जिसमें पौने नौ महीनोंकेलिए मैं दैनन्दिनी इस्तेमाल कर सकता था, किन्तु पहिली जनवरीसे ६ मार्चतककी डायरी भी मेरे पास नहीं है, इसलिए इस समयका वर्णन केवल स्मृतिके भरोसे करना पड़ रहा है।

आबू-रोडसे टैक्सीमें हम लोग आबू पहुँचे। जायसवालजीके जातिभाई वहाँ पोस्टमास्टर थे। अपनी टुटही-मँड़इयामें रामको देखकर शबरी जिस तरह विह्वल और चंचल हुई होगी, वही हालत उनकी थी। हम लोगोंको वहाँ अधिक ठहरना नहीं था, इसलिए जलपानके बाद आबूके महासरोवरका थोड़ासा चक्कर काट देलवाड़ाके मंदिरकी ओर चल पड़े।

वस्तुपाल-तेजपालकी यह अमरकृति भारतीय वास्तुशिल्पकी अमरनिधि है, संगमर्मरको मोम और मक्खनकी तरह काटकर सुन्दर फूल-पत्ते निकाले गये हैं। किन्तु जान पड़ता है मूर्त्तिकला उससे पहिले ही भारतसे रूठ गई थी।

आबूसे अगला पड़ाव अजमेर पड़ा। ढाई दिनका झोंपड़ा, ख्वाजा साहेबकी दरगाह और पुष्करराजके मगरमच्छ भी देखे। इनके साथ ही अठारह वर्ष बाद मुझे पं० रामसहाय शर्माके भी देखनेका मौका मिला, जो किसी समय संस्कृत विद्यासे निराश होकर मेरे पास पहुँचे थे, किन्तु निराश ही उन्हें लौटना नहीं पड़ा। अजमेरसे जायसवालजी पटना चले गये और बाक़ी यात्रामें अधिकतर चेतसिंह, जायसवाल और रायमहाशयके साथ मुझे रहना पड़ा।

जयपुर और चित्तौड़को हमने बड़े ध्यानसे देखा था, लेकिन दैनन्दिनीके पत्रोंके बिना स्मृति अब उसे कहाँतक स्फुरित करे। उदयपुर हीमें किसी हवेलीमें हमें ठहराया गया था। वहाँके कितने ही नये-पुराने महलोंको हमने देखा। फिर वहाँसे एक कृत्रिम समुन्दर (जयसमुन्दर?)को भी देखने गये थे, जहाँसे लौटते वक्त महाराणा भूपालसिंहकी मोटर हमारे पाससे जाती दिखाई पड़ी। चेहरा यद्यपि कुछ

सेकेंड ही हमारे पास रहा, किन्तु उसमें सीसौदिया वंशकी कोई दिव्यता नहीं दिखाई पड़ी। लेकिन दिव्यताकेलिए हम उनकी ही क्यों शिकायत करें? दूसरे वंशोंके अवतंसोंने ही कौनसे सुर्खाबके पर खोंस रक्खे हैं?

चित्तौड़में हमने कई घंटे लगाये, वहाँकी एक अर्धनिर्मित स्त्रीमूर्ति हमें बहुत सुन्दर मालूम हुई। चित्तौड़ या चित्रकूट क्यों नाम पड़ा? यहाँ कूट या शिखर नहीं है, इसका नाम चित्रपीठ हो सकता था, लेकिन पीठके साथ चित्रताका संबंध कुछ विचित्र-सा मालूम होता! चित्रकूटके दो कीर्तिस्तम्भोंमें राणाकुम्भावाला तो मूर्त्तिशिल्पमें हमें बहुत दरिद्र दिखलाई पड़ा, किन्तु दूसरा अच्छा था।

उज्जैन—चित्तौड़से हम महाकालकी नगरी उज्जैनमें पहुँचे। अवन्तिपुरी न जाने क्यों सुन्दर कवितासी आकर्षक मालूम होती है। उसका नाम तो और भी आकर्षक है। शूद्रक, कालिदास, वाण, दण्डी सभीने उसकी कीर्ति फैलानेमें अपनी अमर लेखनीकी सहायता दी। मेरी यह दूसरी यात्रा थी। महाकालको देखा, लेकिन यह वही मन्दिर नहीं था, जहाँ वाणके व्यास महाभारतकी सुन्दर कथा सुनाया करते थे। लेकिन हमारेलिए वहाँ एक व्यास मौजूद थे, जिन्होंने अवन्तिपुरीका हमें अच्छी तरह दर्शन कराया। पं० सूर्यनारायण व्यास सचमुच इस यात्रामें कविता-मय मालूम होते थे। वह अपनी जन्मनगरी "जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि"के प्रति उचित गर्व कर सकते थे। कौन जानता है अवन्तिपुरी फिर कभी विस्मृतिके गर्भसे प्रकट होकर हमारे सामने आये। मेरेलिए तो वह सप्तपुरियोंमें सबसे श्रेष्ठ है।

साँची-भिल्सा—उज्जैनसे हम भिल्सा चले आये। ग्वालियर रियासतने भी जायसवालजीके देखनेका प्रबन्ध किया था, जिसका उपयोग हम तीनों मूर्त्तियोंने किया। साँचीको तो मैं पहिले भी देख चुका था, और खूब ध्यानपूर्वक, किन्तु विदिशा-के खंडहरोंको इसी बार देखनेका मौका मिला। "खम्बाबा"के नामसे प्रसिद्ध ग्रीक भागवत हेलियोदोरका गरुड़स्तम्भ देखा। उदयगिरिकी गुफामें रोम-रोमसे बलवीर्य बिखेरती नरसिंहकी गुप्तकालीन मूर्त्ति देखी, जिसमें शायद चन्द्रगुप्तने अपने हीको नरसिंह और गुप्तराज-लक्ष्मी ध्रुवदेवीको पृथ्वीके रूपमें उत्कीर्ण कराया था। भिल्सासे हम ग्यारसपुत्रके उजड़े मन्दिरोंको देखने गये। वहाँके कुछ मन्दिर दसवीं शताब्दी और उससे पहिलेके हैं, जब कि मूर्त्तिकला भारतसे रूठी नहीं थी। वहाँके तोरण सूक्ष्म तक्षणकलाके श्रेष्ठ नमूनें हैं।

भूकम्प (१६३४)—बड़ौदाकी यात्रासे लौटकर जनवरीके मध्यमें मैं प्रयागमें पं० उदयनारायण तिवारीके उसी गलीवाले मकानमें था, जहाँ चायके प्याले पी-पी

कर रातभर प्रूफ़ देखा जाता रहा। दोपहरके बाद थोड़ा ही समय बीता था, जब कि खिड़कियाँ खड़खड़ाने और दीवारें गनगनाने लगीं। मुझे लंदनमें तीन महीने तक इसका अनुभव था। मेरे अवचेतन मनने अपनेको लंदनमें समझ लिया। लेकिन लंदनमें तो भूगर्भी रेलके कारण वैसा होता था, यहाँ यह किसलिए, इसे सोचनेकी मुझे आवश्यकता नहीं मालूम हुई। इसी वक्त लोगोंने कहा—भूकम्प। अब भी हम जल्दी-जल्दी कोठेसे नीचे नहीं उतरे। जल्दी-जल्दी नीचे उतरनेकी आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वहाँ तो सारा काम सेकेंडोंमें हो रहा था। हम कोठेसे नीचे उतर-कर सौ गज चलते तब सड़कपर पहुँचते। दारागंजकी सड़क भी दोनों ओर ऊँची अट्टालिकाओंसे भरी है, फिर यदि मुंगेर और मुजफ़्फ़रपुरकी तरह मकान लेटने लगते, तो भागनेकेलिए समय कहाँ था ? जब हम कोठेसे नीचे उतरकर गलीमें पहुँचे, तब भी दीवार हिल रही थी।

भूकम्प बंद हुआ। हम फिर मकानमें चले गये और फिर पहिलेकी तरह बातचीत होने लगी। रात तक हम इस घटनाको भूल-ही से गये थे, किन्तु अगलेदिन-के समाचारपत्रोंमें बिहारमें भूकम्पकी प्रलय-लीला छपी पढ़ी। मुजफ़्फ़रपुर दरभंगाको प्रलय समुद्रके गर्भमें समझा जाता था, उनकी कोई खबर ही नहीं थी। जमालपुर और मुंगेरकी भयंकर ध्वंसलीलाका कुछ-कुछ पता लगा था। ऐसे समय मुझे अपना स्थान भूकम्प-पीड़ित जनतामें दिखलाई पड़ा।

भूकम्प-क्षेत्रमें—मैं प्रयागसे पटनाकेलिए रवाना हुआ। प्रयागमें तो भूकम्पका प्रभाव नहींके बराबर था। मिर्जापुरमें स्टेशनके पास कुछ ईंटें गिरी दिखलाई पड़ीं। पटनामें जायसवालजीके परिवारमें कुहराम मचा हुआ था—जायसवालजी किसी मुकदमेमें दरभंगा गये थे। रातको आए, तो अकवार भरके मिले—सचमुच ही लोग निराश हो गये थे, उत्तर बिहारसे ऐसी ही खबरें आरही थीं।

मैंने उत्तर बिहारमें सेवाकेलिए जानेका निश्चय किया। भूकम्पसे प्रांतकी जो अवस्था हो गई थी, उसे संभालनेकेलिए सरकार अकेली पर्याप्त नहीं थी। उसने राजेन्द्रबाबू और दूसरे नेताओंको जेलसे छोड़ दिया। राजेन्द्रबाबू अपने पुराने दमाके रोगसे पीड़ित थे, तो भी उस आफ़तमें वह अपने रोगकी पर्वाह नहीं कर सकते थे। देशसेवक और उत्तर बिहारके पीड़ितक्षेत्रके नेता उनके पास पटनामें पहुँचे थे। रातको जो पहिली टोली गंगा पार हुई, उसमें मैं भी था और पंडित जवाहरलाल नेहरू भी। पुराने कांग्रेसकर्मी बाबू देवेन्द्रगुप्तको एक ट्रेन पहले ही भेजा गया था, कि हाजीपुरमें कुछ नाश्ता और एक टेक्सीका इंतिजाम कर रक्खें, किन्तु भारतकी

घड़ी एक घंटा लेट रहती है और बिहारकी तो उससे भी एकघंटा पीछे। अँधेरा रहते ही जब हम हाजीपुर पहुँचे, तो वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं हो पाया था। लोग कह भर रहे थे—सब हो रहा है। धीरे-धीरे पौ फटने लगी, लेकिन टेक्सीका कहीं पता नहीं। हाजीपुर और मुजफ़्फ़पुरके बीचमें भूकम्पने लाईन तोड़ दी थी इसलिए टेक्सी छोड़ जानेका कोई साधन नहीं था। नेहरूजी शंकित होने लगे। प्रबंध करनेवालोंमें, विशेषकर देवेन्द्रबाबूको घबड़ाहट बढ़ी। देवेन्द्रबाबू वहाँ के रहनेवाले नहीं थे, उन्होंने किसी दूसरेसे प्रबन्ध करनेको कह दिया था, दूसरेने तीसरेको। खैर, हमलोगोंने वहीं मौजूद किसी मोटरवालेके हाथ-पैर पकड़के मोटर मँगवाई। चायके साथ भी छप्पन परकार बन रहा था, मैंने उसको छुड़वा वहाँ किसी जगहसे कुछ अंडे उबलवाए और कुछ प्यालियाँ चायकी बनवाईं, इस तरह सूर्योदय होनेके साथ-साथ हम वहाँसे रवाना हो सके।

मुजफ़्फ़रपुर—रास्तेमें पुल टूटे थे और गड्ढों तथा झीलोंमें तो बाढ़-सी आगई थी। मालूम हुआ, यह सारा पानी भूकम्पके वक्त धरती फोड़कर निकला था। रास्तेके गाँवोंमें ईंटके मकानोंको अधिक नुक़सान पहुँचा था। मुजफ़्फ़रपुरमें तो कितने ही मुहल्लोंमें मकानोंके स्थानपर ईंटों और कड़ियोंके ढेर लगे थे। कितनी जगह अब भी लाशें दबी पड़ी थीं। घायलोंकी संख्या अधिक थी और उनके रहनेकेलिए अस्पताली झोंपड़ियाँ बना दी गई थीं। भूकम्पका पूरा रूप अभी बाहरवालोंको अच्छी तरहसे मालूम नहीं हुआ था। जो खबरें गई थीं, वह इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण थीं, कि उनपर विश्वास करना मुश्किल था।

शहरमें घूमनेके बाद राष्ट्रकर्मियोंकी छोटी सभा हुई। सीतामढ़ीकी हालत बहुत बुरी बतलाई गई। वहीं मुझे सीतामढ़ी जानेकेलिए कहा गया।

सीतामढ़ी—दूसरे दिन सबेरे ही तीन मूर्त्तियोंके साथ हम सीतामढ़ीकेलिए रवाना हुए। रेलका रास्ता बंद था, सड़कके भी पुल टूटे हुए थे, इसलिए सवारीका कोई सवाल नहीं था। हम चार मूर्त्ति सड़क पकड़कर सीतामढ़ीकी ओर चले। एक मूर्त्ति तो अपने गाँवमें पहुँचकर अंतर्धान हो गई। यही नहीं, जब पीछे सहायताकी वस्तुएँ लदकर सीतामढ़ी जाने लगीं, तो उसपरसे एकाध कनस्तर तेल भी उसने उतार लिया। बाकी दो मूर्त्तियोंके साथ हम आगे बढ़े। सीतामढ़ी अब भी काफ़ी दूर थी। भूकम्पके तोड़े एक पुलके पास जिस वक्त हम नावसे नाला पार हो रहे थे, उसी समय एक मोटरलारी खड़ी दिखाई पड़ी। मालूम हुआ, वह डिस्ट्रिक्टबोर्डके चेयरमैन बाबू चन्द्रेश्वरप्रसाद नारायणसिंहकेलिए आई है। मैंने अपने एक साथीको

दौड़ाकर कहलवाया कि हमें भी साथ लेते चलें। लारीमें जगह खाली पड़ी थी। चेयरमैन साहब वहाँ मौजूद थे, और वह मेरे नामसे अपरिचित नहीं थे, किन्तु उनका उत्तर उनके शिक्षा और पदके योग्य नहीं था। हम आरामकेलिए नहीं बल्कि उसी दिन सीतामढ़ी पहुँचनेके खयालसे प्रार्थी हुए थे। उसी दिन शामको या दूसरे दिन हम सीतामढ़ी पहुँच गये। सीतामढ़ीके पास ही भूकम्पका केन्द्र था, इसलिए उसका सबसे भीषण रोष सीतामढ़ीपर हुआ था। पक्के मकान शायद ही कोई बच पाए थे। जेलकी दीवारें तो लेटा-सी दी गई थीं।

कष्ट-सहायताका कुछ थोड़ा बहुत पहलेका भी मेरा अनुभव था। वहाँ फक्कड़-बाबा नरसिंहदासजी भी मौजूद थे। सहायताकी वस्तुएँ भी जल्दी-जल्दी पहुँचने लगीं। हमने सहायता-केन्द्र स्थापित किया। अन्नकी आवश्यकता सबसे अधिक थी, फिर जाड़ोंकेलिए कंबल भी चाहिए थे। डेढ़ दो हफ्ते बीतते-बीतते तो वहाँ बहुतसी संस्थाएँ सहायता करनेकेलिए पहुँच गईं और बिहार केन्द्रीय सहायता समितिमें, जिसके कामकेलिए मैं गया था, काम करनेकेलिए बहुतसे आदमी पहुँच गये। पं० नेहरू-जी दूसरी बार भी वहाँ पहुँचे। हमारे साथकी एक और मूर्त्ति कुछ ही दिनों बाद यहाँसे उड़ंछू हो गई। वस्तुतः यह दोनों मूर्त्तियाँ उड़ंछू थीं ही, एक तो भयंकर थी और दूसरी दायित्वहीन। तीसरे साथी बहुत सधे हुए, परिश्रमी और सेवापरायण व्यक्ति थे, उनका मकान सीतामढ़ीके पास था। उनके गाँवको भी क्षति पहुँची थी, लेकिन उन्होंने कभी घर जानेका नाम नहीं लिया और न सहायता पहुँचानेकी बात कही। भले-बुरे आदमीकी परीक्षा ऐसे ही समय होती है।

हम आस-पासके गाँवोंमें भी गये। सीतामढ़ीसे कुछ मीलोंपर देकुली स्थानमें मुझे किसी प्राचीन ध्वंसावशेषका संदेह हुआ, लेकिन वह समय पुरातत्त्वकी गवेषणाका नहीं था।

चम्पारन—सीतामढ़ीका काम खूब होने लगा था। अब वहाँ मेरी विशेष आवश्यकता नहीं थी। मुझे वहाँ रहते प्रायः एक महीना हो गया था। मैंने वहाँ ही नेपालमें भीषण-संहारकी खबर सुनी। महाबोधि सभावालोंने वहाँ सहायताकेलिए जानेको भी कहा था, मैं सीतामढ़ीसे ऊपर ही ऊपर मोतीहारीकेलिए रवाना हुआ। रास्तेका नदीका पुल टूट गया था। उससे आगे कहीं पैदल और कहीं इक्केपर होते ढाका(?) थाना पहुँचा, और दूसरे दिन मोतिहारी गया। मोतिहारीको भी क्षति हुई थी, किन्तु सीतामढ़ीके बराबर नहीं। सहायताका काम बड़ी तत्परतासे हो रहा था। यही बात मैंने बेतियामें भी देखी। फिर मैं रक्सौल पहुँचा। भूकंपसे अंगरेजी

सरकारको अपना कानून नरम करनेकेलिए वाध्य किया और उसने काँग्रेसी नेताओंको सहायताके कामकेलिए जेलसे बाहर कर दिया था, किन्तु नेपाल सरकार राहदारीके नियमको शिथिल करनेको तैयार नहीं थी। मेरा आगेका रास्ता बन्द था। कुछ नेपाली भद्रपुरुष लौट रहे थे। मेरे पास सहायताकेलिए जो पैसे थे, उसे मैंने उनके हाथमें दे दिया और फिर चम्पारनसे सारनकी ओर प्रस्थान किया।

सारनमें—रक्सौलसे लौटते वक़्त एक जगह एक पूरीकी पूरी पैसेंजर ट्रेन स्टेशनसे दूर लाइनपर खड़ी थी। भूकम्पने उसके आगे-पीछेके रास्तेको काट दिया था। मोतिहारीसे गाड़ी अभी नहीं चलती थी, इसलिए एक नदी पार करके उसे पकड़ना पड़ा। मुज़फ़्फ़रपुर होते छपरा पहुँचा। छपरामें भूकम्पने उतनी क्षति नहीं पहुँचाई थी, तो भी गंडकके किनारेके गाँवोंमें कुछ आदमी दबे थे। एक घरकी पर्दानशीन औरतें तो चौखटके पास आकर दब मरी थीं। शायद "चौखटसे बाहर निकलें या न निकलें" इसपर विचार कर रही थीं, भूकम्पने उन्हें निर्णय करनेका अवसर नहीं दिया।

५ मार्चतक हमने इसी तरह जहाँ-तहाँ भूकम्प पीड़ित स्थानोंको देखते हुए बिता दिया।

गया—६ मार्चको पटनासे गया पहुँचा। मेरे साथ मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति (छोइडक) भी थे। उस समय श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी गयामें थे। जायसवाल-जीके द्वारा उनसे परिचय हो चुका था। हम उनके बँगलेपर गये। चौधरीजी उन आई० सी० एस० भारतीयोंमेंसे थे, जिनको विद्याका भी व्यसन होता है। भारतीय इतिहास और कलासे उनका विशेष प्रेम था। उस दिन आधी रातके बाद तक हमारी बात होती रही। गयामें अपने साथीको बोधगयाका दर्शन करानेकेलिए आया था। अगले दिन चौधरीजी अपनी मोटरपर हमें बोधगया ले गये। बोधगया धर्मशालामें तीन मंगोल और दो-तीन चीनी भिक्षु थे। चीनी भिक्षुओंमें दोकी आपसमें लाग-डाँट रहा करती थी। उनमें कुबड़ा शुद्धचीनी और दूसरा अर्द्धचीनी (तिब्बती माताका पुत्र) था। कुबड़ा यद्यपि बहुत वर्षोंसे यहाँ रह रहा था, किन्तु उसने कभी हिन्दी सीखनेकी ओर ध्यान नहीं दिया। उसका नाम फ़ू-चिन् था। उसके प्रति-द्वन्दीने भी अपना नाम फ़ू-चिन् रख लिया था, और भेद करनेकेलिए उन्हें बड़ा-छोटा फ़ू-चिन् कहा जाता था। बड़े फ़ू-चिन्ने नाम रखनेके विरुद्ध ज़िला मजिस्ट्रेट तक अर्जी लगाई थी, लेकिन बड़े फ़ू-चिनकी अर्जीका पढ़ना किसीके बसकी बात नहीं थी। उसके पास चीनी अंग्रेजी कोश था, जिसे देखकर वह अंगरेज़ीमें अर्ज़ी लिखा करता

था। अपने प्रतिद्वन्दीके विरुद्ध वह शिकायत कर रहा था—"चोता फ़ू-चिन् काना पेसी-पेसी, पूचा तोरा-तोरा, बरा फ़ू-चिन् पूचा पेसी-पेसी, काना तोरा-तोरा" अर्थात् छोटा फ़ू-चिन् पूजा कम करता है और खाना बेशी खाता है, लेकिन बड़ा फ़ू-चिन् पूजा बेशी करता है और खाना कम खाता है।

मन्दिरके भीतर तिब्बती लोगोंने घीके दीपकोंको जला-जलाकर भीतर चिप-चिप कर रखा था। महंतकी कृपासे बुद्धके माथेपर वैष्णवी तिलक और कपड़ेकी अल्फी अब भी पड़ी थी। यह दृश्य किसी भी बौद्धकेलिए असह्य था। बौद्धोंका यह परम पवित्र स्थान कबतक अवांछनीय हाथोंमें रहेगा?

गयामें आकर साहित्यिक पंडाधिराज श्री मोहनलाल महतोसे मिले बिना कैसे लौटा जा सकता था। उनका पुराना घर गिर गया था। एक दूसरे घरमें मुलाक़ात हुई। कुछ देर सन्तसमागम रहा, लेकिन हरिकथा नहीं।

चौधरी महाशय पहुँचानेकेलिए स्टेशनपर आये हुए थे। उनके एक परिचित सज्जनको उनके ब्याहकी बड़ी फ़िक्र थी। वह कहने लगे—साहेब, आप ब्याह कर लें।

—क्या ज़रूरत है?

—आराम मिलेगा।

—और तरद्दुद?

उक्त सज्जन मुझसे कहने लगे—आप क्यों नहीं ब्याह करनेकेलिए इन्हें समझाते?

—मैं क्यों समझाऊँ, जब देखता हूँ कि एक आदमी ठीक रास्तेपर है।

—सभी सन्त तो नहीं हो सकते?

—शादी हो जानेपर ही इसका कौन निश्चय है?

सुल्तानगंज—८ मार्चको पटना होते सुल्तानगंजकेलिए रवाना हुआ। इधर सीतामढ़ीसे ही गलेमें खराश और खाँसी हो रही थी। मैं समझता था, कि निनाँवाँ या काँटे निकल आये हैं। अभी मुझे नहीं मालूम हो पाया था, कि यह टोन्सिलकी बीमारी है, जितनी जल्दी उसे आप्रेशन करके निकलवा दिया जाय, उतना ही अच्छा। जमालपुरमें देखा, कि यहाँ भूकम्पने मकानोंको अधिक नुक़सान पहुँचाया है। सुल्तान-गंजमें धूपनाथसिंह और उनके बड़े भाई देवनाथसिंहका आतिथ्य था। उनके परिवारसे और विशेषकर धूपनाथसिंहसे मेरी बहुत आत्मीयता थी। धूपनाथसिंह ज़मींदारकी तहसीलदारी छोड़कर विरागी बन गये थे, किन्तु पीछे उन्होंने

कुमार कृष्णानन्दसिंहकी खज़ाँचीगिरी स्वीकार कर ली थी। दरबारमें उनके जैसे ईमानदार आदमीका टिकना मुश्किल था। दरबारके गिद्ध कब पसन्द करते थे, कि धूपनाथ कुमारके पास रहें। मालूम हुआ, उन्हें नौकरी छोड़नेकी नौबत आ रही है। मुझे तो यह बात अच्छी मालूम हुई। कुमारको इतना विश्वासपात्र आदमी नहीं मिलता, किन्तु उनके रहनेसे भी कुमारका विशेष फ़ायदा नहीं हो रहा था। खर्च अंधाधुंध चल रहा था और लोग बहती गंगामें हाथ धो रहे थे। गढ़पर कुमार साहेबका बँगला बन रहा था, भूकम्पके कारण उसे फिरसे गिराकर बनानेकी आवश्यकता पड़ी थी। दीवारकेलिए नींव खोदी जा रही थी, उसी वक़्त ऊपरी धरातलसे पौने ६ फ़ीट नीचे पुरानी दीवार निकल आई। वहाँ एक चबूतरा भी मिला, जो पौने बारह फ़ीट अर्थात् ऊपरसे साढ़े सत्तरह फ़ीट नीचेतक चला गया था। सबसे नीचेकी ईंट चौड़ाईमें सवा ग्यारह और मोटाईमें सवा दो इंच थीं। दूसरी ईंटें थीं १४×७×२$\frac{१}{२}$, १३×८×२, १२$\frac{३}{४}$×८$\frac{१}{२}$×२, ९$\frac{३}{४}$×७$\frac{१}{४}$×२ इंच। ऊपरी तलसे दो फ़ीट नीचे एक फ़ुट मोटी और दो फ़ुट लम्बी राखकी तह मिली थी, अर्थात् आग लगी थी। एक जगह ऊपरी तलसे ४ फ़ीट नीचे ९$\frac{३}{४}$×७$\frac{१}{४}$×२ इंचकी दो फ़ुट मोटी दीवार मिली, जिसकी जोड़ाई बहुत अच्छी थी और दीवारपर बाहरकी ओर गौंखे बने हुए थे। ये दीवारें ९वींसे १२वीं शताब्दीतककी मालूम होती थीं, यदि चबूतरेकी निचली नींवको छोड़ दिया जाय। सुल्तानगंज प्राचीन स्थान है। वहाँकी गुप्तकालीन पीतलकी विशाल बुद्धमूर्त्ति एडिनबरामें मौजूद है, इसलिए गुप्तकालसे उसका सम्बन्ध तो है ही।

१० मार्चको मुँगेर देखने गये। भूकम्पने सबसे अधिक हानि इसी नगरको पहुँचाई थी। चौक बाज़ार और पूरबसराय बिल्कुल सहेट-महेट हो गये थे। राजा रघुनन्दनप्रसादके मकानके पास अब भी दबी लाशोंकी बदबू आ रही थी। शहरका मलवा हटानेमें अभी काफ़ी देर थी।

अगले दिन मैं पटनामें था। वहाँ विक्रमशिलासे तिब्बत गये आचार्य दीपंकर श्रीज्ञानके शिष्य डोम्-तोन्-पा द्वारा रचित "गुरुगुणधर्माकर"में विक्रमशिलाके बारेमें देखने लगा। डोम्-तोन्-पाने लिखा है, कि नालन्दाके भिक्षु कपलने गंगाके किनारे एक पहाड़ीपर बिहार बनवाया था। पीछे भिक्षु पालवंश-संस्थापक महाराज गोपालके पुत्र धर्मपालके रूपमें पैदा हुआ। धर्मपालने वहाँ एक विशाल बिहार बनवाया। पालवंशी राजा महीपालने वज्रासन (बोधगया) बिहारसे दीपंकर श्रीज्ञानको विक्रमशिला बिहारमें बुलवाया। विक्रमशिला नामक चट्टान बिहारके उत्तर

तरफ़ थी और भंगलपुर राजधानीसे विक्रमशिला बिहार उत्तर तरफ़ था। सुल्तान-गंजके विक्रमशिला होनेमें पक्ष और विपक्ष दोनों प्रकारके प्रमाण इतने समान हैं, कि उसके बारेमें कोई निश्चय करना आसान नहीं है।

१६ मार्चतक मुझे पटना हीमें रहना था। मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति मेरे साथ थे। आपरेशनसे अब वह स्वस्थ हो गये थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि तिब्बती भाषाकी पंडिताईके साथ यदि वह कुछ संस्कृत पढ़ लेते, तो अच्छा था; किन्तु उनके-लिए संस्कृत सचमुच "बूढ़ा तोता रामराम"वाली बात थी। मार्चके मध्यमें ही गर्मी उनके बर्दाश्तके बाहर हो गई थी, लेकिन इसपर भी वह हफ़्तों नहानेका नाम न लेते थे। मुझे डर लगता था, कि कहीं बीमार न पड़ जायँ।

बिहार भूकम्प सहायताके सम्बन्धमें गांधीजी पटना आये हुए थे। उनकी परि-चिता एक अंगरेज़ महिला स्वदेश लौटनेवाली थीं। जहाज़का जल्दी प्रबन्ध होना मुश्किल था, यदि वह जल्दी मिल सकता था, तो लंकासे ही। राजेन्द्र बाबूने उनको बतलाया कि मेरे लंकामें परिचित व्यक्ति हैं। मैंने सर जयतिलकको पत्र और तार दे दिया। इसी कामके सम्बन्धमें मैं गान्धीजीके पास गया हुआ था। इससे पहिले भी गान्धीजीसे मिलनेका मुझे एकसे अधिक बार अवसर मिला, लेकिन मुझे कभी उनसे कोई अधिक बात जाननेकी इच्छा नहीं हुई। उनके आदर्शवादका सन्मान करते हुए भी मैं बौद्धिक तौरसे उनसे बहुत दूर था, इसीलिए मैं कभी उनके यहाँ गया भी तो कुछ मिनटोंसे अधिक नहीं ठहरा। गान्धीजीके पाससे जब मैं बाहर आया, तो मालवीयजी महाराज मिल गये। उनको विश्वास था, कि बुद्ध ईश्वरके भक्त थे। जब सारनाथमें किसीने उल्टी बात बताई, तो उनको बहुत आश्चर्य हुआ। मैं बौद्धधर्मका प्रसिद्ध पंडित माना जाता था। उन्होंने मुझसे पूछा—क्या सचमुच ही बुद्धने ईश्वरको नहीं माना है? मैंने "सब्बं अनिच्चं" इस बुद्धवाक्यको बतलाया और कहा कि इस नियमका ईश्वर भी अपवाद नहीं हो सकते। फिर मैंने महाब्रह्मा-वाली दीर्घनिकायकी कथा सुनाई, जिसमें ईश्वरका स्पष्ट निषेध है। मालवीयजीको खेद तो हुआ होगा, किन्तु मैं सत्यका अपलाप कैसे करता?

मुझे इस साल फिर तिब्बतमें दूसरी यात्रापर जाना था। जानेसे पहले मालूम हुआ कि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी मुझे अपना पूजित सदस्य बना रही है, इसकेलिए कोई हर्ष विस्मयकी बात नहीं थी, किन्तु विचित्र बात यही थी, कि जेम्स, फाकस, हैलट तथा दूसरे अंगरेज़ नौकरशाहोंने इस सन्मानकी स्वीकृति दी थी, और मुझे अब भी अंगरेज़ नौकरशाहोंकी परछाईंसे नफ़रत थी।

१२

द्वितीय तिब्बत-यात्रा (१९३४) ई०

२—ल्हासाको

कलिम्पोङ्—२० मार्चको धर्मकीर्तिके साथ मैं पटनासे कलिम्पोङ्केलिए रवाना हुआ। जहाज़से गंगापारकर सोनपुर, कटिहार और पार्वतीपुरमें गाड़ी बदलते अगले दिन सुबह होते-होते हम सिलीगोड़ी पहुँच गये। ४) रु०में दोनोंकेलिए टेक्सीमें स्थान मिल गया। रास्तेमें धर्मकीर्त्तिको बहुत कै हुई। ढाई घंटेमें हम लोग कलिम्पोङ पहुँचे। साहू भाजू रत्नने (जिनको तिब्बती लोग शमो-कर्पो—सफेद टोपीके नामसे पुकारते हैं) स्वागत किया। हम लोग बौद्धप्रतिष्ठानमें ठहराये गये। नेपालमें वेष बदलकर सीमान्ततक पहुँचानेवाले दशरत्न साहुने मेरी सहायता की थी, अब वह भिक्षु धर्मालोक थे। वह भी यहाँ मिल गये और मालूम हुआ कि उन्हें भी तिब्बत जाना है। मेरी खाँसी बन्द नहीं हो रही थी—खाँसी होना शुभ लक्षण नहीं है। मैं कुछ दवाई करते काम-धन्धेसे थोड़ा विश्राम भी लेने लगा।

कलिम्पोङमें बिहारके बहुत आदमी रहते थे, यह कैसे हो सकता था कि वे मिलने नहीं आते। बलिया-निवासी हरेराम बाबा, बारह-तेरह सालसे इधर रह रहे थे। उन्हें मेरी नास्तिकतापर कुछ खेद तो ज़रूर हुआ होगा, किन्तु अपनोंके हाथकी रूखी रोटी भी मीठी होती है। परमहंस मिश्र दूसरे तरुण थे, जो यहाँ अध्यापकी कर रहे थे। वह तो और भी अधिक आया करते थे। वासुदेव ओझा (धनगडहा) तीसरे मित्र थे, जो हर तरहसे सहायता करनेकेलिए तैयार थे। धर्मालोकजी तो बराबर ही साथ रहते थे और उनकी बातें बड़ी मनोरंजक होती थीं। उन्होंने अब मौन पर्यटकाधिराजका व्रत लिया था। वह तिब्बत होकर बोधिसत्त्व मंजुश्रीको ढूँढ़ने चीन जानेकी इच्छा रखते थे। धर्मालोकजीसे एक दिन नेपालके भूतोंके बारेमें बातचीत होने लगी। उनके कथनानुसार नेपालमें अठारह प्रकारकी भूत-जातियाँ हैं—

(१) मुंड़कटा—सिर कटनेसे मरा व्यक्ति;
(२) अगतित्वों—बहुत पीड़ा और अज्ञानसे मरा व्यक्ति;
(३) राछस—जो बनमें मिलनेपर आदमीका कलेजा खा जाता है;
(४) कौं—कंकालमात्र शरीरवाला जो "कौं" कहकर बोलता है;
(५) कीं-चक्-नीं—भूतनी जो सुन्दरीका रूप धारणकर छरती और मारती है;

(६) मीचू-लाखे—नदियों और सूने मैदानोंमें मुँहसे आग निकालकर दौड़नेवाला राकस;
(७) हाँन्याघर—हवाई भूत जो घरमें बैठकर ढेला फेंकता है;
(८) सीक-अगति—उसी घरमें मरकर रहनेवाला भूत;
(९) ख्याक्-तुयू-म्ह—सफ़ेद बानर जैसा, हानि नहीं लाभ देनेवाला भूत;
(१०) भ्वाठऽ-ग्वारा-ख्याक्—चिथड़ा लपेटनेवाला भूत जो आदमीको गिराकर हँसता है;
(११) नाङ्-सृ-ख्याक—रास्तेमें नाम लेकर पुकारनेवाला भूत;
(१२) गुरु-रुरु-ख्याक—कोटेपर धमधम करनेवाला भूत जो अत्यन्त कल्याणकारी है;
(१३) लँ-पनेम्हऽ-ख्याक्—रास्ता रोकनेवाला भूत;
(१४) ग्व-दू-मा-मि-सा—मूँछोंवाली भूतनी;
(१५) जङ्-की-को—यमदूत;
(१६) जू-मी—आदमीको सीधा ले जानेवाला भूत;
(१७) वारा-ख्याक्—प्रथम ऋतुमती मरके बनी भूतनी;
(१८) यो-ख्याक्—चरखा कातनेवाली भूतनी।

मुझे अफ़सोस हुआ, कि संख्या बीसतक पहुँचने नहीं पाई, लेकिन मैं तो इसकी आधी संख्याको भी अपने यहाँसे पूरा नहीं कर सकता था।

छपराके लोगोंने यहाँ कलकत्ताकी तरह मजूरीका रोजगार नहीं उठाया है, बल्कि वह छोटे-मोटे साहूकार हैं, पहिले पैसा भुनानेका काम करते, फिर चवनियाँ-हार और नाककी लवँग रखते-रखते इन्हें सोनार बन जाना पड़ा। कलिम्पोङ्में उनकी पाँच-छ ज़ेवरकी दूकानें थीं, जिनके मालिक सभी जातिके थे।

मेरी पहिली यात्रामें ल्हासा रहते समय नेपालके प्रधान-मंत्री (जो वस्तुतः राजा थे) चन्द्रशमशेर मर गये। उनके स्थानपर उनके भाई भीमशमशेर गद्दीपर बैठे और उनके मरनेपर सबसे छोटे भाई युद्धशमशेर प्रधान-मंत्री या तीन सरकार बने थे। इसी समय पता लगा, कि नेपालमें एक छोटी-मोटी क्रांति हो गई, यद्यपि उसका प्रभाव केवल राना-वंशतक सीमित था। चन्द्रशमशेरके पुत्र अधिक शिक्षित, धनी और प्रभावशाली थे। उन्हें यह पसन्द नहीं हो सकता था, कि दूसरे लोग आधी शताब्दीतक राज करते रहें और उनको मौक़ा ही न मिले—नेपालमें प्रधान-मंत्रीका पद आनुवंशिक है और वह आयुक्रमसे सभी भाइयों और पीछे बेटों-भतीजोंमें घूमता

है। युद्धशमशेर अब प्रधान-मंत्री थे, रुद्रशमशेर उनके उत्तराधिकारी चीफ़ साहेब बने थे। समाचारपत्रोंसे पता लगा, कि रुद्रशमशेर और कितने ही और अधिकारसे वंचित करके दूसरी जगह भेज दिये गये और अब भीमशमशेरके पुत्र पद्मशमशेर चीफ़ हुए हैं, उनके बादके तीन उत्तराधिकारी चन्द्रशमशेरके लड़के—मोहनशमशेर, बबरशमशेर, और केसरशमशेर हुए हैं। इस प्रकार शक्ति चन्द्रशमशेरके पुत्रोंके हाथमें चली गई। डर तो उसी समय लग रहा था, कि शायद युद्धशमशेर और पद्मशमशेरको भी नेपाल छोड़ना पड़े, किन्तु यह बात एक दशाब्दी बाद हुई। इस छोटीसी क्रान्तिने, शुद्ध और अशुद्ध वंशके बहानेसे युद्धशमशेरके २२ पुत्रोंमेंसे १८को उत्तराधिकारी-सूचीसे निकाल दिया। वीरशमशेरने रानावंश-स्थापक जंगबहादुरके सन्तानके साथ ऐसा ही किया था, अब उन्हींके पुत्र रुद्रशमशेर और दूसरे अधिकार वंचित किये गये। चन्द्रशमशेरके पुत्र भी क्या इस बीमारीसे अछूते रह जायेंगे। शायद यही ख्याल करके उन्होंने युद्धशमशेर और पद्मशमशेरको १९४७ ई० तक राज्य करने दिया।

तिब्बतमें प्रवेश करनेकेलिए गन्तोकके पोलिटिकल-अफ़सरका आज्ञापत्र आवश्यक था। पटनासे अर्द्ध-सरकारी तौरसे गन्तोकमें मेरे बारेमें लिखा गया था। मैं कलिम्पोङ्में आज्ञापत्र आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। उधर श्री राजनाथ पाण्डेयने अबकी साल प्रयागमें एम० ए०की अन्तिम परीक्षा दी थी और वह भी ल्हासा चलनेकेलिए उत्सुक थे। तिब्बतकेलिए प्रस्थान करनेसे पहिले मेरे पास काफ़ी काम भी थे। मेरे भोट-भाषा-व्याकरणका प्रूफ़ आ रहा था, उधर लंकामें रहते मैंने स्वेन्-चाङ् अनुवादित विज्ञप्तिमात्रताके प्रतिशब्द श्री वाङ्मोलम्की सहायतासे एकत्रित कर लिये थे, जिन्हें अब मैं संस्कृतमें परिवर्त्तित कर रहा था। आगेके दूसरे कामोंके कारण मैं "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि"के आधेको ही संस्कृतमें करके प्रकाशित[1] करा सका। साथ ही इस समय एस्पेरन्तो भाषा सीखनेकी ओर कुछ रुचि हुई थी, किन्तु वह आगे बढ़ नहीं सकी।

यात्राकेलिए मैंने कहाँ-कहाँसे पाँच सौ रुपये जमा किये थे, जिनमें एक सौ रुपये "हिन्दुस्तानी" पत्रिकाके थे। सम्भव है कुछ महाबोधिसभासे मिले हों। इतनी बे-सरोसामानीसे तिब्बतमें बहुत काम तो नहीं किया जा सकता, किन्तु मेरी यात्रायें रुपयोंके बलपर नहीं होती थीं।

[1] बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नलमें।

दस अप्रैलको मेरी पुस्तक "तिब्बतमें सवा बरस" आई। दूसरी यात्रासे पहिले ही प्रथम यात्राकी पुस्तक छपकर आ गई, इसकेलिए मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अप्रैलमें खाँसीके साथ कुछ बुखार भी आया, मैंने यह सोचकर संतोष किया, कि तिब्बतमें घुसनेसे पहिले ही रोगसे तो छुट्टी मिल जाये। जायसवालजीको मेरी यात्राका महत्त्व मालूम था। १६ अप्रैलको उनके भेजे दो सौ रुपये मिले। मैंने उसपर लिखा था—"वस्तुतः उनका जैसा खर्च है, उससे तो उनसे कुछ लेना अच्छा नहीं है। तो भी वह इतने उदार हैं, कि मानेंगे नहीं।"

जापानी बौद्धविद्वान ब्योदो १७ अप्रैलको कलिम्पोङ आये और कुछ दिनों उनका समागम रहा। इसी समय अगले साल जापान जानेका विचार पक्का हुआ। एक मनोरंजक बात एक दिन बलिया ज़िलेके एक जमादारके मुँहसे सुननेमें आई। वह ब्राह्मण थे और यहाँके सब-जेलमें काम करते थे। बेचारे ग़रीबीके कारण ज़िन्दगी भर क्वाँरे रह गये और अब पचासके क़रीब पहुँचनेके कारण तमादी लगनेवाली थी। छुट्टी लेकर जब-तब "देश" जाते, किन्तु भाग्यका द्वार कहींसे खुलता नहीं दिखाई पड़ा। एक दिन बड़े खिन्न-मनसे कह रहे थे—"बाबा ! आखिर सगइया होई लेकिन....तिवारीके मुवाइके !" (विधवा विवाह तो आखिर होके रहेगा, किन्तु तब होगा जब मैं मर जाऊँगा।)

गन्तोक्—कलिम्पोङमें आये प्रायः एक महीने हो गये, पर अब भी गन्तोक्से आज्ञापत्र आनेका कोई लक्षण नहीं मालूम हो रहा था। वहीं चलकर दर्वाज़ा खट-खटानेका निश्चय करना पड़ा और १९ अप्रैलको श्री वासुदेव ओझाके साथ मोटरसे हम गन्तोक्केलिए रवाना हुए। १० मील नीचे उतरकर तिस्ता नदीके किनारे पहुँचे, फिर वहाँसे रास्ता ऊपरकी ओर बाएँ किनारेसे था। रम्-फूमें नदीका पुल दार्जिलिंग ज़िले और सिकिमराज्यकी सीमा है। यहाँके बाजारमें भी बिहारी दूकान-दार अधिक थे। सिम्-ताङ्के पास नारंगीके बाग़ मिले—सिकिमकी नारंगियाँ अपने माधुर्यकेलिए बहुत प्रसिद्ध हैं, यद्यपि वह इतनी मात्रामें नहीं होतीं कि दूर-दूर पहुँच सकें।

रातके साढ़े सात बजे हम गन्तोक् पहुँचे; समुद्रतलसे यह आठ हजार पाँच सौ फीट ऊपर है, लेकिन सर्दी अधिक नहीं है। रहनेकी कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए हमने एक मंदिरकी शरण ली। पोलिटीकल आफिसरके हेडक्लर्क छपरानिवासी थे। वासुदेवजीको आशा थी, कि उनसे कुछ सहायता मिलेगी, लेकिन उन्होंने खड़े-खड़े बड़े रूखे स्वरसे कहा—आप आज मंदिरमें रहिए, कल दस बजे दिनको आफिसमें

आइएगा। पुजारी अमनौर (छपरा) के पासके रहनेवाले थे, उन्होंने हमारे आरामका बहुत ख्याल रक्खा। अगले दिन पोलिटिकल-अफसरके क्लर्क बाबू ग्यल्-छन्-छे-रिङ्से मिले। यह उतने रूखे नहीं मालूम हुए। उन्होंने दस बजे आफिसमें आनेकेलिए कहा। पटनासे लिखनेपर भी कोई सुनवाई नहीं हुई, यहाँके पारखद भी अधिक अनुकूल नहीं दिखाई पड़े, फिर साहबसे क्या अधिक आशा रक्खी जा सकती थी। मैंने बँगलेपर जाकर अपना कार्ड भेज दिया। मिस्टर विलियम्सनने तुरन्त भीतर बुलाया और अच्छी तरहसे बात की। उन्होंने कहा कि आज्ञापत्रके बारेमें एक दो और बातें जाननी थीं, मैंने पटना लिखा था और उत्तरकी प्रतीक्षामें था। कुछ ही समय पहले बिहारके गवर्नरने बिहार रिसर्च सोसाइटीके वार्षिक अधिवेशनपर मेरी प्रथम तिब्बत-यात्रा और उसके कामकी बड़ी प्रशंसा की थी। संयोगसे जर्नलका वह अंक मेरे पास था, जिसमें भाषण छपा था। विलियम्सन वैसे भी सहृदय व्यक्ति थे, इस भाषणको पढ़कर तो वह और भी प्रभावित हुए और उन्होंने तुरंत क्लर्कको आज्ञापत्र लिखकर लानेको कह दिया। इसके बाद तो तिब्बतके बारेमें उनसे और घुल-घुलकर बातें होने लगीं। उन्होंने वहाँके अपनेलिए बहुत से फ़ोटो दिखलाए और हर तरहसे सहायता करनेकी इच्छा प्रकट की। मैंने इतना ही कहा कि आप अपने ट्रेडएजेंटको ग्याँची लिखदें। काम इतनी आसानीसे हो जायगा, यह मुझे विश्वास नहीं था, और यहाँ ग्यारह बजे तक आज्ञापत्र मेरे हाथमें था।

गन्तोक् आये तो कुछ और देख लेना चाहिए। पहले राजकीय बिहार और प्रासादकी ओर गये। महाराजा और महारानीसे भेंट हुई। महारानी विशेष समझदार मालूम हुईं। मैंने अपने तिब्बती प्राइमरकी एक प्रति भेंट की। जब मैं बिहार देखते वहाँ ठहरे तिब्बती लामाके पास पहुँचा, तो देखा रानी भी हर्षोत्फुल्ल हो मेरी प्राइमरको उन्हें दिखा रही हैं। लामासे काफ़ी देरतक बातें होती रहीं। वे मेरे नामसे पहले हीसे परिचित थे। पीछे वह ल्हासामें भी मिले और सहायता करनेकेलिए तैयार थे।

उसी दिन चार बजे चलकर पौने नौ बजे हम कलिम्पोङ् पहुँच गये। अब तिब्बत-केलिए प्रस्थान करना था। सवारीका प्रबंध होना कोई मुश्किल नहीं था, क्योंकि प्रतिदिन सैकड़ों खच्चर यहाँसे माल लेकर तिब्बतकेलिए रवाना होते हैं। हमें बड़ी सावधानीसे रुपया खर्च करना था। राजनाथकेलिए आज्ञापत्र मिलना आसान नहीं था। माँगनेपर उनकेलिए भी बनारसकी पुलिसको जाँच करनेको कहा जाता। इसलिए यही अच्छा समझा गया, कि वह नेपाली वेषमें चलें। उनका ठिगना शरीर

भी इसमें सहायक हुआ। फरी तककेलिए ३२ रुपयेमें एक सामान और दो सवारी के खच्चर किराये किये गये। रास्तेकेलिए आवश्यक चीजें और दवाइयाँ जमा कर ली गईं, जिनमें साबुन, दंतलेई, ब्लेड, फाउन्टेनपेन-स्याही, जूता, छाता, ताला, तौलिया, पेन्सिल, काग़ज़, लेटरपेपर, लिफाफा, टिकट, पोस्टकार्ड, लालटेन, चायबर्त्तन, ओढ़ने-का कपड़ा, टार्च, प्याला, चम्मच, और बरसाती तथा कितनी साधारण दवाइयाँ (टिंचर अइडिन, रुई, पट्टी, ज्वरकी दवा, जुलाब) शामिल थीं।

फरी-जोङ्को—२२ अप्रैलको सवा नौ बजे हम साहुभाजूरत्नसे विदा हुए। राजनाथ पाण्डे नेपाली टोपी और पाजामेमें थे। उनके साथ एक नेपाली तरुणको अलगडहा बाजार (आठ मील) तक भेज दिया था। राजनाथने नेपाली भेस तो बना लिया था, लेकिन बोली कहाँसे लाएँ। सलाह हुई कि पूछनेपर कह देंगे—हमारे माता-पिता शिमलामें रहते रहे, इसलिए मुझे नेपाली भाषा बोलनेका मौका नहीं मिला। चार मील और चलनेपर पेडोङ् आया। पुलिसने नाम-धाम लिखा। मैं भिक्षुवेषमें था, किन्तु मेरे पास आज्ञापत्र था, और राजनाथका भेस ही उनकेलिए आज्ञापत्रका काम दे रहा था। २३ ता०को ६ बजे सबेरे ही हमारा काफिला रवाना हुआ। तीन मील उतराईके बाद चढ़ाई शुरू हुई। फरी-तकमें अबकी सिकिमपुलिसने नाम-धाम लिखा। ५ मील चढ़ाईके बाद उतराई आई। यहाँ बड़ी इलायचीके बाग लगे हुए थे। पहले बड़ी इलायचीकी खान नेपाल थी, लेकिन अब गोरखा लोगोंने उसे नेपालके बाहरके पहाड़ोंमें भी फैला दिया है। रं-गी-ली बाजारमें साढ़े दस बजे पहुँचे। नेपाली बौद्ध कांछावांडा (वंद्य) ने बड़े आग्रह और प्रेमसे भोजन कराया। साढ़े बारह बजे हम फिर ऊपरकी ओर चढ़ने लगे। तीन घंटे बाद लिङ्-ताङ् पहुँच गये। जगह देखनेमें बहुत अच्छी मालूम हुई, लेकिन रातको पिस्सुओंने नींद हराम कर दी।

सबेरे उठे, तो पानी बरस रहा था। लेकिन पानीकी प्रतीक्षाकेलिए समय कहाँ था? हम सात बजे चल पड़े। आगे अब चढ़ाई ही चढ़ाई थी। तिब्बतका व्यापार-पथ होनेसे यहाँ आदमियोंकी आवाजाही बहुत रहती है, इसलिए मीठी चाय-की दूकानें जगह-जगह मिलती हैं। फदमचन् (४ मील)तक हम साढ़े चार घंटे पैदल ही चले। यहीं रोटी-चायका भोजन हुआ। अब हम डाँड़ेकी ओर जा रहे थे, इसलिए चढ़ाईकी क्या शिकायत? उस दिन रातको ज-लूमें जाकर ठहरे। यहाँ भी पिस्सुओंने सोने नहीं दिया।

२५ अप्रैलको ६ बजे ही रवाना हुए, चढ़ाई खूब कड़वी थी। पहले छोटा डाँड़ा

(जोत) आया, यहाँ पासमें चायकी दूकान थी। गङ्-चन्-ज़ोद्-लुङ् (किञ्चिनजंगा)-की चोटी दिखाई पड़ी। १ बजे हम नाथङ् पहुँचे। राजनाथ दूसरे नेपाली यात्रियोंके साथ आगे-आगे जा रहे थे, उनको किसीने नहीं पूछा; किन्तु जैसे ही मैं वहाँसे गुज़रा पुलिसने दौड़कर आवाज़ लगाई और पास दिखानेकेलिए कहा। पास दिखाते हुए मैंने कहा—मुझसे ही क्यों पास माँगते हो? जवाब मिला—नेपालियोंकेलिए पास नहीं देखा जाता। मैं मन ही मन हँसा—राजनाथ अच्छे नेपाली निकले। जिस वक़्त हम जा-लेप्-लाको पार कर रहे थे, उस वक़्त चारों ओर ख़ूब बादल था। ख़ैरियत यही हुई कि बर्फ़ नहीं पड़ी। जा-लेप्लाका डाँड़ा भारत और भोटकी सीमा है। आगे उतराई ही उतराई थी। साढ़े पाँच बजे ग्र्यू-थङ् पहुँचे और उसी आवसथमें ठहरे, जहाँ पिछली बार देववाहिनीका साक्षात्कार हुआ था।

हमारे खच्चरवाले पद्मोगङ्के रहनेवाले थे। उनका गाँव सड़कसे हटकर, नदीके भी परलेपार काफ़ी ऊँचे स्थानपर था। उन्हें अपने गाँवमें होकर जाना था। रास्तेमें रिन्-छेन्-गङ्में हमने चाय पी। अब हम बौद्धदेशमें थे, किन्तु कैसा बौद्ध-देश, जहाँ भूत-प्रेत और जादू-मंतर छोड़ किसी और बातपर श्रद्धा नहीं। स्यासिमामें अंगरेज़ी सैनिक-टुकड़ी रहती है। वहाँ हम एक बजेके क़रीब पहुँचे। डेढ़ मील आगे चलनेपर पुल पार हो पहाड़पर चढ़ने लगे। ३ मील जानेके बाद डोइ-डुब हमें अपने गाँव पद्मोगङ्में ले गया। चुम्-बी (टो-मो) उपत्यकाका यह एक अच्छा गाँव है। यहाँके लोगोंकी जीविका खेतीके साथ माल-ढोलाई भी है। गाँवमें सोलह परिवार हैं, जो सभी भाइयोंके एक ब्याह होनेके कारण शायद कभी बढ़े नहीं। पीढ़ियोंकी अविभक्त सम्पत्ति यहाँ जमा होती रही होगी, किन्तु तीन वर्ष पहले आग लगनेसे सारा गाँव जल गया। गाँवके इतिहासके बारेमें एक वृद्धने बतलाया कि यह डेढ़ हज़ार वर्ष पुराना है, अर्थात् भोटके प्रथम सम्राट स्रोङ्-चन्-गंबोसे भी पहले का। इतने लम्बे कालका उल्लेख तो नहीं मिल सकता, किन्तु कोई स्थान प्रागैतिहासिक भी हो सकता है। हाँ, इस गाँवकी एक विशेषता ज़रूर थी। यह लोग बोन्धर्मके माननेवाले थे, जो भूतप्रेत-पूजाके रूपमें बौद्धधर्मके आनेसे पहिले यहाँ मौजूद था। इस गाँवमें बोन्-धर्मके दो मन्दिर हैं। किन्तु दोनोंमें शाक्यमुनिकी भी मूर्त्तियाँ हैं। मन्दिरमें बोन्धर्मकी कुछ हस्तलिखित पोथियाँ भी हैं, जिनमें बोन-बुम् (बोन्धर्मकी शतसाहस्रिका)की सोलह पोथियाँ बहुत पुरानी हैं—इनमें तालपोथियोंकी तरह छिद्रस्थान बने हैं और शताब्दियों पहिलेसे परित्यक्त दकार (द-द्रग) भी मौजूद हैं। वस्तुतः बोन्धर्मने बहुतसी चीज़ें बौद्धोंसे ले ली हैं, इसलिए यह वही प्रागबौद्ध-

कालीन बोन्धर्म नहीं रहा। पूर्ववाला देवालय अधिक पुराना है। इसके द्वारपर चीनी अक्षरोंमें भी कुछ लिखा है, लेकिन इन काठके घरोंमें न जाने कितनी बार आग लगी होगी और बहुत कम ही चीजें बचाई जा सकी होंगी।

२७ अप्रैलको भी यहीं ठहरना पड़ा। अबकी गर्मियोंमें विनयपिटकका हिन्दीमें अनुवाद करना था, इसलिए आजसे ही वह काम शुरू कर दिया।

२८ अप्रैलको साढ़े छ बजे ही चल पड़े। आज २२ मील चलकर फरी-जोङ पहुँचना था। दो मील उतराईके बाद टो-मो गेशेका बिहार मिला। टोमो इस हरी-भरी उपत्यकाका नाम है, जिसे अंग्रेज़ीमें चम्बी या चुम्बी कहते हैं। टो-मो-गेशे अवतारी लामा नहीं थे, लेकिन उनकी सिद्धाईकी दार्जिलिंग और कनौरतक ख्याति थी। बारह बजेसे पहिले ही हम गो पड़ावपर पहुँच गये। आज दिन अच्छा था। आसमान भी साफ़ था। आठ मील पूर्व हीसे फरी और पास दिखाई पड़नेवाला फर्गँ-री शिखर सामने खड़ा था। इसी समय एक बड़ी रोमांचकारिणी दुर्घटना घटित हुई। राजनाथसे मैंने पहिले घोड़ेकी सवारीके बारेमें पूछ लिया था। उन्होंने कहा कि चढ़ लेता हूँ। मैं इतमीनानसे फरी गाँवको देखता आगे-आगे जा रहा था। इसी वक़्त मैंने मुँह पीछे फेरा, तो देखा राजनाथकी खचरी ढलुवा मैदानपर नीचेकी ओर भाग रही है। पचास-साठ गज दौड़नेपर राजनाथ गिर पड़े। खच्चर बोझा ढोनेवाले थे, इसलिए उनपर चारजामा रिकाब नहीं थी। रिकाबका काम चमड़ेके फीतेको लटकाकर किया गया था। एक पैर फीतेमें फँस गया। खचरी घूमने लगी, पैर और भी फँसता गया। मेरा दिल सन्न हो गया था। कुछ ही सेकेंडोंमें भयंकर घटना घटनेवाली थी। इसी समय खचरी बैठ गई। राजनाथने पीछे बतलाया कि उन्होंने खचरीके अगले पैरको पकड़ लिया था। खैर आदमी दौड़े, पैर छुड़ाया गया। उन्हें फिरसे खचरीको ठीककर चढ़ाया गया। मैं अपने खच्चरको पीटते ही रह गया, लेकिन वह फरीको सामने देखकर पीछे लौटनेकेलिए तैयार न था। उतरना चाहा तो वह कूदने लगा। राजनाथ मौतके मुँहमेंसे निकले थे, इसमें संदेह नहीं। फरी पहुँचकर शरीरको अच्छी तरह देखनेपर मालूम हुआ, कि हड्डी कोई नहीं टूटी है, कई जगह चमड़ा छिल गया है। मुझे ख्याल हो रहा था कि यदि कोई अनिष्ट होता तो 'जइहौं अवध कवन मुँह लाई'।

२८ अप्रैलसे ५ मई तक फरीमें ही रह जाना पड़ा। राजनाथ तो दूसरे दिनसे ही तैयार हो गये थे, किन्तु वहाँसे खच्चरका प्रबन्ध नहीं हो रहा था। अब फरी ही देखने लगे। योरोपीय यात्रियोंने फरीगाँवको दुनियाँका सबसे गंदा स्थान बतलाया

है। हो सकता है इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो, किन्तु शहरके भीतर और बाहर सभी जगह कूड़ा-कर्कट, पाखाना-पेशाब फैला मिलेगा, जिनपर महीनोंसे कुत्तोंकी लाशें पड़ी दीख पड़ेंगी। १४००० फ़ीटसे अधिक ऊँचाई होनेके कारण यहाँ बारहों महीने सर्दीकी अधिकता है, इसलिए लाशें जल्दी सड़ती भी नहीं। भारतीय सीमासे ग्यांचीतककी सड़क और बँगले अंग्रेज़ी-सरकार (भारतीय सरकार)की देखरेखमें है। टो-मो-उपत्यकासे ग्यांचीतक आसानीसे मोटर चलाई जा सकती है। अंग्रेज़ोंने दो मोटरें मँगाई भी थीं, जो अब भी यहाँ गराजमें बन्द थीं, किन्तु उनको देखकर खच्चर एवं चवँरियाँ भड़कने लगीं। भोट सरकारने विरोध किया, तबसे मोटरें गराजमें क़ैद हैं।

फरीमें बादल तो मानो बारह मास रहते हैं और वर्षा होती है बर्फ़के रूप हीमें। हवा इतनी पतली है, कि १५ पग चलनेपर भी साँस फूलने लगती है। फरीके पासके पहाड़ोंको पारकर आधे दिनमें भूटान पहुँचा जा सकता है। भूटानी लोग फल, साग और चावल बेंचनेकेलिए यहाँ आया करते हैं।

खच्चर मिलनेकी कठिनाई अब भी थी। सबसे दिक़्क़त धर्मकीर्त्तिकेलिए थी, उनकी तबियत ठीक नहीं थी। मैं चाहता था, कि उनको कमसे कम खच्चरपर ल्हासा भेज दूँ। उधर ५ मईको कलिम्पोङ्से तार आया, कि सौ रुपयेका चेक भुन नहीं सका अर्थात् अब खर्च करनेकेलिए मेरे पास तीन सौ रुपये ही रह गये थे। खैर, उसकेलिए मैं ज़्यादा चिन्ता नहीं कर रहा था। यद्यपि यहाँ रहते अनुवादका काम जारी था किन्तु मैं अब उकता गया था। डाक बाबूकी सहायतासे अन्तमें ५ मईको चार घोड़ोंका प्रबन्ध हो गया। इसी समय ब्रिटिश ट्रेडएजेंट कप्तान हेली भी वहाँ आ पहुँचे। मिस्टर विलियमसनने, जान पड़ता है, उनके पास पत्र लिख दिया था। उन्होंने चायकेलिए निमन्त्रित किया और कहा कि आप सरकारी डाक-बँगलेको इस्तेमाल कर सकते हैं। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और लौटते समय इस्तेमाल करनेकेलिए कहा—किन्तु लौटना मेरा नेपालके रास्ते हुआ।

ल्हासाको—६ मईको हम फरी छोड़ सके। कप्तान हेलीसे रास्तेमें मुलाक़ात हुई, किन्तु वह हमसे बहुत पहिले ग्यांची पहुँचनेवाले थे। फरीसे काफ़ी दूरतक आसमानमें टँगा दुनियाका यह सबसे ऊँचा मैदान चला गया है। यहाँ सदा तेज़ हवा चलती रहती है। खैरियत थी, कि वह पीछेसे आ रही थी। हवाकी सर्दी रोकनेकेलिए हमारे पास कपड़ा काफ़ी था और पिछले सप्ताहभरकी फरीकी मारसे राजनाथ भी पक्के हो गये थे। उस दिन हमारा डेरा दूना गाँवमें रहा।

७ मईको २ बजे रात हीको उठे। थुक्-पा (मांस सहित पतली लपसी) पीते-

पीते सवा चार बज गये। कुछ उजाला भी हो चला। फिर वहाँसे हम रवाना हुए। सर्दी खूब थी। कहीं-कहीं बर्फ़ ओसके रूपमें पड़ी मिली। साढ़े तीन घंटेमें चौदह मील चलकर हम दोज़िन् पहुँचे। पासमें विशाल ल्ह-म्छो (देवसरोवर) आज बिल्कुल शान्त था। हंसोंके कलरव जहाँ-तहाँ सुनाई देते थे। फरी-शिखरका बड़ा सुन्दर दृश्य सामने था। साढ़े दस बजे छ्-लू गाँवमें पहुँच गये, लेकिन घोड़ेवाले तीन बजे आये। बीचके दो-तीन बस्तियोंसे निराश होकर उस रातको क-ला-नुब् गाँवमें ठह-रनेकी जगह मिली। फरीसे पहिले दिन उन्नीस मील, दूसरे दिन सत्रह मील और आज ३८ मील (६७से २९वें मीलतक) आये। उस दिन खङ्-मर गाँवमें रहना पड़ा। डे-पुङ् बिहारके अवतारी लामासे भेंट हो गई, जिससे रहनेका स्थान अच्छा मिल गया। अब ग्यांची २९ मील रह गया था।

९ मईको साढ़े चार बजे ही हम चल पड़े और बीचमें दो घंटा चाय-विश्राम करते पौने चार बजे ग्यांची पहुँच गये।

ग्यांची निश्चिन्तताका स्थान था। धर्ममान साहुकी कोठीकी यहाँ एक शाखा थी, उनके सुपुत्र ज्ञानमानसाहुने सीधे ल्हासा आनेकी चिट्ठी लिखी थी। ग्यांची अन्तिम विश्वसनीय डाकघर था—यह भारत सरकारके आधीन था। चार दिन ग्यांचीमें रहे। किन्तु उसे बेकार नहीं जाने दिया। विनयपिटकके अनुवादका भी काम चलता रहा और ग्यांचीके पुराने बिहारको अच्छी तरह देखा भी। ग्यारह मईको मैं गुम्बा (बिहार) देखने गया। पिछली यात्रामें भी मैंने देखा था, किन्तु उस समय अभी आँखें अच्छी तरह खुली नहीं थीं। उपोसथागारके किनारे तीन तरफ़ तीन सुन्दर मन्दिर हैं। प्रधान मन्दिरमें बुद्धकी मूर्त्ति है, दाहिनी ओरका मन्दिर अधिक पुराना मालूम होता है। उसमें नाथ-त्रय (मंजुघोष, एकादशमुख अवलो-कितेश्वर और वज्रपाणि)की मूर्त्तियाँ हैं।

बाईं ओरकी चार मूर्त्तियोंमें कोनेकी मूर्त्ति आचार्य शान्तरक्षितकी है। यह तुंगनास और शुकनास दोनों हैं। फिर भोटके तीन धर्मराजों—स्रोङ-चन-गंबो, ख्री-स्रोङ्-दे-चन् और रल्-पा-चन्की मूर्त्तियाँ हैं। भित्तिचित्र भी यहाँके बहुत अच्छे हैं। यह देवालय निश्चय ही छ-सात सौ वर्षसे इधरका नहीं हो सकता। वैसे कहावत है, कि इसे धर्मराजा रब्-तन्-कैं-जनने बनवाया था, जिसका समय पन्द्रहवीं सदीके आसपास है। गुम्बाका स्तूप भी असाधारण है। इसमें बहुतसे भित्तिचित्र हैं। स्तूपकी बग़लके एक मठमें चोङ्-ख-पाके मेधावी शिष्य खस्-ग्रुब् (१३८५-१४३८ ई०)रहे थे। एक सन्दूक़के भीतर मूर्त्तिके साथ उनके हाथकी कितनी ही

वस्तुयें वन्द हैं। इस बिहारमें स-स्क्य-पा, बू-स्तोन्-पा और गे-लुक्-पा तीनों सम्प्रदायोंके भिक्षु इकट्ठा रहते हैं।

१३ मईको हम ग्यांची छोड़ सके। आज भी एक जगह भिक्षु धर्मालोककी खच्चरी ठोकर खाकर गिरी, जिसपर राजनाथवाली खच्चरीने दुलत्ती मारकर उन्हें गिरा दिया। वस्तुतः राजनाथ गुरुत्वाकर्षणके भरोसे सवारी करनेवाले सवार थे। मुझे बड़ी चिन्ता होने लगी। पैदल वह चल नहीं सकते थे और तिब्बतकी खच्चरियाँ उनके मानकी नहीं थीं—मरियल भी उनकेलिए शेर बन जाती थीं। और अबकी खच्चरीने उन्हें पत्थरपर पटका था। छातीके बाईं ओर और घुटनोंमें चोट आई। कलेजा ज़रासा बच गया। वह कुछ देरतक मूर्च्छित रहे। किसी तरह २२ मील चलकर उस दिन स-ल-गङ् गाँवमें डेरा डाला। गाँवके धनी व्यक्तिके घरमें जगह मिली। आजकल "कातिक"की भीड़ थी, मजूरों और कमकरोंसे घर भरा हुआ था। आवभगत तो हुई, लेकिन भूत-भविष्यकी पूछताँछ भी बहुत होने लगी। लामा, उसमें भी भारतीय लामा हो और भाग्य न भाख सके, तो वह कैसा लामा !

अब एक और समस्या आ खड़ी हुई। धर्मालोकजी पुराने ढंगके आदमी थे, दुनियाकी बातें नहीं जानते थे और सीधी-सादी बातें करते रहते थे। राजनाथ नवतरुण थे, इसी साल एम० ए०में प्रथम आये थे। वह बीच-बीचमें कुछ मज़ाक़ कर देते थे। पहिले तो धर्मालोक समझ नहीं पाते थे, लेकिन जब बात उनको मालूम हो गई, तो उन्हें अपने तरुण सहयात्रीकी सूरतसे भी नफ़रत हो गई। उस दिन दूसरी मरतबे राजनाथ मौतके मुँहसे निकले थे, किन्तु धर्मालोकजीने दवा लगानेसे इन्कार कर दिया। हमारा क़ाफ़िला कुछ छोटा-मोटा शंकरका परिवार-सा बन गया था। किन्तु किसी तरह सम्हालकर तो ले चलना था। १४ मईको हमारी यात्रा जारी रही। राजनाथ बिल्कुल उदास थे—कारण चोट भी थी और हियावकी कमी भी। वह थे भी काँचके बरतनकी भाँति। उन्हें बहुत सम्हालकर ले चलना था और एक सीधा-सादा घोड़ा खरीदकर कलिम्पोङ् लौटा देना था। धर्मालोकजी आज सारे दिन पैदल आये और साढ़े चार बजे ज़-राके विश्रामस्थानपर पहुँचकर अपने काममें डँट गये। हाँ, वह राजनाथसे बात करनेकेलिए तैयार न थे।

ज़-राका डाँड़ा हमने कल ही पार कर लिया था। आज (१५ मईको) ग्यारह बजे नङ्-कर-चे पहुँचे। यहाँ खच्चर मिल रहे थे, किन्तु आगे न्यम्-पा-सी-पो ओत् (नम्पा-शिवा)में छू-शिङ्-सा (धर्ममान सावकी कोठीका नाम)का माल भेजनेवाला एजेंट रहता था। उसकेलिए पत्र भी था। इसलिए तीन मील और चलकर

वहाँ पहुँच गये। यहांसे फग्-ग्रुब् (फग्-डुप्)का ऐतिहासिक बिहार सामने किन्तु दूर दिखाई पड़ता था। तिब्बतमें यही एक बिहार है, जहाँ स्त्री अवतारी लामा है—उसे वज्रवाराहीका अवतार माना जाता है। आजकल वह ध्यान-पूजामें थीं, इसलिए हमने वहाँ जानेका आग्रह नहीं किया।

१६ मईको हम युम-डोक् महासरोवरके किनारे-किनारे आगे चले। यह स्थान फरीके क़रीब ऊँचा है। एक जगह जंगली गुलाबकी झाड़ियाँ मिलीं, किन्तु उनके लिए अभी बसन्त नहीं आया था और अभी भी वह निष्पत्र थीं। उस दिन बीस मीलसे ऊपर चलकर रातको ठमा-लुङ् गाँवमें ठहरे।

१७ मईको खम्-बाका ऊँचा डाँड़ा पार करना था। चढ़ाई डेढ़ मीलसे अधिक नहीं थी, किन्तु थी अधिक कठिन। फिर ५ मीलकी उतराई उतरकर साढ़े आठ बजे ख़म्-बाकचे गाँवमें जाकर चाय पी और विश्राम किया। सवा बारह बजे हम ब्रह्मपुत्रके घाटपर पहुँच गये। चा-सम्-छ्-वो-री नामक पवित्र पर्वत बगलमें था। लोग इसकी दण्डवत् (भूंइपरी) करते परिक्रमा करते हैं। धर्मालोकजी बतला रहे थे कि यह पर्वत तिब्बतका नहीं भारतका है, यह वहाँसे लाया गया है। मैंने कहा—यह कोई असम्भव बात नहीं है। पुराने समयमें पर्वत उड़ा करते थे।

—क्या पंख होते थे?

—हाँ, पंख होते थे।

—ब्राह्मणोंके पुराणोंमें लिखा है कि इन्द्रने इनके पंखोंको काट दिया, तबसे बेचारे बेपंख हो धरतीपर पड़े हैं।

—तो उसी वक़्तसे पर्वत आए होंगे?

—हाँ, नहीं तो इतने बड़े पर्वतोंको कौन यहाँ उठाकर लाता?

मैंने हनुमानजीकी बात नहीं कही। हाँ, यह ज़रूर कहा, कि उस समय आदमियोंका जीवन बड़ा संकटमय था। पहाड़ोंपर कितने ही पत्थर और चट्टानें इधर-उधर पड़ी रहती ही हैं। उड़ते पहाड़ोंसे जब-तब ज़रूर कुछ नीचे गिरती थीं और कभी कोई किसान खेतमें काम करता उनके नीचे दब जाता और कभी कोई चरवाहा भेड़ चराते प्राणोंसे हाथ धोता था। धर्मालोकजीने बताया कि इस पवित्र पर्वतके किनारे १०८ बिहार हैं, किंतु वहाँ परिक्रमा करनेका आग्रह किसीको नहीं था।

ब्रह्मपुत्रको हमने नावसे पार किया और ढाई बजे छू-सुर् पहुँच गये। यहाँ खेतोंमें फ़सल थोड़ी-थोड़ी उगी थी और लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-उपत्यकाके वृक्ष नये पत्तोंसे सजे थे।

दीपंकर श्रीज्ञानका निर्वाण-स्थान ने-थङ्के पास तारामन्दिरमें था। मुझे उसके दर्शनकी बड़ी इच्छा थी। १८ मईको पाँच बजे रवाना हुए। रास्तेमें मध्याह्न-भोजन करके १२ बजे तारामन्दिरमें पहुँचे। यह मुख्य मार्गसे थोड़ा हटकर है। एक पिंजड़ेके भीतर दीपंकर श्रीज्ञानका पात्र, दंड, धर्मकरक और ताराकी छोटीसी मूर्त्ति बन्द है। बाहर ताला बन्द करके सरकारी मुहर लगी हुई थी, इसलिए खोला नहीं जा सकता था। लेकिन इन पवित्र वस्तुओंको देखकर मैं गद्गद् हो उठा। यह कभी उस महापुरुषके हाथमें थीं, जिसने बुढ़ापेकी पर्वाह न करके, देशके सुख और सम्मानको लात मारकर, दुर्लंघय हिमालयको अकिंचन बना भारतके सन्देशको यहाँ पहुँचाया था। मन्दिरमें कुछ पीतलके स्तूप हैं। पुजारीने बतलाया कि पहिलेमें दीपंकरके शिष्य डोम-तोन्का वस्त्र है, दूसरेमें सिद्ध नारोपा (नाड़पाद)-का हृदय और बाक़ीमें अष्टसाहस्रिकाकी पुस्तकें हैं। मन्दिरमें ताराकी २१ पीतल-मूर्त्तियोंके अतिरिक्त कुछ और भी मूर्त्तियाँ हैं। हस्तलिखित भोटिया ग्रंथोंके कितने ही अस्तव्यस्त पत्रे भी ढेर किये हुए थे, जिनमें कुछ अष्टसाहस्रिका और कुछ शत-साहस्रिकाके थे। फिर अमितायुके मन्दिरमें गये। दीपंकर यहीं रहते थे। उनके देहान्तके बाद यह मन्दिर बना। मूर्त्तिके पीछेका मकर-तोरण बतला रहा था, कि वह काफ़ी पुराना है। बाहर दो स्तूप हैं। जिनमें दाहिनी पौरवालेमें डोम्-तोन् और बाईंवालेमें दीपंकरके घोड़ेकी काठी रक्खी हुई है।

आज ही ल्हासा पहुँच सकते थे, लेकिन खच्चरवाले गङ् गाँवमें ठहर गये।

ल्हासामें—१९ मईको साढ़े पाँच बजे रवाना हुए। ठी-सम्के बड़े पुलकी आजकल मरम्मत हो रही थी। अब खेतोंमें बोवाईका काम खूब लगा हुआ था। वृक्ष सब हरे-भरे थे। धर्मालोकजी एक दुरारोह चट्टानको दिखाकर बता रहे थे—इसीके छेदके भीतर गुह्येश्वरी देवी विराज रही हैं। डेपुङ्को बायें और दलाई-लामाके उद्यान नोर्बू-लिङ्-काको दाहिने छोड़ते हम पोतला महाप्रासादके सामने आये। ल्हासावाले शायद बहुत दिनों बाद पीले कपड़ेवाले भारतीय भिक्षुको देख रहे थे। सभी अपनी बहुज्ञता दिखलाते बल्-पो (नेपाली) लामा कह रहे थे। साढ़े नौ बजे हम ल्हासामें अपने मेज़बान पुण्यात्मा धर्ममान सावकी कोठी छू-शिङ्-शा में पहुँच गये। ज्ञानमान सावने दिल खोलकर स्वागत किया। रास्तेकी सभी तकलीफ़ें भूल गईं।

अबकी बार मेरी यात्रा विशेषकर संस्कृत पुस्तकोंकी खोजकेलिए हुई थी। "तिब्बतमें बौद्धधर्म" लिखते समय जब मैंने भोटिया ग्रंथोंके पन्ने उलटे, तो विश्वास हो गया, कि भारतसे गई कई हज़ार तालपोथियोंमेंसे वहाँ कुछ ज़रूर होनी चाहिएँ।

भोजनोपरान्त तारघरके अफसर कुशो-तन्-दरके पास मिलने गये। देर तक बात होती रही। मैंने उनसे कहा कि सक्या और मङोरके बिहारोंमें संस्कृत पुस्तकें हो सकती हैं; किन्तु उनपर सरकारी मुहर होगी। उन्होंने कहा—तब उनके खोलनेके-लिए भोटसरकारसे आज्ञापत्र लेना होगा। मैंने सोचा—देखें इसमें कितनी सफलता होती है। आजकल वैशाखका पवित्र मास था, जिसे भोटमें "स–ग–दावा" कहते हैं। ल्हासाके केन्द्रमें तिब्बतमें सबसे पुराना और सबसे पवित्र जो-खङ्का मंदिर है। दर्शन और परिक्रमाकेलिए श्रद्धालुओंकी भीड़ थी। कितने ही लोग पंचकोशी कर रहे थे। मैं भी दर्शन करने गया।

अब मेरे सामने सबसे प्रमुख काम संस्कृत पुस्तकोंकी खोजकेलिए सहायता प्राप्त करना था। किन्तु उससे पहिले विनयपिटकका अनुवाद समाप्त करने तथा राजनाथजीको सही-सलामत लौटानेका भी काम करना था। १९ मईसे २९ जुलाई तक ल्हासामें ही रहना था, इसलिए समय भी कम नहीं था, किन्तु काम तो रोज कुछ न कुछ करने हीसे होता। मैंने अगले ही दिनसे काममें हाथ लगा दिया।

१९३३ ई० में तेरहवें दलाईलामाका देहान्त हो चुका था। उनके अधिक कृपापात्र अधिक कोपके भाजन हुए थे। विलायतसे शिक्षाप्राप्त महासेनापति लुङ्शर पकड़कर जेलमें डाल दिए गये थे। २० मईको हल्ला उठा कि पेटके बल लिटाकर पीठपर पत्थरका बोझ लादके उनकी दोनों आँखें निकाल ली गईं और खून रोकनेकेलिए गर्मतेल डाल दिया गया। दूसरे कृपापात्र और सबसे अधिक प्रभावशाली पुरुष कुम्भेलाको भी कहीं निर्वासित कर दिया गया।

खैर, मुझे अपने कामसे काम था, वहाँकी राजनीतिकी चिन्ता करनेसे कोई फायदा नहीं था। मुझे पता लगा कि मुरुविहारमें गोलोग् गे-शे नामके एक बड़े विद्वान ठहरे हुए हैं और उनका राजके प्रधान व्यक्तियोंपर बहुत प्रभाव है। मैं २० ता०को उनके पास पहुँचा। मैंने दर्शनके कुछ अप्रचलित ग्रन्थोंका नाम लिया, वह उन्हें जानते थे। इतिहासके विषयमें भी उनकी काफ़ी जानकारी थी। संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोजमें उन्होंने सहायता करनेका वचन दिया। उन्होंने जब सुना कि भारतसे अधिकांश संस्कृत ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं, तो स्वयं प्रस्ताव किया, कि कुछ तिब्बती विद्वान संस्कृत पढ़ें और इसी तरह भारतीय विद्वान भोट-भाषा पढ़ें, तब दोनों मिलकर तिब्बती ग्रन्थोंका पुनः अनुवाद करें। उनकी बातसे मेरी आशा काफ़ी बढ़ी।

विनयपिटकका अनुवाद तो चल ही रहा था। २० मईसे "साम्यवाद ही क्यों ?"के लिखनेमें भी मैंने हाथ लगा दिया और एक अध्याय उस दिन समाप्त भी कर दिया।

२१ मईको अपने परिचित भूतपूर्व ठी-रिन्-पो-छे (गद्दीधर) के पास गये। वे अब बहुत वृद्ध हो गये थे। आँखोंसे अच्छी तरह सूझता भी नहीं था, किन्तु पहले हीकी तरह उन्होंने घंटेभर बड़े प्रेमसे बात की।

मुझे अपने लिखनेका काम खतम करके पुस्तकोंके पीछे पड़ना था, पर मिलने-जुलनेवाले भी जान नहीं छोड़ते थे। लेकिन मुझे तो अपनी नींद काटकर भी कामकी नियत मात्राको पूरा करना ज़रूरी था। रविवारको मैं लिखनेका काम बंद रखता था। बोलकर लिखाते वक्त राजनाथजी लिखनेके कामके ही लिए आसानी नहीं कर देते थे, बल्कि उससे मात्रा भी अधिक बढ़ जाती थी। २४ मईको आँखें लाल हो आईं—देवता विघ्न तो नहीं करना चाहते? आज प्रदक्षिणा करने गया तो देखा तीन-चार लोग चित्रपट दिखलाकर बुद्धके जीवन और जातकोंपर व्याख्यान दे रहे हैं। अबकी बार भोट और भारत दोनोंकी वैशाखपूर्णिमा एक साथ पड़ रही थी, नहीं तो अधिक मासोंके एकसाथ नहीं होनेसे वह आगे-पीछे पड़ा करती थी।

२५ मईको नेपाली राजदूतने मेरे बारेमें खासतौरसे पूछताछ की। मैं नेपाली प्रजाके यहाँ ठहरा था, इसलिए यह उनकी कोई अनधिकारचेष्टा नहीं थी। वह जानना चाहते थे, कि मैं किस कामकेलिए आया हूँ। पिछले दलाईलामाके सबसे कृपापात्र महासेनापति लुङ्-शर और उप-दलाईलामा कुन्-बे-ला आज भारी विपत्तिमें पड़े थे। जब उनका अधिकार था, तो उन्होंने अच्छा-बुरा सभी तरहका काम किया होगा। तिब्बतमें समाचारपत्रका काम अफ़वाहें करती हैं और उनसे भी महत्त्वपूर्ण काम जन-गीतोंका है। आजकल इन दोनोंकी गीतें बनकर बाजारमें गायी जा रही थीं।

२६ मईको मंगोल विद्वान गोन्-कर-क्यबसे भेंट हुई। भोट और मंगोलियाके यह अद्वितीय नैयायिक समझे जाते थे। गेशे-तन्-दर सेरा-गुंबामें थे। २७ मईको उनके निमंत्रणपर सेरा देखने गये। सेरा तिब्बतकी द्वितीय नालंदा है, प्रथम डे-पुङ् है। सम्-लो छात्रावासके ख-ल-खा-मी-छङ्में उनके ही पास ठहरे। आज शाक्य-मुनिके जन्म और निर्वाणकी तिथि वैशाखपूर्णिमा थी। ङ-सङ् (महाविद्यालय) के शालोंमें भिक्षुओंका बड़ा जमाव था। स्मद्-ङ-सङ्की शालाकी मरम्मत हो रही थी। दीवारोंपर सुंदर भित्ति-चित्र थे। पलास्तर उतारा जा रहा था। फिर नए पलास्तरपर नए चित्र बनाए जायेंगे। तिब्बतके मठोंमें मुश्किलसे दस सैकड़ा शिक्षित या विद्याप्रेमी भिक्षु मिलेंगे, नहीं तो बाकी धर्मके कलंक हैं। उसी दिन शामको हम ल्हासा लौट आए।

२८ मईको ल्हासामें वैशाखपूर्णिमा मनाई गई, सेरामें वह कल थी। बाजार

बंद-सा था। लोगोंकी बड़ी भीड़ थी। पोतलाके मुख्य मंदिरमें तो जाना बहुत मुश्किल था। पिछले दलाईलामाओंके मृतशरीर जिन स्तूपोंमें रक्खे हुए हैं, उन्हें देखा। सवासाल पहिले मरे दलाईलामाके स्तूपकी तैयारी की जा रही थी। काम करनेवाले बेगारमें पकड़कर आए थे और वह लोगोंसे बक्शीश माँगकर निर्वाह कर रहे थे। रेडिङ्लामा आजकल दलाईलामाके स्थानापन्न थे। अभी राजनीतिकी बलि होनेमें उन्हें चौदह सालकी देर थी। आज उनकी सवारी बड़ी धूमधामसे निकली। लोग पंचकोशी कर रहे थे। कितने ही नेपाली भगत तो बाजे-गाजेके साथ परिक्रमा कर रहे थे।

हमारे गृहपति ज्ञानमानसाहु घर लौट रहे थे। उनके साथ अपने खच्चर जा रहे थे। राजनाथके लौटानेका इससे अच्छा अवसर नहीं मिलता। राजनाथ यद्यपि रास्तेकी कठिनाइयोंको कुछ भूलसे गये थे, किन्तु मैं भलीभाँति समझता था, कि अगले बीहड़ रास्तोंमें उनको सँभालकर ले जाना बड़ा मुश्किल होगा। ६की शामको साहुजीका बिदाई-भोज हुआ। शराब, सारसका अंडा और मछली ये शुभ समझी जाती हैं। नौकरों और मित्रोंने खा-ता (मालाकी जगह रेशमी चीट) गलेमें डाला। नन्हींसी चीनी कुतिया मोती भी उनके साथ जा रही थी, उसके गलेमें भी खा-ताकी माला पड़ी। राजनाथ ल्हासामें २० दिन रहे, लेकिन उनको चीज़ोंके देखनेका बहुत शौक़ नहीं था। हाँ, मेरे लिखनेके काममें उन्होंने बहुत मेहनत की और जानेके समय विनयपिटकके अनुवादका बहुत थोड़ा ही भाग बच रहा था। उनके साथ रहनेसे अवश्य बहुत मदद मिलती, किन्तु रास्तेकी दो भयंकर दुर्घटनायें हो चुकी थीं, जिनसे ब्राह्मणीके सिंदूरने ही उन्हें बचाया था, मैं सिंदूर धुलानेका पाप नहीं लेना चाहता था।

७ जूनको राजनाथ और ज्ञानमानसाहु भारतकेलिए रवाना हुए। भिक्षु धर्मालोक ल्हासा पहुँचनेके बाद ही दूसरी जगह रहने चले गये। अब मैं अपनी कोठरीमें अकेला था। मेरी कोठरीका एक दरवाज़ा रसोईघरमें खुलता था और दूसरा दरवाज़ा बन्द था, क्योंकि उधरवाली कोठरीमें क़ादिरभाई (तिब्बती माता और कश्मीरी पिताकी सन्तान) रहते थे। दिनमें काफ़ी समय आने-जानेवालोंको देना पड़ता था, जिसकी कमी रातको जागकर पूरी करनी पड़ती थी। कभी-कभी तो रातके दो बज जाते थे।

कोठरीमें अकेले रहते कई दिन बीत गये। एक दिन क़ादिरभाईने पूछा—लामाजी! आप बड़ी राततक जागते हैं, कुछ दिखलाई तो नहीं पड़ता?

दिखलाई पड़नेका अर्थ ताड़कर मैंने कहा—दिखलाई पड़नेकी क्या बात पूछते हो क़ादिरभाई, रातके बारह बजे नहीं, कि मेरी कोठरीमें तिल रखनेकी जगह नहीं रह जाती।

कादिरभाईकी स्त्री कदीजा (ब्याह करनेके बाद मुसलमानी नाम) आँख फाड़कर देखने लगीं और बातको गम्भीर होते देख साहुकी रसोइया सत्तरसाला अचा-चे-ङा भी ठमक गईं। क़ादिरभाईने कहा—क्या दस-बारह!

मैंने कहा—दस-बारह नहीं, मेरा विस्तरा छोड़कर सारी कोठरीमें, धरती ही नहीं अधरमें भी, बस भूत-भूतनी ही दिखाई देते हैं।

—काममें बाधा नहीं डालते!

—बिल्कुल नहीं, बड़े भलेमानस हैं। कोई मुँहसे बात निकालना भी चाहे, तो दूसरे संकेतसे रोक देते हैं। ऐसे भलेमानुस तो दिनमें मेरे पास आनेवाले आदमी भी नहीं होते।

कदीजाने बीचमें रोककर कहा—नहीं लामाजी! इतने कहाँसे होंगे?

मैंने कहा—तो तुम्हें विश्वास नहीं है, रातके एक बजे बस किवाड़ खोलनेकी देर है, कहो तो दर्शन देनेकेलिए तुम्हारे पास भेज दूँ।

कदीजाको कहाँ इतनी हिम्मत हो सकती थी, उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—क्षमा, क्षमा लामाजी! हमारे घरमें न भेजिए। मैंने कभी आवाज़ नहीं सुनी, इसीलिए कह रही थी।

मैंने कहा—वैसे आवाज़ नहीं होती, किन्तु सोते वक्त मैं एक बहुत करुणा भरी आवाज़ सुनता हूँ।

सबके कान खड़े हो गये। क़ादिरभाईने कहा—"करुणा भरी आवाज़!"

अचा-चेङाने एक साँसमें कह डाला—अरे वही नेपाली जो इसी कोठरीमें अपना गला काटकर मर गया था।

मुझे इसका कोई पता नहीं था। अब मैंने उसमें और नमक-मिर्च लगाई। श्रोताओंका भी विश्वास बढ़ा और रातकेलिए घबड़ाहट भी हो चली। क़ादिरभाई-की बड़ी बेटी भी तबतक आ पहुँची। उसने पूछा—और यहाँ बारजेपर, आँगनमें तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता?

मैंने कहा—बारजेकी बात अलग, मैं तो तुम्हारी कोठरीके भीतरसे एक सफ़ेद दाढ़ीवालेको निकलते देखता हूँ।

श्रोताओंमेंसे कोई बोल उठा—सिङ्-पा, सिङ्-पा!

मैं सँभल गया। दाढ़ीवाला मैंने क़ादिरभाईके बापका ख़्याल करके कहा था। वह कश्मीरी मुसलमान थे; लेकिन सिङ्-पा प्रायः सौ वर्ष पहिले कश्मीर तिब्बतकी लड़ाईमें पकड़े गये सिंहों (सिक्खों या राजपूतों)को कहते थे। मैंने अपने भूतको सिक्ख लिबास पहिना दिया। मालूम हुआ कि सचमुच ही एक सिङ्-पा उस कोठरीमें बहुत साल रहा था। बेचारी तरुणी बहुत घबड़ाने लगी। आँगनके बारेमें और बतलाते हुए मैंने कहा—इस बारजेपर तो हर जगह वही दिखाई देते हैं, और नीचे आँगनमें तो नव-वर्ष जैसा नाचका अखाड़ा जमता है।

अचा-चेङाने एक कानसे दूसरे कानतक मुँह फाड़कर हँसते हुए कहा—नहीं लामाजी, आप हमें डरवाते हैं।

—यानी झूठमूठ डरवाते हैं, लेकिन एक बजे रातको अपना दरवाज़ा खोलकर देख क्यों नहीं लेतीं? या कहो तो दो-चारको तुम्हारी कोठरीमें भेज दूँ?

अचा-चेङा घबड़ाकर बोली—नहीं लामा ला! कू-चि, कू-चि (क्षमा, क्षमा) मैं मर जाऊँगी, मैं ऐसे ही कह रही थी, आप ज़रूर देखते होंगे।

—हाँ मैं देखता हूँ, उनकी यहाँ बड़ी भीड़ रहती है, लेकिन मुझे सभी रास्ता दे देते हैं। मैंने ऐसे भलेमानस भूत तो दुनियामें कहीं नहीं देखे।

दो बातें संयोगसे सच्ची निकल आई थीं, अब भला उनको मेरी बातोंपर क्यों नहीं विश्वास होता? और मैं क्या इस मनोरंजक कथाको कहकर उनके मिथ्या-विश्वासमें कोई वृद्धि कर रहा था? वहाँ तो उसका समुन्दर पड़ा हुआ था। मैं अतिरंजन इसीलिए कर रहा था, कि श्रद्धाका कोमल तन्तु अधिक तनावपर टूट जाये।

× × ×

मैंने दोस्तोंको तालपोथियोंको खोजनेकेलिए भी कह रक्खा था। एक दिन माघ (शिशुपालवध) काव्यपर भवदत्तकी टीका "तत्त्वकौमुदी" आई। पुस्तक खंडित थी और उसकी मैथिली लिपि दो-तीन सौ वर्षसे अधिक पुरानी नहीं थी। उसके साथ व्याकरणकी किसी पुस्तकके भी दो-चार पत्रे थे। टीकामें काशीके जगद्धरका भी नाम था। अमर और विश्व इन दोनों कोशोंके काफ़ी उद्धरण थे। अलंकारोंपर दंडी और छन्दोंपर श्रुतबोधका प्रमाण दिया गया था।

८ जूनको "अभिसमयालंकार"पर बुद्धश्रीज्ञान विरचित "प्रज्ञाप्रदीपावलि" नामक वृत्ति आई। यह दर्शनका ग्रन्थ था और अभी कहीं छपा नहीं था। मालिक पुस्तक बेचना नहीं चाहता था, इसलिए हमने उसे उतारनेका निश्चय किया। ज्ञान-

मानसिंह इस पुस्तकको लाये थे। उन्होंने और पुस्तकोंके होनेकी बात कही और मेरा भी विश्वास अब बढ़ चला।

मुझे पता लगा था, कि रेडिङ्-बिहारमें कुछ तालपोथियाँ हैं। इस बिहारको दीपंकर श्रीज्ञानके शिष्य डोम्-तोन-पाने ग्यारहवीं सदीके मध्यमें बनवाया था और वहींके बड़े लामा आजकल भोटके स्थानापन्न राजा थे। १० जूनको हम उनसे मिलने गये। डेढ़ घंटा बात होती रही। उन्होंने कहा—जहाँ भी आवश्यकता होगी, हम चिट्ठी लिख देंगे। अपने विहारकी तालपोथीके बारेमें कहा कि वह आधी जल गई है।

ल्हासा बड़ी ठंडी जगह है, वहाँवाले तो सालों नहानेकी आवश्यकता नहीं समझते, लेकिन हममें उतनी हिम्मत नहीं थी। हफ़्तेमें एक दिन नहाना हम जरूरी समझते थे। इसकेलिए सबसे अनुकूल स्थान शो-गङ्-(सुर-खङ्) राजभवन था। शो-गङ्वंश धन और भूमि दोनोंमें तिब्बतका सबसे बड़ा सामन्तवंश है। पिता एक वेश्याके पीछे घर छोड़ गये थे। उनके दो पुत्र सरकारमें भी अच्छे पदोंपर थे। (१९४९ ई०में तो बड़ा पुत्र तिब्बत-सरकारका एक मन्त्री है और दूसरा जेनरल)। दोनों कुमार और उनकी माता बड़े मधुर स्वभावके थे। मेरी वह हर तरहसे सहायता करनेकेलिए तैयार थे। रविवारको मैं कामसे छुट्टी रखता था और उस दिन उनके प्रासादमें स्नान करने जाता था। आँगनमें एक बड़े ताँबेके बर्तनमें गर्म पानी रख दिया जाता और मैं साबुन लगाकर स्नान कर लेता। घरकी स्वामिनी ल्हा-चम् (देवी-भट्टारिका) थीं। वह स्रोङ्-चन धर्मराजके वंशकी लड़की थीं। इस वंशके सामंतका आज भी तिब्बतमें बहुत सम्मान है। उनके पास तेर्-गीके ब्लाकका छपा कन्-जुर आया था। तेर-गीका छापा सबसे सुन्दर माना जाता है। मेरे कहनेपर उन्होंने देना स्वीकार कर लिया, दाम हज़ारके आसपास था और बोझा साढ़े तीन खच्चरका। मैं उस सुपाठ्य कन्जुरको पटना ले आया, लेकिन 'धोबी बसिके का करे दीगम्बरके गाँव'। मेरे पास कहाँ पैसा था, कि उसे अपनेलिए खरीद लेता। कलकत्ताविश्वविद्यालयको खबर लगी, तो उसने तुरन्त डाक्टर बागचीको भेजा और पुस्तक वहाँ चली गई।

हमारे वहाँ रहते ही तेर-गी-थैजी (तेरगीके राजा साहेब) आ गये। पता लगा कि उनके पास तालपोथीके ४०० पन्ने हैं। पीछे देखनेपर मालूम हुआ, कि वह "शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता"का कुछ अंश है, जो कि दुर्लभ चीज नहीं है।

दिनको विघ्न होनेपर हम रातको लिखकर काम पूरा करना चाहते थे, किन्तु

खटमल और पिस्सू जैसे दानव यज्ञमें बाधा डालनेकेलिए बराबर तैयार थे। १३ जूनको एक रोचक बात हुई। मेरे एक सिंहलमित्र भिक्षु धर्मरत्नने दार्जिलिंग या कलकत्तासे तार दिया—"बड़ी गम्भीर बात है, आपकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है, तुरन्त चले आइये।" मौत भी निमन्त्रण देती, तो भी क्या वहाँका काम छोड़-कर मैं चला आता ? तार देते वक्त शायद उन्हें ख्याल हुआ, कि मैं कहीं रेलके छोर-पर बैठा हुआ हूँ।

श्याटा-कुशो नये-नये मन्त्री हुए थे, काम आरम्भ भी नहीं कर पाये थे, कि मौतने आ दबोचा। दान-पुण्यका कुछ पैसा और एक खा-ता मेरे पास भी आया। यह अच्छा लक्षण था, क्योंकि बड़ी जगहोंके परिचयसे ही बन्द जगहोंके दरवाज़े मेरेलिए खुल सकते थे। शो-गङ्के कुमार (आजकल जेनरल शो-गङ्) भी मेरेलिए कोशिश कर रहे थे। उन्होंने खबर दी, कि कुन्-दे-लिङ् बिहारमें कुछ तालपोथियाँ हैं। १८ जूनको उनके साथ हम कुन्दे-लिङ् गये। डेपुङ्के गेशे-शेरब् भी वहीं मिले। उनके जैसे पंडित सारे तिब्बतमें दो ही चार मिलेंगे। भोट-शास्त्रोंके विद्यासागर, वह चान्द्र-व्याकरण भी रटे हुए हैं, किन्तु संस्कृत पढ़नेका अवसर नहीं मिला। वह जोर देकर कह रहे थे, कि गुरु शब्दका द्विवचन 'गुरवौ' बनता है, तथा भारतमें च, छ, ज, नहीं बल्कि च़, छ़, ज़ बोला जाता है। बात करते वक्त कभी उनकी पण्डितमूर्खतापर हँसी आती, और कभी कुछ विरक्ति भी। लेकिन उसी दिनसे हमारी मित्रता आरम्भ हो गई और पीछे तो वह बड़े घनिष्ठ मित्र बन गये। कुन्-दे-लिङ् लामाके वह अध्यापक थे, इसलिए तालपोथियोंके देखनेमें दिक़्क़त नहीं हुई। इनमें दो पोथियाँ अष्टसाहस्रिकाकी थीं, जो छप चुकी हैं। एक पोथी रञ्जन-अक्षरमें थी, जो गे-शेके कथनानुसार खास आचार्य नागार्जुनके हाथकी थी। हाँ, एक पोथी बड़ी अनमोल देखनेको मिली। वह धर्मकीर्त्तिके 'वादन्याय'पर शान्तरक्षितकी टीका थी। पीछे मैंने उसका फ़ोटो लिया। उसी यात्रामें ङोर-बिहारमें उसका मूल भी मिल गया और कुछ समय बाद उसे मैंने प्रकाशित भी करा दिया।

भोट सरकारसे चिट्ठी लेनेकी बड़ी आवश्यकता थी और उसकेलिए जहाँसे भी सिफ़ारिश करवाई जा सकती थी, उसे हम करवा रहे थे। चार मंत्रियोंमें भिक्षुमंत्री (क-लोन् लामा)की प्रशंसा सुनी थी। उनके पास गये। उन्होंने बड़ा उत्साह दिखलाया, लेकिन अगले ही हफ़्ते उनका देहान्त हो गया। १९ जूनको गो-लोग्-गेशेके पास गये। गो-लोग् गेशे पैरोंसे लुञ्ज थे। लोगोंका कहना था कि बैठे-बैठे अधिक स्वाध्याय और ध्यान करनेके कारण उनकी यह दशा हुई। वह बड़े स्वाध्याय-

शील व्यक्ति थे, इसमें तो सन्देह नहीं। उन्होंने बड़ी जगहोंपर सिफ़ारिश करनेका वचन दिया।

२० जूनको पहिली बार डे-पुङ्के अम्दो चित्रकारसे भेंट हुई। गेशे धर्मवर्द्धन (गेदुन-छोम्फेल)का परिचय इसी नामसे उस दिन कराया गया था। उस वक़्त मैं नहीं जानता था, कि यह पतला-दुबला सीधासा आदमी भोटसाहित्य और दर्शनका एक अच्छा पंडित, कुशल चित्रकार, ऊँचे दर्जेका कवि, और उदारचेता आदर्शवादी पुरुष है। तबसे कई वर्षोंतक मेरा धर्मवर्द्धनका साथ रहा, मैं उनका अधिक और अधिक प्रशंसक होता गया। १९४८ ई०में जब मालूम हुआ कि भोटसरकारने स्वतन्त्र विचारोंकेलिए उन्हें जेलमें डाल दिया है, तो मुझे बड़ी चिन्ता हुई, जिससे जनवरी (१९४९)में जेनरल शो-गङ्के मुँहसे छुटकारा पानेके समाचारसे ही मैं भी छुटकारा पा सका। पहिले दिन बातचीत हुई। अभी इसका कोई संकेत भी नहीं था कि धर्मवर्द्धन हमारे साथ आयेंगे। मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"साहित्यका भी जानकार है, प्रमाणवार्त्तिक अच्छा पढ़ा है। सारस्वतके भी बहुतसे सूत्र याद हैं। इस प्रकार वह सिर्फ़ चित्रकार नहीं है। भारत चलना चाहता है। क्यों न सम्-येकी यात्रामें उसे साथ ले चलें।"

२२ जूनको बुलौवा आया और हम तालकी पोथियोंकेलिए कुन्-दे-लिङ् गये। वहाँ एक पोथी सद्धर्मपुण्डरीककी भी थी, जो महाराज विजयपालदेवके समयमें लिखी गई थी और वादन्यायटीका कुटलाक्षरमें नेपालके महाराज आनन्ददेवके समय लिखी गई थी। पुस्तकके असली मालिकका नाम चाक़ूसे कुरेदकर मिटाया गया था। कुन्-दे-लिङ् बिहारके पुस्तकालयमें भोटपंडितोंकी कुछ अप्रकाशित जीवनियाँ भी हैं। वस्तुतः इन पुराने बिहारोंमें ढूँढ़नेपर कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और कलाकी चीज़ें प्राप्त हो सकती हैं।

२८ जूनको मैंने लिखा था—"ल्हासामें मनुष्योंके बाद सबसे अधिक संख्या शायद कुत्तोंकी होगी।" मनुष्योंसे कुत्तोंकी होड़ क्या? यहाँ तो घरभरकी केवल एक पत्नी होती है, इसलिए सन्तान भी सीमित ही होती है और दूसरी ओर वैसी कोई रोकथाम नहीं, बीमारीसे मर जायँ तो भले ही कुछ संख्या कम हो। ये कुत्ते ग़रीबोंपर टूट पड़ते हैं, कपड़ा-लत्ता अच्छा हो तो नहीं पूछते। सड़क तो ख़ैर प्रधान मन्दिरकी परिक्रमा भी है, इसलिए दूकानदारोंको अपना दरवाज़ा साफ़ करना ही पड़ता है। घरके पिछवारेकी गन्दगीकी बात मत पूछिये, यदि यह नीचेका कोई शहर होता, तो यहाँ बराबर हैज़ा बनी रहती।

जूनके अन्ततक विनयपिटकका अनुवाद समाप्त हो गया था। अब एक बड़े यज्ञको पूरा करनेसे कुछ निश्चिन्तता आ गई थी, इसलिए अब जहाँ-तहाँ जानेकेलिए भी छुट्टी थी। मृत दलाईलामाके सर्वेसर्वा कुशो कुन्-बे-ला कहीं दूर गाँवमें नजरबन्द थे और उनकी पचीसों वर्षकी कमाई नीलाम हो रही थी। शायद उनमें कोई पोथी या मूर्त्ति हो, इसलिए हम ६ जुलाईको नोर्बूलिङ्का गये। नीलामकी चीजें दलाईलामाके अस्तबलमें रक्खी हुई थीं। अच्छी चीजें अफ़सर पहिले ही उड़ा ले गये होंगे, वह भला यहाँ कैसे आने पातीं! पूछनेपर मालूम हुआ, कि इनके बिक जानेपर और भी चीज़ें आयेंगी। लौटते वक़्त पता लगा, कि रेडिङ्लामाके महलपर ल्हा-रम्-पा बननेवालोंका शास्त्रार्थ हो रहा है। भोटसरकार प्रतिवर्ष १६ विद्वानोंको यह पदवी प्रदान करती है, जो कि विद्याकी सर्वोच्च पदवी (डाक्टर या आचार्य) है। तीन बड़े-बड़े बिहारों (डेपुङ्-, से-रा, गन्-दन्)के छात्र ही इस परीक्षामें शामिल हो सकते हैं। परीक्षा शास्त्रार्थ द्वारा ली जाती है, जो तीन वर्षोंमें समाप्त होती है। आज अन्तिम सालोंवाले परीक्षार्थी शास्त्रार्थ कर रहे थे। उसमें शास्त्रार्थ ही नहीं काफ़ी कसरत भी होती थी। वादी कभी अपनी मालाको ऐंठकर बाण खींचनेकी मुद्रा धारण करता, कभी चद्दर कमरमें लपेटकर पैंतरा मारता, ताली पीटना और वन्दरकी भाँति किलकारी मारना भी शास्त्रार्थका एक अंग था। तिब्बती विद्वानोंका कहना है कि यह सारी मुद्रा भारतसे आई है। मैं वहाँ सिर्फ़ शास्त्रार्थ देखने गया था, लेकिन नौकरने समझा मालिकसे मिलने आये हैं। मालिकने समय न रहनेकी बात कहला भेजी, वह अनुचित नहीं थी।

१२ जुलाईको हम डे-पुङ् बिहार गये। लुम्-बुङ् गेशे शेरब् बहुत प्रेमसे मिले और साढ़े नौ बजेसे ४ बजेतक दर्शन, इतिहास आदि नाना विषयोंपर बात होती रही। यहाँकी पढ़ाईके बारेमें पूछनेपर मालूम हुआ, कि अक्षरारम्भ ६ वर्षकी अवस्थामें होता है। इसके बाद दो साल साधारण पाठ होते हैं, फिर चार साल "श्वेतरक्त-रंग"-की पढ़ाई होती है। यह कोई चित्रकारकी विद्या नहीं है। "लाल-सफ़ेद नहीं है, सफ़ेद-लाल नहीं" जैसी न्यायशास्त्रकी आरम्भिक बातें इस तरह सिखाई जाती हैं। इस प्रकार ६ वर्ष पढ़नेके बाद प्रमाणवार्त्तिक शुरू होता है, जिसके समाप्त करनेमें ५ साल लगते हैं। फिर बाक़ी दर्शन एवं धर्मकी पुस्तकोंकेलिए १६ वर्ष चाहिए। इस प्रकार २७ वर्ष पढ़नेके बाद आदमी ल्हा-रम्पाका उम्मीदवार हो सकता है। इसकी परीक्षायें शास्त्रार्थके रूपमें तीन वर्षतक चलती हैं। इन परीक्षाओंमें उत्तीर्ण १६ आदमी प्रतिवर्ष ल्हा-रम्पा बनाये जाते हैं। यदि कोई धनी अवतारी लामा

हो, तो उसको ल्हा-रम्पा बननेमें बहुत दिक़्क़त नहीं होती। उस दिन लो-सलिङ् और गो-मङ्के महाविद्यालयोंके विद्यार्थी विनयसूत्रपर शास्त्रार्थ कर रहे थे, हम तमाशा देखने गये, लेकिन स्वयं तमाशा बन गये—सब लोग हमारी तरफ़ देखने लगे। रातको डे-पुङ्में ही रह जाना पड़ा। अगले दिन (१३ जुलाई) सवा तीन बजे शामतक यहीं रहे और डे-पुङ्के भिन्न-भिन्न महाविद्यालयों एवं छात्रालयोंको देखते रहे। यह सुनकर दुःख हुआ, कि मेरे पहिली यात्राके साथी मंगोल भिक्षु सुमति-प्रज्ञ दो वर्ष पहिले मर चुके। बुर्यत भिक्षु प्रज्ञोपाय भी अब वहाँ नहीं थे। गेशे-शेरब्से आज भी बात हुई। उनसे मालूम हुआ कि कुन्-दे-लिङ् जैसे कुछ बिहारोंमें लो-च-वा (भोटिया अनुवादको)की जीवनियाँ मौजूद हैं। भोटके इतिहासकी न जाने कितनी अनमोल सामग्री इन पुराने बिहारोंमें पड़ी सड़ रही है।

ल्हासामें अब हमारा कोई दूसरा काम नहीं रह गया था। सरकारसे पत्र लेनेकी आवश्यकता थी, जिसमें एक और मुहरबंद कोठरियोंको खोल पुस्तकें देखनेका सुभीता हो और दूसरे सवारीके घोड़े आसानीसे मिल सकें। कभी आशा हो आती थी कि चिट्ठी जल्दी मिल जायगी और कभी निराशा भी होती थी। गो-लोग् गेशे भी हमारेलिए कष्ट उठा रहे थे। १८ जुलाईको उन्होंने भोटसरकारके एक मंत्री थी-मोन्शापेसे भेंट करवाई। उन्होंने भी भारतमें बौद्धग्रन्थोंकी आवश्यकताके बारेमें समझाया और मैंने भी कहा। मंत्रीने राय दी कि क-शाक् (मंत्रिमंडल)के पास आवेदनपत्र देकर लोङ्-छेन् (महामंत्री) और एक दूसरे मंत्रीसे भी मिल लेना चाहिए। मुझे पहिले ल्हासाके उत्तरकी यात्रा करनी थी, उसकेलिए तो पत्र मिलनेकी संभावना नहीं थी। आवेदनपत्र लिखनेके कामका जिम्मा शो-गङ् (क्षुर-खङ्) कुमार ने ले लिया।

२० जुलाईको हम गो-लोग् गेशेके साथ भोटके महामंत्रीसे मिले। बड़ी देरकी प्रतीक्षाके बाद महामंत्रीजीने दर्शन दिया। उन्होंने मंत्रिमंडलके पास प्रार्थना करनेकी सम्मति दी।

आजकल ल्हासाका एक तरुण चित्रकार साहुकेलिए चित्र बना रहा था। मैंने उससे भोटमें चित्रकलाके उपकरण और शिक्षा आदिके बारेमें बहुतसी बातें जानीं, जिसपर पीछे एक लेख भी लिखा।

तालपोथियोंके बारेमें तो बहुत जगह होनेकी खबरें मिलती थीं, जिनमें ७० प्रतिशत को तो मैं असंभव समझता था, तो भी कुछ जगहोंमें उनके होनेकी संभावना थी। सिक्किमके लामा ओत्येनने बतलाया कि सम्-ये बिहारमें सरकारी मुहरछापके भीतर

कुछ तालपोथियाँ बन्द हैं। मिन-डो-लिङ् बिहारमें भी चार पोथियोंके होनेकी संभावना थी। ङोर् और स-स्क्याके बारेमें तो बहुतोंने कहा था। लेकिन अभी तो हमें ल्हासासे उत्तरकी ओर जाना था, जहाँ केवल रेडिङ्में संभावना थी। २८ जुलाईको रेडिङ् लामाने अपने अफ़सरकेलिए पत्र दे दिया। सिकिमकी महारानीने अपने भाई र-क सा-कुशोसे एक पत्र तग्-लुङ् गुम्बाकेलिए दिलवाया। साथ चलनेकेलिए ल्हासाके नेपाली फ़ोटोग्राफर नातीला तैयार हुए। गेशे धर्मबर्द्धन भी २९ ता०को हमारे पास चले आए। सवारीकेलिए छु-शिङ्-शाने अपने खच्चर दे दिये।

२. **रेडिङ्की ओर**—ल्हासामें १९ मईसे ७ सितम्बर तक रहकर "विनयपिटक" हिन्दी अनुवाद, और "साम्यवाद ही क्यों ?"के भी लिखनेका बहुतसा काम ख़तम हो गया। अब मुझे उन गुंबाओंमें जाना था, जहाँ भारतसे लाई संस्कृतकी तालपत्र पुस्तकें हैं। रेडिङ् गुंबामें दीपंकर श्रीज्ञानके हाथकी कुछ तालपत्र पुस्तकें हैं, इसका मुझे पता लगा था। रेडिङ्लामा आज-कल दलाईलामाके स्थानापन्न थे। मैं उनसे मिला। पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि एक बंडल पुस्तकोंका है, लेकिन आग लगनेसे किसी वक़्त उसका थोड़ासा हिस्सा जल गया। क्या पुस्तकें हैं, इसके बारेमें वे क्या बतला सकते थे ? यदि वह दीपंकरके हाथकी पुस्तकें हैं, तो धर्म, दर्शन, तन्त्र, किसी विषयकी पुस्तक हो सकती हैं। यदि दीपंकरके शिष्य डोम्तोन्पाके हाथकी पुस्तकें हैं, तो ज़्यादा सम्भव है कि वह तन्त्र या सिद्धोंके दोहोंकी पुस्तकें हों। कुछ भी हो, मैं उसके देखनेकेलिए उत्सुक था। मैंने भोट-सरकारके पास प्रार्थना की थी, कि पुरानी पुस्तकों, चित्रपटों आदिपर जहाँ-जहाँ सरकारी मुहर लगी हुई है, उन्हें मुझे देखनेकी इजाज़त मिले। साथ ही सवारीकेलिए घोड़ों और ख़च्चरोंके पानेकी आज्ञा मिले। सारी दुनियाहीमें सरकारी दफ़्तरोंकी चाल बहुत धीमी होती है, उसमें भोट सरकारकी गति तो और मन्द होती है। उस १९३४के निवेदनपत्रकी स्वीकृति ४ बरस बाद १९३८में मिली, जब कि मैं चौथी बार मध्य-तिब्बत गया। इसमें भोट-सरकारका कोई दोष नहीं था। सरकारी जवाबकी जल्दी आशा नहीं थी। रेडिङ रिन्-पोछे (रेडिङ लामा)से मैंने उनके मठकेलिए चिट्ठी माँगी, जिसमें कि मैं वहाँ संगृहीत भारतीय पुस्तकों और चित्रपटोंको देख सकूँ। उन्होंने एक चिट्ठी दी। ख़च्चरोंकी समस्याको छु-शिशाके स्वामी ज्ञानमानसाहुने अपने ख़च्चरोंको देकर हल कर दिया। एक फोटोग्राफरकी जरूरत थी, ल्हासाके नेपाली फोटोग्राफर नातीला (लक्ष्मीरत्न)ने साथ चलनेकेलिए स्वीकृति दे दी। मैं मंगोलभिक्षु धर्मकीर्त्ति और अमदोके चित्रकार-पंडित धर्मबर्द्धन (गेन्-दुन् छोम्फेल्)को साथ ले जाना चाहता था। धर्मकीर्त्ति

धर्मवर्धनके साथ चलनेकेलिए तैयार नहीं हुए और धर्मवर्धन अपनी गुम्बा (डेपुङ)-को छोड़कर चले आये थे, इसलिए उनको साथ ले चलना ज़रूरी था। अब हम तीन साथी थे। चौथा था सोनाम्-ग्यन्जे छुशिङशाका खच्चरवाला।

३० जुलाईको एक खच्चरपर सामान और तीन खच्चरोंपर हम तीनों सवार होकर साढ़े नौ बजे सबेरे ल्हासासे रवाना हुए। ज़रा-ज़रा बूँदा-बाँदी हो रही थी। दो मीलपर तब्चीका टकसालघर मिला। हम हरे-हरे खेतोंमेंसे आगे बढ़े, फिर दाहिनी ओरकी उपत्यकाको छोड़ बाईं ओरका रास्ता लिया। ५ मीलपर बिजली पैदा करनेका घर मिला। आगे एक उजड़ासा गाँव था, फिर असली चढ़ाई शुरू हुई। डेढ़ बजे गोला-जोतके ऊपर पहुँचे। वहाँसे उतराई थी। लेकिन कड़ी नहीं थी। साढ़े ४ बजे हम पायागाँवमें पहुँचे। एक किसानके घरमें ठहरे।

हमको मालूम नहीं था कि लङथङ गुम्बा दो मील ही आगे है, नहीं तो कल ही यहाँ पहुँच गये होते। फन्-पोकी विस्तृत उपत्यका सामने आई। पुरानी गुम्बाओंकी तरह लङथंङ भी समतल भूमिमें है। लङसङपा दोर्जेसेङ्गे एक बहुत ही विनयशील भिक्षु हुआ था। बाहरसे देखनेपर गुम्बा बिल्कुल अकिंचनसी मालूम होती है पुजारी भी दरिद्रसे हैं, भीतर चीज़ें भी अस्तव्यस्त रखी हैं, लेकिन यहाँ कुछ भारतकी बहुत सुन्दर मूर्तियाँ हैं। मैत्रेय और बुद्धकी प्रतिमाएँ पीतलकी हैं।

भारतीय योगी फदम्प सेङ्गेकी मिट्टीकी मूर्ति बहुत पुरानी मालूम होती है। पुस्तकोंमें लङथङपाके समयकी स्वर्णाक्षरोंमें लिखी "अष्टसाहस्रिका" बहुत सुन्दर है। हमने कितनी ही चीज़ोंके फोटो लिये, यहीं भोजन किया और १२ बजे आगेकेलिए रवाना हुए। दो घंटा चलनेके बाद हम नालन्दा विहारमें पहुँचे—भारतके नालन्दाके नामपर ही १५वीं शताब्दीके आरम्भमें यह विहार बनाया गया। बरसातके कारण सभी पहाड़ोंपर हरी घास जमी हुई थी, यद्यपि वह छोटी ही छोटी थी, लेकिन दूरसे देखनेपर बहुत छोटी मालूम होती थी। नालन्दाकेलिए अच्छा स्थान चुना गया था। यह उपत्यकासे ज़रा ऊपर ढालुवाँ मैदानमें स्थापित है। गुम्बाके पास वृक्ष भी काफी हैं। चू-ल्ह-खङ सबसे पुराना मन्दिर है, जिसे सक्यापा सम्प्रदायके पंडित रोङ्-स्तोन्ने बनवाया था। यहाँके भिक्षुओंने हमारे काममें हर तरहसे सहायता की, रहनेकेलिए स्थान दिया। ल्हासामें बड़ी जल्दी जूएँ पैदा हो जाती हैं, लेकिन न जाने क्या चमत्कार है फन्पोमें जुएँ बिल्कुल दिखाई नहीं पड़तीं।

अगले दिन (१ अगस्त) हम ८ बजे रवाना हुए। बादल था लेकिन तिब्बतमें वर्षासे बहुत कम डर लगता है। बाईं ओर मुड़कर हमने एक छोटी जोत (डाड़ा)

पार की। रास्ता अधिकतर पश्चिमकी ओर था। दो जगह दो धारोंको पार करना पड़ा। पहाड़ीके ऊपर कुछ घरोंवाला दुइने विहार मिला। फिर उसी धाराको पारकर हम पाछब् गाँवमें पहुँचे। पुराने अनुवादकों (लोचवा) में पाछब् त्रिमङग् बहुत ही जबर्दस्त विद्वान था। उसने दर्जनों ग्रन्थ संस्कृतसे तिब्बतीभाषामें अनुवाद किए। कहते हैं यही गाँव उस विद्वानकी जन्मभूमि है। लोचवाका विहार पहाड़के किनारे गाँवसे कुछ हटकर है। कोई पुरानी इमारत नहीं है। एक स्तूप है, कहा जाता है इसीके भीतर लोचवाका शरीर है। आज-कल यहाँ एक भिक्षु-विहार है, जिसमें २०, २५ भिक्षुणियाँ रहती हैं। यह स्थान नालन्दासे बारह मीलपर है। १२ बजे फिर हम आगेकेलिए रवाना हुए। यहाँसे डेढ़ ही मील आगे बहुत पुराना विहार ग्यल्हखङ् मिला। यहाँ दोरिङ (पाषाणस्तंभ) और पुराने ढंगके स्तूप देखने हीसे मालूम होता था, कि हम ८ वीं ९ वीं शताब्दीके मठमें आगए हैं। पूछनेपर ज्ञात हुआ कि इस विहारको तिब्बतके अशोक सम्राट ठि-स्रोङने बनवाया था। पाषाण-स्तंभ चौपहला है, जिसके पूरब, उत्तर, पश्चिम और दक्खिनमें क्रमशः वज्र, युगल-वज्र, पद्म और रत्न बने हुए हैं। सबसे पुराना मंदिर मैत्रेयका मालूम होता है। यहाँ हस्तलिखित तीन कंजूर तंजूर हैं। इन पुराने विहारोंमें पुस्तकोंकी इतनी ज्यादा छल्लियाँ हैं, कि कितनी पुस्तकें तो सैकड़ों वर्ष हो गये, खोली ही नहीं गई। दाता-लोग अपनी पुस्तकोंपर नाम और देश काल भी लिखवा दिया करते थे। इन लेखोंसे तिब्बतके इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ सकता है, तिब्बतने अपने इतिहास (साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक) और भारतीय इतिहासकी भी न जाने कितनी सामग्री अपने भीतर छिपा रखी है, लेकिन इस वक्त उनके रहस्यका उद्घाटन कौन कर सकता है? यह ठीक है कि तिब्बत हमसे चार-पाँचसौ बरस पीछे है, लेकिन उसमें ऐसी क्षमता है, कि पुरानी बाधाओंके हटानेपर पचास वर्षमें वह हमसे १०० बरस आगे चला जाये। कुछ भी हो, तिब्बत और भारतके इतिहास-प्रेमियोंको बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करनी है, जब कि तिब्बतके सैकड़ों विहारोंमें हजार वर्षोंसे जमा होती इन लाखों पोथियोंकी छल्लियोंको तोड़कर उनका विवरण-सहित सूचीपत्र तैयार हो।

हम लोग मैत्रेयके विशाल मंदिरमें ठहरे। इस मंदिरमें कुछ पुरानी मूर्तियाँ भी हैं। दूसरे मंदिरोंमें कुछ पुरानी मूर्तियाँ और चित्रपट हैं। यहाँ तोय, और मे दो डसङ (कॉलेज) हैं, जिनमें कभी बाकायदा पढ़ाई होती थी; लेकिन आज-कल यहाँ पढ़ानेका कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। पाषाणस्तंभपर पुराना लेख है। मैत्रेयमंदिरमें

कुछ पोथियाँ रद्दीमें पड़ी हुई हैं। पुजारीको कहनेपर उसने शतसाहस्रिकी एक पोथी (फ०) दे दी। जिसे मैंने पटना म्यूज़ियममें लाकर रख दिया। इसके अक्षर पुराने हैं, लेकिन तेरहवीं सदीके बादके ही हैं। आरंभमें बुद्धके दो चित्र बने हुए हैं।

अगले दिन (२ अगस्त) बूँदाबाँदी हो रही थी, जब कि चाय पीकर हम लोग आगेकी ओर रवाना हुए। दो छोटी-छोटी जोतोंको पारकर हम दोपहर बाद शर-बुम्पा विहारमें पहुँचे। गेशे शर्बा दीपंकर श्रीज्ञानके शिष्य डोम्तोन्पाका प्रशिष्य था और बारहवीं सदीमें हुआ था। इसका तन्त्रमन्त्र पर विश्वास नहीं था। वह तार्किक और दार्शनिक था, लोग उसकी विद्वत्ताका लोहा मानते थे, लेकिन तन्त्रमन्त्र, देवी-देवताओंके न माननेके कारण यह भी मानते हैं, कि वह मरकर नरकमें गया। यहाँ शर्बाका स्तूप है। मूर्त्तियाँ कोई उतनी पुरानी नहीं हैं, लेकिन स्तूपके भीतर पुरानी महत्त्वपूर्ण चीजें हो सकती हैं। आजकल यहाँ सत्तर, अस्सी भिक्षुणियाँ हैं, वही पुजारिन हैं। तीर्थ करनेकेलिए यात्री आया करते हैं।

हमने दर्शन और भोजनके बाद ढाई बजे आगेका रास्ता लिया। चढ़कर एक जोत पार की, फिर कुछ उतराई पड़ी, तब रास्ता समतल भूमिमें आ गया। ५ बजे हम फन्दागाँवमें पहुँचे, एक ग़रीब किसानके घर ठहरे। इस गाँवमें सभी ग़रीब बसते हैं, पासमें स्नेऊ-सुर्के स्तूप है।

अगले दिन हमने आगेका रास्ता लिया। यहाँके पहाड़ोंपर कुछ झाड़ियाँ दिखाई पड़ीं, जिनमें अधिकतर गुलाबकी थीं। एक टूटा पुल पारकर चढ़ाई शुरू हुई, लेकिन कड़ी चढ़ाई आख़िरी डेढ़-दो मील हीकी थी। चारों ओर काली-काली चँमरियाँ चर रही थीं। एक कस्तूरीमृगको भी भागते देखा। सवा तीन घंटे चलने-पर छ-ला जोतपर पहुँचे। इस जोतपर डाकुओंका बहुत भय रहता था। लेकिन हम लोगों के पास कई पिस्तौल और एक राइफल थी, इसलिए डाकुओंको सँभलकर हमारी ओर नज़र डालनी पड़ती है। ल्हासासे चलते समय नातीला (फोटोग्राफर)ने पिस्तौल न रखनेकेलिए यह कहकर बहुत ज़िद की थी, कि मुझे पिस्तौलकी ज़रूरत नहीं, मेरे पास मि-टि-क्रू (स्मृतिज्ञानकीर्त्तिकी बनाई मिट्टीकी छोटी मूर्त्ति) है। तिब्बती लोगोंका विश्वास है कि किसीके पास मि-टी-कू हो, तो उसके शरीरपर गोली बिल्कुल असर नहीं कर सकती। मैंने उनसे कहा, लाओ पिहले मि-टी-कू-पर ही गोली चलाकर तजर्बा कर लें, यदि वह न फूटे तो तुम्हें पिस्तौल ले चलनेकी ज़रूरत न होगी। नातीला इसकेलिए तैयार न थे और एक पिस्तौल उनके साथ

भी बाँध दी गई; लेकिन इसमें सन्देह था कि, मौका पड़नेपर वह उसे इस्तेमाल करते। खैर, देखनेवालोंको तो मालूम हो रहा होगा कि तीनों सवारोंके पास तीन पिस्तौलें हैं।

उतराई कुछ ज़्यादा कड़ी थी। २ घंटा उतरनेके बाद बाईं ओरकी पहाड़ीकी रीढ़को पार करके हम तगलुङ्वाली नदीकी उपत्यकामें आये। उतराईमें धर्म-वर्धनने अपनी खचरीकी लगाम छोड़ दी। उसने कूद-फाँदके लगाम तोड़ दिया। यह आज दूसरी बार हुआ था। सोनम्ग्यनजे आगबगूला हो गया, और गेशे धर्म-वर्धनका गुस्सा खचरीपर उतारा। डेढ़ मील जानेपर तगलुङ् विहार मिला। यह भी समतल भूमिपर है। पुराना विहार बहुत ही विशाल है, और उसकी छतें ऊँची और खंभे बड़े-बड़े थे। यहाँपर भी पुरानी पुस्तकें भारी संख्यामें दीवारके सहारे छल्ली बनाके रखी हैं। महाराजा शिकमके साले रक्साकुशोकी चिट्ठी लाये थे, तो भी रहनेकेलिए हमें बहुत खराब जगह मिली थी। अभी हम प्रतीक्षा कर रहे थे, लेकिन खच्चरोंके आनेमें देर हो रही थी। कितनी ही देर बाद सोनम्ग्यंजे खच्चरों-को लेके आया। उसने कहा—मैं साथ नहीं चलूँगा, ल्हासा लौट जाऊँगा। हमने कितना ही समझानेकी कोशिश की, लेकिन वह न माना और फुन्दोकी ओर चला ही गया। अब हमारेलिए एक और चिन्ता आई—पाँच-पाँच खच्चरोंको बाँधना, खिलाना और लादना आसान काम नहीं था। हम तीनोंमेंसे किसीने कभी इस कामको सीखा नहीं था। खच्चरोंको बाँध दिया। हमने तगलुङ्की इस बड़ी गुम्बाके मन्दिरोंका दर्शन किया। विशाल पीतलकी मूर्त्तियाँ देखी। इस विहारको ११८० ई०में स्थापित किया गया, इसके एक मन्दिरके ऊपर चीनी ढंगकी सुनहली छत है।

रातको हमने बहुत दौड़धूप करके दो आदमियोंको यहाँसे साथ ले चलनेकेलिए तैयार किया।

दूसरे दिन (४ अगस्त) अभी कुछ अंधेरा ही था, कि सोनम्ग्यंजे आकर हमारे सामने खड़ा हो गया। सोनम्ग्यंजे मध्यतिब्बतका नहीं, वल्कि चीनीसीमाके पार खम्प्रदेशका था और ऐसे खूँख्वार कबीलेका जिसके तरुणोंकेलिए दो खून करना अपमानकी वात है, वहाँ छोटे-छोटे लड़के गोश्तके टुकड़ेको हवामें पकड़कर तलवारसे काटनेका खेल करते हैं। न वह खुद अपने मरनेकी परवाह करते, न दूसरेका प्राण लेने हीमें उन्हें हिचकिचाहट होती है। वह परम स्वतन्त्र होते हैं, और मालिकको भी फटकारनेसे बाज़ नहीं आते। साथ ही उनमें गुन है—वह चोर, झूठे और बेईमान नहीं होते, जो करना होता है, सीधे करते हैं। टेढ़ी-मेढ़ी चाल उन्हें नहीं मालूम। और विश्वास पा जानेपर मित्रकेलिए प्राण देना कोई मुश्किल बात नहीं। सोनम्ग्यंजे

ऐसे ही कबीलेका प्रतिनिधि था। चाहे अनजाने ही हो, लेकिन साँपको हमने क्रुद्ध कर दिया था। मुझे पहिले इस बातका ख्याल नहीं आया, नहीं तो शायद कुछ और सावधान रहते। यह ठीक है कि वह हमारे साथ ही बराबर बैठता, चाय पीता, सत्तू-गोश्त खाता, लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं था। हम तीनों शिक्षित संस्कृत व्यक्ति थे, हम अपनी ही बातोंमें लगे रहते थे। शायद बात इतनी न बढ़ती यदि हममेंसे एक भी सोनम्‌ग्यंजेके साथ बैठकर छङ पीता और उससे दिल खोल-खोलकर बातें करता। जिस समाजमें सांस्कृतिक उन्नतिके साथ-साथ बहुत अधिक विषमता आ गई है, वहाँ नौकर-चाकर अपने स्थानको समझते हैं और कितनी ही उपेक्षाओं—अवहेलनाओंकी परवाह नहीं करते। लेकिन कबीलाशाही समाजका आदमी विषमताको दिलसे स्वीकार नहीं करता, इसीलिए वह किसी वक्त भी बग़ावत कर बैठता है, और उसकी बग़ावत बड़ी निष्ठुर और भीषण होती है। इन बातोंको जानते हुए हम स्थितिकी भीषणताको समझ रहे थे। सोनम्‌ग्यन्जेको सबेरे ही लौटा देखकर हमें तरह-तरहकी आशंका होने लगी। उसने कहा कि रातको मैं किसी जगह सोया, कोई आदमी मेरा ताड़ू (घोड़ेपर रखा जानेवाला चमड़ेका झोला) उठा ले गया। हमें उसकी बातका विश्वास नहीं था, हम समझ रहे थे कि वह लूट-पाटकेलिए लौटा है। हमने उसे बन्दूक़ देते वक्त उसमें गोली नहीं डाली थी। कारतूसोंकी मालाको भी अपने ताड़ुओंमें रख लिया था। सभी बड़े सावधान होकर चल रहे थे। इधरके पहाड़ोंपर जंगली गुलाब और करौंदेकी झाड़ियाँ बहुत हैं, इन्हें नंगा नहीं कहा जाता। बिच्छूघास भी ज्यादा लगे हुए हैं, लेकिन हमारा ध्यान बीच-बीचमें टूट जाता था। कलतक सोनम्‌ग्यन्जे हमारा रक्षक था और अब उसके आगे-आगे चलनेपर भी हमें सावधान रहना पड़ता है। हम एक छोटी नदीके किनारे चले, जो ल्हासावाली नदी उइ-छूमें मिलती है। यही फोनदोकी छोटी बस्ती है। १२ बजे हम नदीके किनारे पहुँचे। पासमें लोहेकी जंजीरोंपर एक पुल बना हुआ है, लेकिन खच्चरोंको तैराकर पार कराना था, उन्हें घेरकर पानीमें डाल दिया जाता, फिर लोग हल्ला करते हुए पत्थर फेंकते, इस प्रकार खच्चर परलेपार चले जाते। बरसाती पानी भी था, इसलिए नदीकी धारा काफ़ी बड़ी थी। हम लोग चमड़ेकी नाव (क्वा)से नदी पार हुए। दो बजे नदीसे आगे रवाना हो सके। अब हम रेडिङ्से आगेवाली नदीकी उपत्यकामें चल रहे थे। यहाँके हरी झाड़ियोंसे ढँके पहाड़ोंको देखकर विश्वास नहीं होता कि हम तिब्बतमें हैं। सामनेसे एक लामा काली याककी पीठपर चढ़ा चला आ रहा था, मैं समझता हूँ शंकरका नादिया

भी सफ़ेद नहीं काला ही होगा। कैलाशमें बैलका जीना सम्भव नहीं, इसलिए शंकर-की सवारी बैल नहीं, याक होगी—याक भी गो-जातिमें ही है। और शङ्कर जब अपने नन्दी याकपर चढ़कर चलते होंगे, तो वह इसी लामाकी तरह मालूम होते होंगे।

५ बजे हम ल्हखङ् पहुँचे, आज यहीं ठहरना था। यहींसे बाईं ओरका रास्ता मंगोलियाको जाता है, और दाहिनी ओरका रेडिङ्गुम्बाको। ल्हखङ्का अर्थ है, देवालय, आज भी वहाँ एक देवालय है, लेकिन शुरू-शुरूमें सम्राट् स्रोङ्चन्‌ने यह कोई मन्दिर बनवाया था। चीन, मंगोलिया, मध्यएशियाके रास्तेपर होनेसे स्थान महत्त्वपूर्ण रहा होगा। बाहरसे आनेवाले यहीं आकर समझते होंगे कि हम तिब्बतमें पहुँच गये।

उस दिन शामको साथियोंने पूछा—साथ आया मांस खतम हो गया। मांस बिकनेको आया है क्यों ले लें? मैंने कहा—"हाँ ले लो।" उन्होंने पूछा—"कितना।" मैंने कहा—"पूरा शरीर"। उन्होंने कहा—"पूरा शरीर लेनेकी जरूरत नहीं, एक टाँग ले लेते हैं।" मैंने कहा—"ले लो।" फिर वह तीन-तीन, चार-चार सेरके मांसखण्डको बर्तनमें रखकर मेरे सामने ले आये। निश्चय ही वह भेड़का मांस नहीं हो सकता था। मैंने उनसे पूछा—"यह किसका मांस है" जवाब मिला—"याक्‌का"। नहीं-नहीं, मैंने बहुत आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"शायद यह मेरे-लिए नहीं होगा। तुम जानते हो, मैं याक्‌का मांस नहीं खाता", उन्होंने कहा—"६ दिनसे आप याक् हीका मांस तो खाते आ रहे हैं।" ल्हासासे हमारे साथ सूखा मांस आया था, वह छोटे-छोटे टुकड़े काटकर सुखाया गया था, इसलिए याकका है, या भेड़का पहचानना मुश्किल था। मेरे साथी कह रहे थे कि वह याक्‌का मांस है, मैं यह भी जानता था कि नेपाली लोग याक्‌का मांस खाते हैं, और गायके मांसका तो नाम भी नहीं सुन सकते। वह याक्‌को गाय नहीं मानते, लेकिन मुझे इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं था, कि याक् और गाय दोनोंकी उसी तरह एक जाति है, जैसे हिन्दुस्तानी और विलायती गायका। यद्यपि अपने प्राचीन ग्रंथोंके अध्ययन, विदेशोंके पर्यटन और खुद अपने तर्क-वितर्कसे मैं समझता था, कि गाय, भेड़ और सूअर तीनोंके मांस बराबर हैं, भेड़-सूअरके मांसको खानेमें मुझे कोई उजुर न था। लेकिन, पुराने संस्कार बाधक थे, इसीलिए मैं याक्‌के मांससे परहेज़ करता था। लेकिन अब ६ दिनतक तो खा चुका था, और किसी दिन भीतरसे क़ै क्या मिचली भी नहीं आई। मैंने कहा—"अच्छा, ठीक है, कुछ पकाकर सबेरेकेलिए भी रख छोड़ना।" भिक्षुओंके नियमके अनुसार मैं दोपहर बाद भोजन नहीं करता था,

इसलिए यह कहा था। दूसरे दिन सत्तू खाते वक्त जब वह मांस सामने आया, तो मुझे मालूम होने लगा, कि मैंने यदि इसे मुँहमें दिया, तो ज़रूर क़ै हो जायगी। बुद्धि और तर्क ज़ोरसे समर्थन कर रहे थे, कि इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन उस दिन पुराने संस्कारोंका पलड़ा भारी रहा। पुराने संस्कार कब दबे, यह मुझे याद नहीं, पीछे तो मैं याक्के मांसको सबसे अच्छा मांस समझने लगा।

अगले दिन (५ अगस्त) पौने आठ बजे जब हम रवाना हुए, तो बूँदें पड़ रही थीं। तीन मील चलनेके बाद देवदारके एकाध छोटे-छोटे वृक्ष दिखलाई पड़े। एक ओर जौके कुछ खेत भी थे। यहाँके लोग खेतीकी अपेक्षा याक् और भेड़का पालना ज़्यादा पसन्द करते हैं। कहीं-कहीं मानी (मन्त्र लिखे हुए पत्थरों)की छल्लियाँ भी थीं, और श्रद्धालु मुसाफ़िर उन्हें अपनी दाहिनी ओर रखते चलकर परिक्रमा का पुण्य लेना चाहते थे। तगलुङ्से साथ आये दोनों आदमियोंको हमने देखा, कि वह पत्थर कूट-कूटकर "चा-फू, मा-फू" कर रहे थे। "चाफू-माफू"से मुझे बहुत घृणा है। इसका शब्दार्थ तो है "चाय दो, मक्खन दो" लेकिन यह चाय-मक्खन देवतासे माँगते पत्थर-पत्थरसे रगड़ते वह कभी-कभी बहुत क्रूर कर्म करते हैं, ल्हासामें एक ग्यारहसौ वर्ष पुराना शिलालेख है। लोगोंने "चाफू-माफू" करके उसके बहुतसे अक्षरोंको उड़ा दिया, और उसमें गोल-गोल गड्ढे बना दिये हैं। मैंने शंकित हृदयसे नज़दीक जाकर देखा, तो मालूम हुआ कि वह मामूली रास्तेका पत्थर है। एक पहाड़का मोड़ पार करते ही देवदारोंके जंगलमें रेडिङ् विहार दिखलाई पड़ा। इन देवदारोंके देखनेसे मालूम हो गया, कि याक् और भेड़ोंसे बचाते हुए देवदार लगानेकी कोशिश की जाय, तो तिब्बतके बहुतसे नंगे पहाड़ देवदारोंके वनसे ढँक सकते हैं।

रेडिङ्के अफ़सर लामाको चिट्ठी दी गई। रहनेकेलिए बहुत अच्छा स्थान मिला, लेकिन जब हमने पुस्तक दिखलानेको कहा, तो उसने इनकार कर दिया। हमें बहुत आश्चर्य हुआ, जब सुना कि चिट्ठीमें लामाने पुस्तक दिखलानेकी कोई बात नहीं लिखी है! फिर हमारा तकलीफ़-तरद्दुद उठाना सारा बेकार गया, यह साफ़ था। नातीला बेचारा अपना काम छोड़कर यहाँ आया था, यदि रेडिङ्लामा पुस्तक नहीं दिखलाना चाहते थे, तो वहींसे इनकार कर दिया होता। हम सभीको बहुत क्षोभ हुआ, लेकिन करना क्या था? ल्हासा चिट्ठी भेजकर जवाब माँगना भी पंद्रह, बीस दिनकी इन्तिज़ारीका काम था। मुमकिन है, यदि दो-तीन सौ रुपये यहाँ अधिकारियोंको दे सकते, तो कुछ काम बनता। लेकिन मैं तो अपनी सारी यात्राएँ

बेसरोसामानीके साथ करता रहा हूँ, एक तरह आप इसे धींगामुस्ती कह सकते हैं। मैं अपने शरीरसे हरेक खतरेको बरदाश्त करने, हरेक कष्टको सहनेकेलिए तैयार था; लेकिन, जहाँ रुपयोंसे ही काम चल सकता हो, वहाँ क्या करता ? शायद पाठकोंको जाननेकी इच्छा होगी, कि आखिर दुनियामें इतनी-इतनी जगह मैं घूमा, और सब जगह पैसोंकी ज़रूरत होती ही है; फिर ये पैसे कहाँसे आते थे ? इसके बारेमें इतना ही कहना है, कि युरोप-यात्रामें ज़रूर महाबोधिसभा जैसी धनिक संस्थाने मुझे भेजा था, वह अमेरिका भी भेजना चाहती थी, लेकिन, मैंने स्वयं जाना नहीं पसन्द किया। बस वही एक यात्रा थी, जिसमें मैं पैसोंकी ओरसे कुछ अधिक निश्चिन्त था। बाक़ी यात्राओंकेलिए पैसे कुछ तो अपनी लेखनीसे मिले—सबसे अधिक पैसा एक अमेरिकन पत्रिकाने मेरे एक लेखकेलिए दिया था, और यह बड़े अच्छे मौक़ेपर जापानमें मिला था, जिसकी वजहसे मैं रूस, ईरान भी हो आ सका था। डाक्टर जायसवाल मेरी सहायता करनेकेलिए हर वक़्त उत्सुक रहते थे, लेकिन मैं उनके घरका एक व्यक्तिसा होनेके कारण उनकी आर्थिक अवस्थासे परिचित था। इसलिए हमेशा उनपर कोई भार डालनेसे अपनेको बचाता था, तिब्बतके चित्रों, मूर्त्तियोंसे मैं अपने यात्राकेलिए काफ़ी पैसा निकाल सकता था, लेकिन जब मुझे कोई अच्छी चीज़ मिलती, तो मैं उसे बेचनेकी जगह किसी म्यूज़ियमको देना पसन्द करता था, तो भी दो-तीन चीज़ोंकेलिए पटना म्यूज़ियमसे मुझे कुछ रुपये मिले थे। कोई-कोई मित्र भी कभी कुछ सहायता करते थे, किन्तु मेरे मित्र सिर्फ़ विद्वान और गुणग्राही थे; लक्ष्मीका वरदहस्त उनके ऊपर नहीं था। लक्ष्मी-पुत्रोंसे मुझे बराबर चिढ़ रही। हो सकता है कोई समझे कि मैं ग़लती कर रहा था। मैं भी समझता हूँ, कि काफ़ी पैसा रहनेपर मैं किसी भी युरोपियन अनुसन्धानकर्त्तासे सौ गुना काम कर सकता था, मेरी स्थिति ऐसी थी, कि उनसे हज़ार गुना अधिक तथा बहुत ही महत्त्वपूर्ण चीज़ें जमा कर लेता।

रेडिङ्-विहार ग्यारहवीं शताब्दीमें बना था। तबसे वह बराबर तिब्बतका एक महाप्रसिद्ध विहार रहा। आज भी उसके पास लाखोंकी जागीर और उसके लामा दलाईलामाके बाद तिब्बतके चार सबसे प्रभावशाली लामाओंमें है। इसी प्रभावके कारण २२ वर्षकी उम्रमें ही वर्त्तमान रेडिङ्लामा, दलाईलामाका स्थानापन्न बन सका। तालपुस्तकोंके देखनेकी आशा तो थी नहीं, हम मन्दिर देखने गये। चारों ओर मकानोंसे घिरा एक आँगन था। जिसकी एक ओर तीन देवालय, जिनमें एकमें मैत्रेयकी मूर्त्ति थी—मूर्त्तियाँ सुन्दर थीं। रेडिङ्में सोलह भारतीय चित्रपट,

इनके अतिरिक्त दीपंकर श्रीज्ञान और डोम्तोन्पाके भी चित्र हैं। ऊपरके देवालयोंमें कुछ छोटे-छोटे चित्रपट भारतीय तूलिकाकी सृष्टि मालूम पड़ते हैं। उस वक्त सोलहों चित्रपट बरांडेमें टँगे हुए थे। अजन्ताके चित्र बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्टसे हैं, लेकिन यहाँके यह हजार बरस पुराने चित्रपट बहुत ही सुरक्षित अवस्थामें हैं। उनकी रेखाएँ, हल्के रंग सभी बतलाते थे, कि इन्हें किसी कुशल हाथोंने तैयार किया है। मैंने चाहा कि चित्रपटोंका ही फोटो ले लिया जाय, लेकिन अधिकारियोंने उसकेलिए भी इजाज़त नहीं दी। गेशे धर्मवर्धन स्वयं एक अच्छे चित्रकार हैं, उन्होंने चाहा कि एकाधकी नक़ल करें, लेकिन इसे भी अधिकारियोंने मना कर दिया। उस दिन और दूसरे दिन भी दो बार हमने उन चित्रोंका दर्शन करके ही सन्तोष किया।

अब हमारेलिए यहाँ कोई और काम न था और बड़े खेद और क्षोभके साथ ६ अगस्तके ८ बजे हमने रेडिङ् छोड़ा। हमें डीगुङकी प्रसिद्ध गुम्बामें भी जाना था, वह यहाँसे दूर नहीं थी। डीगुङ् गुम्बाके लामा किसी वक्त चीनसम्राटके गुरु रह चुके थे। यह भी पता लगा, कि वहाँ बहुतसी पुरानी चीज़ें रखी हुई हैं। लेकिन सोनम्ग्यन्जेको लेकर हम वहाँ जा नहीं सकते थे। हमने ल्हासा लौटनेका निश्चय किया। साढ़े नौ बजे हम ल्हखङ्दोङ् पहुँचे और एक बजे नदीके किनारे। सवा घंटे पार उतरनेमें लगे। उस दिन फुन-दोमें रह गये। अगले दिन हमें तगलुङ्के दोनों आदमियोंको छोड़ देना था। खानेके अतिरिक्त छ आना रोज़पर हमने एक आदमीको दो दिनकेलिए रखा। समझ रहे थे, सोनमग्यन्जे किसी दिन चला गया, तो खच्चरोंकेलिए एक आदमी रहना चाहिए। हमारा इरादा था गेनदुन-छोकोर् और येर्वाके पुराने विहारोंको देखनेका। अगले दिन (७ अगस्त) ७ बजे ही हम रवाना हो गये। तग्लुङ्गुम्बा दाहिनी ओर काफ़ी दूर छूट गया। साढ़े ११ बजे हम छलाजोतपर पहुँच गये। हम जाना चाहते थे पोतोगुम्बा। यह भी ग्यारहवीं शताब्दीके एक प्रसिद्ध पंडित पोतोपाका निवासस्थान है, लेकिन हम पहुँच गये, डग्ग्यब् गुम्बामें। काफ़ी वक्त हो गया था, इसलिए रातको वहीं रहना निश्चित किया। यहाँ हम लोगोंको उस कोठरीमें जगह मिली, जिसमें पहिलेके अवतारी लामाकी मोमियाई शरीर (मर्दोङ) रखा हुआ था। देखनेमें साधारण मूर्त्तिसा मालूम होता था। पहिले समयमें पेट चीरकर अँतड़ी साफ़ कर लेते, फिर शरीरको सुखा लेते थे; किन्तु आजकल शवको नमकमें डालकर दो मासतक रखा जाता है, और हर सातवें दिन ऊपरसे नमक डालते रहते हैं। सूखे शरीरपर आज भी और पहिले भी खास तरहका पलस्तर लगा देते हैं। ऐसे मर्दोङ् और मठोंमें

भी हैं, लेकिन वह स्तूपोंके भीतर बन्द हैं, इसलिए उन्हें देखा नहीं जा सकता। इस गुम्बाको डग्‌ग्यबूपाने बनाया था, जो कि पोतोपा (१०२७-११०४ ई०)का समकालीन था। आजकल यहाँ कोई वैसी पुरानी चीज़ नहीं थी।

फनपो (फन्‌यूल्) ११वींसे १३वीं सदीतक पंडितोंकी खान रही, अब उनके निवासस्थानोंपर अच्छी-अच्छी गुम्बाएँ मिलती हैं, लेकिन विद्या गोलाजोतके पार ल्हासा प्रदेशमें चली गई।

अगले दिन (८ अगस्त) हम ७ ही बजे निकले। आज हमें पोतोविहार देखना था। नीचे उतरकर जैसे ही पोतोकी ओर मुड़ने लगे, सोनमग्यन्‌जेने कहा, मैं नहीं जाऊँगा, तुम्हीं तीनों जाओ। जब हमने कहा, कि हमें वहाँ कैमरेकी ज़रूरत होगी तो उसने तलवारपर हाथ रखकर कहा—"तनदे चे" (खबरदार)। हमने रंग-ढंगसे समझ लिया कि वह क्या चाहता था। बदनमें आग लग गई थी, पिस्तौलपर हाथ जाना चाहता था, लेकिन दिमाग़ने समझाया—क्या तुम भी जानवर बनोगे। अब सोनमग्यन्‌जेको एक दिन भी साथ रखना बेकार था। नातीलाकी साली पास हीके गाँवमें रहती थी, हम तीनों वहाँ गये, चाय पी। नातीलाको सामानके साथ आनेकेलिए छोड़ दिया। बरसातकी नदी मीलोंमें सहस्रधार होके बह रही थी, वहाँ रास्ता भूल जानेका डर था। नदी पार करानेकेलिए हमने एक आदमी साथ लिया, और दस बजे वहाँसे चल पड़े। ३, ४ धाराएँ पार करनी पड़ीं। १२ बजे हम पहिले दिनके मुक़ाम पायामें पहुँचे। गोला (जोत) पार करते वक़्त खच्चर थक गये थे। गेशे धर्मवर्धनका खच्चर मुश्किलसे ऊपरतक पहुँचा। यह जोत भी डाकुओंकेलिए मशहूर है, लेकिन जब ३ बजकर २० मिनटपर डाँडेपर पहुँचे, तो कोई वहाँ नहीं था। उतराई उतरते सूर्यास्तसे पहिले ही हम दोनों ल्हासा पहुँच गये।

रेडिङ्‌की यात्रा हमारी निष्फल रही, दो-दो, तीन-तीन बाधाएँ हमारे रास्तेमें आ गईं। यद्यपि नातीलाने हमारी हर तरहसे सहायता की, और गेशे धर्मवर्धनके रूपमें तो मैंने एक स्थायी मित्र पाया। गेशे तिब्बतमें बड़े पंडितको कहते हैं, और वह बड़े प्रतिभाशाली पंडित हैं, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने बौद्धन्यायका विधिवत गम्भीर अध्ययन किया है, और पुरे बुद्धिवादी हैं। स्वयं एक अच्छे कवि, और प्राचीन तथा नवीन बौद्धसाहित्य और बौद्धपरम्पराका विशाल ज्ञान रखते हैं। साथ ही उनमें सबसे बड़ा गुण है कि उनको विद्याका अभिमान नहीं, और वह समझते हैं कि विद्या-समुद्रमेंसे उनके पास अभी एक ही दो बूँद आया है। चित्रकार वह एक अच्छी कोटिके हैं। ल्हासाके सामन्त-घरोंमें उनकी विद्याकी उतनी माँग नहीं थी, लेकिन

चित्रकारीकेलिए बड़ी पूछ थी। विद्याके प्रेमने ही उन्हें सुख और आरामके जीवन-को त्यागनेकेलिए मजबूर किया। वह अमदो प्रदेश (चीनी इलाक़े)के एक गुम्बाके अवतारी लामा थे। दूसरे अवतारी लामोंकी तरह उन्हें भी अमीरोंके भोग सुलभ थे। लेकिन उन्होंने गद्दी छोड़ी, गुम्बाके वैभवको छोड़ा और विद्या पढ़नेकेलिए ल्हासाका रास्ता लिया। वह डेपुङ्में कई साल पढ़ते रहे। पीछे हम दोनोंका साथ कई सालतक रहा, यद्यपि लगातार नहीं, क्योंकि दूसरे कामोंके कारण मुझे कभी-कभी अकेले भी देश-विदेशमें घूमना पड़ता था, फिर सरकारी जेलोंमें मैं कैसे उन्हें घसीट सकता था ? लेकिन यह मैं कहूँगा, कि गेशे धर्मवर्धन जैसा विद्वान, गुणी, त्यागी, संस्कृत, आदर्शवादी, सहृदय पुरुष तिब्बतमें मिलना बहुत मुश्किल है। बार-बार मेरा दिल कहता, कि हम दोनों साथ रहें, लेकिन वह हमारे बसकी बात नहीं थी; फिर मधुर स्मृतियोंको ही जब-तब उज्जीवित करके मनको सन्तोष दिया जा सकता है। पीछे उग्र राजनीतिक विचारोंके सन्देहपर ल्हासा सरकारने उन्हें जेलमें डाल दिया था।

हम चाहते थे कि ल्होखा (सम्ये) वाले प्रदेशके विहारोंमें जायें, क्योंकि उधर बहुतसे पुराने मठ हैं। लेकिन बड़ी दिक़्क़त थी सवारी की। मेरे पास इतना पैसा नहीं था, कि दो खच्चर खरीद लेता और हम दोनों घूमते-फिरते। फिर मेरे पास सिर्फ रोलैफ़्लेक्स केमरा था, उससे आदमियों और दृश्योंका अच्छा फोटो लिया जा सकता था, लेकिन किताबोंका फोटो मैं नहीं ले सकता था, नहीं, अँधेरे मंदिरोंकी मूर्तियोंका ही फोटो पा सकता था। सवारी और दूसरे इन्तिज़ामकेलिए मैंने जो चिट्ठी भोट-सरकारको दी थी, उसके बारेमें (१४ अगस्त) मालूम हुआ, कि मंत्रिमंडलमें पढ़ी गई और सहायता देनेकेलिए वह तैयार है। लेकिन सरकारी पत्र मिलना इतना जल्दी थोड़े ही हो सकता है। आजकल चीनी प्रतिनिधि ल्हासामें आए थे। चीनवालोंने तिब्बतके ऊपर सीधे शासन कभी नहीं किया और उसका बर्ताव गुम्बाओंके साथ हमेशा अच्छा रहा। अब भी बड़ी-बड़ी गुम्बाओंमें चीन-सम्राटोंके दिये महादानसे समय-समयपर भोज होता है। अधिकतर भिक्षु और साधारण जनता यही जानती है, कि चीनमें अब भी सम्राटका राज्य है। १४ तारीखको चीनी-प्रतिनिधियोंने अपनी सरकारकी एक घोषणा ल्हासामें दीवारोंपर चिपकायी। चीन-सरकार तिब्बतकी जनताके साथ सीधा संबंध नहीं स्थापित करना चाहती, वैसा करनेपर जरूर तिब्बतका प्रभुवर्ग उसे पसन्द न करता; तो भी इस घोषणाके चिपकाने-से बात साधारण जनता तक जाती थी, जिसे प्रभु लोग पसन्द नहीं करते।

और एक हफ़्ता इंतज़ार किया, लेकिन देखा, ल्होखा जानेका कोई इन्तिज़ाम

नहीं हो सकता। बातचीत करनेसे यह भी विश्वास हो चला था, कि चाङ् (टशील्हुन्पो और सक्यावाले) प्रदेशमें ज़रूर संस्कृतकी तालपोथियाँ हैं। पोइखङ् बिहारके एक अधिकारी भिक्षु ल्हासामें मिले। उन्होंने निश्चित तौरसे बतलाया, कि हमारे यहाँ तालपत्रकी तीन पोथियाँ हैं। मैंने समझा, ल्होखा तो नहीं जा सकता, फिर क्यों न चाङ-प्रदेशके ही विहारोंको देखा जाय; गेशे भी मेरी रायसे सहमत थे। तबतक मुझे "साम्यवाद ही क्यों" के बाकी अध्यायोंको पूरा करना था। मैं उसमें लग गया। चीनी अफ़सर अपने साथ रेडियो लाये थे, उसे सुननेकेलिए बड़ी भीड़ लगती थी। अधिकारी डर रहे थे, कि ढावा कुछ झगड़ा न कर बैठें। २८ अगस्तको एक चीनी जनरल आया, सरकारकी ओरसे उसका स्वागत किया गया। ४०० सौसे ऊपर पलटन गई थी, मंत्रिमंडलकी ओरसे स्वागतमें कलोन्‌लामा और एक गृहस्थमंत्री गए थे। दूसरे आदमी ५,६, हज़ार रहे होंगे, चीनी, नेपाली और मुसलमान भी पहुँचे थे। चीनी जनरल और उसके साथी चीनी सीमासे यहाँ तक पालकीपर आए थे। एक-एक पालकी ६,६ आदमी ढोते थे। उनके साथ एक दर्जनसे अधिक सिपाही नहीं थे। स्वागतका चलते फिल्मसे फोटो लिया गया था। उन्हें जिस जगह ठहराया गया, उसके सामने भी भीड़ लगी रहती थी। शामको एक तब्-तब् ढावा (ऊजडु, अनपढ़ भिक्षु) अन्दर जाने लगा, पहरेदारोंने रोका, इसपर उसने छुरी निकाल ली।

२६ तारीखको कशा (मंत्रिसभा) की ओरसे सवारीके घोड़ोंकी संख्याके बारेमें पूछा गया। मैंने पाँच-छ बतला दिया। ३१ तारीखको लोन्-छेन् (महामंत्री) से गुभाला धीरेन्द्र वज्रने आज्ञापत्रके बारेमें पूछा, तो जवाब मिला—कामकी भीड़के कारण अभी पत्र नहीं लिखा जा सकता, लेकिन जल्दी दिया जायगा। मुझे आज्ञा-पत्रके जल्दी मिलनेकी आशा नहीं थी। २७ अगस्तको "साम्यवाद ही क्यों?" समाप्त हो गया था, अब यही फ़िकर थी, कि किस वक्त खच्चर मिले, और मैं यहाँसे रवाना होऊँ। मैं छुशिङ्के खच्चरोंको साथ नहीं ले जाना चाहता था, किन्तु, कई जगहके वादोंको झूठा पाकर मुझे ज्ञानमानसाहुसे ही खच्चरकेलिए कहना पड़ा।

४ सितम्बरको कोई मर गया था, उसकी लाशको लोग श्मशान ले जा रहे थे। मैं वहाँ नहीं जा सका, किन्तु पता लगा कि तब्चीके पीछे एक पहाड़ी है, वहींपर मुर्दों-को ले जाया जाता है। ढोनेवाले राकोवा, एक खास जातिके लोग हैं। वहाँ ले जाकर वह मुर्दोंको पत्थरपर औंधे मुँह नंगा लिटा देते हैं फिर चार राकोवा भिड़ जाते हैं। उनके हाथमें गड़ासीकी तरहकी तेज छुरी होती है। पहिले पैरके तलवेकी खालकी

छोटी-छोटी बोटीको काटकर पत्थरके गड़हेमें रखते हैं, इसी तरह सारे शरीरके मांस-को निकालकर जमा कर देते हैं। उधर धूपके धुएँको देखकर सैकड़ों गृद्ध आसपास जमा हो जाते हैं। सारे मांसको काटकर गड़हेमें ढाँककर रख दिया जाता है, फिर पत्थरसे हड्डियोंको चूर-चूर करके सत्तूके साथ सान लिया जाता है—गिद्धोंके हटाने-केलिए एक आदमी लाठी लिये खड़ा रहता है। हड्डी मिले सत्तूकी गोलियाँ पहिले फेंकी जाती है, फिर मांसकी बोटियाँ; डेढ़ घंटेके भीतर ही सारा मुर्दा गिद्धोंके पेटमें चला जाता है, इस विधिको थेक्छेन् (महायान) कहते हैं।

राकोवा मुर्दा काटते-काटते भी चाय-सत्तू खाते-पीते जाते हैं, ज़ाड़ेके दिनोंमें बरफ़ बन जानेसे पानी नहीं मिलता, तो वह अपने पेशावसे ही हाथ धो लेते हैं। राकोवा अपने इस कामकेलिए बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। तिब्बतमें लकड़ी-का इतना अभाव है कि मुर्दोंको जलाया नहीं जा सकता। शरीरसे कुछ प्राणियोंका पेट भर जाय, इसी ख्यालसे यह प्रथा वहाँ चलाई गई; लेकिन, इसके कारण राकोवा अछूत बन गये हैं।

३

साक्याकी ओर

८ सितम्बरको हम दोनों ल्हासासे निकले। गेशेधर्मवर्धनने डेपुङ्-गुम्बाके एक मंगोल भिक्षुको साथ चलनेकेलिए ठीक किया था, चारों खच्चरोंको उसे सँभालना था। छुशिङिशावालोंने सोनम्ग्यन्जेके ज़िम्मे खच्चरोंके कसनेका काम लगा दिया। उसने एक बूढ़ी, एक लँगड़ी और एक बिल्कुल कमज़ोर तीन खचरियोंको कस दिया। जब हम ल्हासासे निकलकर पोतलाके पास चले आए, तब इस बातका पता लगा। मेरे खच्चरपर तो काठीके नीचे गद्दा भी नहीं रखा, खच्चरोंकी मुहेड़ी और बाँधनेकी रस्सियाँ भी नहीं दी थीं। दूसरा खच्चरवाला छुशिङिशाकी एक लाल खचरीको चढ़नेकेलिए लाया था, हमने उसे बदल लिया, डेपुङ्के नीचेवाले गाँवमें हम मंगोल भिक्षुके आनेका इन्तिज़ार करने लगे। इसी वक़्त सोनमग्यन्जे आया। वह दूर हीसे बाँह बढ़ाता आ रहा था। हमने इस जानवरसे कुछ भी न बोलनेका निश्चय किया, वह लाल खचरी लेकर चला गया। किन्तु देर हो रही थी, और मंगोल भिक्षु

भी नहीं आया था। इन खच्चरोंको लौटाकर नये खच्चरोंके मँगानेका ख्याल छोड़ देना पड़ा। हमने चारों खच्चरोंको ल्हासा लौटा दिया। अपने सामानकेलिए गधोंको किरायेपर किया, और उनके साथ ही पैदल चल दिया। आज रातको गङ् गाँवमें पहुँचे।

अगले दिन (६ सितम्बर) गधेवाले साढ़े पाँच बजे डेढ़ घंटा रात रहते ही चल पड़े। ६ मील चलकर नदीके किनारे विश्राम और भोजनकेलिए ठहर गये। कुछ देरतक तो अच्छी तरह चले, फिर शरीर बिल्कुल कमजोर मालूम होने लगा, ज्वर आता दिखलाई दिया। ७, ८ मील और चलनेपर नदीके किनारे जङ्में गाँवमें पहुँचे। आज रातको यहीं विश्राम करना था। कलसे आजका निवास अच्छा था, किन्तु पिस्सुओंका डर लग रहा था। रास्तेमें पूछनेपर पता लगा, कि मंगोल भिक्षु हमें आगे गया जानकर आगे जा रहा है। रातको ज्वर मालूम हो रहा था। खटमलों और पिस्सुओंने एक साथ हो हमला बोल दिया। मैं दो घंटेतक डटा रहा, लेकिन सारे शरीरमें काट-काटकर उन्होंने चकत्ते निकाल दिये। टार्च (चोरबत्ती) लगाके देखा, दीवारपर खटमलोंकी भारी पलटन कूच करती आ रही थी। अब उस मोर्चेपर डटा रहना बुद्धिमानी नहीं थी, छतपर बिस्तरा लेकर चले गये, लेकिन कुछ खटमल-पिस्सू भी साथ चले आये।

रातके ज्वरसे आज और कमज़ोरी आ गई थी और आगे पैदल चलना असम्भव मालूम हो रहा था। कोशिश करनेपर छुसुरकेलिए एक घोड़ा किरायेपर मिला। फ़सल पकनेको आई थी, वृक्षोंकी पत्तियाँ कहीं-कहीं पीली हो चली थीं, यह सब जाड़के आनेकी सूचना थी। छुसुरमें तारघर नहीं है, लेकिन तार-लाइनके देखनेकेलिए एक आदमी रहता है, टेलीफोन भी है। ल्हासाके तारघरके अफ़सर मेरे मित्र कुशो तनदरने टेलीफोनवालोंको सूचना दे रखी थी, कि मुझे हर तरहसे मदद करें। आदमीने देखते ही पहचान लिया। चाय पिलाई, कल शाम हीसे भोजन नहीं किया था, आज अंडेके साथ दूध पिया, भूख तो बिल्कुल नहीं थी, मुँह कड़वा था, लेकिन बिना खाये रास्ता चलना अच्छा नहीं था। तारवाले भाईने अबूसो घाटतककेलिए एक घोड़ा कर दिया। अभी ब्रह्मपुत्रकी धार बड़ी थी, इसलिए छूवो-रिके घाटपर काठकी नाव नहीं चलनी शुरू हुई थी। बरसातमें अबूसोसे ही मुसाफ़िर चमड़ेकी नावसे नदी पार होते हैं। छूवो-रीके सामने मंगोल भिक्षु मिला। बेचारा बहुत हैरान हुआ, वह समझता था, कि हम आगे-आगे जा रहे हैं, इसलिए यहाँतक चला आया। मैंने उसे कुछ पैसे दिये, वह डेपुङ्की ओर लौट गया। हम

उस दिन सेमाथोबूकी तीन-चार घरवाली बस्तीमें ठहरे । रातको पिस्सुओं और खटमलोंने जो आफ़त की थी, उसे देखकर हमने आज वृक्षके नीचे ही सोना पसन्द किया ।

अगले दिन (११ सितम्बर) दो बड़ी-बड़ी गुम्बाएँ वखोर् और छोस्-कोर-यङ्चे मिलीं । दूसरी गुम्बा बहुत बड़ी है । इसके आसपास बहुत वृक्ष लगे हुए हैं । नज़दीकमें और दाहिनी ओर पहाड़में कितनी ही और गुम्बाएँ हैं । जब घाट दो-तीन मील रह गया, तो एक दोरिङ् (पाषाणस्तम्भ) मिला । इसके अक्षर बहुतसे मिट चुके हैं, लेकिन यह ज़रूर सम्राटोंके समय (६३०-९०२ ई०)का पाषाणस्तम्भ है । उस समय यही भारत जानेका प्रधान रास्ता था । हम ब्रह्मपुत्रके किनारे पहुँचे । ञब्सो, रोङ्, शिगर्चे, सक्या, केरोङ् होते नेपाल जानेका, यहीं पुराने समयमें रास्ता था। इस रास्तेपर जगह-जगह विहार और पुराने गाँव हैं, लेकिन आजकल कितनी ही जगहमें रास्ते बदल गये हैं। हम इस रास्तेसे चलनेका निश्चय कैसे कर सकते थे, जब कि हम बिल्कुल बेबस थे। यद्यपि ब्रह्मपुत्रनदी शिगर्चेसे ही यहाँ आई है, लेकिन बीचमें वह कुछ ऐसे पहाड़ोंसे गुज़री है कि उसके किनारे-किनारे कोई जा नहीं सकता।

९ बजेसे पहिले हम घाटपर पहुँच गये । यहाँ दोनों कूल कुछ अधिक ऊँचे हैं । इसलिए नदी ज्यादा इधर-उधर हट नहीं सकती । दो घंटा हमें चमड़ेकी नावसे नदी पार करनेमें लगा । ३ बजे हम खङ्छङ् गाँवमें पहुँचकर गोवा (गाँवके मुखिया)के घरपर ठहरे । रास्तेके गाँवोंमें आतशक और सूज़ाककी बीमारी बहुत ज़्यादा मालूम होती थी, कुछ औरतें आतिशककी दवाई लेने आईं । मैं दस्त, बुख़ार, सिरदर्द जैसी साधारण बीमारियोंकी दवाएँ और मलहम अपने पास रखता था, मलहम देकर पिंड छुड़ाया ।

अगले दिन गोवाने सामानकेलिए दो बैल और सवारीकेलिए दो घोड़ियाँ कर दीं । अब हम ञब्सो जोतकी ओर चढ़ रहे थे । पहिले चढ़ाई साधारण थी, लेकिन डाकवालेके घरसे वह कठिन होने लगी । हमारे सभी जानवर कमज़ोर थे, इसलिए वह धीरे ही धीरे आगे बढ़ सकते थे । कुछ वर्षा भी होने लगी । यह जोत खून और डकैतीकेलिए बहुत मशहूर है । ख़ैर, किसी तरह हम जोतपर पहुँचे, दूसरी तरफ़ हमारा मार्ग बहुत दूरतक समतल भूमिपर था, फिर उतराई शुरू हुई । जोतसे हमें एक ओर ब्रह्मपुत्र नदी और दूसरी ओर युमृडोक्का विशाल सरोवर दिखलाई पड़ा । जहाँ ब्रह्मपुत्रकी उपत्यकाके गाँवोंमें जगह-जगह सफ़ेदे, बीरी, ख़ूबानी, और शायद अख़रोटके भी वृक्ष दिखाई देते, वहाँ युमृडोक-सरोवरके किनारेके गाँवमें

वृक्षोंका कहीं नाम नहीं था। बरसातने जो हरी-हरी घास लगा दी थी, वह अब भी सूखी नहीं थी। ३ बजे हम गाँवमें पहुँचे। यहाँ ही चाय पी, और दो दिन बाद आज सत्तू खाया। दो तीर्थयात्रिणी तरुणियाँ कुछ माँगने आईं, कुत्तेने एकके पैरमें काट खाया। मैंने गेशेसे टिनचर-ऐडिन लगा देनेकेलिए कहा। बात करनेपर मालूम हुआ, कि दोनों गेशेकी जन्मभूमि अमदो प्रदेशकी हैं। अमदो (तंगुत्) ल्हासासे मंगोलियाकी ओर दो महीनाके रास्तेपर है। और बीचमें ऐसी भी जगहें हैं, जहाँ हफ़्ते भर कोई गाँव नहीं मिलता। यह दोनों लड़कियाँ अकेली थीं। उनके साथ कोई पुरुष नहीं था। उनकी उमर बाईस-चौबीससे ज़्यादा नहीं होगी, और उनमेंसे एकको तो हम सुंदरी कह सकते हैं। मैं ख्याल करता था, इनके साहसके सामने मेरी यात्रा कुछ भी नहीं है, वह युवती स्त्री हैं, और अपना देश छोड़ दो-दो, तीन-तीन महीनेके रास्तेपर निकली हैं। उनके पास काफ़ी पैसा नहीं, इसलिए दूसरे तीर्थयात्रियोंकी तरह रास्तेमें सत्तू-चाय माँगती चलती हैं। गेशेने बतलाया कि ल्हासाके उत्तरके निर्जन स्थानोंको उन्होंने क़ाफ़लेके साथ पार किया होगा, तो भी उन्हें डाकुओंके खतरेसे भरे पचीसों जोतोंको अकेले पार करना पड़ा होगा। स्त्री, पैसा नहीं, डाकुओंका रास्ता, और वर्षो-केलिए घरसे निकल पड़ना, इन बातोंपर मैं सोच रहा था, जब गाँवसे निकलनेपर गेशेने सब बातें बतलाईं। हमने उन्हें थोड़ासा पैसा दे दिया था। पहिले पता लगा होता, तो उन्हें ग्यन्चे तक अच्छी तरह ला सकते थे। गेशेने एकको तो अपने परिचित गाँवकी लड़की बतलाया था, इसलिए और भी अफ़सोस हुआ। लेकिन यह जानकर सन्तोष हुआ, कि वह हमारी मददके भरोसे नहीं, बल्कि अपनी हिम्मतपर तीर्थयात्रा और साहस-यात्राकेलिए घरसे निकली हैं। तिब्बतमें ऐसे यात्री और यात्रिणियाँ बराबर देखनेको मिलतीं। अभी उनको तथाकथित सभ्यतासे पाला नहीं पड़ा है, इसलिए बहुत सरलस्वभाव हैं। गेशेने बतलाया कि उधरकी कुमारियाँ बहुत स्वच्छन्द होती हैं, और ब्याह होनेपर तरुणीके कौमार-जीवनकी स्वच्छन्दताका ख्याल नहीं किया जाता।

उस दिन (१२ सितम्बर) हम पेदेके तारवालेके घरपर ठहरे। यहाँपर भी हमारे दयालु दोस्त कुशो तन्दरने टेलीफोन कर दिया था, इसलिए तारवाले आदमी हमारी मदद करनेकेलिए तैयार थे। यह गाँव युम्-डोक् महासरोवरके किनारेपर बसा है। इस सरोवरकी मछलियाँ बहुत स्वादिष्ट होती हैं, और लोग उन्हें सुखाकर रख लेते हैं। तारवालेने हमें खानेकेलिए सूखी मछलियाँ दीं। मछलीको चीरके काँटा निकालकर सुखाया जाता है, सूख जानेपर वह बहुत हल्की हो जाती है। हमने

सोचा कि पाँच-सात सेर मिल जायँ, तो रास्तेकेलिए खरीद लिया जाय; किन्तु मालूम हुआ कि लोग पैसेसे नहीं अनाजसे ही बदलते हैं, इसलिए बहुत थोड़ीसी मछली हमें मिल सकी। तारवालेने हमारेलिए दो घोड़े और दो खच्चरका इन्तज़ाम किया था। लेकिन हमारे साथवाले घोड़े नम्पा-शिवा गाँवतककेलिए थे। उस गाँवमें छुशिङ्‌शा और मेरा भी परिचित गोवा (नम्बरदार) था, इसलिए पूरी आशा थी कि वहाँसे दूसरे खच्चर मिल जायँगे।

अगले दिन (१३ सितम्बर) को ६ बजे सबेरे ही हम रवाना हुए। आसमानमें बादल घिरे हुए थे, लेकिन वर्षा नहीं हुई, १० बजेके क़रीब, जब नम्पाशिवा एक मील रह गया, तो सर चार्लस वेल् अपने दलबलके साथ रास्तेमें मिले। सर चार्लस पिछले साल मरे दलाई लामाके बड़े दोस्त थे। जब वह पोलटिकिल एजेन्ट थे, उस वक़्त उनके प्रभावसे तिब्बतके साथ ब्रिटिश सरकारकी बड़ी गहरी मित्रता स्थापित हुई थी। अब वह बहुत वृद्ध थे, और पेनशन लेकर विलायतमें रहते थे। मरनेसे पहले एक बार फिर तिब्बतको देखनेकी उनकी इच्छा थी। दलाई लामाने आनेकी इजाज़त दे दी, लेकिन अपने मित्रके देखनेसे पहले ही वह चल बसे। सर चार्लस मुझे रास्ते हीमें मिले। शायद उनको पता था, कि मैं आजकल तिब्बतमें हूँ। मेरे चेहरे और पीले चीवरको देखने हीसे समझ सकते थे, कि मैं कौन हूँ। घोड़ेपर चढ़े चढ़े हम लोग देर तक बातें करते रहे, उधर चलते फिल्म-वाला फोटोग्राफ़र तस्वीरें खींच रहा था। उन्होंने यात्राके प्रयोजनके बारेमें पूछा। मैंने कहा कि मैं भारतसे लुप्त संस्कृतग्रंथोंकी खोजमें आया हूँ। स्थान पूछनेपर मैंने छपराका नाम लिया। उन्होंने बतलाया—तरुण आई० सी० एस० होकर आनेके वक़्त मैं एक वर्ष छपरामें रहा हूँ। उन्हें एकमा स्टेशन भूला नहीं था, वह हिन्दी बोल लेते थे। उन्होंने कुछ रुपए निकालकर देना चाहा, मैंने धन्यवादपूर्वक उसे अस्वीकार किया। यद्यपि उन्हें उस तरहकी यात्रा नहीं करनी थी, जैसी कि मैं कर रहा था—उनके साथ सहयात्रियोंकी एक पूरी पलटन चल रही थी—लेकिन ७० वर्षके बूढ़ेके-लिए वह साधारण यात्रा नहीं थी। मैं उनके साहसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता था।

११ बजे मैं नम्पाशिवा गाँवमें पहुँचा। चोला (गाँवका परिचित भाई) को खबर दी, लेकिन वह हमारे सामने भी नहीं आया। ग्यान्चीकेलिए खच्चर माँगनेपर बहाना कर दिया। तिब्बतमें साधारण परिचय और परिचितका परिचय कोई काम नहीं देता। लोग अपने प्रभुओंसे बहुत डरते हैं, और उनके सामने हाथ बाँधे खड़े

रहते हैं। वस्तुतः सैकड़ों वर्षोंसे बहुत क्रूर सामंती-पुरोहितीके कारण लोगोंमें मानव-सहृदयता कम पाई जाती है—वहाँ मालिक और दास दो ही श्रेणियाँ और दो ही संबंध हैं। खैर, न-ग-चे वहाँसे तीन ही मील था, बहुत कहने-सुननेपर वहाँ तक इन्तज़ाम हो गया। कुशो तनदरकी कृपासे न-ग-चेके तारवाले चोला (भाई) ने हमारे ठहरनेका प्रबन्ध कर रखा था। वैसे होता तो न जाने वहाँ कितने दिन तक बैठा रहना पड़ता, लेकिन उसी दिन गोरखा राजदूत न-ग-चे पहुँचा। उसकी बेगारमें बहुतसे घोड़े आए थे। बारह-बारह टंकापर रालुङकेलिए चार घोड़े हमें मिल गए।

अगले दिन (१४ सितम्बर) ५ बजे भिनसारे ही हम चले। आसमान बादलसे घिरा था, अँधेरा दूर होते ही बूँदें पड़ने लगीं, और वह जरातक जारी रही। सर्दी भी काफ़ी बढ़ गई थी। पहाड़ोंके ऊपर ताज़ी बरफ़ पड़ी हुई थी। १७ मील चलनेके बाद खरुला-जोतके पास डाक ढोनेवालेके घरमें चाय-सत्तू खाया, फिर ४ बजे रा-लुङ्के तर-खङ (तारघर) में पहुँच गए। यहाँ तारघर नहीं था, सिर्फ तारवाला आदमी लाइनको देखता और टेलीफोनसे खबर देता था। तारवाला ल्हासा चला गया था, लेकिन तिब्बतमें पुरुषका काम स्त्री आसानीसे सँभाल लेती है, तर-खङ् पहिले चीनी फ़ौजी चौकी थी, जिसमें आते-जाते वक्त चीनी अफ़सर ठहरा करते थे। आजकल कुछ कोठरियोंको तारवाला इस्तेमाल करता है, बाकी गिरनेवाली हैं। मरम्मत करनेका कोई ख्याल नहीं, भोट सरकारके पास सरकारी इमारतोंका कोई महकमा नहीं, तारमो (तारवाली स्त्री) ने ग्यानचीकेलिए चार घोड़ेका इन्तज़ाम किया, लेकिन अभी हमें रा-लुङ् गुम्बा भी देखना था।

दूसरे दिन हम दोनों घोड़ोंपर चढ़कर तीन मील दूर रालुङ् गुम्बा देखने गये। यह ११ वीं १२ वीं सदीकी पुरानी गुम्बा है। मकान किसी वक्त बड़े अच्छे रहे होंगे। कुछ मूर्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। चार प्रधान देवालयोंमें बड़ी-बड़ी काष्ठ या पीतलकी मूर्तियाँ हैं। ऊपर एक कोठरीमें बहुत सी छोटी पीतलकी मूर्तियाँ हैं। इन्हें लोहपत्तीके जँगलेमें रखा गया है, और दरवाजेपर मोहर लगी है, शायद इसीलिए कि कोई चुराकर बेंच न ले। इस गुम्बामें सत्तरके करीब ढाबा (भिक्षु) और १०० से ऊपर अनी (भिक्षुणी) रहती हैं। यह विहार कर्‌युदपा संप्रदायकी डुक्‌पा शाखाका है। ढाबा अनी दोनोंका यह सम्मिलित मठ है। आगेकी पीढ़ी चलानेकेलिए उन्हें बाहरसे चेला-चेली करनेकी जरूरत नहीं। हर भिक्षु-भिक्षुणी पति-पत्नी भी हैं, और उनके जितने लड़के-लड़की होते हैं वह सब ढाबा-अनी बन जाते हैं। इस प्रकार दूसरे मठोंमें जैसे यौन दुराचार जो देखे जाते हैं, वह यहाँ नहीं है। लेकिन जनसंख्या इतनी

बढ़ी हुई है, कि गुम्बाकी जागीर जीविकाकेलिए काफ़ी नहीं है। तिब्बतके गृहस्थोंमें सब भाइयोंकी एक पत्नी होनेके कारण जनसंख्या नहीं बढ़ने पाती, किन्तु यहाँ कोई उसकी रुकावट नहीं। इसलिए वह दिनपर दिन और बढ़ती जाती है। आजकल फ़सल कट रही थी, इसलिए भिक्षु-भिक्षुणी खेत काटनेमें लगे हुए थे। जाड़ोंमें यहाँकी भिक्षुणियाँ पाँच-पाँच सात-सातका गिरोह बाँधकर दूर दूर तक तारा या किसी देवी-देवताका स्तोत्रपाठ करने और भिक्षा माँगनेकेलिए निकल जाती हैं। यहाँ कोई तालपत्रकी पोथी नहीं थी, यद्यपि उसीकी बात सुनकर हम यहाँ आए थे।

११ बजे हम तार-खङ्में लौट आये। सामानके घोड़े आगे चले गये थे। हम भी तुरन्त ग्यानचीकेलिए रवाना हो गये। रास्तेमें कुछ वर्षा हुई। यद्यपि ऊँचाईके अनुसार यहाँ खेत आगे-पीछे बोए जाते हैं, लेकिन अब वह एक ही साथ कट रहे थे। अँधेरा होते-होते हम छङ्वाके ४,५ घरवाले छोटे गाँवमें पहुँचे। दूसरे दिन साढ़े तीन घंटे चलनेके बाद साढ़े आठ बजे ग्यानची पहुँचे। बहुतसी चिट्ठियोंके अतिरिक्त श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी (आई० सी० एस०) का भेजा केमरा आया हुआ था, उसके साथ काफ़ी फिल्म भी थे। लेकिन अभी तक मैंने फिल्म धोनेका काम नहीं सीखा था। यात्राओंने मुझे ठोक-पीटकर आधा फोटोग्राफ़र बना दिया था—अब मैं अपने रोलैफ़्लैक्ससे अच्छा फोटो ले सकता था। संभव है, इस दुगुनी भाथीवाले केमरेसे मैं पुस्तकोंका फोटो ले लेता, लेकिन मसालेसे धोनेका काम उतना आसान नहीं था। लेकिन जब १४ वर्षकी उम्रमें घुमक्कड़ बननेका पहिला प्रयास किया, उस वक़्त मुझे क्या मालूम था, कि अभी दुनियामें क्या-क्या सीखना है। खेतोंकी कटनीके कारण आगेकेलिए खच्चर नहीं मिल रहे थे, हमें एक हफ्ते तक ग्यानचीमें रह जाना पड़ा।

२२ सितम्बरको हमें अश्वतर (खच्चर) नहीं खरतर (गदहीमें घोड़ेके बच्चे) मिले। पहिले हमने सोचा कि नदीके परलेपारसे जाकर पोइखङ्के पास नावसे इस पार चले आएँगे। लेकिन पीछे उसका ख्याल छोड़ देना पड़ा और वह अच्छा ही हुआ, नहीं तो नदी पार करना उतना आसान न था। पोइखङ् ग्यानचीसे प्रायः २३ मील है, जिसमें ढाई-तीन मील रास्ता छोड़कर पहाड़ोंके भीतरसे जाना पड़ता है। यहाँ १०० के करीब भिक्षु रहते हैं। लामा ओमज़ेसे मैं ल्हासामें मिल चुका था, उन्होंने बड़ी खातिर की। पता लगा, कि विक्रमशिलाके अन्तिम संघराज शाक्य-श्रीभद्र (११२७-१२३५ ई०) तिब्बतके जिन चार मठोंमें ज्यादातर रहे थे, उनमेंसे यह एक है; लेकिन उस वक़्त यह विहार नदीके किनारे समतल भूमिमें था,

शायद वह और भी पहिलेका बना हुआ था। वह विहार किसी कारण टूट गया, फिर उनकी परंपराके किसी भिक्षुने इस विहारको बनवाया। यहाँ शाक्यश्रीभद्रके तीन चीवर (भिक्षु-वस्त्र), कपड़ेका जूता, भिक्षापात्र, और जलछक्का रक्खा हुआ है। उनकी एक छोटी मूर्ति भी है, जिसकी तोतें जैसी नाक और आँख-मुंह देखनेसे पता लग जाता है, कि यह किसी भारतीय कलाकारके हाथकी चीज़ है। गेशे पो तो पा तथा दूसरे भोट देशीय आचार्योंके भिक्षापात्र और अन्य चीजें सुरक्षित तौरसे रक्खी हुई हैं। एक छोटासा भारतीय चित्रपट, अमोघपाश अवलोकितेश्वरका है। १०० से ऊपर बहुत ही सुन्दर चित्रपट यहाँ पर रक्खे हुए हैं। इन्हें किसी चतुर चित्रकारने सोलहवीं सदीके आरंभमें (कुन्सङ् रब् तङ्के समयमें) बनाया था। यहाँ तीन वेष्टन संस्कृत पोथियोंका था, एकमें खंडित सूत्र, धारिणी, व्याकरण, अजातशत्रुपर काव्यके पत्रे थे। दूसरी पोथी बड़ी महत्वपूर्ण थीं। इसमें दो पोथियाँ थी। एक थी "साकेतक आर्य-सुवर्णाक्षीपुत्र सर्वास्तिवादी भिक्षु अश्वघोषकी दण्डमाला"। इसमें उपदेश देनेके नमूने दिए हुए थे। मालूम होता है उस कालमें भिक्षुओंको व्याख्यान देनेकी बाकायदा शिक्षा दी जाती थी। दूसरी पोथी (परिकथा) भी व्याख्यान सिखलानेकी ही थी, किन्तु ग्रंथकर्त्ताका नाम उसपर नहीं है। तीसरे वेष्टनमें "मध्यांत-विभंग" "धर्म-धर्मता-विभंग" और "अभिसमयालंकार" की तीन छोटी-छोटी पोथियाँ काग़ज़पर थीं। ल्हासाके कुन्दे-लिङ् गुम्बाके बाद यह दूसरी गुम्बा मिली, जिसमें भारतसे लाए संस्कृत ग्रन्थ मौजूद हैं। मैंने पुस्तकोंकी सूची बनाई, कुछ फोटो लिए, विहारको घूम-घूमके देखा और दूसरे दिन (२३ सितंबरको) ४ बजे शिगर्चेकेलिए रवाना हुआ। उस दिन ४,६ मील चलकर टशीबू गाँवमें ठहरे, और २४ तारीख़को ३५ मील चलकर सूर्यास्त होते-होते शिगर्चे पहुँच गए। अब पत्तियाँ और पीली हो चुकी थीं और उसी के अनुसार सर्दी भी बढ़ गई थी।

यात्रामें जब अनुकूल साथी मिल जाता है, तो आदमीकी बहुतसी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। गेशे और मैं इसी तरहके साथी थे। शलू, ङोर और सस्क्या इन्हीं तीनों मठोंसे मुझे संस्कृत पुस्तकोंकी आशा थी। सितंबर खतम हो रहा था, जाड़ा सिरपर आ गया था, इसलिए हमें जल्दी भारत लौटना था। उस वक़्त मेरे कार्यका प्रोग्राम यही होता था, कि गर्मी और बरसातको तिब्बतमें बिताया जाय, और जाड़ोंमें पटना आकर पुस्तकोंके छापने और संपादन करनेका काम किया जाय। अबके जाड़ामें भी मुझे विनयपिटक छपवाना था, साथ ही अब पैसा भी इतना नहीं रह गया था, कि जाड़े भर वहीं रहनेका संकल्प करता। फ़सल कटनेका वक़्त होनेके कारण यहाँ भी

जल्दी घोड़ोंके मिलनेकी आशा नहीं थी। रघुवीर (छोन्जेला) अब भी टशी-ल्हुन-पोमें पढ़ रहे थे, और काफ़ी तरक्की की थी। गेशे धर्मवर्धनसे मालूम हुआ, कि यहाँके समलोगेशे (योनतन) तिब्बतके गिने-चुने महापंडितोंमें हैं—शायद मैं यह लिखना भूल गया, कि पहिली तिब्बत यात्रामें काशीके पंडितोंने मुझे (महापंडित) की उपाधि दी थी। तिब्बतीभाषामें महापण्डितका पर्यायवाची है (पण-छेन), लेकिन यह टशी लामाकी खास उपाधि है, इसलिए कोई दूसरा इस्तेमाल नहीं करता। रघुवीर समलो गेशेके विद्यार्थी थे। एक दिन हम दोनों रघुवीरके साथ समलो गेशेसे मिलने गए। उनमें विद्वत्ताके साथ-साथ बड़ी सरलता पाई। दस साल से ऊपर हुए, जब कि टशीलामाने मध्यतिब्बतके विद्यातलको और ऊँचा करनेकेलिए कुछ विद्वानोंको अम्दोसे बुलवाया था। उसी समय समलोगेशे टशी-ल्हुनपो आए। पीछे दलाईलामासे मत-भेद होनेके कारण टशीलामाको तिब्बत छोड़कर चीनमें जाना पड़ा, तबसे टशी ल्हुन-पो गुम्बा श्रीहीन हो गया। दलाई लामाके मरनेके बाद आशा थी, कि टशीलामा अब तिब्बतमें चले आएँगे। मेरे शिगर्चे रहते ही वक्त टशी लामाका सैकड़ों खच्चर सामान वहाँ आया था। टशीलामा तिब्बतकी सीमापर आगये हैं, किन्तु वर्तमान प्रभुवर्ग उनके आनेको अपनेलिए खतरेकी बात समझता है और हर तरहकी रुकावटें डालता है। समलो गेशेका भी मन अब नहीं लगता, लेकिन उन्होंने बहुतसा समय यहाँ बिता दिया है, अमदो नज़दीक भी नहीं है, इसलिए यहीं पड़े हुए हैं।

अगले दिन (२६ सितंबर) हमें शलूकेलिए खच्चर मिल गए। ४ घंटा चलनेके बाद हम विहारमें साढ़े ग्यारह बजे पहुँच गये। रिसुर रिम्पोछे बड़े प्रेमसे मिले। उन्होंने बतलाया कि तालपोथियाँ रिफुग (पहाड़परके विहार) में हैं, और जिस कोठरीमें वह बन्द है, उसका दरवाजा दो अवतारी लामों (रिसुर रिम्पोछे और बूतोन् रिमपोछे) और चार खनपोके जमा होनेपर खुलता है। हम उस दिन मंदिर देखने गये। दूसरे पुराने विहारोंकी तरह यह विहार भी मैदानमें चौकोर है। मंदिरोंकी परिक्रमामें १४वीं शताब्दीके किसी चित्रकारने बड़े सुन्दर चित्र बनाए हैं, जिनमेंसे बहुतसे जातक-चित्र हैं। अगले दिन दोपहरको ग्यारह तालपोथियाँ आईं। मैं चार बजे तक उन्हें देखता रहा। अधिकतर पुस्तकें अपूर्ण हैं। यह काबुल-तुर्किस्तानकी ७वीं शताब्दीकी लिखी, शारदा, रंजन, तथा तीन प्रकारकी वर्तुल लिपियोंमें लिखे थे। एक ग्रन्थको देखनेसे मालूम हुआ, कि वह महासांघिक लोकोत्तरवाद संप्रदायका भिक्षु-प्रकीर्णक (विनयग्रन्थ) संपूर्ण और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। विक्रमशिलाके नैयायिक

ज्ञानश्रीके नव न्यायग्रंथ भी पूर्ण हैं। यह दो वेष्टन मुझे बहुत ही महत्वपूर्ण मालूम हुए। मैंने फोटो भी लिया। लेकिन जब तक वहाँ धोकर देख न लिया जाय, तब तक क्या आशा रखी जा सकती है ? बैठके लिखनेकेलिए तो समय नहीं था। तिब्बतके श्रेष्ठ विद्वानोंमें एक बुतोन् (रिन्छेन् डुब्, १२९०—१३६४ ई०) इसी शलू विहारके थे। वह बहुत सालों तक साक्यामें रहे। जान पड़ता है, वही यह पुस्तक साक्यासे उठा लाए। बातचीतसे मालूम हुआ, कि तालपत्रकी कुछ और पुस्तकें वहाँ हैं, लेकिन अभी वहाँ वाले दिखलाना नहीं चाहते। रिसुर् रिम्पोछेको अकेले कुछ करनेका अधिकार नहीं था। उन्होंने कहा कि (भोटिया) दूसरे महीने (मार्च) में मैं उन पुस्तकोंको अलग कर रखूँगा, फिर आपके पास संख्या आदिके बारेमें लिखूँगा। दूसरे दिन (२८ सितंबर) रिसुर्-रिम्पोछेने अपने घोड़े दिए, और दोपहर तक हम शिगर्चे पहुँच गए। लदाखमें मैंने जिस लामाके हाथमें कुछ तालपत्र देखे थे, वह ङोर गुम्बाका था। मैं उसे एवंके नामसे जानता था, लेकिन लोगोंमें यह नाम प्रसिद्ध नहीं, इसलिए उस गुम्बाका पता मुझे देरसे लगा। उसी दिन ङोरका एक भिक्षु आया। उसने बतलाया, कि जो लामा लदाख गये थे, वह आजकल खम् प्रदेशमें हैं, साथ ही उसने यह भी बताया कि ङोरमें ७०० से अधिक तालपोथियाँ हैं। अब तक मैं सिर्फ अटकल लगाया करता था, लेकिन अब निश्चित तौरसे मालूम हो रहा था, कि वहाँ कुछ ताल पोथियाँ ज़रूर हैं।

३० नवंबरको हम नरथङ् गए। खच्चर दो ही मिले थे, जिसमेंसे एकपर हमारा सामान था। गेशेको पैदल चलना पड़ता था। यदि हम इन खच्चरोंको छोड़ देते, तो फिर न जाने कितने समय तक बैठा रहना पड़ता। समलो गेशे और दूसरे मित्रोंसे मिल आए। समलो गेशेने कहा कि आप जिस किसी संस्कृतज्ञ नौजवानको भेजना चाहते हैं, भेजिए; मैं उसे पढ़ाऊँगा, और इस बुढ़ापेमें भी कुछ संस्कृत पढ़ूँगा।

भूकंपके बाद सीतामढ़ीमें मैं जब गया था, उसी वक़्त खाँसी हो गई थी, और वह दो-ढाई महीने रही। अब फिर थोड़ी-थोड़ी खाँसी शुरू हो गई थी, और कुछ ज्वर भी आ रहा था। लेकिन अभी मुझे नहीं मालूम हुआ था, कि यह टोन्सिलका फ़साद है। मैंने समझा था, शायद जुकाम आना चाहता है। शिगर्चेसे देरकरके रवाना हुए थे, इसलिए जब नर-थङ् पहुँचे तो खूब अँधेरा हो गया था।

दूसरे दिन (१ अक्तूबर) पहिले यहाँकी गुम्बाको देखना था। यहाँ तालपत्रकी कोई पुस्तक नहीं मिली, यदि कोई पुस्तक कभी रही हो, तो वह आज या तो किसी स्तूपमें होगी, या टशीलामाके खास भंडारमें—नरथङ् गुम्बा टशी-ल्हुनपोके अधीन

है, लेकिन वहाँ तालपत्रकी पुस्तकोंका पता नहीं लगता। पिछली बार जब मैं नरथङ् आया था, उस वक़्त सामनेकी चीज़ोंको पूछ-पूछकर देखनेकी कोशिश नहीं करता था। अबकी बार तो इसकी ओर सबसे ज़्यादा ध्यान रहता था। मुहरमें बन्द कुछ चीज़ें थीं, किन्तु इनमें ज़्यादातर गेशे शरवा तथा दूसरे भोट गुरुओंके जूते, डोमतोन-पा आदिकी छड़ियाँ थीं। दो पत्थरकी मूर्तियाँ एक मंदिरमें दिखाई पड़ीं। वह भारतीय थीं। कोठेपरके मंदिरमें कुछ भारतीय चित्रपट हैं, उनमेंसे कुछके फोटो लिए। कंजूर-छापाखानेवाले मंदिरकी दीवारोंको देखने लगा, तो वहाँ कुछ बड़े-बड़े चित्रपट टँगे थे। नज़दीकसे देखनेपर पता लग गया, कि वह भारतीय चित्रपट हैं। इनकी संख्या बारह है और बहुत ही अरक्षित जगहमें रखे हुए हैं। संयोग ही समझिए, जो अब तक बच रहे हैं। तारामंदिरमें बोधगयाके मंदिरका पत्थरका एक नमूना रखा हुआ था। यद्यपि इसपर फाटकोंका नाम तिब्बती अक्षरमें लिखा था, लेकिन तेलिया पत्थर बतला रहा था कि शायद इसे ११ वीं १२ वीं सदीमें कोई बोधगयासे ले आया है।

पहिली अक्तूबरको ११ बजे हम ङोरकेलिए रवाना हुए, गेशेको पैदल चलना पड़ा। साढ़े तीन घंटेमें हम ङोर पहुँच गए। गुम्बा बहुत विशाल है। बहुतसे मंदिर हैं। कोई परिचित तो यहाँ था नहीं, कोशिश करनेपर एक सुनसान घरमें जगह मिली, जिसमें न कोई दरवाज़ा था न खिड़की। इसका मतलब था कि हम उधर मंदिरमें जाते और इधर कोई लटा-पटा उठा ले जाता। रातको दो तालपत्र आए, जो किसी न्याय ग्रन्थके थे। पूछनेपर मालूम हुआ, कि २० पोथियाँ हैं—खैर १०० से २० रह गई, तो भी कुछ हैं, यह जानकर संतोष हुआ।

सबेरे चाय पीना था। गेशे ईंधन लेने गए, बहुत मुश्किलसे थोड़ीसी लकड़ी मिली। उतनेसे चायके पानीके गरम होनेमें भारी संदेह था। सबेरे तो मालूम होने लगा, कि जल्दी ही इस जगहको छोड़ना पड़ेगा। मकानकेलिए वहाँ बैठकर एक आदमीको अगोरना, ईंधनकेलिए त्राहि-त्राहि, ऊपरसे मठका छग्जोद् (प्रबन्धक) बहुत ही रूखा था। वह मठका प्रबन्धकर्त्ता होनेकी जगह डाकुओंका सरदार अच्छा बन सकता था। गेशेको ज़ोर लगाना था, किसी तरह दो-एक दिन भी हम यहाँ टिक सकें। गेशे खुद ही बहुत अच्छे पंडित हैं, लेकिन इन मूर्खोंकी जमातमें "धोबी बसिके का करे, दीगम्बरके गाँव।" लामा गेन्दुन्ला यहाँके बृहस्पति और शुक्राचार्य थे। वह आदमी बुरे नहीं थे, लेकिन थे बिल्कुल मुहदुब्बर। तानाके लामा ङ-वङ्के पास गए। तानालामा बेचारा ग़रीब भिक्षु था, उसके पास एक ही कोठरी थी, जिसमें चाय पकाना पड़ता था, और रहना भी। उसने बड़ी खुशीसे अपनी कोठरीमें हमें भी जगह

दी। लंकामें एक विभीषण भगत मिल गया। अब हम इधर-उधर जा भी सकते थे। पासमें ही दो अवतारी लामोंका महल था। नीचे एक प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध थे। उन्होंने अच्छी तरह बात की, और कहा कि तालपोथियाँ ज़रूर देखनेको मिलेंगी। ऊपर एक वृद्ध अवतारी लामा उछेन (रिन्पोछे) रहते थे। वह बहुत ही अच्छे आदमी थे। एक और लामाका पता लगा। उनके पास भी गए। मालूम हुआ कि पोथियाँ तो सभी लामाओंकी रायसे मिल सकती हैं, लेकिन इस वक्त प्रबन्ध लब्रङ्-शुङ्-छगजोदके हाथमें है। उससे पूछनेपर वह गोलमोल जवाब दे रहा था। खैर, जानेके दूसरे दिन शामको हम तानालामाकी कोठरीमें चले आए। इसलिए जोड़-तोड़ लगा सकते थे। प्रधान मन्दिरमें नीचे बुद्ध और बोधिसत्वोंकी मूर्त्तियाँ हैं, सामने संघभवन है। ऊपरके मन्दिरोंमें कुछ भारतीय मूर्त्तियाँ भी हैं। एक मन्दिरमें भोटके महावैयाकरण सितू पण्छेनके बनाए हुए कितने ही चित्रपट हैं, जिनमें उन्होंने बुद्धकी जीवनीको चित्रित की है। मानव-अंगोपांग तो उतने अच्छे नहीं हैं, लेकिन प्राकृतिक दृश्य सुन्दर है, और अंकनमें चीनी प्रभाव है। छग्जोद् टालमटोल कर रहा था। २ बजेके क़रीब आदमी बुलाने आया। दुतल्लेके ऊपर एक कोठरीका दरवाज़ा खुला। भीतरका दरवाज़ा खुला, अँधेरा था। दीवारके साथ-साथ कितनी ही मूर्त्तियाँ रखी थीं। एक दीवारके किनारे लकड़ीके ढाँचे हैं, जिनपर कितनी ही सौ हस्त-लिखित पुस्तकें रखी थीं, इनमें ज़्यादातर तिब्बती भाषामें थीं। यह भी अपना ऐति-हासिक महत्व रखती हैं, लेकिन मुझे तो तालपोथियोंकी ज़रूरत थी। सम्भव है काग़ज़की पोथियोंमें भी कोई संस्कृतकी हो, लेकिन उसके ढूँढ़नेकेलिए तो हज़ारके क़रीब पोथियोंको खोलना-बाँधना पड़ता। छग्जोद् इसकेलिए भला कैसे इजाज़त दे सकता था। तालपत्रकी पोथियाँ अपने पतले लम्बे आकारके कारण आसानीसे पहचानी जा सकती थीं। हमने एक-एक करके उतारना शुरू किया, कुल ३८ बंडल (मुट्ठे) निकल आये। खुशीके बारेमें क्या पूछना। और फिर जब बाहर ले जा छग्जोद्के घरमें खोलकर देखते हैं, तो वहाँ 'वादन्याय' मूलकी दो पोथियाँ हैं। मैं धर्मकीर्त्ति और दिग्नागके पीछे दीवाना था और 'वादन्याय' धर्मकीर्त्तिकी पुस्तक थी। इसी बार ल्हासामें 'वादन्याय'की टीका मिली थी, लेकिन मूल वहाँ नहीं था। मैंने मूलको भोट-अनुवादकी सहायतासे थोड़ा-थोड़ा संस्कृतमें करना भी शुरू किया था, लेकिन अब तो मूल पुस्तक ही मिल गई। मैंने आज बारह पोथियों-को देखा, इनमें एक पोथीमें धर्मकीर्त्तिके दो ग्रंथ 'हेतुविन्दु' और 'न्यायविन्दु'पर दुर्वेक-मिश्रकी दो अन्य टीकाएँ थीं। यह सभी ग्रंथ बौद्धन्यायके थे। दिग्नाग और धर्म-

कीर्ति जैसे नैयायिकोंने बौद्धसाहित्यको समृद्ध किया था और वे हिन्दुस्तानके सर्व-श्रेष्ठ बुद्धिवादी थे। धर्मकीर्त्तिके इन ग्रंथोंको देखकर मैं खुशीसे उछलने लगा। मुझे सारे कष्ट भूल गये। औरोंका मैं फोटो ही ले सकता था यद्यपि इसमें सन्देह था कि मैं इसमें सफल होऊँगा; किन्तु 'वादन्याय'को मैं संयोगके ऊपर नहीं छोड़ सकता था। उसी दिन मैंने उसके तीन पत्रे उतार डाले और चौथे दिन उसे लिखकर खतम कर दिया।

अगले दिन (४ अक्तूबर)को बाक़ी २७ पोथियोंको देखा। उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी—(१) वादन्याय टीका, (२) अभिधर्मकोषमूल, (३) सुभाषित-रत्नकोष (भीमज्ञान सोम), (४) अमरकोषटीका (कामधेनु), (५) न्यायबिन्दु-पंजिकाटीका (धर्मोत्तर+दुर्वेकमिश्र), (६) हेतुबिन्दु-अनुटीका (धर्माकरदत्त-अर्चट+दुर्वेकमिश्र), (७) प्राप्तिमोक्षसूत्र (लोकोत्तरवाद), (८) मध्यान्तविभंग-भाष्य।

ईंधनकी तकलीफ़ बहुत थी, मोल लेनेपर भी नहीं मिलता था। सर्दी बढ़ती जा रही थी, अभी हमें साक्या भी जाना था, फिर हिमालयकी बड़ी-बड़ी जोतोंको पार करना था। ८ अक्तूबरको हमें प्रस्थान करना था। एक दिन पहिले ही उछेन-रिम्पोछेसे विदाई ली। उन्होंने मक्खनकी बट्टी और चायकी एक ईंट विदाई दी। ज़ुङ् रिम्पोछेने पाँच चायकी ईंटें दीं, इनकार करनेपर भी नहीं माने, साथ ही तीन पुस्तकें दीं, जिनमें एक विहार-संस्थापक कुन्गा जङ्पोकी जीवनी थी। ङोर आनेपर पहिले दिन जैसा स्वागत हुआ था, उससे हम जितना खिन्न हुए थे, आज उतना ही प्रसन्न थे। साक्याकेलिए हमें परिचयपत्र भी मिले। ङोरगुम्बा भी साक्या-सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखता है, इस सम्प्रदायका सबसे बड़ा लामा (गुरु) साक्यामें रहता है।

हम उस दिन साढ़े सात बजे रवाना हुए। हमें शब गाँवकेलिए एक घोड़ा और दो खच्चर मिले थे। हमारे ही साथ साक्याका एक आदमी भी चल रहा था। तीन मीलपर पहिले एक छोटीसी जोत आई, फिर सबसे बड़ी जोत छग्पालापर हम दो बजे पहुँचे। उतराई उतरते हुए ४ बजेके क़रीब शबमें पहुँचे। चिट्ठी जिसको देनी थी, उसको दे दी। पहिला स्वागत तो यह हुआ, कि घरसे बाहर हमें ठहरनेकेलिए जगह मिली। घोड़े-खच्चरकी बात करनेपर, पता लगा, इनके मिलने-की कोई सम्भावना नहीं। सोचा, अगर सामान ढोनेकेलिए गधा मिले, तो वही करें। उसका भी ठिकाना नहीं था। ङोरसे आये घोड़े-खच्चर तो पहिले ही लौट

गये थे। रातको हम दोनों मन मारे सो रहे। शायद यह वही शब था, जहाँ भारतीय पंडित स्मृतिज्ञानकीर्ति कुछ दिनों भेड़ चराते रहे।

अगले दिन (९ अक्तूबर)को बहुत दौड़धूप करनेपर सेङगेचे गाँवतककेलिए ६ टंकेपर दो गधे मिले। सूर्योदयसे पहिले ही हम रवाना हुए और ७ बजे सेङ्गेचे पहुँच गये। पासकी पहाड़ी (सेङ्गे)पर कभी एक बड़ा बिहार था, जो अब बहुत कुछ नष्ट हो गया है। नीचे २, ३ मानियोंकी छल्लियाँ थीं। एक मानीके पास कुछ आदमी खड़े थे। उनमेंसे एकके कानमें पेन्सिल जैसा कर्णभूषण लटक रहा था, अर्थात् वह कोई छोटा-मोटा राज्याधिकारी था। हमने उससे बातचीत की। उसने तुरन्त चाङ्शुम् तककेलिए दो गधे और एक घोड़ेका इन्तज़ाम कर दिया। ९ बजे हम बड़ी नदीके किनारे पहुँचे। पानी अधिक था। जहाँ-तहाँ पता लगा करके हम ऐसी जगहसे पार हो गये, जहाँ नदीकी दो धार हो गई थी। धूप ज्यादा लग रही थी, गेशेने अपने टोपको घोड़ेमें बाँध दिया था, वह गिर गया। हमने घोड़ेवालेको खोज लानेकेलिए दौड़ाया, आनेपर उसने कहा, नहीं मिला। लेकिन हम साफ़ देख रहे थे, उसका छुरा पेटपर कुछ फूला-फूला है। हमने कहा—खैर टोपी नहीं मिली, तो कोई परवाह नहीं, लेकिन, तुम्हें क्या हो गया है, पेटमें कोई बीमारी तो नहीं है। गेशे पैदल ही चल रहे थे, उन्होंने बीमारी देखनी चाही और टोपी निकाल ली। आदमी हँसकर रह गया। बेचारे सभ्यतामें अभी आगे नहीं बढ़े हैं, कि कामको दूरतक सोचकर करें। चाङशुङसे डेढ़ मील पहिले सम्दोङ्में हम १२ बजे पहुँचे। घोड़े-गधोंका पहिले ही इन्तज़ाम करना ठीक समझ हमने यहीं पूछ-ताछ शुरू की। तिब्बतके देवताओंकी मदद हुई। साक्या तककेलिए दो घोड़े और सामानके लिए गधे मिल गये। आज यहीं ठहर गये।

अगले दिन (१० अक्तूबरको) ७ बजकर २० मिनटपर रवाना हुए। हमारा रास्ता नदीके बाएँ-बाएँ था। कुछ दूर जानेपर दाहिनी ओरसे एक नदी आई, अब हम उसके किनारे-किनारे चलने लगे। इस उपत्यकामें दूरतक खेत और बग़ीचे मिलते गये। १२ बजे सुम्दो गाँवमें पहुँचे। पहिले यह किसी सामन्तकी राजधानी रही, या सैनिक छावनी। दीवारोंकी चिनाई बहुत अच्छी है। पुराने मकानोंके बहुतसे खँड़हर हैं। चाय-सत्तू खाया। एक बजे फिर रवाना हुए। डेढ़ घंटे बाद एक त्रिवेणी आई। यहाँ छोटासा क़िला था। नेपालसे ल्हासा जानेका यह प्रधान मार्ग था, इसलिए सैनिकरक्षाका इन्तज़ाम ज़रूरी था। पासमें पुराने ढंगका मकान है, जिसे भिक्षुणियोंने अपने मठके रूपमें परिवर्तित कर दिया था। आगे

घास पीली पड़ गई। शोङ्ला जोत अभी डेढ़ मील थी, तभी जिग्ग्युबा नामक पशु-पालकोंका गाँव मिला। तीन ही चार घर थे। यहाँके लोगोंकी जीविका है, भेड़ और चँवरी। इसके अतिरिक्त मुसाफ़िरोंके टिकाने, और पशुओंके चारेसे भी कुछ मिल जाता है। यह जगह पन्द्रह, सोलह हज़ार फ़ीटसे कम ऊँची न होगी।

अगले दिन (११ अक्तूबर) ५ बजकर २० मिनटपर हम आगेकेलिए रवाना हुए। सर्दी बहुत तेज़ थी। हवा सामनेसे आ रही थी और मुँहपर शीतके ज़ोरदार चाँटे लग रहे थे। हमें सारा मुँह ढाँकना पड़ा। चढ़ाई उतनी कठिन नहीं थी। उतराई ज़रूर थोड़ी दूर कठिन थी। अब हम नदीके बाएँ किनारेसे चल रहे थे। नदीपार दो-एक डोक्पा (पशुपालक) गाँव थे। १० बजे नदी पारकर तीन, चार घरके डोक्पा गाँवमें खाने-पीनेकेलिए ठहर गये। साढ़े बारह बजे फिर नदी पार हुये। कुछ आगे बढ़नेपर हमने पहाड़की बाईं ओर चढ़ना शुरू किया और दो मील जानेके बाद अटुला जोत मिली। उतराई ज़रूर कठिन थी, लेकिन मीलभरसे अधिक न होगी। आगे हमें साक्या नदी मिली। सामने साक्याके भव्य बिहार थे--एक पहाड़से लगा हुआ, और दूसरा नदी पार समतल भूमिके ऊपर।

साक्या बिहारकी स्थापना १०७३ ई०में हुई थी, लेकिन आजकलकी सबसे पुरानी इमारतें १२वीं १३वीं सदीकी हैं। १३वीं १४वीं सदीमें साक्या भोटके सबसे अधिक भागकी राजधानी रही। आज भी साक्याके महंतराजके पास बहुत बड़ी जागीर है, और दलाईलामा, टशीलामाके बाद सबसे अधिक सम्मान तिब्बतमें उन्हींका है। नदी पारकर बस्तीमें जानेकेलिए तीन-तीन पुल बने हुए हैं। बस्ती पहाड़के नीचे नदीके किनारे-किनारे चली गई है। हमारे पास महंतराजके प्रेमपात्र डोनिर् छेन्पो (महा पेशकार)केलिए चिट्ठी थी। दरवाज़ेपर आवाज़ दी, बाहरी फाटक खुला। आँगनमें पहुँचे, वहाँ आँगनमें भैंस जैसा एक काला कुत्ता बँधा था। आदमीने आकर कुत्तेको पकड़ा। हम दरवाज़ेके भीतर गये। डोनिर् छेन्पोने अच्छा स्वागत किया। तिब्बती लोगोंके ऐसे स्वागतका कोई विश्वास नहीं, सब उनकी मौजपर निर्भर करता है। किसी वक़्त मौज हुई, तो उठाकर सिरपर रख लेंगे और दूसरी बेर बाततक नहीं पूछेंगे। लेकिन, डोनिर् छेन्पो इसके भारी अपवाद मिले। मुझे तीन-तीन मरतबे साक्या जाना पड़ा और महीनों उनके घरपर रहा, लेकिन उनका स्नेह वैसा ही रहा। हमें कंजूर मन्दिरमें रहनेकेलिए स्थान दिया गया। डोनिर् छेन्पोकी चाम्कुशो छेरिङ् पल्मो (दीर्घायुश्री)ने आकर स्वयं आसन लगवाने और चाय-पानीका इन्तज़ाम किया। डोनिर् छेन्पो विद्या-व्यसनी हैं। धार्मिक ग्रंथोंको

तो उन्होंने उतना ही पढ़ा है, जितना पूजा-पाठकेलिए ज़रूरी है, किन्तु तिब्बती साहित्य और व्याकरणका वह बहुत अच्छा ज्ञान रखते हैं। साथ ही वह एक सिद्धहस्त वैद्य हैं, लेकिन वह वैद्यक पैसेकेलिए नहीं करते। उनकी सलाह हुई, दग्छेन् रिन्पोछे (महंतराज)के पास एक अर्ज़ी दें। दरबारी चिट्ठी-पत्रीके लिखनेमें वह सिद्धहस्त थे, उन्होंने ख़ुद चिट्ठी लिखी।

१० बजे हम मैदानवाले बिहार ल्हखङ् छेन्पो देखने गए। इस बिहारको चंगेज़-ख़ाँके पौत्र चीन-सम्राट कुवलेख़ाँके गुरु संघराज फग्फा (१२३४-८० ई०)ने बनवाया था। बीचमें बड़ा आँगन है, जिसकी तीन तरफ़ कई दीवारें और फाटककी ओरवाले पार्श्वमें देवताओंकी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ हैं। सबसे बाहर आकर देखनेपर बिहार एक क़िलासा मालूम होता है। देवालयोंमें बुद्ध और बोधिसत्वोंकी बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ हैं। यहाँकी परिक्रमामें तग्लुङ्मे भी ज्यादा पुस्तकें ईंटोंकी तरह चुनी हुई हैं। इनकी पुष्पिकाओंमें न जाने तिब्बती इतिहासकी कितनी सामग्री प्राप्त होगी। कई सौ बरसोंसे यह उस दिनकी इन्तज़ारमें हैं, जब तिब्बती ऐतिहासिक इनका सदुपयोग करेंगे। प्रधान मन्दिरके बाहरकी खुली सभामंडपमें बहुत विशाल देवदारके खम्भे हैं। इन खम्भोंको हिमालय पारसे लाना आदमीकी शक्तिसे बाहर है, यह समझकर लोग विश्वास करते हैं, कि संघराज फग्फाके हुकुमसे देवताओंने इन खम्भोंको खड़ा किया। मुख्य मन्दिरके बाहर आनेपर बाईं ओर एक बहुत ऊँची सीधी सीढ़ी है। सचमुच ही यदि ऊपरके सिरेसे निचले सिरेको आप उतरना चाहें तो घबड़ा जायँगे। कोठेपर भी कई मन्दिर हैं और एक कोठरी तो सीढ़ीके पार ही है। उस कोठरीने कितने अनमोल संस्कृत ग्रंथ रखे हैं, इसका पता उस यात्रामें न मुझे मालूम हुआ न अधिकारियोंको। मैं उस कोठरीके दरवाज़ेसे होता कायस्थ-पंडित गयाधरके देवालयकी ओर चला गया। अवश्य यह हिरण्य-निधिके ऊपर-ऊपर गँवारका चलना था। गयाधर पंडितकी मूर्त्ति बिल्कुल भारतीय थी। गेशेने पीछे जाकर उसका चित्र खींचा।

दोपहर बाद हम महंतराजसे मिलने ताराप्रसादमें गये। उनकी ६३ सालकी उमर थी। डोनिर् छेन्पो महंतराजके विश्वासपात्र अधिकारी थे, इसलिए उनसे बढ़कर परिचय देनेवाला कौन हो सकता था। हमने महंतराजकी सेवामें पुस्तकें दीं। बातचीत हुई। उन्होंने पुस्तकोंके दिखानेकी इजाज़त दे दी।

उस दिन हम नदी-पारके बिहारका दर्शन कर आये थे, अब हमें पहाड़के पचासों मन्दिरोंको देखना था। हमारे ठहरनेके स्थानके पास ही पुराने महंतराजोंके स्तूप

थे। इनके भीतर उनके शव रखे हैं। शवोंके साथ मृत व्यक्तिकी बहुमूल्य वस्तुएँ और पुस्तकोंके रखनेका रिवाज है। इन स्तूपोंमें न जाने कितनी तालपत्रकी पोथियाँ होंगी; लेकिन, उनका दर्शन तभी हो सकता है, जब तिब्बत १५वींसे २१वीं सदीमें आये। गोरिम् ल्हखङ् एक पुस्ताकागार है। शाक्यश्रीभद्र इसीमें ठहरे थे। यहीं उन्होंने साक्या पण्छेन्को पढ़ाया था। मन्दिर छोटासा है। इसमें भी कुछ पुराने चित्रपट हैं, लेकिन भारतीय नहीं। बगलमें एक दूसरा अँधेरा कमरा है। जिसमें जानेपर थोड़ी देर आँख ठीक करनेमें लगी। फिर भी दीपक मँगानेकी ज़रूरत पड़ी। हमने सुना था, कि यहाँ हज़ारों ग्य-पोत् हैं। ऊपर काग़ज़की बहुतसी कुंडलियाँ रखी हुई थीं। हजारकी संख्या चाहे न हो, लेकिन हैं वह बहुत। वह भला भारतीय पुस्तकें कैसे हो सकती थीं। लेकिन हैं वह भी महत्त्वपूर्ण। वह ब्लाकमें छपी चीनी त्रिपिटककी पुस्तकें हैं, और १३वीं १४वीं सदीकी हो सकती हैं, अर्थात् मंगोल-शासनके आरम्भिक कालकी। ठीक है, वह ग्यपोत् हैं, किन्तु ग्य-गर्पोत् (भारतीय पुस्तक) नहीं, ग्यनक्-पोन् (चीनी पुस्तक) हैं। उनके नीचे लकड़ी-के तख़्तोंपर बहुतसी पुस्तकोंकी दो-दो, तीन-तीन हाथ मोटी छल्ली दूरतक फैली हुई थीं—यह सब तिब्बती पुस्तकें थीं। हमने ङोर्में देखा था, कि कैसे तालपोथियाँ काग़ज़की तिब्बती पोथियोंमें मिली हुई थीं। एकाएक गेशेके हाथमें एक पच्चीस इंच लम्बी, ४ इंच चौड़ी काग़ज़की पुस्तक आई। देखनेपर मालूम हुआ कि यह प्रमाणवार्त्तिकके डेढ़ परिच्छेदोंपर प्रज्ञाकरगुप्तका भाष्य—वार्त्तिकालंकार है। बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तक हाथ लगी, इसमें सन्देह नहीं। हमारा उत्साह और बढ़ा, दूसरे दिन फिर देखनेपर एक तालपत्रकी पुस्तक मिली, लेकिन वह इतनी महत्त्व-की नहीं थी। हम उस पुस्तकको साथ लाये। वहाँसे वूचे-ल्हखङ्में गये। यहाँ साक्या पण्छेन् (११८२-१२५१ ई०)का चित्रपट था। उसका मैंने फ़ोटो लिया। फिर चिदोङ् प्रासादमें गये। इसमें एक कमरा ग्यगर्-ल्हखङ् (भारतीय-मन्दिर) है। यहाँ सात-आठ पाँतियोंमें बहुतसी पीतलकी मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं, जिनमें बहुतसी भारतीय हैं, कुछ तो बहुत ही सुन्दर और कुछ सातवीं-आठवीं सदीकी हो सकती हैं। संवत् ११९२ (११३५ ई०)की एक जैनमूर्त्ति भी देखी। २८ मूर्त्तियाँ संगमर-मरकी हैं। इनमेंसे कुछका हमने फ़ोटो लिया। वहाँसे हम महाकालके मन्दिरमें गये। यहाँ ताँबेके कड़ाहमें पानी रखा हुआ है। चाम्कुशो दीर्घायुश्रीने बतलाया, कि यह पानी न कभी घटता है, न सूखता है और इसमें झाँकनेपर बहुतसे अच्छे-अच्छे दर्शन होते हैं, भविष्यकी बातें मालूम होती हैं। वह बहुत अँधेरे घरमें रखा

जिसमें दीपकके सहारे ही हम घूम-फिर सकते थे। उस कड़ाहका पानी प्रलयतक नहीं सूखेगा, यह तो बच्चोंकीसी बात थी; लेकिन दर्शन होना स्वाभाविक है। उस अँधेरेमें चिराग़की हलकी रोशनीके साथ कड़ाहका पानी मेस्मरेज़िमके काले बुन्देका काम दे सकता था और यदि श्रद्धाप्रधान आदमीका चित्त एकाग्र हो जाय, तो मस्तिष्कके भीतरके संस्कार इस दर्पणमें उछल आ सकते हैं।

प्रमाणवार्तिक-भाष्य शाक्यश्रीभद्रके शिष्य विभूतिचन्द्रके हाथका लिखा हुआ था, विक्रमशिलाके ध्वंस होनेपर शाक्यश्रीभद्र पहिले वारीन्द्र (पूर्वी बंगाल)में गये, वहाँसे नैपाल आये। नैपालमें साक्यालामा डग्पा-ग्यल्छन (११४७-१२१६ ई०)के दूत ठोफूस्लोचवाके बुलानेपर साक्या आये, और कितने ही वर्ष यहाँ रहे। यहीं साक्या पण्छेन् उनका भिक्षु शिष्य बना। इसमें सन्देह नहीं, उनका यह योग्य शिष्य तिब्बतका सबसे बड़ा पंडित और विचारक हुआ। भारतमें अभी काग़ज़ नहीं पहुँचा था, लेकिन तिब्बतमें वह चीनके सम्बन्धसे ४ शताब्दियों पहिले ही पहुँच चुका था। भारतमें जैसे तालपत्र सुलभ था, यहाँ वैसे ही काग़ज़, इसलिए विभूति चन्द्रने वार्तिकालंकारको काग़ज़पर लिखा। इसमें मूलकारिकायें भी दी हुई थीं। हमने इसे उतारनेका निश्चय किया। दूसरी पोथीमें ११ पुस्तकोंके खंडित अंश थे, जिनमें "अष्टसाहस्रिका" और "महाप्रतिसरा"के कितने ही पत्र थे। साक्या पण्छेन्के पितातक साक्या-गुम्बा भिक्षु नहीं, एक गृहस्थ सामन्तक महल था। साक्या पण्छेन् भिक्षु थे और फिर ७, ८ पीढ़ियोंतक साक्याकी गद्दीपर भिक्षु ही बैठते रहे। साक्या पण्छेनने ही पहिले पहल मंगोलोंमें धर्मप्रचार किया। यह वह समय था, जब कि हिन्दुस्तानसे बौद्धधर्म लुप्त हो रहा था और उधर मंगोलियामें जड़ जमा रहा था। साक्या पण्छेन्के भतीजे और उत्तराधिकारी फग्फा कुबलेखानका गुरु हुआ और तिब्बतका राज्य उसे गुरुदक्षिणामें मिला। यद्यपि ७, ८ पीढ़ियोंतक भिक्षु गद्दीपर बैठते रहे, लेकिन गद्दी हमेशा अपने ही ख़ानदानमें रही; क्योंकि उत्तराधिकारी सदा भतीजा ही होता था। पीछे भिक्षुका नियम भी टूट गया और घरका गृहस्थ ज्येष्ठपुत्र गद्दीपर बैठने लगा। आज भी वही बात चली आती है। आगे चलकर दो भाइयोंने अलग-अलग शादी की, और उनके डोल्मा (तारा), और फुन्छोग् दो महल हो गये। अब गद्दीपर एक बार डोल्मा महलका ज्येष्ठ पुरुष बैठता है, और उसके मरनेपर दूसरे महलका ज्येष्ठ पुरुष। आजकल गद्दीधर दग्छेन् (महात्मा) रिम्पोछे डोल्मा महलके हैं। इनके बाद फुन्छोग् महल-का मालिक गद्दीपर बैठेगा। हम दूसरे दिन (१४ अक्तूबर) फुन्छोग् महल गये।

इनका स्वभाव लड़कोंकी तरह सरल है। रूप तो अच्छा नहीं है, लेकिन इनकी दोनों पुत्रियाँ और सबसे छोटे दोनों पुत्र बड़े सुन्दर हैं। चार, पाँच घंटे बात होती रही। उन्होंने बतलाया, गुरिम पुस्तकालयके घरकी जब मरम्मत हो रही थी, उस समय पुस्तकोंको हटाना पड़ा था, तब बहुतसी तालपोथियाँ मिली थीं। उन्होंने कहा, और ढूँढ़ना चाहिए, पुस्तकें कहीं ज़रूर मिलेंगी। लेकिन उस यात्रामें यह पता नहीं लग सका कि वहाँ और तालपोथियाँ हैं।

अगले दिन मैंने वार्त्तिकालंकारके फ़ोटो लिये, लेकिन अपने फ़ोटोपर भरोसा नहीं कर सकता था, इसलिए लिखकर उतारने लगा। पोथियोंकी खोजकेलिए गेशे जाते थे। दूसरे दिन वह तीन तालपोथियोंका बंडल ले आये। यह बंडल गुरिम्-लिम् ल्हखङ्से आई थी। इसमें बहुतसी पुस्तकोंके दो-दो, चार-चार पत्र थे। लोगोंसे मालूम हुआ कि तालपोथियोंको धोकर पिलानेसे बीमारी भी छूट जाती है, और पाप भी। धनी भक्तोंको इन तालपत्रोंमेंसे काट-काटके प्रसाद भी दिया जाता है। यह सुनकर मेरा हृदय विचलित हो गया। सैकड़ों वर्षोंमें भोटके दर्जनों मठोंने न जाने कितने अनमोल ग्रंथ इस तरह काटके बाँट दिये होंगे। उस वक़्त मुझे लगा, कि बाहर रखकर प्रसाद बाँटनेसे लाख गुना अच्छा यही था, कि पुस्तकें स्तूप या मूर्त्तिके पेटमें रहें। वह हमें देखनेको नहीं मिल सकतीं, लेकिन हमारे भविष्यके विद्वान किसी न किसी समय उन्हें सुरक्षित पायेंगे। अब मैं पुस्तक उतारनेमें लग गया। गेशे पंडित गयाधरका चित्र उतार लाये। पता लगा कि गयाधरकी मूर्तिके पासवाली किसी कोठरीमें धर्मकीर्त्तिकी मूर्त्ति है, जिसके पेटमें प्रमाणवार्त्तिक रखा हुआ है।

चाम्कुशो न्यूने (उपवास) व्रत कर रही थीं। वही व्रत जिसे पहिली यात्रामें मैं दोपहरतक करके दंडवतोंके मारे छोड़ बैठा था। व्रतमें पहिले दिन मध्याह्नके बाद भोजन-त्याग करना होता है। दूसरे दिन निराहार रहना पड़ता है। तीसरे दिन भोजन ग्रहण करते हैं। २० अक्तूबरको चाम्-कुशोका पारण था। वह पारन करके मेरे पास आकर बैठ गईं। मैं पुस्तक लिखनेमें लगा था, और गेशे स्मृतिज्ञानकीर्ति-की एक जीवनघटनाका चित्र बना रहे थे। स्मृतिज्ञानकीर्त्ति भारतके बहुत अच्छे पंडित थे। कोई तिब्बती विद्वान उन्हें धर्मप्रचार और अनुवादके कामकेलिए तिब्बत ले जा रहा था। वह विद्वान नेपालमें मर गया। यद्यपि स्मृतिज्ञान न भाषा जानते थे न देशसे ही परिचित थे, लेकिन उनके दिलमें इतना साहस भरा हुआ था, जिसे देखकर मैं तो अपनेको उनकी चरणधूलि लेनेके योग्य भी नहीं समझता। उन्होंने निश्चय किया कि पहिले भाषापर अधिकार जमाना चाहिए। उन्होंने भिक्षुका

कपड़ा छोड़ा। साधारण भोटियाका भेष लिया। शब्‌में कुछ दिनोंतक भेड़ चराते रहे, लेकिन वह भारतके मार्गपर था, इसलिए उन्होंने वहाँ अपनेको सुरक्षित न समझ ब्रह्मपुत्रपार शिगर्चेसे दो मीलके रास्तेपर घुमक्कड़ पशुपालकों (डोक्‌पा)के इलाक़े तानामें १०, १२ वर्ष भेड़ चरानेमें बिताये। उनकी मालकिन बहुत कठोरहृदया थी। याक्‌का दूध दूहते वक्त थन ऊँचा पड़ता था, इसलिए स्मृतिज्ञानको कभी-कभी मोढ़ा बनना पड़ता था, जिसपर बैठकर मालकिन इत्मीनानसे दूध दूहती थी।

पुस्तक उतारते वक्त कोई वैसी बात होती, तो गेशेसे बोलता भी जाता था। वहाँ उस वक्त पोथीमें एक जगह आया था—यह पूजा-पाठ सब लड़कोंका खेल है। मैं और गेशे हँस रहे थे। उसी वक्त चाम्‌कुशो आईं। उन्होंने पूछ दिया—क्या बात है। मैंने कहा, पोथीकी बात है। उन्होंने कहा, मुझे भी सुनाइए। पोथी सुनाना तो आसान नहीं था, क्योंकि प्रज्ञाकरके गद्य-पद्यमय भाष्यका फिर लंबा भाष्य करना पड़ता। लेकिन चाम्‌कुशो छोड़नेवाली नहीं थी और उनका हमपर पूरा अधिकार था। उनके पति गेशेके पांडित्यको देखकर और मेरे बारेमें सुनकर बहुत बंधुत्व रखते थे। चाम्‌कुशो वैसे चतुर स्त्री थीं, पूजा-पाठकी पुस्तकें पढ़ भी लेती थीं, किन्तु हम दोनोंके गुणोंको वह सिर्फ सुनकर ही जान सकती थीं। हमारे खाने-पीने, आरामका उनको बहुत ध्यान था। इस कामको वह सिर्फ नौकर-नौकरानियोंपर छोड़नेकेलिए तैयार नहीं थीं। छुट्टी मिलनेपर वह हम लोगोंके पास आकर बैठतीं, कभी गेशेको चित्र बनाते देखतीं और कभी मेरी क़लमको काग़ज़पर चलते। गेशेके चित्रको वह समझ सकती थीं, मेरी क़लमको नहीं; तो भी उस दिन उन्होंने हँसनेकी बातको जाननेकेलिए ज़िद किया। मैंने कहना शुरू किया—इसमें लिखा है : पूजा-पाठ लड़कोंका खेल है, निस्सार है। चाम्‌कुशो बेचारी दो ही दिन पहिले व्रत किए थीं, मैं अब दस दिनसे इस घरमें रह रहा था, और स्नेह-सम्बन्धके कारण अब संकोच नहीं रह गया था। मैंने कहना शुरू किया—"मालकिनने तीन दिनका न्यूने व्रत रखा। आज पारणका दिन था। नौकरानीने सूप बनाकर मालकिनके सामने रखा। शायद सूप फीका था या मालकिनका मिज़ाज ही झुँझलाया हुआ था। मालकिनने सूपके प्यालेको फेंक दिया और नौकरानीको चार चपत लगाए। कहो उस न्यूनेका क्या पुन्य हुआ ?"

चाम्-कुशो एकाएक बोल उठीं—मैंने मारा नहीं, सिर्फ़ थोड़ा ग़ुस्सा हुई। यह बिल्कुल संयोग था, मुझे उस घटनाका कोई पता नहीं था। मैं सिर्फ़ पुजारिनोंका मज़ाक़ करना चाहता था। चाम्-कुशो ज़िन्दगीभर कहती रहेंगी, कि हिन्दुस्तानके लामा

बड़ी दिव्यदृष्टि रखते हैं। मुझे आशंका हुई कि चाम्-कुशो कुछ नाराज़ होंगी, लेकिन उन्होंने उसका कोई ख्याल नहीं किया। चाम्-कुशो और डोनिर् छेन्पोको कोई सन्तान नहीं, चाम्-कुशोकी आयु ३५ सालकी है, अब विश्वास नहीं, कि कोई बच्चा होगा। उनकी मौसेरी बहिन दिकीला भी साथ ही रहती थीं। दिकीलाकी एक छोटीसी लड़की डोल्मा छेरिङ् (तारा दीर्घायुषी)को कुशो अपनी कन्या बनाके पाल रहे थे। चाम्-कुशोके भाई डोनिरला ही अपने बहनोईके घरके भी उत्तराधिकारी थे, लेकिन उनकी एक मरियलसी कुछ महीनोंकी लड़की थी। यदि वह भी न रही (अगली यात्राके वक़्ततक वह बेचारी चल बसी थी) तो फिर दोनों घरोंको मिलाकर बने इस एक घरका उत्तराधिकारी डोल्मा और उसका पति ही होगा।

अब सर्दी बहुत बढ़ गई थी, अक्तूबर समाप्त हो रहा था। भोटिया दसवाँ महीना बारह-तेरह दिनोंमें शुरू होनेवाला था, जबसे कि पोस्तीन पहिनना शुरू होता है। एक साल पहिले अंग्रेज़ी पोलिटिकल एजेन्ट मिस्टर विलियम्सन अपनी पत्नीके साथ साक्या आये थे। चाम्-कुशो कह रही थीं—क्या है, अंग्रेज चाम्-कुशो भिखमंगिनकी तरह आई थी। न उसके कानमें कोई आभूषण थे न कंठमें न हाथ हीमें। और फिर पुरुषकी तरह अपने ही कूदकर घोड़ेपर चढ़ जाती थी।" मैंने कहा—लेकिन उसके पास धनुष-वाणवाला आभूषण होता है, तुम लोगोंके पास बिना वाणका खाली-खाली धनुष होता है। उस चाम्-कुशोके धनुष-वाणवाले आभूषणमें २५, ३० हज़ारकी मोतियाँ और फ़िरोज़े लगे होते हैं। उन्होंने कहा—मैंने तो उसके सिर कोई धनुष-वाणका आभूषण नहीं देखा। गेशे पहिले हीसे मुसकराने लगे। मैंने हँसते हुए कहा—अंग्रेज़ चाम्-कुशोके धनुष-वाणको सिर्फ़ अंग्रेज़ मर्द ही देख सकते हैं।

फुनछोग् महलके स्वामीका बार-बार आग्रह रहता था और मैं उनके पास कई बार गया। उन्होंने दो पीतल और छ लकड़ीकी मूर्त्तियाँ दीं और फिर आनेकेलिए आग्रह किया। वार्त्तिकालंकारका यद्यपि मैं खंडित परिच्छेद (तीसरेका उत्तरार्द्ध) ही लिख सका, चौथे परिच्छेदको लिखनेमें नवम्बरको भी वहीं बिताना पड़ता। हमें चलनेकेलिए मजबूर होना पड़ा।

(४) नेपालकी ओर—साक्यामें १७ दिन रहनेके बाद २७ अक्तूबरको हम सवा आठ बजे वहाँसे रवाना हो गए। चाम्-कुशोके भाईसे भी हमारा परिचय हो गया था। उन्होंने अपने गाँव मब्जासे ४ घोड़े हमारेलिए भेज दिये थे। घोड़े अच्छे थे। मैं, गेशे और आदमी घोड़ेपर थे, चौथा आदमी घोड़ेके ऊपर सामान लिये पहिले

ही चल चुका था। साक्या छोड़ते वक्त हमें अफ़सोस हुआ। यहाँ इतने प्रियजन मिले, जितने तिब्बतमें कभी नहीं मिले थे। और, यह बात उसी यात्रामें नहीं रही, बल्कि बादमें दो बार मुझे तिब्बत और जाना पड़ा, तब भी वह स्नेह उसी तरह बना रहा। आगे तो वहाँ ४०से ऊपर संस्कृतकी पुस्तकें निकल आईं, जिन्होंने मेरे-लिए साक्याको एक तीर्थ बना दिया। सवा तीन घंटा चलनेके बाद साढ़े ११ बजे हम डोला जोतपर पहुँचे। चढ़ाई बहुत नहीं थी, लेकिन वह बहुत दूरतक थी। जोतपरसे दक्षिणकी ओर हिमालयकी बर्फ़ीली चोटियाँ दिखाई पड़ रही थीं। मील भर पैदल ही उतरते रहे, फिर घोड़ेपर चढ़ रास्तेमें एक जगह चाय-सत्तू हुआ। अब हम मब्जाकी चौड़ी उपत्यकामें थे, जो उत्तर-दक्खिन चली गई है। जान पड़ता है, किसी वक्त इस उपत्यकामें ज़्यादा घनी आबादी थी। जगह-जगह उजड़े घरों और गाँवोंके ध्वंसावशेष पड़े हुए हैं। कुछ जगह तो बड़ी-बड़ी दीवारें वैसी ही खड़ी हैं, जैसी वह बननेके वक्त रही होंगी। यदि उनपर छत रख दी जाय और किवाड़ लगा दिये जायँ, तो आज भी उनमें आदमी रह सकते हैं। ल्हादोङ् गाँव किसी वक्त बहुत बड़ा गाँव था। यहाँ एक बहुत बड़ा विहार भी था। लेकिन अब कुछ थोड़ेसे घर बच रहे हैं। हमारी बाईं ओर ओंपाका ध्वंसावशेष है, जिसकी विशाल दीवारें अब भी खड़ी हैं। कहते हैं, पहिले यहाँ विधर्मी मोन् लोग रहते थे, जिनको राजा मिवङ् तोब्ग्येने परास्त किया था।

एक मिवङ् पाँचवें दलाईलामा (१६१७-८२) का मंत्री था, संभव है, उसीने मब्जाकी समृद्ध-उपत्यकाको बरबाद किया हो। उसकी सेनाने यहाँके लड़ाके पुरुषों ही नहीं, बच्चोंपर भी कितना ग़ज़ब ढाया, इसे "परास्त" शब्दसे हम प्रकट नहीं कर सकते। ५ बजे हम मब्जा पहुँचे गए। कुशो डोनिरला मिले। १० बरस पहिले बने देवालयमें हमें ठहराया गया।

मब्जा बहुत ही ठंडी जगह है। दूसरे दिन यहीं रहना था। १० बजे दिनतक तो कम्बल ओढ़के पड़े रहे, फिर कुशो डोनिर्लासे बात होने लगी। तिब्बतके हर गाँवमें घरका अलग-अलग नाम होता है, सरकारी काग़ज़ोंमें खेत इन्हीं घरोंके नाम दर्ज होते हैं, घरके मालिकका नाम नहीं रहता। बड़ा लड़का घरका मालिक होता है। छोटे भाई यदि अलग शादी करें, तो हिस्सा नहीं थोड़ासा खाने-पीनेभरको मिल जायगा। साक्याके राज्य (ग्यल्खब्)में प्रायः दो सौ गाँव और दो हज़ार घर हैं, खम्-प्रदेशमें भी इसके कई गाँव हैं। पुत्र न होनेपर पुत्रीकेलिए घरजमाई लाया जाता है, और वही घरका मालिक होता है। यदि पुत्री भी न हो, तो किसी रिश्तेदारको

उत्तराधिकारी बना लेते हैं। कुशो डोनिर्लाके पास काफ़ी खेत थे, और उनके बहनोई तो अच्छे खासे अमीर थे।

अगले दिन (२९ अक्तूबर) हम ८ बजे यहाँसे चले। ३३ सांगमें तीन घोड़े तेरसा तककेलिए किये गये। तेरसा साक्याकी ज़मींदारी है। वहाँसे दूसरे घोड़े आगेकेलिए मिल जायेंगे, यह विश्वास दिलाया गया था। हम दोनोंके पास भी एक-एक पिस्तौल थी। जो आदमी घोड़ेके साथ चल रहा था, उसके पास भी पिस्तौल थी। आगे भी बहुत दूरतक मब्जा उपत्यका चली गई थी। मब्जाका अर्थ है मोर। किन्तु हिमालय जैसी सर्द जगहमें मोर नहीं हो सकता, फिर ऐसा नाम क्यों रखा गया। मब्जा १४ हज़ार फ़ीटसे कम ऊँचा नहीं होगा, आसपासकी चोटियोंमें सत्रह, अठारह हज़ार फ़ीटवाली कई थीं। डोनिरलाने बतलाया कि पहिले इन चोटियोंपर बारहों महीने बरफ़ रहा करती थी, किन्तु अब कुछ ही महीने रहती है। एक नालेसे सुगन्धित देवदारकी लकड़ियाँ काटकर लोग ला रहे थे। पहिले वहाँ अच्छा खासा जंगल था। लेकिन अब कोई उसकी रक्षाका ख्याल नहीं करता, सभी वहाँसे लकड़ियाँ काट-काटकर ले आते हैं। हो सकता है, तिब्बतमें इसकी वजहसे भी कितनी ही उपत्यकाएँ वृक्षशून्य बन गई हों। मब्जाका पानी कोसीमें जाता है। यहाँसे दो दिनमें हिमवाले पहाड़ोंको पारकर देवदार और दूसरे वृक्षोंसे भरे जंगलमें पहुँचा जा सकता है, अर्थात् साक्याके बिहारमें लगे बड़े-बड़े स्तम्भोंका जंगल वहाँसे तीन ही दिनके रास्तेपर है। हाँ, चढ़ाई बहुत कठिन है और हज़ारों आदमी महीनोंतक खींच-खींचकर एक-एक खम्भेको साक्या पहुँचाए होंगे। कोसीके किनारे-किनारे रास्ता बहुत खराब है। जहाँ तिङ्रीवाली नदी और मब्जा नदीका संगम है, वहाँ एक जगह रस्सीके सहारे नदीको पार करना पड़ता है। यदि पैदल चलनेकी हिम्मत होती, और हमें काठमांडो जानेकी ज़रूरत न होती, तो वहाँसे सीधे धनकुटा होते नीचे जयनगर (दरभंगा) स्टेशनपर पहुँच जाते। इस रास्तेमें आदमी ज्यादा नहीं मिलते। बस्तियाँ दूर-दूर हैं, फिर डाकुओंका डर तो ठहरा ही। हम निशाके इलाक़ेमें पहुँचे और रातको उसके गन्जङ् गाँवमें ठहरे। अगले दिन (३० अक्तूबर) जब हम चलने लगे, तो घरवालोंने सोग्पो (मंगोल) लामाको चाय भेंट की। गाँववालोंने हाथ रखनेकेलिए अपने-अपने सिर झुकाये। मत्थेपर हाथ रखवानेकेलिए सारा गाँव दौड़ पड़ा। घोड़ेवालेने मुझे सोग्पो लामा कहकर ही प्रसिद्ध किया था। आगे एक बड़ी जोत पड़ी। जोत (ठङ्ला) परसे एक पाँच-छः मीलके घेरेवाली झील दिखाई

दी। उतराईके बाद मैदान ही मैदान था। छोड् गाँवमें चाय-सत्तू किया, फिर पौने ५ बजे हम देन्-वङ्-जुग् गाँवमें रातकेलिए ठहरे। आगे रास्ता चढ़ाईका नहीं था। उस दिन शामको हम चकोर गाँवमें आ गये। ५ साल पहिले सुमतिप्रज्ञके साथ मैं इस गाँवसे गुज़रा था। पासमें चिब्रीका पवित्र पहाड़ है।

अगले दिन (१ नवम्बर) चाय पीकर साढ़े ६ बजे ही हम चल पड़े। मेमों आया, और मुझे कुत्ता छूटने, सत्तू छोड़ चलने और सुमतिप्रज्ञके नाराज़ होनेकी घटनाएँ याद हो आईं। डम्बाका डाकुओंवाला गाँव भी पासमें छूट गया और १२ बजे बाद हम तिङ्री पहुँच गये। पहिली यात्राका दो दिनका रास्ता आज आधे दिनमें खतम हुआ। तिङ्रीमें चाय पीनेकेलिए थोड़ा ठहरे। गेशे यहांके भोटिया पंडित पूरा ग्यर्गेनसे मिलने गये। उसी दिन पौने चार बजे हम तेरसा पहुँच गये। तेरसा गाँव नैपालके रास्तेपर है। साक्याके अधिकारीने हमारा स्वागत किया। सबसे अच्छे कमरेमें ठहराया। दूसरे दिन (२ नवम्बर) खच्चर मिलनेकी सम्भावना नहीं थी, इसलिए हम यहीं रह गये।

पूरा गेरगेनके बारेमें एक बड़ी ही मनोरंजक कथा मालूम हुई। वह बूढ़ा है, और बूढ़ेको तरुणी भार्या बहुत प्रिय होती है। पुराकी बीबीने किसी नौजवान खम्पासे प्रेम कर लिया। पुराने जोङ्पोन्के पास फ़रियाद की। खम्पाको खूब बेंत लगे। खम्पापर कैसे बेंत पड़े, वह कैसे छटपटा रहा था, इसपर पुराने एक कविता बनाई। कविता बुरी नहीं थी। पुराने उसे अपने एक विद्यार्थीको लिखवा दिया था, जिससे हमने कापी करवा ली।

यहाँ एक तरहका खट्टा फल होता है, गेशे मना कर रहे थे। मैंने तजुर्बा करना चाहा और जिम्बू (जंगली प्याज़) नमक, मिर्च डलवाकर चटनी बनवाई। गेशे कहाँ न खानेकी क़सम खा रहे थे, और अब कहने लगे—कुछ रास्तेकेलिए भी बनाके ले चलें। उनको डर था, इसके खानेसे दाँत कोठ हो जायँगे, लेकिन चटनी खानेमें वह बात नहीं हुई।

हम जिस घरमें ठहरे थे, उसकी खिड़कीसे चमो-लोङ्मा (गौरीशंकर या एवरेस्ट शिखर) बिल्कुल सामने और साफ़-साफ़ दिखलाई देता था। हमारे गृहपतिको पता था कि इसी साल अंग्रेजोंका हवाई जहाज़ इस पर्वत-शिखरपर मँडराया था। उन्हें यह भी मालूम था, कि कई सालोंसे विदेशी लोग इसके ऊपर चढ़ना चाहते हैं। और लोगोंकी तरह उन्हें भी विश्वास था कि ऊपर हवाई जहाजके उड़नेसे शिखरका

देवता नाराज़ हो गया, जिसके कारण वह भूकम्प आया, जिससे बिहारमें कई हज़ार आदमी मरे। मैं उनको बड़ी गम्भीरतासे देवी-देवताओंकी बात समझा रहा था। तिब्बतमें देवी-देवताओंकी काफ़ी संख्या है। हमारे भारतीय देवता भी वहाँ बहुतसे पहुँचे हैं, उनकेलिए बड़े-बड़े मन्दिर भी बने हैं। तिब्बती देवताओं की भी संख्या कम नहीं है, यद्यपि उनकी हालत बहुत ख़राब है—जहाँतक खाने रहनेका सम्बन्ध है। तिब्बतके देवताओंकी मुख्य-मुख्य जातियाँ इस प्रकार हैं—

१—तो-टों-डक्-पा (श्मशानवासी)।

२—थो-गो-मेन-पा (आग मुँहसे निकालनेवाला)।

३—डे-कु-शु (सुर-सुर करके पीछे पड़नेवाला)।

४—शो-लं-दो-ङ-शि (कोयलेकी भाँति काले मुँहवाला)।

५—चं-मर-पो (लाल रंगवाला)।

६—शिन्-डे (चुड़ैल)।

७—थो-गो-क-रि (श्वेतकंकाल)।

८—थेब्-रङ् (दृष्टभूत)।

९—दक् (मरा कंजूस)।

१०—तोङ्-डे-ठि-बा (भुलौना)।

११—तोङ्-डे-पी-वा (भाथी चलानेवाला भूत)।

भूतोंकेलिये तिब्बती लोग शाम-सबेरे छतके ऊपर थोड़ीसी सत्तूकी धूप दे देते है, फिर वह क्यों न नाराज होने लगे। चोला (गृहपति)ने पूछा—यह विदेशी लोग तो अपने भाग जाते हैं, और देवता नाराज़ होकर हम लोगोंका नुक़सान करते हैं। इस इलाक़ेमें भूकम्पसे कोई नुक़सान नहीं हुआ था। मैंने जब बतलाया कि हवाई जहाज़में जलनेवाला स-नुम् (पेटरौल) देवताओं और भूतोंकेलिए बहुत बुरा होता है। इसके कारण हमारे देशके बहुतसे देवता भाग गये हैं, अब थोड़ेसे रह गये हैं। उसको यह सुनकर बड़ी ख़ुशी हुई, क्योंकि अब उसके ख़च्चरोंकी पीठ नहीं कटा करेगी, जूतेसे पैर नहीं कटा करेंगे, सैकड़ों तरहकी बीमारियाँ नहीं होंगी। अगले दिन (३ नवम्बर) १६ साङ्पर तीन घोड़े किरायेपर मिले और हम १० बजे रवाना हुए। उस रात लङ्कोर्में एक वैद्यके घरमें रहे। ४ नवम्बरको सवा तीन ही बजे चल पड़े, देर होनेपर थोङ्-ला जोतपर हवा बहुत तेज़ होती और यह जाड़ोंके दिन थे। जल्दी चलनेका भी कोई फ़ायदा नहीं। सर्द हवा हड्डीको आरपार कर रही थी। साढ़े बारह बजे जोतपर पहुँचे। उतराईमें बहुत दूरतक पैदल ही गये। एक

जगह चाय-सत्तू खाया, डेढ़ घंटे विश्राम किया। रास्तेमें पानी जमकर बर्फ़ हो गया था, जिसके ऊपर घोड़ोंका पैर बहुत फिसलता था। ६ बजे अँधेरा होते-होते हम थुलुङ् गाँवमें पहुँचे। एक बहुत ही ग़रीब घरमें ठहरे। अगले दिन हम ञेनम पहुँचनेवाले थे, इसलिए चावल और खानेकी चीज़ोंको ढोकर ले जानेकी ज़रूरत नहीं थी। हमने ढाई-तीन सेर चावल घरवालेको दे दिया।

अगले दिन (५ नवम्बर) सबेरे ८ बजे रवाना हुए। घोड़ेवालेको ठहरनेका स्थान बतला हम दोनों चल पड़े। वह गाँव भी आया, जिसमें सुमतिने पुत्र होनेकेलिए जन्तर लिखवाया था। पिछली बार हम असली रास्तेको दूरतक छोड़ कुछ हट गये थे, अब हम मुख्य रास्तेसे चल रहे थे। कुछ दूर जानेपर एक ढालवाँ पहाड़पर पुरानी बस्तीके चिह्न दिखाई पड़े। यहाँ जल भी है और जनसंख्या हो, तो एक अच्छा गाँव आबाद हो सकता है। वहाँसे उतरनेपर जहाँ-तहाँ सैकड़ों चश्मे ज़मीन फोड़कर बहते दिखाई पड़े। यहाँसे पास ही वह मठ था, जिसमें सुमतिके साथ हमने चाय पी थी। अब ञेनम् छ मील रह गया था, और पिछले पाँच मीलका रास्ता बहुत खराब था। अन्तिम तीन मील तो कड़ी उतराई थी; और हमें पैदल चलना पड़ा। ४ बजे ञेनम् पहुँचे। योगमानसाहु (नैपाली)के घरपर ठहरे। रातको बुख़ार आ गया। आगे घोड़ेकी आशा नहीं थी। रातसे ही बरफ़ पड़ती मालूम होने लगी और वह दिनभर कुछ न कुछ पड़ती रही। उस दिन हमें यहीं रह जाना पड़ा। हमारे पास काष्ठ पीतलकी बारह मूर्त्तियाँ थीं और एक पोथी भी। नैपाली दीठा (राजदूत)से उनकेलिए एक चिट्ठी लिख देनेकेलिए कहा, क्योंकि नैपालसे निकलनेपर रोक-टोक हो सकती थी, लेकिन बेचारा चिट्ठी लिखनेसे घबड़ाता था। उसने कहा—मैं सरकार को लिख दूँगा।

३६ नैपाली मोहरपर हमने तीन भरिया (भारवाहक) काठमांडो तककेलिए किये। भरियोंने कहा, हम तुरन्त आ रहे हैं। हम दोनों ११ बजे रवाना हुए। कुछ मीलपर रास्तेमें एक अकेला घर मिला, यहींसे वृक्ष-वनस्पति पहाड़ोंपर दिखलाई देने लगे। यहाँसे आगे बढ़नेपर कुछ बर्फ़ भी पड़ने लगी। कहीं-कहीं रास्ता बहुत ख़राब था। साढ़े तीन घंटा चलनेके बाद हम गरम पानीके कुंड—छक्सम् पहुँच गये। हमारे पास ओढ़ना-बिछौना या खाने-पीनेकी कोई चीज़ नहीं थी। शामतक इन्तिज़ार करते रहे। खैर, खानेकेलिए तो हमने घरवालीसे इन्तिज़ाम कर लिया; रातको जाड़ेके मारे ठिठुर जाते, लेकिन उसी समय अपने साहुकी रज़ाई-बिस्तरा लिये एक आदमी चला आया। रात कट गई, दोपहरतक इन्तिज़ार किया। लेकिन

क़ुलियोंका अब भी कोई पता नहीं। दोपहर बाद धर्मवर्धनको देखने ञेनम्‌की ओर भेजा। सूर्यास्तके वक़्त भरिया आये। रातको यहीं रहना पड़ा। नैपाली प्रजा एक शरबा कह रहा था——नैपालमें तो हमारे क़ानून हैं, लेकिन भोटियोंके यहाँ कोई क़ानून नहीं। जोङ्‌पोन्‌की जैसी मर्ज़ी हुई, वही फ़ैसला कर देता है।

अगले दिन (६ नवम्बर) १० बजेतक खाते-पीते ही रह गये। रास्ता बहुत ख़राब था। रास्तेमें उस घरका खंडहर मिला, जो पाँच साल पहिले बना था और चश्मा निकल आनेसे गृहपतिने घबड़ाकर डुक्‌पा लामासे वरदान माँगा था। वरदान झूठा हो गया और अंतमें चश्मेके नागने इस घरको उजाड़कर ही छोड़ा। डाम्‌ तीन मील रह गया था, तभी देवदार हमारे रास्तेसे खतम हो गये। आज गर्मी भी मालूम हो रही थी।

रातको डाम्‌में रहकर दूसरे दिन १० बजे फिर रवाना हुए। थङ्-थुङ् ग्यल्पोके ज़ंजीरवाले पुलको पार करते वक़्त गेशे काँपने लगे, वह बहुत हिल रहा था। थङ्-थुङ् ग्यल्पो कोई सिद्ध लामा था। वह हर जगह नदियोंपर पुल बनवाता फिरता था। बनवाये होंगे दश-बीस या पचीस पुल, लेकिन पीछे तो हर ज़ंजीरवाले पुलको थङ्-थुङ् ग्यल्पोका पुल कहा जाने लगा। १२ बजे हम नैपाली छावनीपर पहुँचे। सूबेदार आये। नाम लिखवा दिया। लेकिन, वह मधेसके आदमीको छोड़नेमें डरते थे। ४ घंटेतक वहीं बैठे रहे। फिर चाय पीनेकेलिए पिछले गाँवमें जानेकी छुट्टी मिली। साढ़े चार बजे हम जब आये, तो उन्होंने हमारे बकसोंको खोलकर देखा। फ़िल्मको पहचानकर कहने लगे——यह चोरबत्ती है। सूर्यास्तसे पहिले ही हम तातपानी गाँवमें पहुँचे। चुंगीवालोंने भी बक्सको खोलके देखा। गरम पानीमें जाकर खूब नहाये। रातको हमारे गृहपति (लक्‌पा)ने नैपाली ढंगसे साग, सेम और खेकसाकी तर्कारी बनाकर भातके साथ खिलाया।

आगे जानेके दो रास्ते थे, एक ऊपर-ऊपरसे और एक नीचे-नीचेसे। ऊपरवाला रास्ता बहुत कठिन था, किंतु हमारे क़ुलियोंने उसीको पकड़ा। पहिले हमें नहीं मालूम था, लेकिन जब कठिन रास्ता शुरू हो गया, तो हम काफ़ी दूर चले आये थे। बिल्कुल सीधी ही सीधी चढ़ाई थी, रास्ता पगडंडीका था। डाँड़ेपर हमें शरबोंका गाँव छङ्-चिङ् मिला। यह मुख्य रास्ता तो था नहीं, कि दूकानें मिलतीं। ऊपरकी ठंड-की मार खाये हुए थे, इसलिए हमें इस जगह भी जेठ-बैसाखकी गर्मी मालूम होती थी। रास्ता आगे भी इतना कठिन था कि पैरकी ओर छोड़कर इधर-उधर झाँकनेमें भी डर लगता था। वह एक सवा बित्तासे अधिक चौड़ा नहीं था। मैं तो मैदानी

आदमी था ही, लेकिन गेशे भी काँप रहे थे। शरबोंका गाँव गोम्थन मिला। यहाँसे रास्ता चौड़ा था। साढ़े ४ बजे यङ्लाकोट गाँव आया। अधिकांश बस्ती तमंगोंकी थी और ५ घर नेवार सेठोंके। दो पासल (पण्यशाला-दूकान) थीं। भूख बहुत लगी हुई थी। हमने थोड़ा चिउड़ा-मिश्री लेकर खाया।

अगले दिन (१३ नवम्बर) हम जलबीरा बाज़ारमें पहुँचे। यह अच्छा खासा गाँव है। दश-बारह दूकानें हैं। भरिया हमें नदी पार करा सामनेकी बस्ती फलमसाँकूमें ले गये। एक दूकानमें बैठकर भोजन बनाया। अब तिब्बतकी सारी तकलीफ़ भूल गईं, और वहाँके लोगोंके गुन ही गुन याद आने लगे। यह ठीक है, वह लोग कभी-कभी रूखे दिखाई पड़ते हैं। यह भी निश्चय नहीं कि किस वक्त उनका कैसा मिज़ाज होगा। लेकिन जहाँ आदमी-आदमीके तौरपर आपका परिचय हो गया, तो उनका घर आपका घर है। अपने चूल्हेमें पकाकर आपको खाना दे देंगे। बड़े-बड़े घरोंकी स्त्रियाँ भी चाय लेकर आपके सामने हाज़िर होंगी। आपका दुख-सुख पूछेंगी, अपना कहेंगी। लेकिन यहाँ जलबीरामें अभी हम भारतीय सभ्यताके अंचलपर ही पहुँचे थे, कि एक-एक बातकेलिए तरद्दुद दिखाई पड़ने लगा। बर्तन-भाँड़ेका इन्तिज़ाम करो, अपने हाथसे चूल्हा फूँको—जब कि रास्ता चलते-चलते शरीर थककर चूर हो रहा हो। बड़े घरोंमें तो बिना जान-पहचानके शरण भी नहीं मिलती। छोटे घरोंमें उतनी जगह नहीं होती। फिर ज़नानखानाका सवाल अलग। और चौके-चूल्हेका सवाल तो तब हल होगा, जब आप अपनी ७ पीढ़ी उनसे मिलाएँ। खैर, हमारे क़ुली मौजूद थे, वह चाहे कोई जातिके हों, हम उनके हाथका खाना खानेकेलिए तैयार थे, उन्होंने खाना पकाया। अेनम्से इधर घास-पानपर गुज़ारा होता आया था, यहाँ देखा कि आगमें भुनी मछलियाँ बिक रही हैं और पाव-पावभर तककी। हमने ७ मछलियाँ ख़रीदीं। कुछ पकाके खा भी ली कुछ साथ लिये और दोपहर बाद चल पड़े। ऐसे ही हमें जेठ-बैसाखका मौसम अप्रिय मालूम हो रहा था, उसपरसे धूप सामनेकी थी। धानके खेत बहुत थे और धान अच्छी जातका होता है। पहाड़ी डाँड़ेपर बसे चौतरिया-बाज़ारमें जब हम पहुँचे, तो सूर्य अस्त हो रहा था। एक दूकानमें रातको जगह मिली। अगले दिन (१४ नवम्बर) दो ही बजे हम सिपा गाँवमें पहुँच गये, हमारे क़ुली इसी गाँवके थे। आज उन्हें अपने घरमें रहना था। पपीताको यहाँ मेवा कहते हैं, हमने कोशिश की लेकिन मेवा नसीब नहीं हुआ। रातमें दूध-भात और साथ लाई मछलीका भोग लगाया। उस रातको खूब ज्वर आया।

लेकिन ज्वर आनेसे रास्ता चलना थोड़े ही बन्द किया जा सकता था। दूसरे दिन (१५ नवम्बर) एक छोटेसे डाँड़ेको पारकर ११ बजे इन्द्रावती नदीके किनारे पहुँचे। पेड़ खोखला करके दो नावें बनाई गई थीं। साढ़े पाँच आना नेपाली पैसा दिया, नदी पार हुए। कहीं-कहीं कठिन चढ़ाई थी। देवपुर गाँवमें शामके वक़्त पहुँचे। भूकम्पसे गिरे हुए कितने ही घरोंको देखा। पांथशालामें डेरा डाला और रातको यहीं सो गए।

अगले दिन (१६ नवम्बर) सूर्योदयसे पहिले ही, बिना खाये-पिये चल पड़े। ९ बजे नल्दोम् (चीसपानी)के डाँड़ेपर पहुँचे। यहाँसे नैपाल उपत्यका दिखाई पड़ती है, लेकिन उस दिन बादल था। कुलियोंको खाना बनाते छोड़ बारह बजे हम लोग साखू पहुँच गये। यह अच्छा खासा क़स्बा या शहर है। अट्ठारह आना (हिन्दुस्तानी नौ आने) देकर एक दूकानपर मिठाई-दही खाये। भूकम्पसे गिरे मकानोंको देखा। यहाँतक मोटरका रास्ता आया है, किन्तु उसपर लारी नहीं चलती। सूर्यास्तके वक़्त बौधा (महाबौधा) पहुँच गये। पिछली यात्रामें यहीं मुझे महीने भर छिपकर रहना पड़ा था। चीनी लामासे बातचीत होती रही। उन्होंने पाँच दिन पहिले (११ नवम्बर)का "स्टेट्समैन" पढ़नेको दिया। ग्यान्ची छोड़ने (२२ सितम्बर)के बाद अब जाके बाहरी दुनियाकी खबर मिली।

१७ नवम्बरको हम सबेरे ही धर्मासाहुके घरपर (४७ तन्लाछी टोल, काठमांडू) पहुँच गये। साहु त्रिरत्नमान और ज्ञानमान दोनों घरपर ही थे। भरियोंको मजूरी देकर बिदा कर दिया, कपड़े धोनेकेलिए दे दिये। राजगुरु पंडित हेमराज शर्माके पास आनेकी सूचना दे दी। अब पहिली दिसम्बरतक यहीं रहना था।

किताबोंके फ़िल्मोंको धुलवानेपर वह बेकार सिद्ध हुये। काठमांडो और पाटनके शहरोंको देखा। बहुतेरे मकान गिरे हुए थे। कितने ही स्तूप और मन्दिर ध्वस्त हो गये थे। इनमें पाटनका महाबोधि मन्दिर भी था।

एक दिन मैं घूमते हुये सुनयश्रीके विहारकी जगहपर पहुँचा। बिहार गिर गया था। सुनयश्रीकी मिट्टीकी मूर्ति टूटी हुई एक जगह रखी थी, सिर बच रहा था, उसका मैंने फ़ोटो लिया। सुनयश्री भोट गए थे और उन्होंने कुछ पुस्तकोंके अनुवादमें सहायता की थी। मैं शामको राजगुरुसे मिलने गया, उस वक़्त सुनयश्रीके विहारका ज़िक्र किया, उन्होंने ठंडी साँस लेकर कहा—"वहाँ तो दिल दहलानेवाली घटना घटी है। उस विहारमें पचासों बहुमूल्य तालपोथियाँ थीं। मैंने बहुत बार उन्हें देखनेकी कोशिश की, लेकिन गुभाजू (बौद्धपुरोहित) लोग दिखानेकेलिए राजी नहीं हुए। भूकंपकी

सहायतामें मुझे भी काम करना पड़ता था। बरसातके बाद मैं एक दिन उस जगहपर पहुँचा तो पुस्तकें याद आईं। मैंने पूछा—वह पुस्तकें कहाँ हैं? बताया गया—यहीं जमीनमें। सारी बरसात भर वर्षा पड़ती रही। उन पुस्तकोंकेलिए आशा क्या हो सकती थी, तो भी मैंने जल्दी-जल्दी कुछ आदमियोंको बुलाकर उस जगहको खुदवाना शुरू किया। मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े, जब मैंने पुस्तकें बाँधनेकी तख्तियोंको हाथसे उठाकर देखा, तो तालपत्र सड़कर कीचड़ हो गए थे।" मुझे भी इस घटनासे बेहद दुख हुआ।

मैं अधिकतर राजगुरुकी खंडित पुस्तक और गेशेकी कंठस्थ भोटिया कारिकाओं की मददसे प्रमाणवार्त्तिककी कारिकाओंको क्रमसे लगानेमें लगा रहता था। पहिली तिब्बतयात्रासे लौटकर धर्मकीर्तिके "प्रमाणवार्त्तिक" का महत्व मुझे इतना मालूम हुआ था, कि मैंने उसे तिब्बतीसे संस्कृतमें करना शुरू किया था। पीछे श्रीजयचन्द्र विद्यालंकारने खबर दी कि राजगुरुके पास प्रमाणवार्तिककी संस्कृत प्रति मैजूद है। नैपालके रास्ते लौटनेका यह भी कारण था। मूलप्रति तो राजगुरुने इटालियन प्रोफ़ेसर तूचीको दे दी थी, किन्तु खोजनेपर उसका फ़ोटो मिल गया। पत्रे इतने जीर्ण-शीर्ण थे, कि बहुतोंके पृष्ठांक गायब हो चुके थे। कई दिन भिड़नेके बाद हमें मालूम हुआ, कि पुस्तकमें दस पत्रे नहीं हैं। मैंने काठमांडो, पाटन और भातगाँवमें पुस्तकोंके देखनेकी बहुत कोशिश की, किन्तु कोई नई महत्वपूर्ण पुस्तक देखनेको नहीं मिली।

२१ नवंबरको हम विक्रमशिला-विहार (काटमांडू) देखने गए। यहाँकी मूर्ति असलमें बुद्धकी है, लेकिन उसे सिंहसार्थवाह बना दिया गया है। यदि ऊपर कपड़ा पहनाकर सार्थवाह बना दिया गया होता, तो भी बुरा न था, लेकिन यहाँ तो छेनी लेकर बुद्धके शरीरके चीवरको काट डाला गया था, तो भी बाएँ हाथसे चीवरका कोना अब भी लगा हुआ है। अपने ही धर्मवाले अपनी मूर्तिके साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं, इसकी आशा नहीं की जा सकती थी। यहाँ भी कुछ संस्कृत पुस्तकें हैं, किन्तु उनका दर्शन श्रावणके महीनेमें मिल सकता है। एक काग़ज़पर सोनेसे लिखी "अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता" भी है, जिसे नागार्जुनने स्वयं अपने हाथसे लिखा था और वह सामनेवाले सरोवरमेंसे निकली। काग़ज़ सरोवरमेंसे निकले! लेकिन, धर्म ऐसा कहता है, आप इनकार कैसे कर सकते हैं? १२वीं शताब्दीसे पहिले हिन्दुस्तानमें काग़ज़का बिल्कुल रिवाज नहीं था, और नागार्जुन एक हज़ार बरस पहिले पैदा हुए थे, फिर वह काग़ज़पर कैसे लिखेंगे, यह प्रश्न करनेकी ज़रूरत

नहीं। नागार्जुन अमर हैं, आज भी ज़िन्दा हैं, और क्या ताज्जुब है यदि वह मोनोटाइप और रोटरी मशीनमें "अष्टसाहस्रिका"को छाप रहे हों। स्वयंभू स्तूपको भी देखने गये। यहाँ भी चारों कोनेकी पीतलकी चार बुद्धमूर्तियोंके चीवरोंको नष्ट करके उन्हें भूषण पहिनाया गया है।

अबकी यात्रामें दो-तीन राजवंशी पुरुषोंसे भी भेंट करनी पड़ी। मृगेन्द्र शमशेर राणावंशके प्रथम एम० ए० हैं, दर्बार पुस्तकालयके वही अध्यक्ष हैं। मुझे पुस्तकालयकी कुछ पोथियोंको देखना था, इसकेलिए उनके पास भी जाना पड़ा। कुछ और बातोंके साथ तिब्बतकी राजनीतिपर भी बात चल पड़ी। जब मैंने कहा कि नैपाली व्यापारियोंको साथमें अपनी स्त्री ले जानेकी इजाज़त नहीं है, तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

२८ नवम्बरको दोपहरमें जनरल केसर शमशेरके पास जाना पड़ा। वह बहुत सीधी-सादी पोशाकमें थे। इनको विद्याका भी शौक़ है। ५००से ऊपर हस्तलिखित पुस्तकोंका संग्रह है। उन्होंने मेरी "बुद्धचर्या"को पढ़ा था। पुस्तकपर हस्ताक्षर करनेकेलिए कहा, मैंने हस्ताक्षर कर दिया। मूर्तियों और चित्रोंके संग्रहसे मालूम होता था, कि उनको कलासे भी रुचि है। इन सबके साथ जनरल केसर नैपाल-राजके विदेशमन्त्री भी थे। यह ज़रूरी नहीं कि एक ओर आदमी साहित्य, कला और कोमल विचारोंकेलिए प्राण दे रहा हो, और दूसरी ओर अपने आसपासमें धायँ-धायँ करके जलती नरककी लपटोंको देखकर उसे कोई पर्वाह न हो।

एक दिन (१ दिसम्बर) जनरल मोहन शमशेरके यहाँ भी जाना पड़ा। उनके यहाँ जानेकेलिए मेरा कोई प्रयोजन नहीं था, लेकिन उन्होंने धर्ममानसाहुसे कह रखा था—बौद्धसन्यासीके आनेपर मुझसे ज़रूर मिलाना। मैं आठ, नौ मिनट वहाँ रहा होऊँगा। मैं कोई दरबारी तो था नहीं, कि विरुदावली पढ़ने लगता; शायद उनको भी मुझसे किसी बातके जाननेकी इच्छा न थी। तो भी उनका बरताव शिष्टतापूर्ण था। बौद्धधर्म ईश्वरको नहीं मानता, यह सुनकर वे बहुत चकित हुए।

रातको ज्वर आ गया था, लेकिन अगले दिन (२ दिसम्बर)को हमने प्रस्थान कर ही दिया। हमारे साथ त्रिरत्नमानसाहु भी थे। थानकोटतक मोटरसे आये। सवारीकेलिए घोड़ा मिल गया था, इसलिए चन्द्रागढ़ीकी चढ़ाईमें कोई तकलीफ़ नहीं हुई। चित्लाङ् पहुँचते-पहुँचते ज़ोरका बुख़ार आ गया। घोड़ा न लाये होते, तो बहुत मुश्किल होती।

सबेरे बुख़ार नहीं था। चीसपानी (सीसागढ़ी)की चढ़ाई भी मुश्किल नहीं

मालूम हुई। ११ बजे चीसपानी पहुँचे। कुली अभी पीछे थे। एक बजे फिर ज्वर आरम्भ हुआ, इसलिए गेशेको साथ ले मैं भीमफेरी चल पड़ा, घंटेभरमें वहाँ पहुँच गया। त्रिरत्नमानसाहु और भरिया तीन बजे पहुँचे। पता लगा कि कस्टम-वालोंने "प्रमाणवार्त्तिक" और वार्तिकालंकारकी फ़ोटो कापियोंको रोक लिया। राजगुरुका घोड़ा यहाँसे लौट रहा था; मैंने फ़ोटोके बारेमें उन्हें चिट्ठी लिख दी।

साढ़े ३ बजे हमारी मोटर लारी चली। रास्तेमें चार जगह राहदानी और दो जगह बक्स देखनेवाले आये। शामके वक़्त अमलेखगंज पहुँच गये, रातको खूब बुख़ार रहा, नींद नहीं आई, अन्न तो दो दिनसे छूट गया था।

अगले दिन सवा तीन बजेतक यहीं रहना पड़ा। अब बाज़ार पहिलेसे ज्यादा बढ़ गया है। हिन्दूहोटल भी खुल गये हैं। बुख़ार तो नहीं था, लेकिन कंठमें खराससी हो रही थी। सवा तीन बजे रेल मिली। अँधेरा होनेसे पूर्व ही रकसौल पहुँच गये। आठ बजे रातको सुगौलीकी गाड़ी मिली। भूकम्पके कारण जो रास्ते टूट गये थे, वह नौ महीने बाद क़रीब-क़रीब तैयार हो चुके थे। सुगौलीवाली लाइन तो अभी-अभी चार दिन पहिले खुली थी। यहाँसे मुज़फ़्फ़रपुरकी गाड़ी पकड़ी। चार बजे गंगा तट जानेवाली गाड़ी मिली। आठ बजे, गंगातटपर पहले जा घाट पहुँचे, फिर जहाज़से महेन्द्रू जा ११ बजे (५ दिसम्बर) जायसवालनिवासमें पहुँच गये।

१८

भारतके जाड़ोंमें

५ दिसंबर (१९३४ ई०) से २ अप्रेल (१९३५) तक चार महीने मुझे भारतमें रहना पड़ा। गलेकी ख़रास और बुख़ार तो साथ ही लाया था, अब थूक घोटनेमें भी असह्य पीड़ा होने लगी। वैद्यक और होमियोपैथीकी दवा होने लगी। होमियोपैथीको तो मैं साधुओंकी खाक-भभूत और ओझा-सोखाकी लवंगसे अधिक महत्त्व नहीं देता, लेकिन जायसवालजीका विश्वास था। मैंने कहा, इसका भी तजरबा कर लें। पीड़ा और बढ़ी, फिर डाक्टर हसनैनको बुलाया गया। हमारे वैद्य और होमियोपैथिक डाक्टर बिना रोग पहचाने ही दवा देते जा रहे थे। डाक्टर हसनैनने कहा कि यह टोनसिल है, चिरवानेसे ही अच्छा होगा।

दूसरे दिन उन्होंने आकर चीर दिया। मैं अस्पतालमें चला गया। दर्द उस रातको बहुत था, और ज्वर भी १०० डिगरीका। दूसरे दिन (८ दिसम्बर) उन्होंने फिर थोड़ा अस्त्र चलाया। अब दर्द बिल्कुल ख़तम हो गया। मुझे तो कोई शिकायत नहीं हो सकती थी, लेकिन मैं देखता था कि ग़रीब बीमारोंकी कोई पर्वाह नहीं करता। अगले दिन मैं अस्पतालसे चला आया। धूपनाथ भी आ गये। उनसे बड़ी देरतक बातचीत होती रही। धूपनाथका आग्रह था, कि नालन्दाकी भूमिके मूल्यकेलिए मुझसे ही रुपया लिया जाय। नालन्दाके बारेमें मैं अब कुछ ढीला पड़ने लगा था। १२ दिसम्बरको श्रीमती बोसी सेन आईं, उन्होंने "एसिया" (अमेरिकन) पत्रकेलिए तिब्बतकी चित्रकलापर एक लेख लिखनेकेलिए कहा। मैंने उसे स्वीकार किया।

१८ (दिसम्बर) तारीख़तक अभी कुछ कमज़ोरी थी। अगले दिन आनन्दजी, जयचन्दजी, धूपनाथ और गेशेके साथ राजगिर गये। राजगिरमें अब आबादी बढ़ रही थी, तप्तकुंडमें नहानेकेलिए ज़्यादा आदमी आने लगे थे। हम गृद्धकूट, मनियरमठ, सोनभंडार आदि पुराने स्थानोंको देखने गये। दूसरे दिन नालन्दा पहुँचे। भोट-ग्रंथोंमें नालन्दामें १४ महाविहारोंके होनेकी बात लिखी है, लेकिन अभी यहाँ ११ ही खोदे गये थे। उसी दिन हम पटना चले गये।

२३ दिसम्बरको जब मैं बनारस स्टेशनपर उतरा, तो साक्याके फुन्छोग् महलके दग्छेन् रिम्पोछेका पत्र मिला, वह शिकम पहुँच गये थे। मैं बड़ी कोशिशमें था कि उनकी कुछ प्रतिसेवा कर सकूँ, लेकिन वह जल्दी-जल्दी भी आये और लौट भी गये। सारनाथ होकर २५ तारीख़को प्रयाग पहुँच गया। विनयपिटकका अनुवाद मैंने ल्हासामें किया था, और अब वह लॉ जरनल प्रेसमें कम्पोज़ हो रहा था। १०, ११ फ़ार्मका प्रूफ़ भी मिला। मैं डाक्टर बद्रीनाथप्रसादके यहाँ ठहरा। २४ दिन प्रयागमें ही रहना पड़ा, ज्यादातर काम था प्रूफ़ देखना। "वादन्याय"को भी लॉ जरनल प्रेसमें छापनेकेलिए दे दिया। गेशे एक हफ़्ता मेरे साथ रहे, फिर वह सारनाथ चले गये। मैंने अबकी तिब्बत-यात्राको भी लिख डाला। वह अभी प्रेसमें नहीं गई, हाँ "साम्यवाद ही क्यों" प्रेसमें चला गया।

१२ जनवरीको २८ साल बाद पुराने मित्र महादेवप्रसादजी (सादाबाद, हँडिया) मिले। कहाँ उस वक़्त १४, १५ बरसके नवतरुण और कहाँ अब ४२, ४३ बरसके अर्धवृद्ध—हमारे देशमें चिन्ताएँ ज़्यादा हैं, इसलिए वर्षोंका बोझ बहुत भारी होता है। अब उनके चेहरेपर बुढ़ापेका असर था। तरुणाईने उन्हें भी एक बार कलकत्ता तक छलांग मारनेकेलिए मजबूर किया था, लेकिन फिर वे हिम्मत हारकर

बैठ गये। नून, तेल, लकड़ीकी फ़िक्रने सारे जीवनको ले लिया। मैं छलाँगोंपर छलाँगें मारता रहा, और अब भी नई छलाँगोंकेलिए उतना ही उत्साह है। मैं मरूँगा भी तो छलाँगें मारता ही।

जिस वक़्त मैं तिब्बतकी चित्रकलाके ऊपर लेख लिख रहा था, उसी वक़्त भारतीय चित्रकलाके बारेमें भी कुछ विचार आये थे। मुझे विश्वास नहीं, कि मैं इस विषयपर क़लम उठाऊँ, किन्तु मैंने उस समय भारतीय चित्रकलाको सात कालोंमें विभक्त किया था—(१) मौर्य (३०० ई०पू०), (२) गन्धार कुषाण (१०० ई०), (३) गुप्त (५०० ई०), (४) अन्तिम हिन्दू (१००० ई०), (५) मुग़ल (१६०० ई०), (६) राजपूत (१७०० ई०), (७) आधुनिक (१६०० ई०)।

पहले दो कालोंके चित्रोंके मिलनेकी बहुत कम सम्भावना है, लेकिन उस वक़्तकी उत्कीर्ण मूर्त्तियोंसे हम कुछ-कुछ चित्रकलाका अनुमान कर सकते हैं। उस कालकी चित्रकलामें स्वाभाविकता ज़्यादा रही होगी। तृतीय-चतुर्थ कालके चित्रोंमें स्वाभाविकता कम और कल्पना ज़्यादा होती है। चित्र सुन्दर होते हैं, ख़ास करके गुप्त-कालीन चित्र तो अपनी कोमल रेखाओंकेलिए अद्वितीय हैं। त्रिभंगी आकृतियाँ बड़ी आकर्षक लगती हैं। पाँचवें कालमें ईरानी प्रभाव अधिक है। छठे कालकी चित्रकला मुग़ल चित्रकलाका भारतीकरण है। सातवें कालकी हमारी आधुनिक चित्रकला गुप्तकालीन चित्रकलासे अधिक प्रभावित है।

पं० अवध उपाध्याय एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। हमारे अभागे देशको बहुतसी प्रतिभाओंसे वंचित होना पड़ा है। हमारे देशमें अधिकतर लोग ग़रीब हैं। प्रतिभाएँ भी अधिकतर ग़रीबोंके घरों हीमें पैदा होती हैं। न उन्हें पढ़नेका मौक़ा मिलता है, न आगे बढ़नेका। अवध उपाध्याय एक ऐसे ही प्रतिभाशाली पुरुष थे। गणितकी ओर उनका दिमाग़ बहुत चलता था। एक विषयमें असाधारण होनेपर यह कोई ज़रूरी नहीं है कि और विषयोंमें वैसी ही रुचि हो। अवध उपाध्याय किसी तरह मैट्रिक पास हो गये लेकिन आगे पढ़नेकेलिए उनके पास साधन नहीं थे। वह पुराने ही वातावरणमें पले थे, इसलिए ब्राह्मणोंके छुआछूत, जातपातकी सारी बीमारियाँ उनके सिरपर सवार थीं। कितने ही दूसरे भारतीयोंकी तरह उनको भी सनक थी कि हिन्दुस्तानकी सारी पुरानी बेवक़ूफ़ियाँ किसी वैज्ञानिक आधारपर स्थापित हैं—साढ़े तीन हज़ार वर्ष पुराने हमारे ऋषि ज़्यादा ऊर्वर मस्तिष्क रखते थे, इसलिए गऊके खुरभरकी चोटी रखनी चाहिए; अंगुलभर मोटा जनेऊ भी गलेमें डालना चाहिए, माघ-पूसके जाड़ेमें कपड़ा उतारकर कूदकर चौकेमें जाना चाहिए। किसी

समय जब श्रीचिन्तामणि शिक्षामन्त्री थे, तो उन्होंने अवधको छात्रवृत्ति दे विलायत भेजना चाहा, मगर वह म्लेच्छोंके देश जानेकेलिए क्यों राजी होते.? कलकत्ता विश्वविद्यालयके विधाता सर आशुतोष मुकर्जीको उनकी प्रतिभाका पता लगा। अवधजी कलकत्ता बुलाये गये; लेकिन, आशुतोष ज़्यादा दिन जीवित नहीं रह सके। अवधजीने उच्च गणितके कुछ विषयोंपर लेख लिखे थे, जो युरोपकी प्रतिष्ठित अनुसन्धान-पत्रिकाओंमें छपे थे। उनकी सराहना भी हुई थी। कुछ दिनों वह फड़फड़ाये ज़रूर, लेकिन देखा, कुछ फल नहीं होता, फिर भाग्यपर सन्तोष करनेके सिवा और क्या करते? अब वह किसी स्कूलमें मास्टरी कर रहे थे। मैं सोचने लगा—यह तो प्रतिभाको जिबह करना है। अभीतक मेरा उनसे साक्षात् परिचय नहीं हुआ था, लेकिन मैंने कोई भी शिष्टाचार दिखाये बिना सीधे तौरमे चिट्ठी लिखी—प्रतिभाको इस तरहसे बरबाद करनेसे मर जाना अच्छा है। १८ जनवरीको उनका पत्र आया, उन्होंने विदेश जानेकेलिए अपनेको तैयार कहा और साथ ही कुछ कठिनाइयाँ भी बतलाईं। १७ फर्वरीको वह प्रयाग आये। फिर हमारी खुलके बातें हुईं। अपनी लिखी पुस्तकोंसे सौ-डेढ़ सौ रुपये महीनेमें आ जाया करते थे। मैंने हिसाब लगाकर बतलाया, कि इतना रुपया काफ़ी है। एक दूसरे मित्रके पास उन्हें और उत्साहित करानेकेलिए ले गया। लेकिन, मित्र इन कठिनाइयोंमें नहीं पले थे, और न उन्हें साहसी जीवनका क-ख ही मालूम था। उन्होंने अनुत्साहजनक बातें ही बतलाईं, खासकर युरोपीय विश्वविद्यालयोंमें डाक्टर-उपाधिकेलिए प्रवेश करनेकी कठिनाइयोंका भयंकर चित्र खींच दिया। हम दोनों लौट आये। मैंने अवधजीसे कहा--इनकी बातोंको यहीं पल्ला झाड़कर चलिए; गणितमें मेरी भी किसी वक़्त रुचि थी, मैं नहीं कह सकता कि यदि गणितको अपनाये होता, तो कहाँ पहुँचता। मैं यह नहीं बतला सकता, कि गणितके किन-किन विषयोंकी कहाँ-कहाँ अच्छी शिक्षा होती है, और कौन-कौन वहाँ श्रेष्ठ गणितज्ञ हैं। लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि विश्वविद्यालयमें प्रवेश करनेमें ज़रा भी दिक़्क़त नहीं होगी। आपके लेख भी अनुसन्धान पत्रिकाओंमें छपे हैं। यदि आप प्रतिभाको मस्तिष्कके भीतर छिपाये ही वहाँ पहुँच जाते, तो भी आपकेलिए दरवाज़े बन्द न होते। अवधजी दो-तीन दिन रहे। और उन्होंने कहा—"अब मैं कोई पर्वाह नहीं करता, मैं फ्रांस जाऊँगा। वहाँ कुछ भी खाना-पीना पड़े, मैं उसकी पर्वाह नहीं करता"। उस वक़्त भी उपाध्यायजीकी उमर ४५के पास थी। मैं जानता था, उनके जीवनके बहुमूल्य २५ वर्षोंको हमारी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाने चौपट कर डाला है। गधोंके लड़के गधे

ट्यूशन लगा-लगाकर आगे बढ़ाये जाते हैं, सिर्फ़ इसलिए कि वह धनी हैं और प्रतिभाएँ रास्तेमें धूल फाँकती फिरती हैं। जिस एक बातने मुझे आजके समाजका अधिक कट्टर दुश्मन बना दिया है, वह है प्रतिभाओंकी अवहेलना। प्रतिभाएँ सिर्फ़ शौक़की चीज़ें नहीं हैं। यह राष्ट्रकी सबसे ठोस, सबसे बहुमूल्य पूँजी है। विज्ञानके एक-एक आविष्कारने दुनियाको समृद्ध बनानेकेलिए कैसे-कैसे साधन प्रदान किये हैं? जो वर्ष बीत गये, वह बीत गये, लेकिन अवधजीके हाथमें तो अभी और भी वर्ष थे—मुझे बहुत दुख हुआ कि उस संकल्पके बाद कुल ६ ही वर्ष वह और जी सके। वह फ्रांस गये। वहाँ डाक्टरकी उपाधि पाई। भारतके कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें "सब धान बाईस पंसेरी" बहुत चलता है। किसी विश्वविद्यालयको उठा लीजिए, और एक-एक चेहरेपर एक-एक नज़र डालिए। इसमें शक नहीं कि वहाँ टोप, नेकटाई, और कोट ज़्यादा दिखलाई पड़ेंगे, लेकिन उन टोपोंके नीचेकी पीली मज्जाको तौलिए, तब मालूम होगा कि हम क्या देख रहे हैं। सिर्फ़ ख़ुशामदके भरोसे, सिर्फ़ बेटा-दामाद और चचा-भतीजा होनेके कारण वहाँ पचास फ़ीसदी गधे, ख़च्चर, टट्टू भरे हुए हैं। और, जिनके हाथमें विश्वविद्यालयोंका संचालन है, उनमें तो और भी कम योग्य आदमी दिखाई पड़ते हैं: अवधजी जैसे योग्य आदमीकेलिए जब किसी कालेज या विश्वविद्यालयमें जानेकी बात आई, तो वही दिक़्क़तें आने लगीं। ख़ैर, उनको लखनऊ यूनिवर्सिटीमें गणित-सम्बन्धी अनुसन्धानमें छात्रोंकी सहायता करनेका काम मिल गया। वह अपना सारा समय उसीमें लगाना चाहते थे। लेकिन मृत्युने उन्हें दो-तीन वर्ष भी काम नहीं करने दिया।

बनारस (२० जनवरी)में विश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने व्याख्यान देने गया। मेरी बातें बूढ़ोंको जरूर कड़ी मालूम होती थीं—यद्यपि मेरे शरीरपर भिक्षुओंका पीला कपड़ा था, लेकिन मेरी बातोंमें धर्मके साथ कोई रू-रियायत नहीं होती थी।

पता लगा, भिक्षु उत्तम चाहते हैं, कि पाली-त्रिपिटक हिन्दी अक्षरोंमें छापा जाय। मैं त्रिपिटकमेंसे "बुद्धचर्या", "धम्मपद", "मज्झिमनिकाय"का अनुवाद कर चुका था। विनयपिटक अनुवाद भी प्रेसमें कम्पोज़ हो रहा था। मालूम नहीं, तबतक कोई प्रकाशक मिल गया था या नहीं, "माड़ौ गाड़कर वर-ढुँढ़ाई"की नीति मैंने कुछ-कुछ इधर अपना ली थी। लॉ जर्नल प्रेसवाले भी विश्वास करने लगे थे, कि माड़ौ गाड़नेमें सहायता देनेमें कोई हर्ज नहीं। हिन्दी पुस्तकोंके बारेमें मैं ऐसा कर सकता, लेकिन पाली त्रिपिटककेलिए मैं वैसा करना नहीं चाहता था।

२३ जनवरीको कलकत्ता गया, तो भिक्षु उत्तम मिले और तय हुआ कि खुद्दकनिकायके कुछ ग्रंथोंकी पहिली जिल्द निकाली जाय। इधर मैं जब प्रयागमें था, तो एक दिन पंडित ब्रजमोहन व्यासने काग़ज़को दूर रखकर मुझे पढ़ते देखा। उनकी सलाह हुई, और कलकत्तासे हमने चश्मा मँगा ४२ वर्षकी उम्र (२७ जनवरी)से चश्मा लगाना शुरू किया। २८ जनवरीको गयामें था। श्री मोहनलाल महतोके यहाँ कुछ गप-शप होती रही। बोधगया, मन्दिरकी वही दुर अवस्था थी। बुद्धकी मूर्तिके सिरमें त्रिफटाका चन्दन और गेरुआ कफ़नी पड़ी हुई थी।

यथार्थवादकी ओर मैं कितना बढ़ चुका था, यह २ फर्वरीकी डायरीमें लिखी इन पंक्तियोंसे मालूम होगा—"चीजोंका मूल्य वर्त्तमानमें है, और वह कितने मिनटोंतक रहता है?" अतीतकी स्मृतियोंको भी मैं प्यारी वस्तु मानता था। मधुर सम्बन्धोंकी स्मृति दुनियामें सबसे मधुर वस्तु है।

२८ जनवरीसे २३ फ़र्वरीतक प्रयागमें ही अपने पुस्तकोंके काममें लगा रहा। उस वक़्त (३ फ़र्वरी) त्रिवेणी तटपर अमावस्याकी बड़ी भीड़ थी। मैं भी दो-एक मित्रोंके साथ रेतीमें घूमने गया था। यकायक गोरखपुरके एक वृद्धने पैर पकड़ लिया। पीले कपड़ोंमें हृष्ट-पुष्ट शरीरको देखकर उसने समझा होगा, कि यह कोई. दिव्य पुरुष है। मैं कितना ही कहता रहा, लेकिन वह बिना कुछ खिलाये छोड़नेके-लिए तैयार नहीं था। उस वक़्त प्रूफ़, फ़ोटोसे वादन्यायका उतारना आदि-आदि इतने ज्यादा काम थे, कि कभी-कभी रातको पाँच-पाँच बजेतक जागना पड़ता था। २६ फ़र्वरीको मैं पहिला फ़िल्म ("चंडीदास") देखने गया, मुझे वह बिल्कुल बुरा लगा। इससे पहिले १६३०में सिर्फ़ एक अंग्रेजी फ़िल्म देखा था, लेकिन वह मूकचित्रपट था। छपरा (२४ फ़र्वरी) भी गया और सीवान (२५-२७) भी। छपरामें तो अपने पुराने दोस्तोंसे मिलना था और सीवानमें श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरीसे। चौधरी तरुण आई० सी० एस० थे। ऐतिहासिक अनुसन्धानसे उन्हें बहुत प्रेम था। उन्होंने मेरेलिए तिब्बतमें केमरा भेजा था। गेशे भी आजकल उन्हींके यहाँ थे। उस वक़्त वह सीवानमें सबडिविजनल मजिस्ट्रेट थे। उनके न्याय और प्रजावत्सलता-की बहुतसी कहानियाँ मशहूर हो चुकी थीं। वह बहुत ज्यादा मुक़दमोंको सुलह करवा देते थे। एक कहावत मशहूर थी—धोबी अपने गधेपर बहुत अधिक बोझ लादे हुए आ रहा था। गधा मजिस्ट्रेट साहेबके बँगलेके सामने आकर चिल्लाने लगा। मजिस्ट्रेट साहेब बाहर निकल आये। उन्होंने धोबीसे कहा—यदि इतना बोझ तुम्हारे ऊपर लादा जाय, तो बताओ तुम्हारी क्या गति होगी?

यहाँ भी मैं अपने साथ प्रूफ़ लाया था, और जब चौधरी साहेब कचहरी जाते, तो मैं प्रूफ़का काम करता रहता। धूपनाथ मेरे प्रिय थे, यह कैसे हो सकता था, कि मैं कहीं आसपासमें होऊँ और वह न आवें। चौधरी साहेबके यहाँ चीनी रसोइयाँ था। फिर भक्ष्याभक्ष्यका सवाल ही क्या हो सकता है? दुनियामें कौनसा भोजन है, जिसका तजर्बा चीनियोंने न किया हो? धूपनाथका भोजन मुसल्मान चपरासी अपने हाथसे लाया। उसने अपने ही ज़िलेके एक हट्टे-कट्टे आदमीको मेज़पर बैठे खाते देखा, वह बहुत चकित हुआ। मालूम नहीं, धूपनाथ घबराये कि नहीं। धूपनाथके साथ पहिला परिचय ६ साल पहिले हुआ था। उस वक़्त उनके ऊपर वैराग्य और वेदान्तका ज़बर्दस्त भूत सवार था। घरवाले बहुत परेशान थे। मैं भी साधू-फ़क़ीर था, और पास ही परसा स्थानका एक विद्वान साधू। त्यागकेलिए क्या कहना था, जब कि एक कालीकमलीकी अलफी और लँगोट भरसे वास्ता था। धूपनाथ दो-चार साधू-सन्यासियोंकी मार खाये हुए थे, उन्हें सन्तोष नहीं हुआ था। समझा होगा, इस कालीकमलीमें कोई गुन है, वह मेरे पास आये। पहिले मैंने उन्हें १९२६के कौंसिल एलेक्शनमें जोत दिया। उस साल कांग्रेसने पहिले-पहिल अपने आदमियोंको खड़ा किया था। इसके बाद जाड़ोंमें मैं जब कभी भी आता, धूपनाथ या तो मेरे पास आते या मैं सुल्तानगंज चला जाता। वह मेरी बातों और पुस्तकोंसे ईश्वर और वेदान्तके फन्देसे छूटे। लेकिन गुरु गुड़ ही रह गया चेला चीनी हो गया—मैं अभी धर्मकी बहुतसी बातोंसे दूर तो हो गया, बौद्धोंके निर्वाणको भी बेकारकी चीज़ समझता था, लेकिन बौद्धिकवादमें पूरा पैर डालनेमें एक बात बाधा डाल रही थी, वह थी पुनर्जन्मकी कल्पना। पुनर्जन्मपर मुझे विश्वास था, यह बात नहीं थी। लेकिन अभी मैं उसे साफ़ इनकार करनेकेलिए तैयार नहीं था। धूपनाथको पहिले ही रोशनी मिल गई, उन्होंने एक दिन कहा,—यह पुनर्जन्म भी केवल झूठी कल्पना है।

सीवानसे गेंशे और मैं दोनों कसया (कुसीनारा) गये। कसया बुद्धका निर्वाण-स्थान है। ३० वर्षके क़रीब हुए, जब कि महावीर भिक्षु और चन्द्रमणि महास्थविरने वहाँ धूनी रमाई। उससे पहिले वहाँ उस स्थानके महत्त्वका किसीको ख्याल भी नहीं था। अब वह एक प्रसिद्ध स्थान है और देश-विदेशसे हज़ारों आदमी आते हैं। हिन्दुओंके कुछ नेताओंको यह खब्त है, कि अगर बौद्धोंको भी हम अपने साथ जोड़ लें, तो दुनियाभरमें हमारी संख्या अधिक हो जायगी। लेकिन बल बढ़ानेका ख्याल भी उन्होंने कभी किया? हिंदुओंकी संख्या तो हिन्दुस्तानमें भी अधिक है, लेकिन एक तिहाई-को अछूत बनाके आदमी नहीं जानवरोंकी श्रेणीमें रख दिया गया है। आधी संख्या स्त्रियाँ

हैं, जो हिन्दुओंके घरोंमें सबसे अधिक बेबस और अधिकार-वंचिता हैं। हजारों जातियोंमें बिखरे, एक दूसरेको नीच समझनेवाले ये लोग समझते हैं, कि दुनियाके बौद्धोंको मिलाकर हम मजबूत बन जायेंगे। भगवान बचाये बौद्धोंको इन हिन्दुओं-के धरमकी छाया से। बल्कि भगवान भी मालूम होता है, बहुत दिनोंसे है ही नहीं, है नहीं तो न जाने ऐसे हिन्दूधर्मका बेड़ा कबका गर्क़ हो गया होता। और यह नेता बौद्धों-को अपने साथ लेना चाहते हैं, अपनी शर्तपर। बौद्ध ईश्वरको मानें और कहें कि बुद्ध ईश्वरको मानते थे, ईश्वरकी भक्ति करनेकेलिए उपदेश देते थे, या कमसे कम वह खुद ही ईश्वरके अवतार थे। चाहे सीलोन, बर्मा, तिब्बतके बौद्ध गाय-भैंस-याक-सुअर खाते हों, लेकिन अब उन्हें गोमाताके खुरको अपने सिरपर चढ़ाना चाहिए, आदि-आदि। सेठ जुगुलकिशोर बिड़ला और बावा राघवदास इसी तरहके हिन्दू नेता हैं। बिड़लोंके पास रुपया है। सट्टेबाज़ीके दशांशको भी ऐसे कामोंमें लगा दें, तो भी वह पचीसियों धर्मशालाएँ बनवा सकते हैं। उस उक्त यहाँ बिड़लाके पैसे और बावा राघवदासके परिश्रमसे एक धर्मशाला बनने जा रही थी। शायद कुछ औंधी खोपड़ियोंका ख्याल है कि २५, ५० हज़ार खर्च करके अनीश्वर वादी जातपाँतविरोधी, भक्ष्याभक्ष्य-स्वतन्त्र बौद्धोंको हिन्दू बनाया जा सकता है, इसीलिए बावा चन्द्रमणिकी धर्मशालाके साथ नहीं, उससे अलग एक धर्मशाला बनने जा रही है। अबकी बार देखा, चन्दा बावापर काफ़ी बुढ़ापा आ गया है। अगले दिन (१ मार्च) हम गोरखपुर गये। गेशेको हिन्दुस्तानकी चीज़ें दिखलानी थीं। उन्हें हम गीता प्रेसमें भी ले गये। छापाखाना तो वह लॉ जर्नल प्रेस जैसा देख आये थे। मैंने कहा, यह है चीनसे भी सस्ती अफ़ीमकी दूकान। यहाँ मनुष्यताके कलंक, हिन्दुओंके पाखंडोंको मजबूत करनेकेलिए कागज़-स्याहीके रूपमें सस्तीसे सस्ती अफ़ीम बेंची जाती है। तारीफ़ यह है कि पुराने जुगमें राजाओंने भी अफ़ीम बेचनेकेलिए दूसरी जाति—ब्राह्मणको ठेका दिया था, लेकिन अब कलियुगमें धन है बनियोंके हाथमें, बनिये कपास खरीदनेसे देश-विदेशमें उसे ढोने, सूत कातने, कपड़ा बुनने फिर देश-विदेश पहुँचाने, बेंचने, कागज़के रूपमें बदलने आदि सभी कामों और सभी नफ़ोंको अपने ही हाथोंमें जैसे रखते हैं, उसी तरह अब वह धर्मका भी सारा धन्धा अपने हाथमें रखना चाहते हैं। मैंने गेशेसे कहा—तिब्बतके योगियोंके नामसे अगर तुम भी बड़े-बड़े चमत्कारोंको बतलाओ, तो उसे सच्चा बनाके छापकर ३० करोड़ हिन्दुओंमें पहुँचानेकी जिम्मेवारी यह दूकान लेनेको तैयार है।

हम लोग सीधे रातको नौतनवाँ पहुँच गये और फिर बैलगाड़ी लेकर लुम्बिनी

गये। अबकी बार लुम्बिनीकी भी कायापलट हुई थी। आसपासकी ज़मीनकी खुदाई हुई थी। पोखरीकी झाड़ियाँ खतम हो गईं, और पहिली यात्रामें जिन्हें चोरोंके छिपनेका स्थान कहा जाता था, वह अब नहीं रहीं। अब ज्यादा खुलीसी जगह मालूम होती थी। लेकिन खुदाईका इन्तिज़ाम ऐसे आदमीसे कराया जा रहा था, जिसमें उत्साह भले ही ज़्यादा हो, किन्तु पुरातत्त्वके क-ख से भी उसे वास्ता नहीं। पत्थर, चूना, मिट्टी सभी तरहकी मूर्तियोंको बेढंगी तौरसे टोकरियोंमें भरकर या ज़मीनपर ऐसे ही इकट्ठा रख दिया गया था। मूर्त्तियाँ घिस-घिसकर टूट रही थीं। उनमें न जाने कितनी नेपाल-म्युज़ियममें भी न जा सकेंगी। इनमें एक शुंगकालीन मिट्टीका खिलौना है, तो दूसरा कुषाणकालीन लालपत्थरका सिर है, एक ६, ७ अंगुलकी अवलोकितेश्वरकी अति सुन्दर पत्थरकी मूर्ति है। एक मुद्रामें खड्गधारी पुरुषपर ७वीं ८वीं शताब्दीके अक्षरोंमें "ये धर्मा.." अंकित है। कितने ही गुप्तकालीन मिट्टीके सुन्दर शिर हैं। मैंने डायरीमें लिखा था "मूर्तियोंका महत्त्व कुछ भी न मालूम होनेसे उतना ध्यान नहीं रखा गया, (जिससे) भयंकर भूल (हानि) हो जानेका डर है।"

गुप्तकालके बादकी बहुत कम मूर्तियाँ हैं। खुदाईसे निकली मिट्टीको दो स्तूपों और एक बड़े चबूतरेके रूपमें जमा किया गया है। अब यात्रियोंके ठहरनेकेलिए एक अच्छा साफ़-सुथरा बँगला बन गया है। गेशेने सामने दिखाई देते हिमालयका एक चित्र बनाया।

दूसरे दिन (३ मार्च) ११ बजे चलकर ७ बजे शामको हम नौतनवाँ स्टेशनपर पहुँच गए। वहाँसे हम बलरामपुर उतर सहेटमहेट (जेतवन, श्रावस्ती) गए। पुरानी जगहोंको फिर देखा। कान्हभारी गाँवमें कितने ही पुराने कार्षापण (सिक्के) खरीदे, और एक शुंगकालीन मिट्टीका खिलौना भी। ऐसी चीजें यहाँके लोगोंको अकसर मिल जाया करती हैं। बलरामपुर गोंडा होते हम लखनऊ पहुँचे। भदन्त बोधानन्द महास्थविर बड़े प्रेमसे मिले। यही पहिले बौद्धभिक्षु थे, जिनके साक्षात्कारका मौक़ा मुझे मिला था। गेशेको लखनऊ-म्यूज़ियम दिखलाया। हड़हाके शिलालेखको देखकर उन्होंने कहा—यह तो तिब्बती अक्षर का मालूम होता है, लेकिन पढ़नेपर कुछ पल्ले नहीं पड़ता। मैंने कहा—हाँ, इसी अक्षरसे तिब्बतीलिपि बनी। ७ से ६ मार्च तक हम प्रयागमें प्रूफ़ देखते रहे। विनयपिटकके प्रकाशनको महाबोधि सभाने अपने ज़िम्मे ले लिया, इसलिए एक बड़ी चिन्ता दूर हो गई। ११ से २६ मार्च तक पटनामें रहे, काम वही प्रूफ़ देखनेका था, जिसमें भिक्षु जगदीश काश्यपने भी हाथ बँटाया।

अबकी साल मैंने गर्मियोंका प्रोग्राम जापानकेलिए बनाया था। दोस्तोंने ६,७ सौ रुपए हाथमें कर दिए थे, इसलिए सकुशल वहाँ पहुँच जानेमें सन्देह नहीं था। २७ को धूपनाथके साथ सुल्तानगंज गए और वहाँसे दूसरे दिन कलकत्ता।

श्रीक्षीरोदकुमार राय अब पटनासे कलकत्ता चले आए थे। राय साहब एक प्रतिभावान् पुरुष थे। अंग्रेज़ीपर उनका कमालका अधिकार था। पुरातत्त्व और इतिहासमें उनका बहुत अच्छा प्रवेश था। तरुणाईमें देशप्रेम और विवाह दो आफ़तें उन्होंने मोल ले ली थीं। अब घरमें बच्चे भी अधिक हो गए थे, इसलिए परिवारका बोझ बहुत बढ़ गया था। नौकरियोंकेलिए आजकल जात-पांत और प्रान्तीयताका जोर बहुत बढ़ा हुआ है। जायसवालजी योग्य पुरुषको देखकर उसे हर तरहकी मदद करना चाहते थे। क्षीरोद बाबू कितने ही सालों तक पटनामें रहे। हमलोगोंने अजंता, एलोरा, सांची, भिलसा, आदि कितने ही पुराने स्थानोंकी एक साथ यात्रा की थी। एक ओर मुझे क्षीरोद बाबूके ज्ञान और प्रतिभाको नज़दीकसे देखनेका मौक़ा मिला था, और दूसरी ओर उनकी आर्थिक कठिनाइयोंको भी। जायसवालजीने पटना म्यूज़ियमके क्यूरेटरकेलिए कोशिश की, लेकिन झट बंगाली, बिहारीका सवाल उठ खड़ा हुआ, और पटना म्युज़ियम एक बड़े ही योग्य व्यक्तिकी सेवाओंसे वंचित हो गया। अब क्षीरोद बाबू कलकत्ता चले आये थे, और किसी धनीके नामसे अपनी लेखनीको चलाकर गुज़ारा कर रहे थे। उनका स्वभाव कितना सरल और मधुर था। चिन्ताओंकी आग भीतर सुलगती रहती थी, लेकिन उसके धुएँको वह चेहरेपर आने देना नहीं चाहते थे। वह उस वक़्त मेरी पुस्तक ("तिब्बतमें सवा बरस")का अंग्रेज़ी अनुवाद एक अमेरिकन प्रकाशककेलिए कर रहे थे, मुझे क्या मालूम था कि अब उस मंदस्मित चेहरेको फिर नहीं देख सकूँगा। मेरे साथ पेनाङ् तक भिक्षु जगदीश काश्यप भी जाने वाले थे। पहिली अप्रेलको मैंने अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनीको रुपये देकर दो सौ नब्बे डालरके चेक लिये, जापानका बीज़ा भी करा लिया। रंगूनका टिकट १४, १४ रुपयेमें मिला। गेशेसे भी बिदाई ली, उन्हें अब दार्जिलिंगमें रहना था।

१६

जापानमें (१६३५ई०)

१—जापानकी ओर

२ अप्रैलको दो बजे "गंगासागर" जहाज़से कलकत्तासे रवाना हुए, और ५को नौ, दस बजे रंगून पहुँचे। हम लोग डेक्के मुसाफ़िर थे। अंग्रेज़ जहाज़ी और रेल कंपनियाँ तीसरे दरजेके मुसाफिरोंकी कितनी पर्वाह करती हैं, इसके कहनेकी ज़रूरत नहीं। डेक्पर सैकड़ों मुसाफ़िर ठसमठस बैठे हुए थे। उनकेलिए सिर्फ़ एक नल्केका प्रबन्ध था। नहानेकी कोई कोठरी नहीं, पाख़ाना बहुत गन्दा था। डेक्के ऊपर कानवेसकी छत थी, जो अप्रैल-मईकी धूपको क्या रोकती? खानेका इन्तिज़ाम सबसे बुरा था, हिन्दुओंके खानेका तो कोई भी इन्तिज़ाम नहीं था। एक मुसलिम होटल था, किंतु हिन्दू अपनी बेवक़ूफ़ीके कारण उससे फ़ायदा नहीं उठा सकते थे। भोजनकेलिए जब हम इधर-उधर तलाश करने लगे, तो मुसलिम भोजनशालाका पता लगा। भात और मुर्ग़ीका मांस तैयार था, इसलिए जहाँतक मेरा सम्बन्ध था, मैं अपने इलाहाबादी मोमिन भाईको हज़ार-हज़ार दुआ देनेकेलिए तैयार था। और हिन्दू मुसाफ़िरोंको इस वृक्षकी सुखद छायासे लाभ उठानेका अवसर नहीं था। काश्यपजी भी आधा ही फ़ायदा उठा सकते थे, क्योंकि आनन्दजीकी तरह वह भी घास-पातमें फँसे हुए थे। मैं उनसे कहता था—भलेमानुस! मुर्ग़ीका मांस खाओ, शरीरकी चर्बी कम होगी, बदन कुछ हलका होगा, मनमें कुछ फुर्ती आयेगी। लेकिन "सकल पदारथ एहि जग माँही। कर्महीन नर पावत नाहीं" उन्होंने सिर्फ़ रोटी-तरकारी खाई। तरकारीमें और मांसमें भी कुछ मिर्च ज़रूर अधिक पड़ी थी। दोनोंके भोजनपर सवा रुपया कोई बेसी नहीं था। जयपुरके पंडित हनुमानप्रसाद रंगूनमें वैद्यक करते थे। वह सपरिवार घरसे आ रहे थे। हम लोगोंके पीले कपड़े और शिक्षा-दीक्षाको देखकर वह हमारी अच्छी ख़ातिर करते थे। लेकिन मुसलमान होटलमें मुर्ग़ी और भातकी बात उन्हें ज़रूर खटकती थी। वह सवाल करते थे—अहिंसाको मानते हुए मांस क्यों खाते हैं, क्या इससे आप हिंसाके भागी नहीं होते। मैंने कहा—क्रिया होनेसे पहिले उसके करनेकी इच्छा यदि पुरुषमें हो, तभी वह उस क्रियाका कर्त्ता हो सकता है। आप जानते हैं, बाज़ारमें बकरा मारने-

की क्रिया जिस वक़्त हो रही थी, उससे पहिले उस क्रियाके करनेकी मेरे मनमें कोई इच्छा नहीं थी, तो भला मैं उस क्रियाका कैसे कर्त्ता हुआ? हम मांसको जिस रूपमें खाते हैं, वह तो चावल-दालकी तरह निर्जीव अवस्था है। हाँ, मैंने भोजनकी इच्छा प्रकट की, उसके बाद कोई छूरी लेकर मुर्ग़ी ज़बह करने चले, तो उसका ज़िम्मेवार मैं अपनेको ज़रूर समझूँगा।

खानेकी समस्या तो हमने उसी दिन हल कर ली थी, अब नहाने और पाख़ानेकी बात रह गई थी। अपने बनारस ज़िलेके बुद्धू भगत जहाज़में मेहतरका काम करते थे। मैंने उनसे भाई-चारा स्थापित किया, और उसमें मातृभाषाने बहुत मदद की। सिर्फ़ पैसा दे देनेसे बुद्धू उतने प्रेमसे नहीं काम करते। एक कोई कोठरी थी, जिसमें वह बाल्टीभर पानी भरके रख देते थे और हम मज़ेसे साबुन लगाकर स्नान कर लेते थे। भंगीके हाथके पानीसे स्नान करनेपर पड़ोसी, साथी आपसमें क्या बात करते थे, इसकेलिए हमारे कान बहरे थे।

हमारा जहाज़ पहिले दिन गंगा हीमें २ बजे एक जगह खड़ा हो गया, मालूम हुआ कि धारामें पानी कम रह गया है। तीन घंटे बाद वह फिर चला। शामसे पहिले ही हम समुद्रमें पहुँच गये। समुद्र ख़ूब शान्त था। बादल था किन्तु वर्षा नहीं हुई, यही ख़ैरियत थी, नहीं तो डेकके मुसाफ़िरोंकी न जाने क्या गति हुई होती। हमारे जहाज़में अधिकांश क्या प्रायः सभी भारतीय थे। युक्तप्रान्त, बिहार, नेपाल, पंजाब, गुजरात, सिन्ध और बंगाल सभी जगहके आदमी थे। पंजाबियोंकी संख्या काफ़ी थी।

५ तारीखको अँधेरा रहते ही "गंगासागर" रंगूनकी खाड़ीमें जाकर रुक गया। फिर ६ बजे सबेरे बन्दरकी ओर चला। ७ बजे तटपर लगा। एक गुजराती मित्रने सहायता की, और हमारा पास भी सेकेन्ड क्लासवालोंके साथ बन गया। रंगूनकी हिन्दीगोष्ठी ने जब सुना, कि मैं जापान जानेवाला हूँ, तो अपने वार्षिक अधिवेशनका सभापति होने के लिए मुझे लिखा, मैंने भी स्वीकार कर लिया था। श्रीधर्मचन्द्र खेमका आए हुए थे। कस्टम आदिमें कोई दिक़्क़त नहीं हुई और हम मोटरसे लक्ष्मीनारायण धर्मशालामें पहुँच गये। शामको मोटरसे शहर भी देख आये। रंगूनकी ४ लाखकी बस्तीमें १ लाख हिन्दुस्तानी और ५० हज़ार चीनी हैं, इसलिए हर चार आदमीमें १ भारतीय दिखाई देना स्वाभाविक बात थी। राजसरोवर देखा और स्वेदगङ् स्तूप भी। यह सुनहला स्तूप बहुत ही भव्य है, लेकिन सफ़ाई उतनी नहीं। फूल और धूपबत्तीकी दूकानें बहुत हैं।

कबूतरोंके सामने लोग अनाज फेंकते हैं। दो-चार और जगहोंमें जाकर हम अपने स्थानपर लौट आये।

गोष्ठीका उत्सव १० अप्रैलको होनेवाला था और पेनाङ्का जहाज़ ११को जा रहा था। हमने इन ५, ६ दिनोंको बर्मा देखनेमें लगानेका निश्चय किया। ६ अप्रैलको सवा दो बजे दिनको मांदलेकी गाड़ी पकड़ी। बर्मामें रेलयात्राका अपना एक बिल्कुल स्वतन्त्र नियम है। बैठनेकी बेंचके एक छोरपर एक आदमीकेलिए बैठनेकी जगह रखकर सारे डिब्बेमें आने-जानेका रास्ता कटा होता है। बेंचके बड़े भागमें तीन आदमी बैठ सकते हैं, किन्तु जिसने पहिले जाकर अपना बिस्तरा बिछा दिया, उसको ब्रह्मा भी नहीं उठा सकता। बाकी आदमी आएँ तो खड़े रहें। हम दोनोंको भी दो बेंचें दखल करनेका मौका मिल गया था, इसलिए हम यात्राभरकेलिए निश्चिन्त थे। रेलकी लाइनसे दूर-दूर पहाड़ दिखाई पड़ते थे। स्तूपोंकी तो भरमार थी, कोई बस्ती नहीं थी, जहाँ एक स्तूप न हो। भिक्षुओंके बिहार भी जगह-जगह थे, किसी-किसी जगह लंकाके अभयगिरिकी भाँति कृत्रिम पर्वताकार स्तूप बने थे। दूर वृक्षोंके भीतर एक अतिविशाल बुद्धमूर्त्ति दिखाई दी। भूमि बहुत उपजाऊ मालूम होती थी और खेत ज़्यादातर धानके थे। फलोंमें आम, केले बहुत ज़्यादा और नारियल कम थे। बर्मी लोग बहुत बेफ़िकर होते हैं। जीवनके आनन्दको वह वर्त्तमानमें मानते हैं, भविष्यकी उतनी चिन्ता नहीं करते। गाना-बजाना, नाचना-खेलना उन्हें बहुत पसन्द आता है। अगर कोई गाँवमें नाटक आया हो, तो घरभरके लोग चटाई लेके वहाँ पहुँच जायेंगे, चाहे घर लुट ही क्यों न जाय। झुटपुटा हो रहा था, जब कि हमारी ट्रेन एक बस्तीसे पार हुई। देखा, कोई नाटक अभी भी ख़तम नहीं हुआ है।

अगले दिन (७ अप्रेल) ६ बजे हम मांदले स्टेशनपर पहुँचे। और कोई परिचित स्थान था नहीं, इसलिए हम लोग सीधे आर्यसमाजमें गये। बिना कुंडी-तालेकी कोठरीमें बिस्तरा फेंका, और शहर देखनेकेलिए निकल पड़े। एक बिहारमें गये। एक वृद्ध भिक्षुसे हम कुछ बात करना चाहते थे, किन्तु उसने हाथ हिला करके हमें दूर हटा दिया। बर्मामें जितनी बड़ी संख्या भिक्षुओंकी है, उससे बौद्धधर्मको बदनाम ही होना पड़ रहा है। अधिकांश भिक्षु तिब्बतके भिक्षुओंसे कुछ ही बेहतर अवस्थामें हैं। छुरा चलाना, ख़ून करना बात-बातमें लड़ पड़ना, सिनेमा और खेलोंकी जगहोंमें जाकर हुड़दंग करना—यह ऐसी बातें नहीं हैं, जिनसे शिक्षित लोगोंकी उनके प्रति श्रद्धा हो। हमने सगाईंकेलिए तीन रुपयेपर घोड़ागाड़ी की। १२ मील जानेपर

बर्माकी पुरानी राजधानी—मांदलेसे पहिलेकी राजधानी—अमरपुरके ध्वंसावशेष दिखाई पड़े। हज़ारों स्तूप गिर-पड़ रहे थे। पुराने मन्दिरों और स्तूपोंकी मरम्मत करनेकी जगह हर आदमी नये स्तूप नये मन्दिर बनाना चाहता है। शायद इसीलिए कि यह उसकी स्वतन्त्र कीर्त्ति होगी। लेकिन देख तो रहे हैं, डेढ़ ही दो सौ वर्षोंमें पहिलेवालोंकी कीर्त्तियाँ धूलमें मिल रही हैं। आदमी इतना बेवक़ूफ़ क्यों बनता है? अपनेको इतना धोखा क्यों देता है? और आगे जानेपर नदी (इरावदी) के तटपर और भी पहिलेकी राजधानी आवाके ध्वंसावशेष थे। हम नये पुलसे नदी पार हुए। इरावदी काफ़ी चौड़ी है।

सगाईं अच्छा बाज़ार है। बहुतसी दूकानें हैं। १० बजेसे कुछ पहिले ही हम वहाँ पहुँचे थे, और तुरन्त १ रुपयेपर दूसरी घोड़ागाड़ी करके हम सगाईं पहाड़के विहारोंको देखनेकेलिए चल पड़े। इसकेलिए २ मील और चलना तथा पर्वतपर ज़रा चढ़ना पड़ा। चारों ओर भिक्षुओंके छोटे-बड़े आवास थे। हमारा गाड़ीवाला मनीपुरका ब्राह्मण था। उसके कण्ठमें तुलसीकी माला थी, लेकिन चेहरा बिल्कुल बर्मी लोगों जैसा। हो सकता है, किसी वक़्त विश्वामित्र और शृंगी ऋषि-की कोई सन्तान मनीपुर आई हो, अप्सराओंने उसका ध्यान भंग किया हो और वह अपनी सन्तान वहाँ रखकर चला गया हो। आदमी बहुत अच्छा था। उसने ले जाकर विहारोंको दिखाया। एक जगह एक कुतियाने चुपकेसे आकर उस तरुणको काट खाया। यहाँके भिक्षु बिल्कुल रूखे अधिकांश अशिक्षित और अभद्र थे। सुनते हैं, इस पर्वतमें बड़े-बड़े ध्यानी महात्मा रहते हैं, लेकिन ध्यानी महात्माओंके दर्शनकी साध मेरी न जाने कबकी बुझ गई थी। लौटकर सगाईं आये, एक चेट्टी (मदरासी) भिक्षुका पता लगा। भिक्षु तो नहीं मिले, लेकिन उनके भाई-बन्द मौजूद थे। उन्होंने हमें मध्याह्नभोजन कराया। २ बजेतक हम मांदले लौट आये। फिर क़िला में गये, राजा और रानियोंके प्रासादोंको देखा। इमारतें ज्यादातर लकड़ीकी हैं।

सवा चार बजेकी गाड़ीसे फिर हम रंगूनकेलिए रवाना हुए। अबकी गाड़ीमें हमें मुश्किलसे बैठनेकी जगह मिली थी। अगले दिन (८ अप्रैल) ८ बजे सबेरे हम रंगून पहुँच गये। मेरी बहुतसी चिट्ठियाँ आई थीं, कितनी ही पुस्तकोंके प्रूफ़ आये थे, जिन्हें यहाँसे देखकर लौटाना था। २ बजे राततक प्रूफ़, चिट्ठी लिखनेका काम करता रहा। अगले दो दिन भी लोग मिलनेकेलिए आते रहे, और मुझे जो समय मिल जाता था, उसमें प्रूफ़ देखता था। बर्मा और हिन्दुस्तान पहिले एक थे। अंग्रेज़ोंने समझा, हिन्दुस्तानके साथ रहनेसे बर्मी भी राजनीतिक आन्दोलनमें पड़ जाते हैं।

इसलिए बर्माको उन्होंने अलग कर दिया। मिट्टीके तेल, जहाज़, रेल, चावल और सागौनकी बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अंग्रेज़ोंके हाथमें हैं। उसके बाद बड़े व्यापारी हैं, हिन्दुस्तानी उनमें भी सबसे ज्यादा अधिक मारवाड़ी, चेट्टी और गुजराती। कुली, यू० पी० और विहारवाले। बल्कि यू० पी० तो, किसानीका काम करनेकेलिए है, विहारवालोंको, चाहे वह बाबू ही क्यों न हो, दरबान कहा जाता है, जिस तरह बम्बई और सिन्धमें भैया कहा जाता है। रंगूनके एक हिन्दी दैनिकपत्र (बर्मा समाचारपत्र)के सम्पादक, जो कि आज़मगढ़ ज़िलेके ही रहनेवाले थे, मेरे पास बैठे हुए थे। धर्मशालेवाले चौकीदारने पुकारा— "ए दरबानजी, ए दरबानजी।" मैंने पाटेश्वरी बाबूको उठकर जाते देखा। फिर मैंने उनसे पूछा—यह किसको दरबानजी कह रहा था। उन्होंने बतलाया, यदि हथुआ और बलरामपुरके महाराजा भी यहाँ आ जायँ, राजेन्द्रप्रसाद और जवाहरलाल नेहरू भी यहाँ आ जायँ, तो वह दरबान ही कहलायेंगे। मुझे मन ही मन एक तरह खुशी भी हुई, चलने दो "सब धान बाईस पंसेरी।" और दरबान कोई कामचोर थोड़े ही होता है, वह पसीनेकी कमाई खाता है। बर्मा और हिन्दुस्तान पड़ोसी हैं। बर्माने हिन्दुस्तानके धर्म (बौद्ध) को अपनाया है, और उसके बड़े-बड़े तीर्थ हिन्दुस्तानमें हैं, लेकिन हिन्दुस्तानियोंको वह भी "काला" कहते हैं; मालूम नहीं इस शब्द में गोरों जैसी घृणा है या नहीं। लेकिन घृणाके दूसरे कारण मौजूद हैं। मारवाड़ी, चेट्टी और गुजराती व्यापारियोंके सामने बर्मी व्यापारियोंको परास्त होना पड़ता है, इसलिए काला आदमी बहुत खराब हैं। रेलवे और दूसरी नौकरियोंमें हिन्दुस्तानी सस्तेसे सस्ते दाममें काम करनेको तैयार हैं, बर्मी शिक्षितोंको नौकरी नहीं मिलती, इसलिए काला आदमी ख़राब है। हिन्दुस्तानी कुली आधा पेट खाके आधी तनख्वाह लेके काम करनेकेलिए तैयार है, बर्मी मज़दूरकेलिए काम मिलना मुश्किल होता है, इसलिए काला आदमी ख़राब है। इससे कौन इनकार कर सकता है, कि बर्मा बर्मियोंका है, और वहाँ किसी भी आदमीको उनकी मर्ज़ीके खिलाफ़ रहनेका अधिकार नहीं होना चाहिए। अंग्रेज़ोंने वहाँ हिन्दुस्तानियोंको जाने दिया। हिन्दुस्तानियोंकी पन्द्रह-पन्द्रह लाख संख्याको जीवनके हर रास्तेमें मुक़ाबिला करते हुए देख बर्मियोंके मनमें वैमनस्य होना स्वाभाविक है। इस वैमनस्यको अंग्रेज अपने फ़ायदेकेलिए इस्तेमाल करते हैं। हमारे देशको इससे क्या फ़ायदा है, कि हमारे दस, बीस लाख आदमी किसी दूसरे छोटेसे देशमें जाकर वहाँके जीवनको छिन्न-भिन्न करें। हमारा दुख-दरिद्र अपने देशको आज़ाद करनेसे छूट सकता है। इन थोड़ेसे आदमियोंके स्वार्थके-

लिए अपने किसी पड़ोसीसे दुश्मनी मोल लेना हमारे लिए फ़ायदेकी चीज़ नहीं है। फिर हिन्दुस्तानियोंका भी आपसमें वैमनस्य है। हिन्दुस्तानी व्यापारी भी अपने कमेरोंको दरबान कहकर उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। हमारे दरबान भी इन जोंकोंको अच्छी निगाहसे नहीं देखते। बर्माकी स्त्रियाँ सारे एसियामें (सोवियत्को छोड़कर) सबसे अधिक स्वतन्त्र हैं—आर्थिक तौरसे भी और सामाजिक तौरसे भी। हिन्दुस्तानी उन्हें प्रेममें फाँसते हैं; लेकिन वेश्या और दासीकी तरह रखना चाहते हैं, अपने बच्चोंको भी बेगानाकी तरह मानते हैं। बर्मी समझते हैं, कि हिन्दू हमको नीच समझते हैं। हिन्दुस्तानी मुसलमान इस बातमें ज्यादा उदार हैं, लेकिन वह अपने बच्चोंको बर्मी न बना उनपर अपनी संस्कृति और अपना धर्म लादते हैं। बर्मी समझते हैं मुसलमान हमारी जातिको कमज़ोर करते हैं। यह भी वैमनस्यकी भारी जड़ है और हालमें कितने ही खूनी झगड़े इसीलिए हुए हैं। सारी समस्याओं-का हल यही है, कि बर्मा बर्मियोंका हो, हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियोंका हो, खून चूसने-वाली देशी-विदेशी जोंकें तबाह हो जायँ।

१० अप्रैलको सोनी-हालमें गोष्ठीका वार्षिकोत्सव हुआ। ७ बजेसे शुरू होकर सवा दो घंटेमें काम खतम हो गया। मैंने अपना भाषण पढ़ा। काश्यपजी भी बोले। कुछ और लोगोंने व्याख्यान दिया।

११ अप्रैलको ६ बजे मैं बन्दरपर पहुँचा। "खंडाला" जहाज़ कुछ दूरपर खड़ा था। डाक्टरोंने डेक्के यात्रियोंकी बड़ी सावधानीसे परीक्षा की। उनके कपड़े भापमें दे दिये गये। टीका न लगाये आदमियोंको टीका लगाया गया। जा तो रहे थे हम डेक्हीसे, लेकिन कपड़ा साफ़-सुथरा रहनेसे हम बच गये। छोटे अगिनबोटसे हम जहाजपर पहुँचे। पानीके नलके पास जगह मिली। अब ४ दिनतक इसी जहाज़-में रहना था। दूसरे दिन (१२ अप्रैलको) खूब ज्वर आया। शामको भी थोड़ा ज्वर रहा। मैं सिर्फ़ पानी पीता रहा। जहाज़में अधिकांश पंजाबी मुसलमान थे, उनके बाद पंजाबी सिख। कपड़ोंके मैलेपनकेलिए कुछ मत पूछिए, लेकिन मैं तो तिब्बतमें रह चुका था। तीसरे दिन (१३ अप्रैल) काश्यपजीने भी ज्वरका आवाहन किया। आधीरातको बूँदें भी पड़ने लगीं। हम कुछ भीगते और कुछ कम्बलके भीतर दुबके रहे। काश्यपजीको भारी ज्वर था। इस जहाज़में हमारी बड़ी गत बनी।

पेनाङ्में—७ बजे (१४ अप्रैल) जहाज पेनाङ्की खाड़ीमें पहुँचा। हम पाँतीसे खड़े हुए। डाक्टरने सबको कोरेनटीनमें भेजनेका हुक्म दिया। हमारे सहयात्रियोंके

कपड़े-लत्ते और रहन-सहन जितनी गन्दी थी, उसकेलिए यह जरूरी था। पता लगा, अब ढाई दिन कोरेनटीनमें रहना होगा। कोरेनटीनका टापू ६ मील हटकर था। नावोंपर लादकर हमें वहाँ पहुँचाया गया। नावसे उतरकर पाँतीसे बैठे। हमारे कपड़ोंको भापमें दे दिया गया। फिर सबको टीका लगाया गया। अन्तमें दवा मिले पानीसे नहलाया गया। अब ११ बज गया। टीनके खुले ओसारे थे। हमें वहाँ ले जाकर रख दिया गया। धूप खूब थी ही, और सिरपर टीनकी छत तप रही थी। बहुत गरमी मालूम होती थी। आसपासके पहाड़ बहुत हरे-भरे थे। लेकिन हम तो एक दूसरी बलामें फँस गये थे। सेकंड क्लासमें न आकर हमने ग़लती की थी। सिपाही पंजाबी सिख थे। हमने किसी भारतीय सज्जनको ज्ञानोदय एसोसिएशनको फ़ोन कर देनेकेलिए कहा था, लेकिन उसके पहुँचनेकी हमें ज्यादा आशा न थी। हम क़िस्मतपर हाथ रखकर बैठे थे। मैंने ५० घंटेसे खाना छोड़ रखा था। ज्वरकेलिए यह मुझे कितनी ही बार अच्छी चिकित्सा साबित हुई है। १२ बजेके कुछ बाद पेनाङ्के बौद्धसज्जन मोटरनाव लेकर पहुँचे गये। हमने उन्हें लिखा नहीं था, कि हम डेक्‌में आ रहे हैं; इसलिये वह सेकेंड क्लासकी प्रतीक्षा कर रहे थे। खैर, सही-सलामत हमने उस क़ैदखानेसे छुट्टी पाई और बुद्धिस्ट एसोसियेशनके भव्य मन्दिरमें पहुँच गये। छप्पन घंटे बाद थोड़ासा दूध लेकर उपवासको तोड़ा। अब चार दिन मुझे यहीं रहना था, काश्यपजी तो महीनोंकेलिए यहाँ आये हुए थे।

बुद्धिस्ट एसोसियेशन बहुत धनी संस्था है। मन्दिर अत्यन्त स्वच्छ, देखकर ही तबियत खुश हो गई है। बुद्ध, आनन्द, काश्यप, अमिताभ आदिकी संगमरमरकी मूर्त्तियाँ इटलीसे बनवाकर मँगवाई गई थीं। फ़र्श रक्त कमलोंसे अलंकृत चीनी मिट्टीकी ईंटोंसे ढँका था। द्वार और द्वारदीपकोंके सजानेमें बहुत सुरुचिका परिचय दिया गया था। मन्दिरके पीछे एक ओर कार्यालय और दूसरी ओर व्याख्यानशाला थी। भिक्षुओंके रहनेकेलिए स्वच्छ कमरे थे।

१६ अप्रैलको मैं इस योग्य हो सका, कि पेनाङ्की दर्शनीय जगहोंको देखूँ। ३ बजे काश्यपको १०३ डिग्री ज्वर था। ४ बजे शामको मोटरपर घूमनेकेलिए निकले। पेनाङ् एक छोटासा पहाड़ी द्वीप है। प्रकृतिने दिल खोलकर इसे हरियाली न्यौछावर की है। चारों ओर नारियल और रबरके वृक्ष दिखाई पड़ते हैं। रास्तेमें कई गाँव देखे। गाँवमें अधिकतर मलाई लोग रहते हैं। जान पड़ता है, पेनाङ्का वैभव विदेशियोंकेलिए है।

अगले दिन (१७ अप्रैल) ६ बजे ही घूमनेकेलिए निकल गये। दो स्यामी बिहारोंको देखा। बिहार क्या दूकानें हैं। एक बिहारके भिक्षुओंमें आपसमें झगड़ा हो गया था। पैसा सर्कारके हाथमें चला गया और वह खर्चकेलिए कुछ मासिक दे दिया करती थी। ऊँचे दर्जेवालों या विश्वसनीय यात्रियोंको कोरेनटीनमें न रखकर इस शर्तपर छुट्टी दे दी जाती है, कि वह स्वास्थ्य-अफ़सरके पास उनकी निगरानीमें रहे। उस दिन १० बजे जाकर अफ़सरसे छुट्टी ले आये।

मैं चाहता था कि यहींसे कोई जापानी जहाज़ पकड़ूँ, किन्तु अभी कोई जापानी जहाज़ जानेवाला नहीं था। अब सिंगापुरतक रेलसे जानेके सिवाय कोई और चारा नहीं था। पता लगा, "अन्योमारु" जहाज़ सिंगापुरसे कुछ ही दिनोंमें छूटनेवाला है। जायसवालजीके ज्येष्ठ पुत्र चेतसिंह मलक्कामें बैरिस्टरी कर रहे थे। उनकी दो चिट्ठियाँ आई थीं, और वह मलक्का आनेकेलिए बहुत आग्रह कर रहे थे। मैंने ट्रेनका नाम देकर तार दे दिया। मलक्का रास्तेसे दूर था, इसलिए वहाँ जानेकेलिए समय नहीं था। रातको महायान और हीनयानपर मेरा व्याख्यान हुआ।

सिंगापुर—१८ अप्रैलको काश्यपजीसे बिदाई ली, अभी भी उनकी तबियत ठीक नहीं हुई थी। लेकिन किसी बातकी चिन्ता नहीं थी। मोटरसे बन्दरपर फिर स्टीमरसे खाड़ीको पार हो एक नदीमें थोड़ा घुसे। तीरपर ही पाई स्टेशन है। दूसरे दर्जेका टिकट था। गाड़ीमें भीड़ नहीं थी। ९ बजे ट्रेन चली। पर्वत और भूमि हरे-हरे वृक्षोंसे ढँकी हुई थी। ज़्यादातर रबड़के बग़ीचे थे, किन्तु कहीं-कहीं जंगल भी थे। नारियलके बाग़ भी लगे हुए थे। मज़दूर मदरासी थे; और मालिक चीनी या अंग्रेज़। समतल भूमि बहुत कम थी। जहाँ-तहाँ टीनकी खानें थीं, जिनमें ७५ फ़ीसदीके मालिक अंग्रेज़ थे, और बाक़ीके चीनी।

६ बजे हम क्वालालम्पोर पहुँचे। स्टेशन हीपर बौद्धसभाके कुछ सज्जन और एक सिंहल भिक्षु मिले। क्वालालम्पोर मलायाकी राजधानी है, और बड़े रमणीय स्थानपर बसी है। डेढ़ घंटे घूमकर शहर देखा। मलायामें पेनाङ्, मलक्का और सिंगापुर तो सीधे अंग्रेज़ोंके हाथमें हैं, बाक़ी कितनी ही रियासतें हैं। सबको मिलाकर संयुक्त मलाया-राज्य क़ायम किया गया है। शहर देखकर हम बौद्धमन्दिर गये। मन्दिर अच्छा और अच्छी जगहपर बना हुआ है। मुझे बौद्धगृहस्थोंकी छोटी सभामें कुछ देर बोलना पड़ा। साढ़े आठ बजे चेतसिंह जायसवाल पहुँच गये। उन्हें बड़ी तकलीफ़ हुई, बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी। यदि मालूम होता कि अन्योमारू चौथे दिन सिंगापुरसे छूटेगा, तो मलक्का भी जाता। चेतसिंहजीकी मोटर रास्तेमें बिगड़ गई थी

और जैसे-तैसे करके यहाँ पहुँचे थे। मेरी ट्रेन छूटनेमें डेढ़ घंटेकी देर थी, हम स्टेशन-पर गये, वहीं कुछ भोजन और बात करते रहे। मैंने घरका समाचार दिया। यह जानकर मुझे बहुत सन्तोष हुआ, कि चेतसिंह भी अपने काममें तत्परतासे लगे हैं। चेतसिंहमें पिताके सारे ही गुण हों, यह बात तो नहीं है; लेकिन कई बातें उनमें स्पृहणीय हैं। यद्यपि साहेबकी तरह पले हैं, किन्तु वह कष्ट सहन कर सकते हैं। साहित्य और कलासे उनका बहुत प्रेम है, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मानकी भावना भी उनमें काफ़ी है। सेरम्बन्तक वह हमारे साथ रहे। मलायामें जापानी भी काफ़ी बसते हैं। हम रातको चल रहे थे, एक स्टेशनपर कुछ जापानी स्त्री-पुरुष अपने बन्धुओंको बिदाई देने आये थे। उन्होंने गाड़ी चलते|वक़्त बड़े मधुर स्वरसे "सायोनारा" कहा। अभी मैं यह नहीं समझ पाया था, कि 'सायोनारा'का अर्थ है 'पुनर्दशनाय', यद्यपि उसका उस समय यह छोड़ दूसरा अर्थ नहीं हो सकता था। १६को पह फट रही थी, जब हम जोहोरसे आगे पुल द्वारा खाड़ीको पार कर रहे थे।

६ बजे सिंगापुर पहुँच गया। स्टेशनपर कई बौद्धसज्जन मिले और मुझे बुद्धिस्ट एसोसियेशनमें ले गये। सिंगापुरमें छ सौके क़रीब सिंहलबौद्ध हैं, यह उन्हींकी सभा है। दिनभर तो विश्राम, भोजन और बातचीतमें लगे रहे शामको साढ़े पाँच बजे घूमने निकले। सिंगापुर १६ मील लम्बा १६ मील चौड़ा द्वीप है। पोर्ट-सईदकी तरह यह भी बहुतसे द्वीपोंके लोगोंका मिलन-स्थान है। हिन्दुस्तान, लंका, स्याम, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, और युरोप सभी जगहके लोग यहाँ रहते हैं, बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अंग्रेज़ोंकी हैं, व्यापारी चीनी हैं, दूध बेचनेवाले भैया लोग (युक्तप्रान्त-विहारवाले) हैं और क़ुली हैं मदरासी। शहर साफ़-सुथरा है, सड़कें भी अच्छी हैं, हाँ ग़रीबोंके मुहल्लोंकी न पूछिये। यहाँ एक स्यामी मंदिर भी है। बुद्धकी एक विशाल मूर्ति देखी। सड़कको छोड़कर घूमते-फिरते एक चीनी मंदिर-में पहुँचे मंदिर बहुत बड़ा है, और किसी समय बड़ा सुन्दर रहा होगा, लेकिन अब उसकी बड़ी उपेक्षा है। मन्दिर और भीतरी सजावट, पत्थरके स्तंभ, सभीपर मृत्युकी छाया दीख पड़ रही थी। भिक्षु अयोग्य और निकम्मे थे, इसलिए किसी गृहस्थकी श्रद्धाको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते थे।

एक दिन पहिले (२० अप्रैल) हम निप्पन्-यूसेन-कइसाके कार्यालयसे जहाजका टिकट खरीद लाए। जापान तकका दूसरे दर्जेका किराया १५० येनसे कुछ ऊपर लगा। उस दिन शामको चीनी बौद्धसभामें गए। लोग अमितामके भजनमें लगे

हुए थे। एक गृहस्थने यह सारा घर बनाकर दान कर दिया है। सिंहल बौद्धसभामें भी एक व्याख्यान देना पड़ा। मैं पालीमें बोला और एक श्रामणेरने उसका सिंहलीमें अनुवाद किया।

हाङ्-काङ्—२१ अप्रैलको सबेरे ही "अन्योमारू" सिंगापुर पहुँचा। ढाई बजे मैं भी जहाज़पर पहुँच गया। २३ नवंबरके केविनमें चार वर्थे थीं, लेकिन उसमें हम दो हिन्दुस्तानी थे—दूसरे सज्जन मदरासी थे। अन्योमारू शामतक लोहेके टुकड़ों और रद्दी कनस्टरोंको लादता रहा। यहाँ इन चीज़ोंकी क़दर नहीं है, हालाँकि इनको गलाकर फिर अच्छा लोहा बनाया जा सकता है। जापान ऐसे कूड़े-करकटका स्वागत करता है। जब मैं पहिली बार लंका गया था, उस वक़्त मैंने अपनी खिड़कीसे रेलवेकी सड़कसे ताकते हुए अक्सर एक जगह रेलके टूटे पहियों-पुरज़ों और दूसरे लोह-खंडोंको एक गड्ढेमें फेंके जाते देखा करता था। फिर किसी दिन वह चीज़ें बड़ी तेज़ीके साथ ढोई जाने लगीं। पता लगा, इस कूड़े-करकटको किसी जापानी कंपनीने खरीद लिया है। अंगरेज़ कंपनियाँ या अंगरेज़ी सर्कार ऐसे कूड़े-करकटोंकी परवाह नहीं करती। आज लड़ाईके ज़मानेमें लोहा इतना मँहगा हो गया है, तो भी रेल लाइनों और दूसरी जगहोंमें न जाने कितने लाख मन लोहखंड पड़े हुए हैं, कोई उनकी पर्वाह नहीं करता। साढ़े ६ बजे शामको जहाज रवाना हुआ। जहाजमें पाँच मदराजी (जिनमें दो स्त्रियाँ),दो बंगाली, दो पारसी, एक भैया (अकेला मैं) कुल दश भारतीय थे। एक आस्ट्रियन और दो जापानी भी थे। सिगरेट पीनेका कमरा मुझे पढ़ने-लिखनेके लिए बहुत अच्छा मालूम हुआ। शामको डेक्पर टहलनेमें भी आनंद आता था। वादन्यायका प्रूफ़ मेरे साथ चल रहा था, अकेले उसे फ़ोटोसे मिलानेमें बहुत वक़्त लगता था। रामस्वामी अय्यर संस्कृत जानते थे, उन्होंने प्रूफ़ कापीको मिलानेमें सहायता देनेकी इच्छा प्रकट की। मेरा काम बन गया। जहाज़में हमें सबेरे सात बजे चाय-रोटी-मक्खन मिलता था, साढ़े आठ बजे नाश्ता, बारह बजे पूरा भोजन, सवा तीन बजे चाय-रोटी-मक्खन और रातको छ बजे भोजन। भोजन युरोपीय ढंगका था, वैसा ही जैसा फ्रेंच जहाज़में मिला करता था। पाँचों मदरासी सहयात्री ब्राह्मण थे, और मांस-मछली छू नहीं सकते थे। समुद्र बराबर शान्त रहा। विशाल समुद्रमें कहीं देखो, एक ही तरहका दृश्य सामने रहता था। जहाज बिल्कुल हिलता नहीं था। प्रूफ़का काम करनेके बाद जो समय बचता, वह जापान-सम्बन्धी किताबोंको पढ़नेमें लगाता था, अथवा गोली लुढ़कानेवाले तख्तेका खेल खेलता था।

७वें दिन (२७ अप्रैल) ६ बजे सबेरे ही जहाज हाङ्‌काङ्‌ पहुँचा। यह चीनका टापू है, जिसे सौ वर्षसे अधिक समय हुआ, जब अंग्रेज़ोंने दखल कर लिया। यह उनका एक बहुत बड़ा व्यापारकेन्द्र है, साथ ही सैनिक अड्डा भी। आखिर सेना भी तो व्यापार हीके रक्षाकेलिए है। हाङ्‌काङ्‌ चारों ओर पहाड़ोंसे घिरा एक स्वाभाविक बन्दरगाह है। इसका सिर्फ़ एक ओर समुद्रसे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। नाश्ता करके ९ बजे हम किनारेपर गये। पहाड़ हरे-भरे हैं और शहरवाले पहाड़पर तो नीचेसे चोटीतक कोठियाँ और बँगले बने हुए हैं। पहाड़के ऊपर सिर्फ़ युरोपियन ही घर बना सकते हैं। एसियाके भूखंडपर ही एसियाइयोंका यह अपमान! जिसकी लाठी उसकी भैंस जो ठहरी। युरोपीय बाज़ारके मकान बड़े आलीशान हैं। हम पहाड़पर जानेवाली ट्रामके अड्डेपर पहुँचे। आखिरी स्टेशनतक चले गये, जो एक हज़ार फ़ीटसे ऊँचा है। बादल था, इसलिए फ़ोटो नहीं ले सके। वैसे भी कितने ही स्थानोंका फ़ोटो लेना मना है। नीचे उतरकर हमने टैक्सी की, और २७ मीलका चक्कर लगाया। चीनी मालियोंको फुलवारियोंमें साग-सब्ज़ीके खेतोंमें काम करते देखा। यहाँकी सड़कें अच्छी हैं, विश्वविद्यालय है, स्पताल है। यहाँसे कान्तन् नगर ८० मील है। हम दो बजे जहाज़पर लौट आये। ढाई बजे हमारा जहाज़ चल पड़ा।

शाङ्‌-हैई—छठे दिन हमें पहुँचना शाङ-हैई था। सबेरेके वक्त उठे, तो देखा चारों ओर कुहरा फैला हुआ है, दोपहरतक ऐसा ही रहा। जहाज़ बार-बार सीटी दे रहा था। उसकी गति बहुत मन्द थी। अगले दिन (२९ अप्रैल) दोपरहको तापमान ६३ डिग्री था। हम २६ अक्षांशमें चल रहे थे, वही जो कि इलाहाबाद का है, लेकिन यहाँ अप्रैलके अन्तमें भी गर्मी बिल्कुल नहीं मालूम होती थी। ३० अप्रैलको तो खासी-सर्दी लग रही थी। मालूम नहीं होता था कि हम गर्मीके मौसममें हैं। उस दिन दोपहरको हम याङ्‌ची और सागरके संगमपर पहुँच गए। लाखों वर्षोंसे नदी ऊपरकी मिट्टीको ढो-ढोकर समुद्रको पाटनेमें लगी हुई है। उस समय समुद्र और भी आगे तक रहा होगा। यहाँ पानी कुछ उथला था, पौने तीन लाख मन (साढ़े-नौ हज़ार टन) भारी अन्योमारू। कहीं फँस न जाए, हमारा जहाज़ एक जगह ठमक गया। फिर एक पथ-प्रदर्शक अगिनबोट आया और उसके साथ हमारा जहाज़ आगे बढ़ने लगा। यहाँ आस पास द्वीप हैं। बाईं ओर पोतो द्वीप है, जहाँ बौद्धभिक्षुओंके कितने ही मन्दिर और बिहार हैं। अँधेरा हो जानेके बाद हमारा जहाज शाङ्‌-हैई पहुँचा।

अगले दिन (१ मई) ९ बजे हम जहाज़से उतरकर बाएँ तटपर गये। शाङ्‌-हैई एसियाका सबसे बड़ा शहर है। यद्यपि ५० लाख आबादीवाले तोक्योके

सामने इसकी ३० लाखकी आबादी कम ही है। पहिले हम लोग डाकखाने गये। मुझे चिट्ठियाँ तथा प्रूफ़का पार्सल भेजना था। उससे छुट्टी पाकर हमने ३ डालर (१ डालर=$\frac{1}{1}\frac{1}{6}$ रुपया) घंटेपर टेकसी ली। पहिले शहरमें घूमे। भिन्न-भिन्न युरोपीय राष्ट्रोंने शाङ्-हैईमें अपना छोटा-छोटा राज्य क़ायम कर लिया है। शाङ्-हैई चीनभूमिका जीवित अंग है, जिसपर विदेशी गिद्ध बैठकर चोंचें मार रहे हैं। चापई नामक चीनी मुहल्लेकी ओर गये। कभी यह आबाद नगर था, लेकिन जापानने तीन ही चार साल पहिले शाङ्-हैईपर हमला कर दिया। मंचूरियाकी सफलताके बाद उसकी हिम्मत बढ़ गई थी, वह जानता था कि युरोपीय राज्य स्वार्थान्धताके मारे आपसमें बँटे हुए हैं, वह हमारे रास्तेमें रुकावट नहीं डाल सकते। उसने चापईको भून दिया। जले हुए घरोंकी दीवारें अब भी खड़ी थीं। २० तलेका सासून भवन शायद एसियाकी सबसे ऊँची इमारत है। शाङ्-हैईके अंग्रेज़ी इलाक़ेमें सिक्ख पुलिस-सिपाही बहुत हैं। वह सस्ते भी हैं, और अपने गोरे मालिकोंके आज्ञाकारी भी। यह तो हमें पहिले हीसे मालूम था कि शाङ्-हैईमें हिन्दुस्तानी भी हैं। ढूँढ़नेपर एक इंडियन रेस्तोराँ (भारतीय भोजनशाला) देखा, वहीं चपाती और गोश्त खाया। शाङ्-हैईसे अंग्रेज़ी अख़बार भी निकलते हैं, हमने कुछ अख़बार लिये। मालूम हुआ, चाङ् कइसेक्ने कई बार असफल होनेके बाद अबकी बार बड़ी तैयारीके साथ चीनी कम्यूनिस्टोंपर हमला किया है। चाङ् चीनी जोंकोंका पिट्ठू है, और गौरांग भी उसकी पीठ ठोंकनेकेलिए तैयार हैं।

उसी दिन हमारा जहाज़ आगेकेलिए रवाना हो गया। सर्दी खूब मालूम हो रही थी। भीतर केबिनको अब गरम किया जाने लगा था। बेतारसे पता लगा, कि जापानके उत्तरी भागमें बहुत बर्फ़ पड़ी है, इसीके कारण यहाँ सर्दी बढ़ी है। अब हम शाङ्-हैई और जापानके बीचके समुद्रमें जा रहे थे। यह दो-ढाई दिनका रास्ता है। सर्दीके अतिरिक्त समुद्र भी ज्यादा चंचल हो उठा था, कुछ लोग बीमार पड़ गये थे, लेकिन मैं ऐसी-ऐसी चीज़ोंको क्या समझता हूँ। काश्यपजी होते तो उनकी भी वही दशा होती, जो हमारे साथियोंकी हो रही थी। हम लोगोंका टिकट कोबेतकका था। हमारे साथी याकोहामाका टिकट बनवा रहे थे, मैंने भी वैसा ही करा लिया।

२–जापानमें

३ मईके दोपहरको दोनों ओर पहाड़ दिखाई देने लगे, यह था जापान। दाहिनी

ओर क्यूशो (कोशू) द्वीप है और बाईं ओर प्रधान द्वीप। सामने बहुतसी नौकाएँ, और स्टीमर दिखलाई पड़े। हम शीमोनोसकीकी क़िलेबन्दीके भीतर घुस रहे थे। एक छपी नोटिस बाँटी गई, जिसमें बतलाया गया था, कि यहाँ फ़ोटो लेना सख़्त मना है। अगिनबोटसे डाक्टर और कुछ दूसरे अफ़सर हमारे जहाज़पर पहुँचे। डाक्टरने मामूली तौरसे देखा, कोई बीमार नहीं था। जहाज़ फिर रवाना हुआ। अफ़सरने सबसे कुछ पूछ-ताछ की, मुझसे यात्राके उद्देश्यके बारेमें पूछता रहा। मैंने बतलाया कि मैं एक बौद्धभिक्षु हूँ और आपके बौद्धदेशका अध्ययन करनेकेलिए आया हूँ। उसने हमारे पासपोर्टपर मुहर कर दी।

साढ़े आठ बजे रातको हमने जापानकी भूमिपर पैर रखा, यह क्यूशो द्वीपका मोजी शहर, एक लाखसे ऊपरकी आबादी है। पहाड़की जड़ और समुन्दरके तटपर दूरतक शहर बसा हुआ है। हमने यहाँ बेप्पूके गरम चश्मों और एकाध बस्तियोंके देखनेका निश्चय किया। पहिले और दूसरे दर्जेका मुसाफ़िरखाना एक था, और तीसरेका दूसरी ओर दोनों हीमें लोगोंके बैठनेकेलिए कुर्सियाँ थीं। फ़र्क़ इतना ही था कि तीसरे दर्जेमें गद्दी नहीं थी। पुरुष अधिकांश कोट-पतलून पहने थे, लेकिन स्त्रियाँ सभी कीमोनो (लम्बा चोग़ा) और सुन्दर कमरपट्टीमें थीं। १० बजेके क़रीब हमारी रेल खुली। हमने सेकेंड क्लासका टिकट लिया। इसमें भी गद्दी लगी हुई थी। पहिले-दूसरे दर्जेमें पीठकी ओर भी गद्दी रहती है, जो कि तीसरे में नहीं होती। लोगोंकी पोशाक बहुत साफ़ थी। हमारे डिब्बे भी बहुत साफ़ थे। रातको एक जापानी ढंगके होटलमें रहनेका इन्तिज़ाम किया गया था। स्टेशनसे ही टेलीफ़ोन कर दिया गया था और हमें होटलमें ले जानेकेलिए पथप्रदर्शक आ गया था।

अगले दिन (४ मई) हमने होटल हीमें नाश्ता किया। हमारे कुछ साथी नहाना चाहते थे। गरम पानीका प्रबन्ध था, लेकिन वहाँ एक कुंडमें स्त्री-पुरुष एक ही जगह नंगे नहा रहे थे। उन्हें साहस नहीं हुआ और लौट आये। साढ़े आठ बजे हम गरम चश्मोंकी ओर चले। मालूम होता है, यह इलाक़ा ही गरम चश्मोंका है। किसी जगहपर सिर्फ़ कीचड़ बुदबुदा रही थी, कहीं खौलता पानी गिर रहा था। पथप्रदर्शक अंग्रेज़ीमें बताता जाता था, कि इस गरम कुंडकी गहराई और तापमान इतना है। जिगोशकूके पीछेकी ओर बहुत ही सुन्दर दृश्य था। सारा पहाड़ हरियालीसे ढँका है। रास्तेमें कितने ही गाँव मिले, जिनके छोटे-छोटे घर और घासके छप्पर हिमालयके किसी स्थानका स्मरण दिला रहे थे। हलमें घोड़े भी चलते थे, और

बैल भी। अन्तिम तप्त कुंडमें स्नान हुआ। खिड़कीसे नीचे ढालुवाँ उपत्यका थी, जहाँ देवदार और दूसरे वृक्ष दिखाई पड़ रहे थे। लौटते वक्त हमने गरम कुंडोंसे चिकित्सा करनेका एक बड़ा अस्पताल देखा। डेढ़ बजे स्टेशनपर पहुँचकर मोजीकेलिए रवाना हो गये और शामतक अन्योमारू पहुँच गये।

कोबे—अब हम जापानके दोनों बड़े द्वीपोंके मध्यवाले सागरमें चल रहे थे। दोनों ओरकी भूमि दिखाई दे रही थी। दृश्य वैसा ही सुन्दर था। पाँच बजे सबेरे जहाज़ कोबेके बन्दरगाहमें घुसा और बिल्कुल किनारेपर जाकर लगा। आनन्द-मोहनसहाय (भागलपुर) तथा कितने ही और भारतीय बम्बईवाले सज्जनोंसे मिलने आये थे। आनन्दमोहनको तेरह साल पहिले मैंने देखा था, जब वह मेडिकल कॉलेजसे असहयोग करके राजेन्द्र बाबूके प्राइवेट सेक्रेटरी बने थे। हम लोगोंकी दो टुकड़ी हो गई। एक तो सीधे कोतक महाशयके घर गई, और हम दोनोंको आनन्द-मोहन एक बौद्धमन्दिरमें ले गये। मन्दिर खूब साफ़-सुथरा था। बुद्धकी मूर्त्ति प्रशान्त थी। हर जगहसे संगठन और व्यवस्थाकी झलक आती थी। मन्दिरके महंत बड़े प्रेमसे मिले। वहाँसे हम कोतक महाशयके मकानपर गये, वहाँ भारतीयों-को भोज दिया गया, पता लगा, अनियोमारू अब चार दिन बाद यहाँसे आगे जायगा और ११ मईको योकोहामा पहुँचेगा। जर्मनीके परिचित मित्र श्री सका किवाराका पत्र मिला। उन्होंने अपने मन्दिरमें रहनेका निमंत्रण दिया था। रातको हम जहाजमें रहे।

अगले दिन (६ मई) दश बजे हम जहाज़से निकले। पहिले चीज़ों और विशेष-कर केमरेको दिखानेकेलिए कस्टम-आफ़िस जाना पड़ा। वहाँसे सेन्नोमिया स्टेशन-पर गये। मिस्टर मुराव पथप्रदर्शक मिले, वह अंग्रेज़ी जानते थे, इसलिए भाषाकी दिक़्क़त दूर हो गई। रास्तेमें ओसाका मिला, ओसाका बहुत बड़ा शहर है। यह कपड़ेकेलिए जापानका लंकाशायर-मानचेस्टर है। बिजलीकी रेल हमें कई जगह बदलनी पड़ी थी। मजूरोंके मकान बहुत छोटे किन्तु साफ़ दीख रहे थे। होरोमिया स्टेशनपर उतरकर मोटरबसमें बैठ होरियोजी गये। होरियोजी जापानका सबसे पुराना बिहार है। इसके मकानों, मन्दिरों और मूर्त्तियोंमें जापानी संस्कृतिका इतिहास भरा पड़ा हुआ है। यहाँ के मन्दिर अधिकतर लकड़ीके हैं, और उनमेंसे सबसे पुराना आजसे चौदह सौ वर्ष पहिले (छठी सदी)का बना हुआ है। प्रधान मन्दिरकी दीवारोंपर अजन्ता जैसे चित्र हैं। बोधिसत्त्वोंकी मूर्त्तियाँ तो कलाके अद्भुत नमूने हैं। पीतलकी कई सुन्दर मूर्त्तियाँ भी देखीं। मन्दिरमें घुसनेसे पहिले

अपने जूतोंपर मढ़ने (पहनने)केलिए कपड़के जूते हमें दिये गये थे। मन्दिरकी पवित्रता अक्षुण्ण रखनेकेलिए यह प्रबन्ध था। मूर्त्तियाँ ही नहीं, चित्रपटों और वाद्योंका भी यहाँ अच्छा संग्रह है। एक छमंज़िला स्तूप है। बुद्धपरिनिर्वाणकी एक मूर्त्तिके बारेमें बतलाया गया, कि यह भारतकी मिट्टीसे बनी है। यूमीदोनो विहार थोड़ा हटकर है, वहाँपर भी चार, पाँच सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। बग़लके चुगुजी विहारमें दश भिक्षुणियाँ रहती हैं, इसमें अवलोकितेश्वरकी एक मूर्त्ति है, जिसके बारेमें कहा जाता है, कि इसे जापानके अशोक शोतोकूने अपने हाथसे बनाया था। रास्तेमें ७वीं शताब्दीके दो प्रसिद्ध मन्दिरोंको देखते हम नारा पहुँचे। नारामें दूसरी बार भी गया था, इसलिये उसके बारेमें वहीं लिखूँगा। ओसाका शहरको हमने मोटरसे देखा। वह कलकत्ता बम्बईकी तरहका है, वैसी ही बड़ी-बड़ी उसकी इमारतें हैं।

अगले दिन (७ मई) ६ बजे हम कोबोसे त्रियोतोकेलिए रवाना हुए, और दो घंटेमें वहाँ पहुँच गये। हमें बौद्धदैनिकपत्र "चुगाइनिप्पो"के आफ़िसमें ले जाया गया। वहाँ कुछ देरतक बौद्धधर्मपर बात होती रही। फिर ओतानी विश्वविद्यालयमें गये। डाक्टर सुजुकी धरपर नहीं थे। श्रीमती सुजुकी मिलीं। परिचय और बातचीत हुई। मालूम हुआ, विद्यालयमें संस्कृत, पालि और तिब्बती भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं। क्योतो उन्नीसवीं शताब्दीतक जापानकी राजधानी रहा। उस वक़्त जापान-सम्राट पर्देमें रहा करते थे और सारा राज-काज नेपालके तीन सर्कारकी तरह शोगोनके हाथमें था। क्योतोकी तीन तरफ़ देवदारसे ढँकी हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं। यह बहुत ही रमणीय स्थान है, इसीलिए तो सिनेमा-फ़िल्म बनानेवालोंने तोकियो नहीं क्योतोको अपनी राजधानी बनाया। हम हिगाशी होङ्गनजीके विशाल मन्दिरमें गये। सारा मन्दिर काठका है, इसके देवदारके बड़े-बड़े खम्भोंको खींच-खींचकर लानेकेलिए जब मोटे-मोटे रस्सोंकी ज़रूरत हुई थी, उस वक़्त हज़ारों बौद्ध नारियोंने अपने-अपने केशोंको काटकर रस्सा बनानेकेलिए दिया था। आज भी वे रस्से वहाँ हिफ़ाज़तसे रखे हुए हैं। ६ बजे हम कोबे लौट आये।

अगले दिन (८ मई)को दश बजे हमारा जहाज़ चला। समुद्र चंचल रहा। अब सिर्फ़ बाईं ओर जापानकी भूमि दिखलाई पड़ती। दाहिनी ओर प्रशान्त महासागरकी अनन्त जलराशि थी। रास्तेमें हमने योक्काइचीमें चीनी मिट्टीके बर्तनके एक बड़े कारखानेको देखा। मिट्टी काटना, पानीमें घोलना, थिर करना, सुखाना, पीसना, गूँधना, साँचे या चक्केपर बरतन बनाना, दूसरे चक्केपर सुधारना, थोड़ा

पकाना, रँगना, चित्रण करना, पकाना सभी चीज़ोंको देखा। मजूरोंकी तनख्वाह १५ येन् (१२ रुपया)से ५१ येन् (४२ रुपया) मासिक थी—मजूरी रोज़ानाके हिसाबसे थी। ज़्यादातर मज़दूरोंकी तनख्वाह ६ आनासे ८ आना रोज़तक थी, जो भारतमें कारखानाके मजूरोंकी तनख्वाह इतनी ही होती है। ग्यारह बजे हम जहाज़पर लौट आये और घंटेभर बाद जहाज़ आगे चला।

दश मईको बड़े सबेरे ही हमारा जहाज़ योकोहामा पहुँचकर किनारे लगा। पासपोर्ट अफ़सरने हमारे पासपोर्टको देखा, रुपये देखे, कुछ प्रश्न किया—खासकर बौद्धवेषपर। हमारा सामान कस्टम आफ़िसमें गया। उसने मामूली तौरसे देखकर छोड़ दिया। सामानको हमने न्यूयोकोहामा एक्सप्रेसके जिम्मे लगाया। यह कम्पनी आपके सामानको घर पहुँचा देनेका ज़िम्मा लेती है। अमेरिकन एक्सप्रेसके आफ़िसमें गये। मैं अपनी चिट्ठियाँ इसीके मारफ़त मँगाता था। कितनी दूरसे हमने टेकसी की थी, लेकिन भाड़ा सिर्फ़ दो येन् (डेढ़ रुपया) देना पड़ा; जो बतला रहा था कि जापानमें मोटरोंका किराया कितना सस्ता है। चालीस सेन (प्रायः पाँच आने) में मुर्ग़ीका गोश्त और भात खाया। पाँच आनेमें भला यह खाना भारतमें मिल सकता है!

तोक्यो—योकोहामासे बिजलीकी गाड़ी पकड़ी और एक बजेके क़रीब हम तोक्यो पहुँच गये। टेकसी करके पहिले मैसूरके एक सज्जनके पास गये, फिर ७० सेन (प्रायः ९ आना)पर टेकसी की और शहरके दूसरे छोरपर नाका-ओकाची-माची मुहल्लेके कोशियोजी मन्दिरमें श्री सकाकीबाराके पास पहुँच गये। रास्तेके बारेमें कई जगह पूछना था। इतना सस्ता तो बनारसमें एक्का भी नहीं मिलता। तोक्यो लन्दन शहर जैसा मालूम होता था। अब १० मईसे २६ जूनतक तोक्योमें ही रहना था। तोक्योमें ट्राम भी है और टेकसी भी। टेकसीमें एक दर है—उतना पैसा देकर टेकसीपर चढ़के आप चाहे १० क़दमपर उतर जायँ, या शहरके आरपार। तोक्यो-निवासके दिनोंका ज्यादा समय विद्वानोंसे मिलने, विद्यासंस्थाओंके देखनेमें लगा। मेरे वहाँ पहुँचनेसे पाँच दिन बाद सिंहलके भिक्षु नारद तोक्यो पहुँच गये, ठहरे वह दूसरी जगह थे। सकाकीबारा मेरे आरामका हर तरहसे ख्याल रखते थे। उनकी माँ तो और भी ज्यादा तत्पर रहती थीं। भारतसे जापानके शिष्टाचारमें कुछ अन्तर भी है, किन्तु बहुतसी बातें एक हैं। वहाँ ज़मीनपर भी लोग चटाईपर बैठते हैं, चटाईपर ही सोते हैं। कुर्सी, पलंग, मेज़का वहाँ रवाज नहीं है। घर बहुत साफ़-सुथरे होते हैं, और खुले हुए खंभोंपर बाहरकी ओर खिसकाऊ तख्ते और

भीतरकी ओर साफ़ काग़ज़ मढ़े खिसकाऊ ढाँचेको लगाकर दीवार बना दी जाती है। बाहरके तख़्ते तो रात हीको लगाए जाते हैं, भीतरके काग़ज़ी ढाँचे बराबर रहते हैं। काग़ज़से छनकर प्रकाश भीतर आता है। ज़मीनपर पुआलकी एक बालिश्त मोटी चटाइयाँ बिछाई जाती हैं, जिनके ऊपर सूती या रेशमी मगज़ी लगी सीतलपाटी (चटाई) सिली रहती है। यह चटाइयाँ एक ही नापकी बना करती हैं, और चटाइयोंकी गिनतीसे आप जान सकते हैं कि कमरा कितना बड़ा है। चटाइयोंका फ़र्श बड़ा आरामदेह होता है और पैर रखते ही स्प्रिंगदार गद्देकी तरह दबता है।

रहनेके कमरेको सामानसे भर रखना जापानमें पसन्द नहीं किया जाता। चित्र या फ़ोटो भी एक या दोसे अधिक नहीं टाँगे जाते। रातके सोनेका गद्दा-तकिया, लिहाफ़ काग़ज़ीदीवारकी आड़के खानेमें इस तरह रखे रहते हैं, कि मालूम नहीं होता। एक कमरा बैठक का होता है, जो भोजन-स्थान और शयनागारका भी काम देता है।

युरोपमें चम्मच काँटेसे खानेका रवाज है। जापानमें चीनकी तरह दस-दस इंच पेन्सिल जैसी दो लकड़ियोंसे खानेका रिवाज है। मैंने जहाज़में ही लकड़ियोंसे खाना सीख लिया था। वैसे तिब्बतमें भी बड़े-बड़े घरोंमें लकड़ी या हाथीदाँतकी दो "पेन्सिलें" दी जाती हैं, लेकिन वहाँ हाथ या चम्मचको भी इस्तेमाल किया जा सकता है, इसलिए पहिले नहीं सीखा था। लेकिन इस यात्रामें जापान पहुँचनेसे पहिले लकड़ीसे खानेमें दक्ष होनेका मैं निश्चय कर चुका था। पहिले जापानी खाना कुछ फीका मालूम पड़ता था, क्योंकि उसमें न तेल-घीकी बघार होती, न मिर्च-मसाला ही होता। मछली है, तो नमकके साथ उबली हुई। साग है, तो उसमें भी नमक पानी छोड़ और कुछ नहीं। सोयाके कई तरहके पकवान बनते हैं, किन्तु उनमें भी घी-तेल, मिर्च-मसालेका नाम नहीं। चावल उतना बारीक नहीं होता, न सुगन्धित ही, लेकिन होता है मीठा। फिर गृहिणी लकड़ीकी ढँकी बाल्टीमें भाप निकलते भातको लेकर आपके सामने बैठी रहती है। जापानमें एक अच्छत भी जूठा छोड़ना अनुचित माना जाता है। चीनीकी कटोरोंमें जो कुछ अन्न चिपका रहता है, उसे भी धोकर पी जाते हैं। एक-दो बार मुझसे कुछ छूट गया था। इसपर दोस्तने कहा—हमने भारतसे यह शिष्टाचार सीखा है, यदि आप ही जूठा छोड़ेंगे तो लोग क्या कहेंगे? जापानकी लगी वह आदत मेरे साथ अब भी है। बहुत कम ऐसा अवसर आता है, जब मैं थालीमें जूठा छोड़ता हूँ। ऐसा अवसर तभी आता है, जब कि कोई गृहपति या गृहिणी खानेवालेकी नहीं बल्कि अपनी इच्छाके अनुकूल परोसते हैं।

महीने-डेढ़-महीनेके बाद मुझे जापानी भोजन स्वादिष्ट मालूम होने लगा। चाय भी पहिले दवाईके काढ़े जैसी मालूम होती, स्वाद कुछ कड़ुआ, न उसमें तिब्बत-की तरह नमक-मक्खन न हिन्दुस्तानकी दूध-चीनी, न कश्मीरकी तरह मिश्री-इलायची; बस खाली पानीमें उबली पत्तियोंका अर्क होता, जिसका रंग हरा-पीला होता है। चायके प्याले भी हमारे यहाँके प्यालोंसे छोटे होते हैं। कुछ दिनों बाद इसमें भी स्वाद आने लगा। वस्तुतः, भोजन या संगीतका स्वाद अधिकतर अभ्याससे पैदा होता है।

तोक्योके राजप्रासादको पाससे हमने देखा। इसके भीतर सूर्य देवीके पुत्र जापान सम्राट् हिरोहितो रहते हैं। जापानके लोग उन्हें सचमुच ही देवता समझते हैं, शासकवर्ग उनकी श्रद्धाको और भी मज़बूत करनेकी कोशिश करता है। आजके सम्राट्के दादा कुछ समझदार ज़रूर थे, यद्यपि उतने नहीं, जितना कि पुस्तकोंमें लिखा जाता है। पिता पागल थे, हालाँकि यह बात कभी बाहर नहीं आने पाई। वर्त्तमान सम्राट्को मौज-मेलेसे छुट्टी मिलनेपर दूरबीनसे तारे देखने और कविता लिखने-का शौक़ है। मिकादो (जापान-सम्राट्) तोकुगावा-शोगनका अब बन्दी नहीं है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन, अब भी वह राज-काजमें सीधे दख़ल नहीं देता।

पाँच-छ वर्ष पहिले जापानमें भी स्वतंत्रताकी हवा चली थी। मार्क्सवाद और कम्यूनिज़मकी भी बड़ी चर्चा होने लगी, विश्वविद्यालय उसके केन्द्र बन गए। यह हवा १२ रु० महीना पानेवाले फैक्टरीके मज़दूरों और सात-आठ रुपया पानेवाले खेतिहर मज़दूरों तक पहुँचने लगी। शासकवर्ग घबराया। यद्यपि उसने सूर्यदेवीके पुत्र मिकादोको देवता बनाकर पूजने और इतिहासके नामपर सूर्यदेवी और दूसरी कथाओंको पढ़ाकर लोगोंके मस्तिष्कमें मिथ्याविश्वास भरनेकी सदा कोशिश की थी, तो भी जान पड़ता है भूख और भविष्यकी चिन्तासे निश्चिन्त होनेकेलिए आदमी सभी बातोंको ताकमें रख सकता है। लोगोंमें भयंकर विचारोंको फैलते देखकर शासकवर्गने कोदो (जापानी फ़ासिस्टवाद) का प्रचार करना शुरू किया। हज़ारों मार्क्सवादी आज भी जेलोंमें सड़ रहे थे। आज जापानका शासन न सम्राटके हाथमें है, न बनियोंके। हयाशी, अराकी, मिनामी और मसाकी यह चार फ़ौजी जरनैल और उनके सामन्ती वंश, जापानके वास्तविक शासक रहे। सामन्तवाद वस्तुतः वहाँसे लुप्त हुआ ही नहीं। उसने पूँजीपतियोंको बढ़ने दिया, पार्लियामेन्ट और चुनावकी व्यवस्थाको भी स्वीकार किया, किन्तु वोटको नहीं सेनाको अंतिम निर्णायक बनाया। राज्यकी आमदनीका

४६ सैकड़ा (आधेसे कुछ कम) उस वक़्त भी सेनापर खर्च होता था। सेनापर पार्लियामेन्टको कोई अधिकार नहीं; कहनेकेलिए वह सूर्यदेवीके पुत्र सम्राट्के आधीन मानी जाती है, लेकिन सम्राट स्वयं कुछ सैनिक सामन्तवंशोंके हाथोंकी कठपुतली है। यदि वह इससे कुछ अधिक है, तो जापानका वह सबसे बड़ा तालुकदार ज़मींदार है, और कल कारखानोंमें भी उसका करोड़ों येन् लगा हुआ है।

तोक्योमें इम्पीरियल यूनिवर्सिटी सरकारी विश्वविद्यालय है, उसके बाद वासेदा विश्वविद्यालयका नंबर आता है। यहाँ साइंस, अर्थशास्त्र, दर्शन आदि सभी विषय पढ़ाए जाते हैं। इसके पुस्तकालयमें चार लाखसे ज़्यादा पुस्तकें हैं। रिश्शो एक बौद्ध विश्वविद्यालय है। यह निचेरिन संप्रदाय से संबंध रखता है। प्रोफ़ेसर किमूरा यहीं अध्यापक हैं, उनके साथ अनेक बार मेरी बात-चीत हुई। दो जापानी सभाओं और दूसरी दूसरी संस्थाओंकी ओरसे भारतीय और सिंहाली (नारद) भिक्षुओंका स्वागत हुआ, व्याख्यान दिए गए। मैं समझता हूँ इसमें ज़्यादातर शिष्टाचार ही नहीं था, बल्कि जापानियोंका धर्म-प्रेम भी काम कर रहा था। प्रोफ़ेसर इनोये, नागाई, कावागूची, किमूरा, वतनबे, ताकेदासे भेंट करके बड़ी प्रसन्नता हुई। इन विद्वानोंने एक सभामें हमारा स्वागत किया। स्वागतका उत्तर भिक्षु नारदने पालीमें और मैंने संस्कृतमें दिया। कावागूचीकी **तिब्बत-यात्रा** मैंने तिब्बत जानेसे पहिले पढ़ी थी, और उनके साहसका बहुत प्रशंसक था। यहाँ उनसे बात-चीत करनेका मौक़ा मिला। अभी भी वह तिब्बती भाषा बोल रहे थे।

जापानने व्यापारमें जो सफलता प्राप्त की है, उसका सारा फ़ायदा पूँजीपतियोंको हुआ है। उन्होंने मजूरोंकी तनख़्वाह बढ़ने नहीं दी। उसी कपड़ेको ६ रुपया रोज़ पानेवाले मजूर तैयार करें और उसीको ६ आने रोज़वाले भी, निश्चय है कि ६ आने मजूरी पानेवालोंके हाथका कपड़ा १६ गुना सस्ता होगा। जापानी कारखानेदार यदि विलायती कपड़ेके भावपर बेचें, तो १६ गुना फ़ायदामें रहेंगे, लेकिन वह ऐसा नहीं करते। वह नफ़ाको कुछ कम करके मालको सस्ता बना देते हैं और फिर दुनियाकी बाज़ारोंमें उनकी चीज़ोंकी माँग बढ़ जाती है। जापानी व्यवसायके कारण सबसे घाटेमें रहे मजूर। जापानी पूँजीपतियोंको तो लाखका करोड़ और करोड़का अरब बनाते देर भी नहीं लगी। उनके कारखानोंमें सौ सैकड़ा नफ़ा बढ़ते देखा गया। हिन्दुस्तानमें भी यह लूट है, कपड़ेके कारखानोंमें भी और चीनीके कारखानोंमें भी। वही अंग्रेज पूँजीपति विलायतमें अपने कारखानेके मजदूरोंको

सवा सौ और डेढ़ सौ महीना देते हैं, और हिन्दुस्तानमें १२ या १५ रुपया। वही अंग्रेज़ जहाज़ी कम्पनियाँ विलायती मलाहोंको डेढ़ सौ रुपया महीना देती हैं और हिन्दुस्तानी मलाहोंको ३० रुपयामें रखती हैं। पूँजीपतियोंकी जापानमें मौज है। जापानी मजूर अपनी तकलीफ़ोंकेलिए हड़ताल नहीं कर सकता, वह अर्ज़ीभर दे सकता है। लेकिन व्यापारियोंके जेबमें जो करोड़ों रुपये पहुँचे हैं, उसका कुछ अंश मन्दिरोंको भी मिला है। जापानी मन्दिर और धार्मिक विश्वविद्यालयोंकी इमारतोंके देखनेसे पता लग जाता है, कि सेठोंने धर्मकेलिए कितनी उदारता दिखाई है। निशी होङ्वान्जीके १६, १७ लाख येनके ख़र्चसे १९३०में बने मन्दिरकी बात छोड़ दीजिए। वह है भी एक करोड़पति गृहस्थ-महंतकी सम्पत्ति। दूसरे मन्दिरोंको भी देखिए, तो मालूम होगा, कि उनपर ख़ूब रुपया ख़र्च हुआ है। हमने पुराने मन्दिरोंको भी देखा। सोयोजी मन्दिरमें काठ और लाख (लाक्षा)के पशु-पक्षी, फूल-पत्ती, इतने सुन्दर बने हैं, जिनको देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। जापानी मन्दिरोंके देखनेसे मालूम होता है, कि कलाने वहाँ कितनी तरक़्क़ी की। सबसे बड़ी बात यह है, कि जापानी कलाकी परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई।

जापानके शासकवर्गने अपने सामाजिक ढाँचेको तो पुराना रखा, लेकिन पैसा और शक्तिको अपने हाथमें जमा करनेकेलिए पश्चिमकी किसी बातको अपनानेमें हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। उन्होंने फ़ैक्टरियों और मिलोंको नईसे नई मशीनोंसे सुसज्जित करने, नयेसे नये संगठनमें बाँधनेमें पश्चिमी देशोंका भी कान काटा। अमेरिकन व्यापारियोंकी सबसे नई क़िस्मकी दूकानों—डिपार्टमेन्ट स्टोर—को ख़ूब इस्तेमाल किया है। एक-एक डिपार्टमेन्ट स्टोरमें बीस-बीस हज़ार तरह-तरहकी चीज़ें बिकती हैं, और पाँच-पाँच हज़ार बेचनेवाले काम करते हैं। आप स्टेशनसे उतरते हैं, वहाँ ख़ूब भड़कीली और आरामदेह मोटरबस डिपार्टमेंटकी ओरसे आपको तैयार मिलेगी। आपको दो-तीन आना किराया देना पड़ेगा, लेकिन इस टिकटसे आप स्टोरमें चीज़ ख़रीद सकते हैं, इसलिए सवारी मुफ़्तकी मिली। वहाँ छोटे-छोटे खिलौनेसे लेकर बने-बनाये कोट-पतलून, फल-फूल और खाना सब चीज़ें मिल सकती हैं। उसका विशाल सभाभवन मुफ़्तमें सभा, धर्मोत्सव और नाटककेलिए मिल सकता है। पूँजीपति जानता है, कि यह उसकी दूकानके विज्ञापनका यह बहुत अच्छा साधन है। यद्यपि भारतकी ग़रीबीसे वहाँका मुक़ाबिला नहीं किया जा सकता, किन्तु बेकार और भूखे लोग वहाँ भी बहुत हैं, भूखसे तंग आकर कितने ही लोग आत्म-हत्या किया करते हैं।

मित्र सकाकिबारा बहुत सुधरे विचारके तरुण थे, यद्यपि हिटलरके जर्मनीमें रहकर वह नाज़ियोंके संगठनसे प्रभावित थे। तो भी वह अपने शासकोंसे सन्तुष्ट नहीं थे।

नित्ता—तोक्योमें क़रीब सवा महीने रहनेके बाद मेरी इच्छा हुई, कि किसी जापानी गाँवमें रहूँ और वहाँके ग्राम्यजीवनको नज़दीकसे देखूँ। श्री ब्योदोसे भारतमें मुलाक़ात हो चुकी थी, यहाँ भी वे मिले और उनका आग्रह था कि मैं उनके गाँव नित्तामें चलकर रहूँ। ब्योदोके माता-पिता छियासठ और सत्तर वर्षके वृद्ध हैं। ब्योदोका छोटा भाई कम्यूनिस्ट विचारोंका था, जिसकेलिए उसे कितने ही मासोंतक जेलकी हवा खानी पड़ी। आजकल वह एक मासिकपत्रका सम्पादक था। हम २८ मईको ब्योदोके साथ उनके गाँव नित्ता गये। स्टेशनसे दो मील टेक्सीसे जाना पड़ा, फिर आध मील पहाड़ीपर चढ़ना-उतरना हुआ। उनका मन्दिर एक पहाड़ीके पार्श्वपर है। वह छ-सात सौ वर्ष पुराना है। इनका घर बौद्धपुरोहितोंका है, यजमानोंकी आमदनीके अतिरिक्त पासमें काफ़ी खेत है। जापानके गाँवमें भी बिजलीकी रोशनी लगी हुई है, लेकिन वह सिर्फ़ रातको ही काममें लाई जा सकती है। उस वक्त नित्तामें जौ, गेहूँ, बकला (क्लोवर) के खेत लहरा रहे थे, कुछ पक भी चुके थे। स्ट्राबरीके भी बहुतसे खेत थे। धानका बीज अभी छ-छ अंगुल उगा हुआ था। रोपनेकेलिए खेत तैयार किया जा रहा था। किसानोंके मकानोंकी छतें अधिकतर फूसकी थीं। पासमें बाँस, देवदार आदिसे ढँकी पहाड़ियाँ थीं। बाँसको यहाँ एक-एक करके अलग लगाया जाता है। कुछ समय पहिले बाँससे ज़्यादा बाँसके करीरमें नफ़ा था। नरम करीरकी तरकारीको जापानी लोग बहुत पसन्द करते हैं, उस दिन हम नित्तामें रह गये। हमें गाँव बहुत सुहावना मालूम हुआ।

अगले दिन (२९ मई) मैं तोक्यो लौट आया। वहाँ एक-दो जापानी फ़िल्म देखे। फ़िल्ममें सबसे ज़्यादा जिस बातकी कोशिश की गई थी, वह थी लड़ाई और सैनिक शक्तिको बढ़ानेकेलिए लोगोंको तैयार करनेकी प्रेरणा। प्राकृतिक दृश्योंको चित्रित करनेमें अवश्य सुरुचिका परिचय दिया गया था।

२ जूनको मैं नित्तामें रहनेकेलिए गया और तबसे २० जुलाईतक—डेढ़ महीने मैं वहीं रहा। रेलका डेढ़ घंटेका रास्ता था, लेकिन इतनी दूरकी मोटर टेकसीकेलिए हमें सिर्फ़ ढाई येन् (१ रुपया १४ आना) किराया देना पड़ा। यहाँपर ब्योदो महाशय ही अंग्रेज़ी जानते थे। उनके माता-पिताके साथ चाहे हाथके इशारेसे बातचीत

करते या जापानी-अंग्रेज़ी-स्वयंशिक्षककी मददसे। ब्योदो-बन्धुओं (दोनों) ने अभी शादी नहीं की थी। उनके घरमें एक और तरुण भिक्षुणी रहती थी, जिसे भिक्षुणीकी जगह ब्रह्मचारिणी कहना ही ज्यादा ठीक होगा, क्योंकि उसकी वेषभूषामें कोई अन्तर नहीं था। यह बहुत ही शान्त और एकान्त स्थान था। मन्दिर और घरके हातेमें एक छोटासा बाग़ था, जिसमें देवदारके भी कुछ वृक्ष थे। सर्दीमें, जब कि बरफ़ पड़ जाती है, शीशेके गरम घरोंमें तरकारी पैदा करनेका भी इन्तिज़ाम है। आजकल स्ट्रावरी पकी हुई थी। बिलकुल ताज़ा और सस्ती स्ट्रावरी मिल रही थी। जापानी लोगोंको प्राकृतिक सौन्दर्यसे बहुत प्रेम है, वह अपने बग़ीचोंको भी बहुत कुछ प्राकृतिक वनोंके नमूनेपर बनाते हैं। देवदारके सौन्दर्यपर वह मुग्ध हैं और हिमालयके देवदारको तो सौन्दर्य-शिखामणि मानते हैं। हिमालयसे देवदार यहाँ लाये गये हैं और उसके आठ-आठ दश-दश हाथके पौदे बिकते दिखाई पड़ते हैं। नित्ता छोड़नेसे पहिले ब्योदोसान् (ब्योदोजी) का आग्रह हुआ, कि मैं अपनी स्मृतिके-लिए एक हिमालयीय देवदारको मन्दिरके सामने लगा जाऊँ। स्मृतिपर मुझे विश्वास बहुत नहीं है, लेकिन दो, चार, दश पीढ़ियोंकेलिए एक सुन्दर वस्तु छोड़ जाना अच्छी चीज़ है।

यहाँ भी मुझे अपना बहुतसा समय प्रूफ़ोंके देखने और दीघनिकायके हिन्दी अनुवाद करनेमें देना पड़ता था। जापानी दैनिकपत्र वहाँ आता था, लेकिन मैं उसे पढ़ नहीं सकता था। हाँ, रातको रेडियो चलता था। कुछ मिनट अंग्रेज़ीमें भी ख़बरें सुनाई जाती थीं। ३ जूनको रेडियोने ख़बर दी, कि क्वेटामें भयंकर भूकम्प आया और ६० हज़ारसे ऊपर आदमी मरे। ख़बर सुनकर दिल विचलित हो गया। सालभर पहिलेके विहार-भूकम्पके हृदय-द्रावक दृश्यको मैंने देखा था।

कभी-कभी वर्षा भी हो जाती थी, लेकिन वैसे मौसिम अच्छा था। यहाँ काफ़ी मच्छर थे, और दिनमें कुछ गर्मी भी मालूम होती थी। ख़ाली समयमें मैं जापानी सीखनेकेलिए कोशिश करता था। ब्योदोसान संस्कृत जानते थे। वह मुझसे कुछ काव्यग्रंथ पढ़ते थे। इधर-उधरके गाँवों और आसपासके नगरोंमें ले जानेमें वह मेरे पथप्रदर्शक रहते थे।

२० जूनको हम किसानोंके घर देखने गये। फूसकी छतोंके छोटे-छोटे घर एक-दूसरेसे अलग-अलग बसे थे। किसानोंके घरोंमें नौकरानियोंको कपड़ा, खाना, थोड़ासा पैसा दिया जाता है, जो सब मिलाकर ५ रुपया या ६ रुपया मासिकसे ज्यादा नहीं पड़ता। जापानी अपने खानेमें कितना कम खर्च करते हैं, यह इसीसे

मालूम होगा, कि विश्वविद्यालयके विद्यार्थियोंको भी खानेके ऊपर ४ या ५ रु०से बेशी खर्च नहीं करना पड़ता। दूध, मक्खन, तेल, मांस, मसाला उनके भोजनमें ज़रूरी नहीं है, मांस-मछली भी कभी-कभी खाते हैं। गाँवके लोगोंका खर्च तो और कम पड़ता है।

खेती करनेमें जापानी किसान आधुनिक चीज़ोंका बहुत उपयोग करते हैं। खेतोंमें खाद खूब देते हैं। फ़ैक्टरियोंकी बनी खादों और कच्चे पाखानेको भी डालते हैं। शहरों और गाँवोंमें भी पाखानेके खरीदार घूमते रहते हैं। अगर आप अपने पाखानेको खेतमें नहीं डाल रहे हैं, तो उसे अच्छे दामपर बेंच सकते हैं। शहरोंमें म्यूनिसपैलिटियाँ पाखानोंको बेच देती हैं। इन्हें मुँहबन्द नावोंमें भरकर गाँव-गाँव ले जाते हैं। किसान खरीद लेते हैं। किसानको बाल्टीमें पाखाना रखे, नाकको कपड़ोंसे बन्द किये, हाथसे खेतमें छीटते देख आप समझेंगे कि पैरा छीट रहा है। कच्चा पाखाना पड़ जानेपर कुछ दिनों खेतोंके रास्ते जाना मुश्किल हो जाता है। हमारे किसानोंसे वह चौगुना-पँचगुना फ़सल पैदा करते हैं। वहाँ भी बड़े-बड़े ज़मींदार हैं, सबसे बड़ा ज़मींदार तो जापानका सम्राट् है। किसानोंको अपने पसीनेकी कमाईका बहुतसा भाग इन निठल्लोंको दे देना पड़ता है, तो भी वहाँकी सर्कार किसानोंकी और तरहसे मदद करनेकी कोशिश करती है। कृषिविद्यालय वहाँ सर्कारी नौकर नहीं तैयार करते, बल्कि नये ढंगके किसान पैदा करते हैं। किसान खेतोंमें मशीनोंका भी इस्तेमाल करते हैं। खासकर दँवाईमें पैरसे और तेलके इंजनसे चलनेवाली मशीनोंको इस्तेमाल करते हैं। जब फ़सल हो जाती है, तो जापानी किसान निश्चिन्त जीवन बिताता है; लेकिन यदि फ़सल खराब हो गई, तो हालत बहुत बुरी हो जाती है। क्योंकि सालभरके खाने-कपड़ेके बाद बहुत कम घरोंमें कुछ बच रहता है।

जापानी किसान एक-दूसरेकी मददके फ़ायदेको पहिलेसे ही जानते थे। जापानी घर लकड़ी काग़ज़की दीवारोंपर फूसकी छतके सिवा और कुछ नहीं। मुमकिन है, सीमेंटके ज़मानेमें वह नये तरहके घर बनाते। जापानमें शायद ही कोई महीना जाता हो जिसमें भूकम्प न आता हो। बहुत सख्त भूकम्प कभी-कभी आते हैं। ईंट और पत्थरकी दीवारें तो इन भूकम्पोंके कर-स्पर्शसे ही लेट जाती हैं, फिर ऐसे मकान सिर्फ़ आदमियोंकेलिए क़ब्र बनानेका काम कर सकते हैं। लकड़ीके मकान भूकम्पकेलिए अच्छे सहायक हैं, इसमें शक नहीं, लेकिन उनमें आग भी बड़ी आसानीसे लगती हैं। खैरियत यही है, कि मकान एक-दूसरेसे दूर-दूरपर रहते हैं।

हमारे गाँवोंकी तरह अगर होता, तो गाँवका गाँव जल जाता। किसीका घर जल जानेपर नई फ़सल होनेतक गाँवभरके रसोईखाने उसकेलिए खुल जाते हैं। एक दिन हम जा रहे थे, देखा—दो खम्भोंपर चौड़ी लकड़ीकी पट्टी लगी हुई है, जिसपर हाथसे लिखकर बहुतसी काग़ज़की छोटी-छोटी चिटें साँटी हुई हैं। ब्योदोसानने बतलाया, कि उस घरमें आग लग गई थी। आग लग जानेपर गाँवके सभी आदमियों-को अपनी शक्तिके अनुसार मदद देना ज़रूरी है, और जला घर थोड़े ही दिनोंमें फिर खड़ा हो जाता है। खेत बँटने नहीं पाते, क्योंकि घरकी सारी सम्पत्तिका मालिक बड़ा लड़का होता है। नक़द रुपयेमेंसे माँ-बापने हाथ उठाकर कुछ दे दिया, या बड़े भाईने कुछ दया दिखलाई, तो छोटे भाईको कुछ मिल जायगा, नहीं तो उसको कुछ भी पानेका हक़ नहीं है। मैं एक दिन ब्योदोसानसे इस प्रथाकी निन्दा कर रहा था और वह उसका समर्थन कर रहे थे। मैंने कहा कि बड़े भाई ऐसा ही करेंगे। उन्होंने जवाब दिया—बड़े भाईकी ज़िम्मेदारी बहुत ज़्यादा है, उसे अपने छोटे भाइयों हीको नहीं देखना होता, बल्कि उस घरसे अलग होकर जितने घर बने हैं, सबकी इज्जतका ख्याल रखना होता है। पितरोंका श्राद्ध करना, उनकी समाधियोंकी पूजाकेलिए आना जिनमें उनके पितरोंकी राख रखी हुई है, हरेकका धर्म है; उस समय परिवार-ज्येष्ठको सबको खाना देना पड़ता है। मैंने कहा—इसके साथ तिब्बतकी तरह यदि सारे भाइयोंकी एक ही स्त्री होती, तो आदमी नये घरके बनाने और नई सम्पत्तिके पैदा करनेके तरद्दुदसे बँच जाता। जापानमें छोटे भाई जब खूब सयाने हो जाते हैं, कुछ कमा लेते हैं, तभी ब्याह करते हैं। लड़कियोंको भी शादीकेलिए रुपया जमा करना बहुत जरूरी है। वह तीन-तीन, चार-चार बरसकेलिए किसी कारखाने या धनी आदमीके घरमें नोकरानी बन जाती हैं, गरीब माता-पिता दो-दो तीन-तीन सौ रुपये पेशगी ले लेते हैं, फिर ऐसी लड़कियाँ उतने दिनोंकेलिए बिक सी जाती हैं।

स्त्रियोंकी अवस्थामें नवीन जापानने कोई सुधार नहीं किया है। विवाहसे पूर्व उसका काम है, शरीरतक बेचकर माँ-बापकी सेवा करना। नाचने-गानेका पेशा करनेवाली लड़कियाँ गैशा कही जाती हैं। ऐसे गैशाघर सभी शहरों और क़सबोंमें पाये जाते हैं, जिनमें १०-५ या अधिक लड़कियाँ रहती हैं। आप चाहें तो फ़ीस दें, और गैशाघरमें नाचना-गाना सुन आएँ, चाहें तो किसी लड़कीको अपने घरपर बुला सकते हैं। लड़कीकी फीस मालिक लेता है। लड़कियाँ ज्यादातर ऐसे माँ-बापकी होती हैं, जिन्होंने ग़रीबीके कारण गैशाघरके मालिकसे कुछ रुपये

लेकर उन्हे कुछेक दिनों केलिये सौंप दिया है। गैशाघरका मालिक खाना-कपड़ा और थोड़ासा हाथ-खर्च दे देता है। गाहक और भी इनाम देते हैं, लेकिन इसका परिणाम कितना बुरा होता है, इसका अनुमान आप खुद कर सकते हैं। माँ-बापके घरमें रहनेवाली लड़कियाँ भी घरकी ग़रीबीका बोझा हल्का करनेकेलिए पैसोंपर दूसरोंके घरोंमें नाचने-गाने जाया करती हैं, इसका भी परिणाम बुरा होता है। लेकिन कुमारी लड़कियोंके इस जीवनका विवाहके बाद कुछ भी ख्याल नहीं किया जाता। विवाहित तरुणी अपने पतिका पूरा विश्वासपात्र होती है। जापानमें लड़कोंकी तरह लड़कियोंकी भी आरम्भिक शिक्षा अनिवार्य है, लेकिन जापानी राष्ट्रकी पूरी चेष्टा होती है, स्त्री अपने पैरोंपर खड़ी न होने पाये। लड़कियोंके पाठ्यविषयमें गाना, नाचना, रसोई बनाना, चायको कलात्मक ढंगसे परोसना, फूल-पत्ते सजाना, सिलाई तथा कसीदा काढ़ना आदि-आदि विषय भरे हुए हैं। उनकी पढ़ाई हाई स्कूलतक खतम हो जाती है। तोक्योसे काफ़ी दूर सेन्दाई ही एक ऐसा विश्वविद्यालय है, जिसमें लड़कियाँ पढ़ सकती हैं, लेकिन संस्कृति, उद्योग-धन्धे और राजनीतिके केन्द्रोंसे बहुत दूर होनेके कारण बहुत कम लड़कियाँ वहाँ पढ़ने जाती हैं। सामन्तयुगकी नारी जिस अवस्थामें थी, आज भी जापानी स्त्री उसी दशामें है। बल्कि कल-कारखानोंमें अविवाहित लड़कियोंकी भारी पल्टन दस-दस, बारह-बारह घंटे काम करके अपने शरीरको ही नहीं चौपट करती, बल्कि जीवन भी उसका नष्ट हो जाता है।

एक दिन (३० जून) हम वोगिहाराके पास गये। जापानमें संस्कृतके यह सबसे बड़े पंडित हैं। ६८ बरसकी आयु है, लेकिन लेवी और पेलियोकी तरह यह भी रात-दिन विद्याव्यसनमें लगे रहते हैं। इनकी शिक्षा जर्मनीमें हुई थी, आजकल थैसो विश्वविद्यालयमें अध्यापक हैं। साथ ही यह एक मन्दिरके गृहस्थ महंत भी हैं। पहिले इनका मन्दिर शहरमें था। शहरकी भूमिका दाम बहुत बढ़ गया। ज़मीनको बेंच दिया गया और अब उन्होंने शहरसे बाहर ज़मीन खरीदकर इस सरल किन्तु सुन्दर मन्दिरको बनवाया। मन्दिरके आसपास बढ़िया बाग़ है, जो बाग़की अपेक्षा मनोहर वनसे ज्यादा मिलता-जुलता है। आज भोजन भी उनके यहाँ हुआ, और बड़ी देरतक बौद्धसाहित्यके बारेमें हमारी बात होती रही। उनके परिश्रमकी सराहना करनेपर उन्होंने कहा—मैं अड़सठ वर्षका हो चुका हूँ, समझता हूँ जो करना है, जल्दी कर लेना चाहिए। जब हम वहाँसे लौट रहे थे, तो क्योदोसानकी एक परिचिता और विद्यार्थिनी सकाई स्टेशनपर मिली। वह एक

मन्दिरके महंतकी लड़की थी, वह हमें अपने मन्दिरमें ले गई। उसके पिता और भाईने बड़ा स्वागत किया। मन्दिर छोटा था किन्तु निर्माण बड़ा ही सुरुचिपूर्ण था। लड़की मार्क्सवादी विचारोंकी थी, जबसे मार्क्सवादियोंपर सर्कारका प्रकोप हुआ, तबसे उसे अपनेको छिपाना पड़ा।

ग़रीब ग्रामीणका एक अच्छा उदाहरण था ब्योदोसानके घरके पासका किसान। पति-पत्नीके अतिरिक्त परिवारमें चार लड़के और छ लड़कियाँ थीं। बड़ा लड़का बापके साथ खेतमें काम करता था, दूसरा लड़का योकोहामामें टेकसी चलाता था, किसीने अपनी लड़कीसे शादी कराके उसकेलिए एक गाड़ी भी ख़रीदकर भाड़ेपर चलानेकेलिए दे दी है। तीसरा लड़का जब पन्द्रह वर्षका था, तभी एक फूलवाले किसानके हाथ ५०० येन्पर "बिक चुका है"। दो सौ रुपया उसने पेशगी दिया था, काम करते ५ वर्ष हो गये थे, एक वर्ष और काम करनेपर छुट्टी मिलेगी। एक लड़की ब्याही जा चुकी थी। दो लड़कियाँ नौ और दस येन् मासिकपर तोक्योमें किसीके घर काम करती थीं। वह सालमें दो बार घर आती थीं। बाक़ी बच्चे अभी छोटे थे। छोटा भाई होनेके कारण उसे बापकी सम्पत्तिमेंसे कुछ नहीं मिला। मेहनत-मजूरी करके किसी तरह उसने इस मकानको ख़रीदा। अब दूसरोंके खेतोंको अधियापर जोतकर गुज़ारा करता है।

जापानी लोगोंके बारेमें इतना ही कहूँगा, कि साधारण जापानी बड़े ही मधुर स्वभावके होते हैं। बाहर गये जापानी व्यापारियोंके झूठ और धोखेबाज़ीको देखकर शायद लोग दूसरी धारणा करें, लेकिन वह ग़लत होगी। जापानकी साधारण जनता बहुत ईमानदार है। उनमें स्नेह और प्रेम है, जो विदेशीकेलिए और भी बढ़ जाता है। किसी भी गाँवमें जानेपर हरेक आदमी मुसाफ़िरकी सेवा करनेकेलिए उत्सुक दिखाई देता है। कष्ट सहनकेलिए उनमें अद्भुत शक्ति है। घरमें प्रियसे प्रिय सम्बन्धी मर गया है, लेकिन आप उसके मुखकी मुस्कुराहट देखकर कभी समझ नहीं पायँगे, कि इसके दिलमें पीड़ाका तूफ़ान चल रहा है। अपने दुखसे दूसरेको दुखी करना वह पसन्द नहीं करता। लेकिन जापानी अपमानको नहीं सह सकता। मृत्युसे इतनी निर्भीक जातियाँ बहुत कम हैं। लेकिन यही सारी बातें जापानी शासकोंके बारेमें नहीं कही जा सकतीं। वह अपने स्वार्थकेलिए सब कुछ कर सकते हैं। वह साधारण जापानी जनताको यही सिखलाते हैं कि "देशकेलिए जो कुछ किया जाय, सब धर्म है" और देशसे उनका मतलब है अपना स्वार्थ। साधारण नागरिकों और धार्मिक नेताओंको मैंने बहुत मिलनसार देखा, लेकिन जिन लोगोंके हाथमें जापानी शासनकी

बागडोर है, वह धोखाधड़ी, चालबाज़ी और क्रूरतामें युरोपियन साम्राज्यवादियोंका भी कान काटते हैं। उन्होंने अपने ही देश-भाइयोंके साथ ऐसा बरताव किया है, आज भी पाँच, छ हज़ार जापानी अपने जनहितैषी विचारोंकेलिए जेलोंमें बन्द थे।

ब्योदोसान बहुत सीधे-सादे, व्यवहारशून्य किन्तु उदारविचारके पुरुष हैं। वह एक महंतके ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी हैं। मैं जापानी जीवनको और उसकी आर्थिक अवस्थाको बहुत नज़दीकसे देखना चाहता था, इसीलिए आमदनी-खर्च, वेतन-मजूरी सबकी छानबीन करता था। जान पड़ता है ब्योदोसानको ख्याल हो गया, कि मैं कोई ऐसी पुस्तक लिखूँगा, जिसमें जापानका रंग कुछ काला चित्रित होगा। हम नित्ताका स्कूल देखने गये थे। दोपहरके वक़्त काफ़ी गर्मी थी, लेकिन उस धूपमें भी बच्चे सैनिक क़वायद कर रहे थे। जापानी नेता सूर्यदेवीकी सन्तान होनेके कारण सारी दुनियाकी विजय करनेका स्वप्न देख रहे थे, उसी तरह जैसे हिटलर जर्मन जातिके शुद्ध (आर्य) होनेके कारण उसे ही एकमात्र विश्वके शासनका अधिकारी मानता था। जापानी शासक अभी मंचूरिया और कोरियाभरसे सन्तुष्ट नहीं थे। विश्व-विजयकेलिए खून और तलवारकी ज़रूरत होगी, इसलिए स्कूलके छोटे-छोटे लड़कोंसे ही सिपाही बनानेका काम शुरू होना जरुरी था। हमने स्कूलके लड़के-लड़कियोंकी पढ़ाई देखी। प्रधानाध्यापकने सभी बातें प्रेमसे बताईं। यहाँ छ सालकी पढ़ाई अनिवार्य है, लड़के-लड़कियाँ दोनोंकेलिए। फिर ४ साल मिडिलकी पढ़ाई और ३ साल हाई स्कूलकी। विश्वविद्यालयमें तीन वर्षकी पढ़ाई है, मेडिकल कालेजमें चार सालकी। सारे जापानमें आधे दर्जनसे अधिक औरतें डाक्टर नहीं हैं। स्कूलमें मेरे सवाल करते वक़्त एक बार ब्योदोसान नाराज़ हो गये। कहने लगे—मैं इसे नहीं बतलाऊँगा, इससे जापानकी बदनामी होगी। मैंने ठंडे दिलसे समझाया—दुनियामें कोई देश देवता नहीं है? कौनसा देश है, जहाँ दरिद्रता, मूर्खता और स्वार्थपरता न हो।

हम लोग एक दिन नित्तामें स्टेशनकी ओर जा रहे थे। मैं जापानके बारेमें अंग्रेज़ीमें जितनी पुस्तके मिलतीं, उनको पढ़ता रहता था। एक दिन कहीं पढ़ा कि वहाँ एक अछूतों जैसी जाति है। मैं ब्योदोसानसे पूछने लगा कि अमुक जाति अब है या नहीं। उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर कहा—अभी चुप रहिए। जब हम उन तीन-चार घरोंको पार कर आगे निकल गये, तो उन्होंने कहा—यह उसी जातिके घर हैं, यदि वह सुन लेते, तो बहुत बुरा होता, सर्कारकी तरफ़से क़ानून है, यदि कोई इस जातिसे भेद करे, तो उसे दंड दिया जायगा। शहरोंमें तो ये लोग शादी-

ब्याह करके एक हो गये हैं, लेकिन गाँवोंमें अभी लोगोंके दिलसे यह भेदभाव नहीं गया है, कमसे कम ब्याह-शादीमें।

११ जुलाईको ५ बजकर २५ मिनटपर शामको नित्तामें भूकम्प आया, क़रीब आध मिनट रहा होगा। सारा मकान हिल रहा था। बिजलीकी बत्तियाँ खूब हिल रही थीं। ७ बजे रेडियोमें सुना कि सीजूओका नगरको काफ़ी नुक़सान पहुँचा। वहाँ बहुतसे मकान गिरे। भूकम्प होते ही वहाँके लोग पहिला काम करते हैं, आगको दबा देना।

योकोहामाको मैंने कई बार देखा और भी आसपासके स्थानोंको देख लिया था। यात्राओंमें मुझे यही पसन्द है कि गये रास्ते न लौटा जाय। मैं सोच रहा था, सोवियतके रास्ते लौटें तो अच्छा हो, लेकिन मेरे पास पैसा न था। मैंने अमेरिकन मासिक पत्रिका "एसिया"में तिब्बतकी चित्रकलापर एक लेख लिखा। उसका ८० डालर (प्रायः ३०० रुपये)का चेक आ गया। मुझे प्रसन्नता हुई कि मैं अब सोवियतके रास्ते लौट सकता हूँ। लेकिन अभी सोवियतका बीज़ा लेना था। सोवियत-यात्रा-एजेंसीसे बातचीत की। साथ ही मंचूरिया (मंचुकुओ)से भी बीज़ा लेना था। मंचूरियाके आफ़िसमें गया, तो उन्होंने कहा हमारे देशका नाम आपके पासपोर्टपर नहीं है, पहले ब्रिटिश-कौन्सलके पास जाकर हमारे देशका नाम लिखवा लाइए, तब हम बीज़ा देंगे। ब्रिटिश-कौन्सलने कहा कि हमारी सर्कारने मंचूरियाकी सर्कारको स्वीकार नहीं किया, इसलिए मंचूरिया तो नहीं लिख सकते, लेकिन सारे सुदूरपूर्व देशोंकेलिए लिख देते हैं। खैर, मंचूरियाके आफ़िसने भी पासपोर्टपर बीज़ा लिख दिया।

२१ जुलाईको नित्तासे मैं तोक्यो लौट आया। सबसे ज़्यादा प्रयत्न मंचूरिया और सोवियत्के बीज़ाकेलिए करना पड़ा। खैर, सब काम खतम हो गया। अब जापानके कुछ और स्थानोंको देखना चाहता था। ब्योदोसान और उनके परिवारने जो स्नेह दिखाया था, उससे शाब्दिक कृतज्ञता प्रकट करके मैं उऋण नहीं हो सकता। नित्ता, वहाँके गाँववाले भद्र नरनारी ब्योदोसान उनके वृद्ध माता-पिता और भिक्षुणी-की स्मृति मेरेलिए सदा मधुर रहेगी। मित्र सकाकिवाराने एक हफ़्ता मेरे साथ घूमनेकेलिए दिया था। हम दोनों २७ तारीखकी आधी रातको तोक्योसे रवाना हुए। अगले दिन ७ बजे सबेरे कोदा स्टेशनपर उतरे। सामान बाइसिकलपर रख दिया। जापानी किसान बाइसिकिलका अच्छा उपयोग करते हैं। बाइसिकलके पीछे एक-दो पहियेकी रबड़ टायरवाली गाड़ी बाँध देते हैं और दो मन बोझा दौड़ाये लिये

चलते हैं। सकाकिबाराको इचीजो-विहारमें व्याख्यान देना था। रास्ता दो मील था। हम लोग पैदल चले। चारों ओर खेतमें हाथ-सवा हाथ लम्बे धान खड़े थे। जहाँ-तहाँ ऊँची-नीची ज़मीन और हरी-भरी पहाड़ियाँ दिखाई देती थीं। ऊँचेके खेतोंमें तूतके पेड़ लगे हुए थे। यह रेशमके कीड़ोंकेलिए थे। सकाकिबाराने तो शाम और रातको ३ बार व्याख्यान दिया। एक बार मुझे भी बोलना पड़ा। अगले दिन उन्होंने ४ व्याख्यान दिये। मुझे आश्चर्य होता था कि लोग इतने व्याख्यानोंको धैर्यसे सुनते कैसे हैं।

३१ जुलाईको हम क्योतो पहुँचे। क्योतो एक बार हम देख चुके थे, लेकिन उस वक़्त जल्दी-जल्दीमें थे। अबकी बार ३१ जुलाईसे ३ अगस्ततक वहाँ ही रहना पड़ा। पुराने राजमहलोंको देखा। रूसविजेता नोगीकी समाधिको भी देखा। दो तारीख़को नारा भी हो आये। मूर्त्तियों और चित्रोंका म्यूज़ियममें एक अच्छा संग्रह है। दाईबुत्सु (महाबुद्ध)की धातुकी विशाल प्रतिमाका दर्शन किया। वहाँसे तोशो दाईजी गये। यह एक पुराना विहार है, जिसमें दश भिक्षु रहते हैं। स्थविर कितागावाकी आयु बहत्तर सालकी है। जापानके बौद्धभिक्षुओंमें विनय-नियमोंपर चलनेवाला यही एक भिक्षु-सम्प्रदाय है। इनके ४०० मन्दिर सारे देशमें फैले हुए हैं। महास्थविरने अपने ही जैसे विनय-सम्प्रदायके एक भिक्षु और साथ ही बुद्धकी जन्मभूमिके निवासीको देखकर अपार स्नेह प्रकट किया। उन्होंने वहाँ रहनेका बहुत आग्रह किया, लेकिन मैं तो अब जापान छोड़नेवाला था। वह अच्छे विद्वान हैं। बौद्धगृहस्थ उनका बड़ा सम्मान करते हैं। वह अपनी कठिनाइयोंके बारेमें कह रहे थे—क्या करें, शिक्षा-दीक्षा देकर लड़कोंको तैयार करते हैं, जवानीका ज़ोर बढ़ता है, फिर वह ब्याह करने चले जाते हैं। वस्तुतः जापानमें गृहत्यागी भिक्षु रहना कठिन है, क्योंकि स्त्री-पुरुषोंका संसर्ग खुला है। इस मन्दिरमें बहुतसी कलापूर्ण पुरानी मूर्त्तियाँ हैं। जापानमें ऐसी वस्तुओंको राष्ट्रधन बना लिया जाता है। यद्यपि वह मूर्त्ति उसी जगह रहने दी जाती है, किन्तु उसकी रक्षाकी ज़िम्मेवारी सर्कार अपने ऊपर समझती है। इस विहारमें ऐसे राष्ट्रधन बहुत हैं। हमने नारामें केगोन् (अवतंसक) सम्प्रदायके विहारको देखा, यहाँ रित्सु (विनय) सम्प्रदायके विहारको और हाशीमोतोमें होस्सो (विज्ञानवाद) सम्प्रदायके भिक्षुओंको। यही तीनों जापानके सबसे पुराने सम्प्रदाय हैं। उसी दिन हम क्योतो लौट आये।

अगले दिन एक बौद्धसभाकी ओरसे जलपानका इन्तिज़ाम हुआ था। फिर ४ अगस्तको क्योज़ू विहारके प्रधान और जापानके अच्छे विद्वान ओनिशीसे मिले।

जापानके बौद्धधर्माचार्योंमें यह सबसे अधिक भद्र पुरुष मालूम हुए। यह बड़े विद्वान और सम्मानित पुरुष हैं। उन्होंने कहा, आप पढ़नेकेलिए भेजिए मैं पाँच भारतीय बच्चोंका सारा भार अपने ऊपर लेनेको तैयार हूँ। यह विहार क्योतोके पासकी पहाड़ीपर एक बड़े ही रमणीय स्थानमें बना हुआ है।

कोयासान्—डेढ़ बजे रेलसे हम ओसाकाकेलिए रवाना हुए। स्टेशनपर विश्वविद्यालयके प्रोफ़ेसरकी तरुण-स्त्री मिलनेकेलिए आईं। गर्मी बहुत पड़ रही थी, उन्होंने पंखा देना चाहा, किन्तु जापानमें स्त्रीका पंखा पुरुष इस्तेमाल नहीं कर सकता, इसलिए उसे लेनेकी जरूरत नहीं पड़ी। टेक्सीसे हमलोग दूसरे स्टेशनपर गए। यहाँसे सकाकिबाराने बिदाई ली। सकाकिबारासे परिचय प्राप्त करनेका अवसर मुझे बर्लिनमें मिला था, लेकिन वहाँ उतनी घनिष्टता नहीं हो पाई थी, और अब गोसाईंजीकी चौपाई "बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं" याद आ रही थी। कुछ दूरतक साधारण गाड़ीमें जाना पड़ा। फिर तारद्वारा पहाड़पर चढ़नेवाली बिजलीकी गाड़ी मिली। अब मैं बिल्कुल अकेला था। लेकिन तीन महीने रह जानेसे सौ-डेढ़सौ जापानी शब्द तो मुझे याद हो गए थे, इसलिए कोई दिक्कत नहीं हुई। बिजलीगाड़ीसे उतरकर मोटर-बस पकड़ी। कोयाशान विहारों (मठों) का नगर है। फाटक परके भद्रपुरुषने एक पथप्रदर्शक दे दिया और वह मुझे मीजूहारा सानके पास पहुँचा आया। मीजूहारा सानको पहिलेहीसे मेरे बारेमें चिट्ठी मिल गई थी। वह पीतचीवरधारी भिक्षु थे। बड़े प्रेमसे मिले। तुरन्त स्नानकेलिए गरम पानीका प्रबंध हुआ। चारों ओर सुन्दरता और स्वच्छता दिखाई पड़ती थी। कोयाशान बिल्कुल हिमालयका टुकड़ा मालूम होता है। यद्यपि यह तीन हज़ार फ़ीट ही ऊँचा है, लेकिन जापानमें तो समुद्रके तटपर तीन-तीन फ़ीट बर्फ़ जम जाती है। सारा पहाड़ ऊँचे-ऊँचे देवदारोंसे ढँका हुआ है। यहाँकी संस्थाएँ सभी भिक्षुओंके हाथोंमें हैं। हाईस्कूलके चारसौ विद्यार्थियोंमें तीनसौ भिक्षु हैं। कालेजके दोसौ साठ विद्यार्थियोंमें पाँच-सात छोड़ सभी भिक्षु हैं। अगले दिन हमने यहाँका म्यूज़ियम देखा। चित्रों और मूर्तियोंका अच्छा संग्रह है। कालेजमें संस्कृतके प्रोफ़ेसर फूचीदा और उयेदा मिले। पुस्तकालयमें ७० हज़ार ग्रन्थ हैं। कोयाशान्में जापानके महान् धर्माचार्य कोबो थइशीका निवास स्थान रहा, यहीं उनकी समाधि है। ११,१२ शताब्दियोंसे यह स्थान जापानी बौद्धोंकेलिए एक तीर्थस्थानसा बन गया है। मैं यहाँके बीसियों विहारोंको घूम-घूमकर देखता रहा। दाईजोइन विहारमें तीन मंगोल भिक्षु मिले। कोयाशानका प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम है। इसका अनुमान वही कर सकता है, जिसने कनौर (बुशहर राज्य) को देवदार वन-

स्थली को देखा है, अथवा हिमालयके किसी और देवदार-आच्छादित पर्वतस्थलीको। मीजूहारा सान्को इसका बहुत अफ़सोस रहा, कि मैं दो रातसे ज़्यादा वहाँ ठहर नहीं सका। मैं भी समझता था कि जापानकेलिए मैंने बहुत कम समय दिया। खासकर तोशोदाइजी, क्यो मीजू, और कोयाशान्को तो दिन नहीं, महीने देने चाहिए। इन जगहोंमें मुझे मालूम नहीं होता था, कि मैं किसी दूसरे देशमें आ गया हूँ।

अगले दिन ७ बजे सबेरे मुझे विदाई लेनी पड़ी। प्रोफ़ेसर फूचीदा स्टेशनतक पहुँचाने आए। फिर उसी रास्ते ओसाका स्टेशन पहुँचा और ट्रेन पकड़कर कोबेमें आनन्दमोहन सहायके पास पहुँच गया। आनन्दमोहनने इधर-उधर सूचना दे रखी थी, पत्रोंके संवाद-दाता और फ़ोटोग्राफ़र पहुँच गए।

७, ८ अगस्तको कोबेहीमें रहना पड़ा। अभी भी रुपएकी कुछ कमी मालूम होती थी, इसलिए रूस जाना संदिग्ध था। आनन्दजीके प्रयत्नसे भारतसे ३ सौ ६७ येनका चेक मिल गया। अब रूस जाना निश्चित हो गया। लेकिन साथ ही मध्यचीन देखनेकी भी अब संभावना नहीं रह गई।

९ तारीख़को १० बजे आनन्दमोहनसे बिदाई ली। रेलपर बैठा। ८ बजे शामको शीमोनोसकी पहुँचा। अब मैं कोरिया जा रहा था। १० बजे जहाज़पर पहुँच गया, लेकिन समुद्रमें तूफ़ानका डर था, इसलिए जहाज़ वहीं खड़ा रहा। मैं तीसरे दर्जेका यात्री था, लेकिन सफ़ाईकेलिए क्या कहना। बैठनेकेलिये बहुत साफ़-शीतल-पाटियाँ बिछी थीं, हवा देनेकेलिए नलियाँ लगी हुई थीं। पाखाना साफ़ था। मुँह धोनेकेलिए पीतलके बरतनोंपर पचीसों नलियाँ लगी थीं और सामने दर्पण टँगे थे। भोजनका प्रबन्ध भी उत्तम था। ३० सेन (पौने चार आने)में तरकारी, मछली, अचार आदिके साथ भातका एक लकड़ीका बक्स मिलता था। हिन्दुस्तानमें तो ऐसे बक्स हीका दो आना लग जायगा। हाँ, भीड़ ज़्यादा थी। तूफ़ानके डरके मारे उस दिन जहाज़ नहीं छूट सका। अगले दिन १० अगस्तको भी वही हालत हुई। इधर जहाज़ जाने रुक गये थे, और उधर रेल मुसाफ़िरोंको ढो-ढोकर ला रही थी। हमें दो-दो बार जहाज़ छोड़कर नीचे उतरना पड़ा। ९ बजे रातको जब जहाज छोड़ा गया तो, भीड़में कुम्भका मेला याद आ रहा था। खैर, किसी तरह १० बजे रातको जहाज़ कोरियाकेलिए रवाना हुआ।

२०

कोरियामें

९ घंटा चलनेके बाद हमारा जहाज़ शीमोनोसकीसे फूसन (कोरिया) पहुँचा। छोटे-छोटे पहाड़ और उनपर जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे देवदारके दरख़्त थे। खूसन १ लाख १३ हज़ार (४१ हज़ार जापानी) आबादीका एक अच्छा शहर है। प्राकृतिक दृश्य जापानसा ही है, किन्तु यहाँ बड़े वृक्ष कम हैं, जापानकी रेलवे आई० आर० और ओ० टी० आर०की लाइनोंके बीचकी है, लेकिन यहाँ जो रेलवे लाइन है वह चौड़ाईमें ई० आई० ए०के बराबर है। हमारी ट्रेन तैयार थी, उसपर गद्दा भी था। हमारे डिब्बेमें दो कोरियन विद्यार्थी भी चल रहे थे। सवा तीन बजे कोरियाकी राजधानी केयिजोमें पहुँच गये। केयिजोकी आबादी ३ लाख, १५ हज़ार है, जिसमें ७८ हज़ार जापानी और ४३०० चीनी भी हैं। ढूँढ़ते-ढाँढ़ते मैं हीगाशी विहारमें पहुँच गया। वहाँके धर्माचार्यको चिट्ठी मिल गई थी। वह कोङ्गोशान् (वज्र-पर्वत)की यात्राकेलिए तैयार थे। उन्होंने मुझे भी चलनेकेलिए कहा।

अगले दिन (१२ अगस्त)को ५ बजे सबेरे ही हम सकुओजी स्टेशनपर पहुँचे। सबेरा होनेसे मोटर नहीं मिली और हमें पैदल चलना पड़ा। रास्तेमें एक कोरियन गाँव मिला। अभी पर्वत आगे था, लेकिन यहाँ भी भूमि समतल नहीं थी। कोरियन किसानोंके घर एकतल्ले होते हैं और छत फूसकी रहती है, किवाड़ दुहरे रहते हैं, और उनमें काग़ज़ साटा रहता है। हम एक जापानी होटलमें ठहरे। १० बजे मोटरसे मन्दिरकी ओर चले, लेकिन पहले फाटकतक ही वह जा सकती थी। यहाँ देवदारके बड़े-बड़े वृक्ष थे। पाँच, छ देवालय हैं, जिनमें भेसज्जगुरु (बुद्ध), साक्यमुनि और अमिताभकी मूर्त्तियाँ थीं। कलाकी दृष्टिसे उनमें कुछ नहीं था। एक मन्दिरमें ५०० अरहतोंकी पत्थरकी मूर्त्तियाँ हैं। कहते हैं, एक अरहत नाराज़ हो गया और चला गया तबसे उसकी जगह खाली है, इन मूर्त्तियोंमें भी कोई कला नहीं है। यह मन्दिर १४वीं सदीमें बना था। हमारे यहाँ भी ११वीं शताब्दीसे कलापर शनिश्चरकी दृष्टि पड़ जाती है। यहाँके मठका उपनायक एक तरुण कोरियन भिक्षु था, जिसने जापानमें शिक्षा पाई है। जापानी बौद्धविहारोंकी कला और स्वच्छताके सामने सकुओजीके इस विहारकी कोई गिनती नहीं।

स्टेशन लौटकर हमने दो बजेकी गाड़ी पकड़ी और पूर्वी समुद्रतटपर गन्सेन्के

बन्दरगाहपर पहुँच गये थे। यहाँ भी हीगाशी होङ्गन्जी सम्प्रदायके मन्दिरमें ठहरे। मालूम हुआ कि ब्लादीवोस्तोक् (सोवियत्) से बराबर जहाज़ यहाँ आया करते हैं। सोवियत सीमा भी यहाँसे दूर नहीं।

कोङ्गोशान्—अगले दिन (१३ अगस्त) हम सबेरे जलपानके बाद कोङ्गोशान-केलिए रवाना हुए। अब हम कोरियाके दीहातमेंसे गुज़र रहे थे। धान नहीं दिखाई पड़ा, नहीं तो वहाँ सँवाँ भी थे, बाजरा भी था, मक्की भी थी। फ़सलको मेंड़के ऊपर बोया गया था, जिससे मालूम होता था, कि खेतीके नये तरीक़ोंको लोगोंने अपनाया है। रास्तेमें बहुतसी सुरंगें पार करनी पड़ी, आखिर कोङ्गोशान् बारह हज़ार पर्वतशिखरोंका प्रदेश है। १० बजेके क़रीब हम चूसेन् स्टेशनपर पहुँचे। मोटरबस तैयार थी। होटलका एजेन्ट भी मौजूद था। १ घंटे बाद हम जापानी होटलमें पहुँच गये। इस स्थानको जापानी भाषामें ओसेइरी कहते हैं। यहाँ गरम पानीके चश्मे हैं। जापानी स्नानके बहुत शौक़ीन हैं, फिर वह हमारे गरम चश्मोंकी तरह बेकार थोड़े ही जाने देंगे? यहाँ जापानियोंने कई होटल क़ायम किये हैं। होटलमें जहाँ सस्ता रहने-खानेका इन्तिज़ाम है, वहाँ पाइपसे जलकुंड भी भरे हुए हैं। लोग वहाँ बैठकर नहाते हैं। मैं डर रहा था कि कहीं नंगी स्त्रियोंके साथ नंगा न नहाना पड़े। लेकिन उस वक़्त मैदान ख़ाली था। स्नानके बाद भोजन किया, फिर दो येन् (डेढ़ रुपया) पर टेकसी करके तीन मील दूर सीङ्केइजी (कोरियन नाम छिनगेना) विहार देखने गये। यह विहार चौथी-पाँचवीं सदीमें स्थापित हुआ था। स्थान निर्वाचित करनेमें भिक्षुओंने कमाल किया था। ३ तरफ़ देवदारोंसे आच्छादित पर्वत हैं, जिनके ३, ४ उत्तुंग शिखर दर्शककी दृष्टिको अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहते। यहाँकी सारी इमारतें नई हैं, सिर्फ़ चीनी ढंगका एक पाषाण स्तूप ही पुराना है। विहारके पास अपने निर्वाहकेलिए जंगल और खेत हैं। २० भिक्षु हैं, जो धर्मप्रचारकेलिए कोई उत्सुकता नहीं रखते। एक प्रारम्भिक पाठशाला है। वैसे विहारकी अवस्था अच्छी है, नायक स्थविरने रहनेकेलिए बहुत आग्रह किया, लेकिन अभी तो हमको ४, ५ मील और आगे जाना था। मुझे देवदारोंवाला हिमालय याद आ रहा था। लौट आनेपर कोरियन भोजन चखनेका मौक़ा मिला। मिर्च नहीं थी, मैंने समझा कि जापानकी तरह यहाँ भी मिर्च नहीं खाई जाती, पर पता लगा कि मेरे साथी श्रीकुरिताके ख्यालसे ऐसा हुआ था। चिराग़ जलते-जलते हम अपने होटलमें लौट आये।

अगले दिन (१४ अगस्त) मैं साढ़े सात बजे मोटरसे रवाना हुआ। आज

कोरियाके एक बहुत बड़े बिहार यूतेनजीको देखना था। कोतेई एक अच्छा बाज़ार है, यहाँ कोरियनों और जापानियोंकी दूकानें हैं, आगे पैदलका रास्ता था, जिसकेलिए एक आदमीका इन्तिज़ाम कर दिया गया था। साढ़े आठ बजेसे साढ़े तीन घंटा चलनेके बाद, हम पहाड़की सबसे ऊँची जगह पहुँचे और सवा तीन घंटे बाद यूतेनजी विहारमें पहुँच गये। यहाँ एक सौसे ऊपर भिक्षु रहते हैं। एक पाठशाला है, जिसमें विद्यार्थी पढ़ते हैं। यह विहार भी ४थी सदी में बना था, किन्तु उस वक़्तका एक छोटासा नौतल्ला पाषाणस्तूप बचा रह गया है। चार सौ वर्ष पुराना एक विशाल घंटा है। पुस्तकालयमें ७०० वर्षतककी पुरानी पुस्तकें हैं। स्थान देवदारोंसे ढँके पर्वतोंके बीचमें है, इसलिए प्राकृतिक सौन्दर्यके बारेमें कुछ कहनेकी ज़रूरत नहीं। कोरियामें किसी भारतीय भिक्षुके आनेका अवसर सात-आठ सौ बरससे इधर तो नहीं हुआ होगा। उसी दिन लौटनेकी बात सुनकर वहाँके भिक्षुओंको बड़ा अफ़सोस हुआ। वस्तुतः मुझे भी फ़ाशियान और स्वेन्-चङ्की तरह अपने साथ समय काफ़ी लेकर चलना चाहिए था, लेकिन तब मैं अभी भी कहीं उधर ही घूमता रहता। शामको साढ़े सात बजे फिर मैं अपने होटलमें लौट आया।

अब अगले दिन हमें कोरियाके सबसे ऊँचे पर्वत विर्होको देखना था। हमारे साथी अब लौटनेवाले थे, लेकिन उन्होंने तीन जापानी अफ़सरोंसे मेरा परिचय करा दिया, जिनमेंसे एक कोरियाकी रेलवे लाइनोंके बड़े इंजीनियर थे। हमें कुछ दूर मोटरसे जाना पड़ा, फिर पैदल चलके डाँड़ा पार किया, उतराई थोड़ी उतरके टेकसी मिली। ४० सेन (५ आना) देकर होतेनतक गये। फिर वहाँसे पैदल। रास्तेमें सँवाँ, मकईके खेत मिले। सर्वांग सफ़ेद कपड़े पहिने कोरियन स्त्री-पुरुष अपने काममें लगे थे। मकान वही छोटे-छोटे छप्परवाले। टेकसी छोड़नेके स्थानसे ६ मील जानेपर होटल मिला। आरम्भमें चढ़ाई साधारण थी, फिर कठिन होती गई। पर्वतोंके आकार नाना प्रकारके थे। कोई नागके आकारका, कोई घोड़ेके आकारका। जल-मार्ग भी नाग, त्रिपुंड्री आदि आकारके थे। शिलाओंपर जापानी कम्पनियोंने मोटे-मोटे अक्षरोंमें अपने विज्ञापन खुदवा डाले थे। आख़िरी तीन मीलका दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। दर्शनीय जलप्रपात, विचित्र शिला और शिखर, घनी वृक्षावली, जिसमें नीचेकी ओर देवदार और ऊपरी भागपर भोजपत्र थे। ओसेइरीसे होटलवालेने भोजन साथ कर दिया था, रास्तेमें हमने वहाँ खाया। उसने दो दिनका खाने-रहने, स्नान आदिका ८ येन् (६ रुपया) लिया था, जो कि बहुत

कम था। हम लोग कुमे होटलमें ठहरे। कुमे कोरियन रेलवेके प्रधान अफ़सर थे, उन्हींकी स्मृतिमें यह होटल खोला गया। सादगी और सफ़ाई जापानी होटलोंकी तरह है। बिछौना-ओढ़ना होटल देता है। कोरियाके सर्वोच्च शिखरसे यह एक मीलपर है। सर्दी खूब थी, लेकिन यात्रियोंके आरामका पूरा इन्तिज़ाम था। रेडियो भी लगा हुआ था।

अगले दिन (१६ अगस्त) ८ बजे हम बिरहो (वैरोचन) शिखरपर पहुँचे। उस दिन बादल था, इसलिए दूरतक हम नहीं देख सके, आसपासके हरे-भरे पहाड़ दिखाई पड़ते थे। प्रस्थान करते बहुत उतरकर पर्वतमें उत्कीर्ण एक बुद्धमूर्त्ति देखी, फिर मकाइन (महायान्) बिहार आया। यहाँ ३० भिक्षु थे। बिहार नया, किन्तु अच्छी अवस्थामें था। रास्तेमें कई जगह पर्वतगात्रमें उत्कीर्ण बुद्धमूर्त्तियाँ और मठ मिले। विहारोंकी अवस्था अच्छी थी, और जापानी बौद्धभिक्षु सहयोग देते थे। एक बजे चोअनजी विहारमें गये। यह बड़ा विहार है, जिसमें कई देवालय थे, कार्य्यालय भी बहुत साफ़-सुथरा था। थोड़ा विश्राम किया। आजके तीनों साथी, डाक्टर, इंजीनियर और भिक्षु गोतो स्टेशनतक मुझे पहुँचाने आये। जापानकी तरह यहाँ भी हरेक चीजें सस्ती थीं।

केइजो—(सियोल)—साढ़े तीन बजेकी गाड़ी मिली। ५ येन २२ सेन (प्रायः ४ रुपया) देकर केइजोका टिकट लिया। साढ़े तीन घंटे बिजलीकी रेलसे गये, फिर ढाई-तीन घंटा साधारण रेलपर चलनेके बाद केइजो नगरपर पहुँचे। बिहारके धर्माचार्य स्टेशनपर पहुँचे हुए थे। बाजारमें एकाध आदमियोंसे मिलते उनके स्थानपर पहुँच गये। थकावटके मारे देह चूर-चूर थी।

मेरे मित्रोंने जापानसे कई परिचितोंको पत्र लिख दिया था। चोजिया डिपार्टमेंट स्टोर (महादूकान)के स्वामीको क्योतोके धर्माचार्य ओनीशीका पत्र मिला और वह अपने घर आनेकी मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। इनकी महादूकान कई हज़ार तरहकी चीज़ोंको बेचती थी, और कई तल्लेके मकानमें सैकड़ों स्त्री-पुरुष काममें लगे रहते थे। उन्होंने अंग्रेज़ी जाननेवाले कोरियन किम महाशयको मेरे साथ पथप्रदर्शक कर दिया। किम महाशय कई सालतक अमेरिकामें रहे। वह अंग्रेज़ीमें भी कविता करते थे, किन्तु मेरी उसमें दिलचस्पी न थी। उन्होंने छोसन (कोरिया)की सरकारके सचिवालयको दिखलाया। कोरियन और जापानियोंका आपसमें बर्त्ताव बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियोंका। इतना फ़रक़ जरूर है, कि जापानी कोरियन दामादका स्वागत करते हैं, लेकिन कोरियन इसे शंकाकी दृष्टिसे देखते

हैं, उन्हें डर लगता है कि ऐसा करनेसे चन्द लाख कोरियन ६ करोड़ जापानियोंमें हज़म हो जायेंगे। खैर, मेरे दोस्त और सहायक यहाँ बड़े-बड़े जापानी थे। प्रोफ़ेसर लोग गर्मियोंकी छुट्टियोंमें बाहर गये हुए थे, इसलिए उनसे मिलनेकी सम्भावना नहीं थी। पुरोहित और व्यापारी हर तरहसे मेरी मदद करने को तैयार थे।

सचिवालयमें मुझे एक खास पथप्रदर्शक मिला, जिसने घूम-घूमकर आफ़िसों, वाइसरायके सभाभवन, म्यूज़ियम आदिको दिखलाया। म्यूज़ियममें कितनी ही सुन्दर बौद्धमूर्त्तियाँ थीं, जिनसे मालूम होता था, कि कोरियनकला किसी समय बहुत उन्नत थी। कोरियन राजाके सिंहासन-भवनको भी देखा। कोरियाके राजवंशका जापानने उच्छेद नहीं किया। उसे राजके अधिकारसे वंचित कर दिया और साथ ही जापानी सम्राट्के वंशमें शादी-ब्याह कराके उसे कोरियन नहीं रहने दिया। जापानी सिंहासन-दरबार किस तरहका है, उसे न मैंने देखा, न देखनेकी इच्छा ही थी। सूर्यदेवीके पुत्र होनेसे जापानका सम्राट् मर्त्य नहीं, देवता है। देवताकेलिए आदमी जितनी बेवक़ूफ़ियाँ करता है, सम्राट्भक्त सीधी-सादी जापानी प्रजाको वह सब करना पड़ता था। जापानके सम्राट्का महल कावा-काशी है, उधर पैर करके नहीं सोना चाहिए। सम्राट्की छायाके सामने भी साष्टांग दंडवत करनी चाहिए। उसका व्यक्तिगत नाम नहीं लेना चाहिए इत्यादि-इत्यादि। जब बीसवीं सदीके मध्यमें प्रजाको इस तरह नाटक करना पड़ता है, तो कोरियनदर्बार तो पुराने युगका अवशेष था। उसके राजा यदि दो अमात्योंके कन्धेके सहारे उतरें, और अलग-अलग पाषाणफलकोंके पास अपने दर्जेके अनुसार लोग घुटने टेककर बैठे रहें, तो इसकेलिए आश्चर्य करनेकी ज़रूरत नहीं। वाइसरायके सभाभवनमें खूब सजावट थी। सामने जापान सम्राट्का बड़ा चित्र टँगा था। यहीं कोरियाका राजसिंहासन पड़ा था। पुराने राजमहल भी श्रीहीन थे। शहर दिखलाते हुए किम महाशय मुझे अपने निवासस्थान पर ले गये। लोग छोटी-छोटी कोठरियोंमें रहते थे। किम महाशय २७ येन (प्रायः २० रुपया) मासिक देते थे, जिसमें उन्हें रहनेकेलिए कोठरी और खाना भी मिलता था।

मेरी बातचीतसे किमको मालूम हो गया, कि मैं कोरियाकी स्वतन्त्रताका पक्षपाती हूँ। उन्होंने कोरियन भोजन खिलाया, जिसमें भात, तरकारी, मछली, मांस और अचार थे। यहाँवाले मिर्च-मसालेको इस्तेमाल करते हैं। भोजन हिन्दुस्तानी जीभके ज्यादा अनुकूल मालूम हुआ। सवा ८ बजे वह एक कोरियन नाटक दिखलाने ले गये। इसमें मंचूरियाके चीनी जरनलोंकी बेईमानी दिखाई गई थी। कोरि-

यनसंगीतमें जापानी संगीतकी तरह ही यूरोपियन प्रभाव है। मुझे कई और कोरियन जवानोंसे बात करनेका मौक़ा मिला। यद्यपि जापानके वर्षोंके क्रूरदमनके कारण, वह खुलकर अपने भावोंको प्रकट नहीं करना चाहते थे, लेकिन मालूम होता था कि कोरियन अपने देशको आज़ाद देखना चाहते हैं। जापानी पुरुष बेरोक-टोक यूरोपियन पोशाक पहनते हैं, किन्तु कोरियन वैसी पोशाक पहनकर जापानी कहलानेकेलिए तैयार नहीं। वह अपने लम्बे चोगा जैसी पोशाकको पहिननेमें अभिमान अनुभव करते हैं।

अगले दिन (१८ अगस्त) दिनभर यहीं रहना पड़ा। ४ बजे बौद्धक्लबमें मुझे चायपार्टी दी गई, वहाँ कई जापानी व्यापारी और धर्माचार्य्य मौजूद थे। सभी बौद्ध होनेके कारण मेरे साथ आत्मीयता प्रकट कर रहे थे। उनके व्यवहारमें कोई बनावट नहीं थी। रातको सवा ८ बजे कई मित्र मुझे रेलपर पहुँचाने आये, उनका आग्रह था कि मैं भारतसे कुछ बौद्धभिक्षुओंको यहाँ भेजूँ। ट्रेन छूटी। मैं कुछ लिखना चाहता था, लेकिन गाड़ी बहुत हिल रही थी।

२१

मंचूरियामें (१९३५ ई०)

१९ अगस्तको सुबह मैंने कोरियाकी सीमा पारकर मंचूरियामें प्रवेश किया। ७ बजे ट्रेन अन्तुङ् पहुँची। कस्टमवालोंने चीज़ोंकी देखभाल की। गाड़ी फिर चली, भूमि अधिकतर पहाड़ी थी, लेकिन चारों ओर खेत ही खेत दिखाई पड़ रहे थे। खेतोंमें मक्का, बाजरा जैसे मेरे परिचित पौधे खड़े थे। सेम या उड़दके पत्तोंवाली सोया भी लगी हुई थी। वर्षा पड़ रही थी। सभी स्टेशनोंपर मोर्चाबन्दी और जापानी सैनिक दिखाई पड़ते थे, जान पड़ता था, जापानी अब भी निश्चिन्त नहीं हैं। लोग अधिकांशतः चीनी थे। बाल कटाये, लम्बा अँगरखा पहिने चीनी स्त्रियाँ घूम रही थीं। मुझे यह पोशाक बहुत भद्दी मालूम हुई, ख़ासकर स्त्रियोंके बित्ते-बित्ते भरके कटे बाल, जो कि लोहेके तारकी तरह सीधे पड़े दिखलाई पड़ते थे। घड़ी हमें एक घंटे पीछे करनी पड़ी, क्योंकि हम काफ़ी दूर पच्छिम चले आये थे। डेढ़ बजे मुक्दन् पहुँचे।

मुक्दन्—स्टेशनपर हिगाशी मन्दिरके धर्माचार्य आये थे, उनके साथ उनके विहारमें गये। यहाँ भी मुझे जापानी घरका मेहमान बनना पड़ा। मुक्दन् कुछ समयतक राजधानी रह चुका है। मंचूराजवंश पहिले यहींका था, अब भी यहाँ मंचूसम्राटोंके प्रासाद हैं, पुराने सिंहासन और राजवस्त्र रखे हुए हैं। प्रान्तीय जादूघर (म्यूज़ियम) पहले मंचू-प्रासाद था। उसमें मंगोल, सुङ्, और मंचू सम्राटों और साम्राज्ञियोंके चित्र रखे हुए थे। मुक्दन्के और भी कई दर्शनीय स्थानोंको देखा। पुराने शहरके चारों तरफ़ चहारदीवारी है। सफ़ाईका कोई ख्याल नहीं। मेरे मित्र मुझे बनस्सुइ नामक बड़े बौद्धविहारमें ले गये। यह मंचूरियाका सबसे बड़ा चीनी मठ कहा जाता है, लेकिन जापानी क्या कोरियन मठों जैसा भी यहाँ कोई संगठन नहीं। सभी चीज़ें अस्तव्यस्त मालूम होती थीं। पता लगा कि यहाँ एक लामा मन्दिर भी है। हम लामा मन्दिर देखने गये। यह कुछ दूर हटकर उजड़ेसे स्थानमें है। लामामन्दिरमें राजाकी दी हुई वृत्ति है। यहाँ ४०, ५० मंगोल भिक्षु मौजूद थे। मालूम होता था मैं तिब्बतकी किसी गुम्बामें चला आया हूँ। यहाँ टशीलामाके २, ३ आदमी ठहरे हुए थे, मुझे फरफर तिब्बती बोलते देख वह दिल खोलकर मिले, चाय पिलाई, तिब्बतके बारेमें पूछते रहे। वह बहुत खिन्न थे, क्यों कि तिब्बत लौटनेका उन्हें कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था।

२२ अगस्तको मैंने हवाई जहाज़से सिङ्किङ् जानेका निश्चय किया था। लेकिन एक दिन पहिलेसे ही दस्त शुरू हो गये। अगले दिन भी दस्त होता रहा, इसलिए हवाई जहाज़से जानेका निश्चय छोड़ना पड़ा। सिङ्किङ् मुक्दन्से २०० मीलपर है। रातको १० बजकर २५ मिनटपर मैंने रेल पकड़ी।

सिङ्किङ्—सबेरे ६ बजकर ४० मिनटपर मैं सिङ्किङ् पहुँचा। यहाँ भी हिगाशी विहारके पुरोहित स्टेशनपर आये थे। मोटरसे उनके साथ विहारमें गये। विहार एक छोटेसे स्थानपर है। जापानके एक करोड़पति कौन्ट-महंतकेलिए यह शोभा नहीं देता, कि मंचूरियाकी राजधानीमें उनका इतना छोटासा मन्दिर हो। लेकिन यह जल्दी-जल्दीका काम था अब एक और बड़ी जगह गौक़ेसे ले ली गई है, जहाँ लाखोंका मन्दिर बनने जा रहा है। मेरी तबियत ठीक हो गई थी। भोजनोपरान्त पुरोहितके साथ मैं नगर देखने निकला। हरेक जापानी चाहे व्यापारी हो, या पुरोहित, प्रोफ़ेसर हो, या सैनिक सभी जापानकी यश:पताकाको ऊँचा करना चाहता है। उनको ख्याल भी नहीं आता, कि जिन लोगोंकी स्वतन्त्रता-को उन्होंने अपहरण किया है, उनके दिलपर क्या बीत रही है। कूटशासकोंकी बात

छोड़िये, ईमानदार जापानी भी सोचते हैं—"भीतरी कमज़ोरियोंके कारण जो देश यूरोपीय भेड़ोंके शिकार हैं, उन्हें यदि हम अपनी छत्रच्छायामें ले लेते हैं, तो कौनसा बुरा करते हैं ? चीनी मूर्त्तिकला, चित्रकला, साहित्य, संस्कृति, सभ्यताका हम भी अपनेको उत्तराधिकारी मानते हैं, इसलिए हम उनकी रक्षा करना चाहते हैं। हम रंगभेदको नहीं मानते और सबके साथ खुला शादी-ब्याहका सम्बन्ध क़ायम करना चाहते हैं। क्रूर, लुटेरे जेनरलोंके शासनको हटाकर हम सुव्यवस्थित शासनव्यवस्था स्थापित कर रहे हैं, उद्योग-धन्धोंको बढ़ा रहे हैं, और उसमें चीनी व्यवसायिओंका स्वागत करनेकेलिए तैयार हैं।" लेकिन उनका यह सोचना बिल्कुल एकतरफ़ा है, यह सब कुछ जातीय स्वतन्त्रताके सामने कोई चीज़ नहीं है। अन्धा भी समझ सकता है, जापानी मंचूरियामें सिर्फ़ परोपकारकेलिए नहीं आये हैं। पिछले तीन वर्षोंमें सिर्फ़ सिङ्किङ्में जापानी १० हज़ारसे ४० हज़ार हो गए। अच्छे-अच्छे मकान, अच्छी-अच्छी दूकान, नगरका सबसे स्वच्छ स्थान उनके हाथमें है। जापानी सेनाकी अपनी अलग ही सरकार है—जापानमें भी, और जापानी सेना जहाँ जाय वहाँ भी।

पहिले हम जापानी (क्वान्तुङ्) सेनाके कार्य-भवनमें गये। प्रोपेगंडाकेलिए अंग्रेज़ीमें छपे बहुतसे बुलेटिन हमें दिये गये। जापानी प्रोपेगंडाके महत्वको समझते हैं, लेकिन उनका सबसे अधिक विश्वास अपनी चालाकी और तलवारपर है। दूसरे दिन (२४ अगस्त) कई सरकारी विभागोंमें गये। शिक्षाविभागोंके डाइरेक्टर तथा दूसरे अफ़सर मिले, उन्होंने यह समझानेकी कोशिश की, कि जापान मंचूरियासे अज्ञानको जल्दीसे जल्दी दूर करना चाहता है। मंगोलविभाग अलग था, जो मंचूरियाके मंगोल इलाक़ेका ज़िम्मेवार था। लेकिन जापानी इसे सिर्फ़ मंचूरियाके मंगोलोंकेलिए ही इस्तेमाल नहीं करना चाहते, बल्कि उनके सामने बाह्यमंगोलियाका स्वतन्त्र प्रजातन्त्र और बुर्यत् सोवियत प्रजातन्त्र भी था। वह आशा रखते थे, कि एक दिन सारी मंगोल जाति उनके झंडेके नीचे आयेगी। ३, ४ साल बाद उन्होंने मंगोल-प्रजातन्त्रमें पैर भी रखा था, लेकिन बहुत पिटना पड़ा था, कई हज़ार आदमियोंको मरवाकर शान्तिभिक्षाकेलिए नाक रगड़नी पड़ी थी। मैंने पुराने शहरको भी देखा। उस महलको भी देखा, जिसमें मंचूरियाके खिलौने राजा पूई रहते थे। शहरमें घूमते वक़्त दो सिन्धी दूकानें मिलीं। बूलचन्द और दौलतराम हैदराबाद सिन्धके रहनेवाले थे। मुझे जब पहिले कहा गया, कि यहाँ हिन्दुस्तानी दर्ज़ी रहते हैं, तो मैंने समझा कोई दर्ज़ीकी दूकान होगी। लेकिन यहाँ तो अच्छी सजी हुई कपड़ेकी दूकान थी, वैसी ही जैसी मैंने पोर्टसईद और कोलम्बोमें देखी थी। उन्होंने

बतलाया कि हमारी दूकानें मुकदन और हरबिनमें भी हैं। जापानियोंकी प्रतिद्वंदितासे वह बहुत परेशान थे, और भविष्यकेलिए बड़ी आशा नहीं रखते थे।

सिङ्किङ् नगरको बहुत बड़े पैमानेपर बसाया जा रहा था। तीन वर्षोंके भीतर आबादी १ लाख ५२ हजारसे २ लाख १८ हजार हो गई थी । कुछ ही दिनोंमें वह ६, ७ लाख होने जा रही थी। दक्षिणी मंचूरिया रेलवेने मुझे घूमनेकेलिए पहिले दर्जेका टिकट दिया था, लेकिन मैं अब सोवियतकी ओर जल्दी बढ़ना चाहता था, इसलिए उसे सधन्यवाद लौटाना पड़ा।

हर्बिन्—कुछ ही समय पहिले सिङ्किङ्से आगेवाली रेलवेलाइन सोवियतकी सम्पत्ति थी। और सिङ्किङ् तथा दूसरे स्टेशनोंपर बहुत अधिक रूसी अधिकारी रहते थे। बादमें जापानने यह रेलवे सोवियतसे खरीद ली। रूसमें क्रान्ति हुई। धनियोंने क्रान्तिको खतम करनेकेलिए कोई बात उठा न रखी। दुनियाभरके पूँजी-पतियोंने क्रान्तिविरोधियोंकी खूब मदद की। क्रान्तिकारी लाल कहे जाते थे। और क्रान्तिविरोधी सफ़ेद रूसी। सफ़ेद रूसियोंने वर्षों लड़ाई लड़कर पराजयका मुँह देखा। फिर वह भागकर पड़ोसी देशोंमें चले गये। लाख या अधिक सफ़ेदरूसी मंचूरियामें भाग आये। उसी तरह हजारों ईरानमें भाग गये और लाखों यूरोपके दूसरे मुल्कोंमें। धर्म और क्या-क्या कहकर कितने ही साधारण रूसियोंको भी बहकाया गया। धनी रूसी तो दूसरे मुल्कोंमें भी जाकर अपने सोना या हीरा-मोतीको बेंचकर दूकान या रोजगार क़ायम करनेमें सफल हुए। और नहीं तो उनकी फ़ैशनेबुल सुन्दर लड़कियोंने ही शरीर बेचनेका रोज़गार शुरू किया। शाङ्हैईकी श्वेतांग वेश्याओंमें सफ़ेदरूसियोंकी बड़ी अधिक संख्या है। लेकिन, उनके साथ अपने भाग्यको नत्थी करनेवाले साधारण रूसियोंपर आफ़त आई। सोवियत्ने हजारोंको देश लौटनेकी इजाज़त दी, लेकिन अब भी हज़ारों सिङ्किङ्में मौजूद थे। इनका एक छोटासा गाँव बसा हुआ था। कितने ही सफ़ेदरूसी रेलवेमें चपरासी, पैटमैन जैसी नौकरियाँ कर पेट पालते थे। इनका चमड़ा वैसे ही सफ़ेद था, जैसा अंग्रेजों, अमेरिकनों या फ्रांसीसियोंका, किन्तु मंचूरियामें सचमुच ही सफ़ेद चमड़ेकी कोई क़ीमत न थी।

४ बजे बाद हमारी रेल सिङ्किङ्से चली। गाड़ियाँ उतनी साफ़ नहीं थीं। स्टेशनोंके नाम अब भी रूसी अक्षरोंमें लिखे हुए थे। आसपासके खेतोंमें बाजरा, सोया खड़े थे। नीले रंगके कुरते-पायजामे पहिने चीनी किसान कहीं अपने कामोंमें लगे थे, कहीं अपनी छोटी-छोटी झोंपड़ियोंके सामने खड़े थे। साढ़े ६ बजे हमारा

इंजन बिगड़ गया और कितनी ही देरतक यहीं रुका रहना पड़ा। फिर हर्‌बिन्‌से इंजन आया, तो हमारी गाड़ी चली और साढ़े १२ बजे रातको हम हर्‌बिन् पहुँचे। उस वक़्त हिगाशी मन्दिरमें पहुँचनेमें दिक़्क़त होती, लेकिन मन्दिरके पुजारी सिङ्‌किङ्‌से हमारे साथ ही आये थे, इसलिए वह हमें साथ ले गये। एक छोटीसी जगह थी, जो आठ-नौ प्राणियोंकेलिए काफ़ी नहीं थी, पीछे की ओर लोहा-लक्कड़ भरा हुआ था। एक अच्छा मन्दिर बनानेकेलिए ज़मीन भी ले ली गई थी। मच्छर नहीं थे, इसलिए हम आरामसे सो गये। अब दो दिन हर्‌बिन् हीमें रहना था। बैंक भी आज (२५ अगस्त) अतवार होनेसे बन्द था।

यहाँ घोड़ेगाड़ीवाले अधिकतर रूसी थे, पुलिसमैन भी कितने ही रूसी थे और क़ुली भी ज़्यादा वही थे। बहुतसे सफ़ेद रूसियोंको मैंने फटे और बुरे कपड़ोंमें देखा। कितनोंके पैरोंमें जूता नहीं था और वह फुटपाथोंपर बैठे थे। एक रूसी अर्थीका जलूस देखा। शायद कोई सफ़ेद रूसियोंका नेता मर गया था। जुलूस बहुत भारी था, जिसमें हज़ारों स्वस्तिकवाले थे। शायद यह लोग हिटलरसे अपने भाग्य पलटानेकी आशा रखते थे। आगे-आगे रूसी ईसाई भिक्षु चल रहे थे, उनके बड़े-बड़े केश, दाढ़ी, विचित्र पोशाकको देखकर मालूम होता था, कि ज़ारशाही रूसका जनाज़ा कैसे निकलता होगा। हम अगले दिन दोपहरको सामान ले चीरोस्‌सू (गोकुराजी या सुखावती) विहारमें गये। शायद मंचूरियाके किसी और मन्दिरमें बौद्धभिक्षुओं-की इतनी संख्या नहीं थी। यहाँ १७५ भिक्षु रहते थे। जिनमें ३५ विद्यालयमें पढ़ते थे। तेन्‌दाई सम्प्रदायके ७ जापानी भिक्षु भी इन्हींके साथ रहते थे। विहारके नायकने भारतीय भिक्षुका बड़ा सत्कार किया, चीनी भोजन कराया। चीनी मांस नहीं खाते, लेकिन उन्होंने फलाहारी भोजनोंकी बहुतसी क़िस्मोंका आविष्कार किया है। भोजनके बाद भी हम विहारको घूम-घूमकर देखते रहे। यहाँ कितने ही मन्दिर और रहनेके बहुतसे घर हैं। विहार अच्छी अवस्थामें है। महंत भी हमारे साथ हुए और हम शहरकी ओर चले। दुभाषियाका काम एक जापानी भिक्षु कर रहे थे और मैं अपने सौ-डेढ़ सौ जापानी शब्दोंके बलपर बात कर रहा था। मन्दिर शहरसे बाहर है। रूसी महल्लेमें बड़ी-बड़ी दूकानें और अच्छे-अच्छे मकान हैं, सड़कें भी बहुत खराब नहीं हैं, लेकिन चीनी मुहल्लोंकी बुरी हालत है। हम जुङ्‌गारी नदीके किनारे गये। यह गंगाकी तरह एक बड़ी नदी है, जिसपर रेलकेलिए पुल बँधा हुआ है। नावपर चढ़कर थोड़ी सैर की। शहरमें आकर एक फ़िल्म देखने गये। फ़िल्म अमेरिकन था, लेकिन दर्शकोंमें रूसी ज़्यादा थे। हर्‌बिन् रूसी भिखमंगों और रूसी

औरतोंकी आवारागर्दीका अड्डा है। मुझे ताज्जुब होता था, कि क्यों इन्होंने अमीरोंके फन्देमें पड़कर इस ज़िन्दगीको पसन्द किया।

अगले दिन (२६ अगस्त) मैंने "एसिया"के चेकको भुना लिया। ७८ डालरसे कुछ अधिक मिले। और पैसोंके डालर अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनीके यात्री-चेकके रूपमें मैं पहिले ही भुना चुका था। १६० डालर देकर मनचूलीसे मास्को होते बाकू तकका टिकट ले लिया। अभी भी मेरे पास २१० डालर बचे थे। विहारके नायक और दूसरे भिक्षुओंने मेरे साथ कितना सौहार्द दिखलाया, यह डायरीके इस वाक्यसे मालूम होगा--"इस विहारवालोंने सौजन्यमें हद मुका दी।"

मनचूली—अगले दिन (२७ अगस्त) ९ बजे बाद हमारी गाड़ी चली। जुङ्गारीका पुल पार किया। भूमि समतल मैदानसी थी। हरी खेती खड़ी थी। गाँवमें आबादी चीनियोंकी थी, स्टेशनोंपर रूसी भी दिखाई पड़ते थे। रेलके अफ़सर अधिकतर जापानी और कुछ चीनी भी थे। रूसी ज्यादातर पैटमैन, चौकीदार या सिपाही, अर्थात् वह वही काम करते थे, जो यू० पी० बिहारवाले बंगालमें करते हैं। हमारे कम्पार्टमेंटमें तीन रूसी थे, जिनमें दो स्त्रियाँ थीं। एक स्त्री पुराने फटे किसी उपन्यासको समाप्त करनेमें लगी हुई थी। ट्रेन और स्टेशनोंपर शस्त्रधारी सैनिक पहरा दे रहे थे, जिससे मालूम हो रहा था, कि चीनी देशभक्तोंने अभी हथियार नहीं डाला है। डिब्बेमें जगह बहुत थी, सोनेका आराम था। जापानसे लेकर यहाँतक लाल-लाल तरबूज़े खूब मिलते रहे।

सबेरे उठनेपर मालूम हुआ, कि रातको हमारी गाड़ी भी कहीं लेटी थी, अब आसपास छोटे-छोटे पहाड़ थे, जिनपर देवदार और भोजपत्र उगे हुए थे। यहाँ मैदानमें भी भोजपत्रके वृक्ष थे, जो कि हिमालयमें १२ या १३ हज़ार फ़ीट ऊँचाईसे कम पर नहीं होते। इसका अर्थ यह हुआ, कि यह जगह गंगोत्री और बद्रीनाथसे भी ठंडी है। अब खेत कम दिखाई पड़ रहे थे, किन्तु मवेशी ज्यादा थे, और उनकेलिए घास भी मौजूद थी। हमें सवा सात बजे मनचूली पहुँचना था, किन्तु गाड़ी ९ घंटा लेट थी। ११ बजे खैलर (हैलर) पहुँचे। यह मंगोल इलाक़ा है, मंगोल ज्यादातर पशुपालनसे जीविका चलाते हैं, इसलिए उन्हें शहर और क़सबेसे क्या मतलब? खैलरमें चीनी और रूसी ज्यादा हैं। मंगोल और जापानी भी हैं। खैलर मंचूरियाके मंगोल-प्रदेशके ४ ज़िलोंमें एकका सदर है। यहाँ हमारे डिब्बेमें तीन मंगोल सवार हुए, जिनमें एक तो हिन्दुओंकी तरह चोटी रखे था, जिससे मालूम हुआ, कि वह गृहस्थ है। भिक्षुसे अलग पहिचान करनेकेलिए गृहस्थोंको सारा केश नहीं कटाना पड़ता, वह सिरमें छोटीसी

चुटैया रख छोड़ते हैं। दुनियाके सभी देशोंमें हज़ारों वर्षोंतक सिरपर लम्बे केश रखनेका रिवाज रहा—अस्तुरा मिलना भी तो इतना आसान नहीं था। लेकिन जब लोगोंने इस ख्वाहमख्वाहकी गन्दगी और बोझका सफ़ाया करना शुरू किया, तो भी प्राचीनता (धर्म)के पक्षपातके कारण वह सारे सिरको घुटा नहीं सके, इसीलिए मंगोलोंने भी चोटी क़ायम रखी। चीनियोंके सिरमें चोटी रही। सोवियत्के एक ऐतिहासिक फ़िल्ममें उकरइनके मर्दोंके सिरपर भी मैंने वैसी ही चोटी देखी और हिन्दुस्तानमें भी वही चोटी; लेकिन, शायद और कहीं चोटीको इतनी ज़बर्दस्त धर्मपताका बननेका अवसर नहीं मिला। हिन्दू सबसे बड़े मल्लू निकले, और सब जगह चुटिया ख़तम हो गई, किंतु यहाँ मौजूद है। हमारा साथी-मंगोल अभी भेड़ोंकी चरवाही करता है, इसलिए उसके पास हवा नहीं पहुँची, दूसरे मंगोल तो अन्धकारयुगके इस चिह्नको मिटा चुके हैं।

मेरी नज़र दोनों मंगोल भिक्षुओंपर पड़ी। यकायक मेरे मुँहसे तिब्बती शब्द निकल आये। मैं उम्मेद नहीं करता था, कि मुझे मंचूलीतक मुँह खोलनेकी ज़रूरत पड़ेगी। भिक्षुने तुरन्त उत्तर दिया। मैं जानता था, मंगोल लोग अपने धर्मग्रंथोंको तिब्बतीमें पढ़ते हैं, लेकिन हर गीताके पाठ करनेवाले हिन्दूसे यह आशा नहीं रखी जाती, कि वह संस्कृतमें जवाब देगा। ख़ैर, मैं वहाँके भिक्षुओंके बारेमें कुछ बातें पूछता रहा। उसकी श्रद्धा और बढ़ी, जब उसे मालूम हुआ, कि मैं बुद्धकी मातृभूमिका रहनेवाला हूँ। उसने बतलाया, रास्तेसे हटकर कितने ही मठ हैं। मनमें इच्छा तो होती थी, कि इन मठोंको भी देख आयें, वहाँ भाषाकी भी कोई दिक़्क़त नहीं थी, और भारतीय भिक्षुका सब जगह स्वागत भी ख़ूब होता। मंगोल लोगोंके बारेमें जानने-सुननेका मौक़ा मिलता। लेकिन मेरे शरीरमें तो डोरी बँधी हुई थी। दोपहर बाद अब मैदान समतल कुछ नीचा-ऊँचा आया। घास बहुत थी। रूसी घोड़ेवाली मशीनसे घासको काट रहे थे। इधरके रूसी ज्यादातर घोड़े-गाय और सुअर पालते हैं और स्टेशनोंके पास बसे हुए हैं। मंगोल रेलवे लाइनसे दूर अपने तम्बुओंमें रहते हैं।

वृक्षोंकी पत्तियाँ पीली पड़ने लगी थीं, जाड़ेके आनेकी सूचना यह थी। घास भी मुरझाने लगी थी। कहीं जंगल नहीं था। बहुत थोड़ी जगह जंगली बीरी दिखाई पड़ी। स्टेशनपर सफ़ेदे लगे हुए थे। यहाँके मकान छोटे-छोटे और मिट्टीकी छतोंके हैं, जैसे पच्छिमी यू० पी० और पंजाबके। लेकिन धुआँ निकलनेकेलिए हर घरमें चिमनी है। चार बजे गाड़ी मनचूली स्टेशनमें पहुँची। यहीं मंचूरियाका

आख़िरी स्टेशन है, अगला स्टेशन सोवियत्-भूमिमें है। पता लगा, मास्कोकी गाड़ी कल पौने चार बजे जायगी। जापानी जहाँ पहुँचे, वहाँ भला उनका होटल गये बिना कैसे रह सकता है? इसमें शुबहा नहीं कि उनके होटल साफ़-सुथरे और सस्ते होते हैं। मैं तमाया होटलमें चला गया। एक कोठरी दी गई, एक जापानी तरुणीने मुस्कराते हुए अभिवादन किया। नहानेका अच्छा स्थान था। सर्दी यहाँ बहुत ज़्यादा थी, और अब मुझे एक हफ़्ता साइबेरियाकी सर्दीसे गुज़रना था। मैंने यहाँसे एक ओवरकोट ख़रीदा, जिसके बारेमें हिन्दुस्तानमें मेरे दोस्त कहते थे कि बीस रुपयेसे अधिक तो, इसकी सिलाई लग जायगी। और कौन कपड़ा ख़रीदा था, यह याद नहीं; पर यह ज़रूर याद है, कि मंचूरियामें मेरे भिक्षुओंके कपड़े बक्समें बन्द हो गये थे।

२२

सोवियत्-भूमिकी प्रथम झाँकी (१९३५)

लोगोंने हल्ला कर रखा था, कि सोवियत्में रोटी, पनीर, मांस खानेको नहीं मिलते; मिलते भी हैं, तो बहुत महँगे। मैंने हफ़्तेभरके खानेकेलिए एक ढेर पाव-रोटियाँ ख़रीदीं, मक्खन और पनीरके दो बड़े-बड़े गोले लिये। सूअरके मांसकी सौसेज भी काफ़ी बाँध ली (अँतड़ीमें मांसके टुकड़ोंको भरकर उसे पकाया जाता है। उसमें नमक-मसाला भी रहता है, इसी लम्बी-लम्बी गुल्लीको सौसेज कहते हैं)। लेकिन पीछे मालूम हुआ, कि मैंने फ़ज़ूल ही इन चीज़ोंसे अपने कम्पार्टमेंटको भरा। २९ अगस्तको ४ बजे शामको गाड़ी रवाना हुई, अब इस ट्रेनको ४ सितम्बर को (७ दिनमें) मास्को पहुँचना था। २९ अगस्तसे २१ सितम्बरतक (१४ दिन में) मुझे सोवियत्-भूमिमें साँस लेनेका मौक़ा मिला। मैं इसे अपना धन्य भाग समझता था। १९१७की लालक्रान्तिने दुनियाके करोड़ों आदमियोंमें विचारोंकी क्रान्ति पैदा की, और मेरे विचारोंपर तो उसने स्थायी मुहर लगा दी। यद्यपि अभी मुझे १० साल और आर्यसमाजके थोड़े-बहुत असरमें रहना था, फिर बौद्धदर्शनका पल्ला पकड़ना था; परन्तु मुझे किस दिशामें जाना है, इसका निर्णय १९१७के अन्तिम मासोंमें हो गया था; जब कि ख़बरोंसे मुझे इतना मालूम हुआ कि रूसमें राजा और धनियोंका

शासन खतम कर दिया गया, अब वहाँ ग़रीबोंका राज है। मैंने इतनी पूँजीसे अगले साल (१६१८) "बाईसवीं सदी" लिखनेकेलिए खाका भी बना लिया, यद्यपि उसे पुस्तकका रूप देनेमें अभी ५, ६ वर्षकी और देर थी। गाँवों, शहरों, स्त्री-पुरुषों, का जो स्वरूप मैंने "बाईसवीं सदी"में चित्रित किया था, वह कल्पना-जगतकी चीज़ें थीं। लेकिन यहाँ ठोस दुनियामें उन्हें साकार रूप दिया जा रहा था, फिर सोवियत्-भूमिको मैं अपनी श्रद्धास्पद भूमि समझूँ, तो आश्चर्य क्या ? मनचूलीसे थोड़ा चलनेके बादको फ़ासिस्ट-वादी जापान और साम्यवादी सोवियत्की सीमा मिली। वहाँ वृक्षरहित तृणपूर्ण पहाड़ियाँ थीं। फिर सोवियत्का पहिला स्टेशन आया, गाड़ी ठहर गई। कस्टमवालोंने हमारी चीज़ोंको देखा, मेरे पास कोई उतनी चीज़ नहीं थी। पासपोर्टको देखा तो मालूम हुआ, कि बीसाकी मियाद ख़तम हो गई है। मैं डरने लगा, कि कहीं यहींसे मनचूली लौटना न पड़े, फिर मैंने उन्हें समझाया—हम परतन्त्र देशोंके आदमियोंको सोवियत्-भूमिमें आनेकेलिए हज़ारों तरहकी रुकावटें हैं, आपको इसका भी ख्याल करना चाहिए। थोड़ी देर बाद उसने कहा—अच्छा कोई परवाह नहीं। मैं सिर्फ़ आरपार हो जानेवाला मुसाफ़िर था, इसलिए मेरे रोलै-फ़ेक्स (केमरे)को बाँधकर राँगेकी मुहर कर दी गई। हमारे कम्पार्टमेंटके ४ आदमियोंमें एक लिथुआनियन था, जो अमेरिकासे आ रहा था। काग़ज़में लपेट-लपेटकर प्याले, स्फटिकके बर्त्तन और क्या-क्या चीज़ें उसने बक्सोंमें भर रखी थीं। उसकी चीज़ोंकी जाँच-पड़ताल बहुत अधिक की गई। स्टेशनपर लेनिन, स्तालिन और दूसरे नेताओंकी बड़ी-बड़ी तसवीरें टँगी थीं। लड़के स्वस्थ और बहुत खुश मालूम होते थे। स्त्रियाँ वैसी ही गोरी थीं, जैसी लन्दन और पेरिसकी, किन्तु यहाँ उनमें वह अन्तर नहीं था, जो युरोपके भिन्न-भिन्न वर्गोंकी स्त्रियोंमें पाया जाता है। ट्रेनकी चौथी गाड़ीकी १६वीं उपरली बर्थ मेरी थी। कम्पार्टमेंटके चारों आदमियोंके पास काफ़ी सामान था, और वह चारों ओर भरा हुआ था। खैरियत यही थी कि सोवियत्की रेलोंमें सारीकी सारी बर्थ (बेंच) एक आदमीको मिलती है, इसलिए सोनेकी कोई दिक़्क़त नहीं हुई।

उस दिन तो जल्दी ही शामको अँधेरा होनेपर मैं सो गया। दूसरे दिन सबेरे उठकर नीचे आया। बाहरकी ओर देखा, तो वृक्षोंमें भोजके वृक्ष ही अधिक हैं। गाँवके मकानोंमें भी अन्तर था : वह ज़्यादा अच्छे थे। लोगोंके शरीरपर मज़बूत कपड़े थे, लेकिन शौक़ीनी-सफेदपोशी नहीं थी। गाड़ीके डिब्बेके एक कोनेमें पाखाना और हाथ-मुंह धोनेका इन्तिज़ाम था। वह बहुत साफ़-सुथरा था, और तीसरे

दर्जेकेलिए क्या दूसरेकेलिए भी हिन्दुस्तानमें वैसी आशा नहीं की जा सकती। हरेक डिब्बेमें दो आदमी डिब्बेकी सफ़ाई और मुसाफ़िरोंकी ओर ध्यान रखनेकेलिए तैनात थे। कहनेपर वह चाय बनाके दे देते थे।

मैंने हाथ-मुँह धो, नाश्ता किया, फिर बरांडेमें आकर खिड़कीसे बाहरी दृश्य देखने लगा। तीन घंटा दिन चढ़ आया था, जब कि पहाड़ोंपर देवदारके वृक्ष दिखाई देने लगे। हमारी ट्रेन किसी नदीके किनारेसे चल रही थी। जहाँ-तहाँ पंचायती खेती—कल्खोज़्—के बड़े-बड़े खेत थे, जिनको ट्रेक्टर (मोटरहल) जोत रहे थे। फ़सल वहुत कुछ कट चुकी थी, बाक़ी कटनेको तैयार थी। चीताका बड़ा शहर आया। जगह-जगह नये मकान बन रहे थे। मकानोंकी दीवारें अधिकतर लकड़ी-की थीं। यहाँ कितने ही मंगोल स्त्री-पुरुष दिखाई पड़े, लेकिन उनमें कोई चोटीवाला नहीं था। मंगोल तरुणियाँ भी रूसी स्त्रियोंकी तरहकी ही पोशाक पहिने थीं, उनके केश भी कटे हुए थे। गाँवमें भी बिजलीकी रोशनी और रेडियोके तार-खम्भे दिखलाई पड़ रहे थे। मैंने एक गाँवमें गुलाबी गालोंवाली एक तरुण सुन्दरीको बहँगीपर पानी भरकर लाते देखा। मुझे कहावत याद आ गई "रानी भरै पानी"। किन्तु उन रानियोंका ज़माना तो दुनियाके इस षष्ठांशसे उठ गया, यहाँ अब पानी भरना शरमकी बात नहीं रही। एक जगह कम्बाइन—यन्त्रमें गेहूँके पूले डाले जा रहे थे, और दाने अलग होकर बोरेमें बन्द होते जा रहे थे। हमारी ट्रेनमें इन्टूरिस्ट (सोवियत्-यात्राविभाग)का एक प्रतिनिधि चल रहा था, वह अंग्रेज़ी खूब बोलता था। हमारे कम्पार्टमेंटवालोंने लेनिनग्राद देखनेकी इजाज़त पानेकेलिए मास्कोको तार दिया, मैंने भी दे दिया।

अगले दिन (३१ अगस्त) सबेरे हमारी गाड़ी बइकाल झीलके तटपर चल रही थी। बड़ा रमणीय दृश्य था। हमारी दाहिनी ओर नीलाभ सरोवर था, जिसके पास धुँधलेसे पर्वत दिखलाई पड़ रहे थे। बायें तो हम पर्वतके साथ चल ही रहे थे। हर जगह हमारी रेलको सुरंगोंसे पार होना पड़ता था। पहाड़ जंगलसे ढँके हुए थे। पत्थर काले रंगके (तेलिया) थे। एक जगह स्कूलका मकान बन रहा था, लेकिन झूला और पैरेललबार वहाँ पहिले हीसे गड़ गये थे। बइकाल स्टेशनपर पहुँचे, वहाँ कई बुर्यत् (मंगोल) तरुणियोंको रूसी स्त्रियोंके वेषमें देखा। रेलवे अफ़सर भी एक स्त्री थी। आगे हमने अपने दाहिनी ओर अंगारा नदीकी तीव्र धार-को बहते देखा। इरकुत्स्कका विशाल नगर आया। प्लेटफ़ार्मकी ओर स्टेशनकी इमारतपर लेनिन, स्तालिनके चित्र लगे हुए थे। यहाँ स्त्री-पुरुष रूसी ही रूसी

दिखाई पड़ते थे। मैं ट्रेनसे उतरकर स्टेशनमें गया। मुसाफ़िरोंके बैठनेका अच्छा इन्तज़ाम था। स्टेशनसे बाहर शहरको एक आँखसे झाँककर देखा, चौड़ी और साफ़ सड़क तथा किन्हीं-किन्हीं इमारतोंपर लाल झंडे दिखाई दिये। अब रेलपर चढ़े तीसरा दिन हो रहा था, अपने कम्पार्टमेंटके दूसरे तीन आदमियोंसे घनिष्ठता पैदा करनेकी मुझे इच्छा नहीं थी। लिथुआनियन सज्जन बोलशेविकोंको गाली देनेमें ही सन्तोष प्राप्त करते थे। चीनी नौजवान जर्मनीमें पढ़ने जा रहा था, उससे कुछ ज़्यादा हेलमेल ज़रूर हुआ, और उसने मेरी सौसेज देखकर चीनी सौसेज खानेको दी। वस्तुतः सौसेज बनाना चीनी ही जानते हैं। मुझे पता नहीं था कि सूअरका मांस इतना अमृतमय हो सकता है। लेकिन मुझे सबसे ज़्यादा परवाह थी, रूसियोंसे मेलजोल बढ़ानेकी। मिसेज़ मोलेर् मास्को जा रही थीं, और सखालेन द्वीपसे आ रही थीं। उनकी उमर पैंतालीसके आसपास होगी। उनके पिता एक करोड़पति ठेकेदार थे। उनको वह दिन याद थे, वह साज याद थे, जब कि वह राजकुमारीके रूपमें तड़क-भड़कके साथ पेरिस और स्वीट्ज़रलैंडकी सैर किया करती थीं। बचपनमें फ्रेंच और अंग्रेज़ दाइयाँ उनको खेलाया करती थीं। वह अंग्रेज़ी और फ्रेंचको भी उसी तरह फरफर बोलती थीं जैसे रूसीको। उनको अंग्रेज़ी बोलनेवाली देखकर मैं ज़्यादा उनके पास जाने लगा। उन्हें भी बोलनेसे एतराज़ नहीं था, बल्कि दिल खोलकर बोलशेविकोंको गाली देती थीं। मैंने सोचा—करोड़पति सेठकी बेटी अपने पिताकी सम्पत्ति छीन लेनेवाले बोलशेविकोंको गाली नहीं देगी तो आशीर्वाद देगी? वह कह रही थीं—"बोलशेविक बड़े झूठे होते हैं। उनके अख़बारों और पुस्तकोंमें सिर्फ़ झूठा प्रोपैगेंडा होता है। पहिले तो और झूठ बोलते थे, लेकिन इधर खाने-पीनेकी चीज़ें ज़्यादा मिलने लगी हैं, लोगोंकी हालत कुछ बेहतर हुई, तो उनका झूठ भी कम हुआ।" उनकी बहन खबारोव्स्कमें किसी सन्देहमें पकड़कर जेलमें डाल दी गई थीं। अब वह उसीके छुड़ानेकी कोशिशमें मास्को जा रही थीं। उन्होंने कोई नई बात नहीं कहीं, जिसे मैं पढ़ न चुका होऊँ। अफ़सोस कि मेरे दिलमें इस वर्गके प्रति सहानुभूति दिखलानेकी ज़रा भी प्रेरणा नहीं रह गई थी। अभी मैंने उस वर्गका नाम जोंक नहीं रखा था, किन्तु उसे साँप ज़रूर कहता था।

मेरे बग़लके कम्पार्टमेंटमें तीन रूसी—दो माँ-बेटे और एक इंजीनियर—थे, उनसे मेरी ज़्यादा घनिष्ठता हुई, और आगे तो मैं सिर्फ़ सोनेकेलिए अपने कम्पार्ट-मेंटमें आता, नहीं तो उन्हींके पास दिन बिताता। मेरी रूसी शब्दोंकी पूँजी सौसे ज़्यादा नहीं होगी, लेकिन मालूम नहीं कैसे उतनेसे अपना दिनभर काम चलाता था। लड़का

और उसकी माँ और भी उत्सुक थे, हमसे बात करनेकेलिए। पति लालसेनामें अफ़सर था। माँ-बेटे उसीके पाससे लौटे आ रहे थे। उन्होंने खरकोफ़में अपने घरका पता दिया, और मुझे वहाँ आनेकेलिए बहुत आग्रह किया। इंजीनियर मास्कोके थे, उन्होंने भी पता दिया था, और मास्कोमें जब उनकी बीबी मिलनेकेलिए आई, तो बीबीसे मेरा परिचय कराया। एक आदर्श और एक भावना भाषाकी दिक़्क़त रहनेपर भी आदमीको कितना घनिष्ठ बना देती है, उसका यहाँ एक बहुत अच्छा उदाहरण था। ५ दिन ५ रात हम एक साथ रहे। समय बहुत आनन्दसे कटा। एक दिन एक वोद्काकी बड़ी बोतल मँगाई गई, और प्याला मेरे सामने आया। मैं बड़ी मुश्किलमें पड़ गया। धार्मिक ख़्यालसे उसे मैं घृणाकी दृष्टिसे देखता था यह बात नहीं थी, लेकिन शराबसे मुझे सदा घृणा रही। मैं उसके पीनेको हद दरजेकी बेवक़ूफ़ी समझता रहा। "नेत" (नहीं) शब्दसे मैं परिचित था, किन्तु जिस प्रेमके साथ उन्होंने दिया था, उसकेलिए तुरन्त नहीं करनेमें मुझे डर लग रहा था कि कहीं वह दूसरा न समझने लगें। मैंने प्यालेको ओठसे छुआ, और शिरपर हाथ रखकर बैठ यह दिखलानेकी कोशिश की, कि सिरमें पीड़ा है। फिर मेरे सामने वोदका नहीं पेश की गई। इनटूरिस्टका आदमी हमारी ट्रेनमें चल रहा था, उसकेलिए मेरी धारणा बहुत बुरी हो गई, उसने मुझसे सिगरेट ख़रिदवाकर अपनेलिए मँगाए। उस वक़्त सिगरेट विदेशियोंकेलिए जितना चाहे मिल सकता था लेकिन स्वदेशियोंकेलिए संख्या निर्धारित थी। वैसे मैं सिगरेटोंका दाम नहीं लेता, लेकिन उसने दामकी बात भी न की। मैं सोचने लगा, ऐसे आदमी विदेशियोंके दिलमें बोलशेविकोंके प्रति बुरा भाव पैदा करेंगे। बोलशेविकोंकी निन्दा करनेकेलिए तो हर साल लाखों मन काग़ज़ ख़राब किये जा रहे हैं, सोवियत्-विरोधियोंके हाथमें ऐसा हथियार दे देना बुरी बात है। इसी कारण उस आदमीको मैं अच्छी निगाहसे नहीं देखता था, यद्यपि उसने कहा था, कि मैं सफ़ेद रूसियोंसे लड़ा था।

पहिली सितम्बरको हम जिस स्थानमें जा रहे थे, वहाँ दूसरे वृक्षोंका नाम नहीं था। भोजपत्रके वृक्ष और घासवाले पहाड़ वहाँ कहीं-कहीं ज़रूर थे। आगे येनेसेइ नदी आई, यह गंगासे भी बड़ी नदी है। सामने क्रास्नोयार्स्कके कारख़ाने आये। श्रमिकोंके घर, बड़े-बड़े महलसे मालूम होते थे। सारे घर नये बने थे। नदीमें लकड़ीके बड़े-बड़े ठाट बह रहे थे। स्त्रियाँ देखनेमें बड़ी स्वस्थ और फुर्तीली मालूम होती थीं। आगे कितने ही गाँवोंमें फ़ैक्टरियाँ देखीं। एक गाँवमें ८, ९ ट्रैक्टरोंकी

पाँती खड़ी थी। हमारी ट्रेनमें कितने ही लाल सिपाही चल रहे थे, वह मिलकर कोई गाना गा रहे थे।

अगले दिन (२ सितम्बर) कई जगह शृंगारहीन स्त्रियोंको मस्तानी चालसे चलते देखा। कहीं-कहीं गाँवोंमें गिरजे अच्छी अवस्थामें देखे, उनकी दीवारोंपर सफ़ेदी पुती हुई थी, क़बरिस्तानोंकी नई क़ब्रोंमें क्रास (सलेब) भी लगी हुई थी जिससे मालूम होता था कि धर्म माननेवाले भी काफ़ी हैं। ओम्स्क स्टेशन आया। बड़ा स्टेशन, बड़ा शहर है। उतरकर बाहर गया, वहाँ लेनिनकी पाषाणमूर्त्ति खड़ी थी। हाँ, चीज़ोंका दाम अत्यधिक मालूम हुआ।

३ सितम्बरको मनचूली छोड़े छठा दिन बीत रहा था। सबेरेसे ही रेलकी दोनों तरफ़ भोजपत्रके जंगल दिखाई दे रहे थे। यहाँकी मिट्टी काली थी, खेत बहुत लम्बे-चौड़े थे। हम पूरबसे पच्छिमकी ओर जितना बढ़ते गये, खेतीमें मशीनोंका उतना ही अधिक उपयोग बढ़ते देखा।

मैंने पढ़ा था, कि युरोप और एसियाको यूराल पर्वत पृथक करता है, इसी ख्यालसे मैं किसी बड़े पर्वतकी ताकमें था, इसी वक़्त एक तालाबके भिडे जैसी पहाड़ी रीढ़-परसे ट्रेन पार हो गई, साथियोंने कहा, यही यूराल है। मैं सोचने लगा, इसे पहाड़का नाम नहीं देना चाहिए था, लेकिन पत्थरका तो था, दूसरा नाम ही क्या देते ? आगे हमें स्वेर्दलोव्स्क नगर आया। गाड़ी कुछ देरतक ठहरी, मैं भी स्टेशनके बाहर गया। सामने एक विशाल नगर था, जिसके सबसे बड़े गिरजेपर लाल झंडा फहरा रहा था। आँख भरकर देखा, घूम आनेभरकेलिए तो समय नहीं था। स्टेशनपर ही रंगबिरंगे पत्थरोंके फ़ोटोके फ्रेम, खिलौने और दूसरी चीजें बिक रही थीं। आगे रात हो गई। दूसरे दिन (४ सितम्बर) सबेरे जब मैंने खिड़कीसे बाहर झाँका, तो देखा फिर वही देवदार और भोजपत्रके घने जंगल हैं। बीच-बीचमें गाँव और पंचायती खेत आते थे। इधर देवदार कुछ और बड़े थे। कुछ किसानोंके शरीरोंपर फटे कपड़े भी थे। मैंने सोचा शराब भी इसका कारण हो सकती है, क्योंकि शराब पीनेकी तो यहाँ रुकावट नहीं है।

मास्को—आधी रातको मास्को स्टेशन आया। रातभर हमें गाड़ीमें रहना था। अगले दिन (५ सितम्बर) ९ बजे मेत्रोपोल होटलमें गये। पौने दो डालर नाश्तेका लगा। मालूम हुआ कि लेनिनग्राद देखनेकी हममेंसे किसीको इजाज़त नहीं मिली। दिलमें बहुत बुरा लगा। व्यक्तिगत तौरपर सोचनेसे ऐसा होता ही है, आदमी यह तो सोचता नहीं, कि सोवियत्के बाहरी दुश्मन किस तरह अपने भेदियोंको देशके

भीतर भेजते हैं, और किस तरह पुराने अमीर अठारह वर्ष पहिलेके अपने पुराने जीवनके लौटानेकी फ़िक्रमें हैं। मोटरपर नगर देखने केलिए चले। क्रेमलिनको देखा, वही क्रेमलिन जो दुनियाके छठें अंशके शासनका केन्द्र है। लाल मैदानसे गुज़रते हुए, लेनिनकी छोटीसी समाधि देखी। विश्वविद्यालय और लेनिन पुस्तकालय देखा, फिर सांस्कृतिक उद्यान (पार्क कुल्तूर)में गये। यहाँ हज़ारों आदमी नवयुवक-नवयुवती बूढ़े-बच्चे घूम रहे थे, फिर होटल लौट आये। एक बजे मैं अकेला पैदल निकल पड़ा। सड़कोंपर सभी जगह भीड़ थी, बस, ट्राम और भूगर्भी रेलोंके रहते भी इतनी भीड़ क्यों? चारों ओर मीलोंतक विशाल अट्टालिकाएँ खड़ी थीं। कितने ही नये मकान बन रहे थे। बड़ी सड़कोंके अलावा कितनी ही गोल पत्थरबिछी सड़कें भी थीं। डाक्टर श्चेर्बात्स्की और डाक्टर ओल्देन्बर्गसे मिलनेकी बड़ी इच्छा थी। डाक्टर ओल्देन्बर्ग अकदमीमें थे, यह मुझे युरोप-यात्रामें मालूम हो चुका था। मैंने अकदमीका पता नोट कर लिया और ट्रामका रास्ता भी पूछ लिया। ट्रामपर चढ़ते ही पहिली दिक़्क़त पैसेकी आई। मेरे पास रूसी पैसे नहीं थे और वहाँ वह अमेरिकन सेन्ट लेनेको तैयार नहीं था। किसी पड़ोसीने पैसा दे दिया। जानेकी जगह पूछनेपर एक तुर्कने कहा, मैं वहाँ पहुँचा दूँगा। उसने ढूँढ़-ढाँढ़कर वहाँ पहुँचा भी दिया। जानेपर मालूम हुआ, कि डाक्टर ओल्देन्बर्गका देहान्त हो गया, डाक्टर श्चेर्बात्स्की लेनिनग्रादमें रहते हैं। हिन्दुस्तानी विद्याओंके बड़े-बड़े विद्वान वहीं रहते हैं, इसलिए अपने विषयके किसी विद्वानसे मुलाक़ात नहीं हुई। मैं फिर होटलमें लौट आया। चीनी तरुण चाङ्को बड़ा आश्चर्य हुआ, जब उसने सुना कि मास्कोकी सारी छोटी-बड़ी दूकानें, बसें, मोटरें व्यक्तियोंकी नहीं सारे राष्ट्रकी हैं।

रातको दश बजे मुझे बाकूकी गाड़ी मिली। घूमनेमें इतना वक़्त लगा दिया, कि मैं रूसी सिक्का भी नहीं ले सका। इस गाड़ीमें सभी सोवियत् नागरिक थे, जिनमें भी रूसी ज्यादा थे। यहाँ भी एक पूरी बेंच हरेक मुसाफ़िरको मिली थी। हरेक कम्पार्टमेंटमें दो बर्थें नीचे और दो बर्थें ऊपर थीं। सबेरे झाँककर देखा तो ऊँची नीची हरी भूमि थी। चारों ओर बड़े-बड़े खेत दिखाई पड़ते थे। मैंने पैसे बदलनेकी रातको दो-एक जगह कोशिश की, लेकिन बदल नहीं सका। अब हमारी ट्रेन उक्रइन्में चल रही थी। यहाँके गाँवोंके मकान एक-दूसरेसे अलग थे और दीवारें सफ़ेद-सफ़ेद। यद्यपि भाषाकी दिक़्क़त थी, लेकिन गाड़ीके सभी लोगोंमें बड़ी सहृदयता थी, मेरे कम्पार्टमेंटमें एक टाइपिस्ट प्रौढ़ा जा रही थीं। उन्होंने सबेरे ही रोटी-मक्खन

मेरे और अपने बीचमें रख दिया, मैंने एकाध बार नहीं किया, लेकिन सबको मालूम था, कि मेरे पास एक भी रूसी पैसा नहीं है। उन्होंने मुस्कराते हुए इशारेसे कहा—"आओ खाओ, नखरा मत करो।" मैंने भी अपनी बेवक़ूफ़ी समझी, और खानेमें शामिल हो गया। फिर वही सौ-सवा-सौ शब्दोंसे काम चलता रहा। पड़ोसी महिलासे पूछनेपर उन्होंने अपनेको टाइपिस्ट कहा। मालूम नहीं मेरे चेहरेपर उन्होंने क्या भाव देखा। झट अपने बाँहको दिखलाते बोल उठीं—"मैं हवाई जहाज़ चलाती हूँ, यह उसका निशान है; मैं बन्दूक़का तेज़ निशाना लगाती हूँ, यह उसका बिल्ला है। हिटलर इधर मुँह करेगा तो दिखला दूँगी कि सोवियत्-स्त्रियाँ कैसी होती हैं।" फिर उसने अपनी कड़ी हथेलीको दिखाकर कहा—"मैं ट्रेक्टर भी चला सकती हूँ।" मैंने समझ लिया, यहाँ मक्खनसी हथेलीवाली पद्मिनियोंका मान नहीं है।

आगे खरियामिट्टीके पहाड़ मिले। हमारे डिब्बेमें युरोपियन भी थे, और एसियाई भी लेकिन वहाँ रंगकी गन्ध भी नहीं थी; बड़ा स्टेशन आता, तो तरुण-तरुणियाँ हाथ मिलाये प्लेटफ़ार्मपर घूमने लगतीं। स्टेशनपर सेब और दूसरे फल बहुत बिकते थे। कितनी ही जगह मोटी लम्बी लकड़ी बेंचकी तरह रखी हुई थी, और उसपर पके मुर्गे, फल और दूसरी चीज़ें रखकर पचीसों स्त्रियाँ खड़ी थीं। मैं क्या ख़रीदने जाता? मेरे साथियोंमें कोई न कोई बराबर रोटी-मक्खन-चाय दे देता। एक कमकर काकेशस जा रहा था, वह अमेरिकामें कई साल रहा था, अंग्रेज़ी जानता था। वह खिलाने-पिलानेका बहुत ध्यान रखता था। मैंने उससे बीस रूबल माँगे और तीन डालर देने लगा। वह नहीं करने लगा, तो मैंने कहा, हो सके तो कहीं से भुना दीजिए, लेकिन लेनेसे इन्कार न कीजिए। रातके वक़्त खरकोफ़—उक्रइनका सबसे बड़ा शहर आया। बिजलीकी रोशनीसे जगमग-जगमग कर रहा था। अगले दिन (७ सितम्बर) सबेरे ही दोनबास पहुँचे। यहाँ चारों ओर कोयलेकी खानें हैं, मकानोंका अन्त नहीं मालूम होता था, फिर दोन नदीके तटपर रोसतोफ शहर आया। दोनको पार किया। अँधेरा होते-होते अब हमारी गाड़ी काकेशसमें चल रही थी। दाहिनी ओर बर्फ़से ढँकी हुई चोटियाँ दिखाई देती थीं। उस दिन ट्रेनका गार्ड भी कुछ देरतक मेरे पास बैठा रहा, और मुझसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिपर वार्त्तालाप करता रहा था।

अगले दिन (८ सितम्बर) सबेरे दाहिनी ओर काकेशसका हिमाचल था; और बाईं ओर सूर्य उग रहा था। मेरे डिब्बेमें एक तुर्ककुटुम्ब भी उसी स्टेशनसे

चढ़ा था। यह ताशकन्दके रहनेवाले थे, किन्तु अब तिफ़लिसके पास कहीं रहते थे। उनमें कई लड़के और स्त्रियाँ थीं। लड़कों, स्त्रियोंके गलेमें ढेरकी ढेर तावीजें बँधी थीं। बोलशविक इन तावीज़ोंको जबर्दस्ती तोड़कर नहीं फेंकना चाहते थे। हाँ, यह मैंने देखा कि स्त्रियाँ अपनी तावीज़ोंको कुरतेके भीतर रखना चाहती थीं। उनकी पोशाक भी कुर्त्ता, पाजामा और ओढ़नी थी, जो पंजाबकी स्त्रियोंसे ज्यादा मिलती थी। मुसल्मान ईसाईका तो सवाल ही नहीं था। सब साथ खाते-पीते चलते थे। अब गाँवोंमें नंगे पैरवाली स्त्रियाँ बहुत मिलती थीं। काकेशसमें घुसते ही जान पड़ा, कि मैं हिन्दुस्तानके नज़दीक पहुँच गया हूँ। पावरोटीके साथ-साथ अब तन्दूरकी रोटियाँ मिलने लगीं। कितनोंके पैरोंके जूते हिन्दुस्तानी जैसे, स्त्रियोंके घँघरे और कुर्ते पंजाब जैसे और गाय-बैल उत्तरी भारतकी नसलके थे—युरोपीय बैलोंके कन्धेपर डील (ककुद) नहीं होता, यहाँ और हिन्दुस्तानके बैल ककुद्मान होते हैं। इधर गाँवोंके मकानोंमें खपरैल और दीवारें सफ़ेदी की हुई थीं। तरुण-तरुणियाँ पुरानी पोशाकको छोड़कर नई पोशाकको अपना चुकी थीं, तो भी रूसियों तथा उनमें रंगका फ़र्क़ था। सवा ६ बजे शामको दोनों ओर दो-एक मीलपर पहाड़ थे। किसी-किसी स्टेशनपर गाना गाकर पैसा माँगनेवाले भी एकाध दीख पड़े। अब इंजन कोयलेकी जगह तेलसे चल रहा था। रातको दो बजे हम बाकू पहुँचे।

बाकू—शहरमें दीपावलीसी जान पड़ती थी। स्टेशन बहुत स्वच्छ था। मुसाफ़िरख़ानेमें लोग कुर्सियोंपर बैठे थे। अंग्रेज़ी जाननेवाले साथीने मेरा सामान लिये-दिये स्टेशनप्रबन्धक एक एशियाई महिलाके पास पहुँचा सहायता देनेकेलिए कहकर खूब जोरसे हाथ मिलाया। मैं स्टेशनकी क्लबमें जाकर बैठ गया। महिला बेचारी तुर्की और रूसी जानती थीं, मैं ज्यादा क्या बातें कर सकता था? उन्होंने कहा—सबेरे इन्टूरिस्ट होटलमें पहुँचवा दूँगी। महिला अधेड़ थीं उनके केश कटे हुए थे। थोड़ी देर बाद एक और एशियाई परिवार आया। माँ पुराने ढंगकी पोशाकमें थी, बेटा-बहू दोनों नई पोशाकमें थे। यह लोग कुछ ही साल पहिले कट्टर मुसल्मान थे। उस वक़्त इस तरुण बहूको सूर्य भी न देख पाता। सबेरे एक आदमी मेरा सामान लेकर इन्टूरिस्टके आफ़िसमें पहुँचा आया। इन्टूरिस्टके आफ़िसमें अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी भाषा जाननेवाली कितनी ही महिलाएँ थीं। एक सत-महला मकान इन्टूरिस्टका होटल था। दूसरे मुल्कोंसे जानेवाले यात्रियोंकी यात्रा, रहने, खाने-पीने, दिखलाने आदिका प्रबन्ध इन्टूरिस्ट करती है। सोवियत्‌के बड़े-

बड़े शहरोंमें इसके अपने आफ़िस और होटल हैं, पथप्रदर्शक दुभाषिए और मोटरें हैं। मुझे एक अच्छा कमरा मिला। नहानेका भी अच्छा इन्तिज़ाम था। आफ़िस-वाली महिलाने बतला दिया था कि ईरानका जहाज़ परसों दोपहर बाद मिलेगा; इसलिए मुझे इस ढाई दिनके समयको पूरा इस्तेमाल करना था। घूमनेकेलिए ले जानेवाली मोटर कुछ देरसे जानेवाली थी, इसलिए मैं अकेले ही निकल पड़ा। बड़े-बड़े मकानोंको देखता समुद्रतटसे एक उद्यानमें गया। यह उद्यान क्रान्तिके बाद बना था। सड़कें कोलतारवाली और कुछ छोटी-छोटी गोल रोडेवाली भी थीं। एक जगह एक यहूदी-मन्दिर (सिनोगोज)को क्लबके रूपमें परिणत देखा, एक ईसाई गिरजा भी किसी दूसरे रूपमें था। एक मसजिद गिर रही थी, बाहरकी दुनियाँमें बोलशेविकोंके खिलाफ प्रचार करनेके लिए काफी मसाला था, क्योंकि कोई यह तो पूछेगा नहीं, कि इन मंदिरोंको क्लबमें परिणत करनेवाली बोलशेविक सर्कार है, या भगत लोग स्वयं ही इन मकानोंको दूसरा रूप देना चाहते हैं। सारे सिबेरिया और बाकूके रास्तेमें मैंने कितने ही गिरजे सुरक्षित अवस्थामें देखे। बोलशेविकोंकी सर्कार तो इतना ही कहती है, कि सर्कारी खज़ानेसे किसीको एक कानीकौड़ी भी नहीं मिलेगी, मसजिद-गिरजा चलाना है, तो भगत लोग अपने पसीनेकी कमाईसे चन्दा करके चलाएँ। हिन्दुस्तानकी सर्कार जो हिन्दू-मुस्लमान कर-दाताओंके लाखों रुपयोंको ईसाई-चर्चकेलिये देती है, इसको जो उचित कहेगा, वही बोलशेविकोंको बुरा कह सकता है। मैं छोटी सड़कोंसे होकर बनारसकी टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंवाले पुराने मुहल्लेमें गया। अभी यहाँ बनारसकी बहार थी, तुर्की नहीं जानता था, नहीं तो कुछ और भी बातें पूँछता।

खाना खानेके बाद एक महिला-दुभाषिया मिली। और मोटरपर हम बाकू और उसके आस-पास के दर्शनीय स्थानोंको देखनेकेलिए निकले। कुछ मकानोंपर १९२४ सन लिखा था, यह पहिलेवाले मकान दुमहले पक्के थे, लेकिन नए मकानोंको तो महल कहना पड़ेगा। इन महलोंमें एसियाई और योरोपीय सभी जातियोंके मजूर एक जगह रहते हैं। इनकी तनख्वाहें एक है। रंग, धरम और जातिका ख्याल इतना मिट गया है, कि परस्पर विवाह बहुत होते हैं। शहरसे बाहर एक विशाल हवाई अड्डा दिखाई पड़ा। सड़कपर कहीं-कहीं ऊँट और गधे भी सामान ढोते दिखाई पड़े। और दूर जानेपर मिट्टीके तेलके कुएँ मिलने लगे। कुएँ किसी वक्त रहे होंगे, अब तो वे मोटे-मोटे पाइप-कूप थे। ज़मीनमें गड़े हुए थे, जिनके ऊपर लोहेका ढाँचा खड़ा था, बिजली पम्पोंको चलाती थी और छोटे बड़े पाइपोंसे होकर तेल बड़े

कारखानोंमें चला जाता था। यह हजारों ढाँचे देखनेमें जंगलसे मालूम होते थे।

प्रायः ५ मील जानेपर हम बड़ी ज्वालादेवीके मंदिरके द्वारपर पहुँचे—यहाँवाले इसे अग्निपूजकोंका मंदिर कहते हैं, किन्तु है यह हिन्दुओंकी बड़ी ज्वालामाई। १६ वर्ष पहिले मैंने इसी ज्वालामाईकी बात सुनी, तो विश्वास नहीं हुआ। उस वक्त गर्मियोंमें नेपाल जानेकेलिए रकसौल (चंपारन जिला) पहुँचा था। रकसौलवाली नदीके तटपर नेपालराज्यमें सड़कके ऊपर एक वैष्णवकी कुटिया थी, मैं वहीं ठहरा हुआ था। वहाँ एक नौजवान वैरागी भी आया था। उससे मैंने पूछा—कहाँसे आए हो सन्त? उसने जवाब दिया था—"मैं बड़ी ज्वालामाईसे आया हूँ, बड़ी ज्वालामाई रूस मुल्कमें है, बड़ी जागता माई है, उसके सामने जो नैवेद्य रखा जाता है, माई अपने आप ग्रहण करती है। वहाँसे महीनों घूमते-घामते हिमालयके कितने ही पहाड़ोंको पारकर मैं यहाँ पहुँचा हूँ।" मैं उसे झूठा समझता था, यद्यपि उसके मुँहपर मैंने ऐसा नहीं कहा। पीछे अंग्रेजीकी किसी अनुसंधान-पत्रिकामें बाकूके हिन्दूमंदिर और उसकी ज्वालामाईका विवरण पढ़ा, तब विश्वास हुआ, कि वह साधू सच बोल रहा था। आज मैं ज्वालामाईके द्वारपर पहुँचा था। पथप्रदर्शिकाने चौकीदारको बुलाया, फाटक खोला गया, एक चौकोर आँगन जिसकी चारों तरफ़ पक्की कोठरियाँ थीं। कितनी ही कोठरियोंमें पत्थरपर लेख खुदे हुए थे, जिनकी संख्या बारह-तेरहसे कम न होगी। यह लेख ज्यादातर नागरीमें थे, दो गुरुमुखीमें भी थे। आँगनके बीच-में एक कुंड था, जिसके ऊपर खंभोंपर पक्की छतरी थी, इस कुंडमें आजसे दस साल पहिले तक आग जला करती थी, यही हिन्दुओंकी बड़ी ज्वालामाई थी। आसपास तो सारे मिट्टीके तेलके कुएँ हैं ही, ऐसी जगह किसी संघर्षसे आगका जल उठना और फिर भीतरकी गैससे उसका बराबर जलते रहना बिलकुल स्वाभाविक बात है। शायद हिन्दुओंकी ज्वालामाई उस वक्त प्रकट हुई थीं, जब कि मिट्टीके तेलका उपयोग अभी शुरू नहीं हुआ था।

मैंने जब वहाँके शिलालेखोंको धड़ाधड़ पढ़ना शुरू किया, तो पथप्रदर्शिकाको मेरे अपार ज्ञानपर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—यहाँ बड़े-बड़े पंडित आये, लेकिन कोई इन लेखोंको नहीं पढ़ सका। मैंने कहा—इन लेखोंको हमारे देशका कोई भी चौथे दर्जेमें पढ़नेवाला लड़का धड़ल्लेके साथ पढ़ सकता है। उन लेखोंमेंसे एक नागरी लेख निम्न प्रकार है—

"॥६०॥ ओं श्रीगणेशायनमः ॥ श्लोक ॥ स्वस्तिश्री नरपति विक्रमादित राजसाके ॥ श्रीज्वालाजी नियत दरवाजा बणाया: अतीकेचनगिर संन्यासी राम-

दहावासी कोटेश्वर महादेवका ।।. . . .आसोज वदि ८। संवत् १८६६ ।।"

ज्वालामाईकी समाधिको देखकर फिर हमारी मोटर एक पुराने गाँवको दिखलानेकेलिए ज़िख पहुँची। मकानोंको पुराना रखनेकेलिए बहुत कोशिश की गई थी, लेकिन वहाँके निवासी तो पुराने ढंगसे नहीं न रहना चाहते ? घरोंमें बिजली और पानीके नलके लगे थे, खिड़कियोंमें भी काँच लगे थे। फिर समुद्रतटपर गये। यहाँ समुद्रमें कूद-कूदकर नहानेका इन्तिज़ाम है। बाकूकी पथरीली ज़मीनमें मीठा पानी दुर्लभ चीज़ है, लेकिन तो भी यहाँपर एक विशाल उद्यान लगाया गया है। हम लोग दुपहरीकी धूपमें पहुँचे थे, इसलिए शीतल छायाका मूल्य अच्छी तरह समझ सकते थे। अभी वृक्ष छोटे थे, लेकिन दस-पन्द्रह सालमें इनकी सघन छायाके भीतर सूर्यका ताप प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। उद्यानमें नाटक और सिनेमाकेलिए एक बड़ी रंगशाला थी और एक बड़ा रेस्तोराँ भी। वहाँसे लौटकर हम होटल चले आये। रातको आरमेनियन भाषाका फ़िल्म देखने गये। फ़िल्ममें प्राकृतिक दृश्य बड़े ही सुन्दर और विशाल दिखलाये गये थे। ज़ारशाही अफ़सर किस तरह न्यायका नाटक खेलते थे, यही कहानीका विषय था।

अगले दिन (१० सितम्बर) मैंने कुछ और स्थानोंको देखा। पहिले स्तालिन कमकर सांस्कृतिकप्रासादमें गया। यह एक पँचमहला इमारत थी। इसके दो सभाभवनोंमेंसे एकमें एक हज़ार और दूसरीमें चार सौ कुर्सियाँ थीं। नाटक, सिनेमा, व्याख्यान और सोवियत् चुनावकेलिए इन भवनोंका उपयोग किया जाता है। यहाँ एक मिट्टीके तेलका म्यूज़ियम था, जिससे मिट्टीके तेलके बारेमें बहुतसी बातें मालूम हो सकती थीं। पुस्तकालयमें पाँच हज़ार पुस्तकें थीं। एक कमरेमें बिना पंखका एक हवाई जहाज़ रखा हुआ था, रुचि रखनेवाले कमकर यहाँ हवाई जहाज़के पुरज़ोंके बारेमें सीखते थे। फिर पंचायती-भोजनालयमें गये। यह भी पँचतल्ला महल है। भीतर जानेसे पहिले डाक्टरों जैसा सफ़ेद चोग़ा हमें ऊपरसे पहननेकेलिए दिया गया। भोजनसामग्री देखनेकेलिए यहाँ विशेषज्ञ डाक्टर थे। एक रसायनशाला थी, जिसमें कच्चे-पक्के भोजनकी परीक्षा होती थी। भीतर मेज़-कुर्सीपर बैठकर खानेकेलिए कई शालाएँ थीं। तरकारियाँ, मांस सभी मशीनसे काटी जाती थीं और मशीन हीसे धुलाई होती थी, यहाँ तीस हज़ार भोजन (परोसा) रोज़ तैयार होता था, अर्थात् सात हज़ारसे ऊपर आदमी जलपान, मध्याहन् भोजन, चायपान और रात्रिभोजन यहाँ करते थे। ६ बजे ही जलपान तैयार हो जाता था। भोजन पकानेके कमरोंमें गये, यहाँ दो-दो तीन-तीन मन पकानेवाले कई बड़े कड़ाह थे, आँच एक नलीद्वारा पेंदीसे पहुँ-

चाई जाती थी। हर कड़ाहमें गर्मी नापनेकेलिए थर्मामीटर लगा हुआ था। सामने दीवारपर घड़ी टँगी हुई थी, हर चीज़को नाप-तोलके डाला जाता था। थर्मामीटर तथा घड़ी बतला देते थे कि वह कब पक जायगा। एक जगह मशीन जूठे बरतनोंको धोकर साफ़ कर रही थी। भोजनशालामें जानेपर हमें कुछ भोजन करनेकेलिए कहा गया। मैंने शीशेकी ग्लासमें जमा दही खाया, बड़ा स्वादिष्ट था। हमारे साथकी अंग्रेज़ महिलाने इस संस्थाके बारेमें कहा कि यह बिल्कुल नई चीज़ है। वहाँसे फिर हम स्तालिनप्रासाद-स्कूलमें गये। यहाँ ७से १७ वर्षके १८०० बालक-बालिकाएँ एक साथ पढ़ती थी, जिनमें १९० तुर्क, २५० तातार, ३२० आरमेनियन और १०४० रूसी थे। बालकोंसे बालिकाओंकी संख्या अधिक थी। हर महीनेकी छठी, १२वीं, १८वीं, २४वीं तथा महीनेकी अन्तिम तारीख़को छुट्टी रहती थी। ७से १२ सालके बच्चे प्रतिदिन ४ घंटा पढ़ते थे, १३से १७वाले ६ घंटा। स्कूलके साथ भोजनशाला थी, जहाँ लड़कोंको मुफ़्त भोजन मिलता था, फ़ीसका तो सवाल ही नहीं। हमारे साथकी अंग्रेज़ महिलाने अध्यापकसे पूछा—आप धर्मके विरुद्ध किस तरह शिक्षा देते हैं। अध्यापकने बतलाया—धर्मके विरुद्ध क्या हम तो अपनी पुस्तकोंमें धर्मका नाम भी नहीं आने देते। हाँ, कोई घरसे सुन-सुनाकर कुछ पूछता है, तो उसका साइंसके सहारे समाधान करते हैं।

फिर हम वागीरोफ शिशुशालामें गये। यहाँ ४से ६ वर्षतकके डेढ़ सौ बच्चे रहते हैं। उनकेलिए मुँह धोनेको दीवारके सहारे नीचे-नीचे नल लगे हुए, जिनके पास रुमाल टाँगनेकी खूटियाँ लगी हैं। साबुनके भी स्थान बने हुए हैं। खानेके कमरेमें छोटी-छोटी मेज़ें, छोटी-छोटी कुर्सियाँ, उनकी प्याली और प्लेट भी छोटे-छोटे हैं। डेढ़ सौ क़िस्मसे बेशी खिलौने हैं। लड़कोंको अभी अक्षर नहीं सिखलाया जाता, इसलिए रूमालों और अपनी-अपनी आलमारियोंपर कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदिकी तसवीरें बनी हैं। यह तसवीरें एक-एक लड़केकेलिए अलग हैं और इसीसे वह अपने-अपने उपयोगकी चीज़ें पहिचानते हैं। माताएँ अपने बच्चोंको ८ बजेसे ४ बजेतककेलिए रख जाती हैं। शिशुशाला हीकी तरफ़से उन्हें दो बार भोजन दिया जाता है। नर्सने हमें बच्चोंकी खींची तसवीरोंकी फ़ाइलें दिखाईं। लड़कोंको चीन्हा खींचनेका शौक़ होता है, उन्हें खेलनेकेलिए काग़ज़ और रंग-बिरंगी पेन्सिलें दी जाती हैं। वे खेलकेलिए तसवीरें बनाते हैं, लेकिन काग़ज़के एक-एक टुकड़ेकी फ़ाइल रखी जाती है। जो चित्रकलामें असाधारण प्रतिभा रखते हैं, उन्हें ६ वर्षतक पकड़ लेते हैं, और पढ़ाने-सिखानेकेलिए उन्हें ख़ास विद्यालयोंमें भेज दिया जाता

है। संगीत, अभिनय, गणित आदि कलाओंके भी असाधारण प्रतिभाशाली इसी तरह अलग करके सुशिक्षित किये जाते हैं। हम दो बजे पहुँचे थे, उस वक़्त बच्चे चारपाईपर लेटे हुए थे; उनमेंसे कोई-कोई बात भी कर रहे थे। हम लोग पैर दबाये चुपकेसे कमरेको पार कर गये। बाकूमें इस तरहकी सौसे अधिक बालशालाएँ हैं।

अगले दिन (११ सितम्बर) फिर मैं अकेले ही शहरमें निकला और उसकी सड़कों तथा गली-कूचोंमें फिरता रहा। वहाँ सोडावाटर और छोटी-छोटी दूकानोंसे लेकर बड़ी-बड़ी महादूकानोंतक सभी राष्ट्रीय हैं, यह मैं जानता था। एक मझोले दर्जेकी दूकानमें जा मैंने चमड़ेका एक मनीबेग पसन्द किया। उसपर ८ रूबल १० कोपेक लिखा हुआ था। फिर मैं ख़ज़ानचीके पास गया, उसे दाम दिया, उसने दोहरी पुरज़ी दी, उसमेंसे एकको बेचनेवालेके हाथमें दिया, और मनीबेग लेकर चला आया। बाकूमें दो दिन पाँच-पाँच घंटा घूमनेका १४ डालर लगा, जहाज़के सेकेंड क्लासका १६ डालर, बाक़ी खाने-रहने आदिका ६ डालर सब मिलाकर २३ डालर या ७० रुपये ख़र्च हुए।

ईरान कौंसलसे मैं बीज़ा ले चुका था। ढाई बजे बन्दरगाहपर पहुँचा। कस्टम अफ़सर एक एसियाई थे, जो फ़ारसी जानते थे, उन्होंने मामूली तौरसे सब देख लिया, रुपयोंको गिन लिया। फिर मैं जहाज़पर पहुँचा। जहाज़का नाम 'फोमिन' था। यह एक हल्कासा जहाज़ था। मेरे केबिनमें तीन बर्थें थीं, लेकिन मैं वहाँ अकेला था। जहाज़पर आकर बाकूके दो फ़ोटो लिये। बाकू समुद्रतटपर धनुषाकार बसा हुआ है।

यात्रियोंमें कुछ युरोपियन और दो-चार ईरानी थे। रेडियोमें आजुरबाइजानी (बाकू) गाना गाया जा रहा था। ऊपर डेकपर गया। वहाँ एक अधेड़ ईरानी मिला। वह सोवियत् सरकारको सराप दे रहा था—मैं १२ वर्षसे गंजामें रहा, बीबी-बाल-बच्चे यहीं हैं। शरीरमें बल था, तो कमाया, अब हड्डी रह गई, तो कह दिया तुम चले जाओ अपने देशमें। उसने एकतरफ़ा बात की। यह तो नहीं बतलाया कि उसने कितनी बार साम्यवादी नियमोंकी अवहेलना की, शराब पीकर कितनी बार बीबी-बच्चोंको मारा। ख़ैर, मुझे सन्तोष हुआ कि अब सवा सौ शब्दोंके भरोसे-पर जबानका गला घोटना नहीं है। अब मैं पारसी बोलनेवालोंमें जा रहा था। कास्पियन समुद्रके शान्त तलपर "फोमिन" सरकता जा रहा था, और मैं पिछले १४ दिनके देखे दृश्योंकी मानसिक आवृत्ति कर रहा था।

२३

ईरानमें पहिली बार

१२ सितंबरको सबेरे ८ बजे दूर एक ओर धुंधलीसी तटभूमि दिखाई देने लगी। जहाज़ १० बजे एक पतली झीलमें होता हुआ किनारेपर पहुँचा। इसी झीलकी एक ओर कज़ियान और दूसरी ओर पहलवी नगर बसे हुए हैं। पहलवीकी जनसंख्या १४ हज़ार है, जिसमें काफ़ी संख्या रूसियोंकी है। इस बन्दर और नगरको ज़ारशाही सरकारने बसाया था। यहाँके मकान रूसी ढंगके हैं, सड़कें चौड़ी हैं। पासपोर्ट और कस्टमकी जाँचमें कोई दिक़्क़त नहीं हुई। हमें अब तेहरान जाना था। १५ तुमान (१५० रियाल)में एक मोटरमें जगह मिल रही थी, दूसरे मोटरवालेने १० तुमानमें ले जानेकी बात कही, लेकिन जब पहिली मोटर चली गई, तो वह इधर-उधर करने लगा। आख़िरमें हम १३ तुमान देनेकेलिए राज़ी हुए। इस मोटरमें चेकोस्लोवाकियाके एक दम्पती (पति-पत्नी) भी चल रहे थे। पहलवीमें सबसे सस्ती चीज़ अंगूर मालूम हुई। १ बजे हमारी मोटर रवाना हुई। ३९ किलोमीतर (२६ मीलपर)पर रेश्तका क़सबा मिला। अच्छी ख़ासी आबादी है। प्रधान सड़क ख़ूब चौड़ी है। बहुतसे मकानोंकी छतें लाल खपड़ैलोंकी हैं, जैसी कि पूर्वी यू० पी०में हुआ करती हैं। गाँवोंके धानके खेत, फूस और खपड़ैलके छतोंको देखकर मुझे भारत याद आता था। ईरानी भी गिलानके इस इलाक़ेको छोटा हिन्दुस्तान (हिन्द-कोचक) कहते हैं। आगे दूरतक छोटे वृक्षोंका घना जंगल चला गया है। मैंने समझा कि अब सारा दृश्य हिन्दुस्तान जैसा आयेगा। १२० किलोमीतर (८० मील)पर मंज़िल नामक स्थान आया। यहाँ ख़ूब हवा चल रही थी। मालूम हुआ कि गर्मियोंमें इस पहाड़ी दर्रेसे हमेशा तेज़ हवा चला करती है। हमारी सड़क सफ़ेदरूद (श्वेत-रोधस्) दरियाको पुलसे पार हुई थी। नदीमें पानी काफ़ी था। इस सड़कसे बहुतसी लारियाँ चल रही थीं। चेकोस्लोवक सज्जन बहुत दिनोंसे ईरानमें रहते थे। फ़ारसी बहुत अच्छी बोलते थे। तेहरानमें तो मेरा कोई परिचित नहीं था, अतः रातको दूसरा स्थान ढूंढ़नेसे बेहतर यही था, कि उन्हींके होटलमें ठहर जाऊँ। ९ बजे हम कुहिन् (१९४ किलोमीतर)तक पहुँचे। यहाँ कितने ही भोजनालय थे। तीनोंने तँदूरी रोटी और मुर्ग़का मांस ख़ूब छककर खाया। साथीने बतलाया कि जाड़ोंमें रास्ता यहाँ कभी-कभी बरफ़से रुक जाता है। ११ बजे बाद हम कज़वीन (२३२

किलोमीतर) पहुँचे। किसी समय यह ईरानकी राजधानी थी—चौड़ी सड़क, विशाल फाटक और बिजलीकी रोशनी। पीछे भी कई जगह हमें अपने पासपोर्ट दिखाने पड़े थे। यहाँ भी जाँच हुई। १ बजे गाराज़ (३३७ किलोमीतर) पहुँचे। सड़क ख़ूब अच्छी और रातको पूनोंसी चाँदनी छिटक रही थी। दो बजे रातको तेहरान (पहलवीसे ३७७ किलोमीतर या २५० मील) पहुँच गये। मेहमानख़ाना कस्र (प्रासाद होटल)में ठहरे।

तेहरानमें—६ बजे मुँह-हाथ धोकर बाहर निकले। सड़कें ख़ूब चौड़ी, पक्की और साफ़ थीं। मकान भी कितने ही अच्छे थे। सरकारी दफ़्तर और ईरान राष्ट्रीय बैंककी इमारतें विशाल और भव्य थीं। एक भोजनशालामें दो रियाल (५ आना) देकर मांस-रोटीका भोजन किया। सस्तेपनमें तो ईरान जापानको भी मात कर रहा था। हाँ यहाँ जूठ-मीठका परहेज़ बिल्कुल नहीं। शीशेके एक बड़े गिलासमें बरफ़का टुकड़ा डाल एक आदमीको पानी पिला, फिर उसी टुकड़ेके साथ दूसरा पानी डालकर दूसरेको पिला देते। लोगोंकी पोशाक बिल्कुल युरोपियन है। रज़ा-शाह पहलवीने ईरानकी सारी पुरानी रूढ़ियोंको तोड़नेकेलिए इसे ज़रूरी समझा। स्त्रियाँ भी यूरोपियन पोशाक पहनती हैं, लेकिन ऊपरसे एक काला पर्दा डाल लेती हैं, लेकिन मुँह बिल्कुल खुला रहता है। घूमते-फिरते एक आरमेनियन बस-ड्राइवरसे मित्रता हो गई। उन्होंने ईरानकी बहुतसी बातें बतलाईं। उनकी अतिशयोक्ति थी, पर्देकी आड़में यहाँ हद दर्जेका व्यभिचार है। शायद ही कोई औरत अपने पतिपर सन्तोष करती हो, और दूसरेके पास सिर्फ़ पैसेकेलिए न जाती हो। सरकारने इस बुराईको हटानेकेलिए भी पर्देका हटाना ज़रूरी समझा।

आज शुक्रवार (१३ सितम्बर)को छुट्टीका दिन था, लेकिन ईरानी छुट्टीको धर्मकेलिए नहीं, मौजकेलिए इस्तेमाल करते हैं। लोग तेहरानसे १५ किलो-मीतर (१० मील) दूर शमीरानको बसोंपर जा रहे थे। यह जगह तेहरानसे उत्तर अलबुर्ज़—ईरानके सर्वोच्च तथा सुन्दरतम पर्वतशिखर—की जड़में है। शमीरान तेहरानसे ८०० मीतर ऊँची और अधिक ठंडी जगह है। मैं भी बसपर शमीरान चला। सड़क बहुत अच्छी है, रास्तेमें बहुतसे बाग़ हैं, और शमीरानमें तो और ज़्यादा। रास्तेमें क़िलानुमा एक पुराना जेल, फ़ौजी छावनी और बेतारका स्टेशन मिला। मैं सब देखकर रातको अपने होटलमें लौट आया। दूसरे दिन फिर निकला। पहलवी महल, हथियारख़ाना, मजलिस (पार्लामेंटभवन) आदि इमारतें देखीं, फिर ख़याबान चिराग़-बर्क़ (बिजली-बत्ती-सड़क)पर कई हिन्दुस्तानी दूकानें देखीं।

सरदार रनवीरसिंहसे परिचय हुआ, और मैं उनके पासके अहवाज-होटलमें चला आया। पहिले होटलमें एक रोजका जहाँ चौदह-पन्द्रह रियाल किराया था, वहाँ इस होटलमें चार रियाल (१० आना) रोजपर एक कमरा मिल गया।

अस्फ़हानको—अभी कुछ दिन मैं ईरानमें रह सकता था, इसलिए कुछ शहरोंके देखनेका निश्चय किया। रज़ाशाह-पहलवी जबसे ईरानके शासक हुए, तबसे उन्होंने देशकी काफी उन्नति की। शिक्षा भी बढ़ी, व्यवसायमें भी ईरानी आगे आये। डकैती-बटमारी भी देशसे हटी, और सबसे बड़ी बात यह हुई है, कि ईरानियोंने अपनेको पहिचाना है। पुरानी रूढ़ियोंको उखाड़कर उन्होंने देशोन्नतिकेलिए मज़बूत नींव रखी है। अच्छे कामोंमें विघ्न भी होते हैं, जिन्हें जहाँ-तहाँ प्रसंगवश मैं बतलाऊँगा। साधारण जनताके जीवनमें कितनी ही अनावश्यक पाबन्दियाँ आ गई हैं, जिनमें एकके कारण ईरानमें यात्रा करना तरद्दुदका काम हो गया है। देशी लोगोंको भी यहाँ अपने फ़ोटोके साथ एक प्रमाणपत्र (जावाज़) लेना पड़ता है। इसमें शक नहीं, कि इससे सामाजिक अशान्तिकर्त्ताओंके रास्तेमें रुकावट होती है, लेकिन गाँव और शहरके हरेक यात्रीको एक शहरसे दूसरे शहर जानेकेलिए प्रमाण-पत्र लेना, और उसे शहर-शहरमें दिखलाना बड़ी कठिनाइयाँ पैदा करता है। खास करके जब अफ़सरोंमें सुस्ती, बेपरवाही और घूस-रिश्वतकी आदत मौजूद है। विदेशियोंके पास तो पासपोर्ट रहता ही है, उन्हें जावाज़केलिए मजबूर करना ख्वाहमख्वाह हैरान करना है। और जावाज़ देनेवाले अफ़सर तो और भी तंग करते हैं। लोग पासपोर्ट थामे घंटों खड़े रहते हैं और वहाँ रजिस्टर मिलाया जा रहा है। खैर, किसी तरह मैंने जावाज़ ले २६ रियाल (४ रु० १ आ०) देकर अस-फ़हान जानेवाली बसका टिकट लिया। इधर होटलोंमें ओढ़ना-बिछौना मिल ही जाता है, इसलिए मैं अपना सामान सरदार रणवीरसिंहके यहाँ छोड़ आया था, मेरे पास एक फ़ोलियोबैग, फ़ोटोकैमरा भर था। मोटर ८ बजे रातको रवाना हुई। बसोंपर आदमियोंकी तादाद लिखी रहती है, लेकिन उसकी कोई परवाह नहीं करता। आदमी ठूँस-ठूँसकर भर दिये जाते हैं। शहरसे बाहर आध घंटेतक पुलीसवालेने लिखापढ़ीकेलिए रोका। शहरसे कुछ मील चलनेपर फिर एक जगह काग़ज़-पत्र देखनेकेलिए खड़ा किया गया, हमारी बसमें ३ आदमी बिना जावाज़के थे। स्थान तो मालूम ही था, इसलिए वह पहिले ही उतरकर पैदल चल दिये और आगे फिर उन्होंने बस पकड़ ली। दो बजे रातको हम कुम् पहुँचे। २ रियाल (५ आना) देनेपर मुसाफ़िरखानेमें सोनेकेलिए चारपाई, ओढ़ना-बिछौना सब मिल गया। कुम् तेहरानसे

१४६ किलोमीतर और समुद्रतलसे ३२०० फ़ीट ऊपर है, आबादी ३० हज़ार है। यहाँ इमामरज़ाकी बहन फ़ातमाकी सोनेकी छतवाली दरगाह है, इसीलिए कुम् भी एक छोटा-मोटा तीर्थ है। बतला रहे थे कि दरगाहके सामने पहिले लाखों क़ब्रें थीं। अब उनका पता नहीं, अब उनकी जगह एक सार्वजनिक बाग़-(बाग़े-मिल्ली=जातीय उद्यान) और मैदान है। मैंने कहा—"शाबाश रज़ाशाह!" यहाँके घरोंकी छतें मिट्टीकी हैं, जिसे मज़बूत करनेकेलिए भुसमिली मिट्टीको इस्तेमाल किया गया है। ईरानमें वर्षा कम होती है, इसलिए लोग पानीका मूल्य जानते हैं। हरेक घरके नीचे चहबच्चा होता है, जिसमें बरसातका पानी जमा किया जाता है। यह हाथ-पैर धोने, नहानेके काम आता है। एक आदमीके जूठे बरफ़से पचासों आदमी ठंडा पानी यहाँ भी पी रहे थे। मैंने इससे बचनेकेलिए ख़रबूज़ा (सरदा) और तरबूज़ लेना पसंद किया। कुमके बाजारकी गलियाँ भी छतसे ढँकी हुई हैं। छतें मेहराबदार हैं। जिस होटलमें मैं ठहरा था, उसपर लिखा था "मुसाफ़िरख़ाना-इक़्तिसाद, बाकमाल एह्तराम् अज़ आक़ायान् मुसाफ़िरीन् पज़ीराई मीशवद्" इसी तरह दूसरे मुसाफ़िरख़ानोंपर भी लिखा था। मेह्मानख़ाना अच्छे होटलको कहते हैं और मुसाफ़िरख़ाना टुटपुँजियाको। ३ बजे शामको फिर हमारी बस रवाना हुई। शहरसे बाहर होते ही पासपोर्ट देखा गया। देखनेमें यह प्रदेश तिब्बत जैसा मालूम होता था। वैसी ही छोटी-छोटी नंगी पहाड़ियाँ, वैसी ही उपत्यकाएँ। वृक्ष-जंगलका नाम नहीं। हाँ, तिब्बतमें नदियाँ काफ़ी बहती हैं, यहाँ वह भी नहीं। लेकिन ज़मीनमें पानी आसानीसे निकल आता है। इस पानीको कहीं-कहीं भूगर्भी नहरके द्वारा एक जगहसे दूसरी जगह ले जाया जाता है। ऐसी नहरोंको बनानेकेलिए थोड़ी-थोड़ी दूरपर कुएँसे खोदे जाते हैं और भीतरसे खोदकर एक कुएँको दूसरे कुएँसे मिला दिया जाता है। कहीं-कहीं नहरें खुले मुँहकी होती हैं, जैसा कि यहाँ कुममें मैंने देखा। ईरानकी भूमिमें वह तासीर है, कि यहाँ जो भी फल लगाया जाता है, वही अमृत हो जाता है। हाँ, आम, लीची जैसे गर्म देशोंके फल यहाँ नहीं हो सकते। केवल पानीका इन्तिज़ाम हो जाय, तो सारा ईरान मेवोंके बाग़के रूपमें परिणत हो सकता है। ईरानमें अब डाकुओंका डर नहीं रहा, इसलिए बसें रातभर चला करती हैं। मुसाफ़िरोंकी आफ़त आती है, क्योंकि उन्हें अपने बेंचपर बैठे-बैठे ऊँघना पड़ता है। रातके २ या ३ बजे किसी गाँवमें बस ठहरी, और हम मुसाफ़िरख़ानेमें (होटलमें) सो गये।

अगले दिन सबेरे असफ़हान पहुँच गये। असफ़हान बहुत दिनोंतक ईरानकी राजधानी रहा। इसकी भी सड़कें चौड़ी और अच्छी हालतमें हैं। उनके किनारे

नहरें बहती हैं जिनसे छिड़काव होता रहता है। सड़कें निकालनेमें सरकारने मकानों, मक़बरों, मसजिदोंकी परवाह नहीं की। जो रास्तेमें पड़ा, उसे गिरा दिया गया। शहर घूमनेकेलिए तीन तोमान,=३० रियाल (४ रुपया ११ आना) पर एक फ़िटन (दुरुशका) किरायेपर ली। गाड़ीबान असग़र एक छ फ़ुट्टे हट्टेकट्टे नौजवान थे उनके भूरे बालोंके साथ उनकी नीली आँखोंमें रूक्षता, कठोरताका निशान नहीं था। चहलसुतून (चत्वारिंशत् स्थूणा) देखने गये। इस बारहदरीमें हैं बीस ही खम्भे, लेकिन सामनेके जलकुंडमें बीस खम्भोंकी छाया आती है, इसीलिए चालीस-खम्भा कहते हैं। मैदानशाहमें गये। यहाँ एक अच्छा तालाब और बाग़ है। सारे मैदानके गिर्द इमारतें बनी हुई हैं, और ख़ाली हिस्सेको नई इमारतोंसे घेरा जा रहा है। हारून-वलायतकी क़ब्र बहुत पूजी जाती है। यही बात सर आग़ाख़ूनकी क़ब्रकी भी है। यहाँ भक्तोंकी बड़ी भीड़ लगी थी। इमामजादा इस्माइलकी क़ब्रके सामने एक नौजवान अपने हैटको उतारकर सिर झुका रहा था; जान पड़ता है, हैटकोटसे इस्लामको कोई ख़तरा नहीं, फिर मुल्ले हायतोबा क्यों मचाते हैं?

मैंने पुराने असफ़हानकी कुछ बची-खुची चीज़ोंको भी देखना चाहा, क्योंकि इस्लामके आनेसे पहिले भी असफ़हान ईरानका एक मशहूर शहर रहा। शहरसे बाहर कुह (कोह)-आतिशगाह वह पर्वत है, जिसपर कभी पुराने पारसियोंका अग्नि-मन्दिर था। कहते हैं, हज़ारों वर्षोंसे वहाँ आग जलती आई थी, जिसे कि इस्लामने आकर बुझाया। अब अग्निशालाकी कुछ दीवारेंभर खड़ी रह गई हैं। मध्याह्न होनेको आया। मैंने असग़रसे कहा, भाई! कहीं अच्छे बाग़ और नहरके किनारे चलो, वहीं खाना खाया जायगा। वह मुझे उपनगरके गाँवमें ले गया। नीले पानीकी चार-पाँच हाथ चौड़ी और तीन हाथ गहरी नहर बह रही थी। किनारेपर सायादार वृक्ष थे। मीठे सरदे, ख़रबूज़ेसे भी सस्ते बिकते थे, अंगूर भी सस्ता था। मैंने काफ़ी सरदे और अंगूर ले लिये। असग़रने वहाँ किसी घरसे चायका भी इन्तज़ाम कर दिया। जिस वक़्त मैं नहरके किनारे बैठकर खाना खा रहा था, उस वक़्त लड़कपनमें पढ़े "क़िस्सा हातिमताई"का कोई नज़ारा—देव और परियाँ याद आ रही थीं। हाँ, यह कोहक़ाफ़ नहीं तेहरान था। खा-पीकर बाहरकी ओर चले। शहरके बाहर उजड़े घर बहुत थे। दूर पहाड़ दिखाई पड़ते थे। शीराज़की सड़कसे नज़दीक लेकिन सड़कसे दूर कुहसपेद था, जिसमें ईसाई साधुओंका एक मठ था। असग़रने बतलाया कि बरसातमें यह पहाड़ हरी घासोंसे ढँके बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। जाड़ोंमें बर्फ़ पड़ जाती है। बाहरसे देखनेपर असफ़हान बाग़ोंका नगर मालूम होता था, जिसमें

मस्जिदोंके नीले-नीले गुम्बद जहाँ-तहाँ दिखाई देते थे। असफ़हानसे पूरबमें करमान्, दक्षिणमें शीराज़ (पारस), पच्छिममें बख्तियारी और उत्तरमें तेहरानके इलाक़े हैं। असफ़हानमें कपड़ेकी मिलें और कितने ही दूसरे भी कारख़ाने हैं। शहरकी ओर लौटे, रास्तेमें चहारबाग़का सुन्दर उद्यान मिला।

शीराज़को—२८ रियाल (४ रुपया ६ आना) देकर शीराज़की बसपर बैठा। चार बजे खुलनेकी बात कही जा रही थी, लेकिन यहाँ बातका कोई ठिकाना नहीं, हमारी बस आठ बजे रवाना हुई। इसमें भी मुसाफ़िरोंको ख़ूब ठूँसा गया था। दो जने कलसे ही टिकट कटाये बैठे थे। मैंने अपने भाग्यको सराहा। आबादीमें २ बजे रातको पहुँचे। एक चारपाई मिली, किन्तु ओढ़ना-बिछौना कुछ नहीं था। मैं कोट-पतलून पहिने ही सो गया। ड्राइबर बिल्कुल बेपरवाह, ऊपरसे मदक-चंडू पीनेवाले—चंडू पीना तो यहाँ तम्बाकू पीनेकी तरह है। लॉरी इतनी तेज़ चलाई जाती थी, कि किसी वक़्त भी दुर्घटना हो जानेका डर रहता। सरकारकी ओरसे अफ़ीम पर कोई रुकावट नहीं है।

८ बजे बस रवाना हुई। रास्ता सारा पहाड़ी था। कई डाँड़े पार करने पड़े। गाँव बहुत दूर-दूरपर मिलते और वृक्ष गाँव हीमें दिखलाई पड़ते। एक जगह मैंने अपने साथीके साथ भोजन किया। दोनों आदमियोंने ख़ूब छककर गोश्त-रोटी, चाय-अंगूर खाया और दाम ख़र्च हुआ पाँच आनेसे भी कम। घंटाभर आराम करके हम फिर चले। बसमें एक पलटनिहाँ हवलदार थे, उनका मिज़ाज देखनेसे मालूम होता था कि शाहके उत्तराधिकारी हैं। हमारी बसमें नौ बुर्क़ापोश औरतें थीं, जिनमें एक बारह सालकी लड़की भी थी। अब हम दारयोश (दारा)की ख़ास जन्मभूमि पारसके सूबेमें चल रहे थे। चारों तरफ़ वही नंगी सूखी पहाड़ियाँ थीं। बसमें धूल उड़ रही थी। ताज्जुब होता था कि प्राकृतिक सौन्दर्यसे वंचित इस देशमें हाफ़िज़ और शादी जैसे कवि कैसे पैदा हो गये। ४ बजेके क़रीब हम तख़्तजमशीद (परसे-पुलीस=पारसपुरी) पहुँचे। सामने बहुत लम्बी-चौड़ी उपत्यका, लेकिन पहाड़ बिल्लकु नंगे थे। उपत्यका भी सौन्दर्य-वंचित। क्या ईरानके महान शाहंशाहोंके समय भी यह जगह ऐसी ही सूखी और नंगी थी। पारसपुरी उस समय सारी सभ्य दुनियाकी राजधानी थी। दाराके राज्यमें पूरबमें सिन्ध, पच्छिममें यूनान और मिस्रतक शामिल थे। पहाड़की जड़में दाराके महल थे। अब भी उसके बड़े-बड़े खम्भे वहाँ खड़े थे।

चिराग़ जलते समय हम शीराज़ पहुँचे। पहिले ही पुलिसने जावाज़ ले लिया।

मेहमानखाना ईरानमें भी ५ रियाल (साढ़े १२ आना) रोजपर एक अच्छा कमरा मिला। कुर्सी, मेज़, पलँग, बिस्तरा, लिहाफ़, बिजलीकी रोशनी सब मौजूद थी। आधा रियाल (५ पैसा) देनेपर स्नानका भी इन्तिज़ाम हो गया। अब दो दिन (१९, २० सितम्बर) शीराज़में ही रहना था। शीराज़ सूबा पारसका सदर है, यह समुद्र-तलसे ५२०० फ़ीट ऊपर है। इसकी आबादी ७० हज़ार है। करीमखाँ बाज़ार, आर्क (किला) को देखा। शाहरज़ा सिपाहीसे बादशाह बने, इसलिए सिपाहियोंकी ओर उनका ध्यान ज़्यादा रहता है। पलटन, पुलिस उनके वफ़ादार हैं। दस तुमान (१५रुपए) मासिक तनख्वाह बुरी नहीं है। वरदी भी अच्छी होती है। घोड़ागाड़ी की, और नज़्मिया (कोतवाली) से एक आदमी ले शहरसे बाहर हाफ़िज़के मज़ारपर गया। हाफ़िज़ फ़ारसीका महान कवि है। अपने पुराने कवियों और पुराने वीरोंके सम्मानकी ओर नए ईरानका खासतौरसे ध्यान है। मज़ार (समाधि) की नए सिरेसे मरम्मत हुई है, नई छतरी लगी है, लेकिन कोई कला नहीं, कोई सौन्दर्य नहीं। इससे अच्छा होता, यदि यहाँ एक सुन्दर बाग लगा दिया गया होता। एक मील और जानेपर शेख सादी-की कब्र पर गए। यह थोड़ासा पहाड़के भीतर घुसकर है। पासके गाँवका नाम है, करिया-सादी (सादी गाँव) और पासके चश्मेका नाम है, "आबे-सादी" (सादी-आप)। एक दोमहलेके ढंगेसे मकानके भीतर महान कविकी समाधि है। समाधिके किनारे पत्थरका कटघरा है, सफ़ाई और मरम्मतका ख्याल रखा गया है। लेकिन नवीन ईरान इतने हीसे संतुष्ट नहीं है, वह लोगोंकी इस धारणाको भी हटाना चाहता है, कि चित्र या मूर्तिका सम्मान करना बुरा है; इसीलिए ब्रिटिश-म्यूज़ियमसे सादीके चित्रका फ़ोटो उतरवाकर यहाँ रखा गया है। बाहर ६ चीड़के वृक्ष हैं। चारों ओर नीरस पहाड़ी, भूमि है, इसीके भीतर सरस कवि पैदा हुआ था।

रातको एक फ़िल्म देखने गए। स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ बहुत थी। फ़िल्म अंग्रेज़ी भाषाका था, लेकिन उसमें फ़ारसीमें हेडिङ लगाया गया था और बीच-बीचमें एक आदमी व्याख्या करता जाता था। सिनेमा खुली जगहमें था, बाकूमें भी एक सोवियत् फ़िल्म खुली जगहमें देखा था। आगा अस्त्र मेरे साथ ही असफ़हानसे आए थे। कहाँ तो वह मुझे ज़ोर दे रहे थे, कि आप मेरे घर आइए, मैं अपनी तरुणी बहनसे आपकी शादी करूँगा, और कहाँ एक दिन झाँकनेका भी नाम नहीं लिया। मैं भी घूमने-फिरनेमें इतना व्यस्त था, कि उनके घरको ढूँढ़ निकालनेकी कोशिश नहीं की।

तेहरानको—२१ सितम्बरको ५७ रियाल (प्रायः ९ रुपया) देकर मैंने सीधा तेहरानकेलिए बसका टिकट लिया। कभी-कभी बसोंकेलिए इंतज़ार करना पड़ता है,

इसीलिए मैंने ऐसा किया। ६ बजे रातको गाड़ी रवाना हुई, और २ बजे रास्तेमें रुकी। अगले दिन (२२ सितम्बर) ७ बजे रवाना हुई। यज़्द-ख़स्त पुरानी आबादी है। मिट्टीके पहाड़ हैं, और किन्हीं-किन्हीं मकानोंको मिट्टी खोदकर बनाया गया है। उस समय जौ-गेहूँकी ख़ूब हरी फ़सल थी। यहाँ मकानोंके खँडहर बहुत हैं। ७ बजे असफ़हान पहुँचे। मोटर यहाँसे आगे जानेवाली नहीं थी। मैंने फ़जूल ही समझा था कि अब तेहरान जानेकेलिए निश्चित हो गया। ईरानमें ठहरने और खानेका सस्ता और अच्छा इन्तिज़ाम हो जाता है; तकलीफ़ उठानी पड़ती है, तो सिर्फ़ इन्हीं बसोंके कारण। अगले दिन (२३ सितम्बर)को मुझे यहीं रहना पड़ा। नदीपार आरमेनियन लोगोंका मुहल्ला जुल्फ़ा है, पिछली बार मैं उसे देखने नहीं गया, अबकी उसे भी देख आया। अब तो ईरानके सभी शहरोंमें और ईरानियोंमें पुरानी पोशाक उठ गई है, रहन-सहनमें भी भारी अन्तर हो गया है; इसलिए जुल्फाके आरमेनियन स्त्री-पुरुषोंको देखनेसे अचरज करनेकी ज़रूरत नहीं; लेकिन दश-पन्द्रह साल पहिले यह ज़रूर आधुनिकताका केन्द्र समझा जाता रहा होगा। यहाँ आरमेनियन लोगोंके कई गिरजे (कलीसियों) हैं, मैं घूम-घूमकर अपने मनसे उन्हें देखता रहा। भोजनकेलिए फिर शहर लौट आया। असफ़हानमें तेहरानकी तरह कुछ हिन्दुस्तानी दूकानें हैं, और ज्यादातर पंजाबके सिक्खभाइयोंकी। लड़ाईके वक़्त बहुतसे पंजाबी सिपाही ईरानमें आ गये थे। उस वक़्त कुछ पंजाबियोंने फ़ौजी मोटरोंको दौड़ाया था। लड़ाईके बाद उन्होंने अपनी मोटरें और लॉरियाँ ख़रीद लीं और मोटरका सारा काम उनके हाथमें आ गया। पीछे सरकारने ईरानी व्यापारियोंको भी इस क्षेत्रमें आनेकेलिए सहायता की। अब मोटरके रोज़गारपर हिन्दुस्तानियोंकी इजारादारी नहीं, लेकिन अब भी उनकी बहुतसी लॉरियाँ हैं, बहुतसे हिन्दी ड्राइवर भी हैं, और मोटरके पुरज़ोंके बेचनेका रोज़गार तो प्रायः सारा हिन्दियोंके हाथमें है। सरदार साहेबसिंह पहिले आदमी थे, जिन्होंने मोटरका काम शुरू किया, आज वह पचीस-तीस लाखके धनी हैं।

अगले दिन (२४ सितम्बरको) तेहरानकेलिए रवाना हुआ। बस बिल्कुल नई और साफ़ थी, तबियत बहुत ख़ुश हुई। लेकिन बारह बजे रातको एक बयाबानमें पुरज़ा टूट गया, बस वहीं खड़ी हो गई। आसमानके नीचे रातमें खुली जगह सोना पड़ा। सब लोग सर्दीसे ठिठुर रहे थे। ड्राइवर अच्छा था। वह बतला रहा था कि पहिलेका ज़माना होता, तो यहाँ सब लुट जाते। यह भी मालूम हुआ कि ईरानी जंगली सूअरका शिकार करने लगे हैं। कोई कह रहा था कि टोप (हैट) लगानेकेलिए सरकारी हुकुम निकला, बुशहर-बन्दरगाहके मुल्लोंने लोगोंको भड़काया

कि इसलाम खतम हो जायगा। बलवा हो गया। पल्टनने मशीनगन लगा दी, और एक हज़ार आदमी वहीं ढेर हो गये; फिर टोप लगानेमें किसीने आनकाना नहीं की। पहिले सामने छज्जेवाला गोल टोप चला। हमारा साथी बड़ी संजीदगीके साथ बतला रहा था—दरअसल शाहकी मरज़ी थी कि लोग नमाज़को छोड़ दें, लेकिन इस छज्जेवाली टोपीने कोई रुकावट नहीं डाली। नमाज़ पढ़ना होता, तो लोग छज्जेको पीठकी ओर कर देते और नमाज़ पढ़ लेते, इसपर सरकारी हुकुम हुआ कि पूरे छज्जेके टोपको पहिनना होगा। खैर, मैंने तो कितनोंको नमाज़ पढ़ते देखा था, कितनों हीको पीरोंकी क़ब्रके सामने हैट उतारते भी देखा था।

सबेरा होते ही ड्राइवरके साथ मैं पैदल ही कुम्केलिए रवाना हो गया। कुम् ७ ही मील था। ड्राइवरने मुझे दूसरी बसपर बैठा दिया, और मैं तेहरान चला आया। मैं चाहता था कि अफ़ग़ानिस्तानके रास्ते लौटूँ। अफ़ग़ानिस्तानके कौन्सलसे बीसा लेने गया, पहिले तो कहा गया कि जानेका रास्ता नहीं है। मैंने जब कहा कि मशहदसे हिरात होते जाया जा सकता है। तो कहा—मशहदमें ही आप बीसा लें लें। तेहरानमें दो दिन (२६, २७ सितम्बर) और रहा। एक दिन फ़ोटोग्राफ़रके पास कुछ अपने फ़िल्म धुलवाने गया, वहाँ एक तुर्क नौजवान बैठा था। बातचीतमें कहने लगा—अभी ईरानी बहुत पिछड़े हैं, अभी इनकी औरतोंने काली चादर नहीं छोड़ी और इन्होंने इस खूसट अरबीलिपिको भी क़ायम रखा है। वहाँ एक यहूदी दाँत-डाक्टर हमीदखाँ बैठे थे, वह मुझे अपने घरपर ले गये। यहूदी औरतोंमें बिल्कुल पर्दा नहीं होता। हमीदखाँने अपने पिता, सौतेली माँ और बीबीसे परिचय कराया। यहाँके यहूदी और मुसलमान दोनों ही फ़ारसी बोलते हैं, दोनों हीके नाम एकसे होते हैं। हमीदखाँके पिता पेरिसके पढ़े डाक्टर थे, बहुत खुशमिज़ाज थे। उन्होंने ईरानी भोजन खानेका निमन्त्रण दिया। चावल, गोश्त और मोठ एक साथ पकाया गया था। साथमें पोदीना और दौंनाकी हरी-हरी पत्तियोंके साथ प्याज़के टुकड़े भी थे। रोटी पतली-पतली थी। पीछे खानेकेलिए अंगूर आए। जहाँ दो आना सेर अंगूर बिकता हो, वहाँ उसकी क्या क़दर हो सकती है। शीराज़में गदहोंके ऊपर लम्बे-लम्बे सुनहरे अंगूर बिक रहे थे। दो आनेके अंगूरको मैं दिनभरमें नहीं खा सका था। शामको "नुमाइश-मरकज़ी"में हम एक ईरानी नाटक "मेहर-गयाह" (प्रेमबूटी) देखने गये। दर्शकोंमें आधीके क़रीब स्त्रियाँ थीं, और स्त्री-पुरुष साथ-साथ बैठे थे। नाटकमें अंग्रेज़ी ढंगका नाच भी था। नायिकाका पार्ट एक आरमेनियन तरुणी लोरिताने बहुत अच्छा किया था।

अगले दिन (२७ सितम्बर) भी शहरमें इधर-उधर घूमता रहा। मैं हमीद-खाँके घर गया। उनके पिताने अपने एक दोस्तसे आग़ा रूहुल्लाखान कहकर मेरा परिचय कराया। मुझे कभी ख्याल भी नहीं आया था, कि राहुलका इतनी आसानीसे रूहुल्ला बन जायगा।

मशहदको—२८ सितम्बरको मैं सबेरे जाकर जावाज़ ले आया। ३६ रियाल (५ रुपया १० आना) देकर मशहदका टिकट भी ले लिया। बस रातको साढ़े आठ बजे चली। जगह बड़ी सासतकी मिली। ड्राइवरके पास बैठना था। वहाँ एक पैर रखनेकी जगह नहीं थी, और पीठकी ओर कोई आलम्ब नहीं था। ३ दिनकी यात्रा सो भी रातदिन। रातको २ बजे सोनेकेलिए ज़ाबुनमें ठहरे, सोना धरतीपर था। अगले दिन (२९ सितम्बर) ६ बजे ही रवाना हो गये। एक बड़ी जोत पार करनी पड़ी। पहाड़ी दृश्य तिब्बत जैसा था। साढ़े आठ बजे फ़ीरोज़कुह क़सबेमें पहुँचे, यहाँ बहुतसी दूकानें थीं। शराबखानेपर "मैकदऽ" लिखकर खूब अच्छी तरह सजाया गया था। पहिले लोग शराब छिपकर पीते थे, लेकिन अब कोई रुकावट नहीं थी। पासमें एक नदी बह रही थी, जिसके किनारेको लोगोंने पाखानेसे गन्दा कर दिया था। आगे एक जगह बहुतसे जंगली देवदार देखे। बसमजोत बहुत ऊँची जोत है, यहाँ जाड़ोंमें बरफ़के मारे कभी-कभी रास्ता रुक जाता है। सेमरानमें बहुत भारी मैदान है, यहाँ मिट्टीके तेलके कुएँ खुद रहे हैं। रातको २ बजे शाहरूद पहुँचे। यहाँसे खुरासान शुरू होता है। रातको यहीं सोये। अगले दिन (३० सितम्बर) मियान्-दश्त नामक शाह-अब्बासका बनवाया क़िला एक सुनसान बयाबानमें मिला। खानेकेलिए हर जगह रोटी-गोश्त-फल मिल जाते थे। ईरानी भी गोश्तमें मिर्च-मसाला डालना नहीं जानते। जान पड़ता है, मसालेदार मांस हिन्दुस्तानकी अपनी चीज है। मेरे एक हिन्दुस्तानी दोस्त कह रहे थे—खाना और गाना तो हिन्दुस्तान ही जानता है। यह दोस्त हिन्दू नहीं, मुसलमान थे। रातको सब्ज़वारमें रहना पड़ा। यहाँ रहनेका बहुत अच्छा इन्तिज़ाम था, लेकिन दो ही तीन घंटा ठहरनेके बाद बस-वालेने फिर लोगोंको उठाया। साढ़े ४ बजे रातको ही हम नेशापोर पहुँच गये। यहीं विश्वकवि उमरख़ैयामकी समाधि है। नींदके मारे हिम्मत पस्त थी, बसवाले-को कुछ और पैसे दे रहा था, पर वह समाधिपर जानेकेलिए तैयार नहीं था। मश-हद नगरी जहाँसे दिखाई पड़ी, वहाँ हमारे साथके तीर्थयात्री पत्थरोंका गुम्बद (स्तूप) बनाने लगे। मशहद इमामरज़ा—शिया लोगोंके १२ इमामोंमें एक प्रसिद्ध इमाम—का समाधिस्थान है, इसलिए दुनियाभरके शियोंका यह प्रसिद्ध तीर्थ है।

टोपकेलिए यहाँ भी मुल्लोंने लोगोंको उत्तेजित किया था। यद्यपि मारे गये थे पन्द्रह-बीस ही, लेकिन लोगोंमें मशहूर है कि हज़ारों आदमी मशीनसे उड़ा दिये गये। काफ़ी दिन था, जब हम मशहद पहुँचे। मशहद सुन्दर नगर है। आबादी एक लाख तीस हज़ार है। सड़कें खूब चौड़ी और साफ़ हैं। ईरानके शहरोंकी सड़कोंका मुक़ाबिला तो हिन्दुस्तानमें सिर्फ़ नई दिल्लीकी सड़कें कर सकती हैं। सीधी सड़कें निकालनेमें न जाने कितनी हज़ार क़ब्रें और कितने सौ मसजिदें खतम कर दी गईं।

काबुलके रास्ते जानेका विचार मैंने अब भी छोड़ा नहीं था। "मेहमानखाना-मिल्ली" (जातीय होटल)में ६ रियाल (साढ़े पन्द्रह आना) रोज़ानापर एक अच्छा कमरा मिला। पता लगा कि यहाँसे हिरात (अफ़ग़ानिस्तान)का रास्ता खुला हुआ है। अफ़ग़ान-कौन्सलके पास गया। मालूम हुआ कि बीसाकेलिए दस दिन ठहरनेकी ज़रूरत होगी। अब उधरकी आशा छोड़नी पड़ी। शहरको सुन्दर बनानेकी पूरी कोशिश की गई है, और नई इमारतें बनती जा रही हैं। यहाँसे २८ किलोमीतर (प्रायः १८ मील) पर तूस है। महाकवि फ़िर्दौसीकी समाधिको देखनेकेलिए मैंने घोड़ा-गाड़ी की। दो घंटे बाद तूस पहुँचा। तूस अब कौशाम्बीकी तरह एक उजाड़ ढेर है। इसीमें एक तरफ़ नया बाग़ लगा है, जिसमें ईरानके इस महाकविकी समाधि है। समाधिकी इमारत संगमरमरकी ईरानी ढंगपर बनी है, खम्भोंपर पारसपुरीके खम्भोंकी तरह बैल आदिकी मूर्त्तियाँ हैं। दरवाज़ेमें शाहनामाके पाँच दृश्य संगमरमर-पर उत्कीर्ण हैं। शायद उनमेंसे एकमें महमूद और फ़िर्दौसीकी मूर्त्ति भी है—नवीन ईरान इस्लामकी मूर्त्ति-भंजननीतिकी कोई परवाह नहीं करता। पास हीमें एक छोटासा बाग़ था, हमने वृक्षकी छायामें बैठकर मीठे सरदे खाये। पानी भी यहाँका अच्छा था।

रातको मशहद नगर घूमने गया। न जाने किस वक़्त मेरा मनीबेग चोरी चला गया। उसमें ईरानी और अमेरिकन सिक्के मिलाकर ९० रुपये थे। ख़ैरियत थी कि मैं चेकको अपने बक्समें छोड़ गया था।

भारतकी ओर—३ अक्तूबरको मैं बैंकसे चेक भुना लाया। ९ बजे रातको हमारी बस रवाना हुई। इस बसकी तकलीफ़के बारेमें मत पूछिये। शायद इतनी तकलीफ़ ज़िन्दगीभरमें किसी यात्रामें न हुई होगी। यह माल लादनेकी लारी थी। नीचे दो हिस्सा माल भरा हुआ था। पीछेकी एक चौथाई जगह मालसे पूरी पटी थी। छत भी बोझसे टूटी जा रही थी। लॉरीपर लिखा हुआ था "मख़्सूस हम्ल-बार" (सिर्फ़ बोझा ढोनेकेलिए), तो भी अठारह मुसाफ़िर इसमें ठूँस दिये गये थे। लॉरियों-

की कमीके कारण मुसाफ़िर मजबूर थे, लेकिन यहाँ १८ आदमियोंके लिये बैठनेकी भी जगह नहीं थी, फिर हमको पाँच दिनरात इसी बसमें चलना था। बसमें एक-दूसरेसे परिचय हुआ। पंडित मस्तराम शर्मा पत्नी और बहनके साथ शायद तीन आदमी थे। वह गुरदासपुर (दीनानगर)के रहनेवाले थे। गुजरातके मुल्लाजी, उनके दामाद अहमदभाई और बीबी-बेटी चारों जने तीर्थ करके आ रहे थे। अम्बालाके तरुण अलमदादहुसेन मशहदसे तीर्थ और प्रेम करके लौट रहे थे। इस प्रकार हम ९ हिन्दुस्तानी थे, और ९ ही ईरानी। पहिली रात बैठनेके बाद सोनेका नाम आया। मैंने राय पेश की—हमें शिरको सिर्फ़ अपना समझना चाहिए, बाक़ी शरीरको बोरोंका ढेर मान लेना चाहिए। वही हुआ। रास्तेमें तुरबते-हैदरी, काईन, बिरजन्द होते ७ अक्तूबरको हम ज़ाहिदान पहुँचे। यह ८ हज़ार आबादीका अच्छा क़सबा है। आसपासके गाँवोंमें बलोची रहते हैं, लेकिन शहरमें ईरानियों और उनसे भी ज़्यादा भारतीयोंकी दूकानें हैं। यहाँ भी आसपास नंगे पहाड़ हैं। पिछली लड़ाई (१९१४-१८)में कोयटावाली रेल यहाँतक लाई गई थी। आज भी शहरकी कुछ सड़कों-पर रेलकी पटरी बिछी हुई है, लेकिन रेल नोककुंडीसे आगे नहीं आती। उस वक़्त पल्टनकेलिए अंग्रेज़ोंने बहुतसे मकान बनवाये थे, जिनमेंसे अधिक आज ख़ाली पड़े हैं। कुछ मकानोंमें अब ईरानी सिपाही रहते हैं। १९२०में अंग्रेज़ोंको ईरान छोड़ जाना पड़ा। उन्होंने सोचा था कि बोलशेविकोंके आनेसे रूस कमज़ोर हो गया और आधेकी जगह सारा ईरान हमारा है। लेकिन बोलशेविकोंने ज़ारके समय ईरानियोंसे छीने अधिकारोंको छोड़कर अंग्रेज़ोंको भी पीछे हटनेकेलिए मजबूर किया। गुम्रग् (कस्टम)के गोदाममें बादाम और पिस्ताके अलावा ज़ीरेकी हज़ारों बोरियाँ थीं, और हींगके बस्ते भी रखे थे। ईरानी न ज़ीरेको बरतना जानते हैं, न हींगको। ९ अक्तूबरको एक बजे लॉरी नोककुंडीकेलिए रवाना हो गई। इधर मालकी लॉरियाँ ही ज़्यादा चलती हैं, और ड्राइवर बग़लमें एक-दो मुसाफ़िरोंको बैठा लेते हैं। साढ़े ४ घंटा चलनेके बाद मीरजावा पहुँचे। किसी समय यह अच्छा स्टेशन था, अंग्रेज़ों-की रखी पानीकी टंकी अब भी काम दे रही थी। मीरजावासे एक-दो ही मील दूर ईरान और भारतकी सीमा है। यदि मीरजावा भारतकी सीमामें होता, तो यहाँतक रेल आती, लेकिन उस पार तो सैकड़ों मीलतक पानी है ही नहीं। नोककुंडीमें भी दूरसे रेलमें पानी लादके लाना पड़ता है। ढाई घंटेतक कस्टमवालोंने सामान और पासपोर्ट देखनेमें लगाये। आठ बजे जब चलने लगे, तो लॉरी बिगड़ गई। ड्राइवर उसे सुधारने लगा। १ बजे अंग्रेज़ी सीमाकी फ़ौजी चौकीपर पहुँचे। दोनों राज्यों-

की सीमा है एक सूखा छिछला नाला। खैर, चौकीमें पासपोर्ट देखा गया। हम फिर चले और रास्तेमें रेलवे मजूरोंके एक खाली घरमें पहुँचकर सो गये। यहाँ हवा अधिक थी, सर्दी भी अधिक थी, लेकिन विरजन्दके पास जैसी नहीं, जहाँ कि रातको मशकका पानी बरफ़ बन गया था। १० तारीखको सबेरे ही रवाना हुए। हवा तेज़ थी, और छोटी-छोटी कंकड़ियाँ उड़ रही थीं, ३ जगह गाड़ी बालूमें फँसी। कभी-कभी दो-दो दिन गाड़ियाँ इस सूखी दलदलमें फँसी रहती हैं। शताब्दियोंसे यह निर्जल, निर्जन सैकड़ों मीलोंका कान्तार हिन्दुस्तानकी रक्षा करता था; शत्रुकी हिम्मत नहीं होती थी, कि भारी सेना लेकर इधरसे आये। लेकिन अब तो लॉरियोंने इस बयाबानको चन्द घंटोंका रास्ता बना दिया। हम एक बजे नोककुंडी पहुँच गये।

२४

मौतके मुँहमें (१९३५-३६)

नोककुंडी बलोचिस्तानमें एक छोटासा रेलवे-स्टेशन है। जैसा कि मैंने पहिले बताया, यहाँसे जाहिदानतक रेलकी पटरी मौजूद है, किन्तु रेल अब यहींतक जाती है। यहाँ तीस-चालीस दूकानें हैं। पंजाबी और सिन्धी दोनों ही तरहके दूकानदार हैं। पानी बिल्कुल नहीं है, उसे बहुत दूरसे पानीकी टंकियोंमें लाना पड़ता है, और नापकर मिलता है। मकान भी छोटे-छोटे हैं, वृक्ष-वनस्पतिका नाम नहीं है। सप्ताहमें सिर्फ़ एक गाड़ी बृहस्पतिको जाती थी, आज बृहस्पति था। १६ रुपया २ आनेमें लाहौरका टिकट लिया। पासपोर्ट दो-दो बार देखा गया। ८ बजे शामको गाड़ी रवाना हुई। नंगे पहाड़ और रेतीलीसी भूमि दिखाई पड़ रही थी, जब कि मैंने गाड़ीसे बाहरकी ओर झाँका। स्टेशन कोई कोई सौ मील पर था। पानी है ही नहीं, तो आदमियोंकी बस्ती कहाँसे होगी। दोपहर बाद ट्रेन बोलान-दर्रेमें घुसी, उसे कई सुरंगोंसे पार होना पड़ा। इस तरफ़से विदेशी शत्रुओंके आनेमें दो-दो प्राकृतिक बाधाएँ थीं। एक तो सैकड़ों मीलका वह निर्जन निर्जल बयाबान, और फिर यह बोलानकी पहाड़ियाँ। यह भारतकेलिए कितने सहायक साबित हुए हैं, यह इसीसे मालूम है, कि अंग्रेजोंसे पहिलेके सभी आक्रमणकारी खैबरसे आये, किसीको बोलानसे आनेकी हिम्मत न हुई। तीसरे पहर गाड़ी मस्तुंग-रोड स्टेशनपर पहुँची। सारे

मकान गिर गये थे। मैंने जापानमें क्वेटाके भूकम्पकी खबरभर सुनी थी, लेकिन यहाँ देख रहा था कि पानीकी टंकियोंके लोहेके खम्भोंको किस तरह उसने तोड़-मरोड़ डाला था, किस तरह उसने बाग़ोंकी दीवारोंको सुला दिया था। स्पेज़न्द जंकशनसे एक लाइन क्वेटा जाती है, और दूसरी सक्खर-रोडीको। हम लोग लाहौरवाले डिब्बेमें बैठे। अब हिन्दुस्तानी तीसरे दरजेकी बहार मालूम हुई। रेलवे कम्पनियों-केलिए हम आदमी नहीं जानवर हैं, मैंने इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनीकी रेलें देखीं, जापानकी रेलें भी देखीं, कोरिया, मंचूरियाकी रेलें देखी। खैर, सोवियत्‌की रेलोंके तीसरे दर्जेके आरामसे तुलना करनेकी ज़रूरत नहीं। हमारा तीसरा दर्जा नरक है। सक्कर-रोहड़ी होते हुए १२ तारीख़को सवा ७ बजे शामको लाहौर पहुँचा। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप स्टेशन हीपर मिले। मैं उनके घर चला गया। अब ६ दिन लाहौरमें बिताने थे। श्रीविश्वबन्धु शास्त्री, और दूसरे मित्रोंसे मिला। मैंने कोशिश की थी कि पंजाब विश्वविद्यालय भी कलकत्ता विश्वविद्यालयकी तरह तिब्बती भाषाको पाठ्य-विषयमें स्वीकार कर ले। डा० लक्ष्मणस्वरूपने प्रस्ताव रखा था, लेकिन कश्मीर-शिक्षामन्त्रीने इसके ख़िलाफ़ लिखा। तिब्बती भाषाभाषी कश्मीर-राज्यमें रहते हैं, फिर विश्वविद्यालय कैसे मंज़ूर करता? मैं वाइस-चांसलर डाक्टर वुलनरसे मिला, और यह भी बतलाया कि काश्मीर-राज्य हीमें नहीं, काँगड़ा ज़िलेकी लाहुल तहसीलमें भी तिब्बती बोली जाती है। उन्होंने कहा—यदि वहाँके लोग डिप्युटी-कमिश्नरकी मारफ़त आवेदनपत्र भेजें, तो हमारा हाथ मज़बूत होगा।

लाहौरमें दो-तीन व्याख्यान देने पड़े। १८को मैं दिल्लीकेलिए रवाना हुआ, और अगले दिन साढ़े ८ बजे ही वहाँ पहुँच गया। प्रोफ़ेसर सुधाकरके घरपर ठहरा। हरिजनसेवकसंघमें श्रीमलकानी और वियोगी हरिजी मिले। शामको पहाड़ीपर टहलने गये। मेरठसे लाया अशोकस्तम्भ यहींपर गड़ा है।

अगले दिन (२१ अक्तूबरको) भी पुरानी जगहोंको घूमकर देखना था। शाम-को हिन्दीप्रचारिणीसभाकी ओरसे मानपत्र मिला। महामहोपाध्याय हरिनारायणजी सभापति थे। चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रजी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पंडित इन्द्र जैसे दिल्लीके साहित्यधुरीणोंसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। २२को सबेरे कानपुरमें उतर गया। स्वामी भगवानके साथ जाजामऊ देखने (२३ अक्तूबर) गया। पुरानी जगह है, अधिक खंडित मूर्त्तियाँ नहीं हैं, यह बहुत पुरानी जगह नहीं मालूम होती।

प्रयागमें ४ दिन (२४-२७ अक्तूबर)केलिए डाक्टर बद्रीनाथप्रसादके यहाँ

ठहरा। कुछ प्रूफ़ देखे। २६ तारीखको टोन्सिल्का दर्द उभड़ पड़ा, और बुखार भी एक-दो डिग्रीका था। खैरियत यही हुई कि भारतसे बाहरकी यात्रामें यह बला सिरपर नहीं आई। थूक उगलनेपर भी भारी दर्द हो रहा था। शायद लक्ष्मीदेवीने कहा—कि गलेमें गमछा बाँधकर कोई टौन्सिलवाले गुनी इसे ठीक कर देंगे। मैंने कहा—अच्छी बात है, गुनीका भी हाथ लग जाय। आखिर वैद्योंका चूरन, होमियोपैथोंकी खाक-भभूतकी परीक्षा तो हो ही चुकी है, अब इसीको क्यों बाक़ी रखा जाय? लेकिन मैं जानता था कि इसकी दवा पटनामें डाक्टर हसनैन ही कर सकते हैं। २९ अक्तूबरको साढ़े ६ बजे पटना पहुँचा। जायसवालजीका स्नेह और स्वागत प्राप्त हुआ, और ३ घंटे बाद डाक्टर हसनैन देखने आये। १० बजे मैं मेडिकल कालेजके अस्पतालमें दाखिल हो गया। डाक्टर पहिले हीसे कह रहे थे, कि टोन्सिलको काटकर निकलवा देनेमें ही कुशल है। मुझे भी कोई उज्र नहीं था, लेकिन अभी तो टोन्सिल पक रही थी, जबतक स्वस्थ न हो जाये, तबतक आपरेशन कैसे हो सकता था। पहिली नवम्बरको धूपनाथजी आ गये। दर्द तो अब भी था, लेकिन बातचीतमें वह उतना मालूम नहीं होता था। ३ और ४ तारीखको टोन्सिलको चीर दिया गया। थोड़ा पीव और खून निकला। अब सालभरकेलिए फिर फ़ुर्सत। ७ बजे मैं अस्पतालसे जायसवालजीके घरपर चला आया।

सारनाथमें मूलगन्धकुटी विहारका वार्षिकोत्सव था, आनन्दजी और धूपनाथके साथ मैं वहाँकेलिए रवाना हुआ। मेला अच्छा खासा था। शायद मैं इस अवसरपर जरूर आऊँगा, यह बात श्यामलालको मालूम हो गई थी, और १८ साल बाद श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ अपने तीनों ही सहोदरोंको मैंने वहाँ देखा। १४ नवम्बरको हिन्दूविश्वविद्यालयमें छात्रोंके सामने जापानपर व्याख्यान दिया। ध्रुवजी सभापति थे। कहाँ मैं नाकतक नास्तिकवादमें डूबा और कहाँ ध्रुवजी जैसे आस्तिक वृद्ध? मेरी कितनी ही बातें तो उन्हें पसन्द न आई होंगी, खासकर भक्ष्याभक्ष्यकी बातें।

अबकी गर्मियोंमें मुझे फिर तिब्बत जाना था, क्योंकि शलू-विहारकी सारी पुस्तकोंको मैं देख न पाया था, और देखी हुई पुस्तकोंमेंसे भी कितनोंको उतारके लाना था। दो दिन (१५-१७ नवम्बर)केलिए कलकत्ता हो आया। तेरगीके दुर्लभ कंजूरको बड़ी मुश्किलसे मैंने प्राप्त किया था, लेकिन उसे मैंने छुशिङ्शासे उधार रुपये लेकर खरीदा था। मैं चाहता था, कि कंजूर पटने हीमें रहे, लेकिन वहाँ जायसवालजीको छोड़कर उसकी क़दर जाननेवाला कौन था? न

विहार-रिसर्च-सोसाइटी उसके महत्त्वको जानती थी, न पटना विश्वविद्यालय; लाचार होकर कलकत्ताविश्वविद्यालयको लिखना पड़ा।

पटना-बनारस होके फिर मैं प्रयाग चला आया। और २० नवम्बरसे १५ दिसम्बर तक वहीं "दीर्घनिकाय" (हिन्दी-अनुवाद), "जापान", "वादन न्याय" आदिके प्रूफ़ देखता रहा। १५ दिसम्बरको जायसवालजीकी चिट्ठी मिली, कि कंजूर-को कलकत्ता विश्वविद्यालय ले रहा है, चले आइए। मैं दूसरे दिन पटना पहुँच गया। अगले दिन (१७) डा० प्रबोधचन्द्र बागची आगए, और कंजूरको उन्होंने सम्हाल लिया। अब मैं पटने हीमें था। सबेरे बड़े तड़के जायसवालजीके साथ गंगा नहाने जाता, जिसमें मैं थोड़ा तैर भी लेता था। जलपानके बाद जायसवालजी मुवक्किलोंके काग़ज़-पत्र देखते और फिर खाना खाकर हाईकोर्ट चले जाते। मैं जलपानके बाद चौड़ी पलंगपर काग़ज-पत्र फैलाकर प्रूफ़ देखने बैठता। मुझे यह भी पता नहीं होता, कि खानेका समय हुआ है। खाना तैयार होनेपर वहीं छोटी मेज़पर आ जाता। खानेके बाद फिर उसी तरह मैं काममें जुट जाता। कितने ही समय बाद मुझे यह कथानक सुननेमें आया——राहुलजी लिखने-पढ़नेमें इतने तन्मय रहते हैं, कि उनको यह भी पता नहीं लगता कि भोजनमें नमक है या नहीं। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि न मैं ऐसा विदेह हूँ, न बनना चाहता हूँ। इस कथानकका स्रोत अंतमें माँजी (जायसवाल-पत्नी) मालूम हुई। ऐसा बहुत कम देखा जाता है, कि किसी विद्वान मित्रका जिस तरह स्नेह पाया जाय, उसी तरह उनकी पत्नीका भी वात्सल्य मिले।

जायसवालजी स्वयं विद्वान थे, अद्भुत गवेषक और विचारक थे, और इससे भी बढ़कर उनको यह लालसा रहती थी, कि दूसरे विद्वानों और सहकर्मियोंको मदद पहुँचाई जाय। विज्ञानमार्त्तण्ड अजमेरके एक तरुण थे। पहिले लाहौरमें और पीछे काशीमें उन्होंने संस्कृतको पढ़ा था। वह बहुत व्युत्पन्न तरुण थे। हर छन्दमें बड़ी सुन्दर कविता करते थे। उनका संस्कृतभाषण अप्रयास चलता था। वह पटना पहुँचे। जायसवालजीने पटनाके दो नामी पंडितोंको बुलाया। विज्ञानमार्त्तण्डने व्याकरणका पांडित्य तो दिखलाया ही, साथ ही वह यह कहकर खण्डन-खण्डखाद्यकी पंक्तियाँ उद्धृत करने लगे, कि वस्तुतः यह ग्रंथ साराका सारा नागार्जुनके माध्यामिक दर्शन पर अवलंबित है, और ग्रंथकारने मंगलाचरण जोड़कर अपनेको आस्तिक रखनेकी कोशिश की है। बेचारे पंडित विद्वान तो थे, लेकिन इसके लिए तैयार न थे। विज्ञान-मार्त्तण्ड मुझे ढूँढ़ते यहाँ पहुँचे थे। अब वह बौद्धधर्मका अध्ययन करना चाहते थे। मैंने उन्हें सिंहल या वर्मा जानेकी सलाह दी। परिचयपत्र भी दे दिया। मेरी बड़ी इच्छा थी;

कि उनका ज्ञान और भी विस्तृत हो जाय। जायसवालजी तो उनपर मुग्ध थे। एक दिन कचहरीसे आनेपर चुपकेसे सौ एक रुपये विज्ञानमार्त्तण्डकेलिए दे दिए। पत्नी कंजूस नहीं थीं, लेकिन पतिकी शाहख़र्चीका कष्ट उन्हें ही भोगना पड़ता था। जायसवालजीका मैं यदि स्नेहपात्र था, तो उसका कारण उनकी गुणग्राहकता थी, लेकिन बेचारी माँजी तो बड़े मुश्किलसे रामायण पढ़ पाती थीं; किंतु वह भी अपने पुत्रों जैसा ही मुझपर स्नेह रखती थीं। नमकवाली कथाका मूल ढूँढ़ते वक़्त मुझे मालूम हुआ कि शायद किसी दिन खानेकी चीज़में नमक न रहा हो, या कम रहा हो। मैंने उसे जाना ज़रूर होगा, लेकिन नौकरको नमककेलिए दौड़ाना और तब तक हाथको रोकना मुझे पसन्द नहीं था। आखिर, पासमें प्रूफ़ भी तो इंतज़ार कर रहे थे। और मेरे पास रह गए थे उस समय जाड़ेके कुछ इने-गिने दिन। मुंगेरवालोंने अपने ज़िला-साहित्य-सम्मेलनके सभापति बननेके लिए मुझसे बहुत आग्रह किया। मैंने स्वीकार कर लिया। अबकी बार ओरियन्टलकान्फ्रेन्स मैसूरमें होनेवाली थी। जायसवालजी जा रहे थे, उन्होंने मुझे भी चलनेकेलिए कहा, किन्तु मुझे अपने कामसे छुट्टी नहीं थी। अबकी शिवरात्रिमें नेपालके रास्ते तिब्बत भी जाना था।

टाईफाइडके चंगुलमें—२३ दिसम्बरको कुछ ज्वर आ गया। जायसवालजीने देखा और पूछा "मैं रह जाऊँ?" उस वक़्त कोई वैसा बुख़ार नहीं था। मैंने कहा—नहीं आप जाइए। होमियोपैथीपर जितना मेरा अविश्वास था, उतना ही उनका विश्वास। उन्होंने एक होमियोपैथ डाक्टरको दवाकेलिए कह दिया। वह २३ दिसम्बरको ही मैसूरकेलिए रवाना हो गए। ४ दिन तक होमियोपैथीकी दवा होती रही, बुखार रात-दिन रहता था। हाय-तोबा मचानेकी मेरी आदत नहीं है, इसलिए मैं चुपचाप लेटा रहता। २६ तारीखके दोपहरको थर्मामीटर लगाया गया, तो बुखार १०३ डिग्री था, और रातको १०५ डिग्री। मैंने समझा कि अब होमियोपैथीके भरोसे नहीं रहना चाहिए। दूसरे दिन १० बजे मैंने श्यामबाबू (बैरिस्टर श्यामबहादुर) को बुलाया। रोगियोंकी चिकित्साका स्थान मैं घरको नहीं अस्पतालको मानता हूँ। वहाँ जितना दवाई और पथ्यका ख्याल किया जा सकता है, उतना घरपर नहीं, और घरवालोंको नाहक तरद्दुदमें पड़ना पड़ता है। उन्होंने डाक्टर बुलानेकेलिए कहा, तो मैंने कहा—नहीं, अस्पताल ले चलिए। मैं वहाँ हथुवावार्डकी ११ नम्बरकी चारपाईपर पहुँचा दिया गया। उस दिन बुखार १०३ डिग्रीसे १०५ डिग्री तक रहा। जब १०३से ऊपर होने लगता, तो सिरपर बरफ़ रखा जाता। आज (२७ दिसम्बर) ही भूपनाथ आ गये, वह रातको भी मेरे पास रहना चाहते थे, लेकिन

मैंने उन्हें होटलमें सोनेकेलिए भेज दिया। दूसरे दिन भी रातको मैंने उन्हें होटलमें भेजा। अस्पतालवालोंको बड़ा आश्चर्य होता था, कि मैं अकबक क्यों नहीं बोलता। २९ तारीखको बुख़ार १०३से १०४ डिग्रीतक रहा। उस दिन बीच-बीचमें बेहोशी आने लगी, लेकिन मुझे कोई घबराहट नहीं थी। अब धूपनाथ रातदिन मेरी चारपाईके पास बैठे रहते, सिर्फ़ खानेकेलिए बाहर जाते। आज देहमें लाल-लाल दाग़ निकल आये, इसलिए सन्देह नहीं रहा कि यह टाईफाइड (मोतीझरा) ज्वर है।

३० दिसम्बरसे ३ जनवरी पाँच दिनतक मैं बेहोश रहा, उस वक़्तकी बातें मैंने धूपनाथसे सुनकर पीछे अपनी डायरीमें लिखीं। बेहोशीके साथ पाख़ाना-पेशाबकी भी संज्ञा जाती रही। नर्स और डाक्टर बड़ी तत्परतासे देखते रहते, और धूपनाथ तो मुश्किलसे एकाध घंटे इधर-उधर जाते, नहीं तो, बराबर वहीं रहते। पाख़ानेकी बदबू बहुत ख़राब होती, धूपनाथ कपड़ोंको बदलते और अतर छिड़कते रहते। ३० और ३१ दिसम्बरको बुख़ार १०५ डिग्रीतक बढ़ता रहा। अख़बारोंमें ख़बर छप गई थी, इसलिए बहुतसे दोस्त मिलने आते। बेहोशीमें आयोंको मैं क्या पहचानता, लेकिन जान पड़ता है, कभी-कभी स्वप्नकी तरह मुझे होश भी आ जाता। पहिली जनवरीको नारायन बाबू (बाबू नारायणप्रसादसिंह, गोरयाकोठी, छपरा) आये थे। मैंने उन्हें पहचान लिया, और एकाध बात भी कही। दूसरी जनवरीको बुख़ार १०१-१०३ डिग्री रहा और ३ जनवरीको १००-१०३ डिग्रीतक। यद्यपि ४ जनवरीको भी १०१-१०३ डिग्री बुखार रहा, पर आज बेहोशी नहीं थी। निमोनियाका डर था, इसलिए डाक्टर बहुत सावधानी कर रहे थे। डाक्टर सेन और घोषालने मेरी जान बचानेकेलिए बहुत परिश्रम किया। ३० दिसम्बरसे ३ जनवरीके ५ दिनोंमें मैं ज़िन्दगी और मौतके बीचमें झूल रहा था। धूपनाथ बहुत खिन्न थे, मालूम होता था किसी वक़्त भी मेरे प्राण निकल जायेंगे। उन्होंने तो यहाँतक सोच लिया था कि शरीरको जलाकर हड्डियोंको अपने गाँवमें ले जा उसपर स्तूप बनायेंगे। पीछे जब मैं ख़तरेसे बाहर हो गया, तो मैंने ख़ुद देखा कि १०३ डिग्री टाईफ़ाइड-वाले बीमारको लोग धर-पकड़कर रखते थे, और वह उठ-उठकर भागना चाहता था। मैं सारी बीमारीमें न चिल्लाता, न आह करता, न अकबक बोलता था। यह सुनकर बड़ी ख़ुशी हुई, कि मैंने राम या भगवानका नाम बेहोशीमें भी नहीं लिया—मेरे नास्तिक होनेका यह एक पक्का सबूत था। धूपनाथने बतलाया—एक बार आपके मुँहसे धर्मकीर्त्तिका नाम निकला था। यह निकलना स्वाभाविक था। मौतकेलिए मुझे ज़रा भी हर्ष-विषाद नहीं था, लेकिन यह ख़्याल ज़रूर आता था, कि धर्म-

कीर्त्तिके प्रमाणवार्त्तिकको पूरा संपादित करके मैं प्रकाशित नहीं कर सका। बेहोशीके वक़्त मुझे ग्लूकोसका पानी और फिर फटे दूधका पानी मिलता रहा। ५ जनवरीको अनारका रस मिला। आज ज्वर १०० डिग्री रह गया था। बेहोशी भी नहीं थी। ६ जनवरीको ज्वर नहीं रहा। मैंने अपने कमरेमें आँख फैलाई। देखा वहाँ २२ रोगी हैं। मेरी बग़लकी १२ नम्बरकी खाटपरका रोगी ६ हफ़्तेसे टाईफ़ाइडमें पड़ा है। आज ही जायसवालजी मैसूरसे लौटे। सुनते ही माँजीके साथ दौड़े आये। उनको बहुत अफ़सोस था, कि वह क्यों चले गये, लेकिन पहिले दिन किसको मालूम था; कि यह साधारण ज्वर नहीं है। अब ज्वर नहीं था। ७ तारीख़को नारंगी, और अनार-का रस और चार बार दूध भी पीनेको मिला। ८ तारीख़को केलेकी तरकारीसे भात खानेको मिला। ९को मांस-सूप दिया गया। १०को भी वही भोजन रहा, लेकिन १० बजे दिनसे सर्दी मालूम होने लगी, और दोपहर बाद ज्वर आने लगा, जो रातको १०१ डिग्रीतक पहुँच गया। डाक्टरने मित्रोंको समझाया, कि घबड़ानेकी कोई बात नहीं है, साधारण भोजन देनेपर ऐसा हो जाता है। फिर बुख़ार नहीं आया, लेकिन बहुत कमज़ोर था, चारपाईपर भी बैठना मुश्किल था।

२७ दिसम्बरको अस्पताल गया था। १५ जनवरीके ९ बजेसे वहाँसे जायस-वाल-भवन चला आया। पैरमें शक्ति नहीं थी। चारपाईपरसे धूपनाथ और दूसरेके सहारे मैं मोटरपर पहुँच सका। अब प्रातः दूध-रोटी और दो अंडा खानेको मिलता, दोपहरको मांस-सूप और भात, चार बजे टोस्ट और ओमलेट, फिर रातको मछली-भात।

१६ जनवरीको डंडा लेकर उठा, लेकिन दो-चार क़दम हीमें पैर जवाब देने लगा। दुर्गम पहाड़ोंपर चलनेवाले अपने पैरोंकी इस अवस्थाको देखकर मेरा दिल अफ़सोस करने लगा। लेकिन दिलको सिर्फ़ परमार्थ हीका ख़्याल नहीं था, बल्कि वह प्रमाणवार्तिककेलिए फिर तिब्बत जाना पक्का कर चुका था। डर होने लगा कि कहीं पैर जल्दी तैयार न हों। १७ तारीख़से भोजनके साथ दो बार टानिक मिलता। १९ तारीख़को तिब्बती कलाकार देब्जोर् पटना आये। मैंने उन्हें तिब्बतके प्रथम बौद्धमन्दिर (जोखङ्, ल्हासा)का लकड़ीका नमूना बनानेकेलिए कहा था। वह उस नमूनेको साथ लाये थे। बादमें उसे पटना म्यूज़ियममें रख दिया गया। २० तारीख़को बिना डंडा लिये जब थोड़ासा चल पाया, तो बड़ी ख़ुशी हुई।

२१को इंग्लैंडके बादशाह पाँचवें जार्जके मरनेकी ख़बर आई। सारे आफ़िस बन्द हो गये। उस दिन मैंने "जापान"का प्रूफ़ देखना चाहा, लेकिन थोड़ी ही देरमें

थकावट मालूम होने लगी। २३को जायसवालजीके घर (बाँकीपुर-जेलके सामने) से स्टेशनतक घूमने गया, लेकिन लौटके आनेपर बहुत थक गया। "वादन्याय"के प्रूफ़का काम ख़तम हो गया, लेकिन "जापान" और "दीर्घनिकाय"का प्रूफ़ देखना था। किंतु चन्द ही पन्नोंके देखनेपर थक जाता था। कुछ सेर मांसकी कमी मनुष्यके शरीरको क्यासे क्या बना देती है! २६ जनवरीको मैंने लिखा था—"१५ जनवरीको शरीर पर दो मनका बोझ मालूम हो रहा था, आज चलनेपर बीस सेरका है। पाँच सेरका बोझ रोज़ घटता गया, इस हिसाबसे चार दिन और लगेंगे प्रकृतिस्थ होनेमें।"

२७ जनवरीको मुँगेर साहित्य-सम्मेलनकेलिए भाषण लिख दिया। उस दिन पुराने राजाकी मृत्यु और नये राजाके सम्बन्धमें पटनाके मैदानमें सार्वजनिक सभा हुई। हज़ार आदमी थे, जिनमें आधे स्कूलके लड़के थे। ड्राइवर कह रहा था—रायबहादुर, खानबहादुर पदवी पानेकेलिए खुशामदी आये थे, हमारेलिए तो चाहे खानदानमें दिया बालनेवाला भी न रहे, तो कोई बात नहीं।

बरियारपुर और मुंगेर—धूपनाथ अभी साथ थे। उनके साथ मैं (२९ जनवरी) बरियारपुर गया। उनके छोटे भाई बम्हीं आजकल यहीं बनैलीके तहसीलदार थे। बड़े भाई देवनारायणसिंह भी आये हुए थे। यहाँ मेरा काम था, जल्दीसे जल्दी और अधिकसे अधिक मांसको शरीरपर जमा करना। उसकेलिए यहाँ मांस, मछली, अंडा यहाँ चार-चार पाँच-पाँच बार चलता था। सामने गंगा और उसकी कछार जिसमें गेहूँ, जौकी हरी फ़सल लहरा रही थी।

कई साल पहिलेकी बात है, गंगाने कई गाँवोंको बहा दिया। लोग भागकर सड़कके पास आ गये। ज़मीन बनैली राजकी थी, यहीं लोग झोपड़ी लगाके रह रहे थे। अंग्रेज़-मैनेजरने वहाँसे हट जानेकेलिए कहा, मगर बेचारे जायें कहाँ। सारी ज़मीन तो डाकुओंने बाँट ली है। मैनेजरने आग लगवा दी, पाँच सौ झोपड़ियाँ जल गईं। कहींसे कोई खोज-पूछ करने नहीं आया, और न कहीं सरकारी न्यायका पता लगा। वैयक्तिक सम्पत्ति आदमीको कितना क्रूर बना देती है!

पहिली फ़र्वरीको मोटरसे मैं मुँगेर गया। दो साल पहिले भी इस सड़कसे गुज़र चुका था। आज सम्मेलनका अधिवेशन था। मैंने अपना भाषण मुश्किलसे पढ़ा। देरतक कुर्सीपर बैठनेकी ताक़त नहीं थी। अगले दिन कई भाषण और कवितापाठ हुए। सिद्धहस्त वक्ता—पंडित जनार्दन झा "द्विज" ने झाँसीकी रानीवाली कविता पढ़ी।

३से ६ फ़र्वरीतक पटनामें रहा। कालेजके विद्यार्थियोंके सामने दो-एक व्याख्यान दिये, बाक़ी समय प्रूफ़ देखनेमें लगाता रहा। ८ फ़र्वरीको शरीर तो देखनेमें पूर्वक्त ही जान पड़ता था, किन्तु शक्ति उतनी नहीं आई थी——मांस तो बढ़ गया, लेकिन अभी वह गठा नहीं था। छपरा होते १२ फ़र्वरीको प्रयाग पहुँचा, और दो दिन प्रेसका काम देखा। १४ फ़र्वरीको बनारस। सिंहलवासी श्री अभयसिंह परेरा दस-बारह सालसे भारतमें संस्कृत पढ़ रहे थे, अबकी साल वह संस्कृत कालेजके न्यायाचार्यकी अन्तिम परीक्षा दे रहे थे। मैंने उनसे कहा——"भोटभाषामें बौद्धन्यायके कितने ही महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ ग्रंथ मौजूद हैं, भारतीय न्यायके विकासको अच्छी तरह समझनेकेलिए इन ग्रंथोंका पढ़ना ज़रूरी है, क्योंकि उनके संस्कृत मूल लुप्त हो चुके हैं। यदि आप तिब्बत जाना चाहें, तो परीक्षा देकर नेपाल चले आयें। मैं अपने साथ ले चलूँगा, और टशील्हुन्‌पोमें एक विद्वानके पास पढ़नेका इन्तिज़ाम कर दूँगा।"

बनारससे छपरा जानेवाली गाड़ीमें चढ़े। अबकी धूपनाथको भी नेपालतक साथ चलना था। माँझी स्टेशनसे उतरकर एकमा गये। असहयोगके समय एकमामें (१९२१-२२ ई०) एक हिन्दी मिडिल स्कूल था, फिर लक्ष्मीनारायण, प्रभुनाथ गिरीश, हरिहर, रामबहादुर आदि तरुणोंने एक गाँधी-स्कूल खोल दिया, जो असहयोगके कई सालों बादतक लस्टम-पस्टम चलता रहा। वही अब एक हाई स्कूलके रूपमें परिणत हो गया है, यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। विद्यार्थियोंने कुछ बोलनेकेलिए कहा। मैंने कुछ यात्राकी बातें बतलाईं और अंडेका माहात्म्य भी। कितनोंको आश्चर्य हुआ होगा, तरुण विद्यार्थियोंको नहीं, बूढ़े श्रोताओंको जरूर जो अब भी रामउदार बाबा कहनेकी ज़िद करते थे। उसी दिन दोपहरको धूपनाथके साथ छपरा आया, और शामकी गाड़ीसे नेपालकेलिए रवाना हुआ। १७ को ७ बजे रकसौल और ९ बजे दूसरी गाड़ीपर चढ़कर हम अमलेखगंज पहुँच गये।

२५

तिब्बतमें तीसरी बार (१९३६ ई०)

शिवरात्रीके यात्री ख़ूब जा रहे थे, इस वक्त राहदारीका सवाल नहीं था। खुली लारियाँ एक-एक रुपयेपर भीमफेरी पहुँचा रही थीं। ढाई घंटेमें हम भीमफेरी पहुँच गये।

अबकी बार यह अच्छा इन्तिज़ाम देखा, कि चीज़ोंकी तलाशी ऊपर सीसागढ़ीपर नहीं, बल्कि यहीं कर लेते थे। अभी मेरे शरीरमें इतनी ताक़त नहीं थी, कि दोनों डाँड़ोंको लाँघ सकता। १४ रुपया सवा आठ आनेमें चार क़ुलियोंवाला एक खटोला किया गया। खटोलेमें इतना सिमिटके बैठना पड़ता था, कि बड़ी तकलीफ़ होती थी। अँधेरा होते-होते हम सीसागढ़ी पहुँचे। कहीं और ठिकाना न मिलनेके कारण मन्दिरके आँगनमें सो गये। आधी रातको वर्षा होने लगी, फिर नीचे एक घरमें चले गये। दूसरे दिन (१८ फ़र्वरी) ५ बजे शामको चन्द्रागढ़ीके ऊपर पहुँचे। उतराईमें ज़मीन इतनी बिछली थी, कि लोग फिसलकर गिर रहे थे। शामको साढ़े छः बजे थानकोटके नीचे मोटरके अड्डेपर पहुँचे। आठ-आठ आना लेकर मोटरने इन्द्रचौकमें पहुँचा दिया। ढूँढ़-ढाँड़ कर किसी तरह धर्ममानसाहुके घर पहुँच गये। उतराईमें लोगोंको फिसलकर गिरते देख मैं खटोलेपर बैठना बेवक़ूफ़ी समझ पैदल ही आया था, इसलिए कमर और पैरोंमें दर्द मालूम होता था।

१—नेपालमें

हेमिस-लामाको दश साल बाद आज यहाँ देखा। उस वक़्त उनसे लदाखमें जब मिला था, तो उन्हें हिन्दी बोलने नहीं आती थी, और मुझे तिब्बती नहीं आती थी। अब वह हिन्दी भी बोलते थे। वह तीर्थ करनेकेलिए इधर आये थे। अब लदाख लौटनेवाले थे। ञेनम्के ज़ोङ्पोन् भी यहीं ठहरे हुए थे। अभी वह एक मासतक यहाँ रहनेवाले थे। लेकिन तबतक मेरा काम ख़तम हो जायगा, इसमें सन्देह था और ठीक वैसा ही हुआ भी। मुझे १८ फ़र्वरीसे १४ अप्रेलतक प्रायः दो मास काठमांडोमें ठहरना पड़ा। धूपनाथको यहाँसे भारत लौट जाना था। यद्यपि उनके मनमें भी साथ चलनेकी इच्छा थी, किन्तु उन्होंने प्रकट नहीं किया। उनको नेपालके कितने ही स्थानोंको दिखला देना ज़रूरी था। हम थापाथली गये, अब भी वहाँ साधू उसी तरह डटे हुए थे, जैसा कि हमने १३ साल पहिले देखा था। पशुपति और गुह्येश्वरी-को दिखाया, किन्तु धूपनाथको श्रद्धा नहीं थी। महाबौधा गये। चीनीलामाने चाय पिलाई, तीन घंटेतक बात होती रही। आजकल तिब्बतके बहुतसे यात्री यहाँ ठहरे हुए थे। मैं अबकी चौथी बार महाबौधा आया था। मैंने धूपनाथको कोठरियाँ दिखलाकर बतलाया, कि कैसे मैंने वहाँ स्वेच्छापूर्वक क़ैद-तनहाई काटी थी। अब मैं प्रगट था। लोगोंको पता चल ही जाता, इसलिए कि यहाँ दो-चार जिज्ञासु आते ही रहते थे। एक दिन कालेजके प्रोफ़ेसर पंडित गोकुलचन्द्र शास्त्री मिले,

उनसे मालूम हुआ कि स्वामी प्रणवानन्द आये हुए हैं—लाहौरके छात्रावस्थाके मित्र सोमयाजुलु, जिन्हें हम लोग प्यारसे मिस्टर कहा करते थे। १७ वर्ष बाद आज इतना पास आ गये हैं, फिर मिलनेकी इच्छा क्यों न होती ? यद्यपि उनका शरीर अब भी वैसा ही पतला था, रंग वैसा ही साँवला था, किन्तु सिरपर लम्बे-लम्बे बाल और मुँहपर लम्बी दाढ़ी—ऐसे भेषको देखकर आदमी जल्दी भ्रममें पड़ सकता है, लेकिन मुझे पहिचाननेमें कठिनाई नहीं हुई। १७ वर्ष पहिले हम दोनों एक चौरस्तेपर खड़े थे। फिर हमने अपने-अपने पैरोंको आगे बढ़ाया, और अब कितना अन्तर है। वह घरबार छोड़कर योगी हुए। १९२६ ई०तक वह भी कांग्रेसके काममें लगे हुए थे। फिर ब्रह्म और योगने उन्हें अपनी ओर खींचा। उन्हें एक अच्छा गुरु मिला और दस-दस घंटेकी समाधि लगने लगी। बतला रहे थे, बीमारीके कारण आपरेशन कराना पड़ा, इसलिए अब चार-पाँच घंटेकी ही समाधि रहती है। प्रणवानन्द रमण-महर्षि और स्वामी सियाराम (स्वर्गीय)के बड़े प्रशंसक हैं। मैं उनके मुँहसे योगकी बातोंको सुन रहा था, लेकिन इन सबके सुननेकी मेरे दिलमें कभी स्पृह नहीं हुई। ज्यादासे ज्यादा मैं यही मान सकता था, कि शायद हमारे योगियोंने क्लोरोफ़ारमके बिना भी बेहोशीकी कोई युक्ति निकाल ली है। ऐसी युक्तिको समझना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन, मेरे पास उसका समय कहाँ था ? साथ ही मुझे यह भी विश्वास है, कि योग मनुष्यकी प्रकृतिमें अन्तर नहीं डाल सकता। अब भी प्रणवानन्द "मिस्टर"की तरह ही निस्संकोच भाषण कर सकते थे। जब मैं पहिली बार सीलोनमें था, (१९२७-२९) तो वह लदाख़ होकर मानसरोवर गये थे, तबसे वह कई बार मानसरोवर हो आये हैं। एक बार तो सालभरसे ज्यादा वहीं रहे। कच्चे योगी होनेसे, मैं समझता हूँ, उन्होंने कभी भी याक्के कच्चे मांसका स्वाद नहीं लिया होगा। हाँ, कैलाशके हवा-पानीमें आध्यात्मिकताकी विद्युत्-तरंगें प्रवाहित हैं, यह उनको विश्वास है। हम एक-दूसरेको एक मतका बनानेकेलिए उत्सुक नहीं थे, इसलिए बातचीतका ही आनन्द रहा। दो-चार दिन हम दोनों एक ही मकानमें रहे। हमने अपने पुराने जीवनकी स्मृतियाँ दौड़ाईं। एक बातमें ज़रूर हम दोनों एक थे, उनको भी तिब्बतके कष्टोंका आह्वान करनेमें आनन्द आता था, और मुझे भी।

एक दिन मैं नेपाल और जापानकी तुलना कर रहा था—(१) दोनों ही हरे-भरे सर्द देश हैं, (२) दोनों हीके मनुष्य मंगोल-किरात (मलाई)-श्वेतांग (अयिनू या हिन्दी-आर्य) मिश्रित जातिके हैं। (३) दोनों ही बड़े मेहनती और साहसी

हैं, (४)और यह बात यद्यपि आज कोई महत्त्व नहीं रखती, किन्तु ६८ वर्ष पूर्व दोनों-का शासन भी एक जैसा था—वहाँ मिकादोको पर्देमें रखकर शोगुन राज करता था, यहाँ धिराजको पर्देमें रखकर अब भी तीन सरकार राज करते हैं। जापानकी खेती-बारी, बिजली, फल आदिकी विद्या सारीकी सारी नेपाल भी अपने व्यवहारमें ला सकता है।

धूपनाथ फ़र्वरी १०से १५के ६ दिनोंको छोड़कर २७ दिसम्बरसे २८ फ़र्वरी तक बराबर मेरे साथ रहे। आज वह बिदा होने लगे तो मुझे ज़रूर कुछ खेद मालूम हो रहा था। ऐसे मित्रका वियोग खेदरहित कैसे हो सकता है ? मैं नेपालमें था। जायसवालजीकी इच्छा हुई कि नैपाल देख लिया जाय, मैंने भी लिख दिया कि ज़रूर आइये। फिर नेपाल-सरकारसे आज्ञा लेनेकेलिए मैंने राजगुरु पंडित हेमराज शर्मासे कहा। उन्होंने उसके बारेमें कोशिश करनेकी ज़िम्मेवारी ली। इधर ज्योतिषियोंने फिर भविष्यद्वाणी की थी, कि ३ मार्चको भूकम्प होनेवाला है। १९३४के भूकम्पसे लोग पूरे भयभीत थे। नेपालमें बहुत नुक़सान हुआ था। मैंने दो मार्चको लिखा था—"यहाँ कलके भूकम्प आनेका इतना हल्ला है, कि बहुतसे लोग घर छोड़कर बाहर रह रहे हैं। इस मूर्खताका क्या ठिकाना ? ऐसे ज्योतिषियोंको तो सज़ा देनी चाहिए। ख्याति और प्राप्तिकेलिए वह तो लिख डालते हैं, और प्रेससे भी फ़ायदा उठाते हैं, इधर करोड़ों आदमी हैरान होते हैं। कितनोंके घर चोरी हो जाती है।" ३ तारीख़को भूकम्प नहीं आया, तो ज्योतिषियोंने २० मार्चको भूकम्प आनेकी बात कही।

६ मार्चको मालूम हुआ कि जायसवालजीके आनेकी इजाज़त मिलनेमें एक कठिनाई है—उनकी धर्मपत्नी भी आयेंगी, शायद वह पशुपतिका दर्शन करना चाहें, लेकिन, उनके पति विलायत हो आये हैं, इसलिए पशुपतिका दर्शन नहीं हो सकता। खैर, रास्तेकी कठिनाईको देखकर वह ख़ुद नहीं आईं और पशुपतिके दर्शन करनेकी ज़रूरत नहीं पड़ी। १७ मार्चको अभयसिंह आ गये। अब उन्हें तिब्बतकेलिए तैयार करना था। मैंने उन्हें तिब्बती अक्षर सिखलाना शुरू किया। पहिली अप्रेल-को जायसवालजी, श्याम बाबू और अपने सबसे छोटे लड़के दीपके साथ नेपाल पहुँच गये। अगले दिन हम पशुपति गये। साथमें "साहेब लोग" थे, इसलिए मन्दिरके भीतर नहीं जा सके, बाहर-बाहरसे देखा। पहिली अप्रेलसे ११ अप्रेलतक जायसवालजी नेपालमें रहे। उस वक़्त मेरा अधिक समय उनके साथ भिन्न-भिन्न स्थानोंके देखनेमें लगा। ५ तारीख़को हम म्यूज़ियम गये, यहाँ नये-पुराने हथियारोंका अच्छा संग्रह है। चित्र भी अच्छे हैं। मूर्त्तियाँ उतनी सुन्दर नहीं हैं, लेकिन कुछ मल्ल-दानपतियों-की पीतलकी मूर्त्तियाँ सुन्दर हैं।

तीन बजे हम कमांडर-इन्-चीफ़ सर पद्मशमशेरसे मिलने गये। मधुर स्वभाव स्पष्टवादी और व्यवहारमें अत्यन्त सुजन प्रतीत हुए। मेरे "तिब्बतमें सवा बरस"को उन्होंने ध्यानसे पढ़ा था। कह रहे थे—"सत्य बहुधा अप्रिय होता है"। मैंने उसमें कुछ कटु सत्य ज़रूर कहे हैं। गोरा रंग, लम्बा क़द, प्रायः सारा बाल सफ़ेद। उनके चेहरे हीसे हृदयकी मृदुता झलकती थी। पोशाक बिल्कुल सादी थी। नेवार लोग अपने चीफ़ साहेबकी बड़ी प्रशंसा करते थे। कह रहे थे, वह भूकम्पके समय लोगोंके पास अकेले ही घूमा करते थे। उनका महल भी भूकम्पमें गिर गया था। दो वर्ष हो गये, लेकिन अभी भी उन्होंने उसे नहीं बनवाया। वह एक मामूली अस्थायी घरमें रहते थे। इसमें शक नहीं कि वह अपनी प्रजा और नेपालका हित चाहते हैं। लेकिन चाहनेसे क्या होता है, वह जिस तरहकी राजनीतिक व्यवस्थाके पुर्ज़े हैं, उससे उनके लिए कुछ कर सकना सम्भव नहीं है।

७ अप्रेलको हम चांगूनारायण गये। इस मन्दिरकी स्थापना छठीं सदीके आस-पास हुई थी। मन्दिरके बाहर चारों ओर अत्यन्त सुन्दर काष्ठप्रतिमायें हैं, जहाँ-तहाँ कितनी ही खंडित मूर्त्तियाँ पड़ी हुई हैं। उसी दिन हम स्वयंभू चैत्य देखने गये। एक कोनेमें जयार्जुनदेवका शिलालेख है। मैं इधर कई दिनोंसे नेपालकी राजवंशावलीका अध्ययन कर रहा था। उससे मालूम हुआ, कि ७७० नेपालसंवत् (१३५० ई०)में बंगालका "सुरत्राण शमसदीन भाँगरा" (सुल्तान शमसुद्दीन बागरा) नेपाल आया, उसने बहुतसे देवालयोंको तोड़ा। मैंने नेपालमें जहाँ-तहाँ नाक-कटी मूर्त्तियोंको देखा था, इसलिए वंशावलीको ध्यानसे देखा। यह लेख उसी बातकी पुष्टि करता था। मैंने राजगुरुसे एक दिन इसकी चर्चा की, तो उन्होंने कहा—नैपालमें किसी मुसल्मानविजेताने पैर नहीं रखा। लेकिन इन तीन-तीन प्रमाणोंका उतनेसे कैसे खंडन हो सकता था? मैंने जायसवालजीको सारी बातें बतलाई, फिर उस शिलालेखको दिखाया। बात बिल्कुल साफ़ थी। भारत लौटनेपर जायसवालजीनें इसके बारेमें एक वक्तव्य दिया जिसमें नेपालकी राजवंशावलीपर कुछ लिखनेका भी विचार प्रकट किया। नेपाल-दरबारकी ओरसे उनसे कहलाया गया, कि प्रकाशनसे पहिले पुस्तकको उनसे दिखला लें। निश्चय ही यह धृष्टता थी। जायसवालको जो कुछ लिखना था, अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेवारीके साथ लिखना था। भला वह कैसे इस बातको मान लेते? उन्होंने पीछे अपनी खोजोंको प्रकाशित किया। १२ अप्रेलको जायसवालजी चले गये। मुझे भी अब ज़्यादा दिन रहनेकी ज़रूरत नहीं थी।

मैंने अपने दो महीनेके निवासमें जहाँ "दीर्घनिकाय" और "जापान"के प्रूफ़का काम खतम किया, वहाँ नेपालकी वंशावली, सिक्कों, तालपत्रोंका भी अध्ययन करता रहा। बहुत काफ़ी सिक्के पटना म्यूज़ियमकेलिए जमा करवाये। पता लगा कि, एक आदमीके पास ५०० वर्षके तालपत्रपर लिखे ख़रीद-बेचके दस्तावेज़ हैं। मैंने उनमेंसे कुछ देखे। यह पत्र उत्तरी भारतके ताड़के हैं, इसलिए उतने मज़बूत नहीं हैं। इन तालपत्रोंके एक कोनेमें राजाकी मुहर रहती हैं। चित्तहर्षके पास ऐसे ३०० तालपत्र जमा हैं। उनसे नेपालके राजनीतिक इतिहास ही नहीं, आर्थिक इतिहासपर भी प्रकाश पड़ सकता है।

राजगुरुने एक दिन कहा—"तिब्बतमें सवा बरस"में आपने जो यहाँके शासक-वर्गपर टिप्पणी की है, उससे वह बड़े असन्तुष्ट हैं। इसकी वजहसे आपकी दूसरी किताबोंको यहाँ आनेमें बड़ी रुकावट हो रही है, इसलिए उसे आप हटा दें, तो अच्छा है। असन्तोषका एक और पता २४ मार्चको लगा। "जापान" और "खुद्दक-निकाय" (पाली)के प्रूफ़ोंको डाकसे भेजनेके पहिले अभयसिंह जी कस्टम (भनसार) वालोंको दिखलानेकेलिए ले गये। उन्होंने कहा—हम इसे तबतक नहीं भेज सकते, जबतक आप "तिब्बतमें सवा बरस"की एक कापी नहीं दे देते। वहाँ भला कापी कहाँ थी। फिर यह पुस्तक तो सरकार द्वारा ज़ब्त है। उन्होंने इन्कार कर दिया, पीछे गुरुजीने कोशिश करके उन्हें भिजवाया। मैंने भी देखा कि मेरी एक पुस्तककेलिए दूसरी पुस्तकोंके पढ़नेसे लोग क्यों वंचित रहें, इसलिए "तिब्बतमें सवा बरस"के ३३से ३६ पृष्ठको फिरसे लिखकर नरम कर दिया।

३० मार्चको महादशमी थी। आज पुराने राजमहलमें ख़ूब बलिदान हुए। डेढ़ सौ तो भैंसे ही काटे गये। नेपालमें उज्जैनकी देवी हरिसिद्धिका मन्दिर है, पहिले बारह-बारह सालपर वहाँ नरबलि हुआ करती थी। ३ साल हुए जब कि १२ वर्ष पूरे हुए थे। कहते हैं, उस वक़्त पुजारियोंने चोरी-चोरी एक बलि चढ़ाई थी।

सीमाकी ओर—१५ अप्रेलको हमने काठमांडोसे बिदाई ली। राजगुरु पंडित हेमराज शर्मामें विद्वत्ता, विद्याप्रेम, सहृदयता, कालज्ञता, राजनीतिज्ञता सभीका सुन्दर सम्मिश्रण है। उन्होंने, जब-जब मैं इधर आया, मेरे कामोंमें सहायता की। धर्ममान साहु और उनके पुत्र प्रथम यात्रा हीसे सहायक रहे। मुझे यह देखकर अफ़सोस हो रहा था, कि धर्ममानसाहु अब बहुत कमज़ोर हो गये हैं। ७४ वर्षकी आयु और उसपरसे दमाका रोग, बहुत ही कम उम्मेद थी, कि उन्हें देखनेका फिर मौक़ा मिलेगा। सामान ढोनेके हमने चार भरिया(क़ुली) ठीक किये थे। यद्यपि

अब शरीरमें बल पूर्ववत मालूम होता था, किन्तु तो भी गुरुजीने दो घोड़ोंको तातपानीतककेलिए दे दिया, तातपानीके आगे तो घोड़ा जाता ही नहीं। ज्ञानमानसाहुके साथ साखूतक हम मोटरमें गये। आज रातभर यहीं रहना हुआ। अगले दिन (१६ अप्रेल) हम पाँच ही बजे रवाना हुए। अबकी बार देवपुर-डाँडासे न जाकर नङ्लासे पार हुए। भरिया बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे। उस दिन नवलपुर बाज़ारमें ठहर जाना पड़ा। भरियोंकेलिए इन्तज़ार करते रहे, लेकिन वे रातभर नहीं आये। बाज़ार था, लेकिन वहाँ खानेका इन्तिज़ाम न हो सका। सामान सब भरियोंके पास था, मेरे चीवर काफ़ी मज़बूत थे। हाँ, खटमलों और पिस्सुओंने बहुत तकलीफ़ दी। दूसरे दिन (१७ अप्रेल) भरिया ७ बजे आये। बोझके मारे दो लड़के नहीं चल सके, इसीलिए पीछे ठहरना पड़ा। यहाँसे हम १२ बजे रवाना हुए। सारा रास्ता चढ़ाई-उतराईका था। हमारे घोड़े साढ़े तीन बजे चौतारा पहुँच गये। लेकिन भरिया ६ बजे पहुँचे। यहाँ एक साईसने पेटकी बीमारीका बहाना कर दिया, हमें उसे लौटाना पड़ा। एक भरिया भी बीमार पड़ा, फिर एक दूसरे आदमीको तातपानी तककेलिए लेना पड़ा। दूसरे दिन (१८ अप्रेलको) हम जलबीर पहुँचे। अबके वह बाज़ार सूनी थी, और भुनी मछलियोंका भी कहीं पता नहीं था। मालूम होता है, फ़सल कटनेके वक़्त ही जलबीरका बाज़ार जमता है। आगे चढ़ाई थी, और कुछ दूर तक तो इतनी कठिन थी, कि घोड़ा छोड़कर पैदल चलना पड़ा। पइरेगाँवमें एक तितल्ला मकान रहनेकेलिए मिला, लेकिन घोड़ेकेलिए खोजनेपर भी पुवाल न मिल सका; उसे सिर्फ़ दानेपर रहना पड़ा। १९ अप्रेलको हम देवरालीके डाँड़ेपर पहुँचे। यह सबसे ऊँचा डाँड़ा है, और चढ़ाई बहुत सख़्त है। सारी चढ़ाई पैदल पार करनी पड़ी। यन्लाकोट होते ४ बजे ठागम पहुँचे। यह अच्छा बड़ा गाँव है। रहनेवाले नेवार हैं। आए थे बेचारे दूकान करनेकेलिए, लेकिन व्यापारका स्रोत बहुत बरस हुए सूख गया, अब खेती करके गुजारा करते हैं। बड़ी मुश्किलसे एक घरमें चावल मिला। अगले दिन (२०अप्रेल) भी रास्ता ख़राब रहा। खिलतीगाँवमें माईथान देवीका थान है। मंदिरके सामने एक पाषाणस्तंभपर पीतलका सिंह है, जिसे कर्नल गंगा-बहादुरने बनवाया था। यहाँ भी नेवारोंके चार-पाँच घर हैं, किन्तु यह लोग व्यापारी नहीं, आलू आदिकी खेती करते हैं। कितनी ही चढ़ाईके बाद शरबा लोगोंका गाँव मिला। यहाँ एक गुंबा भी है। नीचेके गाँवोंमें जौ कट गया था, और यहाँ शरबा लोगोंके गाँवोंमें अभी जौ बिल्कुल हरा था। उस दिन हम दुग्ना गए और अगले दिन (२१ को) १० बजे तातपानी पहुँच गए। स्नान गरमकुंडमें हुआ। गुरुजीका

घोड़ा और साईस सिर्फ़ यात्राकेलिए ही सहायक नहीं साबित हुए, बल्कि उनकी वजहसे अधिकारियोंपर भी प्रभाव पड़ा। हमारे पास एक भरियाकी कमी थी, भनसारके अधिकारीने अपना आदमी दे दिया। कुदारीकी फ़ौजी चौकीपर भारदारने गुरुजीके साईसको देखा। वह हमें आगे जानेसे रोक तो नहीं सकता था, किंतु नम्रतासे बोला—आगेसे आएँ, तो एक सरकारी चिट्ठी लाएँ, यह हमारेलिए भी अच्छा होगा; इस वक़्त रोकें, तो आपको कष्ट होगा। अब हम ५ आदमी थे, तीन भरिया, अभय-सिंह और मैं। भोटकी सीमामें पहुँचकर चढ़ाई आई, और थोड़ी ही दूर जानेपर पैरोंने ज़बाब दे दिया। हम तेज़ीगङ (रमइत) में रातको ठहर गए।

२–तिब्बतमें

डामके सामने ही आकर हम शामको ठहर गए थे। सुबह ६ ही बजे चले। जंजीरवाले पुलपर अभयसिंहको बहुत उत्साह देकर पार कराना पड़ा। डाममें हम नीचेसे जा रहे थे, देखा, हमारी एल्मोकी परिचिता भुट्टी और डुक्‌पालामाके एक चेला बैठे हुए हैं। मिले, कुशल प्रश्न हुआ। फिर वहाँसे रवाना हुए। आजके आधे रास्तेपर जाकर चाय पी। एक जगह गुनास (पहाड़ी अशोक) के लाल-गुलाबी फूलोंकी अद्‌भुत शोभा थी, पत्तियाँ बिल्कुल नहीं, सिर्फ़ फूल ही फूल दिखाई देते थे। रास्ता कठिन था, कहीं-कहीं इतना संकीर्ण था, कि दिल दहल उठता था। उसी दिन ६ बजेके क़रीब हम छोक्‌सुमके गरमपानीके चश्मेपर पहुँच गए। कल नेपाल सीमा पार करनेके बादसे अब तक नौ पुल पार करने पड़े थे। अब हम नौ, दस हज़ार फ़ीट ऊँची जगहपर थे। सर्दी इतनी थी, कि अभयसिंहने तप्तकुंडमें नहानेका ख्याल छोड़ दिया। २३ अप्रेलके ढाई बजे हम ञेनम् पहुँच गए। रास्तेमें बरफ़ बहुत कम मिली थी। इस वक़्त पहाड़ी लोग नमककी ढोवाईमें लगे हुए थे। यह तीसरी बार मैं ञेनम् आया था। अबकी चार दिन यहाँ रहना पड़ा, पहिले तो कुछ सन्देह मालूम होने लगा, क्योंकि एक जोङ्पोन् (जोङनुब)ने दूसरे जोङ्पोन (जोङ्शर्) के ऊपर टालना चाहा। नेपालमें हमारा परिचय पहिले जोङ्पोन्से हुआ था, दूसरे जोङ्पोन्का मिजाज लोग कड़ा बतला रहे थे। मेरे पास अपनी लिखी तिब्बती पुस्तकें, और ल्हासा और साक्याके बहुतसे फ़ोटो थे, उसको देखकर उसने कहा—वैसे तो आचारा (साधू) आदि को हम ऊपर नहीं जाने देते, किन्तु आप धर्मकार्यकेलिए जा रहे हैं, इसे हम दोनों जोङ्पोन् बातचीत करके ठीक कर लेंगे। यह सुनके जीमें जी आया। शामको जोङ्नुबकी ओरसे चावल और माँसकी सौगात आई। हम भी सौगात लेकर दोनों

जोङ्पोनोंके पास पहुँचे। जोङ्नुब्ने भाड़ेपर खच्चर भी कर देनेका वचन दिया।

मैं अपने साथ रुपया नहीं लाया था। रुपया साहु धनमानके यहाँ जमा कर दिया था। उन्होंने ञेनम्के जिस व्यापारीको रुपया देनेकेलिए चिट्ठी लिखी थी, वह हिचकिचाने लगा। मैं अपनी ग़लतीकेलिए पछताने लगा। दो-तीन सौ रुपयेके नोट कोई बहुत भारी थोड़े ही होते हैं। खैर, उन्होंने भी कुछ पीछे सोचा और मुझे सौ रुपयेके तिब्बती सिक्के दिये। शिगर्चेके फ़ोटोग्राफ़र तेजरतन अपनी भोटियापत्नीके साथ लौट रहे थे, इसलिए रास्तेके साथी भी मिल गये। अगले दिन (२७ अप्रेल) मैं जोङ्नुब्के यहाँ गया। वहाँ उनके परिवारके कई फ़ोटो लिये। तिब्बतकी स्त्रियाँ कितनी निर्भय हैं, यह इसीसे मालूम होगा, कि जोङ्पोन्की चाम् (पत्नी)ने मर्दाना पोशाक पहनकर फ़ोटो खिचवाया। इधरकी यात्रा, यहाँकी सर्दी और नये शिष्टाचारके सीखनेमें उपेक्षा और निर्बलता देखकर मैंने अभयसिंहसे कहा——अभी तो हम तिब्बतके अंचलपर पहुँचे हैं, आगे और भी ज्यादा तकलीफ़ें हैं; यहाँसे नेपाल जाना आसान है। उन्होंने आगे चलनेका आग्रह किया।

२८ अप्रेलको ९ बजे हम ञेनम्से रवाना हुए। हम ६ आदमी घोड़ों या खच्चरों-पर सवार थे——मैं, अभयसिंह, तेजरत्न, उनकी स्त्री तथा दो और नेपाली। जोङ्का नौकर भी घोड़ेपर चलता था, साथमें एक खच्चरवाला पैदल चल रहा था। हमारे बहुतसे सामान तो ताड़ू (घोड़ेकी पीठपर रखे जानेवाले चमड़ेके थैले)में भरे थे। कपड़ा-लत्ता भी घोड़ेकी पीठपर आ गया था। और सामानकेलिए दो बेगार थे। मुझे चढ़नेकेलिए एक खच्चर और अभयसिंहको दुबला घोड़ा मिला था। पहिला मुक़ाम चाङ्दोओमामें रहा। ज़ोङ्शर् भी सदलबल वहाँ पहुँचा। सारे गाँवने बढ़कर उसकी अगवानी की। हमें जो घोड़े मिले थे, उनका किराया ज़ोङ्नुब्-को दिया था, लेकिन घोड़े ज़ोङ्का आदमी हमें बेगारमें पकड़-पकड़कर देता था। अगले दिन नये घोड़ोंके आनेमें देर हो गई, और १० बजे बाद रवाना हुए। घोड़ा कुछ अच्छा था।

अभयसिंहको दौड़ानेका शौक़ हुआ और वह आगे बढ़ गये। घोड़ेवाला बहुत नाराज़ हुआ, लेकिन उनको समझावे कौन? ञेनम्तक ही यह पता लग गया था कि वह सीखेंगे तो अपने मनसे ही, किसीको गुरुगड़रिया मानके नहीं। उस रात हम थुलुङ्में ठहरे। यह जगह १५ हज़ार फ़ीटसे कम ऊँची नहीं होगी। अभयसिंहको सारी रात नींद नहीं आई, मैं घबड़ा गया। मैंने लदाख़में दूसरी यात्राके वक़्त देखा था——एक सिपाहीको वहाँ पहुँचते ही साँस लेनेमें तकलीफ़ होने लगी थी, जबतक

पीछे लौटानेका इन्तिज़ाम किया जाय, तबतक वह चल बसा। अभयसिंहको यदि ऊँचाईके कारण फेफड़ेके कष्टसे यह हो रहा है, तो यह ज़रूर ख़तरेकी बात थी, ख़ैर सबेरेतक ठीक हो गया।

अगले दिन (३० अप्रेल) हम थोङ्ला पार करके ५ बजे लङ्कोर पहुँचे। अभयसिंह वैद्य प्रसिद्ध हो गये, लोग उनसे दवाई लेनेकेलिए आये। घरके मालिकको आतशक (उपदंश)की बीमारी थी, उनको दवा दी गई। साथियोंमेंसे दोके सिरमें दर्द था। यद्यपि लङ्कोर भी १३ हज़ार फ़ीटसे कम ऊँची जगह नहीं है, लेकिन हम तो बड़ी ठंडी जगहसे होकर आये थे, इसलिए गर्मी मालूम होती थी। लङ्कोरसे फिर रवाना हुए और साढ़े तीन घंटेमें तिङ्री पहुँच गये। ज़ोङ्पोनको यहीं ठहरना था, इसलिए हमें भी यहीं ठहर जाना पड़ा। आजकल तिङ्री मैदानकी घास पीली पड़ गई थी। क्यांङ् (जंगली गदहों)का भी कहीं पता नहीं था। जहाँ-तहाँ भूमिसे अपने ही पानी निकल रहा था। दो मईको हम चा-कोर् पहुँचे। ज़ोङ्पोन यहाँ भी आया, और महापंडित, न्यायाचार्य, ख़च्चरवाले और ख़च्चर सभी एक घरमें रख दिये गये।

फ़क (३ मई) अगला पड़ाव था। गुस्सा, बात न मानना तथा वहाँके ढंगोंके सीखनेमें अवहेलना यह अभयसिंहमें बराबर चल रही थी, कोई उपाय नहीं था। मैंने सोचा कि साक्यामें रखनेसे बेहतर है, उन्हें शिगर्चे भेज दिया जाय। और लोग जाही रहे हैं, इसलिए तकलीफ़ न होगी। रघुवीरको पत्र दे देंगे, वह उनका इन्तिज़ाम कर देंगे। अगले दिन हमें शामको छोन्दू पहुँचना था। पिछली बार नेपाल जाते वक़्त हमने एक डाँड़ा (जोत) पार किया था, अबकी हम पहाड़की परिक्रमा करते-करते नीचेसे जा रहे थे। कई जगह धरतीसे सोडा निकला हुआ था, जिसके कारण घोड़ोंको भी खाँसी आ रही थी। आगे आताबूके बनाये बालुका-पर्वत मिले। कहते हैं, यह पिशाच घंटेभरमें लाखों मन बालू उठाकर एक जगहसे दूसरी जगह रख देते हैं। लाखों मन बालूके टीलोंको हमने ज़रूर देखा, लेकिन आताबू नहीं दीख पड़े। आज बवंडर नहीं था, नहीं तो क्या जाने हम भी आताबूके फेरमें पड़ते और लाखों मन बालू हमारे भी ऊपर आ जाती। रातको छोनदूमें ठहरे।

सबेरे (५ मई) घोड़ेको बढ़ाकर हम मब्जा पहुँचे। मालूम हुआ, कुशो डोनिर्ला साक्या गये हुए हैं। उनकी माँने चाय पीनेका बहुत आग्रह किया, लेकिन साथियोंके आगे चले जानेके डरसे हम नहीं ठहर सके। ३ बजे डोङ्लाकी जोतपर पहुँचे, और शामतक लुग्रामें। एक बड़े महलके पास ६ आदमियोंके लेटनेकेलिए एक बिल्कुल

छोटीसी कोठरी मिली। मैं जाहिदानकी यात्रामें ४ दिनतक इससे भी भयंकर सासत-को सह चुका था, इसलिए यहाँकी सासतकी परवाह क्या? अब साक्या घंटा-डेढ़ घंटाका रास्ता था। तेजरत्न और दूसरोंको शिगर्चे जाना था। मैंने अभयसिंहको समझाकर कहा—"न मेरा दोष है, न आपका दोष है। आदमीका दिल यदि कुछ हफ़्ते-दो-हफ़्तेके निरन्तर सहवाससे प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सका, तो समझना चाहिए, कि दोनोंकी प्रकृतिमें भेद है। अब अधिक साथ रहना निरी कटुता-का कारण होगा। वैसे तो मुझे कुछ महीने रहकर तिब्बतसे चला जाना है, और आपको दो-तीन साल रहना है। मैं रघुबीरको चिट्ठी लिख देता हूँ, वहाँ आपके रहनेका इन्तिज़ाम कर देता हूँ, आप चले जाइए।" मेरी बातमें कहीं कटुता या क्रोध-का चिह्न नहीं था। मैंने रघुबीरको चिट्ठी लिख दी। भारत भेजनेकेलिए कितनी ही चिट्ठियाँ लिख दीं। जिस वक़्त खाने-पीनेकी चीज़ोंको सुपुर्द करते वक़्त मैंने उनके हाथमें नोट रखा, तो वह यकायक रो पड़े। अभीतक मैं उनके जीवनके एक ही रूप-को देखता था, मैंने फिर उन्हें शिगर्चे जानेकेलिए नहीं कहा। तिब्बतमें जब-जब दोनोंको निरन्तर बहुत दिनोंतक रहना पड़ा, तब-तब फिर वही कठिनाइयाँ आईं। मैं अभयसिंहको दोष नहीं दे सकता। आदमीका हृदय वीणाके तारकी तरह कुछ ऐसे सूक्ष्म भेद रखता है, कि मिल जाये तो फिर कभी मिठास हट ही नहीं सकती, और न मिले तो ठोंक-पीटकर उसे नहीं मिलाया जा सकता। आख़िर दिन-रातमें बे जाने आदमी परिहासमें, क्रोधमें, खेदमें बुद्धिमानकी तरह, बेवक़ूफ़की तरह, पागलकी तरह, न जाने कितनी तरहकी बातें करता है, काम करता है। किंतु, दूसरे आदमीके दिलमें यदि ज़रा भी ग़लतफ़हमी बैठ गई, सहृदयता नहीं दिखी तो हर जगह उसे सन्देह होने लगता है।

६ मईको हम दोनों तड़के सबसे आगे निकल गये और डेढ़ घंटेमें (साढ़े सात बजे) साक्या पहुँच गये। रास्तेमें पानी अब भी बर्फ़ बना था। वृक्षोंमें पत्तियाँ हरी कलियों जैसी आ रही थीं। खेतोंमें जुताई अभी शुरू ही हुई थी। डोनिर-छेन्पोने दिल खोलकर स्वागत किया। अचा दिकिलाने सबसे ऊपरी तलके एक कमरेमें हमारा आसन लगवाया।

साक्यामें—चाम्कुशो छेरिङ् पल्मो उस वक़्त एक विहारमें पूजा और ध्यान करने गई थीं। घरमें डोनिर् छेन्पो, उनकी दूसरी स्त्री दिकीला, साले डोनिर्ला, और उनकी पत्नी मौजूद थीं। डोनिर्लाकी छोटी सी बच्ची मर गई थी, और आगेकी पीढ़ीकेलिए घर फिर सूना था। रसोई बनानेवाली पुरानी अनी अब भी मौजूद

थी। यह मालूम हुआ कि जापानसे भेजी चित्रावली उनके पास नहीं पहुँची, किन्तु मेरी चिट्ठी पहुँच गई थी, जिसमें चित्रावलीका ज़िक्र था ।

साक्याके महन्तराज दग्छेन् रिन्पोछेका पिछले साल देहान्त हो गया था, और अब फुन्छोग प्रसादके लामा गद्दीपर बैठनेवाले थे । अभी भी इन्तिज़ाम तारा (डोल्मा)प्रासादके हाथ हीमें था। शामको ४ बजे ताराप्रासादमें गये । कुछ भेंट और तिब्बतमें संस्कृत पुस्तकोंकी सूची भेंट की। चाय पी, थोड़ी दोनों बेटोंसे बात की, और फिर वृद्धा दामो (महन्तरानी) और तरुणी दामोसे भी कुशल-प्रश्न हुआ। फुनछोग् प्रासादके लामा इस वक्त ल्हाखङ्छेन्मोके महाबिहारमें गये थे । वहाँ पहुँचे । लामा उसी तरह हँसते हुए प्रेमसे मिले।

६ मईसे २२ जुलाईतक प्रायः ढाई महीना साक्या हीमें रहना पड़ा। अगले दिन दोनों प्रासादोंसे चाय-सत्तू और मांसकी सौगात आई । जैसा कि दरबारी सौगातों-में अकसर होता है--उपयोगकी चीज़ें बहुत कम आईं । सत्तू पुराना सड़ा, कड़वा, गोश्त सूखा कीड़े पड़ा, मक्खन भी ख़राब । शायद दुनियाभरके दर्बारोंका यही हाल है । भेजनेवाले स्वयं तो इन चीज़ोंको देखते नहीं । नौकर-चाकर सम-झते हैं, कि इन छोटी-छोटी बातोंकी शिकायत एक बड़ा आदमी महाराजके सामने कैसे करेगा ? फिर अच्छी चीज़ोंको अपनेलिए रखकर सड़ी-गली चीज़ें क्यों न भेजी जायँ ? ख़ैर, मुझे तो सौगातोंकी ज़रूरत नहीं थी, मुझे तो चाहिए थी उनकी प्रसन्नता। और दोनों प्रासाद (फोटाङ) मेरे काममें सहायता देनेकेलिए तैयार थे । मैं दोपहरका भोजन करके फुनछोक लामाके पास गया। उनको बाहरी दुनियाकी बातें सुननेकी बड़ी शौक़ थी, राजनीतिक ज्ञानकेलिए नहीं, केवल मनोरंजनकेलिए। जापानके बारेमें बात हुई, चीनके बारेमें, फिर भारतके बारेमें। रूसकी बातें मैंने नहीं कहीं, वहाँकी बातोंको जाननेकेलिए वह बहुत उत्सुक भी न होते। उस वक़्त कनजूरके पारायणमें भिक्षु लगे हुए थे, और देवताओंके लाये विशाल खम्भोंवाला हॉल कथा बाँचनेवाले भिक्षुओंसे भरा था। लामा दो बार मुझे लेकर पाठ करनेवालोंके बीच घूमे। बार-बार पूछते थे--किसी चीज़की आवश्यकता है। हमारी आवश्यकताओं-का ज़िम्मा डोनिर्छेन्पोंने ले लिया था। पुस्तकोंको छोड़कर और क्या आवश्यकता हो सकती थी। ङोरगुम्बाके खेन्पो भी आजकल यहीं थे, उनसे भी मिलने गया। यह खुशीकी बात थी, कि भारतसे भेजे फ़ोटो उनको मिल गये थे। गेशे धर्म-वर्धनके बारेमें सभी बहुत पूछ रहे थे।

८ मईको दोपहर बाद वार्त्तिकालंकार (प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिक-भाष्य)-

की पुस्तक आ गई। विभूतिचन्द्रने १३वीं सदीके आरम्भमें काग़ज़पर इसके डेढ़ परिच्छेदोंको लिखा था। पहिली बार साक्यामें जब मैं आया था, तभी आधे परिच्छेद-को लिख ले गया था। अब बाक़ी एक (चौथे) परिच्छेदको लिखना था। यद्यपि सारा ग्रंथ (तीनों परिच्छेद) मौजूद नहीं था, लेकिन सर्वनाशमें आधेका मिलना भी ग़नीमत है। अभयसिंहको अभी अक्षरसे परिचय नहीं था, क्योंकि पुस्तक १२वीं तेरहवीं सदीकी लिपिमें लिखी गई थी। पन्ने बड़े और अक्षर छोटे थे। इसलिए रोज़ दो पन्नेसे ज्यादा लिखनेकी आशा नहीं थी। उसी दिन ज़ुकाम आ गया। और तीन-चार दिनतक चलता रहा। लेकिन वैद्यराज घर हीमें थे, दूध पानी गरम करके पिलाया गया। ११ मईको थोड़ासा ज्वर भी आया। लेकिन वह ज़ुकाम हीके कारण। ऋतु भी प्रतिकूल थी; आकाश मेघाच्छन्न और आसपासके पहाड़ोंपर बरफ़ पड़ गई थी। हमारी छतपर तो बरफ़के कुछ कण ही गिर पाये थे। शिरमें हल्की सुई-सी जब-तब चुभ जाती थी। लेकिन मैंने अपनी क़लम ढीली नहीं की—काम असल चीज़ है, जीवन तो चलायमान है ही।

१३ मईको सर्दीके कारण हमारे हाथ कुछ फटसे रहे थे। टोन्सिल भी दुखने लगी। अभी भी वृक्षोंपर हरे पत्ते निकले नहीं थे। शिरका दर्द तो बराबर ही थोड़ा-बहुत होता रहता था। १९को वार्त्तिकालंकारके उपलब्ध अंशको लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे पन्नोंको फिरसे मिलानेका काम शुरू किया। ङोर्खेन्पो अभी अपने गुम्बामें जानेवाला नहीं था, इसलिए वहाँ जानेसे अभी कोई फ़ायदा नहीं था।

मेरे मित्र कुशो डोनिर्छेन्पो और फुन्छोग्-प्रासादके नये महन्तराजसे बहुत अनबन थी। मेरे ऊपर दोनोंका घनिष्ठ स्नेह था। दामो (महन्तरानी) एकाध बार ज़रूर डोनिर्छेन्पो और उनकी दोनों चाम्के बारेमें पूछ देती थीं, लेकिन लामा कभी कुछ नहीं पूछते थे। मैं जब जाता तो ४, ५ घंटेसे पहिले कहाँ लौट पाता! जाते ही ख़बर होती, प्रतिहारी श्रीगर्भमें ले जाती, जहाँ कि लामा और दामो बैठती थीं। मेरेलिए एक कुर्सी आ जाती थी। मैं बतला चुका हूँ, कि तिब्बतमें साक्यालामाका सम्मान दलाईलामा और टशीलामाकी तरह किया जाता है। उनके सामने सभी बहुत नीचे आसनपर बैठते हैं—चाहे भिक्षु हों या गृहस्थ, लेकिन मेरेलिए कुर्सी ज़रूर आती थी। और लामाकी दोनों जेचुन्मा (=भट्टारिकाएँ) भी चाय मँगवाने या किसी दूसरे खाने-पीनेकी चीज़ोंके लानेमें तत्पर रहतीं। साक्याके दोनों प्रासादोंकी कन्याओंको सम्मानकेलिए जेचुनमा कहा जाता है। यह कुल इतना पवित्र समझा जाता है, कि कोई इसकी लड़कियोंसे शादी नहीं करता। प्रारम्भिक मुग़ल

सम्राटोंकी तरह शताब्दियोंसे इस कुलकी लड़कियोंको आजन्म कुमारी रहना पड़ता है। बचपन हीसे उनके केश काट दिये जाते हैं, वह भिक्षुणी बना दी जाती हैं। माँ-बापके समयतक तो वह उनके साथ रहती हैं, फिर किसी छोटे महलमें अलग रहने लगती हैं। ऐसे छोटे महल साक्यामें कई हैं। उन्हें नौकर-चाकर भी मिलते हैं। जहाँतक खाने-कपड़ेका सम्बन्ध है, उनका जीवन आरामका होता है, लेकिन पुरुष-संसर्ग उनकेलिए मुश्किल है। हमारे लामाकी दोनों लड़कियाँ भी दस-दस, बारह-बारह सालकी थीं। डोनिर्छेन्पोके लामासे अनबनका कारण लामाका छोटा भाई था। तिब्बतके रिवाजके मुताबिक़ राजा हो चाहे रंक सभी भाइयोंकी एक पत्नी होती है। दामो (महन्तरानी) अपने देवरको सँभाल नहीं सकीं। उसने अपना अलग ब्याह किया—इस कुलको अपनी लड़की देनेमें तिब्बतके सभी सामन्त अपना अहोभाग्य समझते हैं। ब्याह करके वह अलग रहने लगा। खर्च-बर्चकी दिक़्क़त थी। उस वक़्त गद्दीपर ताराप्रासादके लामा थे। उन्होंने छोटे भाईको थोड़ी जागीर दे दी। बड़ा भाई और भाभी इसे पसन्द नहीं करते थे। गद्दीघरसे भी बिगाड़ हुआ, छोटे भाईका पक्ष डोनिर्छेन्पोने भी लिया था, इसलिए उनसे भी बिगाड़ हो गया। छोटा भाई कई साल हुए, मर गया। उसकी दामो अब भी मौजूद है, घरमें कोई सन्तान नहीं है। डोनिर्छेन्पोको नये महन्तराजका केवल क्रोधभर प्राप्त हुआ। उनको डर है, कि गद्दी सँभालते ही उनका दर्जा चला जायगा।

उस दिन (२१ मई) महन्तराजने कहा, कि डोर् ले जानेकेलिए मैं घोड़े दूँगा, तिब्बतके सभी साक्या सम्प्रदायवाले मठोंकेलिए मैं परिचयपत्र दूँगा। उन्होंने यह भी कहा, कि साक्यामें बहुतसी तालपोथियाँ हैं, उन्हें अच्छी तरह ढूँढ़ना चाहिए। मैंने देखे हुए पुस्तकालयोंके नाम बतलाए। महन्तराजने कहा, कि एक बार ल्हाखङ् छेन्मोके कोठेपर छग्पे-ल्हाखङ् नामक छोटासा पुस्तकालय भी खुलवाकर देखो। अभी प्रबन्ध ताराप्रासादकी ओरसे हो रहा था। मैंने उस दिन लौटकर डोनिर्छेनपोसे कहा। उन्होंने कहा—मैं इसकेलिए प्रासादमें निवेदन करूँगा।

२५ मईका स्मरणीय दिवस आया। ताराप्रासादसे ख़बर आई, कि छग्पे-ल्हाखङ्की कुंजी मिल गई है, हमारा अफ़सर वहाँ जानेकेलिए तैयार है। मैं छग्पे-ल्हाखङ्में दोपहरको गया, उन सीधी, लम्बी, डरावनी सीढ़ियोंपर चढ़ते वक़्त मुझे बहुत कम आशा थी, कि वहाँ कोई संस्कृतकी पुस्तक होगी। कोठेपर पहुँचकर दाहिनी ओर घूमा। पहिली कोठरी थी। बाहर देखनेसे बिल्कुल मामूलीसी मालूम होती थी। सैकड़ों वर्ष पुराना किवाड़ और चौखट विद्रूपसा दिखाई देता था। भिक्षु

अफ़सरने मुहरको तोड़ा, तालेपर लिपटे कपड़ोंको अलग किया, कुंजी घुमाई, ताला खुल गया। किवाड़ोंको पीछेकी ओर ढकेला। न जाने कितने वर्षोंकी धूल जमी हुई थी। एक बार इतनी धूल उड़ी, कि कोठरीमें धुआँ सा भर गया। ज़रासा ठहर-कर हम भीतर घुसे। फ़र्शपर भी पैरोंकी छाप लगानेकेलिए धूल मौजूद थी। घरमें दीवारोंके सहारे चारों ओर लकड़ीके तितल्ले-चौतल्ले ढाँचे खड़े थे। इनके ऊपर कपड़ेमें लिपटी या खुली बँधी हज़ारों पुस्तकें थीं। इनमें सात-सात सौ आठ-आठ सौ वर्षकी पुरानी पुस्तकें थीं। यह वह पुस्तकें थीं, जिन्हें तिब्बतके ऐतिहासिक विद्वानोंने अपने हाथसे लिखा या पढ़ा था। तिब्बती साहित्य और इतिहासकेलिए ये अनमोल रत्न हैं। लेकिन मैं तो अपने समय और शक्तिके ही अनुसार काम कर सकता था। मुझे ज़रूरत थी, संस्कृतकी तालपोथियोंकी। इधर-उधर हाथ मारनेके बाद तालपोथियोंपर हाथ पड़ा। इनपर कपड़ा नहीं लिपटा था, दो लकड़ीकी तख़्तियोंके बीचमें मोटे डोरेसे आरपार छेद करके बँधी ये पुस्तकें एक जगह मिलीं,—एक, दो, तीन, चार,. . . .बीस पोथियाँ निकल आईं। कुछ तो तिब्बती पोथियोंके बीचमें थी। मैंने खोलकर देखना शुरू किया। मेरे आनन्दकी सीमा न रही, जब देखा कि वार्त्तिकालंकार (प्रमाणवार्त्तिकभाष्य) सम्पूर्ण वहाँ मौजूद है। कर्णक गोमिकृत स्ववृत्तिटीका भी है।—अर्थात् प्रमाणवार्त्तिककी टीका और भाष्य! महान् दार्शनिक असंगकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक "योगाचारभूमि" भी वहाँ मौजूद थी। चांद्र-व्याकरणकी टीका भी देखी। एक पोथी तमिल अक्षरोंमें लिखी थी, और दूसरी सिंहलमें। मैं वार्त्तिकालंकार और स्ववृत्तिटीकाको साथ लेकर चला आया। अब साक्याको तुरन्त छोड़नेका सवाल कहाँसे हो सकता था। यद्यपि मेरे पास फ़ोटोका केमरा और फ़िल्म था, लेकिन वहाँ धोनेका कोई इन्तिज़ाम नहीं था, इसलिए मैं फ़ोटोपर विश्वास नहीं कर सकता था। अब सिर्फ़ लिखने हीकी धुन थी। अभय-सिंहको अभी अक्षरोंसे थोड़ा परिचय था, दूसरे यह भी ठिकाना नहीं था, कि कब वह दुर्वासा बन जायँ। मैंने २६ तारीख़से स्ववृत्ति और अभयने वार्त्तिकालंकारको लिखना शुरू किया। दो-चार दिन बाद अभयसिंहने भी लिखनेमें हाथ बढ़ाया। १५ जूनतक अभयने "वार्त्तिकालंकार"का आधा लिख डाला। अभयसिंहसे पटती न देखकर मैंने यही समझा, कि उनको टशील्हुनपो भेज दिया जाय। अगले दिन (१६ जून) घोड़ेका इन्तिज़ाम हो गया, और वह साक्यासे रवाना हो गये। मैंने रघुबीर और दूसरे मित्रोंको चिट्ठी लिख दी। वहाँ रहनेकेलिए कुछ महीनोंका ख़र्च भी दे दिया। यह भी कह दिया, कि ङोर् और शलु होते टशील्हनपो मुझे

आना ही है, उस वक़्त मैं कुछ और इन्तिज़ाम करूँगा। अभयसिंहने रातको बहुतसी चिट्ठियाँ लिखी थीं, मैं जानता था कि उनमें मेरी काफ़ी शिकायत लिखी होगी। बिदाईके वक़्त मेरे बर्त्तावसे उन्होंने देख लिया, कि उसमें कड़ुवाहटका लेश भी नहीं है। मुझे डर था, कि वह इन चिट्ठियोंको नहीं भेजेंगे। मैंने कहा—इन चिट्ठियोंको मुझे दे दो, मैं इन्हें अपने पास नहीं रखूँगा, जैसे ही कोई शिगर्चे या ग्यानची जानेवाला आदमी मिलेगा, मैं उसके हाथसे डाकमें छुड़वा दूँगा। अभयसिंहने समझा—यह विचित्र आदमी है, यह चिट्ठियोंको ज़रूर भेज देगा। उन्होंने वहीं सारी चिट्ठियोंको फाड़ डाला। मैंने तो समझा था कि, चिट्ठियोंसे लोगोंको तसवीरका दूसरा रुख़ भी देखनेको मिलेगा, इसीलिए मैं उन्हें भिजवाना चाहता था। मैं समझता हूँ, लोगोंको व्यक्तिका सफ़ेद-काला दोनों रुख़ देखनेको मिले, तो अच्छा है। मुझे नाम और सम्मान कोई ऐसी ठोस चीज़ नहीं मालूम होती, ठोस चीज़ है, वह काम, जो स्वयं तो नष्ट हो जाता है, लेकिन आगे काम करनेवालोंको धक्का देकर एक क़दम आगे बढ़ा देता है।

१७ जूनको स्ववृत्तिटीका मैंने लिख डाली। अब वार्त्तिकालंकारके बाक़ी बचे आधेको लिखना था। २० जूनसे २८ जूनतक उसे भी लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे हुए अंशोंकी आवृत्ति करता रहा। महंतराजका बहुत आग्रह था, कि मैं कुछ दिनों उनके प्रासादमें आकर रहूँ, इसलिए मैं २ जूलाईको वहाँ चला गया और २२ जुलाई तक वहीं रहा। अब सबसे मुख्य काम था, पुस्तकोंकी सूची बनाना। ताराप्रासादके बग़ीचेमें एक बँगला था। पुस्तकें वहाँ मँगा दी गईं और मैं दिनभर वहाँ रहकर पुस्तकोंको सिलसिलेसे लगाता, उनकी सूची बनाता। १० तारीखको सूचीका काम समाप्त हुआ। कुल २७ पोथियाँ थीं। एक बार फिर मैं छगपे-ल्हाखङ्को ढूँढ़ने गया, किन्तु वहाँ और कोई तालपोथी नहीं मिली। कालचक्रतंत्रकी टीका काग़ज़पर लिखी पहले दिन देखी थी, लेकिन, वह हज़ारों अपनी तरहकी दूसरी पुस्तकोंमें मिल गई थी। दुबारा ढूँढ़नेपर वह नहीं मिली। सभी वेष्टनोंको खोल-खोलकर देखना आसान काम न था।

ताराप्रासादके बड़े लामा बेचारे बहुत सीधे-सादे थे, वह भी बड़े प्रेमसे मिलते थे, लेकिन अपने भावोंके प्रकट करनेकी उनमें क्षमता नहीं थी। उनके छोटे भाई घंटों मेरे पास आकर बैठते, बातें होतीं, वह बहुत समझानेकी कोशिश करते कि तिब्बतकी ख़तरनाक जोतोंमें हर जगह ख़ूनी डाकू रहते हैं। आप इस तरह दो-एक आदमियोंके साथ घूमते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। मैं कहता—"अभीतक

तो कोई ऐसा डाकू मिला नहीं, और अगर इस डरका ख्याल करता, तो मैं तिब्बतमें आ नहीं सकता था। मैंने खतरेको उठाकर जो काम कर पाया है, उससे मुझे पूरा सन्तोष है। रहा मरना, सो तो मैं इस साल अभी मरके बचा हूँ। मुझे उस वक़्त अफ़सोस सिर्फ़ इसी बातका होता था, कि मैं धर्मकीर्तिके महान ग्रंथ "प्रमाण-वार्त्तिक" को दुनियाके सामने रख नहीं पाया।"

ताराप्रासादकी वृद्धा दामों हर वक़्त पूजा-पाटमें रहा करती थीं, लेकिन उनका भी स्नेह इतना था, कि वह अक्सर मुझे बुलातीं, फिर तिब्बतके अच्छेसे अच्छे भोजन तैयार करातीं। खम्, अम्दो, लदाख, और नेपालतकके सूखे ताजे फलों और मेवोंको सामने रखतीं, मक्खनमें पके गुड़की पट्टीको मैं बड़ी रुचिसे खाता था, उसे वह ज़रूर ताजा बनवातीं। उनका ज्ञान बहुत परिमित था, इसलिए मेरी बातें भी ज्यादा दूरतक नहीं फैल सकती थीं। छोटी दामों (महंतरानी) ल्हासाके एक बड़े सामन्तकी पुत्री थीं, वह ज्यादा जानकार थीं, बोलने-चालनेमें भी बहुत चतुर। मैं केमरा लेकर जाता, तो वह उसे बड़े ग़ौरसे देखतीं, उसके एक-एक पुरज़ेके बारेमें पूछतीं। तिब्बतमें उतना संकोच नहीं है, और मेरे साथ तो उनका और भी संकोच नहीं था। जान पड़ता है, छोटे पतिसे उनका अधिक प्रेम था, क्योंकि मैं उन्हें अक्सर उनके ही साथ देखता। दामोंको अभी कोई सन्तान नहीं थी। तिब्बतकी धारणाके अनुसार सन्तानसे निराशा होती जा रही थी। लेकिन तिब्बतमें निःसन्तान न होनेसे दूसरा ब्याह कर लेना उतना आसान नहीं। उसकेलिए स्त्री जबतक स्वयं आग्रह न करे, तबतक चुप ही रहना पड़ता है। लेकिन वहाँ घरकेलिए किसी पुत्र या पुत्रीका होना बहुत ज़रूरी था, क्योंकि न होनेपर सैकड़ों वर्षोंसे चला आया अवि-भाज्य घर सर्वदाकेलिए लुप्त हो जाता।

योगाचारभूमि भी क़रीब-क़रीब सम्पूर्ण थी, और आठ हज़ार श्लोकोंके बराबर इस महाग्रंथको लिखनेकेलिए अब समय नहीं था। इसलिए मैंने उसके फ़ोटोपर ही सन्तोष किया। साक्या छोड़नेसे पहिले मैं फिर डोनिर् छेन्पोके मकानपर चार दिन (१६-१९ जुलाई)केलिए गया। गूरिम्-ल्हाखङ्को फिर देखा, किन्तु वहाँ कोई नई पुस्तक नहीं मिली। अगले दिन चाम्कुशो भी आ गईं। तीन महीनेसे अधिक एक बिहारमें वह ध्यान-पूजामें रत थीं। ध्यान-पूजाका अर्थ शायद घरके-लिए एक सन्तानकी प्राप्ति रहा हो। सचमुच ही उनके पति और पितृ-कुल दोनों ही निःसन्तानी थे। वह पहिले हीकी तरह मेरी आवभगतकेलिए तैयार थीं। मुझे प्रसन्नता हुई, कि साक्या छोड़नेसे पहिले चाम्कुशोसे भी भेंट हो गई।

२० जुलाईको मैं फिर फुन्छोग्-प्रासादमें चला आया। अब ङोर जानेकी तैयारी थी।

अबकी साक्याका आना बहुत सफल रहा। टाईफाइडके ज़मानेमें ही मेरी ज़बानपर धर्मकीर्त्तिका नाम नहीं था, बल्कि ञेनम्से चलनेके बाद मैंने स्वप्नमें देखा था, कि किसीने तालपत्रकी पुस्तकें मेरे हाथमें दीं, खोलनेपर उनमें दिग्नागका प्रमाण-समुच्चय और धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ निकले। दिग्नागके ग्रंथों—प्रमाणसमुच्चय और न्यायमुख—को तो मैं नहीं पा सका, किन्तु धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंके पानेमें आशातीत सफलता हुई। सारा "प्रमाणवार्त्तिक" ही नहीं मिल गया, बल्कि एक परिच्छेदपर ग्रंथकर्ताकी अपनी वृत्ति (स्ववृत्ति) और उसपर कर्णकगोमीकी विस्तृत टीका मिली, जिन्हें मैंने यहाँ बैठकर उतार डाला। पीछे स्ववृत्तिके खंडित अंशको तिब्बती अनुवाद और टीकाके सहारे फिरसे संस्कृतमें कर डाला और अब (सितम्बर १९४४) यह दोनों पुस्तकाकार छप चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके बाक़ी तीन परिच्छेदों-पर प्रज्ञाकरगुप्तका वार्तिकालंकार—वृहद्भाष्य—बहुत अनमोल पुस्तक है, इसको भी मैंने साक्यामें पाया। सबकी कापी भी तैयार हो गई। शलूमें जानेपर प्रमाणवार्तिककी एक बहुत ही सुन्दर वृत्ति मनोरथनन्दीकृत मिली, उसकी भी मैंने कापी की। और पीछे सम्पादित करके छाप दिया। वादन्यायको मैं पहिले ही सम्पादित कर चुका था, इस प्रकार प्रमाणवार्तिक और वादन्याय यह दो धर्म-कीर्त्तिके ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। न्यायविन्दु पहिले हीसे मिल चुका था। हेतुविन्दु-को भी मैं तिब्बती अनुवाद और अर्चट (धर्माकर दत्त) की टीकाके सहारे संस्कृतमें कर चुका हूँ। अर्चटकी टीका और न्यायविन्दु-पंजिका (धर्मोत्तर) के ऊपर दुर्वेक मिश्रकी टीकाएँ ङोर गुमबामें मिली। धर्मकीर्त्तिकी संबंध-परीक्षा-को भी संस्कृतमें तैयार कर चुका हूँ। अब धर्मकीर्त्तिके न्यायके सात ग्रंथोंमें "सन्तानान्तरसिद्ध", और "प्रमाणविनिश्चय" दो ग्रंथ सिर्फ़ तिब्बती अनुवादमें मिलते हैं, जिन्हें मूल या तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें करके किसी वक़्त प्रकाशित करना होगा।

ङोर और शलूमें—२३ जुलाईको मैंने साक्यासे बिदाई ली। फुन्छोग-प्रासादने तीन खच्चर और अपने एक बड़े मज़बूत रसोइयेको साथ जानेकेलिए दिया। तारा-प्रासादने पाथेयकेलिए कितनी ही चीजें भेजीं। महंतराज और दामोंने बड़े प्रेमके साथ बिदाई दी। ११ बजे हम साक्यासे चले। एक ख़चरी बहुत मज़बूत थी। उसने दो बार रसोइएको पटका। रास्तेमें साक्याके कुछ ख़च्चरवाले मिले, उससे

उसने ख़चरीको बदल लिया। जब मैं आया था, उस समय खेतोंकी जुताई शुरू हुई थी। अब खेतोंमें हरे-हरे जौ-गेहूँ खड़े थे। सरसों फूली हुई थी। यह बरसातके दिन थे। नंगे रूखे पहाड़ोंपर चारों ओर हरी-हरी घास दिखलाई देती थी। आटोला फिर शोङ्ला दोनों जोतोंको पार करके हम डोक्पा लोगोंके गाँव—शोङ्-चिक्ग्यप्में रातको ठहरे, और पिछले सालवाली कोठरीमें आसन पड़ा। यद्यपि पैदल नहीं चलना पड़ा था, लेकिन कमरमें दर्द बहुत रहा, आख़िर ढाई महीने बैठे-बैठे क़लम भी तो चलानी पड़ी थी। अगले दिन (२४ जुलाई) सत्तू-चाय खाकर ७ बजे चलने लगे, तो बूँदें हल्की-हल्की पड़ रही थीं। कितनी ही दूर उतरकर नदीके किनारे-किनारे चलने लगे। उस वक़्त नदीमें बहुत पानी बह रहा था, और कहीं-कहीं हमें पानीमेंसे होकर चलना था। एक जगह ख़चरी बकसोंको लिये-दिये बैठ गई। जल्दीसे उसे उठाया गया। मुझे डर लगा, कि पानी बक्सके भीतर चला गया होगा, पीछे देखा कि सभी चीज़ें सुरक्षित हैं। फिर बड़ी नदीके किनारे आये। दोपहरके खानेकेलिए एक जगह थोड़ी देर ठहरे। अब नदीको पार करनेकी समस्या थी। पिछली बार गेशे और मैं बरसातके बाद आये थे, उस वक़्त भी नदीको बहुत ढूँढ़-ढाँढ़कर पार हुए थे। अबकी बार तो बरसाती नदी थी। बहुत ढूँढ़ने-ढाँढ़नेपर यही मालूम हुआ, कि नीचे शब्में पुलसे पार हुआ जा सकता है। तिब्बतकी प्रथम यात्रामें मैं उसी पुलसे गुज़रा हुआ था। हम चाङ्शोमें पहुँचे। अभी काफ़ी दिन था, लेकिन ख़च्चर लादकर चलते वक़्त पानी बरसने लगा, इसलिए रातको यहीं रहना पड़ा।

२५ तारीख़को भी साढ़े सात बजे रवाना होते समय बूँदें पड़ रही थीं। छारोङ्-छू (नदी)में पानी और बढ़ आया था। दो घंटे बाद क्यिदोतग्पामें पहुँचे। आशा थी कि यहाँ चमड़ेकी नाव (क्वा) मिल जायगी, लेकिन उसका कोई पता न था। फिर दो आदमी ख़च्चरपर चढ़कर नदीमें थाह ढूँढ़नेकेलिए गये और किसी तरह डरते-डरते हम सही-सलामत नदीपार पहुँचे। एक बक्समें थोड़ासा पानी चला गया था, मगर कोई नुकसान नहीं हुआ। आज रातको शबमें रहे। अगले दिन (२६ जुलाई) चलते वक़्त ज़रा-ज़रा बूँदें पड़ रही थीं। डेढ़ घंटेमें छाचा-लाको पार गए। उसी दिन ताचोला भी पार होकर साढ़े ५ बजे ङोर-गुमबामें पहुँच गए। खङ्सरमें रहनेकेलिए अच्छी जगह मिली। ङोरकी किताबें अभी नहीं मिल सकती थीं, क्योंकि अधिकारी वहाँ मौजूद न था, इसलिए पहिले शलू जानेका निश्चय किया गया। कुछेन् और कुङिङ् दोनों लामाओंसे मुलाक़ात की। अगले दिन भोजन करके १० बजे

हम शलूकेलिए रवाना हुए। घूमकर जानेपर हम बिना पहाड़ चढ़े भी पहुँच सकते थे, लेकिन हमने सीधा रास्ता लिया। चढ़ाई कठिन और रास्ता भी पगडंडीका था। पहिले ङोला पार किया। उतराईमें तो कुछ दूर इतना खराब रास्ता था, कि खच्चरका बोझ आदमियोंको देना पड़ा। नीचे नदीकी कछारमें आनेपर वर्षा होने लगी और वहाँ पचीसों धारें बहने लगीं। किनारेके खेतोंको नदी काट न ले जाय, इसकेलिए पत्थरके बाँधोंपर सफ़ेद रंगके बहुतसे शिलापुत्रक रखे हुए थे। लोगोंका विश्वास है, कि ये शिलापुत्रक जलदेवताको आगे नहीं बढ़ने देंगे। ग्वालाका डाँड़ा भी अच्छा खासा है, लेकिन चढ़ाई ज़्यादा नहीं; फिर कगोङ्ला नामक एक छोटासा डाँड़ा मिला। इस प्रकार तीन डाँड़ोंको पारकर ६ घंटेकी यात्राके बाद हम शलूविहारमें पहुँचे। रिसुरलामा बड़े प्रेमसे मिले। एक अच्छी जगह रहनेकेलिए मिली। भारत और जापानसे मैंने जो चित्र इनके पास भेजे थे, वह मिल गए थे। अगले दिन (२८ जुलाई) ९ बजे हम एक मील चलकर रिफुग्में पहुँचे। शलूगुम्बाकी यह एक शाखा ही नहीं, बल्कि अभिन्न अंग है। महाविद्वान् बुतोन् (१२९०–१३६४ ई०) पहिले बहुत साल साक्यामें रहे थे, किन्तु उन्होंने अपने अंतिम समयको यहीं बिताया था। यहाँ उनका चैत्य है। लालमन्दिर उन्हींका बनवाया हुआ है, जिसके भीतर उनकी मूर्ति भी है। हम पुस्तकालयमें गए। एक छोटीसी बहुत अँधेरी कोठरी थी। बगलमें एक और कोठरी थी, जिसके दरवाजेपर ताला बन्द था, और उसपर भोट सर्कारकी मुहर लगी थी। बिना सर्कारी आज्ञाके उसे खोला नहीं जा सकता था। लेकिन रिसुर्लामाने बतलाया, कि उसमें तालपोथी नहीं है। फिर सारे पुस्तकालयको ढूँढ़ने लगे। लकड़ीके ढाँचे (रैक) पर हाथकी लिखी बहुतसी पोथियाँ थीं, लेकिन वह सभी तिब्बती भाषाकी थीं। एक बक्स खोला गया, उसमें ३९ बंडल (मुट्ठे) तालपोथियोंके मिले। इनमें मनोरथनन्दी-की प्रमाणवार्त्तिक-वृत्ति तथा प्रमाणवार्त्तिक-मूलके भी तीन परिच्छेद मौजूद थे। और भी कितनी ही कामकी पुस्तकें थीं।

नेपालसे आते वक़्त तेजरतनसे बातचीत हुई थी, और उन्होंने फोटो खींच देने-केलिए कहा था, इसलिए मैंने सोचा, कि उनको यहाँ ले आकर कुछ पुस्तकोंके फोटो खिंचवा लूँ।

अगले दिन (२९ जुलाई) मैं शिगर्चे चला गया। भारतसे आई बहुतसी चिट्ठियाँ मिलीं। सबसे अफ़सोसकी ख़बर यह थी, कि पटनाम्यूज़ियमके क्यूरेटर मनोरंजनघोष-का देहान्त हो गया। मुझे याद आता था, उनका सौहार्द और सरलता, तिब्बती वस्तुओंके संग्रहकेलिए वह कितना आग्रह किया करते थे और चीज़ोंके पहुँचनेपर

कितना खुश होते थे।

मैंने साक्यामें जितने चित्र लिए थे, तेजरत्नने उन्हें धोया। योगाचार-भूमिके तीन फिल्म ठीक नहीं आए। योगाचार भूमिको छोड़कर जा नहीं सकता, इसलिए साक्या ही के रास्ते भारत लौटना होगा, यह निश्चय करना पड़ा। पता लगा, कि नेरीकाछामें कुछ तालपोथियाँ हैं। तीन-चार दिन इन्तिज़ार करनेपर एक घोड़ा मिला, उस गुमबाका एक ढाबा भी आया था। साढ़े तीन घंटा कुछ पैदल और कुछ घोड़ेपर चलकर मैं गुमबा पहुँचा। यह बहुत पुराना विहार नहीं है। २५, ३० वर्ष पहिले वर्त्तमान टशी-लामाके शिक्षक योङ्-जिन लामाने इसे बनवाया था। यहाँ भला संस्कृत पुस्तक होनेकी क्या आशा हो सकती थी? हाँ, वहाँ एक तालपोथी ज़रूर थी और सिंहलाक्षरमें "पाराजिका"(पाली) थी, जिसे ४०, ४५ साल पहिले लिखा गया था। मैं ३ बजे उसी घोड़ेपर लौटा। वर्षा आगे-पीछे दोनों ओर हो रही थी, लेकिन मैं भीगनेसे बच गया। डोसुम् ब्रह्मपुत्रके किनारे एक घाट है, जहाँ ल्हर्चेसे चमड़ेकी नावें आया करती हैं। वहाँ पहुँचते ही घोड़ेका मालिक आ गया। उसने कहा—मैं तो घोड़ेको नहीं जाने दूँगा। घोड़ा वहीं छोड़ दिया। साढ़े पाँच बज गया था। रास्तेमें अँधेरा होनेका डर था। मैं अकेला था और तिब्बतमें बस्तीसे बाहर सभी जगह जानका खतरा रहता है। मैं जल्दी-जल्दी चला। यदि तिब्बती भिक्षुओंका वेष होता, तो कोई मेरी ओर ताकनेकी हिम्मत न करता, किन्तु मेरे शरीरपर तो पीले चीवर थे। आगे दो आदमी—जो शायद पासमें भेड़ चरा रहे थे—मेरे नजदीक आये और कहने लगे "सौदा! छङ्रिन्(शराबका दाम) दे।" उनके स्वरसे ही मालूम होता था कि वह भिखमंगी नहीं कर रहे हैं। मैं पैसा देकर उन्हें क्यों बतलाता, कि मेरे पास पैसा है। मैंने कहा, मेरे पास पैसा नहीं है। फिर उन्होंने धमकानेके स्वरमें उसी वाक्यको दुहराया। मैंने चीवरको ज़रासा खिसका दिया, और कैमरेका चमड़ेवाला फ़ीता साफ़ दिखलाई देने लगा। दाहिने हाथको भी मैंने बगलमें डाला। उनका रुख बदल गया और रास्ता छोड़कर चले गये। उनको क्या मालूम था कि यह पिस्तौल नहीं, फ़ोटोका कैमरा है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि रोलैफ़ैक्सने उस दिन ज़बर्दस्त तावीज़का काम किया। मेरे पास कोई हथियार नहीं था, और उन दोनोंके पास तिब्बती छुरे थे। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते अँधेरेसे पहिले ही शिगर्चे पहुँच गया।

यहाँ आते ही अभयसिंह और रघुबीरसे भेंट हो गई। अगले दिन (३ अगस्त) मैं टशील्हुनपो विहारमें सम्लोगेशेसे मिलने गया। न्यायके बड़े विद्वान, लेकिन थे पुराने

युगके पंडित। उस दिन या पहिले किसी दिन बात चल रही थी, मेरे मुँहसे निकल आया कि पृथ्वी गोल है। उन्होंने झट मेरी बातको पकड़ लिया, और कहने लगे—तब तो आप "अभिधर्मकोष" (वसुबंधु) और बुद्धबचन (त्रिपिटक) को नहीं मानते। "नहीं मानता" कहकर मैं नास्तिक कैसे बनता? मेरे दिमाग़पर बहुत ज़ोर पड़ा, लेकिन मैंने जवाब खूब अच्छा सोच निकाला। मैंने पूछा—"जिस वक़्त कुशीनारामें भगवान शाक्य मुनिका परिनिर्वाण हुआ था, उस वक़्त भूकम्प आया था कि नहीं?"

"आया था"

"उस भूकम्पसे पृथ्वी दस-पाँच अंगुल या दस-बीस योजन हिली थी?"

"योजन नहीं सारी पृथ्वी भी नहीं, वल्कि दशसाहस्री लोकधातु (ब्रह्माण्ड) जड़मूलसे हिल गई थी।"

फिर मैंने हँसते हुए कहा—"गेशे रिनपोछे! मामूली भूकम्प आता है, तो जलका थल और थलका जल हो जाता है, कितने पहाड़ दब जाते हैं, कितने द्वीप समुन्दरमें घुस जाते हैं, फिर उस असाधारण भूकम्पने दुनियामें असाधारण परिवर्त्तन किया होगा या नहीं?"

"परिवर्त्तन क्यों नहीं किया होगा।"

फिर मैंने दोनों हथेलियोंकी पीठको कछुएकी पीठका रूप देते हुए कहा—"पहिले पृथ्वी इस तरहकी अर्ध-गोलाकार थी, उस महाभूकम्पके बाद वह इस तरह गोल हो गई" कहते हुए मैंने दोनों हाथोंको गोलकी शकलमें बदल दिया। बेचारे गेशे क्या बोलते? मैंने कहा—"बुद्धका वचन ग़लत नहीं है, क्योंकि वह परिनिर्वाण के उस महाभूकम्पके पहिले कहा गया था। आचार्य वसुबंधुका भी कथन ग़लत नहीं, क्योंकि उन्होंने बुद्ध-वचनमें जैसा देखा, वैसा ही लिख दिया।"

गेशेने कुछ सोच करके कहा—"उस पृथ्वीके बीचोंबीचमें सैकड़ों योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत खड़ा था, वह क्या हुआ?"

मैंने कहा—"पृथ्वी जब कच्छपपीठसे गोल बन गई, तो बेचारे सुमेरु-पर्वतका क्या टिकाना? वह उसीके पेटमें चला गया। आजकल जो पृथ्वी है, उसकी नाप-तोल हो चुकी है, उसका नक़्शा बन चुका है। उसी नक़्शेको देखकर जिस दिशाको उड़ते हैं, हवाई जहाज़वाले वहाँ पहुँच जाते हैं, इसलिए वह नक़्शा ग़लत नहीं है, वह अर्थक्रिया-समर्थ है।" कहते मैंने धर्मकीर्त्तिका वाक्य भी दुहरा दिया। गेशेने कुछ सोचकर कहा—"सुमेरु नहीं रहा तो, देवेन्द्र शक्र, और त्रायस्त्रिंश देवता कहाँ गये?"

मैंने चेहरेसे कुछ खेद प्रकट करते हुए कहा—"गेशे रिन्पोछे! यह बड़े दुखकी

बात है। लेकिन ऐसे भूकम्पोंमें ऐसा हुआ ही करता है। दो साल पहिलेके भूकम्पमें हमारे एक शहर (मुँगेर)के २० हज़ार आदमी मर गये, पिछले सालके भूकम्पमें एक दूसरे शहर (क्वेटा)के ५० हज़ार आदमी मरे। देवलोकको उससे भी अधिक क्षति उठानी पड़ी। भूकम्प रातके पिछले पहर आया था न ?"

"हाँ, पिछले पहर आया था।"

मैंने कहा—"बेचारे शक्र, उसकी अप्सराएँ और सारे देवता दो-पहर राततक नाचते और शराब पीते रहे। वह अभी-अभी सोये थे। पहिली नींद बहुत गाढ़ी होती है, इसी वक़्त भूकम्प आ गया। कोई जागने भी न पाया, और सुमेरु सबको लिये दिये पृथ्वीके गर्भमें समा गया। नींद खुली होती, तो वह हवामें उड़ सकते थे, उनमें बहुतेरे अपनी जान बचा सकते थे। अफ़सोस देवलोक, देवता सभी दुनियासे ग़ायबसे हो गये!"

रघुवीर बहुत खुश था, समलो गेशे भी मुस्कराकर रह गये।

उस वक़्त अम्दोकी ओरसे बहुतसी उल्टी-सीधी ख़बरें आ रही थीं। कोई कहता था—सारे कनसू और अमदोंको लाल (बोलशेविक)ने ले लिया, अब वह तिब्बत-की ओर आ रहे हैं। फुन्छोग-प्रासादके महंतराजने सुना था कि खम्में "लाल" आ गये हैं। उनका सेनापति एक स्त्री है, जिसके मुँहके कोनेमें तीन-तीन अंगुलके दाँत बाहर निकले हुए हैं। उसपर गोलीगोला किसीका असर नहीं होता, वह बच्चोंको चबा जाती है। किसीने यह भी बतलाया कि वह पलदन् ल्हामो (श्रीदेवी)—तिब्बत-की सबसे बड़ी देवी मां काली—का अवतार है। लामा लोग यह भी ख़बर फैला रहे थे, कि लोबोन् रिन्पोछे (पद्मसम्भव)ने भविष्यद्वाणी की है, कि एक बार दुनियामें लालका राज हो जायगा, और वही अब हो रहा है। टशील्हुनपोमें, रघुबीर कह रहे थे कि, भिक्षु लोग बंदूक़ चलाना सीख रहे हैं। मैंने पूछा—क्यों ?

रघुवीर—"लाल आयेंगे, तो वह हमारे गुम्बाको तोड़ डालेंगे, ढाबा लोग इसे कैसे बरदाश्त करेंगे ?"

मैंने कहा—"दो-चारके बन्दूक़ सीखनेसे कुछ नहीं बनता, तुम बाक़ायदा लोगोंको भरती करो, ख़ूब क़वायद-परेड सिखाओ, उनसे निशाना लगवाओ, शिगर्चे और आसपासके लोगोंकी भी सेना बनाओ।"

रघुवीरने हँसते हुए कहा—"जिसमें कि मेरे ही गलेमें पहिले फाँसी लगे, क्योंकि ढाबा और पल्टन तो सब धूपमें मक्खनकी तरह बिला जायगी और मेरा ही नाम पहिलेसे मशहूर रहेगा!"

फिर शलूमें (१५ अगस्त)—शम्लोगेशेने अपने दो घोड़े दिये और मानबहादुर साहुने अपना एक घोड़ा। एक घोड़ेपर फ़ोटोका सामान रखा गया। रघुवीर, तेजरत्न, अभयसिंह और मैं चारों १० बजे शलूकेलिए रवाना हुए। एक नदीको हम जब पार हो रहे थे, तो फ़ोटोके केमरेवाला घोड़ा बीच धारमें बैठ गया। शायद अभयसिंह उसपर सवार भी थे। उनका पाजामा तो भीग ही गया। लेकिन हम लोगोंको डर लगा कि कहीं फ़ोटोके बकसके भीतर पानी न चला गया हो। ख़ैर, वह बाल-बाल बच गया। शलू पहुँचे। सभी पुस्तकें रिफुग्से यहाँ नहीं आ सकती थीं, इसलिए निश्चय हुआ कि हम लोग रिफुगमें ही चले चलें। अगले दिन (६ अगस्त) हम रिफुगमें चले गये, और ८ दिनतक रहकर यहीं तसवीरें खिचवाते रहे। तसवीरें तेजरत्न खींचते थे, मैं पुस्तकोंकी सूची बनाता और बीच-बीचमें पत्रोंको लगाकर फ़ोटोकेलिए उन्हें सजाता था। कलकत्तेसे आई कितनी ही प्लेटें पुरानी निकलीं, इस लिए फ़ोटो नहीं आया। तेजरत्नकी पुरानी प्लेटें अच्छी थीं। बीच-बीचमें वर्षा भी जोर मारती थी इसलिए फ़ोटो लेनेमें विघ्न होता था। मैंने सूची तैयार की। पिछले साल "सद्धर्मपुंडरीक" और "काशिकापंजिका"की तालपोथियाँ देखी थीं, लेकिन अबकी वह नजर नहीं आईं। कलकत्तेसे आई सारी प्लेटें बेकार गईं। तेजरत्नकी प्लेटोंसे कुछ फ़ोटो मिले। अबकी बार भी फ़ोटोका काम ठीक नहीं हुआ। मैं पछता रहा था, कि क्यों नहीं एक-दो महीने किताबोंके फ़ोटो लेने और धोनेमें लगा दिये। १३ अगस्तको तेजरत्न शिगर्चे लौट गये और हम शलू विहारमें चले आये। यहाँकी पुस्तकोंमेंसे "मध्यमकहृदय" (भाव्य) "विग्रहव्यावर्तनी" (नागार्जुन) "प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति" (मनोरथनंदी) और "क्षणभंगाध्याय" (ज्ञानश्री)को तीन महीने साथ रखनेकेलिए गुम्बाके पाँचों पंचोंने इजाज़त दी। गुम्बाके लोग समझ रहे थे कि यह कोई बड़ा धनी लामा है, इसलिए आशा रखते थे कि गुम्बाके भीतर चित्रकारीकेलिए रंग, छतकेलिए कपड़ा, मूर्त्तिपर चढ़ानेकेलिए सोना आदि चीज़ोंकी माँग कर रहे थे। मैं अगर चार-छ हजार रुपये खर्च कर सकता, तो उन्हें बहुत ख़ुशी होती, और मैं सभी महत्त्वपूर्ण तालपोथियोंको ले आता; लेकिन रुपये कहाँ थे? मैं तो जबर्दस्ती घूमनेकी हिम्मत करता था। रुपये उधार देनेकेलिए छुशिङ्शावाले तैयार थे, लेकिन मैं उतने ही रुपये ले सकता था, जिनके कि लौटानेमें दिक़्क़त न होती।

ग्यान्चीमें (१७ अगस्त—७ सितंबर)

१६ अगस्तको हम तीनों ग्यान्चीकी ओर रवाना हुए। दूसरे दिन हम चार

बजे ग्यान्ची पहुँचे। रास्तेमें नेसामें चाय पीनेकेलिए ठहरना पड़ा। पता लगा कि यहाँ एक पुराना मंदिर यूम्-ल्हाखङ (मातृमंदिर) है, जिसे सम्राट् रल्पाचन् (८७७-९०१ ई०)ने बनवाया था——ऐसी कहावत है। मैदानमें यह छोटा सा मंदिर है ज़रूर पुराने ढंगका। बीचमें चतुर्मूर्त्ति वैरोचन——शायद यह पीछेकी मूर्त्ति हो। पीछेके ओर युम् (माता) प्रज्ञापारमिता और दश बुद्धकी मूर्त्तियाँ हैं। कारीगरी सुन्दर है, कला उस कालके अनुरूप है। सामने सम्राट् ठीस्रोङ (८२३ ई०)का बनवाया मंदिर है, जिसमें वैरोचन, आठ बोधिसत्त्व आदि मूर्त्तियाँ हैं। यह उतनी सुन्दर नहीं है, तो भी काफ़ी पुरानी है। यह मन्दिर चाहे सम्राटोंके बनवाये न हों, लेकिन पुराने ज़रूर हैं। मुमकिन है, वे उसी कालमें बने हों।

ग्यान्चीमें रहने वक़्त मैं और अभयसिंह पुस्तकोंकी कापी करनेमें व्यस्त रहे। "प्रमाणवार्त्तिक" सम्बन्धी साहित्यकी प्राप्तिके बारेमें मैंने जायसवालजी और डाक्टर श्चेर्वात्स्की(सोवियत)के पास पहिले ही अभयसिंहके साथ चिट्ठियाँ भेज दी थीं। जायसवालजीने इसकी सूचना एसोसिएटेड् प्रेसको दे दी, और वह भारतके पत्रोंमें छप गई। कुछ फ़ोटोके सामानकी ज़रूरत थी, मैंने उनकेलिए ग्यांचीसे तार और चिट्ठियाँ भेजीं।

२ सितम्बरको चीज़ोंके तीन पार्सल आये, इनमें फ़ोटोके सामान तथा लामाओंको भेंट देनेकी चीज़ें थीं। ४ सितम्बरको डाक्टर श्चेर्वात्स्कीका पत्र आया। नई पुस्तकोंकी खोज सुनकर उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ और लिखा कि मैं डाक्टर वोस्त्रीकोफके साथ भारत आना चाहता हूँ। इन पुस्तकोंका कितना महत्त्व था, वह इसे अच्छी तरह जानते थे। जैसे प्लेटो और अरस्तूके मूलग्रंथ लुप्त हो गये हों, सदियोंसे अनुवादों और उनकी टीकाओंके सहारे यूनानी दार्शनिकोंके विचारका अध्ययन हो रहा हो, फिर यकायक मूलग्रंथ अपनी मूलभाषामें मिल जायें। २२ तारीखको मैंने पुस्तकोंके हस्तलेखों और दूसरी चीज़ोंको डाकसे डा० जायसवालके पास भेज दिया। इन बहुमूल्य वस्तुओंको साथ लेते फिरना मैंने अच्छा नहीं समझा। इसमें सन्देह नहीं कि तिब्बतमें जैसे अकेले-दुकेले मैं घूम रहा था, उससे किसी वक़्त भी भारी ख़तरेमें पड़ सकता था।

ङोरमें——८ सितम्बरको हम ग्यान्चीसे शिगर्चेकेलिए रवाना हुए। अब खेत कट रहे थे। पहिली रात दोङ्ले और दूसरी रात पेनाङ्में ठहरे। पेनाङ्में खच्चरोंकेलिए घास नहीं मिली, और हम लोगोंको पिस्सुओंने रातमें तबाह कर डाला। १० सितम्बरको रघुवीर और मैं आगे बढ़कर शलू बिहारमें गये। एकको छोड़कर बाक़ी

पुस्तकें लौटा दीं। उसी दिन तीन बजेके क़रीब शिगर्चे पहुँच गये। अभी पोइखङ्, तानक् और ङोरकी पुस्तकोंको देखना था, लेकिन तिब्बतमें आदमी और घोड़ोंका मिलना आसान काम नहीं है।

१२ सितम्बरको ङोर आने-जानेकेलिए घोड़े मिले। हम लोग उसी दिन शामतक ङोर पहुँच गये। लेकिन मालूम हुआ कि किताब देनेवाला अधिकारी अभी नहीं आया है। अगले दिन हम नये अधिकारीके पास गये। वह किताबोंको दिखलानेकेलिए तैयार थे, लेकिन चाभी अभी पुराने अधिकारीके हाथमें थी। वह चाभीको लामा गेनदेनुके पास दे गया था, तो भी उसने कहा—पुराने अधिकारीके बिना द्वार नहीं खोला जा सकता। खङ्सरके दोनों बड़े लामाओंने भी कोशिश की, लेकिन वह दुष्ट राज़ी नहीं हुआ। अन्तमें यही निश्चय हुआ कि कुडिङ् रिन्पोछे (खङ्सरके बड़े लामा) पुराने अधिकारी (छन्ज़ो)के पास आदमी भेजेंगे, जब पुस्तकोंके मिलनेकी सम्भावना होगी, तो सन्देश भेजेंगे, फिर हम आयेंगे।

ङोर्से नरथङः गये। वहाँ "बोधगयामंदिर" और दो भारतीय चित्र-पटोंके फ़ोटो लिये। रातको वहीं रह गये और अगले दिन (१४ सितम्बर) ३ घंटेमें शिगर्चे पहुँचे। मैं अब "क्षणभंगाध्याय"की कापी करनेमें लग गया, और रघुवीर तथा अभयसिंह अगले दिन (१५ सितम्बर) तानक गये। १७ तारीख़को ङोरका आदमी बुलानेकेलिए आया और १८ सितम्बरको हम फिर ङोर् पहुँच गये। उसी दिन मुहर तोड़ी गई और पुस्तकालयकी तालपोथियोंको देखा गया। वसुबंधुका "अभिधर्मकोषभाष्य" सम्पूर्ण मिल गया। "तर्करहस्य" और "वादरहस्य" नामक खंडित न्यायग्रंथ मिले। मैंने पुस्तकोंके बहुतसे फ़ोटो खींचे। पिछले साल मैंने "सुभाषित", "प्रातिमोक्ष", "वादन्याय"की पोथियाँ देखी थीं, अबकी वह नहीं दिखाई पड़ीं। ढूँढ़नेपर वह पहिलेवाले अधिकारीके घर में मिलीं। तिब्बतमें पुस्तकें कितनी अरक्षित हैं, यह इससे मालूम हो सकता है। चार दिन ङोर्में रहकर फिर हम शिगर्चे चले आये। तेजरत्नने फ़ोटो लिया, उसे वहीं धोकर देख लिया गया था, इसलिए फ़ोटोपर विश्वास तो हो सकता था, किन्तु फ़ोकस उतना अच्छा नहीं था। रघुवीर और अभयसिंह तानकसे लौट आये, वहाँ दो-तीन तालपत्रकी पोथियाँ थीं, किन्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। कलकत्तासे और भी पारसल आये थे। बाबू व्रजमोहन वर्मा चलने-फिरने और शरीरसे लाचार थे, लेकिन यदि उन्होंने तन्देही न की होती, तो कलकत्तासे समयपर चीज़ोंके आनेमें बड़ी दिक्क़त होती। वर्माजी कष्टकी कोई पर्वाह नहीं करके दर्जनों जगहोंसे ढूँढ़कर चीज़ोंको भिजवाते थे।

पोइखङ् जानेकी बड़ी इच्छा थी। लेकिन, एक तो वहाँकेलिए घोड़े नहीं मिल रहे थे, दूसरे तेजरत्न वहाँ जाना नहीं चाहते थे, इसलिए अब फ़ोटो लेना सम्भव नहीं था। तेजरत्नसे फ़ोटोकी दर मुक़र्रर हो गई थी, लेकिन अब उन्होंने मनमाना दाम लगाना शुरू किया। इस तरहकी दिक़्क़तें आया ही करती हैं।

२८ सितम्बरको मैं रघुवीरके साथ टशील्हुनपो बिहारमें चला आया और चार दिन यहीं रहा। पहिले दिन शमलोगेशेके साथ सुमेरु और भूकम्पवाली बात हुई। पिस्सुओंके मारे आफ़त थी। अब मैं साक्या जानेकेलिए तैयार था, लेकिन घोड़ेका कोई इन्तज़ाम नहीं हो रहा था।

फिर साक्यामें—बहुत मुश्किलसे २ अक्तूबरको शब तककेलिए दो घोड़े मिले। ज़ान्स्करका एक भिक्षु शब्तक चलनेकेलिए तैयार हुआ। साढ़े तीन बजे हम रवाना हुए, और रातको नरथङ्में रह गये। अगले दिन चार बजे रात हीको चल पड़े। ७ बजते-बजते तालाजोतपर पहुँचे। यह बहुत छोटासा डाँड़ा है, पर है ख़तरेसे भरा। पहिली तिब्बत-यात्रामें मैं इस डाँड़ेसे गुज़रा था। दो बजे हम एक गाँवमें पहुँचे। घोड़ेवालेका पैर दुखने लगा, और वह यहीं ठहर गया। लेकिन हम दोनों आगे चल दिये। छारोङ्छू नदीको पुलसे पार किया, फिर थोड़ासा ऊपरकी ओरसे चलनेपर चाङ्गुवा गाँव आया। यहाँ साक्याके कुशो डोनिर-छेनपोका घर है। यद्यपि मैं यहाँ कभी नहीं आया था, और न यहाँके नौकर-चाकरोंने मुझे देखा था, लेकिन वह मेरे बारेमें सुन चुके थे, इसलिए जान-पहचान होनेमें देर न लगी। इस वक़्त फ़सल कट रही थी, लोग उसीमें लगे हुए थे, इसलिए आदमी मिलना आसान नहीं था, लेकिन हम कुशो डोनिर्छेनपोके घरमें थे। चोला हर तरहसे मदद करनेको तैयार थे। मकान बहुत अच्छा और बड़ा था, लेकिन मालिक, मालकिन यहाँ बहुत कम आते थे, इसलिए मरम्मत आदिके ऊपर उतना ध्यान नहीं दिया गया था। एक तरफ़ मालिक थे, कि सन्तान बिना उनका घर सूना था, दूसरी ओर उनका चोला था, जिसकी बीबी अभी जवान थी, तो भी ५ लड़के और २ लड़कियाँ मौजूद थे। लड़के-लड़कियाँ गोरे थे, सुन्दर थे, स्वस्थ थे, यद्यपि उनके चेहरेपर मैलकी मोटी तह जमी रहती थी। उसी शामको बग़लकी किसी स्त्रीके पेटमें दर्द हुआ। मेरे पास दवाकेलिए आये। तिब्बत ऐसे मुल्कोंकी यात्राओंमें चार-पाँच प्रकारकी दवाएँ रखना आवश्यक हैं, जिनमें टिनचर-आयोडिन्, जुलाब, पाचक लवण, कुनैन मुख्य हैं। मैंने "एनो-साल्ट" एक चिम्मच दिया, कुछ फ़ायदा हुआ।

४ अक्तूबरको आचो ल्हगृपा दो गधे और एक घोड़के साथ चले। घोड़ा मेरी

सवारीकेलिए था, गधे सामान ढोनेकेलिए । हम लोग ६ बजे सबेरे ही रवाना हुए । पुलके सामने आकर बाईं ओरकी उपत्यकामें मुड़ पड़े । ल्हासा-नेपाल-भारतका पुराना रास्ता यही है । आगे उपत्यकामें ज़मीनसे अपने आप पानी निकल रहा था । कई जगह भूमि दलदल बन गई थी । ताज्जुब है कि जो खेत चन्द दिन पहिले सूखे थे, उनमें गेहूँ लहरा रहे थे, और पानीवाली क्यारीसे बन गये थे । साढ़े दस बजे ज़िलुङ् गाँवमें पहुँच गये । यह बड़ा गाँव है, और शायद पहिले और बड़ा रहा होगा । पुराने घरोंकी मिट्टीकी दीवारें अब भी खड़ी थीं । चीनका जब तिब्बतमें प्रभुत्व था, उस वक्त चीनी अफ़सरोंको ठहरानेकेलिए घर (ग्य खङ्) बने थे, इस गाँवमें भी वैसा घर था । आगे ज़्यादातर निर्जन, सुनसान, चौड़ी उपत्यकामे चलना पड़ा । ५ बजे हम ल्हाऊकी भिक्षुणियोंके मठमें पहुँचे और बाहर यात्रीगृहमें ठहरे । तिब्बतमें भिक्षुणियोंके मठ कहीं-कहीं बड़े ही दुर्गम और निर्जन स्थानोंमें मिलते हैं, यह वैसा ही स्थान था । भिक्षुणियोंका भिक्षुओं जैसा मान नहीं, इसलिए उनका जीवन ज़्यादा कष्टका है । उनके विहारोंमें जागीरें भी नहीं होतीं, प्रसिद्ध मंदिर भी उनके पास नहीं हैं । लेकिन तब भी उन्हें जीवित रहना है । जब घर भरकेलिए एक ही बहू आ सकती है—पाँच-सात भाइयोंपर एक ही पत्नी रहती है—, और लड़कियोंकी संख्या लड़कोंसे कम नहीं होती, फिर भिक्षुणियोंकी संख्या ज़्यादा होना ज़रूरी ठहरा । यद्यपि पुरुष भिक्षुणियोंका सम्मान और सहायता करनेकेलिए उतने उदार नहीं होते, लेकिन स्त्रियाँ ज़रूर उनका ख़्याल करती हैं । कोई घर नहीं है, जिसकी कोई लड़की भिक्षुणी न हो; चाहे वह घर हीमें रहती हो, लेकिन उसका कोई गुरुस्थान (भिक्षुणीविहार) ज़रूर होता है ।

सबेरे ढाई बजे रातको ही रवाना हुए, सिर्फ दो जने और एक ही दिनमें तीन खतरनाक जोतोंवाले निर्जन रास्तेसे ! अचो ल्हक्पा (भाई बुध) को जब पर्वाह नहीं थी, तो मुझे क्यों पर्वाह हो; जो एक आदमी कर सकता है, वह मैं भी क्यों नहीं कर सकता । चढ़ाई कठिन थी । ऊपर-नीचे होते चार बजे ठिमोला जोतपर पहुँचे । फिर उतरनेपर पाँच बजे एक डोक्पा-(पशुपालकों)का गाँव मिला । अभी भी सूर्योदय नहीं हुआ था । जगह-जगह काली चमरियाँ चर रही थीं । वहाँके लोग सिर्फ़ सत्तू भरकेलिए कुछ खेती कर लेते हैं, नहीं तो उनकी प्रधान जीविका है, भेड़ और चमरी । एक नालेके मुँहपर बसे डोक्पाघरमें हमने चाय पी, फिर आगे चढ़ाई चढ़ते दोपहरसे पहिले ही पोछेनलापर पहुँचे । ऊपर बहुत दूरतक घासका मैदानसा मालूम होता था, अब घासें पीली पड़ गई थीं । यहाँ खुले डाँड़े और खुले आसमानके

नीचे हज़ारों भेड़ें चर रही थीं। एक ओर काले तम्बूसे धुवाँ निकल रहा था। पुरानी इच्छा फिर जागृत हो आई—कभी मैं भी साल दो साल ऐसे बिता पाता ? लेकिन अब वह जीवन बहुत दूर था। फिर उतराई उतरने पहिलेवाले रास्तेपर आ गए। आटोला पार किया, और साढ़े तीन बजे साक्या पहुँच गए।

साक्यामें

कुशो डोनिर्छेनपोके घरमें ल्हासा-सर्कारके दो अफ़सर ठहरे हुए थे। वह ज़मीनका हिसाब कर रहे थे। शायद सर्कार मालगुज़ारी बढ़ाना चाहती थी। दो-एक दिन बाद अफ़सर चले गए और मुझे फिर उसी पुराने कमरेमें जाना पड़ा। अबकी बार सबसे ज़रूरी काम था "योगाचार-भूमि"को उतारना। दोनों प्रासादोंके लामा उसी तरहसे स्नेहप्रदर्शन कर रहे थे। अच्छा हुआ, मैं ठीक वक़्तपर आ गया, क्योंकि अब वह दो हफ्तेके लिए यहाँसे कुछ दूर तप्तकुण्डमें जा रहे थे। मैं "योगाचार-भूमि" लाके उसे कापी करनेके काममें जुट पड़ा। आठ-दस हज़ार श्लोकके बराबर-का ग्रन्थ है। मैं ५०० श्लोकके बराबर रोज़ लिख लिया करता था। कभी-कभी कुशो डोनिर्छेनपो, चाम्कुशो और दिकीलासे कुछ बात करनेमें समय लगता, नहीं तो सारा समय मेरा पुस्तक लिखनेमें जाता।

१५ अक्तूबरको सर्दी काफ़ी बढ़ गई थी, रातके वक़्त पाला मारजानेके डरसे फूलोंके गमले भी घरके भीतर रखे जाने लगे। १८ तारीखसे तो दिनमें और घरके भीतर भी सर्दीसे हाथ ठिठुरने लगता। बादल और हवा दोनोंका ज़ोर बढ़ा। २० अक्तूबरको पासके पहाड़ोंपर बर्फ़ पड़ गई। अब ज़रूर जल्दी करनी थी, क्योंकि रास्तेमें बहुतसे बर्फ़वाले डाँड़े पार करने थे, जो ज्यादा बर्फ़ पड़जानेपर हफ़्तों दुर्लंघ्य हो जाते। २१ अक्तूबरको योगाचार-भूमि खतम हुई। वैसे पुस्तक सम्पूर्ण है, किन्तु पुस्तकमें दो भूमियाँ—"श्रावक-भूमि" और "बोधिसत्त्व-भूमि" नहीं हैं। बोधिसत्त्व-भूमि तो खैर ज़ापानसे छप चुकी है। अब मुझे कितने ही फोटो लेने थे। दोनों प्रासादोंके लामों और उनके परिवारके फ़ोटो तो लिए ही, साथ ही भारतीय मूर्त्तियोंके कई फ़ोटो लिए और उन्हें वहीं धोया। फ़ोटो धोने और डेवलप करनेका गुर कुछ कुछ मालूम हो चला था। मेरे काममें चाम्कुशो या दिकीला मदद करती थीं। मैं मज़ाकमें चामकुशोसे कहता था—अब आपको चार-चार महीना योग-तपस्या करनेकी ज़रूरत नहीं, मैं जब भारतीय पुस्तकों, और मूर्त्तियोंका फ़ोटो खींचूँ, तो आप उसमें मदद करें। उनको पहिले जादूसा मालूम होता था, कि कैसे उस पीले लेपपर आदमीकी शकल उतर आती है; लेकिन तस्वीर

उतरती उन्होंने देखी। मैंने बतलाया––तसवीर तो हर दरपनपर उतर आती है, वहाँ सिर्फ़ पकड़नेवाले मसालेकी कमी रहती है। मैंने चाम्कुशोका नौकरानीके साथ एक फ़ोटो खींचा, फिर उनके सामने ही डेवलप करके दिखाया। संयोगसे वह तसवीर अच्छी आई। उन्होंने तीस हज़ारवाला मोतियोंका धनुषाकार शिरोभूषण धारण किया था। वह बोल उठीं––"अख़ख़ा! छीलिङ्, (विदेशी, युरोपियन) बड़े होशियार हैं।" मैंने कहा––होशियार न होते तो आकाशमें देवताओंकी तरह उड़ते। इधर कई सालोंसे गर्मियोंमें अँगरेज़ोंका दल चामोलुङ्मा (एवरेस्ट)पर चढ़नेकेलिए जाया करता था। उनके साथ पचासों क़ुली खाने-पीनेके सामान और दवाइयोंके बक्सको ढोनेकेलिए जाते थे। कभी-कभी कोई-कोई क़ुली सामान लेके ग़ायब हो जाता था। दो चीज़ें चाम्कुशोके पास भी पहुँची थी––एक शीशेके बड़े मर्त्तबानमें खीरा आदिका सिरकेमें पड़ा अचार था और दूसरे छोटेसे ख़ूबसूरत बक्समें इनजक्शन देनेकी दवा थी। सिरकेके अँचारको मैंने खाके दिखलाया, लेकिन किसीको खानेकी हिम्मत न हुई। चाम्कुशो शीशेके वरतनको चाहती थी; अँचारसे उनको कोई मतलब नहीं था। कुशो डोनिर् छेन्पोको जब मालूम हुआ, कि इंजेक्शन दिलकी बीमारी और ताक़तकी दवा है, तो उन्होंने अपने रोगियोंपर उसका प्रयोग करनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन वहाँ इंजेक्शन देनेकी सुई नहीं थी, और मैंने यह भी बतला दिया कि सुई देनेका ठीक तरीक़ा जाने बिना इंजेक्शन देनेमें ख़तरा है।

शितोग्प्रासादके ग्यगरल्हाखङ् (भारतीयमंदिर)में ५००से ऊपर धातुकी मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें १५० भारतसे गई हैं, और दो दर्जन तो बहुत ही सुन्दर हैं––कुछ तो छठीं-सातवीं सदीतककी पुरानी हैं। यहाँ भी बोधगयामंदिरके पत्थरके दो नमूने हैं। मैंने बहुतसी मूर्त्तियोंके फ़ोटो लिये, और उन्हें वहीं धोया। कुछ साफ़ आये।

अक्तूबरके अंततक सर्दी बहुत बढ़ गई थी। फुन्छोगप्रासादकी महंतरानीने रास्तेकेलिए एक ऊनी गुलूबन्द और खानेकी बहुतसी चीज़ें दीं। ताराप्रासादके छोटे भाई, पहिले हीसे ख़तरनाक जोतोंमें इस तरह घूमनेकेलिए मुझे बहुत समझाया करते थे। उन्होंने चलते वक़्त अपना चमड़ेका पायजामा दिया। मैंने शिगर्चेमें एक पोस्तीनका सलूका (जाकट) बनवा लिया था, इसलिए सर्दीसे तो अब निश्चिन्त था। कुशो डोनिर् छेनपोने भी रास्तेकी उपयोगी कितनी ही चीज़ें दीं। वह अब बहुत ख़ुश रहते थे, क्योंकि उनकी छोटी चाम् दिकीलामें वंश चलानेके चिह्न प्रकट हो गये थे।

३. भारतकी ओर

३० अक्तूबरको मैंने साक्या छोड़ी। चङ्मा (बीरी)के वृक्षोंपर कोई ही कोई सूखी पत्तियाँ रह गई थीं। पहाड़ोंकी हरियाली लुप्त हो चुकी थी, और उन्होंने फिर अपना वही नंगा सूखा रूप धारण कर लिया था। अबकी बार ताराप्रसादने मेरेलिए ३ खच्चर और अपना एक आदमी—जयङ्—दिया था। मब्जातक चाम्कुशोके मौसेरे भाई लामा ग्यंजे भी साथ चल रहे थे। उसी दिन हम मब्जा पहुँच गये। जयङ्को रास्ता नहीं मालूम था, इसलिए कुशो डोनिर्लाने एक और आदमी साथ कर दिया। पहिली नवम्बरको मब्जासे रवाना हुए। पाचाके रास्ते शोङ्पाला पार हो चिब्लुङ्-उपत्यकामें चले गये, और उस दिन रातको शादोङ् गाँवमें ठहरे। अगले दिन (२ नवम्बर) तोब्डाला पारकर छिका गाँवमें जलपान किया। हमारी बाईं ओर झील थी, जिसके किनारे तोब्डा गाँव था। यह तिब्बतके भीतर है, लेकिन जागीर है, शिकमके राजाकी। छिकाके सामने तिङ्री जैसा विशाल मैदान है। वैसे ही यहाँ भी घास है, कहीं-कहीं बालूके टीले हैं। सवा ५ घंटे चलनेके बाद हम इस मैदानको पार कर सके। रास्तेमें कोई बस्ती नहीं थी, सूर्यास्तको हम ऊँचे-शमा गाँवमें पहुँचे—इस प्रदेशका नाम शमा है।

यद्यपि अब मैदान नहीं था, लेकिन रास्ता बराबर था। डेढ़ घंटा चलनेके बाद हम खम्बाजोङ्के मैदानमें पहुँचे। रातको पौने दो घंटा चलकर हम ८ बजे खम्बा गाँवमें पहुँचे। अब पूरा जाड़ा था, फिर सर्दीकेलिए क्या पूछना? चायसत्तू हुआ, घोड़ोंको घास-दाना दिया गया। ३ घंटेके विश्रामके बाद हम फिर चले। रास्तेमें कहीं-कहीं क्याङों (जंगली गदहों)के झुंड दिखाई पड़े। कीरूलाकी चढ़ाई बहुत मुश्किल नहीं है। डाँड़ेसे कुछ उतराईके बाद डोक्पा लोगोंका गाँव कीरू मिला। यहाँ १०, १२ घर हैं, लेकिन चँवरियोंपर परलेपारसे लकड़ी ढोनेका सुभीता है, इसलिए मकान अच्छे बने हैं। एवरेस्ट जानेवाले इसी रास्तेसे गुज़रते हैं। हम लोग दो ही बजे पहुँच गये थे, लेकिन आगे लाछेन्की बड़ी जोत थी, और अगली बस्ती बहुत दूर पड़ती, इसलिए आज यहीं ठहर गए। बर्फ़के कारण कई दिनोंसे रास्ता बन्द हो गया था। आज लाछेन्से आदमी आया, मालूम हुआ, बर्फ़ कम है, जो है वह सख्त हो गई है, इसलिए रास्ता खुल गया है।

भारतमें (१९३६-३७ ई०)

हमने सात्यासे लाई पिस्तौलोंको कोरुमें छोड़ दिया, क्योंकि, डाँड़ा पार करते ही हम उस देशमें पहुँच जाते हैं, जहाँ आत्मरक्षाके साधन पिस्तौल या बन्दूकको हाथमें रखनेकेलिए आदमियोंको जेलकी हवा खानी पड़ती है। ४ नवम्बरको साढ़े ५ बजे जब हम गाँवसे बाहर हुए, तो हिमालयकी बर्फ़ीली चोटियोंको सूर्यकी किरणें स्वर्णिम बना रही थीं। सर्दी खूब थी, लेकिन ऊन और चमड़ेमें लिपटे शरीरका वह क्या बिगाड़ सकतीं ? दो फ़र्लाङ् चलनेके बाद रास्तेमें बर्फ़ आ गई। चारों ओर विस्तृत हिमक्षेत्र था। दाहिनी ओर दूर सामने हिमालयकी शिखर-पंक्तियाँ थीं। पौने दो घंटे चलनेके बाद हम लाछेन्-जोतपर पहुँचे। चढ़ाईसे उतराई कुछ अधिक ज़ोरदार थी, किन्तु मुश्किल नहीं थी। जोतसे थोड़ा नीचे आनेपर तिब्बत और शिकम्‌राज्य—तिब्बत और अँगरेज़ी राज या तिब्बत और भारत—की सीमा मिली। डेढ़ घंटा चलनेके बाद हमें एक छोटीसी झील मिली। झीलके बादसे रास्तेमें अब बरफ़ कम थी। गाँव छोड़े ४ घंटे हो गए थे, पौने १० बज रहा था; इसलिए चाय पीनेका कोई इंतजाम करना जरूरी था। रास्तेसे दाहिने थोड़ा ऊपर याकके काले बालोंका तम्बू दिखाई पड़ा। हम वहाँ चले गये। तम्बूमें आगके पास बैठे। पता लगा कि यह लाछेनके चीपोन् वङ्ग्यल्‌के डोकपा (पशुपालक) हैं। जाड़ेके सिर्फ़ दो महीने ये लोग किसी एक जगह रहते हैं, नहीं तो अपनी भेड़ों और याकों चमरियोंको लिये दस महीने नई-नई चरागाहोंमें घूमते रहते हैं।

दो घंटेके विश्रामके बाद हम फिर चले। आगे नदीकी धार मिली। ३ बजे तक रास्तेमें बरफ़ पड़ी हुई मिली। आगे एक छोटासा अकेला घर आया और उसके बादसे सड़क आ गई। इस वक्त बादलोंकी भारी पलटन जोतकी ओर जा रही थी। हमने अपने भाग्यको सराहा, न जाने वहाँ कितनी बरफ़ पड़ती, और हम मुश्किलमें पड़ जाते। चार बजेसे नंगे पहाड़ोंकी जगह झाड़ीवाले पहाड़ आने लगे, फिर देवदार आ गये, और बीस मीलतक अब पहाड़ोंपर देवदार ही छाये हुए थे। पहाड़के ऊपरी भागपर भोजपत्रके भी वृक्ष थे। अँधेरा हो रहा था, जबकि पौने ६ बजे हम थङ्गूके डाकबँगलेपर पहुँचे। मेरे पास डाकबँगलेमें ठहरनेका आज्ञापत्र नहीं था, लेकिन चौकीदारने अपने पासकी कोठरीमें रहनेको जगह दे दी। अब हम गनतोक् (मोटर)से ६२वें मीलपर थे। हमारे बक्स बाहर पड़े थे। मैंने उन्हें भीतर रखनेकेलिए कहा, तो चौकीदारने कहा—"यहाँ कोई पर्वाह नहीं है।"

"परवाह" नहीं थी, यह बात ठीक थी, तिब्बतमें यात्रा करते वक्त जैसे रोएँ-रोएँको हर वक्त सजग रहनेकी ज़रूरत पड़ती थी, अब उसकी ज़रूरत नहीं थी, सर्दी भी अब हमें उतनी नहीं मालूम पड़ रही थी।

सिकममें—साढ़े पाँच महीने बाद तरसती आँखोंको फिर वृक्षोंसे आच्छादित पर्वत देखनेको मिले और यह थे देवदारके सुन्दरतम वृक्ष। पौने ६ बजे सबेरे ही हम रवाना हुए। हमने पोस्तीन उतार दी थी, तो भी गर्मी मालूम होती थी। ४ मील चलनेपर यातुङ गाँव मिला। लाछेन गाँववाले गर्मियोंमें आकर यहाँ रहते हैं, और आलू-फाफड़की खेती करते हैं। अब सारा गाँव निर्जन था। एक घर में धुआँ निकलता देख हम वहाँ गये। वहाँ चीपोन पेंग्यल् (पद्मराज) का लड़का था। उसने चाय, भात और मांस तैयार किया। भोजन करके सवा दो घंटेके विश्रामके बाद हम फिर चले। १ मील जानेपर मालूम हुआ कि केमरा घर में छोड़ आये। लौटकर आये, तो देखा ताला बन्द था। जयड्को ऊपर भेजा। मालूम हुआ कि कैमरा घरमें है, और तरुण कल अपने साथ लायेगा। दो-तीन मील चलनेके बाद देवदार-वृक्ष बड़े-बड़े दिखलाई देने लगे, फिर बाँसी (पतला बाँस) भी आने लगी। आज १४ मील चलनेके बाद लाछेन् आया। एसोमें एक प्रौढ़ पुरुष मिल गये। उनके साथ बात करते चले। मैंने बतलाया कि साक्यालामाने चीपोन वङ्ग्यल्केलिए परिचयपत्र दिया। डाकबँगलेके पास जानेके बाद उन्होंने कहा—मेरा ही नाम वङ्ग्यल है। उन्होंने बँगलेके सामनेके एक तिब्बती वृद्धको बुलाया, और उसे एक कोठरी रहनेकेलिए देनेको कहा। कोठरी बुरी नहीं थी। अब आलू-भातका मुलुक आ गया था, यद्यपि चावल यहाँ नहीं पैदा होता। चीपोनने डलियाभरके सेब भेजा।

लाछेनमें अब सेबके बहुत बग़ीचे लग गये हैं। फिनलैंडकी एक महिला पचीसों वर्षोंसे यहाँ ईसाईधर्मका प्रचार कर रही हैं, उनके सेबके बग़ीचेको देखकर यहाँके लोगोंने भी सेब लगाने शुरू किये। यह सेबोंकी फ़सलका समय था। लाछेनवाले कल खच्चरों और घोड़ोंपर सेब लादकर नीचे ले जाते, और चावल ख़रीदकर ले आते थे। गाँवमें कोई घोड़ा या खच्चर नहीं था। तीसरे दिन (७ नवम्बर) साक्यावाले लौट गये। मैंने उस दिन गरम पानीसे साबुन लगाकर सबेरे और शामको दो बार स्नान किया। नहीं कह सकता, महीनोंकी जमी मैल शरीरसे उसी दिन छूट गई। कपड़ोंको धुलवाया, लेकिन जुएँ अब भी बाक़ी थीं।

घोड़ोंकी आशा रखे बैठे रहना अच्छा नहीं था, वह न जाने कितने दिनोंमें आएँ। फिर सेबकी जगह मेरा सामान ले जानेको तैयार होंगे, इसमें भी सन्देह था। चीपोन भी उदाससे थे, इसलिए मैंने खुद कोशिश करनी शुरू की। गृहपति स्वयं भोटिया था, मगर उसने लाछेनकी औरतसे शादी की थी। उसने खाने-पीने, नहाने-धोनेमें किसी तरहकी मुझे तकलीफ़ नहीं होने दी। वह बेचारा इधर-उधर पूछताछ करता रहा, लेकिन कहींसे कोई आशा नहीं थी। उसने कहा—मेरे पास दो गधे हैं, चाहें तो मैं उन्हें भेज सकता हूँ। बक्स बहुत भारी नहीं थे, उसने उठाकर देखा, और कहा कि गधे ले जा सकते हैं। फिर सवाल आया एक आदमीका, लेकिन वहाँ कोई आदमी भी नहीं मिल रहा था। बूढ़ा स्वयं घरका काम छोड़कर जा नहीं सकता था। अन्तमें उसने कहा, मेरी लड़की मेतोक् (फूल) गदहोंके साथ जा सकती है, लेकिन सामान लादने-उतारनेमें आपको मदद देनी पड़ेगी। वहाँ बैठकर इन्तज़ार करनेकी जगह मैंने चलना ही पसन्द किया।

८ नवम्बरको चाय पीकर साढ़े सात बजे हम चार जीव लाछेनसे रवाना हुए। चार जीव थे—मैं, मेतोक् (२० सालकी स्वस्थ तरुणी), नोर्बू (मणि), और छेरिङ् (दीर्घायु)—नोर्बू और छेरिङ् हमारे गधोंके नाम थे। मैं सोच रहा था—कई सालसे एक साध थी, कि गधे-खच्चर या भेड़ोंपर अपना थोड़ासा सामान लादे तिब्बत में स्वच्छन्द विचरा जाय। समय बीतनेके साथ काम इतने बढ़ गये, कि उस साधके पूरनेकी आशा जाती रही; लेकिन अब दो-चार दिनकेलिए तो मेरा गधोंवाला परिवार बन ही गया था। मैं था सिद्ध गदहपा—८४ सिद्धोंके ज़मानेमें मैं यदि इसी तरह कुछ साल स्वच्छन्द विचरता, तो मुझे लोग उसी नामसे पुकारते। यदि ऊपरकी तरफ पैदल जाना होता, तो दिमाग़ इस तरह स्वच्छन्द कल्पना न करता। मैं ख़ाली हाथ था। एकाध जगह थोड़ीसी चढ़ाई आती, नहीं तो बराबर उतराई ही उतराई थी। देवदारोंमेंसे मन्द-सुगन्ध बयार आती थी, और उन्हींकी छायामें चलना पड़ता था। हिमालयने अपने सुन्दरतम दृश्यको सामने रखा था। मैं शायद कविता करने लगता, लेकिन बहुत साल पहिले ही मैंने हाथ-पैर मारके देख लिया था, कि कविता-सुन्दरीको मेरी सेवाएँ पसन्द नहीं हैं। एक समझदार आदमीकी तरह मैंने फिर उस रास्तेमें पैर बढ़ानेका ख्याल नहीं किया। लाछेन्से ३ मील नीचे उतरते-उतरते देवदार रास्तेपरसे ग़ायब हो गये थे। आगे बढ़नेके साथ-साथ गर्मी ज्यादा मालूम होती थी। पानीके झरनोंका दुख इधर नहीं है, और न लकड़ियोंका ही। २ बजेके क़रीब हम एक झरनेपर पहुँचे। दोनोंने मिलकर सामान गधोंकी

पीठपरसे उतारा। गधे हरी घास चरने लगे। मैं सूखी लकड़ी जमा करके आग तैयार करने लगा। मेतोक् अलमोनियमके भगोनेको लेकर झरनेपर मलने और पानी भरनेकेलिए गई। हाँ, अब हम तिब्बतमें नहीं थे। अब यहाँ जूठ-मीठका बिचार था, सफ़ाईका ख़्याल था। मेतोक् यद्यपि भोटिया बापकी बेटी थी, लेकिन उसका सारा २० सालका जीवन लाछेन्में ही बीता था। नीचे जितनी सफ़ाई तो क्या होती, लेकिन भोटिया ढंग अब नहीं था। लाछेन्के लोगोंकी आँखोंपर कुछ तिब्बती छाप ज़रूर होती है, लेकिन वह ज़्यादातर एल्मोवालोंकी तरह मालूम होते हैं—रंग ज़्यादा साफ़ और चेहरा हलका। ख़ैर चाय बनी। अभी मीठी चायका देश थोड़ा और नीचे उतरकर आनेवाला था। हमने नमकीन चाय तैयार की, और प्यालेमें ही मक्खन डालकर उसे पिया। सत्तू भी छूट चुका था, उसकी जगह च्यूरा ने ले ली थी।

फिर हम लोगोंने गधोंको लादा, और नीचेकी ओर चले। गधे बड़े मेहनती जानवर हैं, और क़रीब-क़रीब उतना ही बोझ ले चलते हैं, जितना कि ख़च्चर; हाँ उनकी चाल धीमी होती है। चढ़ाई होनेपर वह जहाँ-तहाँ बैठ भी जाते हैं। लेकिन हमें तो नीचेकी ओर जाना था। अभी घंटाभर दिन था, जब हम चुङ्थङ्में पहुँचे। यहाँ डाकख़ाना भी है, और डाकबँगला भी। शिगर्चेके बाद मुझे अख़बार नहीं मिला था और सभ्यताके भीतर पैर रखते ही आदमी अख़बार देखनेकेलिए बेक़रार हो जाता है। मैं डाकख़ाने गया। पोस्टमास्टर बड़े सहृदय थे। मैंने चिट्ठियाँ लिखकर वहाँ डाल दीं। डाकबँगलेके साथ कुछ कोठरियाँ थीं, उन्हींमेंसे एकमें खाना बनानेका इन्तज़ाम हो गया। पोस्टमास्टर शामको वहाँ स्वयं आये और पूछा—कोई तकलीफ़ तो नहीं है। मेतोक्ने भात और आलूका साग बनाया। तिब्बतकी सीमाके नज़दीक जानेपर चाहे नेपाल हो या शिकम या गंगोत्री—सभी जगह भात और आलूकी तरकारी बहुत अच्छा भोजन समझा जाता है। वहाँके लोग जिम्बू (जंगली प्याज़) को मसालेके तौरपर इस्तेमाल करते हैं, और भोजन बहुत ही स्वादिष्ट मालूम होता है। रातको ज्यादा गर्म मालूम होता था। जान पड़ता था कि अप्रेल-मईकी रातमें बनारसमें हैं, हालाँ कि यह नवम्बरका महीना था। वस्तुतः यहाँ उतनी गर्मी नहीं थी, लेकिन मैं बहुत ठंडी जगहसे आ रहा था, यदि नीचेसे ऊपरकी ओर गया होता, तो यहाँ काफ़ी ठंडक मालूम होती।

अगले दिन (६ नवम्बर) साढ़े ५ बजे कुछ अँधेरा रहते ही हम चल पड़े। थोड़े ही नीचे झूलेवाला लोहेका पुल मिला, उसे पार करके हम सिकम-पेटरोल

पुलीसकी चौकीके सामनेसे गुज़रे। यहाँ एक हवलदार और दो सिपाही रहते हैं। यदि मैं नीचेसे आया होता, तो सिकमके अँगरेज़-अफ़सरके आज्ञापत्रके बिना यह मुझे ऊपर नहीं जाने देते। लाछेन् और लाछुङ् दोनों जोतोंको पारकर तिब्बतके आनेवाले रास्ते यहीं मिलते हैं और नीचेसे आनेवालोंको इसी पुलको पार करना पड़ता है। चौकीमें फूल खूब अच्छे लगे हुए थे। अब भी पहाड़ नीचेसे ऊपरतक जंगलसे ढका हुआ था, लेकिन देवदारका पता नहीं था। इधरके वृक्षोंपर भारी लताएँ लिपटी हुई थीं। इनके पत्ते केलोंके पत्तों जैसे बड़े-बड़े थे और भार इतना था कि कितने ही वृक्ष तो बोझके मारे टेढ़े पड़ गये थे। मैंने पाली ग्रंथोंमें पढ़ा था कि मालुवा नामकी एक लता होती है, जो बरसातके पानीको इतना सोख लेती है, कि जिस वृक्षपर वह चढ़ी रहती है, वह बोझके मारे फट जाता है। ऐसी ही लताको देखकर मालुवाकी कल्पना तो नहीं की गई। इधर लिपचा (सिकमी) लोगोंकी बस्तियाँ थीं। इनकी पोशाक तिब्बती लोगोंसे अलग, रंग भी ज़्यादा पीला लिये हुए था। एक जगह मैंने चाय पी, फिर आगे चले। एक झूलेवाला पुल पार करके नदीकी बाईं ओर चले आये। रास्ता अधिकतर चढ़ाईका था, लेकिन बड़े-बड़े वृक्षों और हरियालीके भीतरसे था। एक डाकबँगलेको छोड़ा। इधर बड़ी इलायचीके बहुतसे बग़ीचे थे। किसी वक़्त हिन्दुस्तानकेलिए बड़ी इलायची नेपाल दिया करता था, लेकिन पिछली (१९२९-३२ ई०) मन्दीमें इलायचीका दाम बहुत गिर गया। नेपालने इलायचीकी खेतीसे उपेक्षा की। आजकलके सिकमकी आबादीमें सबसे अधिक संख्या गोरखा लोगोंकी है, जो नेपालसे आकर यहाँ बस गये हैं। उन्होंने यहाँ भी इलायचीकी खेती तैयार कर दी। इलायचीके पत्ते हल्दी या कचूरके पत्ते जैसे होते हैं, और फलियाँ जड़के पास छोटे-छोटे धागोंमें लगती हैं। गधे बहुत धीमे-धीमे चल रहे थे, यह इसीसे मालूम होगा, कि हम दो दिनमें लाछेनसे सिर्फ़ २२ मील आ सके थे। आज पुल पार करते वक़्त ३ कोड़ी ७ (६७) वर्षकी एक भोटिया भिक्षुणी आ मिली। वह भी बेचारी धीरे ही धीरे चल सकती थी, हमने भी सोचा कि ४की जगह ५ अच्छे होते हैं, इसलिए अनी (भिक्षुणी)को भी साथ कर लिया। सुन्तम् ढाई मील रह गया था, तभी गधोंने हिम्मत हार दी। अभी साढ़े तीन ही बजे थे, लेकिन आज चढ़ाई काफ़ी पड़ी थी, इसलिए यदि नोर्बू और छेरिङ् विश्राम लेना चाहते थे, तो अपराध नहीं करते थे। यहाँ हरियाली भी थी, चरनेकेलिए घास थी, पासमें पानीका झरना था, सूखी लकड़ी ऐसे ही जंगलमें पड़ी हुई थी, खाने-पीनेका सामान हमारे पास मौजूद था। इसलिए रातको यहीं ठहरनेका निश्चय किया गया।

हाँ, उस वक़्त हमें किसीने बतलाया नहीं था, कि यहाँ चीते या तेंदुए हैं और नोर्बू तथा छेरिङ उनकेलिए रसगुल्लेसे भी ज़्यादा मीठे हैं। यदि यह मालूम हुआ होता, तो हम ज़रूर नोर्बू और छेरिङ्को मनाकर अगले गाँवतक ले जाते। ख़ैर, उनका भाग्य अच्छा था। हमने रातभर ऐसे ही छोड़ दिया और कोई चीता-तेंदुआ उनके पास नहीं आया। अब चाय रसोई तैयार करनेकेलिए हम ३ आदमी थे। ३ कोड़ी ७ वर्षवाली—पूछनेपर बुढ़ियाने यही कहा था—अनी अभी हाथ-पैर चला सकती थी। उसकी पीठपर तो इतना सामान था कि उसे लेकर दो मील चलने हीमें मैं थौस करके बैठ जाता। इस जगह आनेसे थोड़ा पहिले मीठी चाय और छङ्की दूकान मिली, हमने वहाँ मीटी चाय पी, और पैसेकी तीन-तीन नारंगियाँ ख़रीद ली थीं। अनीसे दलाईलामा और भोटके दूसरे लामाओंके बारेमें बात होती रहीं। वह शायद ल्होखा प्रदेशकी थी, उधर भी कोई लडका था, जिसे दलाईलामाका अवतार कहा जाने लगा था। अनीने कहा—"मैं भी दर्शन करने गई थी। अभी छोटे-छोटे हाथ हैं, तीन बरसके तो रिन्पोछे (रत्न-महाराज, महागुरु) हैं ही। मेरे शिरपर अपना हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया।" जब तक दलाईलामाका अन्तिम स्वीकार नहीं हो जाता, तबतक न जाने कितने छोटे-छोटे हाथ इस तरह आशीर्वाद देते रहेंगे। रातको मेतोक्का दाँत दुखा, मैंने गरम पानीमें नमक डालकर कुल्ली करनेके लिए कहा।

अगले दिन (१०) हम ५ बजे रवाना हुए। ४ मीलका रास्ता साढ़ेतीन घंटेमें पूरा किया और मंगन पहुँच गए। मंगन बाज़ार सड़ककी बग़लमें है। ६,१० दूकानें हैं, जिनमें दो पानकी हैं, जिसका अर्थ है, भारतीय सभ्यता यहाँ पूरे ज़ोर-शोरके साथ पहुँच गई है। छाता (बलिया) के बाबू रमाशङ्करकी दूकानपर लसकरीपुर (एकमा) के छब्बूराम गुमाश्ता थे। छपराकी बोली बोलते ही पीले कपड़ोंका भेद भाव जाता रहा, अब वह बिना भात खिलाए यहाँसे कैसे जाने देते? भात बनने लगा। मैं मेतोक और अनीको खाना बनाकर खालेनेकेलिए कह आया। साप्ताहिक "विश्वमित्र" मिल गया। देश-विदेशकी खबरें पढी। दोपहरके क़रीब, फिर पाँचोंका काफला रवाना हुआ। हमें तो गर्मी सता रही थी, और छेरिङ्, नोरबू अशर्फीकी चालसे चल रहे थे। एक बड़ा झूले वाला पुल आया, उसे पारकर थोड़ा आगे जानेपर लाछेन्के खच्चरवाले मिले। एक नौजवानने तंबाकूकी २, ३ सूखी पत्तियाँ और काग़ज़से सिगरेट बनाके मेतोकको पीनेकेलिए दिया। इससे भी बड़ा काम उसने किया—उसने हमें सूचित कर

दिया कि इस जंगलमें चीते, तेंदुए (ज़िक्) लगते हैं, गदहोंसे खबरदार रहना। हम कुछ ही मील और आगे बढ़ सके, कि नोर्बू और छेरिङ्को आगे ले चलना मुश्किल होने लगा। आस-पास बहुतसे सूखे वृक्ष गिरे पड़े थे, पानी भी पासमें था, और सामने जंगली बाँसका ठट लगा था। जंगल तो इतना घना था, कि शामसे पहिले ही अँधेरेने वहाँ बसेरा कर लिया था। मेतोक्को बुखार भी आ गया था। यहीं हमने गदहोंकी पीठपरसे सामान उतारा, मेतोक् कोई काम करनेमें असमर्थ थी। वह टाट बिछाकर लेट गई। अनीको मैंने भोजन बनानेकेलिए कहा और स्वयं बाँसकी पत्तियाँ तोड़ने लगा। हाथ कई जगह छिल गए, लेकिन अपने दोनों साथियोंके खानेभरकेलिए मैंने पत्तियाँ तोड़ लीं। चीतोंसे भी बचनेका इन्तिज़ाम करना था। मैंने दो जगह बड़े-बड़े लक्कड़ लगाकर खूब आग तैयार कर दी। आगके पास जंगली जानवर नहीं आते, यह मालूम था। हमने अपना सामान तो थोड़ा हट करके रखा, लेकिन नोरबू और छेरिङको दोनों आगोंके बीचमें बाँध दिया। अनी और मैंने कुछ खाना खाया, मेतोक्को १०४ डिग्रीसे कम बुखार न रहा होगा। कल हीसे मैंने देखा था कि वह चश्मेके ठंडे पानीको पीती रहती है। गर्मी लग रही हो, तो बर्फ़ जैसे ठंडे और अति मधुर जलको कौन नहीं पीना चाहेगा। मैंने मेतोक्को कई बार मना किया था, लेकिन उसने माना नहीं। उस रातको तो वह बुखारमें बेसुध थी, लेकिन मुझे गदहोंकी फ़िक्र थी। अँधेरा हो गया, ऐसा अँधेरा कि दहकती आग और उसके हाथ-डेढ़-हाथ आस-पासको छोड़कर कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। कितनी ही देर तक कीड़ों और पतंगोंकी झनकार सुनाई देती रही, फिर रात साँय-साँय करने लगी। ९ या १० बज गए, जब "क्यू" "क्यू" की आवाज कानमें आई। अनीने कहा—"ज़िक्" (चीता या तेंदुआ)। अब नींद किसको आती, मेरा ख्याल कभी ज़िक्की आवाजकी ओर जाता, और कभी नोरबू-छेरिङकी ओर, लकड़ी जैसे ही जल जाती, उसे ढकेलकर आगपर कर देता। मेरे हृदयमें भय नहीं, बल्कि उत्साह ज्यादा था। आदमी खतरेके जीवनका जब दिल लगाकर सामना करता है, तो उसके दिलमें एक तरहका उत्साह, एक तरहका आनन्द आता है। वह मात्रामें और भी बढ़ जाता है, जब उसको अकेले ही कई साथियोंकी रक्षाका भार अपने ऊपर लेना पड़ता है। रातको थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई, खैरियत यही हुई कि ज्यादा पानी नहीं बरसा, नहीं तो आगको जलाए रखना मुश्किल होता।

११ नवंबरको चाय पीकर रवाना हुए। आसमानमें बादल अब भी थे। मेतोकको अब बुखार नहीं था, नोर्बू और छेरिङ् भी ताजे हो गए थे। सड़क अच्छी थी। चश्मे जगह-जगह बह रहे थे। चारों ओरसे पक्षियोंका कलरव सुनाई देता था। दो घंटा

चलनेके बाद हम दिक्छू पहुँच गए। यह ९,१० दूकानोंका अच्छा बाजार है। दूकानदारोंमें कुछ मारवाड़ी और कुछ बिहारी भी थे। मीठी चायकी दूकान थी। गदहोंको शङ्दम् तकके लिए लिया था, किन्तु दोपहर बाद मेतोकको फिर बुखार आ गया। आगे कैसे चला जाय? गर्मी भी बहुत बढ़ रही थी, और लाछेन जैसी ठंडी जगहके व्यक्तिको और गर्म जगह ले जाना अच्छा नहीं था। मैंने इधर-उधर पूछा, तो मालूम हुआ कि गनतोक्के बाबू तोब्दन यहाँ आये हुए हैं। वह शिक्षित व्यक्ति थे। उनसे परिचय हुआ। उन्होंने कहा कि यहाँसे गनतोक् तक घोड़ेका इन्तज़ाम हो जायगा, आप मेरे साथ चलें। लेकिन मेतोक् बीमार थी, उसे छोड़कर मैं कैसे जाता। मेतोक्का परिचित लाछेन्का एक आदमी आ गया। उसने कहा कि कल मैं सबेरे लौट आऊँगा, फिर मैं मेतोक्को ऊपर ले जाऊँगा। मेतोक्का बुख़ार भी सबेरे उतर गया था। अनीको खाने-पीनेकेलिए मैंने पैसा दे दिया। मेतोक्ने विश्वास दिलाया कि कोई चिन्ता नहीं, आदमी आता ही होगा।

गनतोक् यहाँसे १३ मील था। एक-एक रुपयेपर दो क़ुली सामान ले जानेके-लिए मिले और तीन रुपयेपर सवारीका घोड़ा। सवा १० बजे बाबू तोबद्न्के साथ मैं गनतोक्केलिए रवाना हुआ। पहिले साढ़े आठ मीलकी चढ़ाई थी—पेलुङ्ला जोतको पार किया। आध मीलपर चायकी दूकानें थीं, चाय पी। फिर थोड़ा आगे जानेपर गनतोक् दिखाई देने लगा। दाहिनी ओरके पहाड़पर सिकमकी महा-रानीका महल था। पिछली (१९३४ ई०) तिब्बत-यात्रामें मैं जब गनतोक् आया था, तो महाराज और महारानी अपने महलमें हीं मिले थे। दोनोंने कितनी ही देरतक तिब्बतमें मेरे काम और बौद्धधर्मके बारेमें बातचीत की थी। मैंने अपनी लिखी तिब्बती भाषाकी पहिली पुस्तक भेंट की थी, जिसे महारानी उस वक़्त अपने गुम्बामें उतरे एक लामाको दिखलाने गई थीं। उस साल भी मैंने महारानीको उनके भाई रकसाकुशोके महलमें देखा था और देरतक बातचीत हुई थी। अब मालूम हुआ, कि महाराज और महारानीका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और महारानी अब इस महलमें रहती हैं। यह भी बतलाया गया कि महारानीको कोई लड़की है, जिसे महाराज स्वीकार नहीं करते; उनकी चलती, तो दूसरे हिन्दू महाराजाओंकी तरह अपनी रानीके साथ पेश आते, लेकिन महारानी भोट-देशकी स्त्री हैं, एक बड़े सामन्त-की लड़की हैं, काफ़ी अक़ल रखती हैं; वह अँगरेज़ी सरकारके राजनीतिक-विभाग तक पहुँच गईं और अब डटकर गन्तोक्में रहती हैं।

मैं बाबू तोब्दनके घरपर ठहरा। डाकख़ानेमें कुछ चिट्ठियाँ मिलीं, लेकिन

कितनी ही चिट्ठियोंको उन्होंने लौटा दिया था। हाईस्कूलके अध्यापक दो बिहारी मित्रों—श्रीव्रजनन्दनसिंह और संस्कृताध्यापक मिश्रजीसे भेंट हुई। गेशे धर्मवर्धन दार्जिलिंगमें थे, उन्हें सिलीगोडीमें आनेकेलिए तार दे दिया। १४ नवम्बरको ११ बजेकी मोटरसे रवाना हुए। १ घंटामें शिङताम् पहुँच गये। मेतोक् बीमार न हुई होती, तो गधोंको लेकर यहाँ आना था। ७ बजे सिलीगेड़ी पहुँच गये। घंटेभर बाद गेशे भी आ गये, और ६ बजे हम कलकत्ता-मेलमें बैठ गये।

४. पटना और प्रयागमें

१५ नवम्बरको ७ बजे सबेरे हम स्यालदा पहुँच गये। धावले, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और विगलानन्द स्टेशनपर मिले। हम वहाँसे महाबोधिसभामें गये। अबकी बारकी खोजोंका अख़बारोंमें ज़्यादा प्रचार हुआ था, वैसे तो पहिली तिब्बत-यात्रासे लौटनेके बाद ही मेरे कार्यके महत्त्वको माना जाने लगा था। वक्तव्यकेलिए अख़बारवाले दौड़ने लगे। मैं अपनी खोजोंके महत्त्वको समझता था, और यह भी समझता था कि लोगोंको जब उसका पता लगेगा, तो ज़रूर मुझे बाज़ारमें लानेकी कोशिश की जायगी, लेकिन मैं अब उस अवस्थामें था, जब कि मुझे उसकी प्यास नहीं रह गई थी। साथ ही मैं यह भी जानता था, कि जिन हृदयोद्‌गारोंको मैं "बाईसवीं सदी", और "साम्यवाद ही क्यों ?"में प्रकट कर चुका हूँ, वह दिल अब भी मौजूद है। अभी मैंने बहुत ज़ोर देकर अपनेको ग़रीबोंकेलिए लड़नेके क्षेत्रसे अलग रखा था, शायद ज़्यादा दिनोंतक मैं वैसा न कर सकता था। १९२१-२२में जब असहयोगका खूब ज़ोर था, तब भी मैं अपने मित्र नारायन बाबूसे कहा करता था, कि आप (कांग्रेस)-के राज्यमें भी न जाने कितनी बार मुझे जेल आना पड़ेगा। मैं भली भाँति जानता था कि जो आज मेरे सम्मानकेलिए होड़ लगा रहे हैं, मानपत्रपर मानपत्र दे रहे हैं, वही कार्यक्षेत्रमें आनेपर अपमानित करनेमें कुछ भी उठा न रखेंगे। मेरा यह मतलब नहीं, कि मेरे प्रशंसकोंमें सभी ऐसे निकलें, कुछ तो सिर्फ़ इतना ही अफ़सोस प्रकट करते रहे, कि मैंने अपने उसी कामको क्यों नहीं जारी रखा। शायद उनको मालूम नहीं कि अबतक जितने हस्तलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका फ़ोटो या कापी करके मैं ला चुका, वह छापनेपर ८०० सौ फ़ार्मसे कम न होंगे। छपाईकी बात तो अलग, अच्छी धुलाई न होनेके कारण उस समय बहुतसे फ़ोटो ख़राब हो रहे थे, लेकिन उनकी पर्वाह ऐसे ही लोगोंको थी, जो विद्वान् और विद्याप्रेमी थे, किन्तु पैसा उनके पास नहीं था।

कलकत्तामें मैं ५ दिन (१५-१९ नवम्बर) रहा। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री, महामहोपाध्याय फणिभूषण, डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी आदि-आदि विद्वानोंसे विचार-विमर्श हुआ। हिन्दी साहित्यिकोंने स्वागत किया। क्षीरोद बाबू (क्षीरोदकुमार राय) मिले और अपने साथ एक दिन बेहाला ले गये। यह उनका आखिरी दर्शन था। एक सहृदय मित्रके नाते ही मुझे उनके वियोगपर अफ़सोस नहीं होता, बल्कि सबसे अधिक अफ़सोस इसलिए होता है, कि क्षीरोद बाबूकी प्रतिभाको अपना जौहर दिखानेका मौका नहीं मिला। जब जायसवालजीने उन्हें पटना म्यूज़ियमके क्यूरेटर होनेकेलिए ज़ोर दिया, तो झट बंगाली, बिहारीका सवाल उठ गया, यदि वह बिहारी होते, तो फिर कायथ-भूमिहारका सवाल उठ जाता। एक तो हम ऐसे ही गुलाम हैं, दूसरे हमारा महासड़ा समाज ऐसा है, कि यहाँ ताज़ी हवामें साँस लेनेका अवसर ही नहीं मिल सकता। २० नवम्बर-को सबेरे ही मैं पटना पहुँच गया और २१ अप्रेल तक ५ महीने पटनामें रहा। बीचमें कुछ दिनोंकेलिए प्रयाग, बनारस, बलिया, छपरा गया था। इतने दिनों तक एक बार कभी पटनामें नहीं रहा। जायसवालजीके साथ रहनेका जैसे यह सबसे लम्बा समय था, वैसे ही आखिरी समय भी था। २२ नवम्बरको टौनहालमें काशी-वासियोंने मानपत्र प्रदान किया। २४ नवम्बरको वहींपर प्रोफ़ेसर पुणताम्बेकरके सभापतित्वमें मुझे तिब्बत-यात्रापर व्याख्यान देना पड़ा। यात्राके सिलसिलेमें खान-पानका ज़िक्र आना ज़रूरी था। मैंने वहाँ याक्का मांस खाया था। याक् और गाय एक ही जाति है। यात्राके वर्णनमें इसका भी ज़िक्र आ गया। ख़ैर, श्रोताओं-में किसीने इसपर आपत्ति नहीं की। आपत्ति करनेका सवाल क्या था, मैं तो आप बीती सुना रहा था, लेकिन पीछे कितने ही धर्मधुरन्धरोंने इसके विरुद्ध क़लम उठाई। कुछ तो कहते थे—खाया सो खाया, लेकिन इसका यहाँ ज़िक्र क्यों करते हैं? मुझे यह कोई ठीक तर्क नहीं जँचा। हिन्दूविश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने व्याख्यान देना पड़ा, वहाँ भी किसीकी निन्दाका ख़्याल किये बिना मैंने अपने अनु-भवों और विचारोंको नवयुवकोंके सामने रखा। २८-३० नवंबरको सारनाथमें बौद्धोंका वार्षिकोत्सव था, मैं भी उसमें शामिल हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालयमें पंडित सुखलालजी और पंडित बालकृष्ण मिश्रसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, दोनों हीने संस्कृतके दर्शनका गम्भीर अध्ययन किया था, दोनों ही भली भाँति अनुभव करते थे, कि संस्कृतका दर्शन ब्राह्मण हो या जैन, तब तक नहीं लग सकता, जब तक कि उसकी सबसे महत्वपूर्ण कड़ी बौद्धदर्शनको नहीं समझा जायगा। बौद्धदर्शनके अधिकांश ग्रन्थ

बौद्धधर्मके साथ-साथ भारतसे लुप्त हो गए और अब वह फिरसे मिले हैं, यह उनकेलिए बड़ी खुशीकी बात थी। पंडित सुखलालजी तो दर्शन ही नहीं, दूसरे विषयोंमें भी बहुत उदारता रखते हैं।

पहिली दिसंबरको मैं पटना आगया था। जायसवालजी इधर अब अपने बचे समयका अधिकसे अधिक उपयोग ऐतिहासिक अनुसंधानमें करना चाहते थे। उन्होंने बड़ी गंभीरताके साथ सलाह करनी शुरू की थी, कि चलकर बनारसमें रहूँ, बिल्कुल साधारण तौरसे और सरलसे सरल जीवनमें। उन्होंने हिन्दूविश्वविद्यालयको भी लिखा था, लेकिन आदमीका मूल्य जीवनमें समाज बहुत कम लगा पाता है।

१५–१७ दिसंबरको बलियामें जिला साहित्यसम्मेलनका सभापति होकर मुझे जाना पड़ा। मैंने भाषा और साहित्यके बारेमें अपने विचार प्रकट किए। संस्कृत-कालेजमें मैंने तिब्बतमें प्राप्त संस्कृतके ग्रन्थोंके महत्वपर संस्कृतमें व्याख्यान दिया। आनंदजी भी बोले और इन पुस्तकोंके छपानेमें आर्थिक काठनाइयोंका जिक्र किया। मुझे यह कुछ बुरासा लगा। मेरी उपस्थितिमें ऐसा कहना चन्दा माँगने जैसा मालूम पड़ रहा था। बलियामें मल्ली (भोजपुरी) भाषाके मौखिक साहित्यके संग्रहकेलिए एक उपसमिति बनाई गई। मैंने १९३२ में ही मातृभाषाओंके मौखिक साहित्यकी रक्षाकी ओर पाठकोंका ध्यान दिलाया था, लेकिन अभी उनके इस महत्त्वको नहीं समझ सका था, कि मातृभाषाओंको शिक्षाका माध्यम बनाना चाहिए।

२० दिसंबरको मैं पटना आया और तबसे लगातार ४ महीने वहीं रहा। इसी बार २६ दिसंबरको ब्रह्मचारी विज्ञानमार्त्तण्ड पटना आए। जायसवालजी उनकी विद्वत्ताको देखकर कितने प्रभावित हुए और सहायताकेलिए कितने तत्पर हुए थे, इसे मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ। इस सालके हिंदी साहित्यसम्मेलनके सभापतित्वकेलिए मेरा भी नाम रखा गया था। बिहारमें तो मैंने अपने दोस्तोंसे कह दिया था कि मैं सम्मेलनके वक़्त भारतमें नहीं रहूँगा, इसलिए मेरेलिए सम्मति न दें, और उन्होंने सम्मति नहीं दी। लेकिन, दूसरे प्रान्तोंने मेरे नामपर वोट दिया। यद्यपि श्रीजमुनालाल बजाज गाँधीजी-का वरदान लेकर सभापति होनेकेलिए खड़े थे, और उनके चेलोंने जी लड़ाकर कोशिश की थी, तो भी उन्हें मुश्किलसे सफलता मिली। मुझे पता नहीं था, नहीं तो मैं अपने नामको वापिस ले लिए होता। पटनामें ज्यादा रहनेका कारण मेरा टोनसिलका फिरसे उभड़ आने, फिर उसे आपरेशन करके निकलवा देनेके कारण हुआ। १९३४ से ही मैंने साल-सालकेलिए यह बीमारी पाल ली थी। ११ जनवरीसे ३१ जनवरी तक तो पिछले सालों जैसी चिकित्सा होती रही, और बीचमें कई दिन मैं अस्पतालमें रहा

डाक्टर हसनैनकी राय हुई कि इसको निकलवा देना चाहिए; लेकिन आपरेशन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि टोनसिलकी जगह नीरोग न हो जाये। नीरोग करनेकेलिए मुझे पटनामें रहना पड़ा।

जनवरी (१९३७) के अन्तमें एसेम्बलीके चुनाओंका परिणाम निकलने लगा। ३ फर्वरीको मालूम हुआ कि बिहारके एसेम्बलीमें काँग्रेसके ९५ आदमी गए। यद्यपि पिछले १० सालोंसे मैं सक्रिय राजनीतिसे अलग था, तो भी मेरी सहानुभूति काँग्रेसके साथ थी——१९३१में कुछ दिनोंकेलिए मैंने ज़रूर कुछ सक्रिय भाग लिया था। जायसवालजीसे भारतीय राजनीति और साम्यवादपर अक्सर बात होती रहती थी। चुनावके दिनोंमें भोजपुरी और मगहीमें बहुतसी कविताएँ और गाने निकले थे, जिनमें किसानोंको सम्हलकर अपने हितको देखते हुए वोट देनेकी बात कही गई थी। मैंने ऐसी बहुतसी नोटिसोंको इकट्ठा किया था। मैं जायसवालजीको उन्हें सुनाता रहता था। जायसवालजीके जन्मके समय उनके पिता बहुत ग़रीब थे। चाचीकी नादिरशाहीके कारण उनकी माँको कई साल उपेक्षित रह नैहरमें दिन काटना पड़ा था। जायसवालजीका ननिहाल भी बहुत ग़रीब था। दूसरे लड़कोंकी देखादेखी वह भी मिठाई माँगते, तो उन्हें चनेके सत्तूमें गुड़ मिलाकर छोटी-छोटी गोलियाँ बनाके लड्डूके नामसे दी जाती थीं। जायसवालजी जब पक्के साहबी ठाटसे रहते थे, जब उनके यहाँ बैरा-ख़ानसामा खाना बनाकर मेज़को सजाते थे, तब भी उन्हें गुड़ मिला चनेके सत्तूका लड्डू भूलता नहीं था, और वह उसे बड़ी रुचिसे खाते थे। एक नई महत्त्वाकांक्षा, और उसीकेलिए स्वीकार किया गया नया जीवन, बचपनके उस जीवनको भुलवा देना चाहता था, लेकिन जायसवालजी उसे भूलनेको तैयार नहीं थे। उनका मिज़ाज कड़ा था। वह बड़े हठीले थे, यद्यपि मेरे सम्बन्धमें उनके मनका यह रूप कभी प्रकट नहीं हुआ। मैंने देखा था, उनका नेपाली रसोइया लछिमन खाना पकानेमें कोई ग़लती कर बैठा। जायसवालजी बहुत गुस्से हुए, और उसे फटकारने लगे। सब लोग जानते थे कि आज लछिमनकी साहेब खुशामद करेंगे। उन्होंने सिर्फ़ आँखोंसे आँसू भर नहीं बहाया, नहीं तो उन्हें अपने आचरणपर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने लछिमनको बुलाकर कहा——देखो लछिमन! मैंने बहुत बुरा किया, तुम मुझे माफ़ कर दो। फिर उसे क्या क्या इनाम-उनाम दिया। जाड़ेके दिनोंमें रातके वक़्त वह चौबन्दी पहन लेते और ज़मीनपर आसन बिछा पलथी मारकर बैठ जाते, फिर उनकी कथा शुरू होती, जिसमें जुमई मेहतरसे लेकर घरभरके नौकर शामिल हो जाते। कभी भूतोंकी कथा शुरू होती थी। वह किसी वृक्षपर एक बड़े भूतको बतलाते।

नौकरोंमें किसीने पहिले भी इस कथाको सुना होता और अँधेरे-धुँधेरेमें कभी भय लगा होता, इसलिए उनमेंसे कोई अपनी आँखदेखी बात कहने लगता, फिर उस रातको कितनोंको आँख खोलनी मुश्किल हो जाती। जुमईसे एक दिन वह आसमानमें एक सफ़ेद दाढ़ीवाले पुरुषकी बात बतला रहे थे। जुमईने कहा—हाँ भइया! मैंने देखा था, चाँदी जैसी सफ़ेद, लम्बी-लम्बी दाढ़ी फिर आगसा चमकता चेहरा....। जयसवालजीने बड़ी गम्भीरतासे कहा—'बस-बस जुमई! वही अल्ला मियाँ थे।' भूतोंके बारेमें वह लड़कपनसे ही बड़े निर्भीक थे। मिर्ज़ापुरमें उनके घरके पास लोग जोग-टोन करके मिठाई, बकरा छोड़ आते। बालक काशीप्रसाद मिठाई हाथमें ले लेते और बकरेपर चढ़कर उसी रातको लड़कोंकी पलटन बटोरते और मिठाई बाँटकर खाते।

एसेम्बलीके चुनावका परिणाम निकला। हर जगह कांग्रेसने सरकारको करारी हार दी थी। जायसवालजी और मैं राजनीतिक वार्त्तालापमें एक दूसरेके पूरक हुआ करते। उन्हें आक्सफ़ोर्डमें पढ़ते वक़्त साम्यवादकी हवा लगी थी। वह इतने ख़तरनाक समझे गये थे, कि विश्वास नहीं था, वह हिन्दुस्तानमें रहने पायेंगे। लेकिन धीरे-धीरे वह आग राखके नीचे दब गई। कुछ विद्या-व्यसन और कुछ आरामके जीवनने उन्हें ऐसा करनेकेलिए मजबूर किया। तो भी अपनेको दबा रखना उनकेलिए बड़ा मुश्किल था। १० दिनतक गौरांग प्रभुओंके सामने वह नम्रता और शिष्टाचार दिखाते, फिर अनुचित कोई बात आती, तो उबल पड़ते। ऐसे आदमीपर भला अँगरेज़ प्रभु क्यों विश्वास करने लगे? कांग्रेसके चुनाव और उस वक़्तकी सर्वप्रिय गीतोंको देखकर उनको विश्वास हो चला कि अब वह शक्ति मैदानमें आ रही हैं, जिसमें क्रांति करनेकी क्षमता है। उन्होंने "माडर्न रिव्यू" और दूसरे पत्रोंमें उस वक़्त कुछ लेख लिखे, जिसमें बतलाया कि अब पुरानी दुनिया नहीं रहेगी, शोषित पीड़ित मूक श्रमिक जनताने अँगड़ाई ली है। उन्होंने ज़मींदारीके ख़िलाफ़ लिखा था, इसलिये बिहारके बड़े-बड़े ज़मींदार बहुत रुष्ट हो गये। एक बड़े ज़मींदार-नेताने उनको धमकी दी, कि हम लोग आपका बायकाट करेंगे और मुक़दमा नहीं देंगे। जायसवालजीने इसका बड़ा कड़ा जवाब दिया था। तरुणाईके बोये बीज अब फिर ऊपर उठते आ रहे थे।

डाक्टर श्चेर्बात्सकीके पास मैंने कुछ पुस्तकोंके और विवरण भेजे थे। ८ फ़र्वरीको उनका पत्र मिला। उन्होंने मुझे रूस आनेकेलिए लिखा और यह भी कहा कि मैंने सोवियत सरकारसे बीसा भेजनेकेलिए लिखा-पढ़ी की है। दो दिन बाद डाक्टर वोगीहारा (जापान) का पत्र आया, उन्होंने पुस्तकोंकी प्राप्तिपर बहुत सन्तोष

प्रकट किया था और योगाचार-भूमिको सम्पादित करनेकेलिए उत्सुकता दिखलाई। फ़र्वरीमें रातके ३-४ बजे तक जागते रहना मेरेलिए मामूली बात हो गई। इस समय "प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति" (कर्णकगोमी) और दूसरे ग्रन्थ प्रेसमें थे। उनके प्रूफ़ोंको देखना पड़ता था। उधर "ईरान"पर एक पुस्तक लिख रहा था। तिब्बतमें प्राप्त पुस्तकोंका एक सविवरण सूचीपत्र भी बना रहा था। पटनाके विद्यार्थियोंके सामने भी कभी-कभी लेक्चर देनेकेलिए जाना पड़ता था।

अब टोनसिल ठीक हो गई थी। २० मार्चको मैं अस्पताल चला गया। २२को टोनसिल काटकर निकाली गई। डाक्टर हसनैन एक सिद्धहस्त शल्य-चिकित्सक थे यद्यपि टोनसिल इतनी खराब हो गई थी, कि जहाँसे पकड़ते वहींसे फुस-फुस निकल आती, लेकिन उन्होंने बड़ी सफलतासे आपरेशन किया। क्लोरोफ़ार्म सूँघनेपर मेरे मनकी जो हालत हुई, उसने प्रत्यक्ष दिखला दिया, कि यह शरीर आत्मासे बिल्कुल शून्य है, यहाँ जीवात्मा जैसी कोई चीज़ नहीं। १ बजकर ५ मिनटपर क्लोरोफ़ार्मकी टोपी मेरे मुँहपर रखी गई। मालूम हुआ, पेटके भीतर कोई चीज भर रही है। फिर कलेजा हिलने लगा, पहिले धीरे-धीरे फिर वेग, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम हो गया। जान पड़ा, अब वह शून्य हो रहा है। हाथ पहिले बेक़ाबू हो गये, कान कुछ देरतक जागता रहा, फिर कानोंमें आनेवाले शब्द विकृत होने लगे। अन्तमें शिरमें सिर्फ़ चेतना रह गई, और थोड़ी देरमें वह भी बुझ गई। मुझे समझमें आ गया, कि शरीर भी एक बहुत ही सूक्ष्म यन्त्रसा है। आपरेशन एक घंटे तक होता रहा, और ढाई बजे (क्लोरोफ़ार्म देनेसे १ घंटा २५ मिनट बाद) मुझे होश आया। २९ मार्चको मैं अस्पतालसे चला आया।

१० अप्रेलको मैं और जायसवाल डाक्टर बीरबल साहनीका व्याख्यान सुनने साइंस-कालेजमें गये। डाक्टर साहनीने पुराकल्पके वनस्पतियोंके बारेमें जादूकी लालटेनके साथ एक लेक्चर दिया। उसमें उन्होंने बतलाया कि कश्मीर-उपत्यकामें पुराने पत्थरके हथियार मिले हैं, और हिमालयके पार भी। उस वक़्त हिमालय इतना ऊँचा नहीं था, बहुत सम्भव है, पुराण पाषाणधारी मानव हिमालयके इस पारसे उस पार जाता रहा हो। व्याख्यान समाप्त हुआ। जायसवालजीने किसी पुराणका नाम लेकर कहा, यह बात वहाँ भी आई है। मैंने कहा—मनुष्यकी भाषा उस समय शायद इतनी विकसित नहीं थी कि उसकी अपनी इन यात्राओंका वर्णन अगली पीढ़ियों द्वारा हमारे पास पहुँचता। डाक्टर साहनी भी हमारे साथ जायसवालजीके घर भोजन करनेकेलिए आ रहे थे। उनसे पूछा गया, तो उन्होंने मेरी बातका समर्थन

किया। जायसवालजीको कितने ही विद्वान ज़िद्दी कहते थे। लेकिन वह ज़िद्द वहीं करते थे, जहाँ बहुत विचार करनेके बाद उनके निर्धारित मतको कोई हल्के दिलसे उड़ा देना चाहता था। ब्राह्मी लेखोंके पढ़ने, मूर्त्तियोंकी विशेष-कालिकता आदि कितनी ही बातोंमें न जाने कितनी बार मैंने अपना मतभेद प्रकट किया होगा। वह तुरन्त स्वीकार तो नहीं करते थे, लेकिन तुरन्त विचार करने लगते थे और जान जानेपर अपनी ग़लतीको साफ़ प्रकट करते थे। उनकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, और विचार करते वक़्त चित्तमें एकाग्रता ग़ज़बकी आ जाती थी। एक दिन वह चित्तकी एकाग्रताकी बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। मैंने कहा—चित्तकी एकाग्रता बड़ी अच्छी है—लेकिन बाज़ वक़्त बड़े ख़तरेकी चीज है; मान लीजिये आप किसी पुराने शिलालेखको पढ़ रहे हैं, वहाँ कोई अक्षर बिल्कुल मिट गया है। चित्तपर आप बहुत ज़ोर देते हैं, और फिर मनमें बना हुआ अक्षर वहाँ पत्थरपर दीखने लगता है। उन्होंने कहा—ठीक है।

पहिली यात्रामें तिब्बतसे कनजुर और तनजुर ख़रीदकर लाया था, जो पटनामें रखे थे। रंगून यूनीवर्सिटीने अपनेलिए एक कनजुर-तनजुर मँगा देनेकेलिए मेरे पास लिखा। मैंने लिखा कि नरथङ्के कनजुर-तनजुर यहाँ हैं, आप चाहें तो ले सकते हैं; लेकिन यदि सुपाठ्य कनजुर-तनजुर चाहते हैं, तो तेरगीसे मँगवाने होंगे, लेकिन उसमें समय लगेगा। उनको जल्दी थी, उन्होंने हमारे ही कनजुर-तनजुरको मँगा लिया। मुझे अब पटनाकेलिए सुपाठ्य कनजुर-तनजुरकी ज़रूरत थी। पिछली यात्रामें एक बहुत अच्छा कनजुर लाया था, मगर पैसा न होनेके कारण उसे कलकत्ता भेज देना पड़ा। अबकी मालूम हुआ, कि ल्हासामें नया कनजुर बना है। मैंने उसे भेजनेकेलिए लिख दिया। वह उसी साल आ गया। पीछे (१९४०) तेरगीका कनजुर भी पहुँच गया। अब तिब्बतसे बाहर तिब्बती साहित्यका इतना अच्छा संग्रह और कहीं नहीं है, जितना कि बिहार रिसर्च सोसाइटीमें रखा मेरा संग्रह।

डाक्टर श्चेर्बात्सकी मुझे सोवियतमें बुलानेकेलिए प्रयत्न कर रहे थे। यदि जुलाईसे पहिले मुझे भारत छोड़ना रहता, तो युरोप-यात्राके वक़्त लिया गया मेरा पासपोर्ट काफ़ी था। किन्तु यह कोई ठीक नहीं था, कि तबतक सोवियत बीसाकी ख़बर आ जाय, इसलिए ज़रूरी था, पासपोर्टकी मियाद ५ साल और बढ़वा दी जाय। मैंने १७ अप्रेलको बिहार-सरकारके पास इसकेलिए दरख़्वास्त दे दी। पीछे जायसवालजीने भी सरकारके पूछनेपर लिख दिया कि वह केवल अनुसन्धान कार्यकेलिए जा रहे हैं। बोलशेविकोंका रूस ख़तरनाक मुल्क है, १९४०में मैत्रीके ज़मानेमें

भी पासपोर्ट देनेका अधिकार भारत-सरकारने अपने हाथमें रखा है, तो उस वक़्तकी तो बात ही क्या ? बिहार-सरकारने मेरी दरख्वास्त भारत-सरकारके पास भेज दी। अपने प्रूफ़के कामकेलिए मैं २२ अप्रेलको प्रयाग गया। डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद और पंडित उदयनारायण त्रिपाठीके घर यही दोनों मेरे ठहरनेके अड्डे थे। मैं डाक्टर बद्रीनाथके यहाँ ठहरा था। २३को पंडित मोहनलाल नेहरूने मुझे एक व्याख्यान देनेकेलिए कहा। पंडित जवाहरलालजीने मिलनेकेलिए बुलाया। बड़े आदमियोंसे अलग रहना—मेरा कुछ स्वभावसा हो गया है। पिछले वर्षकी बात है, ब्रह्मचारी गोविन्द (जर्मन) आनन्दभवनमें ठहरे थे। एक दिन मैं उनसे मिलने गया। मेरे साथ चित्रकार पंडित शम्भूनाथ मिश्र भी गये थे। उन्होंने श्री विजयलक्ष्मी पंडितसे मिलना चाहा, और मुझसे पूछे बिना ही मेरा भी नाम लिखकर पुर्ज़ी भेज दी। उन्होंने मिलनेसे इनकार कर दिया। मुझे मालूम हुआ, तो शम्भूनाथसे नाराज़ी तो ज़ाहिर की, साथ ही विजयलक्ष्मी जीके इस आचरणपर मुझे बहुत खेद हुआ। जवाहरलालसे मिलनेका मुझे कोई काम नहीं था, इसलिए मैंने पत्रवाहकसे जवाहरलालजीके यहाँ जानेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। मैंने उस दिन (२३ अप्रेल) की डायरीमें लिखा था—"शामको पंडित जवाहरलालजीकी ओरसे श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडितने कल १० बजे दिनका निमंत्रण भेजा। विजयलक्ष्मीजीका नाम सुनते अनिच्छा हो आई। पिछले वर्ष शम्भूनाथ मिश्रने ग़लतीसे मेरा नाम अपने साथ रखकर भेंटकेलिए पुर्ज़ा भेजा। मैं तो ब्रह्मचारी गोबिन्दसे मिलने गया (था)। उसका इनकारमें उत्तर पाकर मुझे अफ़सोस हुआ। आज वही भाव जाग्रत हो आये। मैंने कल आनेकी अस्वीकृति ही नहीं दे दी, बल्कि जवाहरलालजीका ख्याल करके भी उधर जानेके प्रति विरोधी इच्छा हो रही है। नामकी निस्सारता मुझे खूब मालूम है। काल—अनन्त संवत्सरोंका समूह—दो हज़ार वर्षोंतक भी हमारे नामको ढो नहीं सकता।"

अगले दिन शामके वक़्त पं० जवाहरलालजीका फिर पत्र आया कि (आपको) अवकाश न मिलनेपर हम खुद आयेंगे। बीमारीसे अभी वह हाल हीमें उठे थे, इसलिए उनको कष्ट देना मैंने उचित नहीं समझा। दूसरे दिन मैं आनन्दभवन गया। अधिकतर तिब्बत-यात्राके सम्बन्धमें बातें होती रहीं। उन्होंने पूछा—तिब्बतमें कोई साइंस-सम्बन्धी पुस्तकें भी मिली हैं? मैं समझता हूँ कि आयुर्वेद और आयुर्वेदिक-रसायन भी आरम्भिक साइंसकी चीज़ें हैं, इसलिए मैं उनका नाम ले रहा था; इसी समय कृपलानीजी टपक पड़े। उन्होंने समझा कि पीले कपड़ेवाला साधू क्या अनाप-शनाप बक रहा है। उन्होंने मुझे समझाना चाहा कि साइंस किसे कहते हैं।

मन तो आया, कि कोई उसी तरहका जवाब दूँ, किन्तु कृपलानीसे यह पहिली ही बार साम्मुख्य हुआ था, इसलिए मैं चुप रहा।

२. **लाहुलमें दूसरी बार**—अभी सोवियतके बीसाका पता नहीं लगा। गर्मी आ गई थी। गर्मीमें इधर कई वर्षोंसे मैं अपने कामके सिलसिलेमें ठंडे मुल्कोंमें चला जाया करता था, इसलिए सोचा अबकी लाहुल क्यों न चले चलें। ठाकुर मंगलचन्द और कलाकार रोइरिकके निमंत्रण भी आ गये थे। रूसके बारेमें जबतक कोई निश्चय नहीं हो जाता, तबतक मैं दूर जाना पसन्द नहीं करता था। मैं और आनन्दजी लाहुलकेलिए चल पड़े। दिल्ली होते लाहोर पहुँचे। लाहौरमें ७ मईको लाजपत-राय-हालमें "तिब्बतमें तीन बार"पर एक व्याख्यान देना पड़ा। वहाँ एक सज्जन आग़ा मुहम्मदअली शाहसे मुलाक़ात हुई। उन्होंने कहा, मेरे पास कुछ बहुत पुरानी भोजपत्रपर लिखी बौद्धपुस्तकें हैं, आप उन्हें देखिये। अगले दिन मैं उनके घरपर गया। उनके पास दो भोजपत्र और एक काग़ज़पर तीन पुस्तकें और कुछ मिट्टीकी मुद्राएँ थीं—२५ इंच लम्बे ५ इंच चौड़े दो सौ पत्रे (भोजपत्र) महावस्तुके थे, लिपि शारदा थी। यह "महावस्तु" (विनय)की खंडित पुस्तक थी, बाक़ी दो पुस्तकें भी ७वीं सदीके आसपासकी थीं। उन्होंने बतलाया कि यह चीज़ें उन्हें किसी पेशावरीसे मिलीं। वह आदमी इन्हें लालकाफ़िरोंके प्रदेश (चितराल और अफ़ग़ानिस्तानके बीच)से लाया था। उस जगह पत्थरकी बड़ी बुद्धमूर्त्ति (ध्याना-वस्थित) है। खोदनेपर वहाँसे एक मिट्टीका कुसूल (कोठिला) निकला। उसी में तीनों पुस्तकें और कुछ मिट्टीकी मूर्त्तियाँ मिलीं। गुणाढ्य, अश्वघोष, आदि कितने ही बड़े-बड़े विचारकोंके ग्रंथ आज हमें प्राप्य नहीं हैं। उनमेंसे बहुतसे सदाकेलिए लुप्त हो गये होंगे, लेकिन गिलगित, काफ़िरिस्तान, गोबी मरुभूमि, और तिब्बतके भंडारों तथा स्तूपोंमें हमारे साहित्यके न जाने कितने अनमोल रत्न अभी भी छिपे पड़े हैं? आग़ा मुहम्मदअली कुछ सौ रुपयोंमें पुस्तकें देनेकेलिए तैयार थे, मैंने दो-चार जगह चिट्ठी भी लिख दी, लेकिन मालूम नहीं किसीने उन पुस्तकोंको लिया या नहीं।

लाहौरसे हम दोनों अमृतसर-पठानकोट होते जोगिंदरनगर पहुँचे, फिर मण्डीकी लारी मिली। रास्तेमें पहाड़की घूमघुमौआ चढ़ाईमें आनन्दजी तथा दो-एक सहयात्रियोंको क़ै हुई। इस रातको हमें मंडीमें रहना पड़ा। अगले दिन कुल्लू (अखाड़ाबाज़ार) पहुँच गये। ठाकुर मंगलचंद वहाँ मौजूद थे। मैंने रूसकी यात्रा-केलिए जहाँ-तहाँसे ७०० रुपये जमा किये थे। ६०० रुपये मैंने यहीं कुल्लूके सेविंग

बैङ्कमें जमा कर दिये। १२ मईको आनन्दजी और मैं नगर गये। कटराईतक लॉरीसे जाकर नदी पार हुए। दो मीलकी चढ़ाईके बाद नगर मिला। यहाँ शाङ्रीके राजाका महल है, जो अब डाकबँगलेके रूपमें परिणत हो गया है। गर्मियोंमें असिस्टेन्ट कमिश्नर यहीं रहते हैं—मिस्टर शटलवर्थने न जाने कितनी गर्मियाँ यहाँ बिताई होंगी। कुछ दूर और ऊपर चढ़कर हम उरुस्वती पहुँचे। प्रोफ़ेसर रोइरिक और उनके दोनों पुत्र जार्ज, और स्वेतस्लाव मिले। जार्ज भोटभाषाके अच्छे पंडित हैं, और उनके छोटे भाई अच्छे चित्रकार। यहाँ पुस्तकोंका भी अच्छा संग्रह है। रहनेका आग्रह था, किन्तु अभी तो हमें लाहुल जाना था, इसलिए दो दिन रहकर हम कुल्लू चले आए।

नारायण (जायसवाल-पुत्र)के पत्रसे मालूम हुआ, कि जायसवालजीको फोड़ा हो गया है और उसका आपरेशन हुआ है। २१ अप्रेलको जब मैं पटनासे चला, तो उस वक़्त जायसवालजीके गर्दनपर ज़रासी फुंसी हुई थी, और उसपर वह पानीकी पट्टी बाँध रहे थे। मुझे यह ख़्याल नहीं हो सकता था, कि उसी फुंसीने इस फोड़ेका रूप धारण किया है। पत्रमें कोई भयकी बात नहीं थी। हम लोग १७ तक कुल्लू हीमें रहे। शामको नदी पार हो ऊपरकी ओर कुछ दूरतक हम दोनों टहलने जाया करते थे। उस वक़्त बगूगोशे (चेरी)के फल पके हुए थे। एक दिन हम एक बाग़में गये, वहाँसे कुछ फल ख़रीदकर खाना चाहते थे, किन्तु बाग़के मालिक ब्राह्मणने अपने घरमें ले जा ताज़े बगूगोशे तोड़कर खिलाये। बड़े संकोचके साथ हम दाम देने लगे, लेकिन वहाँ लेनेकेलिए कौन तैयार था?

१८ मईको ठाकुर मंगलचंदके साथ हम उनके बँगले हरिपुरमें गये। मनाली यहाँसे डेढ़ मील रह जाता है। ज़मीन बहुत है। लेकिन उन्होंने थोड़े ही हिस्सेमें बाग लगाया है। मकान पुराना है, लेकिन ठाकुर साहबने उसमें थोड़ा परिवर्त्तन करके कुछ नये ढंगका बना लिया है। चारों तरफ़ बड़ा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है। मालूम हुआ, पासके गाँवमें कोई पुराना मन्दिर है। शामको हम उधर गये। पहाड़की जड़में कार्त्तिकेयकी मूर्त्ति है। कई पुरानी मूर्त्तियाँ हैं, लेकिन कलाकी दृष्टिसे अच्छी नहीं। गुप्तकालमें भी ऐसा थोड़ा ही रहा होगा, कि देशमें सभी जगह सभी कलापूर्ण मूर्त्तियाँ ही बनती हों। यहाँके देवताके अपने खेत हैं, जिससे काफ़ी आमदनी होती है। देवता एक बूढ़े आदमीके सिरपर आता है—उसे ओझा कह लीजिए, किन्तु यहाँ गुर कहा जाता है। गुर भूत भविष्य सब जानता है। मैंने कहा—अच्छी बात है, हम भी गुरसे कुछ पूछते हैं। बूढ़ा गुर बैठ गया। थोड़ी देरमें देवता भी आ गया। मैंने पूछा—

कि रटङ्जोत कब खुला, देवता लोग कब आये ? उसने जवाब दिया—सतयुगमें। और क्या-क्या बातें पूछी, जिनमें एक यह भी थी, कि व्यासका पानी जो नीचेकी ओर जा रहा है, ऊपर रटङ्जोतकी तरफ़ कब जायगा। उसने इसका भी कुछ जवाब दिया था।

अगले दिन (१९ मई) हम दोपहर बाद लाहुलकी ओर रवाना हुए। मनाली (मनुवाली; मनु ऋषिका स्थान)में तीन घंटा ठहरना पड़ा। थोड़ी बूँदाबाँदी होती रही, एक जगह खेत बोया जा रहा था। उस दिन रवाड़ गाँवमें रहे। यह गाँव कनेत (=खश) लोगोंके हैं। इनकी मुखमुद्रामें मंगोल-छाप नहीं है। कोई-कोई तो लुंगनास होते हैं। यह जगह ८ हज़ार फ़ीट ऊँची होगी। जिस घरमें हम ठहरे थे, उसका मालिक तीन मास पहिले पहाड़में लकड़ी काटते वक़्त गिरकर मर गया। २० मईको साढ़े ७ बजे ही रवाना हुए। २ मील आगे डाकबँगला है। फिर रालाका मुंशीख़ाना और सराय मिली। यहींसे चढ़ाई शुरू हुई। सीधी चढ़ाई थी। १९३३में तो हम ऊपरसे नीचेकी ओर आये थे, इसलिए कुछ मालूम नहीं हुआ था, पर आजकी थकावटके बारेमें कुछ मत पूछिये। सवा दो घंटेकी चढ़ाईके बाद हम पगडंडीसे सड़क-पर पहुँच गये। यहीं भोजन हुआ। आगे बर्फ़ थी। १ मील जानेपर चढ़ाई आसान हो गई, किन्तु पतली हवाके कारण थकावट बहुत बढ़ी। इधर कई महीनोंसे बैठे-बैठे जो प्रूफ़ देखता रहा, उसके कारण शरीर तुरन्त परिश्रम करने लायक़ नहीं था। आनन्दजी अच्छी तरह चलते थे, और मैं पिछड़ने लगा। खड़ी उतराईमें मैंने कहीं-कहीं फिसलकर पचास-पचास साठ-साठ फ़ीटकी दूरी तै की। ६ मीलतक लगातार बर्फ़ रही। फिर कम होने लगी। ख़ूब अँधेरा होनेपर पौने नौ बजे रातको मैं खोकसर (१० हज़ार ५१२ फ़ीट) पहुँचा। सारा बदन चूर-चूर था, रातको ख़ूब नींद आई। सीसू (१० हज़ार १ सौ फ़ीट), और गूँदला (१० हज़ार ३१४ फ़ीट) में एक-एक रात रहते २३ मईको हम केलङ् (१० हज़ार ३८३ फ़ीट) पहुँच गये। २५ तारीख़ तक यहीं रहे। फिर २६को ठाकुर मंगलचंदके घरपर कोलङ् पहुँच गये। ठाकुर साहबका पुराना और पासके गाँवका अब कहीं पता नहीं है। कुछ साल पहिले १८ मील ऊपरसे आनेवाला नाला प्रलयका वाहन बन गया, एक भारी हिम-राशि फट गई, और बड़े-बड़े पत्थरों और लाखों मन मिट्टी ढकेले आगे बढ़ने लगी। ख़ैरियत यही हुई कि यह सब दिनमें हुआ, और चंद घंटे पहिले ही इस प्रलयके हहासको सुनके गाँववालोंको ख़बर लग गई, और वह जान लेकर भाग गए। मकान उसी मिट्टीके नीचे दब गये।

मैं २५ मईसे ६ जून तक कोलङ्में रहा। पाँचवें दिन (२९ मई) की चिट्ठीसे मालूम हुआ कि जायसवालजीकी हालत सुधर नहीं रही है। ३१ के पत्रसे पता लगा कि वैसे अच्छे हैं, किन्तु जब तक बुखार नहीं छोड़ता, तब तक ख़तरेसे खाली नहीं। २ जूनको हम लोग दार्चेकी ओर गए। जसपाका बँगला देवदारोंके बनमें है। यहाँ एक बहुत जागता देवता है, जिसके डरके मारे लोग सूखे वृक्षोंको भी काटनेकी हिम्मत नहीं करते। जिस देवदारके नीचे देवताका थान है, वह हज़ार सालका पुराना होगा। वहाँसे और आगे चलकर हम उस जगह पहुँचे, जहाँ ४ सौ वर्ष पहिले एक बड़ा गाँव था, और जैसा कि मैंने पहिली यात्रामें लिखा है, एक बूढ़ेके अपमानके कारण बगलके पहाड़से लाखों पत्थर टूटे और गाँव बरबाद हो गया। हमने जाकर वहाँ कुछ पत्थर हटाये, और उनके नीचे भोजपत्रपर तिब्बती अक्षरमें लिखे कुछ मंत्र पाये। आगे बड़े-बड़े पत्थर थे, जिनको हाथसे हटा नहीं सकते। यह तो पता लग गया, कि यहाँ कोई गाँव ज़रूर था। यदि कभी हमारे देशमें पुरातत्वका ज़्यादा शौक़ हुआ तो यहाँकी खुदाईमें बहुतसी चीज़ें मिलेंगी।

५ जूनको हम लोग खड्सर गये। ठाकुर मंगलचंदका पैतृकघर यहीं है, जिसमें कि उनके बड़े भाईके लड़के ठाकुर प्रतापसिंह और पृथ्वीचंद रहते हैं। उस युगमें इन पहाड़ोंमें दस-दस, पाँच-पाँच गांवोंके राजा हुआ करते थे। यहाँ भी वर्तमान ठाकुरोंके पूर्वज राजा रहते थे। मकान पुराने ढंगका है, उसकी चारों ओर किला था, दूरतक देखनेकेलिये एक मीनार अब भी खड़ा है। मकानके भीतर एक मंदिर है, जिसमें दो-एक पीतलकी भारतीय मूर्तियाँ हैं। कितनी ही हस्तलिखित पोथियाँ भी हैं, किन्तु घरके मालिक और पुजारी न थे, इसलिए हम देख नहीं सके।

६ जूनको दिल घबड़ा देनेवाली धूपनाथकी चिट्ठी आई। उन्होंने लिखा था "शायद अब साहेबकी अमृतबानी सुननेको न मिलेगी। जीवनशक्ति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। मैं तो निराश होकर आज घर लौटा जा रहा हूँ। शायद एक-दो दिनके बाद अशुभ सूचना आपको मिल जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं।" धूपनाथने १३ दिन पहिले की अवस्था देखकर यह पक्तियाँ लिखी थीं, जल्दी करनेपर भी मैं १२ दिनसे पहिले पटना नहीं पहुँच सकता था, तो भी चित्त चलनेको आकुल हो गया——शायद अंतिम दर्शन हो जाय। पटना छोड़ते वक़्त ऐसी कोई बात नहीं थी। अशुभकी कल्पनासे ही चित्त शून्यसा मालूम होता था। दूसरे ही दिन (७ जून) मैंने ठाकुर मंगलचंद और आनंदजीसे बिदाई ली। केलङ्से तार भेज दिया। ८ जूनको हम घोड़ेपर जा रहे थे——ठाकुर मंगलचंद भी साथ थे। रास्तेमें बूँदें पड़ने लगीं। हमारे निकलते-निकलते

पहाड़से कितने ही पत्थर आ गिरे। संयोग था जो हम आगे निकल गये थे। मैदानसे भी अधिक खतरा इन पहाड़ोंमें है—मानवजाति खतरोंमें ही पलकर तो बड़ी हुई है। गूँदलासे मैं अकेला था। साढ़े तीन बजे खोकसर पहुँचा। अगले दिन (१० जून) खोकसर हीमें रहना पड़ा। रातभर और दिनके ६ बजेतक वर्षा होती रही। यहाँ वर्षा होनेका मतलब था, रटङ्जोतपर बर्फ़का पड़ना। जबतक रास्तेके बारेमें ठीक पता न लग जाय, तबतक आगे बढ़ना अच्छा नहीं था।

नगरमें (११-२५ जून)—अगले दिन सवा पाँच बजे रवाना हुए। चढ़ाईमें बर्फ़ १ मीलसे भी कम रह गई थी। सवा दो घंटेमें जोतपर पहुँच गये। आँगनमें बर्फ़ काफ़ी थी। ३ बजेतक मनाली पहुँच गये। नारायणकी चिट्ठी मिली—घाव भर रहा है, लेकिन बुख़ार अब भी है। उरुस्वतीकी मोटर पहुँची हुई थी। आधे घंटेमें कटराईं पहुँच गये और ५ बजे उरुस्वती। दो हफ़्ते रोइरिक-परिवारके साथ रहनेका मौक़ा मिला। क्रान्तिके पहिले रोइरिक-परिवार रूसका एक धनी ज़मींदार-परिवार था। क्रान्तिके कारण दूसरे ज़मींदारों और पूँजीपतियोंकी तरह इनकी भी जायदाद ज़ब्त हो गई और कलाकार रोइरिक रूससे बाहर निकल गये। आजकल उनका परिवार अमेरिकन प्रजा है। आज भी उनके पास लाखोंकी सम्पत्ति है। मैं समझता था सफ़ेद-रूसियोंकी भाँति यह लोग भी सोवियत-विरोधी होंगी, लेकिन मेरी धारणा ग़लत निकली। सोवियत्-रूससे उनको उतना ही प्रेम है। उस वक़्त कुछ रूसी उड़ाकोंने उत्तरी ध्रुवके रास्ते अमेरिकाकी यात्रा की थी। सारी दुनियाने उनकी यात्राका स्वागत किया था। रोइरिक-परिवारके आनन्दकी कोई सीमा नहीं थी। वृद्धा रोइरिक तो और भी मृदुस्वभावकी है, वह अधिकतर योग-ध्यानमें रहती हैं। योगध्यानके प्रति मेरी तो कोई श्रद्धा नहीं है, किन्तु मैं उनके मधुर बर्तावसे अवश्य प्रभावित हुआ। प्रोफ़ेसर रोइरिक डाक्टर श्चेरवात्सकीके घनिष्ट मित्र थे। लेनिनग्राद्‌में बौद्ध-बिहार स्थापित करनेमें दोनोंने बड़ा काम किया था। उन्हें मालूम हो गया था कि मैं रूस जानेवाला हूँ, इसलिए उनकी पुरानी स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं।

यहाँ रहते हुए मैं जार्जसे रूसी पढ़ता, वह इन्दो-यूरोपीय भाषातत्त्वके पंडित हैं, इसलिए उनके साथ रूसी पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता था। जार्जने एक बड़ा तिब्बती-कोष तैयार किया था। मेरे अपने भोटसंस्कृतकोषमें कितने ही नये शब्द थे, इसलिए हम दोनों कोषोंको मिलाते जाते थे, और वह अधिक शब्दोंको नोट कर लेते थे। मैं लाइब्रेरीवाले घरके कोठेपर रहता था, जो कि परिवारके बँगलेसे कुछ

सौ गज़ ऊपर था। इसकी चारों तरफ़ बड़े-बड़े देवदारोंका घना जंगल था। दुतल्ला मकान भी देवदारकी लकड़ीका ही बना था, जिधर देखें, उधर देवदारकी सुई जैसी हरी-हरी पत्तियाँ दिखलाई पड़ती और साँसमें हर वक़्त देवदारकी सुगन्धि आती थी। मैं देवदारकी भूमिमें नहीं पैदा हुआ, लेकिन न जाने क्यों वह मुझे इतना प्रिय मालूम होता है। मैं उसे प्राकृतिक सौन्दर्यका मानदंड समझता हूँ। यहाँ मैं देवदार-वनका एक अंग बन गया था। दोपहरको खाने तथा बादमें रूसी-पाठ, कोष-मिलान और चाय-पानकेलिए नीचे जाता था, बाक़ी २० घंटे यहाँ, इस कोठेपर। पुस्तकालयमें फ्रेंच और इंगलिशकी बहुतसी पुस्तकें और अनुसन्धान-पत्रिकाएँ थीं। वहाँ पढ़नेमें बड़ा आनन्द आता था। चारों तरफ़के जंगलमें चीते आते रहते थे। यद्यपि इस ऋतुमें वह नीचेकी ओर नहीं दिखाई पड़ते थे। पहिले चीता मारनेका इनाम मिलता था, अब वह बंद हो गया था, जिससे चीतोंकी संख्या बढ़ गई थी। बाग़ोंमें फल खानेके लिए रातको रीछ भी आते थे।

३—जायसवाल मृत्युशय्यापर—२५ जूनको डाक्टर श्चेरबात्सकीके दो पत्र आए, जिनमें लिखा था कि बीसाकी कोई बात नहीं, आनेका समय लिखनेपर प्रबन्ध हो जायगा। उसी दिन चेतसिंहका तार मिला—"Condition unchanged your presence required" (अवस्था नहीं बदली, आपका रहना ज़रूरी है)।

अगले दिन (२६ जून) साढ़े ४ बजे सबेरे मैं नगरसे रवाना हुआ। पुल पार हो मोटर पकड़ी। साढ़े ५ बजे कुल्लू पहुँचा, वहाँसे लारी मिली। ४ बजे जोगिन्दर नगर पहुँचा और लाहौर होते २९ जूनको सबेरे ५ बजे पटना पहुँच गया। ३० जुलाई तक यहीं रहना पड़ा। इस समय होमियोपैथीकी दवा हो रही थी, किन्तु साथ ही इनसोलिन और ग्लूकोस भी दी जाती थी। पहिलेकी अवस्थाको तो मैंने देखा नहीं था, बतला रहे थे कि सारा शरीर और मुँह फूल गया था। घाव अब भी बहुत बड़ा था, सूजन हट गई थी। घाव थोड़ा भरा था और ज्वर १०० डिग्री था। लेकिन अब मुझे जायसवालजीको स्वस्थ-मस्तिष्क रूपमें देखनेका मौक़ा नहीं मिल रहा था। उनकी मानसिक वृत्तियाँ विशृंखलित थीं। बीच-बीचमें स्मरणशक्ति बिखर जाती थी। पासपोर्ट ५ वर्षकेलिए फिरसे नया होकर चला आया था। अगले दिन (३० जून) इन्सोलिन्का इंजेक्शन बड़ी मुश्किलसे दिया जा सका। घावमें पीव ज़्यादा थी। दिमाग़ अर्धप्रमत्त अवस्थामें था। बोलते अधिक थे। निर्बलता बढ़ गई थी।

७ जुलाईको समाचार मिला, कि कांग्रेसने मंत्रिपद स्वीकार कर लिया। जायस-

वालजीने कईवार इसके बारेमें पूछा और खबर सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ८ जुलाईको लदाखसे पत्र आया, कि गर्मियोंमें यारकंद (चीनी तुर्किस्तान)का क़ाफ़ला जायगा। अगले दिन (६ जुलाई) ब्योदोसान (जापान)का पत्र आया, उन्होंने जापान आनेकेलिए निमंत्रण दिया था। अब रूस, यारकन्द, जापान और तिब्बत चार जगहें थी, जहाँ मैं जा सकता था। लेकिन अभी तो जायसवालजीकी बीमारीको देखना था। उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। उन्होंने उस दिन न घाव धुलवाया न इंजेक्शन लिया। दिनभर यही धुन रही, कि मुझे कांग्रेसके जुलूसमें ले चलो। खादीका अचकन और पाजामा पहिना, और जबर्दस्ती अपनी चारपाईको उठवाकर बरसातीमें ले गये। दिनभर वहीं पड़े रहे। एक ओर कमज़ोरी बढ़ती जा रही थी, दूसरी ओर वह बोलते बहुत थे। वह मस्तिष्क जो गम्भीरता और सूक्ष्मतामें लासानी था, अब ५ बरसके बच्चोंकी तरहका हो गया था। दवा लेनेसे भी इनकार करते थे, घाव भी नहीं धुलवाना चाहते थे। मैंने उनके जीवनपर एक दृष्टि डालते हुए १२ जुलाईको लिखा था—"जायसवाल विद्यामें, लिखने-बोलनेमें प्रवीण रहे वह राजनीतिसे अलग रहे। इतना होते हुए भी वह हाईकोर्ट-जज या किसी दूसरे पदपर क्यों नहीं गये? किसी समय वह अधिकारियोंको भले ही प्रसन्न करना चाहते हो, किन्तु खुशामद उनके स्वभावमें नहीं थी? स्वाभिमानकी मात्रा बहुत अधिक है। गर्म मिज़ाज हैं। अच्छी प्रेक्टिस होनेपर भी रुपया नहीं जमा कर पाये, क्योंकि मितव्ययिता जानते ही नहीं। घरपर, घरके सामानपर, लड़कोंपर, यार-दोस्तोंपर आँख मूँदकर खर्च करते रहे।"

इन्हीं दिनोंमें कालेजके विद्यार्थी अलीअशरफ़से भेंट हुई। पीछे तो वर्षों हमें जेलमें साथ रहना पड़ा। बाहर साथ-साथ काम करना पड़ता था। अशरफ़ने "साम्यवाद ही क्यों?"का उर्दूमें अनुवाद करना शुरू किया था।

पंडित रामावतार शर्माका दर्शन विद्यार्थी-अवस्थामें बनारसमें हुआ था। उसके बाद भी दो-एक बार भेंट हुई थी। जब मैं बिहारमें राजनीतिक काम करने लगा, उस वक़्त तो कई बार मुलाक़ात होती। वह कितने ही बार मुझे राजनीति छोड़ अनुसन्धान-क्षेत्रमें आनेकेलिए कहते थे। अनुसन्धान-क्षेत्रमें आया और फिर पटनामें भी जाड़ोंमें रहने लगा; लेकिन जब मैं तिब्बतमें पहिली बार गया था, उसी वक़्त (३ अप्रेल १९२९) उनका देहान्त हो गया—उनका जन्म १८७७ ई०में हुआ था। वह जब जीवित थे, तब मैंने उनके "संस्कृतकोष"को जहाँ-तहाँ सुना था। २१ जुलाईको मैं उनके घरपर गया। कोषको देखा ३०१ पृष्ठमें प्रायः ६ हज़ार

श्लोकोंमें अकारादि-क्रमसे उन्होंने इस कोषको बद्ध किया है। श्लोकमें आये शब्दोंका विस्तार उन्होंने कई जिल्दोंमें लिखा था। मुखबन्धके श्लोक हैं—

श्रीदेवनारायणशर्मणः श्रीगोविन्ददेव्याश्च महामहिम्नोः,
प्रणम्य पित्रोश्चरणाम्बुजाते आचार्यं गंगाधरशास्त्रिणश्च।
रामेण सारंगभवोद्भवेन काश्यां यदारम्भि महाभिधानम्,
समापितं तत् किल विश्वविद्यामर्वस्वमेनत् कुसुमाख्यपुर्याम्॥

पंडित रामावतार शर्मामें अप्रतिम प्रतिभा थी, लेकिन उनका मन कभी स्थिर होकर एक काममें नहीं लग सकता था; नहीं तो न जाने उन्होंने कितने ग्रंथ रचे होते। यही एक ग्रंथ है, जिसके श्लोक भागको उन्होंने समाप्त किया था, लेकिन वह अब भी अप्रकाशित है।

२५ जुलाईको मालूम हुआ कि जायसवालजीकी पीठपर दो जगह और फोड़े हो गए हैं। अभी तो एक फोड़ेने ही प्राणोंको संकटमें डाल दिया था, अब क्या आशा हो सकती थी?

काश्यपजीका तार आया था, इसलिए ३० जुलाईको मैं सारनाथ गया। इस वक़्त सारनाथमें एक हाईस्कूलकी बात चीत हो रही थी। बनारस संस्कृतकालेजके पाठ्य-विधानमें भी परिवर्तन करनेकी ज़रूरत थी। युक्तप्रान्तमें कांग्रेसने-मंत्रिमंडल सँभाल लिया था। मुझे प्रयाग होते हुए लखनऊ जाना पड़ा। वहाँ शिक्षामंत्री पंडित प्यारे-लालसे बातचीत हुई। उनसे दोनों संस्थाओंके बारेमें बातें की। प्रान्तके कितने ही परिचित उस समय लखनऊमें थे, लेकिन मुझे तो पटना जानेकी फिक्र पड़ी थी। ४ अगस्तको साढ़े ५ बजे शामकी गाड़ीसे मैं रवाना हुआ, और अगले दिन (५ अगस्त) को पौने ५ बजे सबेरे पटना उतरा। पटना जंकशनसे जायसवालजीका घर बिल्कुल नज़दीक है। कुलीके साथ वहाँ पहुँचा। कुलीने बरसातीके बाहर बाँसकी अर्थी पड़ी देखकर कहा "यहाँ तो अर्थी है"। देखते ही दिल सन्न हो गया। आखिर वह अत्याहित होकर ही रहा। मालूम हुआ, कल (४ अगस्त) सवा ६ बजे शामको जायसवालजीने प्रयाण कर दिया। ३ ज़हरबादोंने जीवनको समाप्त कर दिया। बतला रहे थे, स्मृति अन्त तक क़ायम रही। लेकिन वह स्मृति वही रही होगी, जिसे मैं देखकर गया था। मैंने अपने हृदयोद्गारोंको ५ अगस्तकी डायरीमें लिखा था—"हा मित्र! हा बंधु! हा गुरो! अब तुम मना करनेवाले नहीं हो, इसलिए हमें ऐसा-वैसा कहनेसे कौन रोक सकता है। हो सकता है तुम कहते—हमने भी तो आपसे सीखा है, किन्तु

तुम नहीं जानते (कि) मैंने कितना तुमसे सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण ! अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओंकी इस अभागे देशको बहुत ज़रूरत थी। आह ! सभी आशाएँ ख़ाकमें (मिल गईं) !! जायसवाल ! ओः ऐसा !! दुनियाकेलिए (कुछ) करना ही होगा, तुम्हारे बहुतसे स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरोंके दिलसे वियोगके दुःखको क्षीण भले ही करता जायगा, किन्तु स्मृति उसे दिनपर दिन ताज़ी करती जायगी, तुम्हारा वह सांगोपांग भारतका इतिहास तैयार करने और साम्यवादकेलिए मैदानमें कूदनेका ख्याल !! हा ! वंचित श्रमिकवर्ग !! सहृदय मानव ! निर्भीक अप्रतिम मनीषी ! दुनियाने तुम्हारी क़दर न की" !!

साढ़े ८ वजे श्मशान-यात्रा आरंभ हुई, मैंने भी अर्थीमें कंधा लगाया। राजेन्द्रबाबू, कांग्रेस-मंत्री डाक्टर महमूद और अनुग्रह बाबू, हाईकोटके जज और कितने ही मंत्री श्मशान तक गए। गंगाके किनारे चिता चिनी गई, और साढ़े ११ बजे तक शरीर जलकर राख हो गया, राख गंगामें बहा दी गई, अब मेरा हृदय खाली था।

२,३ दिन तक मैं जायसवालजीकी चिट्ठियोंमेंसे कितने ही महत्त्वपूर्ण पत्रोंको छाँटनेमें लगा था। मैं उनकी एक जीवनी लिखना चाहता था, लेकिन उस वक़्त वह काम नहीं हो सकता था।

३ सितम्बरतक पटना हीमें रहा। १६ अगस्तको डाक्टर श्चेरवात्सकीका पत्र आया। उसमें लिखा था कि तेहरानमें मेरा बीसा तैयार है। अब रूस जाना निश्चित था। कुल्लूसे सेविंग बैंकका रुपया मँगवाया। ३० अगस्तको यह भी मालूम हुआ, कि बिहार सरकारने तिब्बत जानेकेलिए ६ हज़ार रुपया मंजूर किया है। लेकिन अभी तो पहिले रूस हो आना ज़रूरी था। पटनामें रहते हुए मैंने "गांधीवाद और साम्यवाद", "दिमाग़ी ग़ुलामी", "ज़मींदारीप्रथा" आदि कई लेख लिखे।

बनारस होते हुए ४ सितम्बरको प्रयाग पहुँचा। यहाँ कालेजके छात्रोंने व्याख्यान देनेकेलिए ज़ोर दिया। पहिला व्याख्यान ६ सितम्बरको विश्वविद्यालयके छात्रोंके सामने पंडित जवाहरलालके सभापतित्वमें "हमारी कमज़ोरियों"पर हुआ। दो और व्याख्यान हुए।

मेरे पास अभी सात-आठसौ ही रुपये थे, प्रयागमें कुछ और रुपयोंका इन्तज़ाम हुआ, जिसमें १०० रुपया पंडित जवाहरलालजीने दिये। उनसे रुपया लेना मुझे ठीक नहीं जँचता था, लेकिन इनकार भी नहीं कर सकता था। ११ बजे दिल्ली पहुँचा। पासके रुपयोंको देकर टामस कूकसे ६० पौंडके ट्रेवलर्स-चेक लिये। मुझे ईरानके

रास्ते जाना था, और ईरान-कौंसल उस समय शिमलामें था। मैं उसी रात शिमलाके लिए रवाना हो गया। १२ सितंबरको शिमला पहुँचा। रायबहादुर काशीनाथ दीक्षित और मिस्टर एन्० सी० मेहता के यहाँ ठहरा। विपिन बाबू एसेम्बलीकी बैठककेलिए शिमला आये हुए थे, उन्होंने भी कोशिश की और १४ सितम्बरको ईरानका बीसा मिल गया। दूसरे दिन मैं दिल्ली पहुँचा। अभीतक मेरे पास सिर्फ़ ६० पौंड थे, जो पहलवी पहुँचकर ४० पौंड ही रह जाते। इसके बारेमें मैंने अपने विचारको लिखा था—"अच्छा, अँधेरेमें कूदनेकी तो अपनी आदत ही है।" प्रयागसे कुछ और रुपया आ गया और मैंने ४० पौंडके और चेक ले लिये। अब मेरे पास सौ पौंड और एक सौ अस्सी रुपये थे।

१७ तारीख़को मैंने दिल्लीसे प्रस्थान किया। १९ सितम्बरको ट्रेन साढ़े १ बजे क्वेटा पहुँची। होटलकी तजवीज़ ही कर रहा था, कि उसी समय दो आर्य-समाजी सज्जन आ गये। उन्हें पंडित इन्द्रने दिल्लीसे लिख दिया था। आर्यसमाजमें गया। भूकम्पसे उजड़ा क्वेटा बस रहा था। दूकानें बहुतसी बन गई थीं, किन्तु शहर अभी आबाद नहीं हुआ था। यहाँ आसपास बाग़ बहुत हैं, पानी मीठा और बहुत अच्छा है। ईरानी ढंगकी ज़मींदोज़ नहरें भी निकाली गई हैं।

उस वक़्त क्वेटासे नोक्कुण्डीको हफ़्तेमें सिर्फ़ एक ट्रेन जाती थी और सो भी सोमवारको।

२० सितम्बरको हमारी ट्रेन साढ़े ११ बजे दिनको रवाना हुई। साढ़े ११ रुपये में नोक्कुण्डीका ड्योढ़ेका टिकट मिला। हमारे डिब्बेमें सरदार रामसिंह एक दूसरे सज्जन भी ईरानकी सैरकेलिए जा रहे थे। यह गाड़ी सिर्फ़ मुसाफ़िरों हीकेलिए नहीं थी, बल्कि रास्तेमें रेलवे नौकरोंको वह रसद, तनख़्वाह और पानी भी देती चलती थी। हर लांडी (क़ुलियोंकी बैरक)में उसे ठहरना पड़ता था। दालबन्दीसे पहिलेवाला स्टेशन एक सौ मीलसे ऊपर है और दालबन्दीसे अगला नोककुण्डीका स्टेशन भी १०० मीलसे ऊपर है। गाड़ी भी धीरे-धीरे चलती है। २१ तारीख़को ढाई बजे दिनको हम नोक्कुंडी पहुँचे। पासपोर्ट देखा गया। पचीस रुपये देकर पचीस तुमान भुनाये। कुछ चीज़ें ख़रीदीं। ६ रुपया जाहिदानका किराया देकर लारीपर बैठे। दो बजे रातको एक ख़ाली लांडीमें सो गये। सबेरे ७ बजे फिर रवाना हुए। अँगरेज़ी सीमान्त-चौकी, क़िला-सफ़ेद ३ मील रह गया, तो पेट्रोल ख़तम हो गया, लारी वहीं खड़ी हो गई। टहलते हुए चौकीपर पहुँचे। पासपोर्ट दर्ज किया गया।

२६

ईरानमें दूसरी बार

क़िला सफ़ेदसे मीरजावा बहुत दूर नहीं है। सभी लॉरियाँ वहाँ जाकर खड़ी हो गईं। गुमरग (कस्टम्)के सामने अब चीज़ोंकी देखभाल शुरू हुई। मेरी पुस्तकोंका ट्रंक पहिले खुला। किताबोंको देखते ही अफ़सरके ऊपर प्रभाव पड़ा। पूछनेपर मैंने बतलाया कि मैं लेखक और अध्यापक हूँ। फिर मेरे सामानको उसने मामूली तौरसे देखा, पासपोर्टको भी जल्दी लौटा दिया। एक हिन्दुस्तानी मुसल्मान तीर्थ-यात्राकेलिए गये थे। उनके सामानमें सेरों रोटी, मांस और दूसरी खानेकी चीज़ें थीं। बेचारोंने सुन रखा था, कि ईरानमें हराम-हलालका कोई भेद नहीं है, इसलिए खानेकी इतनी चीज़ें लेकर चले थे, जिसमें उन्हींको खाकर देशको पार कर जायँ। अफ़सरने मुस्कुराते हुए कहा—आग़ा ! तो फिर मिट्टी और पानी भी क्यों साथ नहीं लाये। तीर्थयात्रियोंकी चीज़ोंके देखनेमें उसने बहुत पूछ-ताछ की। ईरानी अफ़सर जानते हैं कि हिन्दुस्तानी तीर्थयात्री अपने देशमें जाकर हमारी निन्दा ही निन्दा करेंगे, इसलिए वह उनके साथ कोई मुरव्वत नहीं दिखाना चाहते थे। मीर-जावामें अब एक भोजनालय भी खुल गया था। मालकिन ईरानी महिला बिलकुल युरोपियन पोशाकमें थी। दो साल पहिले मैं जिन काली चदरोंको देख गया था, अब स्त्रियोंने उन्हें उतार फेंका था। ५ रियाल (प्रायः आठ आना) देकर भोजन किया। ३ बजे शामको रवाना हुए। सड़क पहिलेसे अच्छी और काफ़ी चौड़ी थी। १० बजे रातको हम जाहिदानके गुमरगमें पहुँचे। सिपाहीने ख़ामख़ाह तंग करना शुरू किया। वह बक्स हमें साथ नहीं ले जाने देना चाहता था। सरदार रामसिंहने ५ रियाल उसके हाथमें थमाया, और हमें छुट्टी मिल गई। रेस्तोराँमें भोजन किया, और सरदार रामसिंहके दोस्त सरदार मानसिंहके यहाँ ठहरे।

पिछले दो सालोंमें जाहिदानमें बहुत परिवर्त्तन हो गया था। क़सबेके भीतरकी रेलकी पटरियाँ उखाड़ दी गई थीं। कितने ही नये मकान बन गये थे। सड़कें चौड़ी कर दी गई थीं। एक अच्छा रेस्तोराँ था, जिसमें खिलाड़ियोंकेलिए दो बिलियर्ड-की मेज़ें रखी थीं। औरतें पूरी युरोपियन पोशाकमें थीं, और सड़कोंपर स्वच्छन्द घूम रही थीं। मदरसाका नाम अब दबीरस्तान हो गया था, क्योंकि मदरसा अरबी शब्द था। ईरानी अपनी भाषाका शब्द रखना चाहते हैं। नज़्मियाँ (कोतवाली)

भी शहरबानी बन गई थी। सरदार रणवीरसिंह यहीं मिल गये, मालकेलिए तेहरानसे यहाँ आये हुए थे। पता लगा कि चाहेबहार एक नया बन्दर होने जा रहा है, और सेमनानका मिट्टीका तेल अमेरिकन लोग पाइपके द्वारा इसी बन्दरपर ले जाना चाहते हैं।

अगले दिन (२४ सितम्बर) १६ तुमान देकर हम मशहदकी बसपर बैठे। गर्मासिंह दूसरे रास्तेसे जानेवाले थे, लेकिन हमारी बसपर लखनऊके हादीहुसेन और उनका परिवार चल रहा था। ४ बजे शामको बस रवाना हुई। रास्तेमें एकाध जगह खाने-पीनेकेलिए थोड़ी देर ठहरे, नहीं तो लगातार दौड़ने ही रहे। भला ऐसी आफ़तमें छोटे बच्चोंकी तन्दुरुस्ती कैसे ठीक रह सकती थी। हादीहुसेनकी दूध पीने-वाली बच्ची बहुत बीमार हो गई। अगले दिन (२५ सितम्बर)के एक बजे हम बिरजन्दमें पहुँचे। बच्चीकी बीमारी बहुत बढ़ गई थी। ड्राइवर भलामानुस था, नहीं तो कौन वहाँ बस लेकर ठहरता? मैं ब्रिटिश वाइस-कौंसलके पास गया। वह पेशावरी पठान और डाक्टर भी थे। उन्होंने आकर देखा और दवाई दी। उस दिन हम वहीं रह गये।

अगले दिन (२६ सितम्बर) ७ बजे रवाना हुए। रास्तेमें एक जगह दो टायर उड़ गये, मोटर रुक गई। कोई दूसरा टायर नहीं था। अंतमें पीछेकी चार पहियोंमेंसे दोके टायरोंको हटा लिया गया, और उन्हींको आगे लगाकर हम किसी तरह खिदरी गाँवमें पहुँचे। आज यहीं रहना था। सर्दे बहुत मीठे मिल रहे थे, और मुर्ग़का मांस भी बहुत सस्ता था।

२७ सितम्बरको सबेरे साढ़े ६ बजे बस फिर रवाना हुई। दो पहियोंकेलिए टायर नहीं मिल सके, इसलिए चार ही पहियेपर बस चलाई गई। बोझ हल्का करनेके-लिए तीन सवारियाँ उतार दी गई और आगे कोई सवारी नहीं ली गई। मेहना एक अच्छा सा गाँव है, बस वहाँ थोड़ी देरकेलिए ठहरी। पासमें दबीरस्तान (पाठशाला) थी, जहाँ सौके क़रीब लड़के-लड़कियाँ पढ़ती थीं। हम ज़रा देरकेलिए वहाँ ठहरे। हादीहुसेनकी १० बरसकी लड़की बुरक़ा पहने वहाँ आके खड़ी हो गई। थोड़ी देरमें सारे लड़के और लड़कियाँ जमा हो गये। पहिले वह बुरक़ेकी ओर देखते रहे, फिर उन्होंने दोनों हाथोंसे बुरक़ेकी ओर इशारा करके चिढ़ाना शुरू किया। बेचारी शाह-ज़ादी भाग आई। मैंने हादीहुसेनसे कहा—भैया! लड़कियोंका यह बुरक़ा लख-नऊमें ही छोड़ आते, कमसे कम यहाँ तो इसे हटवाओ, नहीं तो बेचारी कहीं घूम-फिर नहीं सकेगी।

उसी दिन ८ बजे रातको हम मशहद पहुँच गये। गुमरग्में चीज़ें उलटी-पुलटी गईं। यहीं तेहरान जानेवाली बस खड़ी थी। मैंने आठ तुमान किराया भरा और सामानको उसपर रखवा लिया। ११ बजे रातको बस खानेकेलिए एक जगह ज़रासी ठहरी, नहीं तो सारी रात चलती रही। अगर पीठकेलिए ओठँगनी होती, तो उतना कष्ट नहीं होता। शब्ज़वार, शाहरूद होते दम्गानमें रातको ठहरना पड़ा। आज रातभर सोनेका मौक़ा मिला।

अगले दिन (२९ सितम्बर) रास्ता ऊँचा-नीचा था। सेमनान् आया। दो बरसमें उसकी कायापलट हो गई। यहाँ मिट्टीका तेल निकलता है, अमेरिकन कम्पनीका कारबार है, अमेरिकन ढंगके आलीशान मकान बने हैं, सड़कें बहुत अच्छी बन गई हैं, बिजलीकी रोशनी लग गई है।

शहरसे दो-तीन मील आगे बढ़नेपर मोटरका दाहिनी ओरका अगला पहिया गड़ारीकी तरह लुढ़कता हुआ सन्नसे निकल गया। ख़ैरियत यही हुई कि यह घटना पहाड़ीपर नहीं हुई, नहीं तो मुसाफ़िरोंमेंसे बहुत कमकी जान बचती। ३ बजे दिनको हमने रेलवेलाइन पार की। यह रेल तेहरानसे बन्दरशाह (कास्पियन) जाती है। आगे फ़ीरोज़कुह मिला। इसकी भी कायापलट हो गई है—बाज़ार नया है, सड़कें चौड़ी हैं। साढ़े ६ बजे मोटर ख़राब हो गई, और एक बजे राततक उसकी मरम्मत होती रही।

तेहरानमें (३० सितम्बर—८ नवम्बर)—अगले दिन पह फटते-फटते हम तेहरान-में दाख़िल हुए। मेरे पास ईरानी सिक्का नहीं रह गया था। ढाई तुमान किरायेका बाक़ी रहता था, मैं अपना बिस्तरा छोड़ गया, और पीछे चेक भुनाकर पैसा देकर उसे ले गया। सरदार रणवीरसिंहने अपने आदमीको चिट्ठी लिखी थी; उन्होंने "मुसाफ़िरख़ाना-वतन"में ६ रियाल रोज़ानापर एक कमरा दिलवा दिया। जगह अच्छी थी, होटलके मालिक ५, ६ बरस पहिले बाकूसे भाग आये थे। सारा परिवार बूढ़ेको कोस रहा था। वह बाकूमें अच्छी तरह थे, किंतु, बूढ़ेको शराब और अफ़ीमका उतना सुभीता नहीं था। उस वक़्त प्रथम पंचवार्षिक योजनाके कारण सारे देशको थोड़ी तकलीफ़ हो रही थी। बूढ़ा पत्नी और पाँच बच्चों—जिनमें एक पिंगलकेशी लड़की भी थी—को लेकर ईरान भाग आया। यद्यपि यह लोग तुर्क हैं, लेकिन सफ़ेद ख़ून इतना अधिक है, कि देखनेमें रूसी मालूम होते थे, और तुर्कीकी भाँति ही वह रूसी भी बोलते थे। मैं रूस जानेवाला था, इसलिए मेरे आरामका वह लोग और ज़्यादा ख़्याल करते थे। अब सोवियत् बीसाकी खोज-ख़बर लेनी थी। मैंने समझा था, बीसा

वहाँ तैयार होगा, लेकिन क़रीब एक महीनेकी दौड़-धूप और तार खटखटानेके बाद ६ नवम्बरको वीसा आनेकी ख़बर मुझे मिली। काग़ज़ उलटने-पुलटनेमें पता लगा, कि जून महीनेमें ही मुझे बीज़ा दे देनेका तार आया था। इसी तारको देखकर मेरे पासपोर्टपर बीसा दर्ज भी कर दिया गया। मैं जब बीज़ा लेने गया, तो देखा, कि बीज़ा लिखकर कटा हुआ है। सेक्रेटरीने बतलाया, पीछेके तारमें हमें हुकुम दिया गया है कि, बिना मास्कोसे आज्ञा मँगाये किसीको बीज़ा मत दो, इसीलिए इसे काटना पड़ा। फिर तार और लिखा-पढ़ी शुरू हुई। अन्तमें ६ नवम्बरको कौंसल-जनरलने ख़बर दी, कि बीज़ा आ गया। मैं बहुत परेशान था। मैं सिर्फ़ अपनी ही तरद्दुदको देखता था, मुझे क्या मालूम था कि सोवियत्-सरकार कितनी तरद्दुदके भीतरसे पार हो रही है। साम्यवादी सरकारको उलट देने, लाल क्रान्तिको ख़तम कर देनेकेलिए त्रोत्स्कीने जर्मनी और जापानकी फ़ासिस्ट-सरकारोंके साथ मिलकर षड्यन्त्र किया था, सोवियत्के भीतरके कुछ देशद्रोही सेनापतियों और राजनीतिज्ञोंने उसका साथ दिया था। षड्यन्त्रका भंडा-फोड़ हो गया था, और सोवियत् सरकार क्रान्तिके इन दुश्मनोंको चुननेमें लगी हुई थी। इस वक़्त बाहरसे आनेवालोंकेलिए वह उतनी सहूलियत नहीं दे सकती थी। अगले दिन लाल-क्रान्तिका बीसवाँ वार्षिकोत्सव सोवियत्-दूतावासमें मनाया जानेवाला था। मेरे पास भी निमंत्रण आया था। मैं शामको दूतावासमें गया। कौंसलके सेक्रेटरीने सोवियत्-दूतसे परिचय कराया। एक जगह एक लम्बी मेज़पर बहुत रंगके खाने चुने हुए थे। उत्सवके उपलक्ष्यमें नृत्य होनेवाला था। नृत्यके खानेको कुर्सीपर बैठकर नहीं, खड़े ही खड़े खाना होता है, मुझे यह शिष्टाचार कहाँ मालूम था। सेक्रेटरीके साथ खड़े होकर मैंने चार-पाँच नवाले खाये। कितने ही तरुण और सुन्दरियाँ नाचनेकेलिए तैयार थीं। सेक्रेटरीने मुझे भी किसी सुन्दरीके साथ नाचनेकेलिए कहा, लेकिन मैंने ज़िन्दगीमें कब नाचना सीखा था कि अखाड़ेमें उतरता। मैंने किसी तरह कह-सुनके पिंड छुड़ाया। थोड़ी देरतक बैठकर नाच देखता रहा। ८ जोड़ियाँ अखाड़ेमें उतरी थीं, और बाजेके ऊपर थिरक रही थीं। उनमें हमारे परिचित सेक्रेटरी भी थे। सभी युरोपीय दूतावासोंसे नर-नारी आकर नाचमें भाग ले रहे थे। कुछ देर बाद मैं वहाँसे उठकर चला आया। बाहर आनेपर मालूम हुआ, कि किसी दूसरेका हैट (टोप) मुझे दे दिया गया है। लौटकर गया, तो बहुत ढूँढ़नेपर भी आदमी मेरे हैटको नहीं पा सका। मुझे जो हैट मिला था, वह मेरे सिरसे बड़ा था। ९ नवम्बरको मुझे बीज़ा

मिल गया। इन्तूरिस्तने लेनिनग्राद तकका जहाज़ और रेलवेका टिकट भी दे दिया।

मैं तेहरानमें सवा महीनेसे ज़्यादा रह गया था। बेकारीका समय काटना बहुत मुश्किल होता है, मैं कभी होटलके मालिक दोनों बड़े लड़कोंसे बात करता, कभी शहरमें घंटों घूमा करता। तेहरानमें २०से ऊपर सिनेमाघर हैं, जिनमें जर्मन, फ़्रेंच, अमेरिकन, मिश्री और रूसी फ़िल्म दिखलाये जाते थे। प्रायः मैं रोज़ ही किसी न किसी फ़िल्ममें चला जाता था। रूसी फ़िल्म मुझे बहुत पसन्द आते थे। एक दिन "वोल्गाके मज़दूर" फ़िल्म देखनेको मिला। यह सभी दृष्टिसे अच्छा था। वोल्गा नदी, पासके पर्वत और जंगलके विस्तृत प्राकृतिक दृश्य बड़े सुन्दर तौरसे दिखलाये गये थे। मछुवोंके भोजनालय और उनके नाचको बहुत ही स्वाभाविक रूपमें चित्रित किया गया था। यह क्रान्तिके पहिलेके समाजका चित्रण था। जेनर और ज़ार-शाही अफ़सर अपनी भड़कीली वरदियोंमें हेकड़ी दिखा रहे थे, दूसरी ओर मजूरों-का कठोर जीवन था। ईरानी बीज़ाकी मियाद बीत रही थी, इसलिए मियाद बढ़-वानेकेलिए मुझे कई दिन भटकना पड़ा। अफ़सर दूसरोंकी तकलीफ़का ज़रा भी ख्याल नहीं करते थे। किसीको १३ रियाल देने हैं, वह दस और पाँचके दो नोट दे रहा है। अफ़सर कहता है—"जाओ भुनाकर लाओ।" कोई अपने दो-तीन दोस्तोंके पासपोर्टोंका बीज़ा कराने लाया। हुकुम हुआ—"जाओ उनके हाथसे पासपोर्ट भिजवाओ।" कोई देशसे बाहर जानेकी आज्ञा (जावाज-खरुज) माँग रहा है। हुकुम होता है—"जाओ, दो दिन बाद आना।" मुझे एक मासकी मियाद बढ़वानी थी, हुकुम हुआ—"जाओ, अर्ज़ी लिखवाकर लाओ।"

हमारे ही होटलमें मक्खड़ (केम्बलपुर)के एक सौदागर हाफ़िज़ साहब ठहरे हुए थे। हम लोगोंकी ख़ूब दोस्ती हो गई। मैं तो बाहर रेस्तोराँमें जाकर खाना खा आता था, लेकिन हाफ़िज़ साहेब अक्सर मांसका तेवन अपने ही स्टोवपर बना लिया करते थे। हाफ़िज़ साहेबने बहुत आग्रह करके मुझे भी शामिल करना शुरू किया। ५ नवम्बरको रमज़ानका पहिला दिन था। सारे होटलमें हाफ़िज़ ही अकेले थे, जिन्होंने रोज़ा रखा था। कुछ लोग बैठे बात कर रहे थे। एकने कहा—"भाई, रमज़ान आ गया है।" दूसरेने जवाब दिया—"किरमानशाह जा रहे हो, उधर ही छोड़ आना।" हमारे होटलकी मालकिन कह रही थीं—"अजी मर्द रोज़ा रखें तो रखें, क्योंकि उन्हें ७० हूरें (अप्सरायें) मिलेंगी, लेकिन औरतें क्यों रखें? क्या ६९ सौतोंके पानेकेलिए"! एक सज्जन कह रहे थे—"ख़ुदाको चाहिए था, तीस रोज़ोंको १२ महिनोंमें बाँट देता और दिनकी बजाय रातको रोज़ा रखनेके-

लिए कहता"। मैंने कहा—"भाई ! बूढ़ा उस वक़्त कब्रके पास पहुँच गया था, उसकी अक़्ल मारी गई थी"। १० ही साल पहिले रमज़ानके दिनोंमें सारे भोजनालय बन्द हो जाते थे, दिनमें यदि किसीके घर धुआँ निकलता देखाई देता, तो सिपाही उसे पकड़ ले जाते और पीटते ? लेकिन आज सारे रेस्तोराँ खुले थे। पहिले ही जैसी चहल-पहल थी। बेचारे हाफ़िज़की मुश्किल थी। बारी-बारी करके सब उनके पास पूँछने आए—"हाफ़िज़ ! शुमा रोज़ा दारी। (हाफ़िज़ ! तुम रोज़ा धारे हो) ? शामको हाफ़िज़ने मुझसे कहा—"भाई ! मैं कलसे रोज़ा नहीं रखूँगा।"

लेकिन अगले दिन मालकिनका दूसरा लड़का पहुँचा। उसने हाफ़िज़ साहबसे कहा —"हाफ़िज़ ! आज बड़े तड़के एक सफ़ेद दाढ़ीवाला पुरुष हमारे होटलमें आया था, उसके चेहरेसे नूर बरस रहा था, उसके कंधोंपर दो बड़े-बड़े पंख थे। वह रोज़ेका हिसाब रखनेवाला फ़रिश्ता था। उसने पहिले कमरेके दरवाजेपर दस्तक दी। दरवाजा खोलनेपर पूछा—तुम रोज़ा धारे हो। जवाब नहींमें मिला। दूसरे दरवाजेको भी खटखटाया, वहाँ भी जवाब नहीं में मिला। ७,८,दरवाजोंके खटखटानेके बाद वह अपना रजिस्टर बगलमें दाबे लौट गया। हाफ़िज़ ! तुम्हारा तो रोज़ा दर्ज ही नहीं हुआ, क्या ख़ाक ७० हूरें तुम्हें मिलेंगी ? रोज़ा रखना था तो पहिले कमरेमें ठहरना चाहिए था !"

इधर-उधर घूमते-घामते एक दिन फारसीके प्रोफ़ेसर आगा हुमाईसे परिचय हो गया। अफ़सोस, यह परिचय पहले होता, तो और भी दिन अच्छी तरह कटते। वह असफ़हानके रहनेवाले थे, और कई पीढ़ियोंसे उनके घरमें विद्वान् मौलवी होते आए थे। हुमाई अंग्रेज़ी या फ्रांसीसी नहीं जानते थे, इसलिए मुझे फ़ारसी हीमें सब कुछ कहना पड़ता था। १८ तारीखको साढ़े चार बजे शामसे सवा ९ बजे रात तक हम साथ रहे। इस वक़्त वह अलबेरुनीकी पुस्तक "तफ़्हीम्" का संपादन कर रहे थे। कभी फ़ारसी भाषा, कभी ईरानके इतिहास और कभी हिन्दी-ईरानी जातियोंके संबन्धमें बात होती रही। २० अक्तूबरको भी ५ बजे तक मजलिस जमी रही। उन्होंने बतलाया कि असफ़हानके किसी पुलके पत्थरपर ब्राह्मी अक्षर खुदे हुए हैं। एक दिन कह रहे थे, हम लोगोंने तो मज़हबको उठाकर ताकपर रख दिया, हिन्दुस्तानकी हालत क्या है ? मैंने कहा—"आगा ! बेचारा मज़हब सारी दुनियाँसे निकाला जा रहा है, उसकेलिए भी तो कहीं शरण मिलनी चाहिए।" वह "दानिशकदा" (कॉलिज) में पुरानी फ़ारसी भाषाके अध्यापक थे। उन्हें भाषातत्त्वकी शिक्षा नहीं मिली था, लेकिन शौक़ बहुत था। उनके पास शमसुल-उलमा आज़ादकी तत्संबंधी उर्दूकी एक किताब थी। उसमें आए

अरबी-फारसी शब्दोंके बल पर समझनेकी कोशिश करते थे। वह कह रहे थे, उसे हमारी भाषाका व्याकरण अभी तक अरबी व्याकरणके ढाँचेपर लिखा जाता रहा है। अरबी भाषाका हमारी भाषासे कोई संबंध नहीं है, इसलिए यह सारे व्याकरण अधूरे हैं। मैंने कहा यदि आप अपने व्याकरणको संस्कृतसे मदद लेकर लिखें, तो वह ज्यादा अच्छा होगा। कई दिनों तक हमारी बैठकमें व्याकरणके ढाँचेपर बहस होती रही। कभी सुबन्तकी चर्चा छिड़ती, कभी तिङन्तकी, कभी कारक आता, तो कभी स्त्री-प्रत्यय। कृदंत और तद्धितके प्रत्यय फ़ारसीमें भी मिलते हैं। टावंत स्त्री-प्रत्यय तो बहुत ज्यादा हैं—जैसे हम-शीरा। मैंने कहा—यह संस्कृतमें सम–क्षीरा होगा। मैंने एक दिन कहा—हिन्दी-योरोपीय जातियोंका पहिला विभाजन जो हुआ था, उसे विद्वान् लोग सौके पर्याय शब्दको लेकर शतम् और केन्टम्के नामसे पुकारते हैं। शतम् परिवार आगे दो टुकड़ोंमें बँटा—एक आर्य दूसरा स्लाव; स्लाव रूसी लोग हैं, और आर्य नाम हिन्दियों और इरानियोंने अपनेलिए सुरक्षित रखा। संस्कृत और स्लाव भाषाओंमें जो समान शब्द या धातु मिलते हैं, उनको ज़रूर इरानी भाषामें होना चाहिए। एक दिन हम "पीना" धातुपर विचार कर रहे थे। साहित्यिक फ़ारसीमें "पीना" का बिल्कुल उपयोग नहीं होता, फिर हममेंसे किसीने प्यालाका नाम लिया और अंतमें हुमाईने लोरी या किसी दूसरी प्रान्तीय भाषामें "पीना" का प्रयोग भी ढूँढ़ निकाला।

९ नवम्बरको साढ़े तेईस तुमानमें पहलवी तककेलिए मोटरकारमें एक सीट मिली। ५ मील चले जानेपर मालूम हुआ, कि चेकको मैं सरदार रघुवीरसिंहके यहाँ छोड़ आया हूँ। फिर कार पीछे लौटाई गई और चेक लेकर साढ़े छ बजे हमने तेहरान छोड़ा। पौनेतीन घंटेमें कज़वीन पहुँचे। भोजन करनेमें एक घंटा लगा। फिर पहाड़ियों और घाटियोंको चढ़ते उतरते ढाई बजे रातको रश्त पहुँचे। पहाड़से उतरकर जैसे ही गेलानमें पहुँचे, तैसे ही सर्दी कम हो गई। वैसे सर्दीसे मैं निश्चिन्त था, क्योंकि मैंने चमड़ेके पतलून, कोट और ओवरकोट बनवा लिए थे, जिनपर ३५ तुमान खर्च हुए थे। चमड़ेका मोजा और कनटोप भी साथमें था। रातको रश्तमें सोए। पिछले दो सालोंमें रश्तमें भी काफ़ी परिवर्तन हुआ था। सड़कें चौड़ी, कितने ही बड़े-बड़े मकान बन गये थे, मेहमानखाने (होटल) अच्छे थे।

आज (१० नवंबर) जब साढ़े आठ बजे हम रश्तसे चले, तो आसमानमें बादल घिरा था। गढ़होंमें पानी भरा था, चारों ओर हरियाली, घास और जंगल था। नदियोंमें पानी बह रहा था। धानके खेत कट चुके थे। वर्षाकी अधिकताके कारण

छतें कच्ची मिट्टीकी नहीं हैं। गेलान-प्रान्तकी सारी भूमि उपजाऊ है, लेकिन अभी वह सब आबाद नहीं हैं। यहाँका चावल बहुत मशहूर है। १ घंटेमें हम पहलवी पहुँच गये, और १५ रियाल रोज़ानाका एक कमरा लेकर ग्रांद-होतलमें ठहरे। दिल्लीसे पहलवीतक रेल और मोटरका खर्च एक सौ तीन रुपये आया था। मालूम हुआ, कि जहाज़ अगले दिन जायगा। उसी दिन मैं इनतूरिस्तके पास जाकर टिकट बनानेकेलिए कह आया।

२७

सोवियत्-भूमिमें दूसरी बार (१९३७-३८ ई०)

मैंने जहाज़के तीसरे दर्जेका टिकट लिया था। इसमें सोनेकेलिए लकड़ीके तख्ते थे। मेरे सिवा दो इतालियन-दम्पती भी इसी दर्जेमें चल रहे थे। अँधेरा होनेपर जहाज़ रवाना हुआ। सोवियत् का जहाज़ था। समुद्र शान्त था।

अगले दिन १२ नवम्बर कास्पियन-सागरके पच्छिमी तटके नंगे पहाड़ दिखाई दे रहे थे। समुद्र इतना निस्तरंग था, कि देखनेमें शांत झीलसा मालूम होता था। हम एक पहाड़ी टापूके पाससे गुज़रे। वहाँ मछुओंके कुछ घर थे। ११ बजे जहाज़ बाकू बन्दरके तटसे जाकर लगा। कस्टमवाले अफ़सरने चीज़ोंको देखा, तालपोथीके पत्रोंको गिनकर उसने पासपोर्टपर लिख दिया, जिसमें कि देशके बाहर जानेपर उसकेलिए कोई रुकावट न हो। उसे शायद कुछ पता लग गया था। उसने पूछा—"हिन्दुस्तानसे जो विद्वान आनेवाले थे, आप वही तो नहीं हैं"। मैंने कहा—"शायद, क्योंकि मैं सोवियत एकदमीके निमंत्रणपर जा रहा हूँ।" मोटरकार मुझे इनतूरिस्त होटलमें ले गई। मैं समझता था, उसी पुराने सतमहले मकानमें जाना होगा, लेकिन देखा यह एक बिल्कुल नया चौमहला प्रासाद है। यह एक ही साल पहिले तैयार हुआ था। इसमें ७६ कमरे थे। हरेक कमरेके भीतर दो मेज़, तीन कुर्सियाँ, एक आलमारी, एक चारपाई और एक टेलीफ़ोन था। स्नानघर भी पासमें था, सफ़ाई और आराम दोनों हीका अच्छा प्रबन्ध था। भोजनशाला बहुत सुन्दर थी और भोजन तो इतना सुन्दर कि आदमी अपनेको सँभाले नहीं, तो अपच होनेका डर था। शामको ५ बजे मोटरसे घूमने निकले। २ वर्ष पहिले मैंने जिस बाकूको देखा था, उससे अब बहुत परिवर्त्तन हो गया था। अनेकों बड़े-बड़े मकान बन

गये थे। पार्क (उद्यान) भी अब ज्यादा मनोरम मालूम होता था। अब बाकूमें ऊनी कपड़ेकी भी मिलें खुल रही थीं।

मास्कोको—अगले ही दिन (१३ नवम्बर) मैं स्टेशनपर गया। पथप्रदर्शकने ७वीं गाड़ीकी १६वीं सीटपर मुझे पहुँचा दिया। मेरे डब्बेमें मुझे छोड़ और कोई परदेशी नहीं था। पिछली बार मैं रातके वक्त इधरसे गुजरा था, इसलिए समझ रखा था कि यह सारी भूमि और पहाड़ रूखे-सूखे होंगे, लेकिन यहाँ तो खूब जंगल और हरियाली थी। पहाड़ोंपर कितने ही गाँव बसे थे। हाँ, जाड़ेके कारण पत्तियाँ पीली पड़ने लगी थीं। एक कल्खोज (पंचायती खेतीवाले गाँव)की अंगूर-लतायें पीली पड गई थीं। शामको दरबन्द (द्वारबंध) पहुँचे। दरबन्द सैनिक दृष्टिसे उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, जितना कि हिन्दुस्तानकेलिए खैबर। (वर्त्तमान लड़ाईमें जब जर्मन फ़ासिस्त काकेशस्की ओर बढ़े थे, तो उन्हें मालूम था कि बाकू पहुँचनेसे पहिले उन्हें दरबन्दके मोर्चेको तोड़ना होगा।) अँधेरा होते-होते हम इज़्-वरिवश्के पाससे गुजर रहे थे। उस वक्त देखा कि ज़मीनसे ५, ६ अग्निशिखाएँ निकल रही हैं। मैं सोचने लगा—न हुआ कोई यहाँ हिन्दू, नहीं तो बोलशेविकोंसे कहता—"तुमने बाकूवाली ज्वालामाईको बुझा दिया। लो यहाँ माई फिर एक नहीं सात मुँहसे निकल आई।"

हमारे खानेमें चार सीटें लम्बाईमें ऊपर-नीचे और दो सीटें बग़लमें ऊपर-नीचे थीं। मुसाफ़िर कफकाशी (काकेशियन) थे। मेरे सामनेकी सीटपर तवारिश अली थे। खानेका वक्त आया, तो उन्होंने सूअरका मांस और शराबकी बोतल निकाली। मैं सोचने लगा, शराबकी तो खैर कोई बात्त नहीं, यह सूअर कैसे खाने लगे। उन्होंने मुझे भी खानेका निमन्त्रण दिया। यद्यपि मेरे रूसी भाषाके ज्ञानमें पहिली यात्रासे कुछ वृद्धि ज़रूर हुई थी, लेकिन पुस्तकसे शब्दोंको ढूँढ़ना पड़ता था। खानेकेलिए तो साथमें गाड़ी थी, और मेरा खानेका ख़र्च भी रेलके किरायेमें शामिल था, इसलिए मैंने नम्रतापूर्वक खानेसे इनकार कर दिया।

मास्को बाकूसे तीन दिनका रास्ता है। दूसरे दिन (१४ नवम्बर) हमारी ट्रेन रोस्तोफ़के पास पहुँच रही थी। इधर पतझड़का मौसम था। इस वक्त वर्षा ज्यादा हो रही थी। आसमानमें बादल घिरे हुए थे, सोवियत्-खेती और पंचायती खेतीवाले विशाल खेत बराबर दिखाई पड़ते थे। स्टेशनोंपर मिट्टीके तेलकी कीचड़ उछल रही थी। हर जगह नई-नई इमारतें उठ रही थीं। हमारी गाड़ीमें अंगरेजी जाननेवाला कोई नहीं था, इसलिए रूसीमें ही दिनरात

लगे रहना पड़ता। लेलिनग्राद जानेवाली एक प्रौढ़ा गायिका और नटी थीं, नोरा ईवानोव्ना कुद्रेस्चेवा। उनका पिता रोमनी और माँ रूसी थी। रोमनी लोग आजसे छ-सातसौ वर्ष पहिले हिन्दुस्तानसे पच्छिमकी ओर गये थे। हिन्दुस्तानमें वह वनजारोंकी तरह खानाबदोशी जीवन बिताते थे। रोमनी युरोपके भिन्न-भिन्न मुल्कोंमें होते हुए इंगलैंड तक पहुँच गये। नाच-गानमें बहुत कुशल होते थे और सदियोंके रक्तसम्मिश्रण तथा ठंडे मुल्कमें रहनेके कारण उनका रंग अब ज्यादा साफ़ है। विद्वानोंका कहना है कि रोमनी शब्द डोमनी या डोमसे निकला है। नोराकी आयु ४३, ४४की थी, अब वसन्तका सौन्दर्य नहीं था, लेकिन शिशिरके चेहरेसे उसका अनुमान हो सकता था। मैं समझता था, उनको पैतृक भाषाके कुछ शब्द मालूम होंगे, परन्तु मालूम हुआ, पिताकी नहीं माँकी भाषा उन्होंने ही बचपनसे सीखी। नोरा बोलनेमें मेरी बड़ी सहायता करती थीं। शामको खरकोफ् आया। अपनी विशाल इमारतों और बड़े-बड़े कारखानोंकेलिए यह सोवियतका एक प्रसिद्ध नगर है। कुछ साल पहिले यह उकरइन प्रजातन्त्रकी राजधानी था, लेकिन अब वह कियेफमें है। खरकोफकी आबादी १० लाख है।

१५ नवम्बरको सबेरे जब मैंने खिड़कीसे झाँका, तो देखा देवदार और भोजपत्रके जंगल चारों ओर थे। जहाँ-तहाँ कल्खोजी गाँव और उनके साफ़-सुथरे मकान थे। अब बरफ़ भी दिखाई पड़ने लगी। भूमि समतल नहीं थी। १० बजे रातको गाड़ी मास्को पहुँची। इनतूरिस्तका आदमी लेनेकेलिए आया हुआ था। लोग मनमाना सामान यात्रामें ले चलने लगे थे, इसलिए रेलवेवाले अब कड़ाई कर रहे थे। मेरे पास भी डेढ़ मनसे अधिक सामान था। मुझे भी रोका गया, लेकिन इनतूरिस्तके आदमीने मेरा परिचय दिया और मुझे छुट्टी मिल गई। मोटरपर बैठकर इनतूरिस्त होटल गये।

अगले दिन रातको गाड़ी मिलनेवाली थी, इसलिए सारा दिन अपना था। मैंने पोलीतेकनिक म्यूज़ियम देखा। खेती, बाग़बानी, पशुपालन, कारख़ाने और खानोंके उपयोगमें आनेवाले सभी यंत्रों और दोनों पंचवार्षिक योजनाओंकी सफलताके नक़्शे वहाँ रखे थे। पथप्रदर्शकने एक-एक चीज़को घुमाकर दिखलाया। गोपालनका दृश्य बिल्कुल वास्तविक था। देखनेसे मालूम होता था, कि हज़ारों गायें गोचर-भूमिमें चर रही हैं। वह सच्चीसी मालूम होती थीं। आपके पासवाले हिस्सेमें एक सच्ची ज़िन्दा गाय चारा खा रही थी, और कान-पूँछ हिला रही थी।

उसके बाद तसवीरवाली गायें थीं, लेकिन उनके फ़ासलेको इतना सोचकर रखा गया था कि, सामनेकी गायकी तरह वह भी सच्ची गायें मालूम पड़ती थीं। बाग़ों और पौदोंके बारेमें भी यही किया गया था। दो घंटेसे ज़्यादा मैं म्यूज़ियमको देखता रहा। ढाई बजे फिर शहर देखनेकेलिए निकला। क्रेमलिनको बाहरसे देखा। लेनिनकी समाधि ५ बजे दर्शकोंकेलिए खुलती थी। वहाँ दर्शकोंकी एक लम्बी पाँती खड़ी थी, मैंने सोचा कभी और देख लूँगा। विश्वविद्यालय और लेनिन पुस्तकालय देखते सांस्कृतिक-उद्यानमें गया। कई नये मकान बने थे। भूगर्भी रेलमें थोड़ा सफ़र किया। कई रंगके संगमरमर इन स्टेशनोंके बनानेमें लगे थे।

२—लेनिनग्राद्में (१७ नवंबर--१३ जनवरी १९३८)

१६ नवम्बरको १० बजे हमारी गाड़ी मास्कोसे लेनिनग्राद्केलिए रवाना हुई। मेरे खानेमें सिबेरिया (ब्रेखनेऊदिन्स्क्)की एक छात्रा थी। वह मास्कोमें डाक्टरी पढ़ रही थी, और अपने किसी दोस्तसे मिलने लेनिनग्राद् जा रही थी। सबेरे ९ बजकर १० मिनटपर गाड़ी लेनिनग्राद् पहुँची। रास्तेमें हमने खूब बर्फ़ देखी, देवदारको छोड़कर सारे वृक्ष निष्पत्र—नंगे हो गये थे। स्टेशनपर इन्तूरिस्तकी मोटर आई थी। १० बजे "होतेल-युरोपा"में पहुँचे। ४९ नम्बरकी कोठरी पहिले हीसे तैयार रखी गई थी। यह होटल लेनिनग्राद्के बड़े होटलोंमें था। कमरेके भीतर ही टेलीफ़ोन लगा था। डाक्टर श्चेर्बात्स्कीसे फ़ोनसे बात की। मालूम हुआ, पैरमें चोट आ जानेके कारण वह आजकल चारपाईपर पड़े हुए हैं। शामको ७ बजे उनसे मिलनेकेलिए निकला। पता लगा, ७ नम्बरकी ट्राम उनके घरके पास जाती है। रास्तेमें गलीके बारेमें कुछ पूछ-ताछ की। एक वृद्धा मिल गई, जो डाक्टरसे परिचित थी और मैं वहाँ पहुँच गया। दस्तक लगानेपर एक वृद्धाने दरवाज़ा खोला। मैंने नाम बतलाया। वह मुझे आचार्य श्चेर्बात्स्कीके कमरेमें ले गई। डाक्टरोंने उनके पैरपर प्लास्तर कर दिया था, इसलिए उठ-बैठ नहीं सकते थे। मेरे पहुँचते ही उन्होंने संस्कृतमें "आइए यह आसन है", कहकर मेरा स्वागत किया। दो घंटेतक बात होती रही। उन्होंने बतलाया कि कलसे आपके पास मेरे विद्यार्थी रविनोविच जाया करेंगे, वह संस्कृत पढ़ते हैं और अंग्रेजी जानते हैं। इन्स्टीट्यूट् (ओरियन्टल इन्सटीट्यूट)के मोटरखाने (गराज)को कह दिया गया है, जब ज़रूरत हो वहाँसे मोटरकार मँगवा लिया करें। यह भी पता लगा

कि जूनके महीनेमें सारा इन्तिज़ाम करके यहाँसे तार दिया गया था, लेकिन अब एकदमीको फिर इसके बारेमें तै करना होगा।

उस समय सोवियत्में अतवार लोगोंको भूल गया था, क्योंकि अब दिनोंकी ज़रूरत नहीं थी, लोगोंको तारीख़से काम करना पड़ता है, हर छठाँ दिन छुट्टीका होता था। महीनेकी छठों, बारहवीं, अठारहवीं, चौबीसवीं और अन्तिम तारीख़ छुट्टीकी थी। अगला दिन (१८ नवम्बर) छुट्टीका था, इसलिए इन्स्टीटयूट बन्द था। रविनोविच मुझे हरमीताज म्यूज़ियम दिखलानेकेलिए ले गये। यह म्यूज़ियम जारके शरद् प्रासादके पास था। कला और दूसरी वस्तुओंका यहाँ इतना बड़ा संग्रह था, कि कोई उसे एक दिनमें नहीं देख सकता था। हमने सिर्फ़ पूर्वीय विभाग देखनेका निश्चय किया। तुङ्हुआन् (मध्यएसिया)से प्राप्त मूर्त्तियों, भित्तिचित्रों, काष्ठफलकों, वस्त्रों, और बर्त्तनोंको बहुत अच्छे ढंगसे सजाकर रखा गया था। एक जगह तुङ्गुत और मंगोल साम्राज्यकी ऐतिहासिक चीज़ें एकत्र की गई थीं। यहाँके चित्रपट १३वीं १४वीं सदीके तिब्बती चित्रपटोंसे बहुत मिलते-जुलते थे। एक जगह सोवियत्-तुर्किस्तानकी खुदाईसे निकली चीज़ें रखी थीं, जिनमें यवन-वाह्लीक कलाकी चीज़ें बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। ईरानकी प्राचीन कलाके जितने अच्छे नमूने इस म्यूज़ियममें है, उतने दुनियामें कहीं भी न मिलेंगे। ईसापूर्व ५वीं सदीसे लेकर ईसाकी ७वीं सदीतककी बहुत चीज़ें यहाँ जमा थीं। ईसवी प्रथम शताब्दीके हूणोंकी कितनी ही चीज़ें यहाँ रखी थीं। मिश्र और असुरसभ्यताके परिचयकेलिए भी यहाँ काफ़ी चीज़ें थीं। जारवंशके आभूषण, घड़ी, छड़ी तथा दूसरी चीज़ें अलग रखी थीं। हमने वह कमरा भी देखा, जिसमें करेन्स्कीका मंत्रिमण्डल लाल-क्रान्तिके वक़्त पकड़ा गया। फिर पंडित-भोजनालयमें जाकर भोजन किया। यह भोजनालय पहिले किसी राजकुमारका महल था, आजकल इसे विद्वान लोगोंके भोजन करनेका स्थान बना दिया गया है। हम शामको एक बड़े गिरजे—कजान्स्की सबोर्को देखने गये। पहिले यहाँ हज़ारों आदमी ईसामसीहकी प्रार्थना करने आते थे, फिर लोगोंकी श्रद्धा कम होने लगी, लोग एक-एक करके हटने लगे। करोड़ोंकी इस इमारतकी यदि उपेक्षा की जाती, तो वह कुछ दिनोंमें गिर जाती। लेकिन, यह गिरजा वास्तुशिल्प, मूर्त्तिकला और चित्रकलाका एक अच्छा नमूना है, इसलिए इसे एक म्यूज़ियमका रूप दे दिया गया है। इसके मकानोंमें यहूदी, ईसाई, बौद्ध, मुसल्मान धर्मोंके ही नहीं भूत, प्रेत, ओझा-सोखा माननेवाली आदिम जातियोंके धार्मिक क्रम-विकासको समझनेकेलिए यहाँ बहुतसी सामग्री एकत्रित की गई है। मैंने रवीनो विचसे कहा—किसी ऐसे गिरजेमें ले चलो, जहाँ अब भी भगत लोग आते हों

इसपर वह पोल्स्की सबोर (पोलैण्डवालोंके गिरजे)में ले गये। हजारसे ऊपर आदमी इस गिरजेकी बड़ी शालामें बैठ सकते हैं। वह प्रार्थनाका समय था। मैंने देखा कि इतनी बड़ी शालामें एक कोनेपर १०, १२ बूढ़ियाँ घुटना टेककर ईसामसीह-की प्रार्थना कर रही थीं। शायद यह भी परिहासके डरसे अपने जवान बेटे-बेटियोंसे आँख बचाकर आई होंगी। मैंने गिरजेके पादरीसे पूछा, तो उसने बतलाया कि अब भगत कम रह गये है, इतना भी चन्दा मिलना मुश्किल हो गया है, कि कोयला खरीद-कर इस मकानको गरम रखा जा सके। जिस दिन मकान गरम करना छूटा, उसी दिन यह बुढ़िया भी नहीं आयेगी।

१६ नवम्बरको रवीन मुझे इन्स्टीटयूटमें ले गये। इन्स्टीटयूटके अध्यक्ष स्त्रूवसे उस दिन देखा-देखी हुई। आधुनिक भारतीय भाषाओंके प्रकांड पंडित डाक्टर बरान्निकोफ़ मिले। उनसे बातचीत होती रही। रोमनी भाषाके वह विश्व-विख्यात पंडित हैं। उन्होंने प्रेमसागरको रूसीमें करके प्रकाशित किया है। आजकल (१६४४) वह तुलसीकृत रामायणके रूसी अनुवादको पूरा कर रहे थे। ५ बजे सूरीकोफ़ (मृत्यु १६१२)के चित्रोंकी प्रदर्शिनी देखने गये। एक चित्र बड़ा ही हृदय-द्रावक था। दो घुड़सवार मित्र किसी मुहिमपर अलग-अलग निकले थे। एक मित्र और उसका घोड़ा किसी बयाबानमें जाकर मर गया। कुछ वर्ष बाद वहाँ आदमी और घोड़की कुछ हड्डियाँ रह गई थीं। दूसरा मित्र वहाँ पहुँचा, और अपने मित्र-की हड्डियोंको देखकर उसका हृदय शोकसे भर गया। इस भावको चित्रकार सूरीकोफने बड़ी सफलतासे अंकित किया था।

७ बजे हम एक ऐतिहासिक फ़िल्म पुगाचेफ़् देखने गये। यह दो-ढाई सौ वर्ष पहिलेकी घटना है। उस वक़्त ज़ारशाही हुकूमतके अत्याचारोंके मारे किसान त्राहि-त्राहि कर रहे थे। हज़ारों किसानोंकी तरह पुगाचेफ़् भी एक जेलमें बन्द था। उसने कुछ सोचा, फिर जेलसे भागकर धीरे-धीरे लड़ाकोंका एक दल क़ायम किया, और अपने इलाक़ेसे ज़ारशाही हुकूमतको मार भगाया। कितने ही सालों बाद पुगाचेफ़् पकड़ा गया, और कुल्हाड़ेसे उसका सिर काट दिया गया। वह बड़ा ही सुन्दर फ़िल्म था। सिनेमाघरोंमें जहाँपर हमारे यहाँ निचले दो दर्जोंके दर्शक आँख फोड़नेकेलिए बैठाये जाते हैं। सोवियत् सिनेमाघरोंमें वह जगह खाली रहती है। हर महल्लेमें सिनेमाघर रहनेपर भी दर्शकोंकी भीड़ लगी रहती है।

२० नवम्बरको मैं आचार्य श्चेरबात्स्कीके मकानपर गया। मालूम हुआ कि मास्कोमें एकदमीका अधिवेशन होने जा रहा है, डाक्टर स्त्रूवे वहाँ जा रहे हैं।

आचार्यने कहा—साथी स्तालिन और दूसरे नेता भी वहाँ मिलेंगे, जाना चाहें तो जायँ; लेकिन मैंने सोचा, अभी तो मुझे न जाने कितने दिन यहाँ रहने हैं, फिर कभी चला जा सकता हूँ; इसलिए नहीं गया। इक्कीस नवम्बरसे मैं रोज़ नियमपूर्वक इन्स्टीटचूट जाने लगा, और वहाँ इन्दो-तिब्बती विभागमें मुझे मेज़-कुर्सी दे दी गई। मैं भोट अनुवादसे वार्त्तिकालंकारकी संस्कृत प्रतिको मिलाने लगा। होटलमें रहना पसन्द नहीं था, मैं चाहता था किसी घरमें रहूँ, जहाँ निरन्तर रहनेवाले पड़ोसी हों, और मुझे भाषा सीखनेका सुभीता हो। लेकिन, अभी वह इन्तिज़ाम नहीं हो सकता था। हमारे विभागकी सेक्रेटरी लोला (एलेना) नार्वेर्तोव्ना कोजेरोवस्काया-की तबियत ठीक नहीं थी, इसलिए अभी वह इन्स्टीटचूटमें नहीं आ रही थीं। रवीनने बतलाया, कि वह एक भोट-रूसीकोष बना रही हैं।

२४ नवंबरको मै श्री दाऊदअली दत्त के पास गया। दाऊदअली दत्तका भारतीय नाम था प्रमथनाथ दत्त। वह कलकत्ताके रहनेवाले थे। बंगभंगके बाद जो ज़बर्दस्त आन्दोलन हुआ था, और सैकड़ों देशभक्त जेलमें पकड़कर डाल दिए गये थे, उसी वक़्त वह भारतसे निकल भागे। पश्चिमी देशोंमें कितने ही सालों तक घूमते रहे। तुर्कीमें बहुत दिन रहे, फिर ईरानमें रहे, मुसल्मानी देशोंमें उन्होंने अपना नाम दाऊदअली रख लिया। जब ईरानमें थे, उस वक़्त मुरादाबादके सूफी अम्बाप्रसाद और पंजाबके सरदार अजीतसिंह भी वहीं रहते थे। सूफीने शीराजमें एक मदरसा खोल रखा था। पिछली लड़ाईके समय शीराजके हिन्दुस्तानियोंको पकड़ लिया गया, सूफीको मालूम हुआ कि अंगरेज़ शीराज आनेवाले हैं। अंगरेज़ोंके हाथमें पड़ जानेके भयसे उन्होंने ज़हर खाकर जान दे दी। १० वर्ष हुए जब कि दत्त महाशयकी दाहिनी टाँगमें चोट आगई और अब वह बेकार हो गई थी। दत्तकी बीबी नोरा एक रूसी महिला थीं, वह अंगरेज़ी अच्छी बोल लेती थीं, दत्त महाशय हिन्दी, उर्दू, बँगला तीनों भाषाओंको अच्छी-तरह जानते, और लेलिनग्रादमें वह इन्हींको पढ़ाते थे।

मै जब तेहरानमें था, उस वक़्त आगे खर्चकेलिये कुछ ईरानी पैसोंकी ज़रूरत थी। यद्यपि प्राइवेट तौरसे पौंडका मोल ज्यादा था, लेकिन बैंकमें लेनेपर वह डेवढ़ा कम मिलता था। मैं २०, २५ पौंड भुनाने जा रहा था। इसपर हाफ़िज़ इलाहीबख्श मुहम्मद हाशिम—मेरे मक्खड़ी दोस्त ने कहा—"आप पैसा न भुनायें, जितने पैसोंकी ज़रूरत हो, मैं दूंगा। हिन्दुस्तान जाकर मेरे घरपर पैसोंको भेज देंगे।" मैंने कहा—"पैसेकेलिए किसीपर ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिए।"

हाफ़िज़—"मेरा मन विश्वास करनेको कहता है।"

मैं—"कहता है, तो ग़लती करता है, आप जानते ही है कि मैं धरम, ईश्वरको नहीं मानता, फिर ऐसे आदमीपर आप क्यों विश्वास करते हैं ?"

हाफ़िज़—इसकेलिए मैं तुमपर और भी विश्वास करता हूँ।

ख़ैर, हाफ़िज़ साहेबने मुझे रुपये दे दिये। मैंने २६ नवम्बरको २० पौंड उनके कहे अनुसार हाजी फ़तेहमुहम्मद पराचा सावल मक्खड़-शरीफ़ (ज़िला केम्बलपुर)के पास भेज दिया।

मैं अकसर पैदल ही इन्स्टीटच्यूट चला जाता था। सर्दी बहुत बढ़ गई थी और सूर्यने तो जान पड़ता है, सारे जाड़ेकेलिए अपने मुँहको बादलमें छिपा लिया था।

२८ नवम्बरको मैं इन्स्टीटच्यूट गया। रास्तेमें चारों तरफ़ बरफ़ ही बरफ़ थी। बड़ी सड़कोंसे तो काटकर बरफ़को हटाया जाता था, लेकिन छोटी सड़कों और बाग़ोंमें वह वैसे ही पड़ी रहती थी। नरम बर्फ़में पैर धँसता, और ज़्यादा कड़ी हो जानेपर पैर ख़ूब फिसलता था। मैं उस दिन आते वक़्त एक जगह फिसलकर गिर पड़ा था। उस दिन ज़रा-ज़रा हिमवर्षा भी हो रही थी। इन्स्टीटच्यूटमें आज मैंने अपने विभागके सेक्रेटरी लोलाको देखा। वह फ़्रेंच, अंग्रेज़ी, रूसी और मंगोल बोल सकती थीं, इसलिए संभाषणमें कोई दिक़्क़त न थी। उन्होंने कहा, मेरी अंग्रेज़ी बहुत कमज़ोर है, नहीं तो मैं रूसी पढ़ाती। मैंने कहा, "नहीं तवारिश ! तुम मुझे रूसी अच्छी तरह पढ़ा सकती हो, क्योंकि तुम्हें ज़्यादातर रूसीको अपना माध्यम बनाना पड़ेगा। मैं तुम्हें संस्कृत पढ़ाऊँगा और तुम मुझे रूसी पढ़ाया करो।" दोनोंने 'एवमस्तु' कहा।

दिसम्बर शुरू होते सर्दी बहुत बढ़ गई थी। मैं अपने तिब्बती पट्टूके सफ़ेद सूट को पहिनके जाता था, किन्तु अब ऊपरसे चमड़ेके ओवरकोटको भी ले जाने लगा। हाथोंमें चमड़ेका दस्ताना था, इसलिए सर्दी मालूम नहीं होती थी।

दो दिसम्बरको मैंने देखा, आज नेवा नदीका पानी जहाँ-तहाँ बर्फ़ बन गया था। आजसे मैंने लोलाको संस्कृत पढ़ाना शुरू किया। लोलाने मंगोल और तिब्बती भाषाको पढ़ा था, आचार्य श्चेरबात्स्कीकी वह एक योग्य शिष्या थीं, किन्तु संस्कृत पढ़नेकी ओर ध्यान नहीं दिया था। वह नागरी अक्षर जानती थी। मैंने उसे संस्कृत पढ़ानेकेलिए ख़ुद पाठ बनाये। इन पाठोंमें मैं ज़्यादातर उन्हीं धातुओं और शब्दोंको रखता था, जो रूसी और संस्कृतमें समान हैं। आज उसने पहिला पाठ पढ़ा।

६ को दत्त महाशयके यहाँ गया, तो वहाँ उनकी साली और सालीपुत्र अर-

काशा—साढ़े ६ वर्षका एक स्वस्थ लड़का—भी मिला। नोराका तो मैं देवर बन ही चुका था अब अरकाशाका द्या-द्या (चाचा) भी बन गया।

जब मैं दत्त महाशयके पास जाता, तो अरकाशा मुझे छोड़ता नहीं था। मैंने तिब्बती भाषापर अधिकार इसी तरहके एक छोटे बच्चेकी मददसे प्राप्त किया था, इसलिए मैं अरकाशाको गुरु बनाना चाहता था, लेकिन उसकी माँ एक महीनेके ही लिए अपनी बहिनके पास मास्कोसे आई थी।

७ दिसम्बरको देखा, नेवा (नदी) बिल्कुल जम गई है। लेनिनग्राद नेवाके दोनों किनारोंपर बसा है। मुझे होटलसे इन्स्टीटयूट जाते वक्त रोज इसे पार करना होता था।

इस वक्त महासोवियत्के चुनावकी धूम थी। धरोंके सामने सोवियत्के महानेताओं और कितने ही स्थानीय उम्मेदवारोंके वड़े-बड़े फ़ोटो लगे थे। ट्रामोंपर लाल-पीली बत्तियोंद्वारा विज्ञापन दिए जा रहे थे। १२ दिसम्बरको छुट्टीका दिन था, आज दुनियाके छटे भागके लोग अपने देश की सबसे बड़ी शासनसभा महासोवियत्केलिए वोट दे रहे थे। वोटकेन्द्रोंमें बड़ी भीड़ थी। कहीं-कहीं सड़कोंके किनारे चुनावके संबंधमें नेताओंके फ़िल्म दिखाए जा रहे थे। रेडियोके ब्राडकास्टको सारे नगरवासियोंके सुनानेकेलिए कुछ-कुछ गजपर शब्दप्रसारक-यंत्र (लाउडस्पीकर) लगे हुए थे। नगरमें सड़कसे १० मील चले जाइए, और आपके कानोंमें भाषण आते रहेंगे। उस दिन लौटकर जब होटलमें आया, तो कान और कनपटीमें दर्द होने लगा—अभी तक मैंने चमड़ेके कनटोपको इस्तेमाल नहीं किया था। हैट रख दिया और दूसरे दिनसे कनटोप लगाने लगा।

१५ दिसंबरको चुनावके उपलक्ष्यमें शामको नगरके लोगोंने जुलूस निकाले। ३ बजे हीसे ट्राम बन्द हो गई। नौसेना, स्थलसेना, वायुसेनाके सैनिक कहीं झंडा पताका और नेताओंके चित्र लेकर चल रहे थे, कहीं यूनिवर्सिटी और इनस्टीचूटके विद्यार्थियोंका जुलूस था, कहीं साधारण नागरिक जा रहे थे। लाल सैनिकोंका जुलूस जहाँ थोड़ी देरकेलिए रुकता, वहाँ ही वह नाच शुरू कर देते और आस-पासमें खड़ी जिस किसी गोरीको साथ नाचनेकेलिए निवेदन करते, वह ज़रूर अखाड़ेमें कूद पड़ती। दुनियाके और मुल्कोंमें सिपाहियोंसे बड़े घरकी औरतें भय खाती हैं, किन्तु सोवियत्का लालसैनिक उस तरहका सिपाही नहीं है। लालसैनिकका जीवन कालेजके विद्यार्थीके जीवन जैसा है, उसे वहाँ पढ़ना पड़ता है। साथ ही साम्यवादने सोवियत् नागरिकोंके दिलमें यह भाव पैदा कर दिया है, कि वह अपने देशके सारे तरुणोंको घरका आदमी समझते हैं।

१९ दिसंबरको मैंने लोलाकेलिए सातवाँ पाठ लिखा। वह बड़े मनसे पढ़ रही थी। २८ नवंबरको जब मैंने पहलेपहल लोलाको देखा, तो मुझे यह ख्याल भी नहीं आया था, कि हम दोनों किसी स्थायी संबन्धमें बँधने जा रहे हैं; लेकिन धीरे-धीरे हम एक दूसरेके नज़दीक आते गये। एक बार लोला रास्तेमें कहीं बर्फ़में गिर गई, उसने आकर इस बातको कहा। मैंने एक श्लोकार्ध पढ़ा—"काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।"

लोलाने विभागके दो संस्कृतज्ञों—शिवायेफ़् और कलियानोफ़्से अर्थ पूछा। मैंने उन्हें अर्थ-विवरण करके बतलाया। सुनकर उसने मुस्कुरा दिया। अंतमें २२ दिसंबर आया, जिस दिन कि हम दोनों एक दूसरेके हो गये। मैं लोलाके घरपर जाता, वह इन्स्टीटच्यूटसे बहुत दूर एक घंटेका रास्ता था। उधर कारखानोंके कमकर रहते थे और चारों ओर उन्हींके नए-नए महल खड़े थे। लेकिन अब भी मैं रहता था, होटल हीमें, क्योंकि अकदमीने मेरे बारेमें अभी कोई पक्का निश्चय नहीं किया था।

२५ दिसंबर—बड़े दिनको लेनिनग्रादमें कोई चहल-पहल नहीं थी, लेकिन ३१ दिसंबर बच्चोंका दिन था। उस दिन हर घरमें देवदारकी शाखाएँ गाड़ी गई थीं, उन्हें रंग-बिरंगी बत्तियों, मिठाइयों और खिलौनोंसे सजाया गया था। मैं उस दिन दत्त भाईके घर गया था। अरकाशाने खूब तैयारी कर रखी थी। आस-पासके भी कुछ लोग आए थे, जिनमें अरकाशाके उमरकी एक छोटी लड़की थी। वह बहुत कम बोलती थी। अरकाशाने उस दिन एक लेक्चर सुनाया, और शायद पुशकिनकी किसी कविताको स्वरके साथ पढ़ा। अगले दिन (१ जनवरी १९३८) तो सारे सोवियत्का महोत्सव-दिन था। उस दिन आचार्यकी छात्रा जेन्या विकोवाने मेरे पथप्रदर्शनका काम हाथमें लिया। जेन्या संस्कृत पढ़ती थी, और शायद विश्वविद्यालयके तीसरे वर्षकी छात्रा थी। वह अंग्रेज़ी भी बोल लेती थी। मैंने लेनिनग्रादके बौद्धबिहारके देखनेकी इच्छा प्रकट की। बिहार, नगरके एक छोरपर है। ट्रामपर दो घंटे चलनेके बाद हम वहाँ पहुँचे। बिहार तिब्बती ढंगका है, दीवारें पत्थरकी हैं, और सामनेकी ओर सुनहले दो मृगोंके बीचमें धर्म-चक्र बना हुआ है। सामने सड़ककी दूसरे तरफ़ एक नदी बहती है, जिसकी दूसरी ओर लेनिनग्रादका सांस्कृतिक उद्यान है। बिहार लड़ाईसे कुछ पहिले तैयार हुआ था। बिहार-कमेटीके प्रधान थे आचार्य श्चेरवात्स्की और मंगोलियासे रुपया जमा करके लानेवाले थे लामा ङवङ् दोर्जे। लामादोर्जे कई बरस ल्हसामें रहे थे, और १३ वें दलाईलामाके वह बहुत दिनों तक अध्यापक थे। उन्होंने रूस और तिब्बतके बीच घनिष्ठ संबन्ध स्थापित करनेकी बड़ी कोशिश की थी, जिससे डरकर कर्ज़नने

तिब्बतसे लड़ाई छेड़ दी, और अंग्रेजी फ़ौजें ल्हासा तक गईं। उस समय दुर्जेयेफ़के नामसे इंगलैंडका विदेश-विभाग चौंक पड़ता था। लाल क्रान्ति आई, तो दूसरी जगहोंकी तरह उनके प्रदेश-बुरयत्—में भी क्रांति-विरोधियोंने मंगोलोंको उभाड़ना चाहा, लेकिन दुर्जेयेफ़ने उन्हें समझा दिया। आज बुरयत मंगोलप्रजातंत्र सोवियतके स्वच्छन्द वायुमंडलमें बहुत उन्नति कर चुका है। मैं चाहता था उनसे मिलना, किन्तु वह उस समय बुरयत गये हुये थे। बिहार आजकल बन्द था। पूजा करनेवाले भगत जब ईसाई गिरजोंमें दुर्लभ हो गये, तो यहाँकेलिए क्या पूछना ? बिहार अब एक म्यूज़ियम बन गया था, लेकिन जाड़ोंमें वह नहीं खुलता था, इसलिए हम उसे भीतरसे नहीं देख सके। वहाँसे हम उद्यान गये। सैकड़ों युवक-युवतियाँ दो लंबी लकड़ियोंपर पैर रखकर हाथमें डंडे लिए फिसलती हुई दौड़ लगा रही थीं।

वहाँसे हम लौटकर रूसके सबसे बड़े गिरजे ईसाइकी-सबोर देखने गये। यह भी आजकल म्यूज़ियम है। भीतर बड़े-बड़े सुन्दर चित्र और ईसामसीह तथा सन्तोंकी मूर्त्तियाँ हैं। शीशेके विशाल दरवाजेपर एक सुन्दर चित्र देखकर मैंने जेनियागे पूछा—यह किसका चित्र है। उसने दूसरे आदमीसे पूछकर बताया—यह ईसाकी तसवीर है। मैं कुछ ताज्जुबमें पड़ गया—जिसका ख़ान्दान छ-छ सात-सात सौ बरसोंसे ईसाका अनुयायी रहा, वह ईसाकी तसवीर भी न पहिचान सके ! उस दिन शामको आचार्य श्चेरवात्स्की (जन्म १९ सितंबर १८६२) के घरपर भोजन हुआ। लोला और मैं भोजन करने गये। शराब भी रखी थी, लेकिन मैं तो शराब पीता नहीं था, जिसपर एक लाल रंगका पेय लाया गया। आचार्यने कहा—यह शराब नहीं है, सिर्फ़ रंग इसमें अच्छी शराबका है। मैंने मुँहमें लगाया तो कड़ुवासा मालूम हुआ, और उसे वहीं छोड़ दिया। आचार्यने कहा—पियो, न इसमें नशा है, और न यह शराब है। मैंने कहा—"यह गुनाह बेलज्ज़त है। नशाका लोभ होता, तो शायद कड़ुवाहट को बर्दाश्त कर लेता, इस कड़ुवे पानीको पीना मुझे तो फ़िज़ूल मालूम होता है। वहाँसे लोला हमें अपने घरपर ले गई।

दो जनवरीको हम शरद्प्रसादमें क्रांति-संग्रहालय देखने गये। इसमें १९०५ की प्रथमक्रांतिके संबन्धकी बहुत सी चीज़ें हैं। उस वक़्त क्रान्तिकारियोंके साथ कितनी पाशविकता दिखाई गई, इसे जंगलों, क़ैदखानों और क़ैदियोंकी मूर्त्तियोंद्वारा दिखलाया गया था। लेनिन और दूसरे नेताओंकी जीवन-घटनाओंका भी प्रदर्शन था।

लेनिनग्रादमें फ़िल्म देखने अक्सर जाता था। कुछ पद्यमय नाटक (ओपेरा) और मूकनाटक (बैले) भी देखे।

लौटनेकी तैयारी—मैं लिख चुका हूँ कि जिस वक़्त मैं हिन्दुस्तानको छोड़ रहा था, उस वक़्त बिहार-सरकारने तिब्बती अभियानके लिए छ हज़ार रुपये मंज़ूर किए थे। यहाँ मैं इस अभिप्रायसे आया था कि डाक्टर श्चेरवात्स्कीके साथ रहकर बौद्ध न्यायके कुछ ग्रंथोंका उद्धार किया जाय, कुछ का योरोपीय भाषाओंमें भी अनुवाद किया जाय। यह भी बतला चुका हूँ कि मैं ऐसे सालमें वहाँ पहुँचा, जब कि क्रान्तिके विरुद्ध एक बड़े षड्यंत्रका आयोजन किया गया था। सरकारका ध्यान उस तरफ लगा हुआ था। मेरे बारेमें कुछ ठहरके निर्णय करना चाहते थे, क्योंकि हरेक विदेशी के संबंधमें उन्हें फूँक-फूँककर पैर रखना था। यह भी हो सकता था कि राजनीति-विभागके जिन लोगोंने पूछताछ करके मेरे बुलानेकी सिफ़ारिश की थी, उनमेंसे कोई षड्यंत्रियोंके संपर्कमें रहा हो? और तब उसकी सिफ़ारिश मेरे पक्ष नहीं, विपक्षकी चीज़ हो सकती थी। मैंने अब सोवियत्‌के जीवनको नज़दीकसे देखा कितने संघर्षों, कितनी कुर्बानियोंके बाद उन्हें यह जीवन प्राप्त हुआ है। स्पेनमें उस वक़्त फ़ासिस्तोंके साथ संघर्ष चल रहा था। चीनी कम्यूनिस्त भी पीसे जा रहे थे। अपने देशमें हम भारतीय भी गुलाम थे। इन बातोंको ख्याल करके मेरे मनमें होता था, मुझे युद्धक्षेत्रमें कूदना चाहिए। स्पेन या चीनमें भी मैं चला जाता, लेकिन जानता था, मैं वहाँ उतना उपयोगी नहीं हो सकूँगा। मेरेलिए सबसे अच्छा क्षेत्र अपना ही देश है। मैंने तै किया कि भारत जाके स्वराज्यसंघर्षमें सक्रिय भाग लेना चाहिये।

प्रतिष्ठान (इन्स्टीटय़ूट)में छठे दिनको छोड़कर रोज़ चार-पाँच घंटे काम करता था। नाटक, सिनेमा और दूसरी दर्शनीय चीज़ोंको देखने जाता था, तब भी मेरा काफी समय राजनीतिक और सोवियत्‌संबंधी पुस्तकोंके पढ़नेमें जाता। सोवियत्‌के संबंधमें एक पुस्तक लिखनी होगी, यह ख्याल शुरू हीमें आगया था, इसीलिए मैंने अपनी पुस्तक "सोवियत्-भूमि" केलिए सामग्री जमा करनी शुरू कर दी थी।

अकदमीवाले बड़ी मन्थरगतिसे कोई निर्णय करना चाहते थे, लेकिन मैं सोच रहा था, अगर भारत लौटना है, तो जल्दी लौटना चाहिए, जिसमें कि मैं इस साल पूरी तैयारीके साथ तिब्बत जा सकूँ। इसीलिए जल्दी निर्णय करनेकेलिए मैंने ज़ोर देना शुरू किया, और अकदमीके अधिकारी फिरसे अच्छी तरह राजनीतिक जीवनके बारेमें जाँच किए बिना रहनेके पक्षमें निर्णय नहीं दे सकते थे। अन्तमें मैंने भारत लौटनेकेलिए कहा। इस बातका सबसे अधिक कष्ट लोलाको होना स्वाभाविक था, हम डेढ़ ही महीना साथ रह सके थे। अभी भारत लौटते ही मुझे तिब्बत

जाना था, इसलिए लोलाको साथ ले जानेका ख्याल कैसे कर सकता था, लेकिन मेरा हृदय उसके पास था। इस बातका अनुभव मैंने लेलिनग्राद्में रहते जितना नहीं किया, उतना वहाँसे दूर हटते-हटते अनुभव करने लगा।

आखिर बिदाईका दिन—१३ जनवरी आया। डाक्टर श्चेरवात्स्कीको लोलाके बाद सबसे दुःख हुआ। उनका मेरे प्रति बहुत स्नेह हो गया था। पत्रव्यवहार हमारा कई वर्षोंसे था, लेकिन इस दो महीनेके सहबासने एक दूसरेको बहुत नजदीक कर दिया था। १३ जनवरीको लेनिनग्राद् छोड़ते वक्त मुझे कभी ख्याल नहीं आया था, कि आचार्यके दर्शन अब न हो सकेंगे। मुझे वह जायसवाल हीकी तरह एक बड़े सहृदय मित्र मिले थे, और अपनी शिष्या लोला तथा मेरे पुत्र इगोर्के प्रति उनके प्रगाढ़ स्नेहने मुझे और भी उनका आत्मीय बना दिया था।

सभी मित्रोंसे विदाई ले आए। नोरा भाभीने रास्तेके पाथेयके जमा करनेमें सहायता की। अन्तमें रवीन और लोलाके साथ मैं स्टेशनपर पहुँचा। १२ बजकर ४० मिनटपर हमारी गाड़ी खुलनेवाली थी। अभी देर थी, रवीनको मैंने विदाई दे दी। लोला और मैं देर तक टहलते रहे। बाहरी दुनिया और सोवियतका जो संबंध है, उससे यह आशा तो नहीं की जा सकती थी, कि हम जल्दी और आसानीसे मिल सकेंगे। लेकिन प्रेम इन बाधाओंकी पर्वाह नहीं करता। आधीरात बीती, गाड़ीका इंजन सन-सन करने लगा, हमारे हृदयोंमें काँटासा चुभने लगा; विदा होनेका समय आया। आँखोंसे करुणा बरसाते लोलाने विदाई ली। गाड़ी रवाना हुई। देर तक वह प्लेटफार्मपर खड़ी देखती रही।

अगले दिन (१४ जनवरी) साढ़े ११ बजे दिनको हमारी गाड़ी मास्को पहुँची। इनतूरिस्तका कोई आदमी स्टेशनपर नहीं मिला। भारवाहकसे कहनेपर नवमास्को होटल तक जानेकेलिए तैयार तो हुआ, किन्तु उसे वह होटल नहीं मालूम था। मैंने कहा—यदि क्रेम्लिन् तक तुम जानते हो, तो आगेका पता मुझे मालूम है। क्रेम्लिन् भला किस मास्को-निवासीको न मालूम होगा। हम भूगर्भी रेलवेसे कितनी ही दूर गए, फिर क्रेम्लिन्के सामने लाल-मैदानसे होते पुलको नदी पारकर गये। ५,७ मिनट तक मैं इधर-उधर चक्कर काटता रहा, लेकिन वहाँ किसी होटलका पता नहीं लगा। आस-पास पूछनेसे उन्होंने सड़क बता दी, जो इस सड़कके सामानान्तर पीछेकी ओर थी। हम होटलमें पहुँचे। मुझे अच्छी तरह याद था, कि दो महीने पहिले जब मैं इधरसे गुजरा था, तो पुलवाली सड़कपर ही थोड़ा हटकर नवमास्को-होटल मिला था। मेरे पूछनेपर होटलपरिचारिका ने कहा—वह पुल टूट गया, और आज जिससे आए हैं, वह नया पुल है। मैंने देखा, उस वक्त भी पुलके किनारे की बाढ़ोंमें

काम हो रहा था। सर्दी जनवरीकी थी, गीला सीमेन्ट वर्फ़ हो जाता, इसलिए लोग भापसे वायुमंडलको गर्म रखते हुये, जुड़ाई कर रहे थे।

उस वक़्त महासोवियत (पार्लियामेन्ट) का अधिवेशन हो रहा था। चुनावके बाद यह पहिला अधिवेशन था। सदस्य ही नहीं आए हुए थे, बल्कि भारतसे ७ गुनी इस भूमिके कोने-कोनेसे कितने दर्शक भी आए थे। मास्कोके सारे होटल भरे हुए थे। मैं सामान एक जगह रखवाके कुर्सीपर बैठा था। अब मैं अफ़गानिस्तानके रास्ते जाना चाहता था, पहले समझा था, ताशकन्द या मध्यएसियाके किसी दूसरे शहरमें अफ़गानिस्तानी कौन्सल होगा; लेकिन पता लगा, कि वहाँ कोई कौन्सल नहीं है। ३ बजे कौन्सलके पास गये, तो आफिस बन्द हो चुका था। अगले दिन जानेपर उसने परसोंपर टरकाना चाहा, किन्तु मैंने और कुछ कहा सुना और बीज़ा उसी दिन मिल गया।

पहिले दिनके खाली वक़्तको मैंने लालमैदान और दूसरे स्थानोंमें घूमकर बिताया। रातको सोनेका सवाल आया, सचमुच ही कोई कोठरी खाली नहीं थी। बेचारे करते क्या? इसकी अपेक्षा यदि अकदमीकी अतिथिशालामें गया होता तो अच्छा रहता। लेकिन मुझे इस दिक्कतका पता क्या था? पता होता तो किसी दोस्तका पत्र लाया होता। खैर, साढ़े ८ बजे ७१७ नंबरकी एक छोटीसी कोठरी खाली हुई, और वहीं रातको सोनेकी जगह मिल गई। अगले दिन (१५) स्तालिनाबादकी डाक पौने ग्यारह बजे जानेवाली थी। दिनमें भी इधर-उधर घूमता रहा। मास्कोकी सड़कें चौड़ी की जा रही थीं। सोवियत्‌प्रासाद—दुनियाकी सबसे ऊँची इमारत—के निर्माणका काम हो रहा था।

रातको पौने ग्यारह बजे हमारी गाड़ी रवाना हुई। यह गाड़ी मास्कोसे तेरमिज ही नहीं, एक दिन और आगे ताजिकिस्तान प्रजातंत्रकी राजधानी स्तालिनाबाद तक जाती थी। गाड़ियाँ आजकल भरी रहती थीं—इन दूर जानेवाली गाड़ियोंके भरी रहनेका मतलब इतना ही था, कि सीट खाली नहीं थी, नहीं तो टिकिट मिलनेपर आदमीको पूरी सीट मिल जाती थी। हमारा डिब्बा गद्देवाला था।

दूसरे दिन (१६ जनवरी) ज़मीन ऊँची-नीची आई, पहाड़ोंकी चारों ओर सफ़ेद बर्फ़ ही बर्फ़ दिखाई देती थी। कितने ही गाँव मिले। घरोंकी छतोंपर बर्फ़ पड़ी हुई थी। जहाँ-तहाँ देवदार और भोजपत्रके वृक्ष दिखाई पड़ते थे। गाँवोंके मकान छोटे, लेकिन साफ़ थे। उनकी चिमनियोंसे धूँआ निकल रहा था—वे जाड़ेकेलिए गरम किए हुए थे। हमारी ट्रेनके साथ रसोईगाड़ी भी चल रही थी। उस दिन

मैं वहाँ खाना खाने गया। मेरी मेज़ हीपर सामने दो कज़ाक किसान खानेकेलिए बैठे। परोसिकाने एक प्लेटमें गोश्त और चम्मच-काँटा रख दिया। कज़ाक बेचारे सदासे हाथसे खाते आए थे, चम्मचसे माँस उठाना चाहते तो वह प्लेटसे बाहर गिरना चाहता। दो तीन बारके प्रयत्नमें असफल होकर सोच रहे थे, किस तरह से खायँ। दोनों अपने यहाँके किसी पार्लामेंट-सदस्य (देपूतात्) के साथ प्रथम अधिवेशन देखने और साथ ही तवारिश (साथी) स्तालिन के दर्शनके लिए आए हुए थे और अब मास्कोसे घर लौट रहे थे। परोसिकाने उनकी दिक्कतको समझा। वह उनके कंधेसे सटकर खड़ी हो गई। वह अपनी मातृभाषा रूसी छोड़ दूसरी भाषा नहीं जानती थी, इसलिए बातसे समझा नहीं सकती थी। छोटेसे बच्चेको जैसे क़लम पकड़कर लिखना सिखाया जाता है, उसी तरह उसने कज़ाकयात्रीके हाथको पकड़कर चम्मचसे माँस उठाना सिखलाने लगी। यद्यपि शिक्षक और विद्यार्थीकी उमर एक ही थी, लेकिन परोसिकाकी आँखोंमें मातृत्वकी झलक थी। मुझे उस वक़्त ग्यारह साल पहिले पहल छूरी-काँटा हाथमें लेनेकी बात याद आई। मैं पहिली बार सीलोन जा रहा था। मदरासमेलकी रसोईगाड़ीमें खाना खाने गया। चम्मच-काँटेको पकड़ना नहीं जानता था। जब खाना प्लेटसे बाहर निकलने लगा, तो परोसनेवालेने बड़े घृणापूर्ण स्वरमें कहा—"रहने दो, हाथसे खाओ।" शरमके मारे मैं उस वक़्त गड़ गया था, और यहाँ मैं इसी तरुणीको ही नहीं, आस-पासके बैठे हुए लोगोंको देख रहा था, जो चम्मचके उपयोगकी अनभिज्ञताको घृणाप्रदर्शन करनेका कारण नहीं बना रहे थे। मानो सोवियत् नागरिक अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि अपने अनभिज्ञ भाईको अभिज्ञ बनाएँ। फिर परोसिका श्वेतांगजातिकी थी, जब कि खानेवाला काला आदमी था। २० ही साल पहिले रंगका सवाल रूसमें भी वैसा ही था, जैसे हिन्दुस्तानमें आज भी था। रसोईगाड़ीमें दो वक़्त भोजन करनेकेलिए मुझे जाना पड़ता था, और परोसिकाओंसे मेरा इतना परिचय हो गया था कि जब ७ वें दिन मैं तेरमिज़में ट्रेन छोड़ने लगा, तो चिरपरिचित मित्रकी तरह उन्होंने मुझे बिदाई दी। तीसरे दिन तेरमिज़ स्टेशनपर मैं सामान लेने गया था। ट्रेन भी उसी वक़्त स्तालिनाबादसे लौटकर आई थी। परोसिकाओंने मुझे स्टेशनपर देखा, तो दौड़ी-दौड़ी आई, और खूब हाथ मिलाया। वस्तुतः सोवियत्के २० करोड़ आदमियोंका एक दूसरेके साथ वही संबंध नहीं है, जो कि बाहरकी दुनियामें देखा जाता है। मैं यह नहीं कहता कि उनका आपसमें सगे परिवार जैसा संबंध पूरा हो गया है, लेकिन काफी दूर तक वह हो चुका है, इसमें संदेह नहीं।

१७ जनवरीके सबेरे हमारी ट्रेन पहाड़ी मैदानसे गुज़र रही थी। यहाँ भी चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़ दिखाई पड़ती थी, लेकिन वह कम मोटी थी। कहीं-कहीं गोबरके उपले छल्ली करके रखे हुए दिखाई पड़े। गेहूँके डंठल और सूखी घासके गंज गाँवोंमें रखे हुए थे। कुछ गंज़ोंपर फ़ूसकी छान भी थी। अधिकतर मकानोंकी छतें फ़ूसकी थीं। गाँवोंके पास वृक्ष थे, लेकिन आजकल पत्तियाँ झड़ गई थीं। जंगल कम थे। नदी-नाले सब जमे हुए थे। कुओंसे पानी निकालनेकेलिए वैसी ही गड़ारियाँ थी, जैसे हमारे कुओंपर हुआ करती हैं। दोपहर बाद ओरेन्बुर्ग शहर आया। उतरकर स्टेशनके बाहर गये। कई लाखकी आबादीका यह एक बड़ा शहर है। यहाँ रूसियोंके अतिरिक्त मंगोलमुखमुद्रावाले बहुतसे तातार स्त्री-पुरुष भी दिखाई दिए। तातार स्त्रियोंमें अब भी कितनी ही पाजामा पहिने थीं।

१८ जनवरीके सबेरे मैं मध्यएसियाके मैदानमें पहुँच गया था। ९ बजे (मास्को-समय) हमारी गाड़ी पहाड़पर चल रही थी। कज़ाकोंके मकान छोटे-छोटे और उनकी छतें मिट्टीकी थीं, वैसी ही जैसी कि लखनऊके गाँवोंमें मिलती हैं। मिट्टीकी छतें ओरेनबुर्गसे शुरू होती हैं। सारे मध्यएसिया, और अफ़गानिस्तान होते उत्तरी भारतमें वह लखनऊ तक चली आती हैं। वहाँ छोटी-छोटी घासें उगीं थी, जिनमें दो-कोहानी ऊँट और भेड़ें चर रहीं थीं। खेत बहुत कम मिलते थे। १२ बजे (मास्को-समय) हम चेल्कर पहुँचे। यह बड़ा स्टेशन है। मिट्टीके तेलकी यहाँ बहुत-सी टंकियाँ हैं। शहर रेलवे सड़ककी दोनों ओर बसा है। रूसी और कज़ाक बच्चे साथ खेल रहे थे। इधर रेलवे लाईनके किनारे तारकी जगह लकड़ीके चाचरोंकी बाढ़ लगी हुई थी। पतली बरफ अब भी ज़मीनपर पड़ी थी। भूमि अब समतल मैदान-जैसी थी, संदेह होता था, शायद यह रेगिस्तान है। आगे एक जगह पीली मिट्टीवाली ज़मीन दिखाई पड़ी। इधर स्टेशन-मास्टर कज़ाक थे, लाल सैनिक भी बहुतसे कज़ाकजातिके थे। ताशकन्दसे मास्को जानेवाला हवाईज़हाज़ आसमानमें उड़ा जा रहा था।

१९ जनवरीके सबेरे हम सिर (सैहूँ) नदीकी उपत्यकामें चल रहे थे, यह मध्य एसियाके दो बड़े दरियाओं—आमू और सिर—मेंसे एक है। उपत्यका पर्वत रहित है। कज़्लओर्द स्टेशनके पास बरफ़की चित्तियाँ कहीं-कहीं दिखाई पड़ती थीं। यह बड़ा कस्बा था। मकान अधिकर एकतल्ले थे। गाड़ियोंमें ऊँट और घोड़े दोनों जुते थे। आगे मीलों दो-दो हाथ ऊँचे सरकंडोंका जंगल चला गया था। स्टेशनोंपर कज़ाकतरुणियाँ बाल कटाए योरोपीय पोशाकमें घूम रही थीं। उनको देखनेसे क्या पता लगता था, कि यह

उस देशकी लड़कियाँ हैं, जहाँ वे २० साल पहिले पूरी बोराबंदीके साथ घरसे निकलती थीं। इधर सैकड़ों मीलतक समतल पीली मिट्टी वाली ज़मीन है, सरकंडोंको देखने हीसे पता लग जाता था, कि इस भूमिको खेतोंके रूपमें परिणत किया जा सकता है, ज़रूरत है, सिर्फ़ नहरोंकी; जिसकेलिए गंगा जैसी बड़ी सिर नदी वहाँ मौजूद ही है। मध्यएसियाकी हज़ारों मील विस्तृत इस उजाड़ पड़ी धरतीको देख मुझे कभी ख्याल आता था, यदि यहाँ ५,१० लाख हिन्दुस्तानी लाके बसा दिए जाते, तो कितना अच्छा होता। कभी ख्याल आता, हमारे पच्चीसों लाख आदमी जो गुलामीकी जिन्दगी बितानेकेलिए दक्षिणी अफ़्रिका, मारिशस, फ़ीज़ी, गायना आदि गए, यदि वह मध्यएसियामें गए होते, तो आज वहाँ एक भारत सोवियत्-समाजवादी प्रजातंत्र रहता। फिर ख्याल आता, पकीपकाई खानेका लोभ निकम्मा आदमी किया करता है।

रातको (२ बजे मास्को) दूरसे ताशकन्दकी बिजली दिखाई पड़ने लगी। ताशकन्द बहुत बड़ा शहर है, और बड़ी तेज़ीसे बढ़ता जा रहा है। सोवियत्में सूती कपड़ेकी मिलोंका यह प्रधान केन्द्र है। स्टेशन बड़ा था, किन्तु देखनेमें उतना अच्छा नहीं जितना कि सोवियत्के पच्छिमी भागोंमें मैंने देखा था।

२० के सबेरे हम पहाड़ीमें चल रहे थे। यह पहाड़ छोटे-छोटे और नंगे थे। पूरब तरफ़ हिमालयकी पच्छिमी शृंखला पामीरके हिमाच्छादित पहाड़ दिखाई दे रहे थे। जीज़क् एक कल्खोज़ी गाँव है। यहाँ पचासों ट्रेक्टर और खुली लारियाँ देखीं। आजकल उनकी मरम्मत हो रही थी। मकान साफ़-सुथरे थे। स्त्रियोंमें कोई पर्दा नहीं था। पाजामा भी कुछ बुढ़ियोंके ही शरीरपर दिखाई देता था। तरुण उज़बकोंकी कलाइयोंपर घड़ी भी बँधी दिखाई देती थी। कुछ बच्चे नंगे पैर घूम रहे थे। हमारा एक सहयात्री उनसे कह रहा था—अता (बाप) से कहो कि गलोस (जूता) खरीद दें। शायद अभी इधरके अता गलोसको उतना ज़रूरी नहीं समझते। इधर बर्फ़ नहीं थी। नदीमें पानी बह रहा था। बागोंमें फलदार वृक्ष थे। बीरी और सफ़ेदाके दरख़्त बहुत थे। खेतोंकी भूमि असमतल थी। दोपहरको हमारी गाड़ी उत्तरसे दक्खिनको जा रही थी। (११ बजे मास्को समय) क्रोपत्किन् कल्खोजका बड़ा गाँव आया। हम लोगोंने सुन रखा है, कि बोलशेविक सिर्फ़ अपने पार्टीके वीरोंका ही सम्मान करते हैं, लेकिन यहाँ एक बड़ा गाँव प्रसिद्ध अराजकवादी क्रान्तिकारी प्रिन्स क्रोपत्किनके नामसे बसा दीख रहा था—अराजकवादी बोलशेविकोंके विरोधी थे। इस बस्तीके मकान बहुत साफ़ और सुन्दर थे। स्टेशनके पास मिट्टीके तेलका

गोदाम था। पंचायतघरके बरामदेमें कितने ही उज़बक पंच मंत्रणा कर रहे थे। उनके भीतर दो एक रूसी चेहरे भी दिखाई पड़ रहे थे। १ बजे समरकन्द आया। शहर आनेसे बहुत पहिले बाग शुरू हो गए। यहाँके सेब, अंगूर, इंजीर आदि मेवे काबुलसे भी अच्छे होते हैं, लेकिन आजकल तो वृक्षोंपर फल क्या पत्ते भी नहीं थे। यहाँके मिट्टीकी दीवार और छत वाले मकान कुछ-कुछ तिब्बत जैसे मालूम होते थे। ईरान में भी मिट्टीकी छत होती है, लेकिन वहाँ कच्ची ईटोंको जोड़कर उन्हें गुम्बदकी शकलमें बनाया जाता है, यहाँ वह चौरस थी। गाड़ीसे उतरकर मैं स्टेशनके बाहर गया। सामने ही अनगढ़ पाषाणकी वेदीपर लेनिनकी मूर्त्ति (बस्ट) थी। शहर खूब लंबा चौड़ा है। दो तल्ली इमारतें कम दीखीं। पुराने मकान भी बहुत हैं। मैंने वहाँ खड़े ८० आदमियोंमें गिना, तो सिर्फ तीन हीके दाढ़ी थी, उनमें भी बाक़ायदा इस्लामी दाढ़ी सिर्फ एकके मुँहपर थी। वहाँ कोई पर्देवाली स्त्री नहीं थी। यद्यपि फलोंका मौसम नहीं था, लेकिन अंगूर कुछ बिक रहे थे। वह बहुत मीठे थे।

२१ जनवरीको बड़े सबेरे आस-पास नंगे पर्वत दिखाई दे रहे थे। अब हमारी गाड़ी उज़बकिस्तान प्रजातंत्रको पार करके तुर्कमानिस्तानमें चली आई थी। पहाड़ोंके बीचमें तिब्बत जैसी मैदानी ज़मीन भी थी। जगह-जगह घास उगी हुई थी, और कितनी ही जगह तुर्कमान लोगोंके तंबू थे। तुर्कमान स्त्रियोंके सिरपर सीधी खड़ी टोकरीकी तरह ५ सेरकी पगड़ी बँधी हुई थी। इनका चेहरा चिपटा, बड़ा और भद्दा था, मर्द खूब कद्दावर थे। दूर वक्षु (आमू) नदीकी विस्तृत उपत्यका थी। एक लंबी सुरंगसे रेल पार हुई। सुरंगके मुँहपर फ़ौजी चौकी थी। आगे दाहिनी ओर वक्षु बह रही थी। इधरके गाँवमें अभी दाढ़ी, पुरानी पोशाक, पुराना रिवाज़ काफ़ी दिखाई पड़ता था। गाड़ी साढ़े ६ बजे (मास्को) तेरमिज़ स्टेशनपर पहुँची।

तेरमिजमें (२१--२५ जनवरी)

स्टेशन शहरसे ५ मील दूर है। गाड़ीको अभी और आगे स्तालिनाबाद (दुशाम्बे) तक जाना था। ७ दिनके परिचित मित्रों और परोसिकाओंको "पुनर्दर्शनाय" कहकर बिदाई ली। पता लगानेपर मालूम हुआ, कि मेरे दोनों बक्स इस ट्रेनसे नहीं आये। साथमें थोड़ासा सामान था, जिसे स्टेशनके रक्षागृहमें रख दिया। स्टेशनपर उज़बक लोगोंके अलावा कुछ ताजिक भी थे। ताजिकोंके चेहरेपर मंगोल-मुद्रा नहीं होती, इसलिए पहचानना आसान था। मैंने महम्मदोफ़ (ताजिक)से

परिचय कर लिया। उन्होंने कहा—चलिए हमारे कल्खोज-नमूनाके चायख़ानेमें चाय पीजिये। गाँववालोंको जब-तब शहरमें आना पड़ता है, इसलिए सुभीतेके वास्ते उन्होंने गाँवकी ओरसे शहरमें भी अपना चायख़ाना (रेस्तोराँ) खोल लें, यह उनकेलिए कोई मुश्किल नहीं था; क्योंकि गाँवोंमें भी खेतीकी तरह चाय-ख़ाना और दूकान सबका साझेका, पंचायती होता है। जब गाँववाले शहरमें सिनेमा देखने या किसी और कामसे आते हैं, तो अपने चायख़ानेमें ठहरते हैं। उन्हें वह वैसा ही मालूम होता है, जैसे एक घरके सगे भाईके पास कोई दूसरा शहरमें जाय। चायख़ाना बहुत सीधा-सादा था। मिट्टीकी दीवार और मिट्टीकी छत थी। मेज़-कुर्सी नहीं थी। दीवारोंके किनारे-किनारे ऊँचा चबूतरा बना हुआ था, जिसपर चटाइयाँ बिछी थीं। लोग वहीं बैठे, चाय पीते ग़प कर रहे थे। मध्य-एसियामें न हमारे यहाँ दूध-चीनीवाली चाय पी जाती है, न रूस जैसी नीबू-चीनीवाली। इसी तरहकी चाय जापानमें पी जाती है, लेकिन वहाँ प्याले छोटे-छोटे होते हैं। यहाँ एक-एक आदमीको पूरा चाइनेक (चायका बर्त्तन) और प्याला नहीं, चीनी मिट्टीका कटोरा दिया जाता है। इस फीके-कड़वे पानीको लोटा-लोटाभर लोग कैसे चढ़ा जाते हैं? वहाँ तंदूरी रोटियाँ भी थीं। मैंने यहीं खाना खाया। मुहम्मदने शहरकी सड़कपर छोड़ते हुए कहा, आप किसी दिन आयें तो मैं अपने गाँवमें ले चलूँगा। मैं पैदल ही शहर पहुँचा। पहिले पासपोर्ट देखनेवाले कार्यालयमें गया। वहाँ एक अर्धरूसी (यूरेशियन) महिलाके ज़िम्मे यह काम था। किसी ज़मानेमें यह हमारे एंग्लो-इंडियनकी तरह रही होगी, किन्तु अब वह अपनेको ऐसा नहीं समझती। मध्यएसियामें कितने ही रूसी पादरी अपने धर्म-का प्रचार करते थे, और वहाँ लाखों ईसाई रहे होंगे, जो कि क्रान्तिके बाद सबसे पहिले सोवियत्के समर्थक बने। महिलाने बड़ी भद्रताके साथ बात की। पासपोर्ट रख लिया। ठहरनेकेलिए सामने एक गस्तिनित्सा (अतिथिगृह) बतलाया। पूछनेपर मालूम हुआ कि यहाँ एक अफ़ग़ानसराय है। मैंने सोचा, अफ़ग़ानसरायमें चलना अच्छा है। वहाँ अफ़ग़ानोंसे मुलाक़ात होगी। मुझे अफ़ग़ानिस्तान होकर जाना है, वह अपने देशके बारेमें कुछ बतायेंगे। मैं अफ़ग़ानसरायमें चला गया। यहाँ पहिले शाक-सब्ज़ीकी हाटका मैदान था, जिसमें जहाँ-तहाँ कुछ घर बने हुए थे। एक श्रीहीन मकान था, इसीको अफ़ग़ानसराय कहते थे। किसी वक़्त यह किसी अफ़ग़ानकी सम्पत्ति थी। चौकीदार उज़बक उज़बकी, तुर्की और ताजिकी (फ़ारसी) बोलता था। उसने एक बड़ी कोठरीमें चारपाई दे दी। मैं फिर शहरकी ओर निकला। सड़कें ज़्यादातर कच्ची थीं, और उनमें कीचड़ थी। मकान छोटे-छोटे

थे, जिनमें कितने ही पक्के थे। रेलवे लाइन स्टेशनके पाससे होते वक्षुके तटतक चली गई थी, लेकिन उससे सिर्फ़ माल ढोया जाता था। शहरमें रूसियोंकी संख्या अधिक थी, उनके बाद उज़बक, फिर तुर्कमान और ताज़िक आते थे। एक मकानके ऊपर १८६६ लिखा हुआ था, अर्थात् वह आजसे ३६ वर्ष पहिले बना था। स्टेशनकी ओर कितने ही सेबके बाग़ थे। यहाँकी आबोहवा वैसी ही थी, जैसी जाड़ोंमें लाहौर-की। बर्फ़ कहीं नहीं थी और पानी भी नहीं जमता।

अगले दिन (२२ जनवरी) दोपहर बाद घूमने निकला। कितने ही नए मकान बनते देखे। एक स्कूल मिला। दोतल्ला पक्की इमारत थी। देखनेकेलिए भीतर गया। फ़र्श लकड़ीकी ईंटोंका बना था, किन्तु पालिश नहीं थी। दरवाजा खटखटानेपर एक रूसी बुड्ढी आई। देखनेकी इच्छा प्रकट करनेपर उसने कमरोंको खोल-खोलकर दिखलाना शुरू किया। आज लेनिनका मृत्यु-दिवस था, स्कूलकी छुट्टी थी। मकानके ऊपर दूसरी जगहोंकी तरह काली हाशियाका लाल झंडा लगा हुआ था। वह मुझे एक उजबक भूगोल-अध्यापकके पास ले गई। अध्यापक छात्र-छात्राओंको फ़ोटो खीचनेका तरीका सिखला रहे थे। मुझसे वह बात करने लगे। इसी वक़्त दो प्योनिर्काओं—स्काउट बालचरियों—का डेपुटेशन आया। उन्हें मालूम हो गया कि इंदुस् (हिन्दुस्तानी) आया हुआ है। उन्होंने कहा—हम कुछ प्योनीर् और प्योनीर्का यहाँ जलूस निकालनेकी तैयारी कर रहे हैं। आपके बारेमें सुना, आप चलकर हिन्दु-स्तानके बारेमें एक व्याख्यान दें। मैंने कहा, मुझे व्याख्यान देने भरकी रूसी नहीं आती। उन्होंने कहा कि आप ताजिकीमें बोलें, हमारा एक ताजिक सहपाठी रूसीमें अनुवाद कर देगा। वह मुझे एक बड़े कमरेमें ले गये। वहाँ बेन्चोंपर कितने ही प्योनीर् प्योनिर्काएँ तथा अध्यापिकाएँ भी बैठी हुई थीं। एक मेज़के पास दो कुर्सियाँ रख दी गईं थीं और पीछे दीवारपर एसियाका नक़शा टाँग दिया गया था। पासकी कुर्सीपर १० वर्षका एक ताज़िक बालक बैठा था, जो दुभाषियाका काम कर रहा था। पहिले उन्होंने मेरी यात्राका रास्ता पूछा। मैंने नक़्शेपर दिखला दिया। फिर हिन्दुस्तानी प्योनीरके बारेमें पूछा। मैंने कहा—हिन्दुस्तानमें बहुत कम लड़के स्कूलमें पढ़ने जाते हैं, और उनमें भी बहुत कम प्योनीर (बालचर) बनते हैं। उन्होंने पूछा—बच्चे क्या करते हैं। मैंने कहा—काम करते हैं। एक ६ बरसके रूसी लड़केने अपनी छातीपर हाथ रखकर कहा—मेरे जैसे लड़के क्या करते हैं? मैंने कहा—तुम्हारे जैसे लड़के ढोर चराते हैं, दूसरोंके बच्चोंको खेलाते हैं, या कोई और काम करके पेटकी रोज़ी कमाते हैं। उनके चेहरोंको देखनेसे मालूम

होता था, कि वह मेरी बातपर विश्वास नहीं कर रहे हैं। मैंने पूछा—तुममेंसे किसीने कापितलिस्त (पूँजीपति) देखा है ? सबने 'नहीं' कहा, लेकिन एक लड़केने खड़े होकर कहा—मैंने देखा है। सब बच्चे सन्देहकी दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। मैंने पूछा—कहाँ देखा है ? उसने कहा—सिनेमाके फ़िल्ममें। मैंने कहा—हमारे देशमें कापितलिस्तोंका राज है, इसलिए अधिकांश बच्चे न स्कूल जाने पाते हैं और न प्योनीर बन सकते हैं। उन बच्चोंने कापितलिस्त नहीं देखे थे, लेकिन कापितलिस्तोंकी बहुतसी कहानियाँ सुनी थीं। वह कापितलिस्तको वैसा ही समझते थे, जैसे हमारे बच्चे पिशाच और दानवको। मेरी बातपर उन्होंने विश्वास किया। अपने देशमें सफ़ेद (पूँजीवादियों) और लाल (साम्यवादियों)के युद्धकी कथाएँ वह सुन चुके थे। स्पेनमें जो उस वक़्त सफ़ेद जनतापर जुल्म ढाह रहे थे, उसकी भी ख़बरें उन्होंने सुनी थीं। उन्होंने पूछा—सफ़ेद और लाल की लड़ाईमें आप किसकी ओर हैं। मैंने कहा—लालसेनाकी ओर। उन्होंने हिन्दुस्तानी सिक्का दिखलानेकेलिए कहा। मेरे पास अंग्रेज़ी सिक्के थे। मैंने उन्हें दे दिया। सबने एक-एक करके देखा। उनका धन्यवाद लेकर मैं स्कूलसे बाहर निकला।

शहरसे बाहर निकला। सड़कसे थोड़ा हटकर एक गाँव दिखाई दिया। वहाँ गया। यह कल्खोजी गाँव था, जिसका नाम था, "कलखोज़-बैनुल्मलल्" (अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती गाँव)। कलखोज़के आफ़िसमें गया। वहाँ रेडियो और बिजलीकी रोशनी लगी हुई थी। कोई ताजिक नहीं था, इसलिए मैं अपनी बातको समझा नहीं सका। मैंने ट्रेक्टर और खेतीकी दूसरी मशीनोंको देखा, गाँवके स्कूलको देखा। इस गाँवमें १५० उज़बक घर थे।

सारे मध्यएसियामें कपासकी खेती होती है, गेहूँ और दूसरी खानेके चीज़ें आसपासके प्रजातंत्रोंसे आती हैं। खेत जुत गये थे। लोग कपास बोनेकी तैयारी कर रहे थे, और कितने ही नर-नारी नहर साफ़ करनेमें लगे हुए थे। यहाँ ईंधनकेलिए कपासका डंठल इस्तेमाल किया जाता था। सभी मकान कच्चे थे, लेकिन खिड़कियोंमें शीशे लगे थे। किसी आदमीके शरीरपर फटा कपड़ा नहीं था और न चेहरा सूखा हुआ। मैं ब्रिगादीर—कमकरोंके सरदार—के कार्यालयमें पहुँचा। आँगनमें कितने ही लोग योजना बना रहे थे। द्वारपर कुत्ते बँधे थे। ब्रिगादीर बाहर आया, और इतने जोरसे हाथ मिलाया कि मेरा हाथ दुखने लगा। हम दोनों एक दूसरेकी भाषा नहीं समझ सकते थे, इसलिए बातचीत नहीं कर सके।

२३ जनवरीको मैं स्टेशन गया। मुहम्मदोफ़ मिल गये। वह मुझे लेकर अपने

गाँव कल्‌खोज-नमूमाकी ओर चल पड़े। हम पगडंडीके रास्ते गये। यह दो सौ घरोंका गाँव है, जिनमें कुछ घर ताजिकोंके भी हैं। इस गाँवको बसे १० साल हुए थे, जब कि वक्षुकी-नहर इधरसे निकली। इनके पास दो हज़ार एकड़ खेत हैं। एक ट्रेक्टर और दो खुली लारियाँ गाँवकी हैं। काम पड़नेपर मशीन-ट्रेक्टर-स्टेशनसे और भी ट्रेक्टर आजाते हैं। उस वक़्त एक ट्रेक्टर खेतमें चल रहा था जिसे एक रूसी चला रहा था। महम्मदने मेरा परिचय दिया, और ड्राइवरने आकर हाथ मिलाया। स्कूलमें गये। वहाँ ३५ बालिकाएँ और ५३ बालक पढ़ रहे थे, दो अध्यापक थे। पढ़ाईका माध्यम उज़बकी भाषा थी। अक्षर उन्होंने रोमन कर दिए हैं। हमारे यहाँकी तरह वहाँ १० बजेसे ४ बजे तक पढ़ाई नहीं होती। सबेरे ८ बजेसे १२ बजे तक और शामको २ बजेसे ६ बजे तक पढ़ाईका समय है। लेकिन सभी लड़कोंको ८ घंटा नहीं पढ़ना पड़ता। मुख्याध्यापकने चाय पीनेका निमंत्रण दिया। उनका मकान स्कूलसे पीछेकी ओर था। मकान कच्चा था, लेकिन साफ़-सुथरा था। भीतर एक मेज़ और दो-तीन कुर्सियाँ थीं। दीवारोंपर नेताओंकी तसवीरें लगी थीं। हम कुर्सियोंपर बैठ गये। अध्यापकने प्लेटमें कुल्चे लाकर रख दिए। थोड़ी देरमें लाल मुँह और पीले बालवाली एक स्वस्थ तरुणी चायका वर्तन लेकर आई। अध्यापकने "यह मेरी बीबी है" कहकर परिचय कराया। बीबी रूसी थी, इसलिए बात करना अधिक आसान था। सोवियत्‌में इस तरहके एसियाई–योरोपीय ब्याह बहुत हो रहे हैं, इतने ज्यादा हो रहे हैं कि इस शताब्दीके अंततक सभी जातियाँ मिश्रित हो जायँगी। चाय पीकर फिर बाहर निकले। मकतब (स्कूल) से सटा ही गाँवका चायख़ाना है। बैठनेकेलिए यहाँ भी दीवारके किनारे चबूतरे थे। वहाँ कई इकतारे रखे हुए थे। रातके नाच-गानकी तैयारी हो रही थी। फिर हम क्लुव (क्लब) में गये। क्लब गाँवके जीवनका बड़ा केन्द्र है। क्लबके हालमें पाँचसौ आदमी बैठ सकते हैं। उसके साथ ही पाँच और कमरे थे, जो पुस्तकालय आदिके काममें आते थे। गाँवोंमें हर हफ्ते चलते-फिरते सिनेमा आया करते हैं। उस वक़्त यह बड़ा हाल सिनेमाहाल बन जाता है। यहीं सभाएँ होती हैं, लेक्चर और नाटक होते हैं। अभी क्लबका मकान पूरी तौरसे तैयार नहीं हो पाया था। पक्की ईंटोंकी दीवारें तैयार थीं, लेकिन हालकी छत अभी नहीं पटी थी। बढ़ई दरवाजे तैयार कर रहे थे। अस्तबलमें गये। वहाँ ६० घोड़े थे, जो इस वक़्त चरनेकेलिए गये थे। लेकिन अस्तबल बहुत साफ़ था। हर घोड़ेका साज उसकी पीठवाली दीवारपर क़ायदेके साथ टाँगा हुआ था, गौशालामें १०० गाएँ थीं। इनके अतिरिक्त लोगोंके पास कुछ वैयक्तिक गाएँ भेड़ें और मुर्गियाँ थीं।

हर घरको अपने पिछवाड़े थोड़ा-थोड़ा खेत साग-सब्जीकेलिए मिला था, बाकी सारी खेती साझेमें होती थी। स्त्री-पुरुषोंकी टोलीसे ब्रिगेड बना हुआ था। हरेक आदमीका काम हाज़िरी बहीमें लिखा जाता था। अभी तो खेतीका काम नहीं था, खेतीके कामके वक़्त बच्चाखाना (शिशुशाला) संगठित किया जाता है, जिसमें कुछ औरतें बच्चोंकी देखभालको सँभाल लेती हैं। इस गाँवमें सिर्फ़ मिश्री कपासकी खेती होती है। पिछले साल ८ लाख रूबल (करीब ४ लाख रुपये) का कपास बेचा गया था, और हर घरको तीनसे पाँच हजार रूबल तककी आमदनी हुई थी। इस गाँवमें खरबूजे, तरबूजे और तरकारी आदिकेलिए भी अलग खेत हैं।

हम जब पुस्तकालय (वहाँ कई अख़बार थे) आदि देखकर स्कूलके पास पहुँचे, तो तेरमिजसे पाँच साइकिलवाले सैलानी आ गये। उनमें चार अध्यापक थे, एक डाक्टर—चार उज़बक और एक रूसी। रंगभेद जातिभेदका तो ख्यालतक भी इनके भीतर नहीं रह गया था। महम्मदके साथ जब हम लौटने लगे, तो पूरब ओर एक नीले गुम्बदवाली ऊँची इमारत देखी। मेरे कहनेपर महम्मद मुझे वहाँ ले गये। देखा, गुम्बदकी नीली ईंटें कहीं-कहीं निकल गई हैं, लकड़ीका ढाँचा बाँधकर उस वक़्त मरम्मत हो रही थी। महम्मदने बतलाया कि यह गाँवकी ओरसे नहीं, पुरातत्त्वविभागकी ओरसे हो रही है। मैंने भीतर जाकर देखा। वहाँ हातेमें हज़ारों क़ब्रें थीं। गुम्बदके भीतर कुछ पक्की और अच्छी क़ब्रें थीं। महम्मदने बतलाया, यह सुल्तानुस्सादात्की ज़ियारत है। क्रान्तिसे पहिले यह सारे मध्य-एसियाकेलिए एक बड़ा तीर्थ था, दूरतक गिरे हुए कच्चे घरोंको दिखलाकर उसने कहा—पहले यहाँ बहुत से मुजावर (पंडे) रहा करते थे। उसने बतलाया कि लोग दुख-सुखमें हज़रत सुल्तानुस्सादात्की मिन्नत माना करते हैं। मुजावरोंको खूब आमदनी होती थी। यदि उस वक़्त आप आये होते, तो गुम्बदके भीतरवाली क़ब्रपर ज़री और रेशमकी चादरें देखते। यहाँ सुगन्धित धूपका धुआँ दिखाई पड़ता, दर्शनकी भीड़ लगी रहती थी और अब देख रहे थे कि सिर्फ़ हम दो दर्शक हैं। क़ब्र वर्षोंसे बेमरम्मत हो गई थीं, जहाँ-तहाँ पत्थर-चूना निकलने लगता है। मैंने पूछा—वह मुल्ला मुजावर गये कहाँ ?

महम्मदने कहा—हमने उन्हें रवाना कर दिया। मैंने पूछा—कहाँ ? महम्मदने जवाब दिया—दोज़ख़में और कहाँ ? जब हम अमीर (नवाब) और बेगों (जागीरदारों)से लड़ रहे थे, तो यह मुल्ले फ़तवा देते थे, कि तुम अल्लासे लड़ रहे हो। हमने उसे भी मान लिया, और सोचा जो अल्ला अमीरके ही साथ रहता है, तो चलो दोनों

हीके साथ निबट लिया जाय। हम अपनी लड़ाईमें कामयाब हो गये और अब अमीर, अल्ला, मुल्लाको आप आमू-दरियाके उस पार पायेंगे। मैंने पूछा—"रफ़ीक़ महम्मदोफ़ ! क्या तुम्हें मज़हबकी ज़रूरत नहीं मालूम होती ?" महम्मदने इतमीनानसे जवाब दिया—"हम काम करना, पढ़ना जानते हैं, सबकी भलाईमें अपनी भलाई समझते हैं। खाना-पीना नाच-गाना जानते हैं, हमें और क्या चाहिए।" हम वहाँसे स्टेशन जा रहे थे, उस समय कुछ औरतें आ रही थीं। उनमेंसे कुछ पाजामा-कुर्त्ता और ओढ़नीमें थीं। मैंने महम्मदसे पूछा—तुम्हारे गाँवमें कोई नमाज़ पढ़ता है कि नहीं। महम्मदने जवाब दिया—चार साल पहिले कुछ रोज़ादार थे, किन्तु अब कोई नहीं रोज़ा रखता। दो-चार नमाज़ पढ़नेवाले हैं, लेकिन वह घरके भीतर पढ़ते हैं। मैंने पूछा—घरसे बाहर मस्जिदमें क्यों नहीं पढ़ते। जवाब मिला—उठते-बैठते देखकर युवक-युवतियाँ मज़ाक़ उड़ाते हैं।

२४ जनवरीको मैं फिर शहरमें चक्कर काटने निकला। कारख़ानोंकी ओर गया, वहाँ बच्चाख़ाना (शिशुगृह) देखा। पक्का साफ़ मकान था। सर्दीसे बचनेकेलिए उसे गरम किया गया था। सोनेकेलिए चारपाइयाँ पड़ी थीं। दाइयाँ, खिलौने सभी चीज़ें थीं। एक क्लुबमें गया। वहाँ कई कमरे थे, और दो सौ कुर्सियोंका एक हाल था। आज "पुगाचेफ़ फ़िल्म" दिखलाया जानेवाला था। दो नवजवान और एक युवती मोटे-मोटे अक्षरमें विज्ञापन लिखनेमें जुटे थे।

हाट देखने गया। वहाँ मूली, चुक़न्दर, गाजर, गोभी, आलू आदि चीज़ें बिक रही थीं। यह सब चीजें खुली जगहमें बिक रही थीं, बेचनेवाले आसपासके कल्खोज़ोंके किसान थे। कुछ दूकानें भी थीं, जिनमें बड़ी-बड़ी पावरोटी आरीसे काट-काटकर बिकती थी, रोटियाँ बहुत सस्ती थीं। एक शरतराशख़ाना (हजामघर) भी था। मैंने बाल बनवाये, जिसके तीन रुबल (प्रायः डेढ़ रुपया) देने पड़े। अफ़ग़ानसरायमें कुछ अफ़ग़ान सौदागर मेरे ही कमरेमें ठहरे हुए थे। वह अपने साथ गोश्त ले आये थे। दो-एक दिनमें गोश्त ख़तम हो गया, तो चौकीदारसे कहा—हमारेलिए एक भेड़का अच्छा गोश्त ले आओ।" चौकीदारने कहा—"हाँ साहेब। मैं कल्खोज़का गोश्त लाऊँगा।" मैंने पीछे चौकीदारसे कहा—"अच्छा गोश्तका मतलब समझा ?" उत्तर दिया—"हाँ उनका मतलब है, हलाल किया हुआ गोश्त। जानवरको रेत-रेतकर मार करके तैयार किये गोश्तको अच्छा समझते हैं। यहाँ कौन रेतनेकेलिए तैयार है। गोश्त तो वही हैं, लेकिन मैंने कोलख़ोज़ कह दिया है, वह समझ रहे हैं कि गाँवोंमें भेड़ें हलाल की जाती हैं।"

एक दिन मैं बाहरसे घूमकर सरायकी ओर आ रहा था। देखा सड़कपरसे कितने ही स्त्री-पुरुष हँसते हुए सरायके फाटकके भीतरकी ओर देख रहे हैं। सामने आकर देखा तो एक उज़बक और एक रूसी दो जवान एक दूसरेके कन्धेपर हाथ रखे झूमते-झामते लड़खड़ाते गीत गाते आ रहे हैं। उन्होंने शराब कुछ ज़्यादा पी ली थी, इसलिए एकका अलाप पूरब जाता था, तो दूसरेका पच्छिम। सब लोग उसका आनन्द ले रहे थे। उनको देखकर मेरे दिलमें दूसरा ख्याल हो आया—"इनमें एक काला है, और एक गोरा, किंतु आज काले गोरोंका फर्क यहाँ कुछ नहीं है"। वक्षुके किनारे अफ़ग़ानिस्तानसे आये बहुतसे रुईके गट्ठर पड़े थे, वहाँ भी मैंने देखा, कितनी ही काली-गोरी औरतें फटे बस्तोंको सी रही थीं। जिस नावसे मैं आमू-दरिया पार हुआ, उसमें १२ ख़लासी थे, जिनमें १० रूसी थे। सब साथ-साथ सामान ढोते रहे और जब नाव चली, तो साथ ही बैठकर चाय-रोटी खा रहे थे। सोवियत्-भूमिमें ऐसे दृश्य बिल्कुल साधारण है।

पासपोर्टके इन्तिज़ाममें देरी देखकर मैं गस्तनित्सामें चला आया। यहाँ अलग कमरा नहीं पा सका, इसलिए एक रूसी इंजीनियरके कमरेमें मुझे जगह मिली। २६को चलनेका सब इन्तिज़ाम हो गया। मेरे पासके रूसी सिक्के ख़तम हो गये थे। २० रूबल दुरुश्की (घोड़ागाड़ी)के नदी तटतक देने पड़ते। रुपयोंकेलिए बैंकके खुलने आदिका इन्तिज़ार करना पड़ता। मैंने अपनी घड़ी इंजीनियरको दे दी—उसकी बातोंसे मालूम हुआ था, कि उसे एक घड़ीकी ज़रूरत है। वह पैसा देने लगा, मैंने सिर्फ़ उसमेंसे २० रूबल लिये। उसे आश्चर्य हो रहा था। मैंने कहा—आमूपार तो मैं एक भी रूबल नहीं ले जा सकता, फिर अधिककी क्या ज़रूरत?

२६ जनवरीको १० बजे अपना सामान लिये-दिये मैं एक घोड़ागाड़ीपर घाटकी ओर चला। रास्तेमें कुछ ख़ाली जगह मिली, फिर गाँव और खेत आये, आगे सिपाहीने रोका। पासपोर्ट देखनेपर वह हमें कनत्रोलरके यहाँ ले गया। काग़ज़-पत्तर देख लेनेपर फिर मैं नदीके किनारे पहुँचा। चीनी, लोहा, कपड़ा, चीनीबर्त्तन यह चीज़ें सोवियत्से अफ़ग़ानिस्तानको जाती हैं, जिनके बदलेमें अफ़ग़ानिस्तान ऊन, चमड़ा, कपड़ा, और सूखे मेवे भेजता है। घाटपर मेरे बक्सोंको खोलकर एक-एक चीज़को गौरसे देखा गया। काग़ज़ोंकी छानबीन हुई। कनत्रोलर बुलाया गया। वह अख़बारकी कतरन और आमतौरसे बिकनेवाले फ़ोटो देना नहीं चाहता था। मैंने समझाया कि हिन्दुस्तानमें जाकर मुझे सोवियत्-भूमिपर एक पुस्तक लिखनी है। ख़ैर, आख़िरमें उसने सभी चीज़ें लौटा दीं। २ बजे बाद मोटरबोट रवाना हुआ। वहाँ मैं अकेला यात्री था, बाक़ी माल, माल उतारनेवाले तथा ख़लासी नाविक थे। वक्षु जिसे ओक्सेस

और आमू-दरिया भी कहते हैं, गंगासे कम चौड़ी और गहरी नहीं है। यही सोवियत् और अफ़ग़ानिस्तानकी सीमा है। मोटरबोटको नदी आरपार करनेमें एक घंटा लगा। दूसरे किनारेपर पहुँचनेपर अफ़ग़ान-अफ़सर मुझे नाव पर ही रोके रहा।

२८

अफगानिस्तानमें (२६ जनवरी–८ फरवरी १९३८)

सामानको नीचे उतारा गया। अफ़सरने मामूली तौरसे जाँच की। अफ़ग़ान (पठान) होते हैं ज्यादा मेहमान-नेवाज़। उसने चाय पिलाई और रहनेकेलिए कहा। यह लोग नदीके कछारमें तम्बू डालकर पड़े हुए थे। मैंने उन्हें तकलीफ़ देना नहीं चाहा और कहा कि मैं जल्दीसे जल्दी मज़ारशरीफ़ पहुँच जाना चाहता हूँ। उसने कहा--मैं मज़ारसे ताँगा भेजनेकेलिए टेलीफ़ोन कर देता हूँ, और यहाँसे साथमें सिपाही भेज दूँगा, असकरख़ानामें आपको ताँगा मिल जायगा। २५ अफ़ग़ानी (साढ़े १२ रुपये)में दो घोड़े किराये कर दिये। एक घोड़ेपर सामान रखवा दूसरे घोड़ेपर चढ़के सिपाहीके साथ मैं चला। उस वक़्त सूर्य डूब रहा था। वक्षुकी कछारोंमें मूँजका जंगल लगा हुआ था। इसी जंगलमेंसे रास्ता था। मँगाने पर मोटर किनारे तक आ सकती थी, किंतु वह खर्चीली थी। दो मील चलनेके बाद एक फ़ौजी चौकी मिली। साथ आए सिपाहीने वहाँ चिट्ठी दी। यहाँ भी रहनेकेलिए लोगोंने मूँजकी झोपड़ियाँ बना ली थीं। मुझे झोपड़ीमें बैठाया और बहुत आग्रह करके भोजन कराया गया। भोजन चाहे जितना सीधा-सादा हो, लेकिन जब उसके साथ प्रेम और सत्कार मिल जाता है, तो वह बहुत मधुर हो जाता है। वक्षुतटसे ख़ैबर तक पठानोंका साथ रहा, हर जगह मैंने उन्हें अकृत्रिम स्नेह-सत्कार दिखलाते पाया। सोवियत्-भूमिमें भी स्नेह-सत्कार है, लेकिन वह बिलकुल दूसरी दुनिया है। भोजनके बाद दो सशस्त्र घुड़सवार मेरे साथ कर दिए गये और डेढ़-दो घंटा रात गये मैं फिर रवाना हुआ। इस रातको भी ऊटोंका काफ़ला वक्षु-तटकी ओर जा रहा था। सशस्त्र सवार इसलिए जरूरी समझे गये थे, कि रास्तेमें कोई ख़तरा न आए। ५ मील चलनेके बाद अस्करखाना आया। यह एक छोटासा किला था। ताँगा आकर वहाँ खड़ा था। अफ़सरने दो नए सवार दिए, और हमारा ताँगा आगेकेलिए रवाना

हुआ। आधीरात गये हम शागिर्दकी फ़ौज़ी चौकीपर पहुँचे। यहाँ फोन नहीं आया था, इसलिए आगे जानेका इंतजाम नहीं हो सका और रातको हम वहीं एक घरमें सो गये। सबेरे (२७ जनवरी) शागिर्दसे चले। शागिर्द किसी वक़्त बड़ी बस्ती थी, लेकिन अब उजड़ गई है। यहाँ पासमें न पहाड़ हैं न जंगल, लेकिन पशु-चारणकेलिए अच्छी जगह है।

यही पुराना वाह्लीक देश है। सड़क कच्ची थी, लेकिन ख़राब नहीं थी। दूरसे मज़ारकी ज़ियारतके नीले गुम्बद दिखलाई पड़ने लगे। पहिले हवाई अड्डा आया, लेकिन आजकल वह परित्यक्त है, क्योंकि अमानुल्लाके शासनके ख़तम होनेके बाद काबुलसे ताशकन्द हवाई जहाज़ोंका जाना बन्द हो गया। फिर एक कच्चा क़िला आया, जिसके पास जानवरोंका बाज़ार लगा था। गुमरग्में गये, सामान वहाँ रखवा लिया गया, और सरकारी होटलमें हमारे रहनेका इन्तिज़ाम करके भेज दिया गया। बलख़, मज़ारशरीफ़ और आगे ऐबकतक उज़बक लोगोंका प्रदेश है—वही उज़बक जो वक्षु पार सोवियत् उज़बकिस्तानमें बसते हैं अर्थात् ताशकन्दसे ऐबकतक सारा प्रदेश उज़बक-जातिका है। सोवियत्की तुर्कमान और ताज़िक जातियोंके भी लाखों भाई-बन्द इसी तरह अपने भाइयोंसे अलग करके काबुलके राजमें डाल लिये गये हैं। अफ़ग़ानिस्तानके भीतर रहनेवाले ये लोग जानते हैं, कि नदी पार उनके भाई एक नया स्वर्ग बनानेमें लगे हुए है, और बहुत दूरतक उनका जीवन एक बहिश्ती ज़िन्दगीसा हो गया है। यद्यपि दूसरी सरकारोंकी तरह अफ़ग़ान-सरकार भी कोशिश करती है कि उसके यहाँके ताज़िक-उज़बक-तुर्कमान अपने सोवियत्-निवासी भाइयोंसे कोई सम्पर्क स्थापित न रक सकें; लेकिन उन्हें आमूके किनारे तो जाना ही पड़ता है, जहाँसे वह मीलोंतक बलती तेरमिज़की बिजली-बत्तियोंको देख सकते हैं। कभी-कभी छिपकर आने-जानेवालोंसे और भी बातें उन्हें मालूम होती रहती हैं। सोवियत् कौन्सलत् और दूतावासमें भी उनके भाई अफ़सर होकर आते हैं, उनसे भी कभी-कभी बातचीतका मौक़ा मिलता है। इस लड़ाईके बीचमें तो सोवियत्के इन प्रजातन्त्रोंको अपनी सेना ही रखनेका अधिकार नहीं मिला है, बल्कि वह दूसरे देशोंमें अपने राजदूत भी रख सकते हैं। जिस वक़्त उज़बक, तुर्कमान और ताजिक प्रजातन्त्र अफ़ग़ान सरकारसे दूत-सम्बन्ध स्थापित करनेकेलिए कहेंगे, उस वक़्त इन-कार करना आसान नहीं होगा। सोवियत्-सीमाका हिन्दकुशतक पहुँचना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि उसका पोलैंडकी ओर कर्ज़न-रेखा तक था। यद्यपि अफ़ग़ा-निस्तानके ताजिकों, उज़बकों, तुर्कमानोंको "बोलशेविक लामज़हब हैं" कहकर बहुत

भड़काया जाता है, लेकिन मैंने स्वयं कुछ ताजिकों और उज़बकोंको कहते देखा ——यह सब बातें झूठी हैं, एक दिन अपने भाइयोंसे मिलनेमें ही हमारा कल्याण है।

मज़ार एक अच्छा खासा कसबा है। वह अफ़ग़ानी तुर्किस्तानका व्यापारकेन्द्र है। पहिले यहाँ काफ़ी हिन्दुस्तानी दूकानें थीं, लेकिन अब अफ़ग़ान-सरकार विदेशी सौदागरोंको प्रोत्साहन नहीं देती। बहुतसे रोज़गार सरकारने अपने हाथमें ले लिये, जिससे व्यापारियोंकेलिए मुक़ाबला करना मुश्किल हो गया। दोपहर बाद ताँगेसे बलख़ देखने गया। बलख़ यहाँसे ६ क्रोर (कोस) है। १५ अफ़ग़ानी (प्रायः ४ रुपयामें) आने-जानेका ताँगा किया था। घोड़ोंके बारेमें क्या पूछना। वाह्लीकके घोड़े टहरे। वाह्लीक घोड़े पुराने समयमें भी मशहूर थे। इधर ताँगेमें जुतता तो एक ही घोड़ा है, लेकिन उसके साथ-साथ एक और भी घोड़ा चलता है। सड़क कच्ची थी। रास्तेमें तख़्तापुल नामक एक कच्चा क़िला मिला। आजकल यह ख़ाली पड़ा है। फिर दूरतक फैला बलख़-नगरका ध्वंसावशेष है। हज़ार साल पहिले यह दुनियाके सबसे बड़े शहरोंमें गिना जाता था, आज भी इसे मादरेशहर कहते हैं किन्तु अब जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव रह गये हैं। हज़रत अकसाका मज़ार बहुत पवित्र माना जाता है, इसके आसपास हज़ारों क़ब्रें बनी हैं। साथ चलनेवाला ताजिक बतला रहा था, कि हज़रत अकसाकी छायामें जिसकी क़ब्र बन जाय, उसको दोज़ख़-की आग नहीं जला सकती। अफ़ग़ान-सरकार बलख़में एक शहर नहीं छोटा-मोटा क़सबा बसाना चाहती है। बड़ी मस्जिदके थोड़े हिस्सेकी मरम्मत की गई है, उसके सामने गोल बाग़ बनाया गया है। एक ओर बहुतसी नई दूकानें बस गई हैं। यह दूकानें मज़ारसे लाकर बसाये गये यहूदियोंकी है, लेकिन मँगनीकी चीज़ोंको बेचनेसे थोड़े बड़े-बड़े शहर बसा करते हैं। बलख़का भाग्य तभी खुलेगा, जब कि यहाँके उज़बक भी अपने वक्षुपारके भाइयोंसे मिल जायेंगे।

मकानोंके बनानेकेलिए यहाँ ईंटोंके पकानेकी ज़रूरत नहीं पड़ती। ज़मीनके नीचे पुराने घरोंकी इतनी ईंटें पड़ी हैं, कि हज़ारों घर तैयार किये जा सकते हैं। एक जगह ईंटें निकाली जा रही थीं। मैंने जाकर देखा, वहाँ साढ़े तीन हाथ मोटी दीवार थी और एक-एक ईंट १५ इंच लम्बी और १५ इंच चौड़ी ३ इंच मोटी थी। आज ही मेरे पैरमें मोच आ गई थी, इसलिए ज्यादा नहीं घूम सकता था। ताँगा छोटीसी नदीके पुलसे पार हो रहा था, पुलपर कुछ लकड़ियाँ रखी थीं, घोड़ेका पैर उसमें फँस गया और चरंकी आवाज़के साथ वह वहीं गिर गया। मैंने तो समझा कि हड्डी टूट गई। लेकिन ताँगावाला घोड़ा खोलकर टहलाने लगा। दूसरा घोड़ा लगाके

कुछ मील दौड़नेके बाद उसका लँगड़ाना छूट गया।

अगले दिन (२८ जनवरी) मैंने पूछ-ताछ की, तो मालूम हुआ कि हुबली (कर्नाटक)के कप्तान प्रभाकर यहाँ चिकित्सक हैं। उनके पास गया। बड़े प्रेमसे मिले। वह २० महीनेसे यहाँपर हैं। पहिले आई० एम० एस० डाक्टर थे, पेन्शन लेनेके बाद उन्होंने दो सालकेलिए अफ़ग़ान-सरकारकी नौकरी कर ली थी। धर्मसे वह ईसाई थे, लेकिन हिन्दुस्तानसे बाहर जानेपर हिन्दुस्तानियोंको हिन्दू-मुसलमान-ईसाईका ख्याल भूल जाता है, और वह अपनेको हिन्दुस्तानी समझने लगते हैं। यदि किसी अभागेने नहीं समझा, तो वहाँवाले ठोकर मार-मारकर समझा देते हैं।

२९ जनवरीको मैं बल्दिया (म्युनिसिपैल्टी)का म्यूज़ियम देखने गया। यहाँ पुराने सिक्कोंका अच्छा संग्रह है। यूनानी और कुषाण कालके चाँदी, सोने, ताँबेके हज़ारसे ऊपर सिक्के हैं। ज्यादातर सिक्के यहाँसे ३ कोस दक्खिन शहरवानमें मिले थे। गन्धारकलाकी कितनी ही चूनेकी मूर्त्तियाँ भी हैं। कुछ पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें थे, जिनमेंसे एक हज़ार वर्षसे ज़्यादा पुरानी थी।

गुमरगने मेरे दोनों बकसोंपर मुहर लगा दी और उनके बारेमें काबुल तार भी दे दिया। मजारशरीफ़से काबुलको लॉरियाँ बराबर जाया करती हैं। ६० अफ़ग़ानी (१५ रुपया)में काबुल जानेवाली लारीपर ड्राइवरके पास सीट मिली। रुपयोंके हिसाबमें पेशावरसे २० रुपयेमें आदमी मज़ारशरीफ़ पहुँच सकता है, और २५ रुपयेमें सोवियत्की सीमाके भीतर दाखिल हो सकता है। हमारी लॉरीके मालिक ज़रीफ़ख़ान बड़े ही भलेमानुस निकले। काबुलतक उन्होंने अपने ही साथ खानेके-लिए मुझे मजबूर किया। मुझे वह एक भी पैसा ख़र्च नहीं करने देते थे। दोपहर बाद हम मज़ारसे रवाना हुए। पहिले खुला मैदान था, फिर पहाड़के भीतर घुसे। कोतल-ऐबक (ऐबकजोत) एक छोटासा डाँड़ा है, उसे पारकर उस दिन रातको ऐबककी सरायमें ठहरे। अब हम हज़ारा लोगोंके प्रदेशमें आ गये थे। हज़ारा मंगोल—चंगेज़खाँवाले मंगोल—हैं। अफ़ग़ानिस्तानमें सिर्फ़ यही शिया धर्मके माननेवाले हैं, बाक़ी सभी सुन्नी हैं।

अगले दिन (३० जनवरी) १० बजे रवाना हुए। कोतल-रोबातक काफ़ी ऊँची जोत है। यहाँ ऊपर बर्फ़ थी। मैंने लॉरीमें कई तावीज़ें बँधी देखी। ड्राइवरसे पूछा, तो उसने कहा—"अभी आगे आप देखेंगे, रास्ता बहुत ख़तरनाक है। मैंने बड़े-बड़े पीरोंकी तावीज़ें ली हैं, यह न होती, तो गाड़ी न जाने कितनी बार उलटी होती।" उस वक़्त मुझे महम्मदोफ़की बात याद आई। उसने कहा था, कि सुल्ता-

नुस्सादातकी ज़ियारतमें गदहोंकेलिए भी तावीज़ मिलती थी। आगे उतराईके बाद मैदानी ज़मीन आई, यह था गोरीका प्रदेश, जिसने हिन्दुस्तानके विजेता सुल्तान शहाबुद्दीनको पैदा किया था। यहाँ शाली (धान)के खेत बहुत ज़्यादा थे। काफ़ी रात जानेपर हम दोशी पहुँचे, और रातको यहीं ठहर गये।

३१ जनवरीको चाय पीकर चले। भूमि सारी पहाड़ी है। कुछ चढ़ाई आई, इधर खेत और बाग़ बहुत थे, पहाड़ नंगे थे और उनपर बर्फ़ नहीं थी। उस दिन रातको हम वल्वलामें ठहरे। अगले दिन (१ फर्वरी) तड़के ही रवाना हुए। थोड़ा आगे जानेपर वल्वलाका किला मिला। किलेसे थोड़ा पहिले ही बामियानकी सड़क अलग हुई। बामियान देखनेकी इच्छा थी, लेकिन इस वक़्त तो सामानके साथ पहिले काबुल जाना ज़रूरी था। काबुलसे आनेका विचार कर रहे थे, इसी बीच बर्फ़ पड़ गई, और फिर आनेका रास्ता नहीं रह गया। किलेसे आगे चढ़ाई थी, और बरफ़के ऊपर लारीके पहिए फ़िसल रहे थे। सब लोग उतर गये। बड़ी मुश्किलसे लारी आगे बढ़ी। एक छोटासा कोतल पार हो फिर कुछ दूरपर हिन्दुकुशका सबसे बड़ा डाँड़ाँ कोतल-शक्कर आया। यहाँ चारों ओर बरफ़ ही बरफ़ थी। आगे उतराई और बरफ़ मिलती गई। शामसे बहुत पहिले हम चारदी-गुर्बन पहुँचे। गुर्बन नदीके किनारे चारदी बड़ी बस्ती है, यहाँ दूकानें भी काफ़ी हैं। एक देशी होटलमें ठहरे। पता लगा, मिट्टीकी पिटारियोंमें बन्द किए ताज़े अंगूर यहाँ मिलते हैं। ज़रीफ़ खानको मालूम होने नहीं दिया, और मैंने २,३ सेर अंगूर खरीद मँगवाया। खानेकेलिए मैं यहीं अपना पैसा खर्च कर सका।

रातसे ही बरफ़ पड़ने लगी थी। दूसरे दिन (२फर्वरी) जब हम चले, तब भी बरफ़ पड़ रही थी। गुरबन नदीकी धार बह रही थी, किन्तु उसके किनारेपर सफ़ेद बरफ़की मगजी लगी हुई थी। एक जगह गदहेवाला लारीसे बिल्कुल चार अंगुलपर खड़ा था। ड्राइवरने जब हटनेकेलिए कहा तो उसने कहा—"बरौ, खुदा खैर कुनी" (जाओ, खुदा खैर करेगा)। आगे शागिर्दकी बड़ी बस्ती आई। यहाँ बड़ा किला है। गुरबन नदीका किनारा छोड़कर हम दाहिनी ओर मुड़े, फिर मतकका कस्बा आया। "मतकता अतक" (मतकसे अटक) पठानोंका देश कहा जाता है। अब कोहदामन—कपिशा—की विस्तृत उपत्यका थी। ढाई हज़ार बरससे अपने अंगूरोंकेलिए कपिशा मशहूर है। चहारेकार यहाँका बड़ा क़स्बा है। सारी कपशा बरफ़से ढँकी हुई थी। छतोंके ऊपर लंबे-लंबे छेदोंवाली दीवारें खड़ी देखकर, मैं पहिले समझने लगा कि यह बंदूकका निशाना लगानेकेलिए हैं; लेकिन एक ओर थोड़ीसी इकहरी

दीवार इसकेलिए उपयुक्त नहीं थी। ज़रीफ़ खानने बतलाया कि इनपर अंगूरके गुच्छे सुखाए जाते हैं। चाहारेकारमें पचासों सुनारोंके घर हैं, जिनको देखकर पता लगता था कि पठानियोंको ज़ेवरका बहुत शौक़ है। सड़कसे बाएँ हटकर एक जला हुआ घर मिला। मेरे साथीने बतलाया, यही बच्चा-सक्काका घर है। बच्चा-सक्का ताजिक था। कोहदामन सारा ताजिकोंका है। यहाँसे बदख्शाँ होते ताज़िकिस्तान तक सारा प्रदेश ताज़िक लोगोंका है। ताज़िक पढ़ने-लिखनेमें ज्यादा होशियार और लड़नेमें बहादुर होते हैं। मध्यएसियामें जब ७ वीं सदीमें अरब पहुँचे, तो ताजिकोंने उनके दाँत खट्टे कर दिए थे। आज १४ लाख ताजिकोंका अपना एक सोवियत् प्रजातंत्र है। शिक्षा, उद्योग-धंधा, सेना सभीमें वह बहुत तेजीसे उन्नति कर रहे हैं, और उनकी प्रगतिको कोहदामनके ताजिक बड़ी लालसासे देखते हैं। दो बजे कपिशा पारकर हम एक छोटेसे कोतलपर पहुँचे, इसकी एक ओर कपिशा थी, और दूसरी ओर कुभा (काबुल)। वस्तुतः यही कोतल (जोत) पठान और ताज़िक देशोंकी सीमा काबुल-उपत्यकामें भी चारों ओर बरफ़ दिखाई पड़ती थी। वृक्षोंपर पत्ते नहीं थे, बालाबाग पहिले मिला, फिर हम काबुल शहरमें प्रविष्ट हुए। बस हमें होटल-काबुलके सामने ले गई। यह सरकारी होटल था। ठहरनेकेलिए एक कमरा मिल गया।

काबुलमें (३–७ फर्वरी)——गुमरगमें गये, बकसोंको खोलकर दिखलाया। इस कामसे छुट्टी पाकर अकदमी-अफ़गान (अफ़गान-परिषद्) में पहुँचे। यहाँ एक भारतीय भाई याकूब हसन खाँसे मुलाक़ात हुई। २३ साल पहिलेकी बात है। उस वक़्त जर्मनीके साथ भीषण युद्ध चल रहा था, उसी वक़्त लाहौरके कालेजके कुछ विद्यार्थी देशसे यह ख़्याल लेकर भाग निकले, कि बाहर जाकर अपने देशको आज़ाद करनेकी तदबीर करेंगे। याकूबहसन उन्हीं तरुणोंमें थे। अब भी उनके हृदयमें देश-भक्तिकी आग जल रही थी। लेकिन अब अधिकतर उनका समय साहित्यिक कामोंमें लगता है। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ५ घंटे मैं वहीं रहा। अकदमी पश्तो साहित्यकेलिए बहुत काम कर रही है। उसमें एक नया व्याकरण और कोष तैयार किया जा रहा था, कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। काबुलके पठान सदियोंसे फ़ारसी भाषाको अपनाए हुए हैं। काबुलकी सड़कोंपर फ़ारसी उसी तरह बोली जाती है, जैसे पश्तो। पहिले पठान अपनी मातृभाषाको गँवारू समझकर उपेक्षा करते थे, लेकिन अब राष्ट्रीयताका भाव उनमें जग गया है, इसलिए वह पश्तोको ही सर्वोपरि रखना चाहते हैं। मेरे काबुल रहते वक़्त याकूब हसन बराबर चार-चार

पाँच-पाँच घंटा मेरे साथ रहते। पश्तोभाषा और संस्कृतभाषाका क्या सम्बन्ध है, इसपर बहुत विचार होता रहा। उन्होंने हज़ारों शब्द जमा किए थे, और मुझसे संस्कृत प्रतिशब्द पूछा करते थे। यद्यपि पश्तोपर ईरानीका भी प्रभाव है, लेकिन संस्कृतसे उसका सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ है। वारिको बाल, आपको ओबा, तोयको तोय ही कहा जाता है, इसी तरह गिरिशाको गरसै, अप्शाको ओसैं कहकर वैदिक शब्दोंसे भी वह अपनी घनिष्ठता बतलाती है। सरवन्त पश्तोमें सड़वन है।

४ फ़र्वरीको बर्फ़ गिरनी शुरू हो गई, इसलिए अब एक-दो दिन पेशावर जानेकी आशा नहीं थी, क्योंकि आगेकी जोतोंमें बरफ़के ज्यादा हो जानेसे जाना सम्भव नहीं था। ५ फ़र्वरीको फ़्रेंच-दूतावासके मोशिये मोनियेसे मुलाक़ात हुई। कपिशा अपनी उपत्यकामें किसी वक़्त बड़ी नगरी थी, इसके ध्वंसावशेषको बगराम कहते हैं। कुछ ही समय पहिले फ़्रेंच विद्वानोंने इसकी खुदाई की थी, जिसमें बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री मिली थी। मोनिये इस खुदाईमें रहे थे। उन्होंने खुदाईके कुछ फ़ोटो दिखाये। फिर हमारे साथ वह काबुल-म्यूज़ियम गये। म्यूज़ियम दारुलअमानमें है—अमानुल्ला यहाँ नया नगर बसाना चाहते थे, लेकिन बसनेसे पहिले ही धर्मान्धोंने उन्हें काबुलका तख़्त छोड़नेकेलिए मजबूर किया। म्यूज़ियम नया है। बच्चासक्काके ज़मानेमें कुछ मूर्त्तियाँ ख़राब हो गईं; तो भी यहाँका संग्रह बहुत सुन्दर है। हड्डासे प्राप्त एक मैत्रेय मूर्त्तिकी दोनों तरफ़ अफ़ग़ान और शक परिधानका सुन्दर चित्रण था। मैंने जब इतिहास-विभागके विद्वान अहमदअलीख़ाँसे उस मूर्त्तिको दिखलाते हुए कहा—देखिये, पठानियाँ दूसरी तीसरी सदीमें भी सलवार पहनती थीं। सलवार आज भी हम देखते हैं, लेकिन जैसी गोल, चढ़ा-उतार, और ख़ूबसूरत शिकन पड़ी यह सलवार थी, वैसी अहमदअलीने भी नहीं देखी थी, वह उछल पड़े।

स्याहगिर्द-शागिर्द (कपिशा)से मिली मिट्टीकी सुन्दर रंगीन मूर्त्तियाँ देखीं, उनके रंग अब भी ताज़ा मालूम होते थे। स्त्रियोंके केशोंको पचासों तरहसे सजाया गया था। मोनिये कह रहे थे, कि इन केशविन्यासोंको पेरिसकी सुन्दरियाँ पायें, तो निहाल हो जायें। बेग्रामसे हाथीदाँतके ऊपर साँची और भरहुतकी तरहके किसी स्तूपका बहुत सुन्दर चित्र उत्कीर्ण है। वहींसे गंगा-यमुनाकी काष्ठकी सुन्दर मूर्त्तियाँ मिली हैं। पाणिनिके वक़्त (ईसापूर्व चौथी सदीमें) कपिशाकी सुरा और अंगूर बहुत मशहूर थे, वहाँसे काँचकी बहुत सुन्दर सुराधानी और चषक मिले हैं। यहाँके पुराने हिन्दुओं और बौद्धोंकी कितनी ही चीज़ें म्यूज़ियममें मैंने देखीं। काबुलमें ४०० घर हिन्दू रहते हैं, उनके २२ मन्दिर हैं।

हिन्दू अपने घरोंमें पंजाबी बोलते हैं। काबुलके अलावा चारिकार, बेग्राम, कन्धार, ग़ज़नी और जलालाबादमें भी हिन्दू बसते हैं। इनमें ब्राह्मण (सारस्वत, मोहियाल) खत्री, अरोड़ा, वैश्य, (उत्तरार्धी, दक्षिणी, सुनार आदि) जातियाँ हैं। हिन्दू अधिकतर दूकानदारी करते हैं। वह अपनेको महमूद ग़ज़नीके समय आया बतलाते हैं। उन्होंने अपने कई तीर्थ बना लिये हैं। दर्राशक्कर, शंकर बन गया, और वहाँ उनका मानसरोवर झील है। सरायखोजाके पास कलायगग्गरमें जटाशंकर हैं, लोगरके पास वाणगंगा है। ताशकुर्गान् और ऐबकके पास कवलानी गाँवका चेक्-आब शिवजीका चश्मा है। आज वसन्तपंचमी थी, हम लोग आसामईके मन्दिरमें गये, दो हारमोनियम, सितार और तबलापर विनयपत्रिका (तुलसीदास) के पद गा रहे थे।

९ फ़र्वरीको धूप निकल आई थी, बर्फ़ पिघलने लगी। सड़कोंपर कीचड़ उछल रही थी। रास्तेसे चलना आसान नहीं था। हम शहरके भीतर चौक और बाज़ार देखने गये। वहाँकी टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंको देखकर बनारस याद आ रहा था। यद्यपि अब लाल पगड़ीका निर्बन्ध नहीं है, तो भी बहुतसे हिन्दू लाल पगड़ी बाँधते हैं। कितनी ही हिन्दू स्त्रियाँ पीला बुरक़ा भी ओढ़ती हैं। बाग़बान-कूचामें "जोगियाँदाथावँ" या "बड्डाथावँ" काबुलमें सबसे बड़ा हिन्दूमठ है। कहते हैं, यहाँ गोरखनाथके शिष्य वीररतननाथ आये थे, उन्होंने आँगनके सूखे वृक्षको हरा कर दिया था। इसके महन्त पेशावरमें रहते हैं, आसामईके महन्त राघवदास भी पेशावरमें रहते हैं। पहिले साधू लोग यहाँ आया जाया करते थे, लेकिन जबसे पासपोर्ट लेना ज़रूरी हो गया, तबसे साधुओंका आना बन्द हो गया। मैंने काबुलमें दो फ़िल्म देखे, जो दोनों ही अमेरिकन फ़िल्म थे। उनमें फ़ैशन और नई रोशनीकी भरमार थी। दर्शक बहुत कम थे। मैंने अपने साथीसे पूछा तो उन्होंने बतलाया कि हिन्दुस्तानी फ़िल्म जब आता है, तो दर्शकोंकी भीड़ लग जाती है, लेकिन हमारे मालिक अमानुल्लाके पतनके बाद खुलकर तो नहीं कुछ करते, लेकिन भीतर ही भीतर युरोपियन भेस और भाव का प्रचार करना चाहते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि यद्यपि अमानुल्लाके समयकी तरह अब मुँह खोले स्त्रियाँ बाहर नहीं घूमतीं, लेकिन घरके भीतर पर्दा नहीं रखतीं और युरोपियन पोशाक पहनती हैं।

काबुलसे प्रस्थान—८ फर्वरीको ५ रुपएपर पेशावरकी लारीमें ड्राइवरके पास बैठनेकी जगह मिली। काबुलसे पेशावर १९१ मील है। १ बजे हमारी गाड़ी रवाना हुई। दर्राकाबुलखुर्द (७५०० फ़ीट) एक छोटीसी जोत है। काबुल-उपत्यका पार की, बरफ़ बराबर मिल रही थी। बर्फ़पर ऊटोंका चलना मुश्किल था, उनका पाँव फ़िसलता

था। आगे का दर्रा-जगदलक (८२०० फ़ीट) बहुत भारी जोत है। चढ़ाई दूर तक थी, इसलिए उतनी कठिन नहीं थी। एक बार इसी दर्रेमें अंगरेज़ी फ़ौज़को बड़ी हानि उठानी पड़ी। जगदलकसे नीचे उतराई बहुत मुश्किल है। बहुत दूरतक हमें बर्फ़ ही बर्फ़ मिली फिर बर्फ़ ख़तम हो गई। पहाड़ोंपर जहाँ तहाँ मूँज दिखलाई पड़ती थी, यही मूँजवान पर्वत तो नहीं है? आठ बजे एक जगह खानेकेलिए ठहरे। ग्यारह बजे रातको जलालाबाद (दो हज़ार नौसौ बासट फ़ीट) पहुँचे। इधर वृक्षोंके पत्ते हरे थे। गर्मी मालूम होती थी। २२ मील और चलकर २ बजे रातको हम दक्का पहुँचे और रातको यहीं सो गये। दक्कामें फिर लारियोंके सामानकी जाँच हुई, काफ़ी देर ठहरना पड़ा, फिर पासपोर्ट अफ़सरके पास गये। पासपोर्टका काम तो उन्होंने जल्दी ख़तम कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं इतिहास और पुरातत्व का विद्यार्थी हूँ, तो उनके प्रश्न ख़तम ही नहीं होते थे, और उधर लारीवालेको देर हो रही थी।

९ बजे हमने वहाँसे छुट्टी पाई और ९ मील चलकर तोरख़म पहुँचे। यहाँ कुछ अफ़गानी सिपाही थे। अफ़सरने पासपोर्टके बारेमें रजिस्टरपर लिखा, मुहर और दस्तख़त की। चन्द ही क़दमपर एक फाटक था, यही अंग्रेज़ीभारत और अफ़गानिस्तानकी सीमा थी। फाटक खुला और हमारी लारी अब टूटी-फूटी सड़कसे कोलतार पड़ी सड़कपर चलकर अंग्रेज़ी तोरखमके आफ़िसके सामने खड़ी हो गई। क्लर्कने पासपोर्टको रजिस्टरपर चढ़ाया, फिर हम नौज़वान अफ़सर सादुल्लाखाँके सामने गये। उन्होंने भी यात्राके बारेमें कुछ पूछा। उनकी जिज्ञासा और बढ़ गई, जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं बौद्धकला और साहित्यसे काफ़ी परिचय रखता हूँ। उन्होंने कहा, हमारे मर्दानमें बहुतसी बौद्धमूर्त्तियाँ निकलती हैं, आप एक बार वहाँ ज़रूर आइए।

डेढ़ घंटे बाद हमारी लारी फिर चली। पेशावर वहाँसे सिर्फ़ ४९ मील है। ४ मीलकी हल्की चढ़ाईके बाद लन्डीखाना पहुँचे। रेल यहाँ तक आई है। फिर हम ख़ैबरके दर्रेमें घुसे, और चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते लन्डीकोतलकी जोतपर पहुँचे। १९२६ में एक बार मैं यहाँ तक आया था। सड़क सभी जगह अच्छी है, और जगह-जगह सैनिक मोर्चाबन्दी है। रास्तेमें कितने ही पठानोंके गाँव मिले, वह लाठीकी तरह बन्दूकोंको लिए घूम रहे थे। ज़मरूदमें फिर ड्राइवरका काग़ज़-पत्र देखा गया। अब आगे पेशावरकी हरी-भरी उपत्यका थी। शिकारपुरियोंकी धर्मशालाका पता लगा, हम अपना सामान लेकर वहाँ पहुँच गये।

२६

भारतमें (१९३८)

मैं बतला चुका हूँ, कि सोवियत्से इतनी जल्दी लौटनेका एक मुख्य कारण था पुस्तकोंकी खोज और फ़ोटोकेलिए तिब्बत जाना। अब भिक्षुके वेषमें मैं नहीं रहना चाहता था, लेकिन तिब्बत जानेकेलिए वह बहुत ज़रूरी था, नहीं तो वहाँकी गुमबाओंके अँधेरे पुस्तकालयोंका खुलना आसान न होता; इसलिए पेशावरमें आकर कोट-पतलून हटाकर मुझे फिर पीले कपड़ोंको पहनना पड़ा। दूसरे दिन (१० फर्वरी) को मैंने रेल पकड़ी। यह ट्रेन सहारनपुर तक जाती थी। दूसरे दिन (११ फर्वरी) दोपहरको मैं सहारनपुर उतरा। स्टेशनके पास ही एक होटलमें ठहरा। शहरमें घूमते-घामते पंडित कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकरसे' भेंट हुई। उसी दिनकी गाड़ीसे इलाहाबादकेलिए रवाना हो गया और १३के दोपहरको प्रयागमें डाक्टर बदरीनाथ प्रसादके यहाँ पहुँच गया। प्रूफ़ अब भी ला जर्नल प्रेसमें कुछ थे, इसलिए तीन-चार दिन ठहरना भी ज़रूरी था। १६को सारनाथ गया। गेशे मिले। इधर वह कई महीने नगरमें डाक्टर रोइरिकके साथ रहे थे, और उन्होंने काफ़ी तरक्की कर ली थी। उन्हें भी तिब्बत जाना है, यह बतला दिया। अब पटनामें जाकर पता लगाना था कि जानेके बारेमें क्या-क्या काम हुआ है। २३ फर्वरीको पटना पहुँचा, तो मालूम हुआ कि सिकमके पोलिटिकल एजेन्टके पास लिखा गया था, उसने दरख़्वास्तको भारत सरकारके पास भेज दिया है। भारत सरकारने उन स्थानोंको पूछा था, जहाँ-जहाँ मुझे जानेकी ज़रूरत थी।

पटनासे नाम भेज दिए गए और भारत सरकारने तिब्बत सरकारको लिखा। यहाँ वालोंको नहीं मालूम था, लेकिन मैं तो जानता था, कि तिब्बत सरकारको किसी बातके निर्णय करनेमें कितनी देर लगती है। मैं इसकी प्रतीक्षाकेलिए तैयार नहीं था, उसका प्रबन्ध तो मुझे अपनी बुद्धि और साहसके बलपर करना था। लेकिन तिब्बत जानेसे पहिले सोवियत्-भूमिपर अपनी पुस्तकको लिख डालना ज़रूरी था। इसकेलिए मैंने सबसे एकांत और सुन्दर स्थान सारनाथको चुना। पटनामें यह भी मालूम हुआ है कि मोटर-दुर्घटनासे अनुग्रहबाबूको बहुत चोट आई। यह सुनकर बहुत खेद हुआ कि हज़ारीबाग़ जेलके मेरे साथी पंडित पारसनाथ त्रिपाठीका उसी मोटर-दुर्घटनामें देहांत हो गया। २८ फर्वरीको मैं

नालन्दा और राजगृह गया। फिर दो मार्चको बनारस पहुँच गया और बर्मी-धर्मशालामें पुस्तक लिखनेका अनुष्ठान होने लगा। प्रेमचन्दजीके गाँवके श्री गुरुप्रसाद विश्वकर्मा साहित्यरत्न लिखनेकेलिए मिल गए थे। उनके अक्षर भी अच्छे थे, और क़लम भी तेज़ चलती थी। ३ मार्चको लिखाई शुरू हुई। बीचमें ३ दिन (७–९ मार्च) लखनऊ जाना पड़ा, उसके बाद १३,१४ दो दिन और चिरौडा (पटना)के पुस्तकालयके वार्षिकोत्सवमें जाना पड़ा, नहीं तो बराबर ८ अप्रैल तक लिखना जारी रहा। सारी पुस्तक एक महीनेमें समाप्त हो गई। राय कृष्णदासने उसे नागरीप्रचारिणी सभाकी ओरसे प्रकाशित करनेकेलिए माँगा, मैंने स्वीकार कर लिया।

वैसे असहयोगके ज़माने (१९२१—२२) में ही मैं अनुभव करने लगा था, कि हमारा राजनीतिक आन्दोलन और राजनीतिक प्रगति तबतक अच्छी तरह नहीं हो सकती, जब तक कि जनता समझ-बूझकर इसके भीतर न आए। इसीलिए मैं छपरा जिलेमें सदा वहाँकी बोलीमें ही भाषण दिया करता था। पिछले एसेम्बलीके चुनावमें जनभाषाके गीतोंके महत्त्वको मैंने देखा था और मैं उसकी उपयोगिताको समझता था। सोवियत्‌में मैंने जननृत्य देखे और वहाँके महान् नर्तकोंकी कला देखकर मुझे अपना बचपनका देखा अहीरनृत्य याद आया। सारनाथमें पूछनेपर मालूम हुआ, कि अभी यहाँ अहीरनृत्य जाननेवाले कुछ आदमी हैं, मैंने इसकेलिए तैयारी की। लेकिन, १८ मार्चको बनारसमें हिन्दू-मुसलिम झगड़ा हो गया, अब उस वक़्त नृत्यकी किसको सूझती। २३ मार्चको बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्रीरायकृष्णदास, पं० रामनारायण मिश्र और बाबू शिवप्रसाद गुप्त आए। देर तक बातचीत होती रही। बाबू मैथिलीशरणको शिकायत थी, कि मैं अपने लेखोंमें कभी-कभी ऐसे निष्ठुर प्रहार कर जाता हूँ, कि कितने ही श्रद्धालु हिन्दू-हृदय बहुत पीडा अनुभव करते हैं। बाबू शिवप्रसाद जब अपनी मोटरसे बनारस लौट रहे थे, उसी वक़्त चौखण्डी-स्तूपके पास कुछ हिन्दू तीन मुसलमानोंको मार रहे थे। वह एककी जानको तो नहीं बचा सके, लेकिन दोकी जान बच गई। पुलिसने धर-पकड़ शुरू की, गंजगाँवमें इतना आतंक छा गया कि लोगोंको किसी चीज़की सुध न रही। वहाँके सभी मरद पकड़ लिए गए। २४ मार्चको कोई औरत घरसे बाहर नहीं निकली। खेतोंमें कटे अनाज पड़े हुए थे, उन्हें कोई उठाके खलिहानमें रखनेवाला नहीं था। थानोंपर गायें भैंसें बिना भूसा-पानीके बँधी हुई थीं। अगले दिन काश्यपजीको मालूम हुआ, उन्होंने पशुओंको पानी और भूसा डलवाया। स्कूलके विद्यार्थियोंको ले जाकर अनाज खलिहानमें रखवाया।

गाँवकी सफ़ाई कराई। औरतोंको हिम्मत दिलाया। रातभर गाँवमें पहरा देते रहे।

पुस्तक खतम हो गई। ११ अप्रेलको मैंने प्रयाग जाकर पुस्तक लॉ जर्नल प्रेसमें कम्पोज़ करनेकेलिए दे दी। फिर पटना गया। वहाँ मेरे तिब्बत जानेका निश्चय हो गया। सनाठी गाँवमें मुज़फ़्फ़रपुर ज़िला साहित्य सम्मेलन हो रहा था, जिसका कि मैं सभापति बनाया गया था। १७ अप्रेलको वहाँ पहुँचा। फिर मुज़फ़्फ़रपुर पहुँचकर गेशेके साथ सिलीगोड़ीकेलिए रवाना हुआ। सिलीगोड़ीमें साढ़े ६ बजे मोटर पकड़ी और ढाई घंटेमें कलिम्पोङ् पहुँच गया। सोवियत्से लौटनेके बाद अब सरकार मेरे बारेमें बहुत सतर्क हो गई थी, कांग्रेस मंत्रिमंडलवाले प्रान्तोंमें वह खूब पीछा करती थी। कलिम्पोङ्में मेरे जानेके एक घंटा बाद ही पुलीसका आदमी पहुँचा और पूछा कि मुज़फ़्फ़रपुरसे आनेवाले आदमी आये कि नहीं। मैंने कहला दिया, आ गये हैं। सारनाथमें भी मैं देखा करता था कि खुफ़िया-का एक आदमी धरना दिये हुए था। यह लच्छन अच्छे तो नहीं थे, क्योंकि पुलीस ही सरकारकी आँख-कान है, और मुझे पोलिटिकल एजेन्टसे तिब्बत जानेकेलिए आज्ञापत्र (परमिट) लेना था।

२७

तिब्बतमें चौथीवार (१९३८)

गन्तोक्में—२३ अप्रेलको मैं गन्तोक् पहुँचा। महाराजाके प्राइवेट-सेक्रेटरी रायसाहब बर्म्मक क़ाज़ीके साथ पहिली यात्रामें परिचय हो गया था। अपना थोड़ासा जो सामान था, मैंने उसे उनके घरपर रख दिया, क़ाज़ी साहब अभी घरपर मौजूद नहीं थे, लेकिन उनके पास मैंने सूचना भिजवा दी। फिर ब्रजनन्दन बाबूसे मिलकर पोलिटिकल एजेन्टके सहायक सोनम् क़ाज़ीके पास गया। उनसे बात की। उन्होंने कहा कि कल साहेबसे पूछकर आपको खबर दूँगा। मैं लौटकर बर्म्मक क़ाज़ीके घर गया। मालूम हुआ, उन्होंने मेरा सामान ब्रजनन्दन बाबूके पास भेजवा दिया। मुझे इसकेलिए दुख करनेकी ज़रूरत नहीं थी, पुलीस जिस तरह तत्परता दिखला रही थी, उससे उन्हें मालूम हो गया, कि यह कोई खतरनाक आदमी है। बाल-बच्चेवाले आदमीको खतरा मोल लेना अच्छा नहीं है। इस सबके ऊपर वह एक

देशी रियासतके नमकख्वार थे, जहाँ क़ानून-क़ायदाका कोई काम नहीं। अंग्रेज़-शासक कहनेकेलिए तो कह देते हैं, कि यहाँ तो सब काम राजाके हाथमें है, लेकिन राजाकी निरंकुशताकी आड़में वह खुद अपनी निरंकुशता चलाते हैं। देशी रियासतके राजाकी तो और भी मुसीबत है, वह तो अंग्रेज़ रेज़ीडेन्टके हाथकी कठपुतली है। व्यभिचार-दुराचार वह चाहे कितना ही करता रहे, इस बारेमें चाहे वह आदमीसे पशु हो जाय, कोई पूछ नहीं होती; लेकिन जहाँ उसने अपने श्वेतांग स्वामियोंकी मर्ज़ीके खिलाफ़ ज़रा भी कोई बात की, तो अदालत-कचहरी, गवाही-साखीकी भी ज़रूरत नहीं, राजा साहेब २४ घंटेके भीतर राज्यसे निकाल दिये जायेंगे। फिर बेचारे बर्म्मक क़ाज़ीको दोषी ठहराना उचित नहीं। मैं ब्रजनन्दन बाबूके पास गया, और चाहता था, कि सामान लेकर किसी मन्दिर या धर्मशालामें ठहरूँ। ब्रजनन्दन बाबूने कहा—मैं दूसरी जगह जाने नहीं दूँगा। मैंने कहा कि यह बड़े खतरेकी चीज़ है, आप राजके स्कूलमें नौकर हैं। उन्होंने कहा—आपका जाना मेरेलिए भारी अपमानकी चीज़ होगी। मैंने और कोई यशका काम तो नहीं किया, किसी तरह पेट पालता रहा हूँ। आप मेरे दिल और आत्मसम्मानका ख्याल कर खतरेमें पड़ने दीजिये। लाचार।

उनके घरके सामने ही थाना था, थानेका एक आदमी बराबर मेरी ओर देखता रहता था। मुझे अपनेलिए तो कोई चिन्ता नहीं थी, लेकिन मित्रोंका ख्याल करके ज़रूर कुछ बुरा लगता था।

अगले दिन (२४ अप्रेल) बाबू सोनम क़ाज़ीका खत आया, और मैं साढ़े ३ बजे ही पोलिटिकल एजेन्टके पास चला गया। मिस्टर गोर्ड ऐसे मिलनसार आदमी तो नहीं हैं, लेकिन मैंने अपने कामोंके बारेमें बतलाया। उनको यह भी मालूम था, कि बिहार सरकार और भारत सरकार इसके बारेमें लिखा-पढ़ी कर रही है, तत्कालीन बिहार गवर्नरने मेरे तिब्बत-संबंधी खोजोंकी बड़ी प्रशंसा की थी, वह सोसाइटीके जर्नलमें छपी थी। मैंने उसे भी उनके हाथमें दे दिया। १०, १५ मिनट हीमें मेरा काम हो गया। उन्होंने परमिट देनेकेलिए हुकुम दे दिया। लौटके आनेपर देखा कि पुलीसका रुख बिल्कुल बदल गया। दूसरे दिन (२५ अप्रेल) परमिट आ गया, और उसी दिन शामको मैं कलिम्पोङ् चला आया।

कलकत्तासे फ़ोटोका सामान लाना था, इसलिए २७-२९ अप्रेल वहीं बीता। पहिली मईको सिलीगोडीसे हम कलिम्पोङ्केलिए रवाना हुए। ८ मील जानेपर मोटरका एक पहिया उसी तरह साफ़ निकल गया, जैसा कि ईरानमें हुआ था। यहाँ भी खैरियत हुई कि पहाड़पर पहुँचनेसे पहिले ही यह दुर्घटना घटी।

कलिम्पोङ्से गेशे और दूसरे साथियोंके साथ मैं ४ मईको रवाना हुआ था, और ६ महीने बाद ३ अक्तूबरको गनतोक लौटा था। यह मेरी चौथी तिब्बत-यात्रा थी, इसमें मैं बहुतसे साधनोंसे सज्जित होकर गया था। तिब्बत सरकारने सभी पुराने पुस्तकालयोंमें लगी अपनी मुहरोंको तोड़कर चीज़ोंके दिखलानेकी आज्ञा दे दी थी; साथ ही मुझे हर जगह ३ घोड़े और ३ गदहे सवारी-बारबरदारीकेलिए देनेका हुकुम दे दिया गया था और काम भी काफ़ी हुआ। लेकिन उतना काम नहीं हो सका, जितनेकेलिए मेरे पास साधन थे। इस सारी यात्रामें जितना तरद्दुद और मानसिक कष्ट उठाना पड़ा, उसको लिखकर पुस्तकको और बढ़ानेकी ज़रूरत नहीं, लेकिन ऐसी यात्राका मेरा पहिला अनुभव था, और मैंने देखा, कि उसकेलिए व्यक्तिको अलग-अलग दोष देना बेकार है। दोष था, ठीक साधनोंके एकत्रित न होनेका। मैं अगर चार-पाँच बातोंका ख्याल रख सका होता, तो यात्रा और सफल रहती। सबसे पहिली बात यह, कि तिब्बतमें सुकुमार आदमी ले जानेकी ज़रूरत नहीं। जो आदमी शहरी ऐश-आरामकी ज़िन्दगीमें पला है, वह चाहे साहसी-सा भी मालूम होता हो, तो भी वह डट नहीं सकता, क्योंकि शहरके साहस और गाँवके साहसमें काफ़ी अन्तर है, और तिब्बतकी यात्रामें तो उससे भी सौगुने साहसकी ज़रूरत होती है। जो आदमी हिमालयके पारके इन दुरूह स्थानोंमें भी अपने पहिलेके जीवनके सारे वातावरणको ले जाना चाहता है, उसको ज़रूर असन्तुष्ट होना पड़ेगा। दूसरी बात ज़रूरी है कि जानेवाला या तो पहिलेसे किसी ऐसी स्थायी जीविकामें लगा हुआ हो, कि अपनेको अयोग्य बनानेमें उसे स्थायी हानिका डर हो अथवा वह भी उसी पथका फ़क़ीर हो, और कामके महत्त्वको उतना ही अनुभव करता हो, जितना कि आप। तीसरी बात यह है, कि जमातके अनुशासनको मानता हो, जहाँ एक आदमीने अनुशासनकी अवहेलना शुरू की और उसके सुधारनेकी कोशिश नहीं की गई, तो वह रोग दूसरोंमें भी फैले बिना नहीं रहता। चौथी बात—तिब्बतमें एक जगहसे दूसरी जगह जानेमें सवारी और सामान ढोनेकेलिए खच्चर-घोड़ोंका मिलना उतना आसान नहीं है। मैंने सिर्फ़ पहिली यात्रामें दो खच्चर ख़रीदे थे और उस वक़्त कोई दिक़्क़त नहीं आई थी, क्योंकि धर्मकीर्त्ति खच्चरको सँभाल लेते थे, मैं भी देख-भाल करता था। वह इसीलिए सम्भव था कि तब इतना लिखने या फ़ोटो लेनेका काम नहीं था। और मैं ङोर् जैसी जगहोंमें नहीं गया था, जहाँ दाम देनेपर भी घासभुस नहीं मिल सकता। यदि आपने चरनेकेलिए छोड़ दिया और जानवर किसीके खेतके पास पहुँच गया, तो उसके पैर टूटे बिना नहीं रहेंगे। नीचेका साईस वहाँ काम नहीं दे सकता,

क्योंकि न उसे भाषा मालूम होगी और न वह लोगोंसे मेल-मुहब्बत करके काम ले सकेगा। अपना ख़च्चर न लेनेपर भाड़ेके ख़च्चरोंकेलिए कभी-कभी हफ़्तों एक जगह रुक रहना पड़ेगा। इसके तरद्दुदसे बचनेका एक ही उपाय है, कि आप वहाँके बड़े आदमियोंको काफ़ी रक़म भेंट-पूजामें दे सकें, जिसकेलिए आपके पास पाँच-सात हज़ार नहीं, ज्यादा रुपये होने चाहिएँ। पाँचवीं बात—साथीकी रुचि दूसरी बातोंमें उतना ही होना चाहिए, जितनी कि इस काममें आपकी है, नहीं तो वह अपनी रुचिके काममें भी समय देने लगेगा, और असली काममें कमी होगी।

खैर, कलकत्तासे सामान लेकर हम कलिम्पोङ् पहुँचे, और ४ मईको १० बजे तिब्बतकेलिए रवाना हुए। सवारी और बोझेकेलिए किरायेपर ख़च्चर मिल गये थे। ७ तारीख़को हम लिङ्तम्से आगे बढ़े। कठिन चढ़ाई आई। रास्ता अधिकतर खड़े पत्थरोंको जोड़कर बना था, और ख़च्चरके पैर फिसलनेपर बचनेकी उम्मेद नहीं हो सकती थी। हमारे ख़च्चरवालोंका एक ख़च्चर लुढ़का, और उसको इतनी चोट लग चुकी थी, कि जब हम वहाँसे आगे बढ़े, तो बचनेकी उम्मीद नहीं थी। ख़च्चरवाले उसे वहीं छोड़कर चल पड़े। ९ मईको हम नथङ्से सबेरे ही चले। थोड़ी देर उतराईके बाद चढ़ाई शुरू हुई। ऊपर चारों ओर बर्फ़ थी, एक ओर एक सरोवर था। लोग बतला रहे थे, कि इसमें भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब दिखाई देता है। आगे १४ हज़ार ३०० फ़ीट ऊँचा जालेपलाका डाँड़ा आया। बादल आसमानमें दौड़ रहे थे, लेकिन उस दिन बर्फ़वर्षा नहीं हुई। उतराई उतरते उस दिन हम रिनछेनगङमें पहुँचे। जालेप्ला ही तिब्बतकी सीमा है, यह हम बतला चुके हैं। ११ मईको हम फरीमें पहुँच गये। दूसरे दिन मुझे बुख़ार आया। अगले दिन भी वह १०३ डिग्रीतक रहा। बुख़ार हटनेका इन्तिज़ार यहाँ नहीं कर सकते थे, क्योंकि यहाँ रहते उसके जल्दी दूर होनेकी उतनी आशा नहीं थी, जितनी कि कहीं नीची और गर्म जगहमें। १५ मईको डंडी की गई और मैं अपने साथियोंके साथ ग्यानचीकेलिए रवाना हुआ। डंडीमें शरीर बहुत हिलता-डोलता था, जिससे थकावट भी होती थी, और भूख तो बिल्कुल नहीं लगती थी। २१ मईको हम ग्यानची पहुँचे। तीन-चार दिन यहीं विश्राम करना पड़ा, फिर तबियत ठीक हो गई। ल्हासासे हमारे लिए ख़रीदे तीन ख़च्चर भी आ गये, और तिब्बती सरकारकी चिट्ठी भी, जिसके अनुसार हम ३ गधे ३ घोड़े निश्चित किरायेपर ले सकते थे। इस प्रथाको तऊ कहते हैं। यह एक

तरहकी बेगार है। एक गाँवका तऊ आग किस गाँवमें बदला जायगा, यह सदियों पहिलेसे निश्चित है—बदलनेके गाँवको सची कहते हैं। सची छोटी भी होती है, लम्बी भी होती है। नये घोड़ों गदहोंको जमा करनेमें कुछ देरी लगती है, यदि सची बहुत नजदीक हुई, तो एक-एक दिनके रास्तेमें दो-दो तीन-तीन दिन लग जाते हैं।

शलू (२७ मई—२८ जून) २७ को हम शलू पहुँच गये। २८ को पुस्तकालय खोला गया। पहिले साल जो पुस्तकें मिली थीं, उनमें दो-तीन ग़ायब थीं। लेकिन एक नई पोथी बड़े महत्त्वकी मिली। इसमें प्रसिद्ध नैयायिक ज्ञानश्रीके लिखे १२ ग्रन्थ हैं। योगाचार भूमिके खंडित अध्याय भी यहाँ मिले। तिब्बती हस्तलिखित ग्रन्थोंमें छग-लोचवाकी जीवनी मिली। यह विद्वान् १२२० ई० के आसपास भारत गया था, और नालन्दामें राहुलश्रीभद्रके पास रहा। वह लिखता है, कि गरलोक (तुर्क) ने नालन्दाको नष्ट कर दिया था, तो भी कुछ मकान बाकी थे। गरलोकका हाकिम उड़न्तपुरी (विहार-शरीफ़) में रहता था। तिरहुतको उसने "तीर्थकों-का देश" कहा है। जान पड़ता है, वहाँ ब्राह्मणोंका प्रभाव बहुत ज्यादा था। शलूके प्रधान विहारकी भीतोंमें नेपाली कलमके सुन्दर चित्र हैं। कुछ चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। चित्रकारने अपना नाम छिम्पा सोनम् बुम लिखा है।

१९ जूनको हम शिगर्चे चले गये। आगे जानेकेलिये सरकारकी चिट्ठीके पास रहनेपर भी शिगर्चेके जोङ्पोनकी चिट्ठी लेनी थी। जिसका मतलब था, दो-तीन दिन और ठहरना। खैर, वहाँसे हम २७ तारीखको पोङ्खङ् पहुँचे और २ जुलाई तक वहीं रहे। वहाँकी पुस्तकों और चित्रपटोंके बहुतसे फ़ोटो लिये। फिर शिगर्चे लौट आये। ५ जुलाईसे ३० जुलाई तक बेकार बैठा रहना पड़ा, क्योंकि जिनको ग्यानची सामान लेनेकेलिए भेजा था, वह वहीं बैठे रहे। १४ जुलाईको मैंने मध्य-तिब्बतके अधिकांश लोगोंके स्वभावके बारेमें लिखा था—"तिब्बतके लोग न जंगली हैं न सभ्य। पानी पीनेकी भाँति झूठ बोलनेके अभ्यस्त हैं। बड़ेसे छोटे तक यही बात है, किन्तु यही बात तिब्बत-जातिक—अम्दो खम्वा और लदाखियोंके बारेमें नहीं कहीं जा सकती। कृतज्ञता और मुरौवतका इनमें अभाव है। सच्चा मित्र मिलना असम्भव-सा है, बहादुर नहीं हैं, हाँ धोखेसे वार कर सकते हैं—और सो भी सामनेसे नहीं। काममें सुस्त (होते हैं।) उद्योग और साहसके काममें इनका मन कम लगता है। बिहारीय विश्वविद्यालयोंमें पढ़नेमें भी यह पिछड़े हुए हैं। सिफ़ारिश, सम्बन्ध तथा और कारणोंसे ये मठ तथा सरकारी उच्च पदोंपर पहुँच ही सकते हैं, फिर प्रयत्न और परिश्रमकी क्या आवश्यकता? यह सारे दुर्गुण इनमें कहाँसे आए?

इसकी ज़िम्मेवारी यहाँके लामों और धर्मपर है। लामा, मठों और अमीरोंकी जागीरें उठ जायँ, शिक्षाका सार्वजनिक प्रचार हो, तो ये लोग बहुत जल्द ऊपर उठ सकते हैं। किन्तु, यह सब तो साम्यवाद ही कर सकता है। तिब्बतमें राजनीतिक यन्त्रके बदलने हीमें देर होगी, नहीं तो बाकी सामाजिक, आर्थिक ढाँचेको बदलनेमें उनको दिक्कत नहीं पड़ेगी। तिब्बतमें जाति-पाँतिका न झगड़ा है, और न मज़हबोंका पारस्परिक संघर्ष। वहाँ जो कुछ भेदभाव है, वह है धनी और निर्धनका।

ङोर् (३१ जुलाई-१५ अगस्त)—खच्चरोंके चारे और ईंधनकी अबकी बार ङोरमें तकलीफ़ हुई। हमारे दो खच्चरोंको पत्थर मार-मारकर किसीने लंगड़ा कर दिया था। ख़ैरियत यही हुई, कि चोट बहुत ज़्यादा नहीं आई। हमने चारेकी दिक्कतसे उन्हें शिगर्चे भेज दिया।

नरथङ् (१६-२८ अगस्त)—१६ अगस्तको हम नरथङ् चले गए, और एक गृहस्थके घरमें ठहरे। अगले दिन बहुत ओले पड़े। तंत्र-मंत्रवाले लामा भगानेकी कोशिश कर रहे थे, लेकिन ओलेके देवताओंपर कोई असर नहीं हुआ। ऊपरके पहाड़से ओले और पानीकी एक ज़बर्दस्त बाढ़ चली। हमारे घरसे डेढ़-दो फ़र्लाङ्गके ऊपर नाला दो धाराओंमें विभक्त हो जाता था, जिनमें दाहिनी धाराके बाँएँ तटपर हमारा घर मौजूद था। घरभरके लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे, और देवताओंको मना रहे थे। यदि बाढ़ हमारे ओरके नालेमें आती, तो वह उस मकानको सूखे काग़ज़की तरह गलाती-बहाती चली जाती। हम वहीं डटे रहे, इससे घरवालोंको बड़ी हिम्मत हुई। मैंने कहा—हमारे पास यह भारतकी धर्मपुस्तकें हैं, कभी हो नहीं सकता, कि देवता इस घरको नष्ट कर दें। और सचमुच बाढ़ने दाहिने नालाका रास्ता नहीं लिया। नरथङ्में तालपोथी कोई नहीं थी, किन्तु यहाँ कई बड़े-बड़े भारतीय चित्रपट थे, जिनका फ़ोटो लिया गया। स्लेटी पत्थरोंपर ८४ सिद्धोंकी मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण थीं, उनका भी फ़ोटो लिया गया। बोधगया मन्दिरके नमूनेका पैरिसप्लास्तरपर साँचा उतारा गया। इस सबसे छुट्टी पानेके बाद साक्याकेलिए रवाना हुए और शोङ्ला होते एक सितम्बरको साक्या पहुँचे।

साक्यामें (१-१५ सितंबर)—पहिली सितम्बरके दोपहरको हम साक्यामें फुनछोग्प्रासादमें पहुँचे। कुशो डोनि छेनपोके यहाँ रहनेका ज़्यादा आराम होता, लेकिन फ़ोटो खींचनेकेलिए हमें यहाँ आना पड़ता, इसीलिए हम वहाँ नहीं गये। फुनछोग्प्रासादके लामा अब साक्याके महन्तराज थे। बहुत वर्षों बाद इस प्रासादके हाथमें प्रभुता आई थी, इसलिए पुराने घरोंकी नई तरहसे मरम्मत,

नये घरोंका निर्माण, नये सामानका तैयार कराना आदि बहुत-से कामोंमें लामाका ध्यान बँटा हुआ था। कितने ही बढ़ई, सोनार और चित्रकार काममें लगे हुए थे। सभी घर उनसे भरे हुए थे। लामाने बड़े स्नेहके साथ स्वागत किया, लेकिन किस घरमें ठहराया जाय, इसकेलिए उन्हें दिक्कत मालूम होने लगी। एक साधारण-सा घर खाली किया गया, और उसमें हम लोगोंको जगह मिली। दो हफ्ता हम यहाँ पुस्तकोंके फ़ोटो खींचनेमें लगे रहे, काम में बड़ी ढिलाई होती थी। कुशो डोनिर्छेन्पो मब्जा गये हुए थे। चाम्कुशो यहीं थीं और १३ सितम्बरको जब मैं वहाँ गया, तो उन्होंने इसपर क्षोभ प्रकट किया, कि मैं उनके यहाँ क्यों नहीं ठहरा। मैंने अपनी दिक्कत उन्हें बतलाई। १५ तारीखको डोनिर्छेन्पो आगए थे, इसलिए मैं उनसे मिलने गया। उनकी द्वितीय पत्नी दिकीला और पौने दो बरसकी अनामिका लड़की भी आगई थी। चलते-चलाते अपरिचित आदमीके पास छोटा बच्चा क्यों आए? यद्यपि चाम्-कुशोने उसे मेरे पास लानेकी बहुत कोशिश की, किन्तु वह रोने लगी। लड़की बहुत ही सुन्दर थी, और कुशो डोनिर्छेनपो कह रहे थे—बड़ी समझदार है। बुढ़ापेमें अपनी एकलौती सन्तानकेलिए पक्षपात स्वाभाविक था। मैंने कहा—यदि आप इसे पढ़ायेंगे, तो विदुषी होगी। उन्होंने कहा—हमारे घरमें तो यही एक बच्चा है, इसे हम ज़रूर पढ़ायेंगे। मैं पिछली यात्राके वक्त लिख चुका हूँ, कि डोनिर्छेनपो और नये महन्तराजमें पहिले हीसे अनबन थी। डोनिर्छेनपो बहुत दुःखी थे। चाङ्गुआ-में उनके पास बहुत अच्छी जायदाद थी, मब्जामें भी काफ़ी सम्पत्ति थी। अब वह ६० बरससे ऊपरके बूढ़े थे। वह चाहते थे, कि रियासतका काम छोड़कर विश्राम लें, लेकिन नये महन्तराज उन्हें वैसा करने दें तब न। कह रहे थे,—न मुझे जानेकी स्वतन्त्रता मिलती है, न कोई काम ही मिलता है। मैंने भारत आनेकेलिए कहा, तो उन्होंने बड़े करुण स्वरमें कहा—मुझे भारतके तीर्थोंके दर्शन करनेकी बड़ी लालसा है, लेकिन छुट्टी कहाँ मिले।"

१६ सितम्बरको मुझे साक्यासे विदाई लेनी थी, पहिले महन्तराजसे विदाई ली, फिर ताराप्रासादके दोनों भाइयोंके पास गया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि तारा-प्रासादमें भी उजाला होनेवाला है। पहिली दामोंको कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने खुद ही अपनी बहिनको सौत बनाया, और अब नववधू आसन्नप्रसवा थी। फिर कुशो डोनिर्छेनपोके घर गया। तिब्बत फिर आनेकी मुझे बहुत कम आशा रह गई थी, क्योंकि एक तो अब मैं लौटकर राजनीतिमें प्रवेश करनेवाला था, जिसके कारण भारत-में अंग्रेजी शासनके रहते मुझे इधर आनेकी कौन अनुमति देता? दूसरे मैं अपने साथ इतनी

पुस्तकोंके फ़ोटों ले जा रहा था, जिनके सम्पादन और प्रकाशनकेलिए दस-पन्द्रह वर्षों-की जरूरत थी। यदि तिब्बतमें फिर आना हुआ तो भी इसकी सम्भावना बहुत कम थी, कि डोनिर्छेनपो तब तक जिन्दा रहेंगे। इसलिए उनसे विदा होते वक्त मुझे बहुत अफ़सोस हो रहा था। चाम्कुशो और दिकीला अभी स्वस्थ थीं। उनकी लड़की भी तो पौने दो ही वर्षकी थी। फिर कभी आना हुआ तो इन्हींसे मिलनेकी आशा थी। मिलते-मिलाते ३ बजे हम साक्यासे रवाना हुए।

भारी खतरेमें—दूसरे दिन हम मब्जा पहुँचे। तऊका रास्ता डोङ्लासे होकर एक दूसरे ला (जोत) से बहुत घूमकरके था। कुशो डोनिलानें एक दिन अपने घरपर रक्खा—और हम, १६ सितम्बरको वहाँसे रवाना हुए। २२ तारीखको जब हम डोब्था ला पार होकर नीचे जा रहे थे, तो रास्तेमें कुछ तम्बू लगे देखे, पासमें कुछ घोड़े चर रहे थे। हम तो पहिले ही छेंगा गाँवमें पहुँच गए, किन्तु हमारे साथी कुछ पीछे आ रहे थे। उनसे तम्बूवाले एक आदमीने कुछ पूछ-ताछ की : हमने इसे मामूली बात समझी। गदहे और बैलपर सामान को पहिले ही रवाना कर दिया गया और हम लोग चाय पी साढ़ेसात बजे रवाना हुए। आगे बहुत विस्तृत निर्जन मैदान मिला। १६, १७ मील तक कोई गाँव नहीं था। ३ मील चलनेके बाद कुछ गदहेवाले मिले। उन्होंने कहा—"आगे खालमें डाकू ठहरे हुए हैं, बहुत सजग होकर जाइये, उन्होंने हमारे सत्तू, माँस, छङ्, और गदहोंके पीठपरकी गद्दी छीन ली।" हमारे तीन साथी मीलभर पीछे बड़े ही इतमिनानसे आ रहे थे। मेरे साथ साक्यासे आया आदमी घोड़ेपर चल रहा था। हम दोनोंमें एक ही पिस्तौल थी, और साथी पिस्तौल चलाना नहीं जानता था। मैंने लकड़ीके पिस्तौलदानसे निकालकर पिस्तौल अपने हाथमें ले ली। पिस्तौलदान उसीके कन्धेसे लटकते छोड़ दिया, जिसमें डाकुओंको मालूम हो कि हम दोनोंके पास पिस्तौल है, साथीके पास लम्बी तिब्बती तलवार भी थी। मुझे डर लग रहा था कि, हमारे सामानको डाकुओंने कहीं छीन न लिया हो—इसी सामानमें महीनोंके लिए फ़ोटो थे। हम जल्दी-जल्दी आगे बढ़े। कुछ दूर और आगे जानेपर एक घसियारा मिला। उसने भी कहा—आगे डाकू हैं, सजग होके जाना। एक छोटी-सी धार पार करनेपर बालूका भीटा सा आया। उसके आगे जानेपर डाकुओंका तम्बू रास्तेके पास ही मिला। उनके आठ घोड़े वहाँ चर रहे थे। मैं पिस्तौल हाथमें सँभाले चल रहा था। डाकुओंमेंसे एक हमारे पास आया : उसने साथीके कमरमें लम्बी तलवार देखी और मेरे हाथमें पिस्तौल। कहाँसे आये हो, पूछनेपर साथीने कहा,—साक्यासे आए हैं। हमें वह वहीं छोड़कर चला

गया। दो और बालूके भीटे मिले और गधेवाले दूर जाते दिखाई पड़े। मैं घोड़ा दौड़ाकर उनके पास पहुँचा। उन्होंने बतलाया कि हमसे भी एक आदमी पूछने आया था। हमने कह दिया कि साक्याके महन्तका सामान है, हम आगे जा रहे हैं। यह अच्छा हुआ, जो हमने भी साक्याका ही नाम लिया। डाकुओंने सामानको हाथ नहीं लगाया। पीछेवाले तीन साथियोंके पास दो पिस्तौल थे, लेकिन क्या मालूम उन्हें डाकुओंकी खबर लगी है। मैंने अपने साथीको गदहोंके साथ जानेकेलिए कह दिया और पिस्तौल हाथमें पकड़े खच्चरको पीछेकी ओर मोड़ा। भीटेके पास आकर उसकी आड़में मैं पिस्तौल सँभाले बड़ी उत्सुकतासे यह सोचते खड़ा रहा, कि जैसे ही कोई आवाज़ आई, मैं डाकुओंपर झपट पड़ूंगा। लेकिन मैं ग़लतीमें था। मैं जिस भीटेकी आड़में खड़ा था, उससे सौ गज आगे एक और भींटा था, जिसके बाद डाकुओंका डेरा था। अगर वहाँ कुछ होता भी, तो मेरे पास तक आवाज़ नहीं आ सकती थी। मैं यह नहीं जान रहा था, मैं तो समझता था कि आज मृत्युसे मुक़ाबिला करना है। जितना ही ज्यादा खतरा था, उतना ही ज्यादा मेरे हृदयमें निर्भयता और उत्साह था। सारे शरीरमें बड़े ज़ोरसे खून दौड़ रहा था। कुछ देर बाद साथी आए। गेशेने बतलाया कि पूछनेपर मैंने बतला दिया—साक्यालामाके आदमी अभी और पीछेसे आरहे हैं।

हम आगे चलकर तङ्गरा गाँवमें साढ़े बारह बजे पहुँचे। छेगासे आए गधेवाले अपने गाँवको लौट गए, लेकिन घंटा भरके भीतर ही देखा, कि वह फिर वहीं आ गए। उन्होंने बतलाया, कि डाकू गाँवसे एक मीलपर नदीके किनारे ठहरे हुए हैं। हमें डर लगा कि कहीं वह हमारे घोड़ों या दूसरे सामानको छीन न लें, इसीलिए हम लौट आए। गोवा (मुखिया) ने भी बात सुनी। बन्दूकधारी घुड़सवार डाकुओंका आतंक होना स्वाभाविक था। रातको सारा गाँव सजग होकर जागता रहा। जंजीरोंमें बँधे गाँव भरके बड़े-बड़े कुत्ते छोड़ दिए गए। हम लोग अपने पिस्तौलोंको सम्हालकर छतपर लेटे—हमने आपसमें पहरा बाँट लिया था। उस रातको नींद क्या आती?

अगले दिन (२४ सितम्बर) सुना कि डाकुओंके घोड़े तङ्गरावालोंके खेतोंमें चर रहे हैं। डरके मारे कोई बोलने नहीं गया। हम लोगोंने गाँवसे कुछ और आदमियोंको लिया और साढ़े १० बजे खमबा जोङ् गए। हमारे सामने भारत लौटनेके दो रास्ते थे, एक तो घूम-घुमौवे रास्तेसे फरी होते कलिमपोङ् पहुँचना और दूसरा था लाछेन्का रास्ता, जिससे एक ही दिनमें हम तिब्बतकी सीमाके पार हो जाते। डाकू अब भी पीछा कर रहे थे, इसलिए हमने फरीके रास्तेका ख्याल छोड़

दिया। खम्बाके दोनों जोङ् पोनोंसे मिले। सरकारी चिट्ठीको उन्होंने रख लिया, रेडिङ्लामाकी चिट्ठी मेरे नाम थी, उसे देखकर उनपर बहुत प्रभाव पड़ा। अपने ही यहाँ भोजन कराया और कितनी ही देर तक गपशप होती रही। उन्होंने किरूवालोंको लिख दिया कि हम लोगोंको याथङ् तकका तऊ दे दें, दो घंटा चलनेके बाद हम किरू पहुँच गए। वहाँ लाछेनके भी कुछ घोड़े वाले आए थे। उनसे मालूम हुआ कि डाकू ऊपरके पहाड़ोंकी ओर आए हैं। गेशेका कहना था, कि वह अब भी हमारा पीछा कर रहे हैं। यह भी मालूम हुआ कि उनके पास तलवारोंके अतिरिक्त सिर्फ तीन पलीतेवाली बंदूकें हैं। पलीतेवाली बन्दूकें दूरतककी मार भले ही करें, लेकिन आठ-गोलीके पिस्तौलोंके सामने उनकी हिम्मत नहीं हो सकती थी। २५ सितम्बरको सामान ढोनेवाले याकोंके आनेमें देर हुई, इसलिए हम दो बजे बाद रवाना हुए। लाछेन जोत पार करते वक़्त वर्षा-बर्फ़का मुकाबला नहीं करना पड़ा, लेकिन हवा बड़ी तेज़ थी और सबको सर्दी लग रही थी। कई मील नीचे उतरकर हम रातको डोङ्गूकेमें रह गए, लेकिन सामान यहाँ तक नहीं पहुँच सका। २६ तारीखको चाय पीकर जब तक तैयार हुए, तबतक सामान भी आ गया, और उसी दिन हम याथङ् पहुँच गए। चीपोन् वङ्ग्यल्के लड़केके घरमें ठहरे। गृहपतिने खच्चरोंको खरीदनेकेलिए कहा। तीनों खच्चरोंका साढ़े तीनसौ रुपया दाम कम था। लेकिन मुझे पहिली यात्राके दोनों खच्चरोंका तजरबा था। उन्हें मैं फरीमें जितने दाममें बेच सकता था, कलिम्पोङ्में उससे बहुत कम दाम मिला और हैरानी अलग हुई। गृहपतिने दाम तीनसौ पचास रुपएके अतिरिक्त हमारे तीन और अपने चार खच्चरोंको गनतोक् तक भेज देनेकी बात कही। हमने उसे मान लिया।

२८ को हम लाछेन पहुँच गए। मालूम हुआ कि फिनलैण्डवाली वृद्धा धर्मोपदेशिका अपने बँगलेपर मौजूद है। हम भी उसके पास गए। बेचारी बुढ़िया तीस साल पहिले बड़े उत्साह और श्रद्धाके साथ इन पहाड़ोंमें ईसामसीहके धर्मको फैलानेकेलिए आई थी। उतनी सफलता तो उसे नहीं प्राप्त हुई, किन्तु लाछेनवालोंकी उसने कुछ सेवा जरूर की। आज वह बहुत बूढ़ी थी। कानसे भी बहुत कम सुनती थी। किसी वक़्त भी मर गई तो आगे काम कौन चलायेगा, इस बातका खयालकर वह अपने देशसे एक तरुणीको लाई थी। पहिले तो वह ईसामसीहके धर्मपर लम्बा लेक्चर देती रही, फिर तरुणीका परिचय देते हुए कहा—यह संगीत जानती है। हमारे कहनेपर तरुणीने बाजा हाथमें ले लिया और पूछा, क्या सुनाएँ? मैंने कहा—फिनलैण्डका कोई अपना गीत सुनाइए। उसने दो-तीन गीत सुनाए। फिर

मैंने फिनलैण्डके बारेमें कुछ पूछा—बुढ़िया और तरुणी दोनों ही प्रशंसा करते नहीं थकती थीं। बुढ़ियाने कहा—पहिले हमारा देश रूसियोंका गुलाम था, लेकिन अब आज़ाद है, और उसे आज़ाद और सुखी देखकर मुझे जो आनन्द हुआ, मैं कह नहीं सकती। मैंने कहा—"हम हिन्दुस्तानी उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं, क्योंकि गुलामी कितनी कड़वी होती है, इसे हम जानते हैं।" रूसके बारेमें तरुणी कह रही थी—वहाँ लोग बहुत गरीब हैं, लाखों आदमी भूखे मर रहे हैं। मैंने कहा—"आप यह दूसरेकी सुनी सुनाई बात कह रही हैं, आजसे आठ महीने पहिले मैं वहींपर था, और मैंने वहाँ किसीको गरीब-भूखा नहीं देखा।" चलते वक़्त मैंने वृद्धाको धन्यवाद देते हुए कहा—"आपको कष्ट देनेके लिए हम क्षमा माँगते हैं। लेकिन अफ़सोस है, कि हम ईश्वरको नहीं मानते।" वृद्धाको बहुत धक्का लगा। उसने कहा—"मैं कितना अफ़सोस करती हूँ! मुझे भगवानका प्रकाश मिला था, इसलिए मैं फिनलैण्डसे यहाँ आई, आपको भी भगवान प्रकाश दें।" तरुणीने मेरे शब्दोंको आश्चर्यसे नहीं सुना, उसे नई दुनियाकी हवा लगी थी। उसने कहा—"बूढ़े लोगोंको आजकी बातका पता नहीं है।"

१६ सितम्बरको हम लाछेनसे रवाना हो गए।

२ अक्तूबरको गन्तोक चले आए। हम फरी गए होते, तो पिस्तौल वहाँ छोड़ देते। खम्बाजोङ्में पिस्तौल किसीको दे नहीं सकते थे, इसलिए गन्तोक तक अपने साथ ले आए, और यह हथियारके कानूनके खिलाफ़ था। मैंने पुलिस सबइंसपेक्टरको एक चिट्ठी लिखी और एक पोलिटिकल अफ़सरको, यह कहकर पिस्तौलें पुलिसके हाथमें दे दीं, कि उन्हें ग्यानचीमें छशिङ्शाके श्री धर्ममानसाहुकी दूकानमें दे दिया जाय। ४ अक्तूबरको मोटरसे सिलीगोड़ी आए, फिर अगले दिन रेलसे कलकत्ता पहुँच गए।

षष्ठ खंड

किसानों-मजूरोंके लिये

१

परिस्थितियोंका अध्ययन

कलकत्तामें मुझे १० दिन रहना पड़ा। पहिले ही दिन (५ अक्तूबर) पत्रसंवाद-दातासे कह दिया था, कि मैं अब क्रियात्मक राजनीतिमें भाग लेने जा रहा हूँ। मैंने ग्यारह वर्षोंसे राजनीतिक क्षेत्रको छोड़ रखा था। यह अच्छा ही हुआ, जो कि मैंने अध्ययन, अनुसंधान और पर्यटनमें इतना समय देकर अपनी एक बड़ी लालसाकी पूर्ति कर ली। मैं पहिले भी राजनीतिमें अपने हृदयकी पीड़ा दूर करने आया था,—ग़रीबी और अपमानको मैं भारी अभिशाप समझता था। असहयोगके समय भी मैं जिस स्वराज्यकी कल्पना करता था, वह काले सेठों और बाबुओंका राज नहीं था, वह राज था किसानों और मज़दूरोंका, क्योंकि तभी ग़रीबी और अपमानसे जनता मुक्त हो सकती थी। अब तो देश-विदेश देखनेके बाद और भी पीड़ाको अनुभव करता था। मैंने भारत जैसी ग़रीबी कहीं नहीं देखी। मार्क्सवादके अध्ययनने मुझे बतला दिया, कि क्रान्ति करनेवाले हाथ हैं, यही मज़दूर-किसान; क्योंकि उन्हींको सारी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, और उन्हींके पास लड़ाईमें हारनेकेलिए सम्पत्ति नहीं है। लेकिन यह सब रहते हुए जब तक वह अपना मज़बूत संगठन तैयार नहीं करते, तबतक क्रान्ति करनेकी शक्ति उनमें नहीं आसकती। उनका संगठन भी तभी मजबूत हो सकता है, जब कि अपने रोज-ब-रोजके कष्टोंको हटानेकेलिए वह संघर्ष करें। उनके इस संघर्षके संचालनके लिए कोई सेनासंचालक-मंडली होनी चाहिए, और मंडली ऐसी होनी चाहिए, जिसके सदस्य दूरदर्शी हों, अन्तिम त्यागकेलिए तैयार हों, और जिनको कोई प्रलोभन अपनी ओर खींच न सके। रूसमें मज़दूरों किसानोंकी क्रान्ति इसीलिए सफल हुई कि यहाँ बोलशेविक-पार्टी—कम्यूनिस्टपार्टी मज़दूरों-किसानोंके संघर्षका संचालन कर रही

थी। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तानमें भी साम्यवादी हैं, लेकिन अभी तक मुझे उनके सम्पर्कमें आनेका मौका नहीं मिला था। इस बातका निर्णय २१ साल पहिले ही हो गया था, कि कौनसा पथ मेरा अपना पथ होगा। सोवियत् क्रान्तिकी खबरोंने मुझे एक नई दृष्टि दी थी। उसने ही मुझे आगे मार्क्सवादी बनाया, और मैं साम्यवादका प्रशंसक बना। कलकत्तामें मैं किसी कम्युनिस्टसे मिलना चाहता था। कम्युनिस्टपार्टी उस वक़्त ग़ैरक़ानूनी थी, तो भी मुझे सोमनाथ लाहिड़ीका पता लगा। मैंने उनसे बात की। उन्होंने बतलाया कि बिहारमें अभी हमारी पार्टी नहीं बनी है, वहाँ हमारे साथी कांग्रेस सोशलिस्टपार्टीके साथ काम करते हैं, आप भी उन्हींके साथ काम करें। कांग्रेस सोशलिस्टपार्टीसे मैं कुछ भड़क सा गया था। जिस वक़्त मैं शिगर्चेमें था, उस वक़्त मुझे "जनता" का कोई अंक मिला था, जिसमें मसानीका एक लेख था। लेखमें सोवियत्को बहुत बुरा-भला कहा गया था। सोवियत् मेरेलिए साम्यवादका साकार रूप था, सोवियत्की बुराई करके जो अपनेको साम्यवादी या समाजवादी कहे, उसे मैं वंचक या बेवक़ूफ़ छोड़कर और कुछ नहीं समझ सकता था। लाहिड़ीने बतलाया कि कांग्रेस सोशलिस्टपार्टीमें सभी मसानीकी तरहके नहीं हैं।

मैं १६ अक्तूबरको पटना चला आया। तिब्बतसे आई चीजोंकी देख-भाल की, और आमदनी-खर्चका हिसाब सोसाइटीके हाथ में दे दिया। यहीं मालूम हुआ, कि छपरामें राजेन्द्रकालेज स्थापित हो गया है। २३ तारीखको मैं छपरा पहुँचा। पं० गोरखनाथ त्रिवेदीका घर सदासे मेरा अपना घर रहा है, अबकी बार भी वहीं ठहरा। अगले दिन राजेन्द्रकालेज देखने गया, उसकी स्थिति और भविष्य को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डित महेन्द्रनाथ शास्त्री सत्याग्रहके समयसे ही मेरे परिचित थे, उनसे मालूम हुआ कि बाबू नारायण प्रसादने गोरया कोठीमें अपने परिवारके कई घरोंके खेतोंको मिलाकर पंचायती खेती शुरू की है। वर्तमान शासन-व्यवस्थामें पंचायती खेती संभव नहीं है, यह मैं समझता था, किन्तु मैं यह भी जानता था कि इस तरहके प्रबन्धमें ही साइंसके कितने ही आविष्कारोंका इस्तेमाल हो सकता है। २७ तारीखको मैं छपरासे गोरयाकोठीकेलिए रवाना हुआ। रास्तेमें जामोमें डाक्टर सियावरशरणजी के घरपर उतरना हुआ, फिर गोरयाकोठी पहुँच गया। नारायणबाबू घरपर ही थे। उन्होंने अपने खेतोंको दिखलाया, अपनी योजना बतलाई। इस पंचायती खेतीमें चार परिवार (२९ व्यक्ति) शामिल हुए थे, और उनके पास ९७ बीघे (प्रायः ६५ एकड़) ज़मीन थी। खेती अभी दस ही महीने पहिले शुरू हुई

थी, लेकिन इतने हीमें लोगोंको फ़ायदा मालूम हो गया था। मैंने "पंचायती खेतीका एक प्रयास" के नामसे एक विस्तृत लेख लिखा। २ नवम्बर तक महाराजगंज, अतरसन, एकमा, बरेजा, माँझी, आदि गाँवोंमें घूमा, और वहाँकी राजनीतिक अवस्थाका अध्ययन करता रहा। बनारस, प्रयाग भी गया, और वहाँ कालेजके छात्रोंके सामने व्याख्यान दिए। जायसवाल जीके देहांतके बाद मेरी बड़ी इच्छा थी, कि उनका एक जीवन लिख डालूँ, उनके कागज़-पत्रोंसे मैंने कितनी बातें नोट भी की थीं। अबकी बार पटनामें भी कुछ मसाला जमा किया था। उसी सिलसिलेमें मैं २४ नवम्बरको मिर्जापुर गया, वहाँ जायसवाल-परिवार, जायसवाल-के बाल शिक्षक नाऊ गुरु तथा दूसरे परिचितोंसे पूँछकर बहुतसी बातें जमा कीं। लेकिन २९ तारीखको गयासे पटना जाते वक़्त सारी सामग्री चमड़ेके बैगमें रखी रेलपर ही छूट गई, फिर मुझे उत्साह नहीं रह गया, कि उतनी मेहनत करूँ।

२५ नवम्बरको डालमियाँनगर वहाँके मज़दूरोंकी अवस्था देखने गया। सड़कके पास मेहतरोंकी झोपड़ियाँ थीं। झोपड़ियाँ भी कहना मुश्किल था, क्योंकि ४ हाथ लम्बी ३ हाथ चौड़ी इन टट्टियोंपर टीन, छप्पर या टाटकी छोटी-छोटी छतें थीं, बरसातका पानी शायद ही वह रोक सकतीं। फ़र्श भी बहुत नीचा था। मैंने एक स्त्रीसे पूछा —"बरसातमें कहाँ रहती हो?" स्त्रीने कुछ अभिमानके साथ कहा—"खटियापर बाबू।" शायद उसकी पड़ोसिनोंके पास खटिया भी न हो, इसलिए उसे खटियाका अभिमान था। बरसातमें सचमुच ही वहाँ पानी भर जाता था, इसलिए खटिया बिना बैठनेका ठाँव कहाँ था? यह धर्ममूर्ति देशभक्त सेठके नगरके भंगी थे। जिन ग़रीबोंकी कमाईसे करोड़ोंका लाभ हो, उनकी यह हालत! डालमियाँ नगरके बाबू लोगोंकी एक क्लब है। साहित्यिक रचनाओं और अनुसन्धानोंके कारण मेरा नाम क्लबवालोंको मालूम था। उन्होंने शामको मानपत्र देनेका आयोजन किया। वह इसके लिए किसी दूसरी जगह सभा करना चाहते थे, लेकिन सेठजीने बड़ी उदारता दिखाते हुए कहा—यहाँ अपने ही हातेमें मानपत्र दो, मैं भी शामिल होऊँगा। मानपत्र दिया गया। मैंने ईरान और तिब्बतके बारेमें भी कुछ कुछ कहा। लोगोंने कहा कि रूसके बारेमें भी कुछ बतलाइए। मैं चुप था, और दो-तीन बार वह आग्रह जब दुहराया गया, तो सेठजीने कहा—यहाँ रूसके बारेमें कुछ न कहें। मैंने वहाँ कुछ नहीं कहा। हाँ, पीछे फैक्टरीके मज़दूरोंकी सभा हुई, उसमें मैंने रूसकी बातें बतलाईं। गया जिलेके किसान तरुणोंका देवमें शिक्षण-शिविर चल रहा था, वहाँ मुझे

भी कुछ व्याख्यान देने थे। मैं डालमियाँनगरसे वहाँ चला गया।

किसान सम्मेलन—उस साल बिहारप्रान्तीय किसान सम्मेलन ओइनी (दरभंगा) में हो रहा था। मैं भी वहाँ गया। श्री कार्यानन्द शर्मा सभापति थे। असहयोगके ज़मानेसे हम दोनों एक दूसरेको जानते थे। कार्यानन्दजीने बड़ी ग़रीबीसे पढ़ा था। कालेजमें पढ़ रहे थे, उसी वक़्त स्वतन्त्रताके आन्दोलनने ज़ोर पकड़ा, और कालेजकी पढ़ाई छोड़कर वह रणक्षेत्रमें कूद पड़े। वह १८ वर्षोंसे बराबर उसी लगनसे काम करते रहे। स्वराजका अर्थ वह ग़रीबी और अपमानका दूर होना समझते थे, धीरे-धीरे उनके तजर्बोंने बतला दिया, कि निराकार स्वराजसे काम नहीं चलेगा, किसानोंकी साकार तकलीफ़ोंको दूर करना पड़ेगा। वह किसानोंकी कई लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। आज ३० हजार किसान अपने वीर सभापतिके भाषणको बड़ी श्रद्धा और उत्साहके साथ सुन रहे थे। मैंने अपना व्याख्यान छपराकी भाषा (मल्लिका) में दिया था। यद्यपि यहाँके किसानोंकी भाषा मैथिली है, लेकिन वह हिन्दीकी अपेक्षा मल्लिकाको ज्यादा समझते हैं। ओइनीसे पूसा ६ मील दूर है। ४ दिसम्बरको कई साथियोंके साथ मैं वहाँके फार्म (कृषि) को देखने गया। भूकंपके बाद यहाँकी बहुतसी संस्थाएँ दिल्ली चली गईं, लेकिन जो कुछ देखा, उससे यही मालूम हुआ कि यहाँके सारे साइंस-संबंधी अनुसन्धान किसानोंकेलिए नहीं, बल्कि काग़ज़ोंपर छाप-छापकर सरकारकी वाहवाही लेनेकेलिए हैं।

मुझे यह भी पता लग गया कि "किसानोंकी जय" का नारा जिन लोगोंने लगाकर किसानोंसे वोट लिए, वही काँग्रेसी मंत्रीमंडलमें पहुँचकर अब कोई बात करनेसे ज़मींदारोंकी तकलीफोंपर लेक्चर देने लगते हैं। ओइनीसे मैं जीरादेई (५-६ दिसंबर) गया। राजेन्द्रबाबू आजकल घर ही पर थे, उनके साथ देश-विदेशकी राजनीति और खास करके किसानोंकी समस्यापर बात होती रही। मैंने यह भी कहा कि सरकारी फार्मोंसे नए ढंगकी खेतीका उतना प्रचार नहीं हो सकता, जितना कि पंचायती खेतीमें उन तरीकोंके बरतनेसे होगा। वहाँसे लखनऊ, गोरखपुर, प्रयाग आदि घूमते-घामते २९ दिसम्बरको मुज़फ़्फ़पुर पहुँचा। उस वक़्त प्रान्तीय काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टीका वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। बिहारके सभी जिलोंके कार्यकर्त्ता आए थे। इस वक्त यह भी देखा कि मेरे व्याख्यानोंको नोट करनेकेलिए एक डिप्टी-मजिस्ट्रेट खास तौरसे आए हुये हैं। राजनीतिक कार्य-कर्त्ताओंकेलिए यह भयकी नहीं, सम्मानकी चीज है। जयप्रकाशबाबू और दूसरे साथियोंने मुझे पार्टीका सदस्य होनेकेलिए कहा। मैंने मसानीके लेखका जिक्र करके कहा कि आपकी पार्टी यदि सोवियत्-

विरोधी नीति रखती है, तो मैं कैसे उसमें शामिल हो सकता हूँ ? उन्होंने बतलाया कि यह मसानीका अपना विचार है, पार्टी उसकेलिए जिम्मेवार नहीं है। मैं मेम्बर बन गया। उस वक़्त हरिनगर (चंपारन) की चीनी मिलोंमें हड़ताल जारी थी। मैं २२ तारीखको वहाँ पहुँचा। हरिनगर मिल कांग्रेसी पूँजीपतिकी मिल है, किन्तु वहाँके हड़तालके देखनेसे मालूम हुआ, कि देशकी आज़ादीकेलिए लड़नेवाले ये लोग किसानोंको पीस डालनेकेलिए किसीसे कम नहीं हैं। मिल-मालिक और बड़े नौकर मज़दूरोंको दाससे बढ़कर नहीं समझते। ज़रा-ज़रासी बातकेलिए जुर्माना कर देना, नौकरीसे निकाल देना मामूली बात थी। ऊपरसे मज़दूरी भी बहुत कम थी। शायद दुनियाके किसी मुल्कमें पूँजीपति इतना ज्यादा नफा नहीं कमाते। हिन्दुस्तानकी चीनी मिलोंने तीन-तीन चार-चार वर्षके भीतर इतना नफा कमाया, कि कारखानेमें लगी सारी पूँजी नफेसे निकल आई। यह पूँजीवादी प्रथामें भी रोज़गार नहीं, सीधी लूट है।

जिन मज़दूरोंके पसीनेकी कमाईसे पूँजीपति इतना नफा कमाते हैं, उनकी ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं जाता। हरिनगर मिलके मजदूरोंकी बहुतसी शिकायतें थीं, जब ६ महीना बंद रहनेके बाद पेरनेका मौसिम नज़दीक आया और मिलकी मशीन और पुर्जे साफ़ किए जाने लगे, उस वक़्त मिलवालोंने ख़ूब नादिरशाही की। ७ अक्तूबर (१९३८) को ३०० सौ मज़दूरोंमें २० को छोड़कर बाकी सबने हड़ताल कर दी। उनकी माँग थी—(१) मजूरीमें २५ सैकड़ा वृद्धि। यानी साढ़े तीन आनेकी जगह छ आना रोजाना मजूरी हो; (२) मजूरोंके घरोंमें चिराग और सफ़ाईका इन्तिजाम किया जाय; (३) विवाहित मज़दूरोंकेलिए जनाना क्वाटर मिले; (४) मिल-मालिक मज़दूरसभाको स्वीकार करें; (५) किसी मज़दूरको बहाल-बरख़ास्त करना हो तो उसे अपने मनसे न करें, बल्कि फ़ैसला करनेका अधिकार मज़दूरों और मालिकोंकी एक सम्मिलित सभाको हो। हड़ताल २० अक्तूबर तक जारी रही। मिलवालोंकेलिए यह बड़े नुक़सानकी चीज़ थी, क्योंकि यदि मशीन साफ़ होकर लग नहीं जाती, तो ऊख पेरनेका का काम कैसे होता ? १८ से २० तारीख तक मिलके भीतर ही जिलाकांग्रेस कार्यकारिणीकी बैठक होती रही—मिलमें बैठक होने-केलिए कोई आश्चर्य करनेकी ज़रूरत नहीं, आखिर मिल-मालिक भी तो कांग्रेसी थे। कार्यकारिणीने मज़दूरोंको अश्वासन दिया, और मज़दूरोंने सप्ताह भरकेलिए हड़ताल रोक दी। पेरनेका मौसिम आ गया, और मिलमें १२०० मज़दूर काम करने लगे। मज़दूरोंने कांग्रेसी नेताओंको चिट्ठी और तार दिये, लेकिन जवाब देनेकी ज़रूरत नहीं समझी गई। १५ दिन इन्तज़ार करनेके बाद ५ नवम्बरको फिर हड़ताल करनेके-

लिए मज़दूरोंने अल्टिमेटम दे दिया। उसी दिन जिलाके बड़े कांग्रेसी नेता आए, उन्होंने मज़दूरोंको धमकी दी, कि यदि हड़ताल किया, तो सबको बाहर निकाल दिया जायगा और नए मज़दूर रखे जाएँगे। ६ नवम्बरको मज़दूरोंने फिर हड़ताल शुरू कर दी। १४ नवम्बरको नेताने आकर फैसला सुनाया कि मजूरी साढ़े तीन आनेकी जगह चार आना मिलेगी। बाकी किसी बातपर विचार नहीं किया गया। लेकिन मज़दूर इतनेसे सन्तुष्ट कैसे हो सकते थे! हड़ताल जारी रही। मज़दूरोंने धरना देना शुरू किया। पुलिस पकड़ नहीं रही थी, इसपर कांग्रेसी नेताओंने उन्हें हिजड़ा कहा और धमकी दी। पुलिसने लोगोंको गिरफ़्तार करना शुरू किया। मिलके सिपाही और पुलिस-घुड़सवार मज़दूरोंको खूब मारते-पीटते, उनके ऊपर घोड़े दौड़ाते, ठंडा पानी डालते। जनार्दन प्रसादको तो इतना पीटा था कि दस दिन तक वह बोल न सका। आज (२२ दिसम्बर) तक १६८ मजदूर जेलमें भेजे जा चुके थे। सब-डिविजनल मजिस्ट्रेटने कई लड़कोंके हाथोंपर बेत लगवाए।

मुझे यह सब सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। यह सब कांग्रेसी सरकारके राज्यमें उस जनतापर हो रहा था, जिसने कांग्रेसको इतना बड़ा किया! क्या वह कांग्रेस मंत्रि-मंडलसे यही आशा रखती थी? सबसे बड़ी बात तो यह कि अभी हमारा देश अंग्रेज़ोंका गुलाम था। क्या कांग्रेसवाले नहीं जानते थे कि जिस गरीब जनताके ऊपर इतना अत्याचार किया जा रहा है, उसीके बलपर उसे विदेशियोंसे लड़ना है। मुझे कांग्रेसी नेताओंसे कभी ऐसी आशा नहीं थी।

रांची साहित्य सम्मेलन (२७-३० दिसंबर)—उस साल प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रांचीमें हो रहा था, मैं ही उसका सभापति चुना गया था। २६ दिसम्बर-को मैं रांची पहुँचा। रांचीकी यह पहिली यात्रा थी। हरीभरी पहाड़ी जगह थी, गर्मीमें कैसी लगती होगी? मैंने अपने भाषणमें जनभाषा और जनगीतपर जोर दिया था, हिन्दी उर्दूको मिलाकर एक कृत्रिम भाषा (हिन्दुस्तानी)के विपक्षमें कहा था। मैं बिलकुल समझ नहीं सकता था कि इक़बाल और पन्तकी कविताओंके साहित्यको कैसे एक कहा जा सकता है? मैं समझता था, कि हिन्दी और उर्दूको अपने अपने स्थानपर रहने देना चाहिए। ३० तारीखको हम कांके देखने गए। मुर्गी पालनेको मैं बहुत फायदेकी चीज़ समझता था, इसलिए वहाँके मुर्गी खानेको बड़े ध्यानसे देखता रहा। हम पागल-खाना देखने गये। एक पागल कह रहा था—"देखिये हम काम करते हैं, किन्तु मजदूरी नहीं मिलती। हम कैदी थोड़े ही हैं, हमको शादी ब्याह नहीं करने दिया जाता।" वह पागल ज्यादा खतरनाक नहीं था।

२

किसान-सत्याग्रह (१९३९ ई०)

पहिली जनवरी (१९३९) को सवेरे नागार्जुनजीके साथ मैं पटना पहुँचा, और दूसरे दिन छपराकेलिए रवाना हो गया। जिला भरके किसान-कार्यकर्त्ता आए हुए थे, वहाँ किसानोंकी परिस्थिति जाननेका मौका मिला। अमवारीके किसानोंने बतलाया "हमारे खेत छीन लिए गए हैं, हमने इधर-उधर बहुत दौड़धूप की, कांग्रेस नेताओंके पास भी गए, मगर कोई नहीं सुनता।" ५ जनवरीको मैं सीवानमें रेलसे उतरकर अमवारी पहुँचा। मालूम हुआ, सचमुच बहुतसे किसानोंके खेत निकाल लिए गए हैं। यह भी पता लगा कि झगड़ा हरीबेगारीसे शुरू हुआ। सतयुगसे व्यवस्था चली आई थी, कि किसान अपने हल-बैलसे मालिकके खेतको पहले जोत-बो दें, फिर वह उसे अपने खेतमें ले जा सकता है। रामधनी महतो अपना खेत जोत रहे थे, जमींदार (गु० बाबू) ने कहा—हल हमारे खेतमें ले चलो। रामधनीने कहा—इस खेतको जोतकर बाबू हम आपके खेतमें चलेंगे। बाबूने तीन लाठी मारी। पुलिसने भी रैय्यतके खिलाफ़ ही रिपोर्ट दी। दूसरे किसानोंको यह बात बुरी लगी। पुलिसकी रिपोर्ट पढ़कर मजिस्ट्रेटने किसानोंके ऊपर दफा १४४ लगा दी। सारा मामला एकतरफ़ा था, और यह सब कांग्रेसी मंत्रियोंके राजमें हो रहा था।

मैं अगले दिन (६ जनवरी) पासके गाँव जयजोरीकी ओर चला। अमवारी प्राइमरी स्कूलके लड़कोंने मुझे खूब गालियाँ दीं। उनके अध्यापक जमींदारके यहाँ नौकरी भी करते थे, इसलिए नमक-हलाली दिखलानी ही चाहिए थी। रातको हम जयजोरीमें रहे। यहाँके किसानोंपर भी ज़मीदारका वर्षों तक ज़ुल्म होता रहा। खेतमें चाहे एक अच्छत पैदा न हो, लेकिन मालगुजारी जुर्माना सब मालिकके पास पहुँचना चाहिए। किसान कितने दिनों तक मालगुजारी कर्ज़ लेकर देते? जब देनेमें असमर्थ हुये तो ज़मींदारने खेत नीलाम करवा लिया। खेतको छोड़कर किसान जी कैसे सकते थे! अन्तमें उन्होंने निश्चय किया, कि चाहे कुछ भी हो, हम अपने खेतको नहीं छोड़ेंगे। ज़मींदारने सब कुछ करके देख लिया, लेकिन गाँवके एक दोको छोड़कर सारे ही किसान एक राय थे। वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। वर्षों तक लड़ते रहनेके कारण, मैंने देखा जयजोरीके किसानोंमें जान है—मोहन भगत और कई दूसरे किसान सिर्फ अपना स्वार्थ नहीं देखते थे।

दूसरे दिन (७ जनवरी) हम सीवानकेलिए रवाना हुए। थोड़ी ही दूर जानेपर सुल्तानपुर गाँव मिला। यहाँ हिन्दू मुसलमान दोनों ही धर्मोंके किसान हैं। मैंने एक मुसल्मान किसानसे बातचीच शुरू की—"तुम्हारे गाँवमें कितने खेत और कितने घर असामी हैं ?

किसान—५ सौ बीघा (३०० एकड़से कुछ ऊपर) खेत और पाँच सौ परिवार हैं—हिन्दू-मुसल्मान दोनों।"

मैंने पूछा—"तुम्हारे मालिक कौन हैं।"

किसान—"हमारे मालिक डाक्टर म० साहब हैं।

मैं—"तब तो तुम्हारा अहोभाग्य है। कांग्रेसके इतने बड़े नेता तम्हारे मालिक हैं।"

किसान—'अहोभाग्य। सारे रय्यत परेशान-परेशान हैं। एक किस्त माल-गुजारी जो बाकी रह जाय, तो मारकर खाल उधेड़ लेते हैं। हरी-बेगारी, जुर्मानाके मारे नाकमें दम है। मालिकके ७५ बीघेकी बकाश्त (अपनी खेती) है, और उसका सारा जोतना-बोना हम लोगोंको अपने हल-बैलसे करना पड़ता है।"

यह थे कांग्रेसी सरकारके एक मंत्री और शायद दूसरे मंत्रियोंसे काफ़ी अच्छे !

उसी दिन हम सीवान पहुँच गए। दूसरे दिन सीवानके अंग्रेज़ एस० डी० ओ० के पास जाकर मैंने अमवारीके किसानोंकी तकलीफ़ें बतलाईं। उसने कहा—"मैं अभी-अभी नया आया हूँ, मैं वहाँ जाकर जाँच करूँगा।" लेकिन वह कभी जाँच करने नहीं गया। जाँच करनेकी जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि ज़मींदार (च) बाबूसे झगड़ा था, वह सरकारके बहुत खैरख्वाह थे, कई सालोंसे अवैतनिक सी० आई० डी० (खुफ़िया) का काम कर रहे थे, सरकारने उन्हें उपाधि भी दी थी। उनके पास कई बड़े अंग्रेज़ हाकिमोंके प्रशंसापत्र थे। उनकी एक-एक बात अंग्रेज़ मजिस्ट्रेटकेलिए ब्रह्मवाक्य था।

छपरामें सबसे बड़ी ज़मींदारी हथुवाके महाराजा बहादुरकी है। सारा कुआड़ी परगना उनका है। जब मैं असहयोग और बादमें भी कांग्रेसका काम करता था, तो कुआड़ीमें मुझे बहुत जाना पड़ता था। मैंने यहाँके किसानोंकी बहुतसी तकलीफें सुनी थीं। मैं कुआड़ीमें जानेका ख्याल रखता था, लेकिन अबकी बार सिर्फ मीरगंजको दूरसे देखकर ही संतोष करना पड़ा। मीरगंज बाजार अब बहुत बढ़ गया था। वहाँ एक चीनीकी मिल क़ायम हो गई थी। थावेसे सिधवलियाकी रेलपर पहिले-

पहल चढ़ा। रतनसराय स्टेशनसे उतरकर बरौली गया, वहाँ एक सभामें भाषण दिया, फिर रास्तेमें रातको एक जगह ठहरकर गोरयाकोठी पहुँचा और चार दिन वहीं रहा। वहाँ हाई स्कूलके विद्यार्थियोंके सामने व्याख्यान दिया, और पंचायती खेती देखी। छितौलीके किसानोंने अपनी तकलीफें बताई। ३१ जनवरीको छितौली पहुँचा। वहाँके ज़मींदार अशर्फीसाहुसे मिला। उन्होंने कहा कि मैंने किसी असामीको खेत नहीं दिया है, मैं अपना खेत आप जोतता हूँ। अशर्फीसाहु धर्मात्मा समझे जाते थे, उन्होंने एक मन्दिर बनाकर संस्कृत पाठशाला भी खोल रखी थी। पूजा-पाठ, व्रत-उपवासमें भी आगे रहते थे, लेकिन वह बोल रहे थे सरासर झूठ। ४८६ बीघा खेतकेलिए वहाँ उनके पास हल-बैल कहाँ थे? जब अशर्फीसाहुने एक निलहे साहबसे यह जमीन और कोठी खरीदी, उस वक्त कितने ही असामी खेतोंको जोता करते थे। उनसे साहुने खेत निकाल लिया। गाँवके असामियोंको जोतनेके-लिए देनेपर निकालना मुश्किल होता, इसलिए १४ घर असामियोंको दूसरे गाँवसे बुलाकर बसाया। पैमायश (सर्वे) में इन असामियोंके नाम दर्ज हो गए, फिर उन्हें इस्तीफ़ा देनेकेलिए मजबूर किया। बेचारे ग़रीब किसान लखपती ज़मींदारसे कैसे लड़ते? पुलिस उनकी बात करती थी। अदालतकी आँखमें धूल झोंकनेकेलिए वह पानीकी तरह रुपयेको खर्च कर सकते थे। खैर, अब तक वह किसानोंको मनमाना मालगुजारीपर खेत जोतनेको देते थे, लेकिन अब वह इसकेलिए भी तैयार नहीं थे।

उसी दिन छपरा पहुँचा। अगले दिन कलक्टरसे मिला। उनसे मैंने किसानों-के कष्ट बताए। कलक्टरने कहा कि हम तो कानूनके बन्दे हैं, यदि किसानोंकेलिए कुछ करना है, तो कांग्रेस सरकारको करना चाहिए, तो भी मैं अमवारीके बारेमें जाननेकी कोशिश करूँगा।

१७ जनवरीको मैं पटनामें था। मैं चाहता था कि पंचायती खेतीको सरकार प्रोत्साहन दे, जिसमें नये ढंगकी खेतीको देखकर दूसरे किसान भी इसे अपनाएँ। डाक्टर महमूदसे पहिले ही बातचीत हुई थी। पार्लामेन्ट्री सेक्रेटरी बाबू शारङ्गधरसे बातचीत हुई। फिर उनके परामर्शानुसार कृषि-विभागके डाइरेक्टर मिस्टर सेठीके पास पहुँचा। उन्होंने पहिले इस तरह बात शुरू की, मानो विशेषज्ञोंकेलिए जो काम है, उसमें साधारण आदमीको हाथ डालनेका हक नहीं है। वह कह रहे थे कि हज़ार-दो-हज़ार एकड़ वाले किसान इकट्ठा करें, तो हम अपना ज्ञान और साधन खर्च करेंगे। मैंने कहा—"तब तो न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी" आपको सौ-पचास

एकड़वाले पंचायती खेतिहरोंको मदद देना चाहिए, उनकी सफलता देखकर दूसरे भी अनुकरण करेंगे। खैर, उन्होंने हाँ-हाँ किया और खर्चकी योजना बना देनेके लिए कहा। मैंने कुआँ, रहट और कुछ और चीजोंकेलिए रुपयेका हिसाब दे दिया।

उस वक़्त मुँगेर और गया जिलामें किसानोंका ज़मींदारोंके साथ संघर्ष चल रहा था। कांग्रेस मन्त्रिमंडलके कायम होनेपर ज़मींदारोंको डर हो गया था कि जिन खेतोंको उन्होंने जबर्दस्ती किसानोंसे छीन लिया है, और जिन्हें अब भी किसान ही जोत रहे हैं, उनपर किसानोंका अब हक हो जायगा, क्योंकि कांग्रेसी सरकार उनकी धाँधली चलने नहीं देगी। इसीलिए सारे बिहारमें वर्षोंसे किसानोंके जोतमें रहते खेतोंको ज़मींदारोंने निकालना शुरू किया। किसान विरोध करते थे और अपने खेतोंको छोड़ना नहीं चाहते थे, यही संघर्षका कारण था। श्रीकार्यानन्दजीसे मैंने बढ़ैयाटालके किसानोंकी दुर्दशा सुन ली थी, और अब मैं उसे खुद देखना चाहता था।

बढ़ैयाटालमें—२० जनवरीको मैं लक्खीसराय चित्तरंजन आश्रममें गया। वहाँ उस वक़्त किसानकार्यकर्त्ताओंका शिक्षणशिविर चल रहा था और एक तरुण कर्मी अनिलमित्र बड़ी तत्परतासे काम कर रहे थे। अगले दिन (२१ जनवरी) को कार्यानन्दजीके साथ हम पैदल रवाना हुए। रास्तेमें रजौनामें पालवंशी राजा सूरपालके समय (१०७५-७७ ई०) की एक बौद्धमूर्ति देखी। एक दूसरी मूर्ति-की चौकीपर किसी पालवंशी राजाके १३वें वर्षका शिलालेख था। हरोहर नदीमें नाव तैयार थी। हम नावसे रेपुरा गए। नदीसे थोड़ा हटकर गाँव था। एक बगीचेमें सभाका इन्तजाम किया गया। ५ हज़ारसे अधिक लोग जमा थे, जिनमें तीन चार सौ औरतें थीं। सदियोंसे इन किसानोंपर अत्याचार होता आया था। वह इसे भाग्यका फेर समझते थे, लेकिन अब वह अपने भाग्यको अपने हाथसे बनानेकेलिए तैयार थे। बढ़ैयाटाल चालिस गाँवोंका एक विस्तृत मैदान है। यहाँकी ज़मीन नीची है, इसलिए बरसात भर वह एक छोटे-मोटे समुद्रका रूप ले लेता है, जिसके भीतर छोटे-छोटे गाँव द्वीपसे मालूम पड़ते हैं। बरसात खतम होते ही पानी निकल जाता है। लेकिन हज़ारों गाँवोंकी गन्दी-सड़ी चीज़ोंको अपने भीतर घोलकर वहाँ मोटी काली मिट्टीकी तहके रूपमें छोड़ भी जाता है, जिसके कारण रब्बीकी फ़सलकेलिए ज़मीन अधिक उपजाऊ हो जाती है। पानी निकलते ही किसान हल ले जाकर बीज बो देते हैं, और फिर लाखों एकड़ भूमिमें हरी फ़सल लहराने लगती है। टालको बराबर इन गाँवोंके किसान जोता करते थे। ज़मींदार उनसे मनमाना अनाज और भूसा लिया करते थे, और किसानोंको इतना अन्न उपज़ाकर भी भूखे मरना पड़ता था। अब जब

किसान जाग गए, तो ज़मीदार हर तरहके अत्याचारपर उतर आए थे। उनके लठधर किसानोंका शिर फोड़ते औरतोंको बेइज़्जत करते थे। पुलिसने सैकड़ों आदमियोंको जेल भेजा। लेकिन अब जेलका डर इनके दिलसे निकल गया था। उस दिन औरतें अपनी मगही भाषा में गाना गा रहीं थीं "चलु चलु माता! जेहलके जवैयारे।" औरतें भी जेल जानेसे नहीं डरती थीं।

अगले दिन (२२जनवरी) रेपुरासे हम रवाना हो मेहरामचक गाँवमें पहुँचे। गाँव वालोंका जिधर निकास था, उधर ही पुलिसने डेरा डाला था। शांति-व्यवस्था तथा ज़मींदारोंकी लूट-की रक्षा करनेकेलिए पुलिसका भारी दल टालमें पहुँचा हुआ था। लेकिन उन्हें डेरा डालनेमें इतना तो ख्याल रखना चाहिए था, कि जिधर औरतें रात-बिरात निकलती हैं, उस जगहको छोड़ देते—साफ था कि काँग्रेसी सरकारने ज़मींदारोंका पल्ला पकड़ा था। यह बहुत ग़रीब गाँव था। ५ व्यक्तिके एक परिवारके घरको मैं देखने गया। तीन हाथकी दीवारपर फूसकी झोंपड़ी रखी थी। घर भीतरसे ८ फ़ीट लम्बा और ५ फ़ीट चौड़ा था। बाहर एक फूसका बरांडा था। इसीमें वह गुज़ारा करते थे। एक २१ व्यक्तिके परिवारके पास वैसे ही तीन घर थे। क्या इसे मनुष्यजीवन कह सकते हैं? एक घरमें देखा कि ज़मींदारने घरवालोंको निकाल दिया है और उसमें भूसा भर रखा है। हद दरजेकी ग़रीबी और असहायता। भूखे थे तो भी अब उनके अन्दरसे डर निकल गया था। उनके उत्साहको देखकर मेरी तबियत बहुत खुश हुई। मैंने कहा—क्रांति तुम्हारा स्वागत है।

रघोड़ामें—२३ जनवरीको कार्यानन्दजीके साथ रघोड़ा देखने जारहा था। गयाके किसान-नेता पंडित यदुनन्दनशर्मापर किसानोंके संघर्षमें सहायता देनेके अपराधमें मुक़दमा चल रहा था। पचासों हज़ार किसान अपने वीरनेताके दर्शनकेलिए गया जानेको तैयार थे। उस भीड़में भला टिकट कौन माँगता और जेलसे डरनेवाला कौन था? रेलवालोंने ढाई घंटा बाद रेल छोड़ी, इसपर भी उन्हें हिम्मत नहीं थी फिर उन्होंने हम दोनोंको भी साथ चलनेकेलिए कहा। काशीचक स्टेशनपर अब भी पचास आदमी थे, बहुतसे कचहरीका समय बीत गया समझकर लौट गए थे। हमलोग लारीसे रघोड़ा गए। सशस्त्र पुलिस गाँवसे बाहर पड़ी थी। गाँवमें दरिद्रता हद दर्जेकी थी। कितनी ही छानोंपर वर्षोंसे खर नहीं पड़ा था। इस गाँवमें बड़ी जातिवाले किसान ज्यादा रहते थे और ज़मींदार भी उसी बड़ी जातिके थे। एक-एक करके उन्होंने किसानोंके सभी खेत नीलाम करवा लिये। अब किसानोंकेलिए दो ही रोज़गार था, बैल-गाड़ी लादना या लड़कियोंको पैदाकर उन्हें अपने जातिमें

बेंचना । इतनी ग़रीबी थी, किन्तु मैंने वहाँके स्त्री-पुरुषोंके रंग और शरीरको देखा तो उनसे सौन्दर्यकी झलक आ रही थी । ज़मींदारपर पुलिस और सरकारी अफ़सरोंका वरदहस्त था, क्योंकि उन्होंने अपनेको पक्का अंग्रेज़भक्त साबित किया था । कांग्रेस-मंत्रियोंमें चारमेंसे तीन स्वयं ज़मींदार थे और चौथे बननेकी तैयारीमें थे, फिर उनकी सहानुभूति किसानोंके प्रति क्यों होती ? लेकिन किसानोंमें अब ग़ज़बका एका हो गया था । वह अपने हक़पर एक साथ लड़ने, एक साथ जेल जाने, मारखानेकेलिए तैयार थे । औरतें हमें देखकर "चलु चलु सखिया जेलके जवैया गे" गा रही थीं । मैंने वहाँ एक व्याख्यान दिया ।

२४ जनवरीको सबेरे मैं पटनामें था । वहाँ खबर मिली कि करनौती (हाजीपुर) की घरू नौकरानियोंने हड़ताल कर दी है । हमारे देशमें एकही कोढ़ थोड़ा है । जिन गाँवोंमें बड़े-बड़े ज़मींदार रहते हैं, वहाँकी औरतोंकी इज्जत मुश्किलसे बच पाती है । ज़मींदारोंकी अपनी इज़्ज़तपर भी आवरवाँ जैसा ही पर्दा होता है । साधारण स्त्रियोंपर तो वह भी नहीं रहने पाता.। फिर सैकड़ों वर्षोंसे उन्होंने कुछ जातियोंका अपना खवास—गृहसेवक बना रखा है । इन घरोंके पुरुष और स्त्रियाँ बाबुओंके घरमें ज़िन्दगी भर सेवा करनेकेलिए बने हैं । इनकी अवस्था दास-दासीसे बेहतर नहीं है । मालिकके जूठे भातसे वह पेट पालते हैं, उतारे कपड़ेसे शरीर ढाँकते हैं । महीनेमें ८ आना और १२ आना उन्हें तनख़्वाह मिलती है, और कामकेलिए पहर भर रातसे आधीरात तक हाथ बाँधे खड़ा रहना पड़ता है । लड़कीका ब्याह होनेपर जैसे मोटर, हाथी, सोने-रूपेका दहेज दिया जाता है, उसी तरह खवासिनें भी दहेजमें जाती हैं । क्या दास-प्रथामें कोई कसर है ? करनौतीमें घरू नौकरानियोंकी हड़तालने बतलाया कि, कि राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंका हिन्दुस्तान हिलने लगा है ।

उसी दिन रातको मैं छपरा गया । मढ़ौरामें चीनी, शराब और लोहेकी एक बड़ी फैक्टरी है, एक अंग्रेज़ी मिठाइयोंका भी कारखाना है । कारखानेके मालिक अंग्रेज़ हैं । यद्यपि वह इंगलैण्डमें अपने मज़दूरोंको चार-चार रुपया रोज मजूरी देनेकेलिए तैयार हैं, लेकिन हिन्दुस्तानके मजूरोंको वह चार आनेमें टरकाना चाहते हैं । मजूरोंने बहुत शिकायतें कीं, उन्होंने मालिकोंके पास बार-बार दरख़्वास्तें दीं, लेकिन कौन सुनता है ? कांग्रेसवाले अब मिलमालिकोंके सगे भाई थे, जैसा कि हमने हरिनगरमें देखा था । लेकिन मढ़ौराके मालिक हिन्दुस्तानी नहीं अंग्रेज़ सेठ थे, इसलिए उन्होंने मजूरोंके साथ अपना छोह दिखाना चाहा । जिला कांग्रेसके तत्कालीन सभापति एक बड़े ज़मींदार थे । जिलेमें जगह-जगह किसानोंपर ज़ुल्म हो रहे थे । जमींदार उनके खेतोंको

जबर्दस्ती निकाल रहे थे। किसान दौड़े-दौड़े जिला काँग्रेसके पास जाते, किन्तु सभापति महाशय क्यों उधर ध्यान देने लगे ? उनकी जमींदारीमें भी तो वही बातें दुहराई जाती थीं। खैर, अंग्रेज सेठका कारखाना होनेके कारण काँग्रेसी नेताओंने यहाँके मज़दूरोंकी सभा स्थापित की। १ दिसम्बरको जिला सभापतिने मजदूरोंकी सभा की और उनकी माँगें लिखकर मालिकोंके पास भेज दीं। साथ ही यह भी लिख दिया कि १६ तारीखके १२ बजे तक माँगें पूरी कर दी जायँ। लेकिन मिलवाले इस तरहकी चिट्ठियोंसे थोड़े ही माँगें पूरा किया करते हैं। २० को चिट्ठी लिखी गई कि यदि चौबीस घंटेमें समझौता नहीं हुआ, तो मज़दूर हड़ताल कर देंगे। २१ जनवरीको मज़दूरोंकी आम सभा करके २३ जनवरीसे हड़ताल करनेकी चिट्ठी लिख दी गई। यह सब काँग्रेसके नेता कर रहे थे। मज़दूर उनकी बातपर विश्वास करके लड़नेपर तैयार थे। काँग्रेसवाले कई बार हड़तालको स्थगित कर चुके थे। २२ तारीखको फिर उन्होंने हड़ताल स्थगित करनेकेलिए लिखा। मज़दूरोंको मालूम हो गया, कि वह नहीं चाहते कि हम अपने हकके लिए लड़ें। उन्हें बड़ी निराशा हुई। वह हमारे साथियोंके पास दौड़े। २३ को आकर साथी विश्वनाथ श्रमिकने मज़दूरोंका पक्ष लिया, इसपर काँग्रेसी नेताओंने धमकी दी, और २४ तारीखको उन्होंने फतवा दिया कि मज़दूरोंके नेता गुंडा हैं। अब पुलिस क्यों चूकने लगी ? उसने ३१ आदमियोंको गिरफ्तार किया। इसी कामकेलिए मैं २५ जनवरीको मढ़ौरा पहुँचा था। मज़दूर डटें हुए थे। बाजारके लोग थोड़ा-थोड़ा अन्न जमा करके हड़तालियोंकी मददकेलिए तैयार हो गए। मैंने मज़दूरोंकी सभामें व्याख्यान भी दिया।

२६ जनवरीको सोनपुरमें स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जानेवाला था। मुझे निमंत्रण दिया गया था। कई वर्षों बाद मैं वहाँ एक राजनीतिक कार्यकर्ताके रूपमें गया। २ बजे एक भारी जुलूस निकाला गया, और ५ बजे स्वराज-आश्रममें राष्ट्रीय झंडा फहरानेके बाद मैंने व्याख्यान दिया। मैंने देखा कि लोगोंमें पहिलेकी अपेक्षा अधिक जागृति है। लोग सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियोंके खिलाफ़ भी बात सुननेकेलिए तैयार हैं। मुझे एक अभिनन्दनपत्र दिया गया, लेकिन अभिनन्दनपत्रोंको रखनेकेलिए न मेरे पास ठाँव था, न लालसाही। बाराबंकी, लक्खीसराय आदिकी तरह इस अभिनन्दनपत्रको भी मैंने वहीं छोड़ दिया।

उस वक़्त मैं देख रहा था, कि सब जगह किसानोंमें उत्साह है। वह जमींदारोंके जुल्मको बरदास्त करनेकेलिए तैयार नहीं थे, किन्तु उन्हें संगठित तथा सचेतन बनानेकेलिए योग्य नेतृत्व नहीं मिल रहा था। मैं समझता था, कि किसान अपने भीतरसे

नेता पैदा कर सकते हैं। किन्तु कैसे ? इसका जवाब मैं अभी नहीं दे सकता था।

हथुवा-राजमें—अब मैं हथुआ राजके कुवाड़ी परगनेमें जानेका निश्चय कर चुका था। इसकी खबर राजवालोंको मालूम हुई, तो वह बहुत घबड़ाए। उन्होंने मेरे पास एक सज्जनको भेजा। उन्होंने कहा कि सिर्फ़ एकतरफा बातें न सुनें, हमारी बातोंको भी सुननेका कष्ट उठाएँ। मैं इसकेलिए तैयार था। २९ तारीखको पता लगा कि मढ़ौरामें दो साथी शिवबचनसिंह और श्रमिक विश्वनाथ गिरफ़्तार कर लिए गए। ३१ को १५ आदमी और गिरफ़्तार हुए—मढ़ौराके ६० आदमी इस वक़्त जेलमें थे। उस दिन छपरामें मालूम हुआ कि काँग्रेसके दोनों नेताओंने मजूरोंसे बिना पूछे मालिकोंके साथ समझौता करके उसपर हस्ताक्षर कर दिया। इसपर मैंने लिखा था "क्या यह स्रोतेपर आघात करना नहीं है ? लेकिन यह कोई असम्भव बात नहीं, जो श्रमजीवी श्रेणीके साथ आगे बढ़नेके लिए तैयार नहीं, वह अपने नेतृत्वके लिए सब कुछ कर सकता है।"

मैं देख रहा था कि हमारे किसान-मजूरोंको हिन्दी समझना आसान नहीं है, यदि उनकी मातृभाषामें लिखा-बोला जाय, तो वह अच्छी तरह समझ सकते हैं। मैंने सोचा, छपराकी भाषा भोजपुरी (मल्लिका) में इसकेलिए एक साप्ताहिक निकालना चाहिए, जिसका दाम सिर्फ एक पैसा रहे। मैंने कुछ रुपयोंका प्रबन्ध भी किया, प्रेस भी ठीक हो गया। १५०० सौ बिक जानेपर घाटा नहीं रहता, यह भी मालूम था। मैंने जिला मजिस्ट्रेटके पास 'किसान-मजूर' निकालनेकेलिए दरख्वास्त देदी। लेकिन अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट जानता था कि कमेरोंकी भाषामें अखबार निकालना बड़े खतरेकी बात है, साथ ही वह यह भी जानता था कि काँग्रेस सरकार उसे पसन्द नहीं करेगी; इसलिए कई महीनों तक उसने इसपर कोई विचार ही नहीं किया। जब मैं जेलमें पहुँच गया, तो ५ सौ रुपया जमानत देनेकी बात लिख भेजी।

पहिलीसे नवीं फरवरी तक ९ दिन मैंने कुआड़ी परगनेमें कई किसानोंकी सभाओंमें भाषण दिया। पहिले दिन मीरगंजमें सभा हुई। तीन हजारके करीब आदमी एकत्रित थे। नागार्जुनजी भी मेरे साथ थे। चीनी मिलके बाबू लोगोंने भी कुछ बोलनेकेलिए कहा और मैं उनके यहाँ भी गया। अगले दिन लारपुरमें ५ हजार किसानोंके बीचमें बोलना पड़ा। मालूम हुआ कि राजने अपने एक इंस्पेक्टरको हमारी हरेक सभामें जानेकेलिए नियुक्त कर दिया है। उस दिन रातको हम दीवान-परसामें रहे। यहाँके कई तरुणोंने कांग्रेसके प्रथम आंदोलनमें भाग लिया था। मैं भी अक्सर यहाँ आया करता था। लोगोंने गाँव-सुधार पंचायत

कायम की थी, लेकिन बिना राजनीतिक अधिकारके सुधार क्या हो सकता है? ऊपरसे इन लोगोंने बड़े तड़क-भड़कके साथ वार्षिकोत्सव कर डाला और अब करजमें फँसे हुए थे। अगले दिन (३ फरवरी) भोरेमें ८ हजार किसानोंके सामने बोलना पड़ा। लोगोंमें जागृति देखी—वस्तुतः कमेरोंको जब ज़रा भी पता लग जाता है, कि उनकी तकलीफ़ें सुननेकेलिए दुनियाँ तैयार है, तो असफलताएँ उन्हें निरुत्साह नहीं कर सकतीं। भूखी पीड़ित जनताको रोज़ तकलीफ़ें सुई-सी चुभती रहती हैं, इसलिए वह संघर्ष से पीछे नहीं रह सकती। किसानोंकी तकलीफ़ें मैंने नोट की, और उनकी शिकायतोंको जमा करनेकेलिए पाँच आदमियोंकी कमेटी बना दी गई। दूसरे दिन ४ फरवरीको माँडर घाटपर सभा हुई। कटया और भोरेके थाने गोरखपुर की सीमापर हैं। पचासों वर्षोंसे यहाँ थानेदारका निरंकुश राज चला आया था। जिलेका हरेक थानेदार चाहता था, कि उसकी बदली इन थानोंमें हो जाय; क्योंकि इन थानोंमें सोना बरसता था। अपनी आमदनीकेलिए थानेदारोंने दफा ११० में सैकड़ों आदमियोंके नाम लिख रखे थे, उनकी संख्या बढ़ती ही जाती थी। जिस किसी आदमीपर दफा ११० लगानेकी धमकी दी, वह गहना ज़मीन बेचकर थानेदारकी पूजा करनेकेलिए तैयार हो जाता था। काँग्रेसी राजसे कोई फर्क नहीं हुआ था। अब भी थानेदार लोगोंको पीटता था। अब भी उनसे रुपए ऐंठता था। कटयामें (५ फरवरी) भी दो हज़ारकी जनतामें व्याख्यान दिया। अगले दिन (६फरवरी) राजापुर गए। महन्त जी—जो आनन्दजीको शिष्य बनाना चाहते थे—अब भी ज़िंदा थे। उन्होंने महाजनसे १३०० सौ रुपया कर्ज लिया था, उसने ३१०० सौकी डिग्री कराई थी। घबड़ा रहे थे। जब कर्ज लेना होता है, खर्च करना होता है, तो महंत लोग कहते हैं—मालिक हम हैं। जब जायदाद बिकने लगती है तो कहने लगते हैं—सम्पत्ति मठकी, ठाकुरजीकी है।

एकाध और सभाओंमें व्याख्यान देते ७ फरवरीको सासामूसा पहुँचे, वहाँ चीनी मिलके पास सभा हुई। यहाँ पर भी काँग्रेसी नेताओंने सस्तेमें मजूरोंका नेता बननेके लिए हलके दिलसे काम किया था। मिलवालोंको जरा डराया, धमकाया लेकिन हड़तालमें पड़नेकी इच्छा नहीं थी। मिलवालेने ८ रुपया महीना मजूरी मान ली, और नेताओंने अपना काम समाप्त समझा।

यहींपर एक ६० वर्षका बूढ़ा आया। वह जन्म-जात अभिनेता था। अपने पहिने हुए कपड़ों हीमें वह सास-बहू और बेटेके जीवनकी बिलकुल वास्तविक नकल उतारता था। दूसरा समाज होता, तो वह एक ऊँचे दर्जेका कलाकार बना होता,

किन्तु यहाँ जहाँ तहाँ अपने अभिनयको दिखलाकर वह किसी तरह पेट पालता था—उसकी उम्र ६० की होगी। सासामूसा मिलमें देखा, एक पक्की मसजिद बनी हुई है। मौलवी धर्म सिखलानेकेलिए रखे हुए हैं। दालमियाँ नगरमें भी मैंने जैन और हिन्दू-मंदिर देखे थे और सेठने पचासों आदमियोंको वेतनपर हरिकीर्तन करनेकेलिए रखे हुए थे। यह मिल-मालिक कितने धर्मात्मा हैं ? धर्मके लिए हजारों रुपया खर्च करते हैं, लेकिन फिर मजूरोंको पेटके अन्न और तनके कपड़े भर केलिए तनख्वाह क्यों नहीं देते ? शायद उस वक्त छपरामें सबसे कम मजूरी सासामूसाकी मिलमें दी जाती थी। यदि वह ८ से १२ रुपया मजूरी कर देते, तो महीनेमें चार पाँच हज़ार रुपए देना पड़ता। इससे कहीं अच्छा था, कि सौ दो सौ रुपए धर्मपर खर्च किए जायँ और महन्त-मौलवी सेठका जयजयकार मनाएँ।

सेमराबाजार (कुचायकोट) की सभामें व्याख्यान दे ९ बजे गोपालगंज गया। यहाँ हथुआ राजके प्रधान मैनेजरसे बातचीत करनेका निश्चय हुआ था। दो घंटे तक बात होती रही, मैंने राजके अमलोंकी घूस-रिश्वत और अत्याचारके बारेमें कहा। बतलाया कि पानीके निकासीके रास्तोंकी मरम्मत वर्षोंसे बन्द हो चुकी है, जिससे किसानोंकी फ़सल तबाह हो जाती है। किसानोंकी जो जमीन निकाल ली गई, उसका न उन्हें दाम मिला और न मालगुजारी कम की गई। भोरेके पास इसी तरहकी निकाली हुई जमीन थी, जिसमें कई मील लम्बी नहर निकाली गई थी, जो अब बेमरम्मत थी, लेकिन उसके किनारे शीशमके दरख्त लगे हुए थे। मैंने सोच रखा था, कि हथुआ-राजमें सत्याग्रह इन्हीं शीशमके वृक्षोंपर करना होगा ; घटनाएँ कुछ दूसरी घटीं, जिसके कारण सत्याग्रह यहाँ न हो अमवारीमें करना पड़ा। मैं मानता था कि अमवारीके एक छोटेसे जमींदारसे भिड़नेकी जगह हथुआके महाराजबहादुरसे लोहा लेनेमें किसानोंका ज्यादा हित होता। खैर, हथुवा बाल-बाल बच गया। मैनेजर साहबने आमदनी खर्चका लेखाजोखा देकर कहा, कि हमारे पास जो बच रहता है, उससे हम किसानोंकेलिए कुछ काम करनेकेलिए तैयार हैं। सिधौलियामें बिड़लाकी चीनी मिल है। वहाँपर मजदूरोंकी एक सभा हुई। फिर हम छितौली (१२ फरवरी) गए। अशर्फीसाहु किसानोंको उजाड़नेकेलिए तैयार थे। ६ हज़ार किसान सभामें आए थे—हिन्दू-मुसल्मान सब। सत्याग्रहके सिवा कोई चारा नहीं था। मैं दो दिन वहीं रहा। ६० से ऊपर परिवारोंने सत्याग्रहियोंमें अपना नाम लिखाया। सत्याग्रह आश्रम कायम हुआ। साहुने मामला बिगड़ते देखा। उन्होंने अपने आदमीको भेजकर कहलवाया—आधा खेत रैयतोंको दिलवा दें, और

आधा हमारे पास रहने दें। मैंने कहा—दिलवाना न दिलवाना इतना आसान नहीं है। एक जमींदारकी ओरसे और एक किसानोंकी ओरसे प्रतिनिधि हों, दोनों मिलकर एक तीसरे आदमीको चुनें। इन्हीं तीनों आदमियोंके फैसलेको दोनों मंजूर करें, तो मामला निपट जायगा। भगवानके बड़े भगत अशर्फी साहुने इसे मंजूर करके कागज-पर दस्तखत भी कर दिया, लेकिन पीछे साबित हुआ, कि उन्होंने फैसला माननेकेलिए यह काम नहीं किया था।

१४ फरवरीको मैं छपरामें था। मालूम हुआ कि मढौरा मिलके झगड़ेका फैसला करने केलिए एक पंचायत मानी गई है, जिसमें मजदूरोंने अपना प्रतिनिधि मुझे चुना है, दूसरा मिलमालिकका आदमी था, और कलक्टर मिस्टर केम्प सरकार-के प्रतिनिधि।

उस वक्त परसादी (परसा थाना) में भी जमींदार किसानोंको खेतसे निकालना चाहते थे। इसकेलिए किसानोंको सत्याग्रहकी तैयारी करनी पड़ी। १६ फरवरीको मुझे परसा ही पहुँचना था। १५ को मैं रामपुर और मठियामें व्याख्यान देने गया। रास्तेमें कदनामें दो एकड़का एक प्राचीन ध्वंसावशेष मिला। वह सड़कके किनारे था। वहाँ सैकड़ों वर्षोंसे ढेलहवा बाबाको ढेला मारते-मारते ढेर जमा हो गया था। संभव है इस ढूहे (स्तूप) के भीतर बुद्धकी मूर्ति हो। ब्राह्मणोंने विहारमें अकसर बुद्धको ढेलहवा बाबा बनाया है, और उन्हीं हाथोंको ढेला फेंकनेकेलिए तैयार किया, जो कभी बुद्धकी पूजा करते थे। पासके शिवालयमें पहिले कितनी ही काले पत्थरकी खंडित मूर्तियाँ थीं, जिन्हें कुछ ही साल पहिले वहाँके साधूने उठाकर गंगामें फिकवा दिया था। उनमें न जाने कितनी ऐतिहासिक सामग्री रही होगी। परसादीकी सभामें दो हजार आदमी जमा हुए थे। जमींदार और अधिकांश किसान दोनों एक ही अहीर जातिके थे, लेकिन जाति एक होनेसे वर्गस्वार्थ एक थोड़े ही हो सकता है। जमींदार खेत निकाल लेना चाहते थे, और किसान भूखे मरनेकेलिए तैयार नहीं थे।

हिलसामें—अन्नपूर्णा-पुस्तकालयके वार्षिकोत्सवकेलिए हिलसाके तरुणोंने मुझे बुलाया था। १८ फरवरीकी शामको मैं वहाँ पहुँचा। हिलसा मगध (पटना जिला) का कोई पुराना स्थान मालूम होता है। दूसरे दिन सबेरे मैं उसके पुराने चिह्नोंको देखने निकला। पहले जमन-जतीकी समाधिपर गया। यह एक मुसलमान फकीर-की दरगाह है। वर्त्तमान इमारतको शेरशाहने बनवाया था, लेकिन स्थान उससे बहुत पुराना है—जमनजती मालूम होता है यवन (मुसलमान) यतीसे बना है। जमन-जतीके बारेमें कहा जाता है, कि वह गौस पाकके भानजे और शाहमदार (मकनपुर)

के शिष्य थे। उनका जन्म बगदादमें हुआ था। बहिनने बेटेको गौस पाकको देदेनेकी मिन्नत माँगनेपर पाया था, किन्तु बेटेके पैदा हो जानेपर उसे लोभ लगने लगा। बच्चेको खुदाने छीन लिया। माँ हाय-तोबा मचाने लगी, फिर भाई (गौस पाक) ने मुर्दे बच्चेकी ओर देखकर आवाज़ लगाई—"बया बाबा जानेमन!" (आ बाबा मेरे प्राण) बच्चा ज़िन्दा होकर गौसपाकके पास चला आया। वक्ताने बतलाया कि "जानेमन" से ही जमन शब्द निकला है। जमनजती लँगौटबन्द साधू थे, उन्होंने ब्याह नहीं किया था, और (बौद्ध साधुओंकी तरह) पीला कपड़ा पहनते थे। जब वह हिलसामें आए, तो यहाँ एक भिक्षु रहा करते थे। दोनों फ़क़ीर थे। बौद्ध विज्ञानवाद, और सूफ़ी दर्शन एक ही विचारके दो रूप थे, इसलिए जमनजती बौद्ध भिक्षुके साथ रहने लगे। भिक्षुके मरनेके बाद जमनजती ही उत्तराधिकारी हुए। आगे चलकर बौद्ध बिहार मुसल्मान खानकाह कहा जाने लगे। बाद भी कितने ही गद्दीधर अविवाहित भिक्षुके रूपमें रहते थे। पीछे विवाह करने लगे। अब वह एक श्रीहीन दरगाह है, जिसकी जियारत करनेकेलिए लोग कभी-कभी आया करते हैं। हिलसा पटना (पाटलीपुत्र) से बिहार शरीफ़ (उड़न्तपुरी), नालन्दा और राजगृहके पुराने रास्तेपर है। इसलिए न जाने वह अपने भीतर कितनी ऐतिहासिक सामग्री छिपाये होगा।

अमवारी सत्याग्रह (२४ फरवरी)—२० फरवरीको छपरा आनेपर मालूम हुआ, कि अमवारीमें मेरे नाम दफ़ा १४४ लग गई है—अर्थात् मेरा वहाँ जाना निषिद्ध है। वहाँ जानेका मतलब था—जेलकी सजा। मैं पहिले कह चुका हूँ, कि सत्याग्रहका स्थान मैंने अमवारी नहीं हथुवाराजको चुना था, लेकिन अब १४४ को मैं सरकारकी चुनौती समझने लगा। साथियोंसे भी पूछनेपर यही सलाह हुई, कि १४४ को तोड़ा जाये, अमवारीमें सत्याग्रह किया जाय। मैं सीवान उतरकर जैजोरी गया। चार दिन आस-पासके गाँवोंमें सत्याग्रहका प्रचार करके पाँचवें दिन सत्याग्रह करनेका निश्चय हुआ। मेरे साथ नागार्जुन जी और एक दूसरा तरुण जलील था। हिन्दुओंके घरपर मुसल्मानोंके खाने-पीनेका इन्तिज़ाम करनेमें बहुत बखेड़ा होता, इसलिए जलीलका नाम मैंने प्रतापसिंह रख दिया। हम जैजोरी, नदियाँव, देवपुर हरिनाथपुर में सभा करते निखतीमें पहुँचे। निखती भी कोई प्रचीन स्थान है। हरिनाथपुरमें मैंने एक कूएँपर चुनारी पत्थरकी एक गुप्तकालीन मूर्तिका खंड देखा और निखतीमें काले पत्थरका मुखलिंग। निखतीसे रघुनाथपुर गए। थानेदारने बतलाया, कि दफ़ा १४४ नहीं लगी है, लेकिन सत्याग्रहकी तैयारी बहुत आगे बढ़ गई थी, इसलिए गाड़ी रोकना सम्भव न था।

आँदरमें २३ तारीखको सभा हुई। देशभक्त मजहरुलहकके पुत्र हुसेन मजहर सभापति थे। डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस और सीवानके मजिस्ट्रेट (एस० डी० ओ०) अपनी मोटरमें बैठकर व्याख्यान सुनते रहे। उस रातको हम लोग जैजोरीमें ठहरे। पता लगा कि जमींदारने अपने दोनों हाथियोंको मुझे कुचलवानेकेलिए तैयार कर रखा है, और जहाँ-तहाँसे सैकड़ों लठधर बुलाए हैं। मृत्युसे भय खाना मेरे लिए मरनेसे भी बदतर है।

अगले दिन (२४ फरवरी) ८ बजे सबेरे जल-पानके बाद हम अमवारीकेलिए रवाना हुए। गाँवके पास दोनों हाथी तैयार खड़े थे, और उनके पीछे सैकड़ों लट्ठ-धारी आदमी भी। लालजी भगतके बथानमें सैकड़ों किसान जमा हो गए थे। हमने निश्चय किया कि दस-दस आदमी और एक-एक नायककी पाँच टोलियाँ बारी-बारीसे सत्याग्रहकेलिए जायँ। सत्याग्रह था—एक किसानके खेतमें ऊख काटना। जमींदार इस खेतको अपना कहता था। थानेदार बहुत चिन्तित थे। मैंने उनसे कहा कि ठीक १० बजे हम ग्यारह आदमी अमुक खेतमें ऊख काटने जायेंगे।

१० बजे हम ग्यारहो आदमी हँसुवा लेकर खेतमें पहुँच गये। शराब पिला कर मतवाला किये दोनों हाथी पास खड़े थे, उनके पास सैकड़ों लठधरोंकी पाँती खड़ी थी। लठधरोंमेंसे तो कुछ को तो जमींदारने भाड़ेपर बुलाया था, कुछ आदमी आसपासके दूसरे जमींदारोंने दिये थे, और कुछको समझाया गया था कि कुर्मी एक राजपूत भाईकी इज्जत बिगाड़ रहे हैं, जातिगुहारमें शामिल होना चाहिए। लेकिन, पिछला प्रोपैगंडा जान पड़ता है सफल नहीं हुआ, क्योंकि सबेरेके चार पाँच सौ लठधरोंमें बहुतसे खेतपर नहीं आए थे। यद्यपि अमवारीमें पचासों सशस्त्र पुलिस आगई थी, लेकिन इंस्पेक्टरनें उन्हें ३ फर्लाङ्ग दूर ही एक बागमें रोक रखा था। खेतपर सिर्फ दो थानेदार एक सिपाही और दो चौकीदार आए थे। इंस्पेक्टरको अच्छी तरह मालूम था, कि जमींदार खून करनेको उतारु हैं; फिर भी हाथियों और लठधरोंको खेतपर जमा होने देना और सिपाहियोंको न भेजना इसका क्या अभिप्राय था, यह बिलकुल स्पष्ट था। हमारे खेतपर पहुँचते ही जमींदार-परिवारके दो व्यक्ति लठैतोंको लाठी चलानेकेलिए उकसा रहे थे, लेकिन कोई आगे बढ़ना नहीं चाहता था। शायद मेरे शरीरपर जो पीले कपड़े थे, उसकी वजहसे उनको हाथ छोड़नेकी हिम्मत नहीं पड़ती थी, अथवा वह समझते थे कि यहाँ लाठी चलाने-वाला कोई नहीं है। ग्यारह निहत्थे आदमी, हाथमें हँसिया लेकर ऊख काटने आए। मैंने दो ऊख काटी, थानेदारने मुझे गिरफ़्तार कर लिया। इसी तरह बाक़ीको

भी गिरफ़्तार कर लिया गया मैंने सिर पीछेकी ओर किया, देखा—जमींदारका हाथीवान कुरबान हाथीसे उतरा। मैंने दूसरी ओर मुँह घुमाया, उसी वक्त खोपड़ीके बाईं ओर जोर की लाठी लगी। मुझे कोई दर्द नहीं मालूम हुआ, हाँ देखा कि सिरसे खून बह रहा है। थानेदारने दूसरी लाठी नहीं लगने दी। वहाँसे हमें डिप्टी मजिस्ट्रेटके कैम्पमें लाया गया। थानेदारने कुरबानको गिरफ़्तार कर लिया था, किन्तु जमींदारके कहनेपर इंस्पेक्टरने उसे छोड़ दिया। उस दिन ५२ आदमी गिरफ़्तार हुए, लेकिन पुलिसने २८ को छोड़ दिया। शामके वक्त १५ आदमियोंको मोटरमें भरकर सीवानकेलिए रवाना किया। रास्तेमें पेशाब करनेकेलिए गाड़ीको ठहरनेकेलिए कहा, लेकिन पुलिसने मना कर दिया। पता लग गया, कि डेढ़ सालके काँग्रेसीराज्यमें हम कितने आगे बढ़े हैं।

जेलमें—(२४ फरवरी—१० मई)—रातको सीवानके जेलमें हमें बंद कर दिया गया। जाड़ेका दिन था, हमें गन्दे कम्बल ओढ़नेको मिले। पिस्सुओंने रातको सोने नहीं दिया। लेकिन स्वेच्छापूर्वक इनसे भी गन्दे कम्बलों और इनसे सख्त पिस्सुओंको मैं कितनी ही बार भुगत चुका था।

अगले दिन (२५ फरवरी) सबेरे दरवाजा खुला। हमने हाथ-मुँह धोया। नमकके साथ पकाया पतला चावल खानेको मिला। फिर साढ़े तीन छटाँक आटेकी रोटी खानेको मिली। किसानोंका भला साढ़े तीन छटाँकसे क्या बनता, लेकिन मंत्रियोंको तो अब जेल भूल गया था, इसलिए इसकी ओर ख्याल करनेकी क्या जरूरत थी? नागार्जुन, जलील, मज़हर, वासुदेव नारायण, महाराज पांडे और कितने ही अमवारीके किसान अब जेलमें थे।

तीसरे दिन (२६ फरवरी) हमें छपरा जेलमें भेजा जाने लगा, क्योंकि सीवानका जेल बहुत छोटा है। पहिले अपनी टोलीके नौ आदमियोंके साथ मुझे भेजा गया। मेरे साथियोंके हाथमें हथकड़ी डाल दी गई। मैंने सिपाहियोंसे कहा—या तो मेरे भी हाथमें हथकड़ी डालो, नहीं तो सबको बिना हथकड़ी चलने दो। सिपाहीने हथकड़ी खोल दी, और रस्सीसे घेरकर हमें स्टेशन ले गए। रास्ते भर हम नारा लगाते रहे—"इनक़लाब ज़िन्दाबाद" "किसान राज कायम हो" "मजूर राज कायम हो," "जमींदारी प्रथा नाश हो" "कमानेवाला खायेगा, इसके चलते (लिए), जो कुछ हो"। सीवानके नागरिकोंकेलिए यह बिलकुल नई चीज थी। यही नहीं कि वह राहुल बाबाको सिर फूटे डोरीमें बँधे सड़कपरसे जाते देख रहे थे, बल्कि वह यह भी ख्याल करते थे कि यह सब कुछ गान्धीबाबाके राजमें हो रहा है। रास्तेमें मैंने रेलपर

अखबारोंकेलिए एक वक्तव्य लिख दिया। १० बजे छपरा पहुँचे और पैदल ही जेलमें ले जाये गए। प्रोपैगंडाकेलिए यह पैदल चलना बहुत अच्छा था। शायद हफ़्ता भी न लगा होगा कि अमवारीके सत्याग्रहमें मेरे सिर फूटनेकी खबर हरेक गाँवमें पहुँच गई।

उस दिन अमवारीमें मेरे बहुत जोरदेनेपर खोजवासे डाक्टर बुलाया गया था और सिरमें मामूली पट्टी बाँध दी गई। सीवानके डाक्टरने घाव देखनेकी जरूरत नहीं समझी। आज तीसरे दिन यहाँ छपरा जेल के डाक्टरने स्प्रिटसे घावको धोकर पट्टी बाँधी। डाक्टरने असपतालमें रखने और विशेष भोजनके लिए कहा, किन्तु मैंने इनकार कर दिया। ४ बजे कलक्टर आए। उन्होंने सुलहकी बातचीत की। मैंने निष्पक्ष पंचायतके हाथमें झगड़ेका फैसला दे देनेकेलिए कहा। उन्होंने चन्देश्वर बाबूसे बात करके जवाब देनेका वचन दिया।

अखबारोंमें खबर पहुँच गई थी। जिलेके बाहरके भी नेता आने लगे थे। शिव-वचन सिंह और कितने ही दूसरे साथी अमवारी पहुँच गए थे और वह सत्याग्रहका संचालन कर रहे थे। जेलके बारेमें मैंने २७ फरवरीको लिखा था—"जेलका ठेकेदार खराब चीज़ें देता है, खाना कम दिया जाता है, तरकारी, दाल भी खराब। अस्पतालमें न कोई ज़मीन साफ़ न कपड़ा साफ़। सामान भी बेतरतीब। कोई कम्पाउंडर भी नहीं।"

२८ फरवरीको कलक्टर फिर आए। सुझाव रखा कि झगड़ेके फैसलेके लिए तीन आदमियोंकी पंचायत बनाई जाय—जिसमें एक किसान प्रतिनिधि, एक जमींदार प्रति-निधि और एक सरकारी प्रतिनिधि हो। कलक्टरने तीन डिपुटी कलक्टरोंका नाम भी बतलाया, जिनमेंसे एकको लिया जाये। उसने यह भी कहा कि मैं एक कानूनगोको अमवारी भेज रहा हूँ। वह किसानोंकी खेतीबारीका लेखा तैयार करके लाएगा।

अमवारीके किसान दबे नहीं, और आसपासके सभी किसान उनकी मददकेलिए तैयार थे। वह हज़ारोंकी संख्यामें जेल आए होते, यदि पुलिसने गिरफ़्तारी बन्द न करदी होती। वहाँ सत्याग्रह-आश्रममें बहुतसे स्वयंसेवक रहते थे, जिनके खाने-पीनेका इन्तिजाम आस-पासके लोग करते थे। हाटोंमें स्वयंसेवक जाते, तो साग-भाजी बेचने वाली औरतें उनको तरकारी देतीं। किसानोंको यह समझानेकी ज़रूरत नहीं थी, कि यह उनकी अपनी लड़ाई है। ६ मार्चकी डायरीमें मैंने लिखा था—"(आज) होलीके उपलक्षमें पुआपूड़ी मिली, घी बरता गया हम लोगोंकी वजहसे। कैदी चाहते हैं, स्वराजी लोग जेलमें आते रहें। जेलके कैदी यहाँके स्टाफ (अधिकारियों) से क्या

सीखेंगे, जिन्हें कि वह खुद अपनेसे बदतर समझते हैं। जबतक मानव-संसारमें जोंकोंको चैनकी बाँसुरी बजानेका मौका है, तबतक संसारसे बेईमानी कैसे हट सकती है ?"

८ मार्चको कलक्टरने बतलाया कि जमींदार सुलह करनकेलिए तैयार नहीं है। यह तो बहानाबाज़ी थी। वह भला कैसे कलक्टरकी मर्ज़ीके ख़िलाफ जा सकते थे ? ६ मार्चको मैंने जेलखानेके इन्सपेक्टर-जनरलके पास निजी रेडियो मँगवानेकी आज्ञा माँगी। ११ मार्चको किसान कैदियोंकी तकलीफ़ें बताते हुए कुछ माँगें रखीं, जो खाने, कपड़े, बिस्तर, पढ़ने-लिखनेके सामान और अख़बार आदिकी सुविधाकेलिए थी। उसमें लिख दिया गया था, कि हम लोग एक हफ़्ता इन्तिजार करेंगे, यदि १८ मार्चके १२ बजे तक हमारी माँगोंके बारेमें तै नहीं किया गया, तो हम ५ आदमी (मैं, वासुदेवनारायण, मज़हर, जलील और नागार्जुन) आमरण अनशन करेंगे। दूसरे दिन सुपरिन्टेन्डेन्टने कहा—आपकी माँगोंमेंसे जिन बातोंका संकेत है, उन्हें करनेकेलिए हम तैयार हैं।

१४ मार्चको मैंने "तुम्हारी क्षय" पुस्तिका लिखनी शुरू की। आचार्य श्चेर्वा-त्स्कीका पत्र आया, जिसमें लिखा था कि लोलाको एक स्वस्थ सुन्दर पुत्र हुआ है, पुत्र-जन्मकी प्रसन्नता होनी ही चाहिए, क्योंकि पुत्र ही आदमीका पुनर्जन्म और परलोक है। पत्रके साथ फ़ोटो भी था।

समझौतेकी बातचीतकेलिए अमवारीका सत्याग्रह स्थगित हो गया था। वह १३ मार्च से फिर शुरू हुआ। लेकिन पुलिस लोगोंको गिरफ़्तार नहीं करना चाहती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ बड़ी तेजीके साथ बदल रही थीं। मैं इसीलिए रेडियो चाहता था। और सो भी अख़बारोंमें यह पढ़नेके बाद कि बिहार-सरकार जेलोंमें रेडियो लगवा रही है। लेकिन पीछे सरकारने इस बातको लेकर प्रचार करवाया, कि वह तो जेलको आरामगाह बनवाना चाहते हैं। १७ मार्चको पता लगा कि हिटलरने प्राग (चेकोस्लोवाकिया) को ले लिया। मैं सोचने लगा—देखें अगला कदम रूसकी ओर होता है, या इंग्लेंडकी ओर। उस दिन यह भी मालूम हुआ कि पुलिसवाले सत्याग्रह करनेवाले किसानोंको नहीं सिर्फ कार्यकर्त्ताओंको पकड़ते है। रोज १८,२० आदमी सत्याग्रह करने जाते हैं। कार्यकर्त्ताओंको रखकर बाकीको पुलिस शामको छोड़ देती है। प्रधानमंत्रीसे बात करके एक ऐसेम्बली मेम्बर उस दिन मेरे पास आए। उन्होंने कहा—प्रधानमन्त्री माँगोंपर विचार

करनेकेलिए समय चाहते हैं, इसलिए, आप भूख-हड़तालका इरादा छोड़ दें। मैंने कहा—मैंने अपने चार साथियोंको उपवास न करनेकेलिए राज़ी कर लिया है। मैं भी हड़ताल कुछ दिनोंकेलिए स्थगित करनेकेलिए तैयार हूँ। लेकिन सरकार किसान-क़ैदियोंको राजनीतिक बन्दी मान ले। कांग्रेस मन्त्रि-मंडलने अपने शासनके आख़िरी दिन तक इस बातको नहीं माना। दुनिया आश्चर्य करेगी कि यह किसान चोर-डाकू नहीं थे, इन्होंने उसी तरह अपने हककेलिए लड़ाई की थी, और जेल आए थे, जैसे कि कांग्रेसी सत्याग्रही अंगरेज़ी सरकारसे लड़नेकेलिए जेल जाते थे। उस वक़्त जिन्होंने राजनीतिक बन्दियोंकेलिए विशेष सुविधापर ज़ोर दिया था, अब वही किसान सत्याग्रहियोंको राजनीतिक बन्दी नहीं, चोर-डाकू माननेकेलिए तैयार थे। इसमें आश्चर्य करनेकी ज़रूरत नहीं, मन्त्री स्वयं ज़मींदार थे, किसान-आन्दोलनसे स्वयं परेशान थे, वह भला अपने वर्ग-शत्रुओंके साथ कैसे न्याय कर सकते थे ?

पहिली भूख-हड़ताल (१८-२२ मार्च)—जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, मेरे दूसरे साथी मान गए, और १८ मार्चके दोपहरसे मैंने अकेले भूखहड़ताल (उपवास) शुरू कर दी। उस दिन भी कुछ काँग्रेसी नेता आए और उपवास न करनेकेलिए कहते रहे; अगले दिन (१९ मार्च) एक एम० एल० ए० मित्र आए। उन्होंने भी उपवास स्थगित करनेकेलिए कहा। मैंने उनसे कह दिया "अब इसकेलिए इतना प्रयत्न करने की जगह अच्छा होगा, जिन बातोंकेलिए उपवास किया जा रहा है, उसीके मनवानेका प्रयत्न करें।"

२० तारीखको उपवासका तीसरा दिन था। वजन १८४ पौंडकी जगह १७५ पौंड रह गया, अर्थात् ३ दिनमें ९ पौंड घटा। मैं अब सेलमें पहुँचाया गया। मेरी बगलके सेलमें एक फाँसीवाला कैदी था। आज "तुम्हारी क्षय" पुस्तिका लिखकर खतम कर डाली। चौथे दिन वजन सिर्फ आधा पौंड घटा था। २१ मार्चको शरीर कुछ कमज़ोर मालूम हो रहा था। सोडा मिला हुआ पानी मुझे दिया जाता था। भूख मर गई थी। पढ़नेमें थकावट मालूम होती थी। २२ मार्चको उपवासका पाँचवाँ दिन था। इंसपेक्टर-जनरलका पत्र लेकर कोई सज्जन आये। उसमें लिखा था कि तत्कालकेलिए हम सभी मांगोंको स्वीकार करते हैं। उन्होंने फोनद्वारा यह भी स्वीकृति दे दी कि हमारे सभी साथी स्पेशल क्लास २ में रखे जायेंगे और हम रेडियो मँगा सकेंगे। उसी दिन दोपहरको मैंने उपवास तोड़ दिया। अमवारीके बारेमें मालूम हुआ, कि वहाँ सभाओंमें १५,२० हजार किसान जमा होते हैं, लोग दिनमें दो बार खेतोंपर सत्याग्रह करने

जाते हैं—सबेरे स्त्रियाँ और वालक, और ३ वजे पुरुष। २३ मार्चको मैं अपने साथियोंमें चला आया।

मुझे कुछ दिनोंसे ख्याल आ रहा था कि राजनीतिक प्रगति और भविष्यके कार्य-के सम्बन्धमें एक उपन्यास लिखूँ। मैंने अब तक "वाईसवीं सदी" को ही उपन्यासके ढंगपर लिखा था। "सतमीके बच्चे" आदि कुछ कहानियाँ लिखी थीं, कुछ अंग्रेजी उपन्यासोंका भारतीकरणके साथ हिन्दी अनुवाद भी किया था; मगर अब तक कोई वास्तविक उपन्यास नहीं लिखा था; २५ मार्चसे मैं "जीनेकेलिए" उपन्यासको लिखवाने लगा—मैं वोलता जाता था और नागार्जुन जी लिखते जाते थे।

२८ मार्चको पता लगा कि अमवारीमें सत्याग्रहियोंपर मार पड़ रही है और कुछ लोगोंको सख्त चोट आई है।

२९ मार्चको शिक्षा-मंत्री डाक्टर महमूद आए। वह कहने लगे कि चलिए जेलसे निकलकर पंचायती खेतीका काम सँभालिए। मैंने कहा—अभी तो किसानोंके पास खेत ही नहीं है। पहिले अपना खेत होना चाहिए न।

हाथोंमें हथकड़ी—मेरा मुकदमा सीवानके मजिस्ट्रेटकी अदालतमें था। मुझ पर और मेरे साथियोंपर दफ़ा ३७९ चोरीका अपराध लगाया गया। हम लोगोंकी तारीख़ ३१ मार्चको थी। उस दिन दोपहर बाद जेलके द्वारपर दोनों फाटकोंके बीचमें हमें ले गए। पुलिस सिपाही मेरे हाथमें हथकड़ी लगाने लगा। जेलके एक अफ-सरने कहा—बिना हथकड़ीके ही ले जाइए। इसपर पुलिसवालेने वारन्ट दिखाकर कहा कि हथकड़ी लगानेकेलिए यहाँ लिखा हुआ है। मैंने उस दिनकी डायरीमें लिखा था—"आज आग्रहपूर्वक हथकड़ी लगाई गई, वारन्टपर ख़ास तौरसे हथकड़ी लगाने केलिए लिखा गया था। अच्छा यह भी साध बुझी।" रेलमें धूपनाथसे मुलाकात हुई और भी कितने ही दोस्त मिले। मालूम हुआ कि सारे जिलेके किसानोंमें चेतना आ गई है, वह जमींदारोंके सामने दवनेकेलिए तैयार नहीं हैं।

अगले दिन (१ अप्रैल) दो बजे हमें कचहरी ले जाया गया। चन्देश्वरसिंहके आदमियोंने गवाही दी कि बहुरिया (जमींदारिनी) का खेत काटनेकेलिए राहुलजी १० आदमियोंके साथ गए। कुरबानने रोका, इस पर राहुलने अपने हँसिएसे उसके ऊपर वार किया और वह कट गया। उसने अपने बचावकेलिए वरगदकी डाली घुमाई।

मुझसे मजिस्ट्रेटने पूछा, तो मैंने कहा—बहुरियाका खेत है, और हमने गैरकानूनी मजमा बनाया, इसे मैं इनकार करता हूँ। लेकिन खेत काटनेको मैं क़बूल करता हूँ। दूसरे साथियोंसे पूछनेपर उन्होंने कहा—हम नहीं जानते, बाबा जानते हैं। हमारी

अगली तारीख १५ अप्रैलको पड़ी। अगले दिन (२ अप्रैल) दोपहरकी गाड़ीसे हम छपराकेलिए रवाना हुए। हथकड़ियाँ फिर लगाई गई। वारन्टको मैंने देखा, उसमें लिखा था—"Supplied 5 pairs of handcuffs" (५ जोड़े हथकड़ियाँ दी गई हैं)। यह साफ़ मालूम होता था कि अधिकारी जान बूझकर अपमानित करनेकेलिए हथकड़ियाँ पहिनवा रहे हैं, लेकिन मुझे तो उसमें कोई अपमान नहीं मालूम होता था। जब मैं छपरा स्टेशनपर उतरा, तो किसी दोस्तने हथकड़ियोंके साथ मेरा फ़ोटो ले लिया। वह अखबारोंमें छपा। बिहारके काँग्रेसी मंत्रिमंडलपर लोगोंने आक्षेप किया, फिर सरकारने छपवाया कि मैंने माँगकर हथकड़ियोंको पहना था, जो कि सरासर झूठी बात थी।

मढ़ौरा फैक्टरीके झगड़ेका फैसला करनेकेलिए तीन पंचोंकी पंचायत थी, जिसमें गवर्नमेंटकी तरफसे पहिले मिस्टर पिल्ले नियुक्त हुए थे। ३ अप्रैलको तीनों पंच मढ़ौरामें इकट्ठा होनेवाले थे। पुलिस मुझे जेलसे ले चली, लेकिन जाते जाते रेल छूट गई। शामको जाना था, लेकिन फिर तार आ गया कि मिस्टर पिल्ले कल नहीं आरहे हैं।

६ अप्रैलको फाँसीवाले कुछ कैदी छूटे। सोनपुरके तगड़े जमींदारने एक आदमीका खून करवाया था, जिसमें चार आदमियोंको फाँसीकी सजा हुई, लेकिन मालिक साफ़ बच गए। जेलके फाटकसे निकलते वक़्त उनके पिट्ठुओंने खूब जयकार मनाई। मुझे यह बहुत बुरा लगा। मेरे ही कहने पर चार आदमी फाँसीपर चढ़ने जारहे थे, इस बातका तो उसे ख्याल करना चाहिए था। यदि उनके पास भी मुक़दमे लड़नेके लिए उतने रुपये होते, तो बहुत कम सम्भव है कि उन्हें फाँसीकी सज़ा होती।

हमारे सत्याग्रही साथियोंमें अधिकतर अशिक्षित किसान, कुछ अल्पशिक्षित और कुछ अधिक शिक्षित तरहके लोग थे। सभी गाँवोंके रहने वाले थे, तो भी उनमें पटरी नहीं जमती थी। मैं सोचता था कि शिक्षित अशिक्षितके साथ क्यों नहीं चल सकते। आखिर ग्यारह आदमियोंको सैंतीस आदमियोंसे अलग रहनेकी जरूरत क्या? यह ठीक था कि जेलमें बेकार रहना भी झगड़ेका एक कारण है। मैंने ९ तारीखकी डायरीमें लिखा—"शिक्षित साथी मुझसे बहुत नाराज हैं। कारण यही है कि मैंने अशिक्षित साथियोंको दबाया क्यों नहीं। लेकिन शिक्षितोंका अशिक्षितोंके साथ रहना क्या असम्भव है? कुछ कठिनाइयाँ ज़रूर हैं। सबसे बढ़कर बात यह है, कि शिक्षित (स्वयं) एक अलग ही श्रेणी बन जाते हैं।" हमारे शिक्षितोंका व्यवहार अधिक बुद्धिपूर्वक था, किन्तु वे गलतफहमियोंको हटा नहीं सकते थे।

"गलतफ़हमी अधिकांश गलत बातोंपर निर्भर थी।" १८ अप्रैलकी डायरीमें लिखा था, "शिक्षित क्यों साधारण जनताके विश्वासपात्र नहीं होते, आखिर वह भी तो उसीमेंसे हैं ? वह उनकी परवाह नहीं करते।" अगले दिन लिखा था—"नेतृत्वकी ईर्ष्या ही झगड़ेका प्रधान कारण होती रही है।" मैं यह नहीं कहता, कि अशिक्षित किसानोंका कोई दोष नहीं था, लेकिन २४ घंटे साथ रहनेपर, आदमी नंगा हो जाता है, इसलिए तोपतापके रोब गाँठनेका प्रयत्न व्यर्थ है, इस बातको हमारे शिक्षित माननेकेलिए तैयार नहीं थे।

मेरी भूख-हड़ताल काँग्रेसी सरकारको किसी निर्णयपर पहुँचनेके वास्ते समय देनेकेलिए स्थगित थी। वह फिर शुरू होनेवाली थी। १३ अप्रैलको मैंने प्रधान मंत्रीके पास भूख-हड़तालकी सूचना भेज दी। उस दिन पटनासे आनेवाले एक दोस्तने खबर दी, कि किसान कैदियोंकी माँगोंको सरकार नहीं मानेगी और उपवास करनेपर मुझे जेलसे छोड़ देगी। मुझे समझमें नहीं आता था, कि काँग्रेस मंत्रियोंके सामने मैंने कौनसी ऐसी माँग पेश की, जिससे कि वह खुद राजनीतिक बन्दियोंके लिए न माँगते, यदि वह मेरी तरह जेलमें होते।

१४ अप्रैलको श्री बासुदेवनारायण और दूसरे सात साथी सीवानसे आए। उनको एक-एक सालकी कड़ी सजा हुई। उसी दिन हमें भी सीवान ले गए, फिर हमारे हाथोंमें हथकड़ी लगी थी, और साधारण नहीं, सशस्त्र पुलिस हमारे साथ चली। सीवान स्टेशनपर उतरे, तो लोगोंकी भीड़ बढ़ने लगी, और हजारों आदमी पीछे-पीछे जेल तक गए।

सजा और भूख हड़ताल—१५ अप्रैलको जेलके भीतर ही हमारा मुकदमा हुआ। मि० ब्राइसन थे तो नए आई० सी० एस० अँग्रेज, लेकिन जान पड़ता है, तानाशाही काफ़ी सीख गये थे। उन्होंने इजलास इस तरह लगवाया था, कि जिसमें हमें बराबर खड़ा रहना पड़े। समझते होंगे कि इस अपमानसे वह मुझे हताश कर सकेंगे। मानअपमानको मैं बहुत पीछे छोड़ आया था, हाँ ब्राइसनके दिलको शान्ति ज़रूर मिली होगी। वह एक परम अंग्रेज़ भक्त अवैतनिक खुफ़िया अफ़सरकी सेवाओंकेलिए पुरस्कार भी तो दे रहा था। हमने विरोधके तौरपर अदालतकी कार्रवाईमें कोई भाग नहीं लिया। हमारे खिलाफ़ ५ गवाह गुज़रे, जिनमें एक थे रघुनाथपुरके दारोगा, जंगबहादुरसिंह। जंगबहादुरसिंहने दो बातें सरासर झूठ कही थीं, एक यह कि मेरे सिरमें चोट गिरफ्तारीसे पहिले लगी थी और दूसरी यह कि क़ुरबानको भी चोट लगी। पहिला झूठ तो उन्होंने इसलिए कहा कि सरकारी

हिरासतमें कोई आदमी हो, तो उसकी रक्षाका सारा भार सरकारी अफ़सरपर है। शिर फटनेका मतलब था, कि अफ़सरने असावधानी की। इस प्रकार पहिला झूठ तो वह बोले थे, अपनेको बचानेकेलिए; लेकिन, दूसरे झूठको बोलनेकी ज़रूरत नहीं थी। सिवाय इसके इसका कोई और मलतब नहीं हो सकता था कि वह खुफ़िया-ज़मींदारकी सहायता करना चाहते थे। उनका कहनेका अर्थ यह हुआ, कि मैंने शान्तिमय सत्याग्रह नहीं किया, वल्कि हँसुआको मैंने हथियारके तौरपर इस्तेमाल किया। मैंने पहिले दिनकी पेशीमें देखा, कि क़ुरबानके हाथमें पट्टी बँधी हुई है। ज़मींदारने ज़रूर उसके हाथमें घाव बनवाया था। तो क्या पुलिस भी पूरी तौरसे मेरे मामलेमें दिलचस्पी ले रही थी? पुलिस ही क्यों, ज़िला-मजिस्ट्रेट और सीवानके मजिस्ट्रेट भी खास तौरसे दिलचस्पी ले रहे थे। शायद वह समझते थे, कि रूससे लौटा यह बोलशेविक ब्रिटिश साम्राज्यमें गड़बड़ी मचा रहा है, इसलिए उसको दबाना और अंग्रेज़-भक्त ज़मींदारको मदद करना उनका फ़र्ज़ है। मुझे दफ़ा १४३ (ग़ैर क़ानूनी मजमेका मेम्बर होने) और दफ़ा ३७९ (ऊखकी चोरी करने) में छ-छ मासकी कड़ी सज़ा हुई, और बीस रुपया जुर्माना, न देनेपर तीन मासकी और सज़ा। यह मुझे तीसरी बार जेलकी सज़ा हुई थी, और सो भी चोरीके अपराधमें! और सख्त सज़ा! खूब!!

अगले दिन (१६ अप्रैल) हमें सिपाही छपराकी ओर ले चले। वह मेरे हाथमें हथकड़ी देनेसे हिचकिचा रहे थे, मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया और दोनों हाथोंमें हथकड़ी पड़ गई। उसी दिन हम छपरा जेलमें चले आए। जेलमें अबकी बार जब गिरफ़्तार करके आया, तभीसे मैंने अधबहियाँ कुरता और जाँघिया पहनना शुरू किया था। लेकिन अब भी पीले कपड़े मेरे पास थे। १७ अप्रैलको मुझे कैदियोंका कपड़ा पहननेको मिला। उस दिन "चलो धर्मसे अब नाममात्रका भी सम्बन्ध नहीं रहा" यह वाक्य लिखा था, और यह भी—"मिस्टर केम्प कलक्टर अपनी सारी शक्ति लगाए हुए हैं। सारी पुलिस और खुफिया-विभाग लगा हुआ है। जिलेकी सभी जमींदारियोंके साथ यहीं मुक़ाबिला हो रहा है।" अब हमें रोज़ दस-दस सेर गेहूँ पीसनेके लिए मिलनेवाला था, हम चक्की आदि भी देख आए।

पुलिसकी जाँच—कांग्रेस मंत्री भी उसी तरह कुचलनेकेलिए तैयार थे, जैसे सारन (छपरा) के अंग्रेज-अफ़सर। यह आश्चर्यकी बात नहीं थी, इसकेलिए उन्हें वर्गस्वार्थ प्रेरित कर रहा था, लेकिन, अभी हिन्दुस्तानको आज़ादी नहीं मिली थी, अभी किसानोंकी शक्तिको कुचलनेकेलिए तैयार हो जाना राजनीतिक दूरदर्शिता नहीं कही जा सकती थी। लेकिन अखबारोंमें मेरे सिर फटने, हाथमें हथकड़ी लगाने

तथा दूसरी अपमानजनक बातोंकी खबरें छप चुकी थीं। अखबारवाले बिहारकी कांग्रेस मिनिस्ट्रीको धिक्कार रहे थे, इसलिए सरकारको कुछ लीपापोती करनेकी ज़रूरत थी। उसने पुलिसके इंसपेक्टर-जनरल अलखकुमार सिंहके जिम्मे जाँच करनेका काम दिया। एक साधारण रायटर कांस्टेबुल तरक्की करते करते सारे सूबेकी पुलिसका इंसपेक्टर-जनरल हो जाय, यह ज़रूर असाधारण सी बात थी। अलखबाबूमें विशेष योग्यता थी, इसे इन्कार करनेकी जरूरत नहीं, किन्तु साधारण तौरकी योग्यता उनको इतने ऊँचे पदपर नहीं पहुँचा सकती थी। उनमें सबसे बड़ी योग्यता यह थी कि उन्होंने अपने शरीर और आत्माको अंग्रेजोंके हाथमें बेच डाला था, फिर ऐसा आदमी जाँच करने आए, तो उससे क्या आशा हो सकती है? उन्होंने मुझसे चोट लगनेके बारेमें पूछा—मैंने सारी बातें बता दीं।

उसी दिन सात बजे मुझे जेलसे सीवानकी ओर ले चले। मेरे साथ दो सिपाही और एक थानेदार था।

अगले दिन (२१ अप्रैल) इंसपेक्टर-जनरल, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, कलक्टर सारे अमवारी पहुँचे। रामयशसिंहके बथानके द्वारपर गए। वहाँ मैंने बतलाया कि यहीं मैंने थानेदारको दो घंटा पहिले सत्याग्रह करनेका समय बतलाया था। हम यहाँसे १० बजे रोशन भगतके खेतमें गए। रोशनभगतके खेतपर जाकर घटना स्थानको बतलाया। दारोगा जंगबहादुरने मुझपर जिरह करना शुरू किया। वह कितनी ही बातें कह जाते, जिनको इंसपेक्टर-जनरल नोट नहीं करते और सिर्फ मेरी बातोंको काट-छाँटके लिखवाते। थानेदार जंगबहादुरसिंह और पुलिस इंसपेक्टर विक्रमाजीतसिंह चार घंटेतक जिरह करते रहे। सारी कार्रवाईसे मालूम हो रहा था, कि यह जाँच सिर्फ लीपापोतीकेलिए हो रही है। आसपासके गाँवोंमें खबर पहुँच गई थी, और झुण्डके-झुण्ड आदमी वहाँ जमा हो रहे थे। हमलोग उसी दिन सीवान लौट गए।

साढ़ेचार बजे शामको फिर जाँच शुरू हुई। यहाँ इंसपेक्टर-जनरल, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस (अंग्रेज), कलक्टर (अंग्रेज), विक्रमाजीतसिंह (इंसपेक्टर), द्रुतलेखक और मैं कुल ६ आदमी थे। यहाँ भी मैं देख रहा था, इंस्पेक्टर जनरल हमारी बातोंको पूरा नहीं लिखवाते, और जो लिखवाते, उसे भी तोड़-मरोड़कर। मैंने इसका विरोध किया, तो इंस्पेक्टर-जनरल (अलख बाबू) उबल पड़े। मैंने साफ़ कह दिया—"मैं तुम्हें अपना खुदा नहीं समझता, तुम भूल कर रहे हो, जो अपनेको मेरा भाग्यविधाता समझते हो। तुम किस लायक हो, इसे तुम खुद अपने मनसे पूछो।" इंस्पेक्टर जनरलका दिमाग कुछ ठंडा हुआ। उन्होंने कहा—"कुछ मेरी उमरका भी ख्याल करें।

मैंने कहा मैं भी छियालीस सालका हूँ। हम दोनोंकी उमरमें बहुत अन्तर न होगा।"

थोड़ी देर और कुछ लिखते-पढ़ते रहे, इसके बाद मुझे छुट्टी मिल गई, और मैं उसी रात छपरा चला आया।

जेल वन्द हो चुका था, इसलिए थानेदार मुझे शहरके थानेपर ले गए। थानेदार भले मानुष थे। मैं खाकी हाफपैन्ट, हाफशर्टमें कुर्सीपर बैठा था। लोग क्या जानते थे, कि यह चोर-क़ैदी बैठा हुआ है, वह मुझे ही दारोगा समझकर सलाम कर रहे थे। जलपानके बाद मुझे थानेदार जेलमें छोड़ आए।

अबकी बार अमवारी सत्याग्रहकेलिए जब मैं पटनासे आया था, तो अपने साथ सफेद (लेघोर्न) मुर्गीके अंडे इस मतलबसे लाया था कि इनको सेयाकर बच्चे पैदा करें, फिर एक मुर्गीखाना तैयार किया जाय। मुर्गीखानेकी जगह भी ठीक कर ली गई थी और नगरके सर्वमान्य देवताके नामपर उसका नाम "धर्मनाथ मुर्गीभवन" रखा जानेवाला था। सत्याग्रहके बाद मुर्गीभवनकी बात तो बीच हीमें रह गई। २२ अप्रैलको मालूम हुआ कि १२ अंडोंमें सिर्फ ४ ही बच्चे पैदा हुए—अंडे कुछ दिनों तक बिना सेए ही रख दिए गये, इसीसे यह हुआ था। दो पालनेवालेने रख लिए थे, और दो मेरेलिए छोड़े थे। आन्दोलनकारी ऐसे कामोंको कैसे कर सकता? २२ अप्रैलको मैंने प्रधानमंत्रीको तार दे दिया, कि यदि हमारी माँगें नहीं मानी गईं, तो पहिली मईसे मुझे भूख हड़ताल करनी होगी।

अगले दिन (२३ अप्रैल) बाबू मथुराप्रसाद आए। उनसे किसान-क़ैदियोंकी माँगोंके बारेमें बातचीत हुई। इसी बीचमें ही पुलिसका जमादार अँगूठेका निशान लेने आया—चोर कैदियोंके अँगूठेका निशान लिया जाता है। मैं चोरकैदी था ही। मैंने कहा—मुझे कोई उजुर नहीं, एक नहीं पाँचों उँगुलियोंका निशान लीजिए। मथुरा बाबूने मना कर दिया, और निशान लेना बन्द हो गया। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट इंस्पेक्टर-जनरलके जिरहवाले कागजको लेकर दस्तख़त कराने आए। मैंने "Distorted and many points left out" (तोड़ा-मरोड़ा और बहुतसे महत्त्वपूर्ण अंशोंको छोड़ दिया गया) लिखकर हस्ताक्षर कर दिया। पार्लामेंट्री सेक्रेटरी बाबू कृष्णवल्लभ सहायने भी हमारी माँगोंके बारेमें बातचीत की। कलक्टरने चिट्ठी भेजी कि सरकार कुरबानके ऊपर मुकदमा चलाना चाहती है। शामके वक़्त फिर हमारी माँगोंके बारेमें कृष्णवल्लभ बाबू और मथुरा बाबूने बातचीत की, जिससे पता लगा कि काँग्रेस-सरकार क़िसान कैदियोंको राजनीतिक बन्दी बनानेकेलिए तैयार नहीं है। शायद भविष्यके लोगोंको यह पढ़कर आश्चर्य होगा, कि किसान

बन्दी भी उसी तरह अपने अधिकारोंकेलिए लड़ रहे थे, जैसे किसी समय काँग्रेसी वन्दियोंने लड़ाई की थी, फिर किसानोंके चुने हुए काँग्रेसी मंत्री उचित माँगोंको माँगनेकेलिए क्यों तैयार नहीं हुए ? लेकिन यह मामूली सी बात है—कोई प्रतिद्वन्दी अपने विरोधीके साथ रियायत करनेकेलिए तैयार नहीं होता। जमींदार-मंत्री इसे अपने हाथसे अपने पैरमें कुल्हाड़ा मारना समझते थे।

२७ अप्रैलको डाक्टर श्चेर्वात्स्की का पत्र आया, यह १७ मार्चको लिखा गया था, साथमें बच्चेका चित्र और लोलाका भी चित्र था।

हमारे साथियोंमें से वासुदेव नारायण, मज़हर, जलील और नागार्जुनको द्वितीय श्रेणीका कैदी बना दिया गया था। ३० अप्रैलको उन्हें हजारीबाग भेजने वाले थे, लेकिन अगले ही दिन मैं भूख हड़ताल शुरू करनेवाला था, इसलिए उन्होंने जानेसे इनकार कर दिया, और उन्हें यहीं रहने दिया गया।

१० दिन (१-१० मई) का उपवास—अपनी उचित माँगोंको मनवानेका कोई रास्ता न देखकर कैदीको भूख-हड़ताल करनी पड़ती है। मैंने अपनी भूख-हड़तालको हलके दिलसे नहीं शुरू किया था, मैं उसे अन्ततक ले जानेकेलिए तैयार था। सरकारको मौका देनेकेलिए एक वार कुछ दिन तक भूख हड़ताल कर उसको छोड़ दिया था, लेकिन सरकार टससे मस नहीं हुई। काँग्रेसी जमींदार कितने पानीमें हैं, यह बात मुझे ही नहीं, दूसरोंको भी स्पष्ट होती जा रही थी। मैंने पहिली मईसे भूख-हड़ताल शुरू कर दी, जो दस दिन तक जारी रही, और उसी समय टूटी जब कि मुझे जेलसे बाहर कर दिया गया। उस वक्त मेरे स्वास्थ्यकी अवस्था निम्न प्रकार थी—

दिन	वजन (पौंड)	नाडी-गति	हृदय-गति	तापमान	विशेष
१.	१७४	..	..	..	
२.	..	..	..	..	कमजोरी
३.	..	..	..		कमजोरी नहीं भूख मर गई
४.	..	६४	१८		,, झुनझुनी १०२° ज्वर
५.	१६८	६६	१६	..	फुर्ती
६.	१६४	..	..	..	कमजोरी नहीं
७.	१६०	..			उठनेपर बैठनेकी ताकत है, अँतड़ीमें तिलमिली
८.	१५८	७२	१८	९५.४	
९.	१५९	..	..	..	
१०.	१५६	७४	२०	..	

मैंने उपवास करते वक़्त साथियोंसे कह दिया था कि ७ दिन तक कोई उपवास शुरू न करे। दूसरे दिन पटनासे टेलीफोन आया कि मुझे हज़ारीबाग भेज दिया जाय। मैंने जानेसे इन्कार कर दिया। चौथे दिन जेलवालोंने जबर्दस्ती नाकके रास्ते दूध पिलाना चाहा, लेकिन वह सफल नहीं हुए। मुझे बहुत पीड़ा हुई, और दोपहर बाद १०२ डिग्री बुखार आ गया। सिर और शरीरमें दर्द होने लगा। जेलमें कलक्टर आये थे। पता लगा कि मेरे हाथोंमें हथकड़ी डालनेके बारेमें जाँच हो रही है। पाँचवें दिन जेल विभागके पार्लामेन्टरी-सिक्रेटरी कृष्णबल्लभ बाबू आए। माँगोंपर बात-चीत हुई। उन्होंने कहा कि अनशन छोड़ दें, सरकार माँगोंपर विचार कर रही है। मैंने कहा—"मैं इतनी जल्दी नहीं मरूँगा, आप माँगोंको मानकर उपवास तुड़वानेकी कोशिश करें।" आजसे लिखना पढ़ना बन्द हो गया। तीसरे दिन तक तो मैं "जीनेके-लिए" वाक़ायदा लिखवाता रहा। ७ बजे दिन तक मैंने पुस्तक थोड़ीसी लिखाई। उठने-बैठने-चलनेमें किसीकी सहायताकी जरूरत थी, आँखोंके सामने अँधेरा आता था। पेटमें अँतड़ियाँ कुछ तिलमिलाती मालूम होती थीं, लेकिन भूख न थी। उसी दिन जेलोंके इंस्पेक्टर-जनरल मिस्टर अंगर आए। उन्होंने दूधबार्ली लेनेको कहा और बहुत आग्रह किया कि जान मत दें। मैंने कहा—मैं जान देनेकेलिए तैयार हूँ, जुएपर जानकी बाजी लगा चुका हूँ।

जेलसे बाहर—८ मईको मालूम हुआ कि कालेज और स्कूलोंके लड़के मेरे बारेमें शाम-सुबह रोज़ जलूस निकाल रहे हैं, और काँग्रेस-सरकारकी भद्द उड़ रही है। १०वें दिन (१० मई) रातको फाटकपर चलनेकेलिए बुलवाया गया, मैंने किसीका सहारा नहीं लिया और अपने पैरों हीसे चल पड़ा। कलक्टर आये हुए थे। उन्होंने कहा—बिहार सरकारने आपको जेलसे छोड़ा दिया है। फिर अपने साथही मोटर पर अस्प-तालमें छोड़ गए। २४२ घंटेके बाद मैंने उपवास तोड़ा। हमारी माँगोंको पूरा नहीं किया गया, लेकिन मैं जानता था कि मुझे न जाने कितनी बार किसानोंकेलिए जेलमें आना होगा और जब तक इन माँगोंका निपटारा नहीं होता, तब तक जेलमें मुझे कुछ खाना नहीं है।

दूसरे दिन मैं पंडित गोरखनाथ त्रिवेदीके घरपर चला गया। डाक्टर सियावर-शरण अपने घर आए हुए थे, वह मिलने आए और मुझे साथ ले चलनेकेलिए बोले। १६ मईको उनकी मोटरपर मैं जामो-बाज़ार चला गया—गाँव और एकान्त स्थान था। डाक्टर सियावर एक सफल डाक्टर हैं, सफल ही नहीं, सहृदय डाक्टर हैं, मेरे-ही लिए नहीं, सारे दीहातके लोगोंकेलिए भी। दूसरे दिन (१७ मई) स्वामी सहजानन्द

और पं० यदुनन्दन शर्मा सीवान आनेवाले थे। बिरजा (व्रजबिहारी मिश्र)ने अमवारीमें बड़ी तत्परता और निर्भयतासे काम किया था। एक बार किसानोंके खोदे हुए कुएँको पुलिसवाले मिट्टी डालकर बन्द करना चाहते थे, बिरजा कुएँमें कूद पड़ा और उन्हें मट्टी डालना बन्द करना पड़ा। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने सबसे छोटे पुत्रको बहुत पढ़ानेकी कोशिश करते रहे, लेकिन बिरजाने पढ़ा नहीं, तो भी उसके पास हृदय था, हिम्मत थी, और निर्भयता थी। बिरजा मुझे सीवान चलनेकेलिए कहने आया था। डाक्टर सियावरशरण अपनी मोटरको वहाँ ले गए। बहुत भारी सभा थी, जिसमें अमवारीसे १४ मील चलकर ३०० मर्द और १०० से ऊपर किसान औरतें आई थीं। सीवानवालोंने उनके खाने-पीनेका अच्छा इंतिजाम किया था। यहीं मुझे पहिले-पहिल यदुनन्दन शर्माका व्याख्यान सुननेको मिला। उनका भेस किसानों जैसा था, वैसी ही उनकी भाषा थी। वह ऐसा एक भी वाक्य नहीं कहते थे, जिसे किसान न समझ पाए। उनके भेस, भाषाको देखकर कोई कह नहीं सकता था कि यह हिन्दू यूनीवर्सिटीका ग्रेजुएट क्या चार दर्जे भी अंग्रेजी पढ़ा होगा। उसी दिन मैं जामो लौट आया। डाक्टर सियावरने ज्यादातर निरन्न भोजनका इंतिजाम किया था। सिर्फ दोपहरको चावल या रोटी खानेको मिलती थी, नहीं तो अंडा मछली, कबूतर, मुर्गी, बकरेका माँस यही प्रधान खाद्य थे। साथमें हरे खीरे जैसी कुछ चीज़ें भी थीं। बड़ी तेजीसे मेरा स्वास्थ्य सुधर रहा था।

२१ मईको "जीनेकेलिए" के अवशिष्ट अंशको लिखकर मैंने ख़तम कर दिया। लोग बराबर आया करते थे, और पुलिस भी पूछती रहती थी। जामोमें मैं ६ दिनसे ज्यादा नहीं रह सका, इसकेलिए डाक्टर सियावरको बड़ा अफ़सोस रहा। लेकिन जब शरीरमें ताकत आ गई, तब फिर विश्राम कैसे किया जा सकता था। २४ तारीखसे फिर मैंने काम शुरू किया। २५ को अमवारीमें ८,१० हजार जनताकी एक बड़ी सभा हुई, जिसमें पाँच-छ सौ स्त्रियाँ थीं। उसके देखनेसे मालूम होता था, कि किसानोंके पास अटूट हिम्मत है, वह अपराजेय हैं। स्त्रियाँ नए तरहकी गीत गाती थीं, जिसमें किसानोंके दुःख और अत्याचारकी बात होती थी।

२६ मईको मैरवा गया। हरीराम ब्रह्म किसी राजाके जुल्मके कारण पेटमें छूरी भोंककर मर गये थे। आज उस राजाका गढ़ ढह गया है, लेकिन हरीराम ब्रह्मका मृत्युस्थान एक तीर्थके रूपमें परिणत है, जहाँ हर साल लाखों आदमी दर्शनकेलिए आते हैं। बारह-चौदह वर्ष हुए, जमुना भगत एक अनपढ़ किन्तु साधुहृदय कुम्हारने यहाँ धूनी रमाई। यात्रियोंको टिकने और नहाने धोनेकी बड़ी तकलीफ होती थी।

यमुना भगतने प्रण किया, कि यहाँ एक तालाब और धर्मशाला बनवाई जायगी। न उनके पास विद्या थी, न धन था। असहयोग आन्दोलनके समय बिहारमें जो देशभक्ति-की बाढ़ आई थी, उससे यमुना भगत भी प्रभावित हुए थे—वह काँग्रेसके स्वयंसेवक थे। उनकी लगनको देख लोगोंने पैसा-दो-पैसा देना शुरू किया। आज वहाँ पक्का तालाब बन गया है, एक धर्मशाला भी है। यमुना भगतका गाँव गंगपलिया वहाँसे कई मील दूर है। वह खुद तो साधुकी तरह रहते थे, लेकिन घरमें बड़ा परिवार था। घरवाले बर्तन बनाते थे, और कई पीढ़ियोंसे जमींदारोंसे कई बीघा खेत लेकर जोतते आए थे। जैसा कि आम तौरसे बिहारमें देखा जाता है, सर्वे (पैमाइश) के वक्त जमीं-दारोंने मीठी-मीठी बातें कहकर समझा दिया—क्या करोगे अपने नाम कास्तकारी लिखवाकर, रहने दो जैसे आज तक तुम जोतते रहे, वैसे ही जोतते रहना। वह माल-गुजारीकी रसीद भी नहीं देते थे, पिछले साल उन्होंने खेत छीन लिया। यमुना भगतके परिवारके लोग भूखे मरने लगे। यमुना भगत बहुत पुराने और सच्चे कांग्रेसी हैं। राजेन्द्र बाबूके घर (जीरादेइ) के पासके रहनेवाले ही नहीं हैं, बल्कि उनसे अच्छा परिचय रखते हैं। काँग्रेसका जब भी कोई काम आता तो यमुना भगत हरीरामधामको छोड़कर वहाँ पहुँच जाते। दुर्भाग्यसे जमींदार कायस्थ थे, बिरादरीका मामला था, इसलिए न्याय करना आसान काम नहीं था। वह जिलेके, प्रान्त तकके काँग्रेसी नेताओंके पास दौड़ते ही रह गए, किन्तु किसीने उनकी अरज़ नहीं सुनी। एक दिन लालकुर्ती वाले १० किसान स्वयंसेवक गंगपलिया पहुँच गए। जमींदार बाबू घबड़ा गए, और उन्होंने समझौता करनेकी बात शुरू की। समझौता हुआ या नहीं, यह दूसरी बात है।

राजेन्द्र कालेजमें विद्यार्थियों और प्रिंसिपलका झगड़ा हो गया था। प्रिंसिपल हजारी योग्य और सज्जन पुरुष थे, लेकिन वह नहीं जानते थे कि आजके नए तरुणके साथ कैसे वर्त्ताव करना चाहिए। उन्होंने बहुतसे विद्यार्थियोंको नाराज़ कर दिया। राजेन्द्र कालेज अब जम चुका था, कितने ही लोग सोचने लगे, कि दूसरे प्रान्तसे एक सिन्धीको लाकर इतनी बड़ी नौकरी देना ठीक नहीं। इसे हमें किसी अपने जाति-बिरा-दरीके आदमीको देना चाहिए। उन्होंने विद्यार्थियोंको और भड़काया। मैं २६ मईको छपरामें था। कालेजके विद्यार्थियोंने बातचीत की। मैंने समझानेकी कोशिश की लेकिन मालूम हुआ कि कालेजकी रक्षाकेलिए प्रिंसिपल हजारीको हटाए बिना कोई रास्ता नहीं।

१० जूनको प्रिंसिपल हजारीने राजेन्द्र कालेजको छोड़ा। मैं बीचमें न पड़ा होता, तो

वह इतनी आसानीसे अपनी जगह न छोड़ते। लेकिन उनके जाते वक्त अच्छी तरह अनुभव करता था कि प्रिंसिपल हजारोंके साथ अन्याय हुआ है, यद्यपि उनमें उनकी अपनी भी कुछ भूलें कारण हुई थीं। जहाँ भी पैसे और अधिकारका सवाल आता है, वहाँ सभी पूँजीवादी देशोंमें ईमानदारी और न्यायको ताकपर रख दिया जाता है। हिन्दुस्तानमें वह और भी वीभत्सरूप धारण करता है। यदि किसी ऊँचे स्थान या ऊँची संस्थापर ब्राह्मण पहुँच जाता है, तो वह वहाँ ब्राह्मणोंके भरनेकी कोशिश करता है, यदि राजपूत तो राजपूतोंको, यदि कायस्थ तो कायस्थ को, यदि भूमिहार तो भूमिहारको। किसी कालेज या सरकारी विभागमें कायस्थोंको भरा देख कितने ही लोग गाली देते हैं—देखो यह कायस्थ बड़े बेईमान हैं, यह सिर्फ अपने भाई-भतीजोंका ख्याल करते हैं। वह कभी यह नहीं ख्याल करते, कि वैसी परिस्थितिमें वह खुद क्या करते। जब तक जातपांत है, तब तक ऐसा होना स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है, कि आदमी अपने रक्त-संबंधियोंके कष्टको पहिले अनुभव करे और उसे दूर करनेकी कोशिश करे। मेरे छपराके कुछ दोस्त कहते थे—राजेन्द्र कालेजको कायस्थ बिलकुल अपनी चीज़ बना लेना चाहते हैं, वह आपको अपने फायदेकेलिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। मैं भी कालेज कमेटीका मेम्बर था। जब नये प्रिंसिपलकी नियुक्तिका अवसर आया, तो मैंने मनोरंजन बाबूका नाम पेश किया। मनोरंजन बाबू पहिले आनेमें नाहीं कर रहे थे, लेकिन मैंने जब उन्हें जोर देकर कहा, तो उन्होंने आवेदनपत्र भेज दिया। नियुक्तिके समय जब मैंने मनोरंजन बाबूकेलिए प्रस्ताव किया, तो विरोधियोंका बल बहुत कमजोर हो गया। मनोरंजन बाबू प्रिंसिपल नियुक्त हुए। मेरे कितने ही दोस्त उलाहना देते ही रहे। लेकिन मेरे बारेमें वह यह तो कह नहीं सकते थे, कि मैंने किसी जातका पक्ष लिया। मेरे दोस्त जब फिर कहते हैं कि कायस्थ कायस्थका पक्ष कर रहे हैं, तो मैं कहता हूँ—पहिले कायस्थकी बेटी लो या बेटा दो, तब इस बातको कहो। जब तक यह जात-पाँत है, तब तक अवसर और अधिकार न मिलने तक ही आदमी ईमानदार रह सकता है।

छब्बीस छब्बीस वर्षसे मैं इस जिलेमें पहिले रामउदार बाबा पीछे राहुल बाबाके तौरपर प्रसिद्ध रहा हूँ। अब मैंने कपड़ा छोड़ दिया था, अधिकतर जाँघिया-कुरता पहिनता था। मंत्री और कांग्रेस नेता मुझे फूटी आँखों देखना नहीं चाहते थे, क्योंकि मेरी वजहसे जनतामें बदनाम हो रहे थे। यद्यपि यह बात गलत थी। बदनाम वह इसलिए हो रहे थे, कि अपने जन्म (वोट)-दाताओंका नहीं अपने जमींदार बन्धु-

ओंका पक्ष ले रहे थे। रूसमें मेरी बीवी है, यह बात भी उन्हें मालूम थी। वह लोग फूले न समाते थे। उन्होंने चिट्ठियोंके फ़ोटो लिए। बीवी-बच्चेके फ़ोटुओंकी कापियाँ कराईं। अखबारोंमें मेरे विरुद्ध छपवा रहे थे, कि इस तरह हम राहुलको जनताके सामने पतित साबित कर देंगे। मेरे घनिष्ट दोस्त पहिले हीसे इस बातको जान गए थे। मैं मंत्रिमंडलके इस उल्लास भरे प्रयासको सिर्फ कौतूहलकी दृष्टिसे देखता था। मुझे उनके इस लड़कपनपर हँसी आती थी—वह समझते थे कि कमेरे राहुलजीके कपड़े और साधुताई पर मुग्ध हैं। वह यही नहीं जानते थे, कि उनकी जीविकाके लिए जो भी ईमानदारीसे लड़ेगा, उसके साथ वह स्नेह प्रकट करेंगे। जब मैं सत्याग्रहकेलिए अमवारी गया,. तो जलीलको प्रतापसिंह बनाके रखना पड़ा था। हम साठ-सत्तर सत्याग्रही छपरा जेलमें थे, जिसमें अधिकांश किसान थे। मैं और मेरे शिक्षित दोस्त तथा किसान मज़दूर और जलील एक साथ खाते थे। हिन्दू-मुसलमानकी एक रोटी होनी चाहिए, हमने इसपर एक दिन भी लेक्चर नहीं दिया। लेकिन कुछ ही दिनोंमें किसान एक दूसरेके हाथसे रोटी छीनकर खानेकेलिए तैयार हो गये। दूसरी बार जब छितौली सत्याग्रहकेलिए जाना पड़ा उस वक्त इब्राहीम और दूसरे कर्मियोंका मैंने नाम नहीं बदला। पाँच-पाँच सात-सात आदमियोंकेलिए थाली-जमा करवाने कौन जाय। हम लोग एक थालीमें दाल रख लेते थे, और एकमें रोटी और उसीमें बैठकर सब खाना खा लेते। इससे किसानोंको कोई तरद्दुद नहीं करना पड़ता था। एक घरमें नहीं होता, तो वह दस घरोंसे थोड़ा-थोड़ा खाना जमा करके ले आते। ज़मींदारने इस बातको ले बेधर्मी आदि कह कहकर बदनाम करना चाहा, लेकिन किसानोंका एक ही जवाब था—हम उनसे धर्म नहीं ले रहे हैं, हम तो खेतकेलिए उनकी सहायता चाहते हैं, और राहुल बाबा जी-जान देनेके-लिए तैयार हैं। काँग्रेसी सरकारके विरोधी प्रोपेगंडेका थोड़ा बहुत असर जमींदारोंके बाद शिक्षित मध्यमवर्गपर हो सकता था, लेकिन वह तो खुद नपुंसक हैं।

पुराने काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओंपर बुढ़ापेका पूरा असर दिखलाई पड़ता था, लेकिन नौजवानोंमें तत्परता थी। मैंने ७ जूनको लिखा था, नई पीढ़ीसे ही आशा रखनी चाहिए। जब (हम) भूमिकी विषमताको देखते हैं, तो निराशा-सी होती है, जब सैलाव के ज़ोरको देखते हैं, तो निराशाका कोई कारण नहीं मालूम होता।

सरजू (घाघरा) की बाढ़के कारण इधर कई सालोंसे कई थानोंके लोग फ़सल मारे

जानेसे तबाह हो रहे थे। सरकारका ध्यान इस तरफ नहीं था। काँग्रेसी सरकार कान में तेल डाले बैठी थी। जब हल्ला होता, तो दो चार हज़ार रुपयेकी माटी कहीं कहीं रखवा दी जाती और कहा जाता कि सरकारका ध्यान इस ओर है। इसकेलिए १८ जूनको एक बड़ा प्रदर्शन किया गया। गुठनी और रघुनाथपुर जैसे दूर दूरके थानोंके किसान पैदल चलकर आए थे। १३ थानोंके लोग छपरा पहुँचे थे। पानी बरस गया था, इसलिए लोग खेत बोनेमें लग गए, नहीं तो उनकी संख्या पचासों हजार तक पहुँचती। शहरवालों तकको जलूस देखकर इतना उत्साह हुआ, कि रायबहादुर वीरेन्द्र चक्रवर्त्ती जैसे राजभक्तने सैकड़ों आदमियोंको आम और चिउड़ा खानेको दिया। कलक्टर डरके मारे बँगला छोड़कर भाग गया, और वहाँ पचास फ़ौजी पुलिस पहरा दे रहे थे।

छितौलीका सत्याग्रह (जून १९३९)—प्रदर्शनसे छुट्टी मिली और दूसरे दिन छितौलीके किसान दौड़े-दौड़े आए। मालूम हुआ कि जमींदार खेत नहीं जोतने दे रहा है। जो किसान आसाढ़में खेत नहीं जोतने पायेगा, उसे जीनेकी क्या आशा हो सकती है। उसी दिन (१९ जून) इब्राहीम, रामभवन, अखिलानन्दके साथ छितौलीकेलिए रवाना हो गया। दूसरे दिन ९ बजे हम सत्याग्रही झोंपड़ीमें पहुँच गए। यहाँके किसान बहुत गरीब थे, तो भी वह खानेकेलिए विशेष तरद्दुद करने लगे। मैंने कहा—हम कोई ऐसी चीज नहीं खाएँगे, जिसे तुम रोज नहीं खाते। जाओ, जिसके घरमें जो बना हुआ हो, उसीको थोड़ा-थोड़ा जमा करके लाओ। उस दिन उनके घरोंसे जो खाना आया था, वह था चीनाका भात, महुआका लाटा—खाली भी और भुनी मक्कीके साथ भी कुटा हुआ भी। साथमें तालकी घास कर्मीका साग था। मैंने उसे बड़ी रुचिसे खाया, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह मनुष्यके ३० दिन खानेकी चीजें थीं। वह ऐसा भोजन था, जिसे भारतका ही गरीब खाकर धैर्य रख सकता है।

३ बजे बाद हम लोग सभाकी जगह गए। अशर्फी साहुके लठियल जगह छेंककर खड़े थे। मैंने कहा, क्या अशर्फीसाहु इतने तक उतर आए और फिर एक लठियलको पकड़कर साहुके घरकी ओर ले चला। जरूर यह खतरेकी चीज़ थी, लेकिन ऐसे वक्त मुझे खतरे की बिल्कुल पर्वाह नहीं रहती। अशर्फी साहुसे पूछा—आप धर्मात्मा बनते हैं, आपने मन्दिर खड़ा किया है, बहुत पूजा-पाठ करते हैं, क्या आप लड़ाई झगड़ा भी करना चाहते हैं। वह मीठी-मीठी बातें करके अपनी माया पसारने लगे। उसी वक़्त कुछ हल्ला हुआ। आकर देखता हूँ कि अशर्फीसाहुके पुत्र जगन्नाथ

बन्दूक लेकर पहुँचे हुए हैं। बहुतसे लोग भाला-तलवार लेकर खड़े हैं। मैं उनके भीतर घुस गया। मैंने उन्हें ललकार कर कहा—हिजड़ो! क्यों खड़े हो, यदि कुछ भी तुममें ताकत है, तो अपनी तलवार और भालेको मेरे ऊपर चलाओ, मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। सब वहाँसे चले गए। मैं इधर-उधर अपने दोनों गुम साथियोंके विषयमें पूछता रहा। मालूम हुआ, कि मार खाकर वह गिर पड़े, और उन्हें हमारे आदमी झोपड़ीमें ले गए। रामभवनपर चार और अखिलानन्द (१८ सालके नौजवान) पर आठ लाठी पड़ी थी। अखिलाकी बाईं हथेलीकी हड्डी टूट गई थी। रातको डाक्टर सियावर आए, उन्होंने पट्टी बाँधी। उसी रात बैलगाड़ीसे दोनों घायलोंको सीवान रवाना कर दिया। अगले दो दिन (२१-२२ जून) किसान खेत जोतते-बोते रहे। बसन्तपुरके छोटे-बड़े दोनों दारोगा आये, लेकिन अशर्फी साहुने उनकी खूब पूजा कर दी थी। जमींदारकी फिर हिम्मत नहीं हुई, कि क़िसानोंसे छेड़-छाड़ शुरू करे।

दो सालकी सजा—तीसरे दिन भी खेतोंमें हल चल रहे थे। ९ बजे बड़े थानेदार गणेशनारायण आए। उन्होंने दिखलानेकेलिए अशर्फी साहुके कुछ आदमियोंसे पूँछ-ताछ की। उनके कुछ आदमियोंको मोटरपर बैठाया और मुझे भी यह कह साथ कर लिया, कि इन लोगोंने बहुत जुलुम किया है। साढ़े दस बजे हम सीवान थानेमें पहुँचे। वहाँके एक मुसलमान थानेदारने मेरेलिए खाना बनवाया। उनके घरमें मैंने नहाकर खाना खाया। मुझे यह नहीं मालूम था, कि मैं गिरफ़्तार करके यहाँ लाया गया हूँ। एक बजे मैं एक अपने दोस्तसे मिलने गया, तो देखा, छोटे थानेदार मेरे साथ हैं। डेढ़ बजे मि० ब्राइसनकी अदालतमें मुझे खड़ा कर दिया गया। अब क्या सन्देह रह गया। गैरकानूनी मजमा बनाकर दूसरेकी ज़मीन दखल करनेका अपराध (दफ़ा-११७) केलिए मुकदमा चलाया गया। मैंने किसी गवाहपर जिरह नहीं की। और किसानोंको खेतकी जुताई-बुआईमें मदद देनेके कसूरको स्वीकार किया। साढ़े तीन बजे सजा सुनाई गई—९ मास सख्त कैद, तीस रुपया जुर्माना या तीन मासकी सख्त कैद। छूटनेपर सालभरकेलिए हज़ार रुपयेकी दो जमानतें। ६ बजे सीवान स्टेशनपर पहुँचे और रातको भटनीकी गाड़ीपर सवारकर दो सिपाही मुझे ले चले। पिछली बार हथकड़ी देनेसे जो बदनामी हुई थी, उसके कारण पुलिसने मेरे हाथमें हथकड़ी नहीं डाली। छपरा-पटनाके रास्ते ले जानेसे लोगोंमें उत्तेजना फैलती, इसलिए सरकारने (युक्तप्रान्त—भटनी, मऊ, बनारस, मुगलसराय) के रास्ते मुझे सीधे हजारीबाग भेजनेका इंतिजाम किया। मैंने ५० सालकी उम्र तक आजमगढ़

जिलेमें न जानेकी प्रतिज्ञा की थी। मैं रेलसे उतरा नहीं, न मैंने बाहर झांककर देखा ही, तो भी २३ जूनको मऊ (आजमगढ़)के रास्ते जाना पड़ा। सबेरे बनारस छावनी-में उतरे। यदि मालूम हुआ होता, कि इस गाड़ीसे जानेपर गयामें कई घंटे पड़ा रहने पड़ेगा, तो हम ६ बजे सबेरेकी गाड़ीको बनारसमें न पकड़ते। दोनों सिपाही भले-मानूस थे। वह गंगास्नान करना चाहते थे, लेकिन नहीं कर सके। जलपानके वक़्त वह कुछ ले आना चाहते थे। मैंने कह दिया कि अदालतके कमरेमें घुसते ही मेरी भूख-हड़ताल शुरू हो गई है, मैं नहीं खाऊँगा। वह कह रहे थे——आप नहीं खाएँगे तो हम कैसे खाएँगे। मैंने बहुत कह सुनकर उन्हें राज़ी किया। सोन-ईस्टबेंकपर हम लोग उतर गए, और दो घंटेसे अधिककी प्रतीक्षा करनेपर तूफान-एक्सप्रेस मिला। ५ बजे शामको हज़ारीबाग़रोड (सरिया) पहुँचे।

दूसरी बार हज़ारीबाग जेल——एक टैक्सीपर हम लोग बैठे। टैक्सीवाला थोड़ी दूर जाकर लौट आया, वह बदमाशी करने लगा। सिपाहियोंकेलिए मैं कैदी नहीं, गोया एक अफसर था। मैं टैक्सीवालेको थानेपर ले गया, वहाँ उसका नाम-ग्राम लिखा गया। फिर दूसरी बससे हम लोग हज़ारीबाग़ रवाना हुए। १० बजे रातको जेल पहुँचे। वहाँ पहिले ही खबर आ चुकी थी। रातको आफ़िसमें ही चारपाई बिछा दी गई, खाना तो मुझे खाना नहीं था। इस बार मुझे १७ दिन तक भूख-हड़ताल करनी पड़ी थी, उस वक़्तकी स्वास्थ्य-अवस्था इस प्रकार थी :

दिन	वजन	नब्ज	हृदयगति	तापमान	विशेष
१	..	..	..	..	..
२	..	..	..	..	..
३	१७४	..	..	..	भूख मर गई
४	१७२	..	..	..	..
५	१६८	..	..	..	थोड़ी कमज़ोरी, रुधिर-दबाव कम
६	१६६	..	..	..	..
७	१६५	..	..	..	..
८	१६४	..	..	..	कंठमें दर्द
९	..	६६	१७	..	..
१०	१६१	..	..	..	कमजोरी, झुनझुनी, छातीमें दर्द, खुजली
११	१६०॥।	..	..	..	निरुत्साह, निन्द्रालुता

१२	१६०॥	६४	२०	६६°.२	दम घुटना, दाहिनी छातीमें दर्द, उन्निद्रता, मुँह कड़वा
१३	१६०	६४	२२	६६°.२	शिर-दर्द, निद्रालुता, गम्भीर निद्रा नहीं, पेशावमें एसीटोन, कमज़ोरी, शिरमें झुनझुनी, दमघुटना
१४	१५६	६८	१८	६६°.८	शिरमें अधिक झुनझुनी, छातीमें दर्द, खुजली, एसीटोन, पेटमें बेकली, उन्निद्रता
१५	१५८	६२	१८	६६°.४	दमघुटना, छाती दर्द, शिरमें झुनझुनी, एसीटोन
१६	१५७	६२	२१	६६	..
१७	१५६	६७	१८	..	८ बजे उपवास तोड़ा

अगले दिन (२५ जून) सबेरे भीतर एक नम्बरके वार्ड (हाते) में साथियोंके पास गया। नागार्जुन, जलील, मज़हर सब यहीं थे। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब आये, उपवास तोड़ देनेकेलिए बहुत लेक्चर देते रहे। शायद उनको नहीं मालूम था, कि मैं उनसे अच्छा लेक्चर दे सकता हूँ। चौदह वर्ष बाद मुझे हज़ारीबाग़ जेलमें आनेका मौका मिला। उस बार भी दो सालकी सजा लेकर आया था, और अबकी बार भी दो सालकी ही—मैं ज़मानत नहीं देने जा रहा था। उस बार मैंने अपने जेलका सारा समय गम्भीर अध्ययनमें बिताया था। यहीं मैंने "बाईसवीं सदी" और १६ और पुस्तक लिखीं, जिनमें बहुत सी प्रेसमें जानेसे पहिले ही लुप्त हो गईं। अगले दिन (२६ जून) फिर सुपरिन्टेन्डेन्टने अपना सरमन सुनाया। डाक्टरोंकी इस हिदायतको मैं माननेकेलिए तैयार था, कि पेटके भीतर ज्यादासे ज्यादा पानी जाना चाहिए, ताकि अँतड़ियाँ खराब न हों। पाँचवें दिन (२७ जून) मैंने सोडा और पानीके सिवा किसी तरहकी दवाईको लेनेसे इनकार कर दिया। फिर जबरदस्ती नाकसे दूध देनेकी तैयारी होने लगी। इसलिए छठें दिन (२८ जून) मैंने प्रधान मन्त्रीको तार दिया, कि ज़बर्दस्ती खिलानेको रोकें, क्योंकि मुझे असह्य पीड़ा होती है, मैं शांतिसे मरना चाहता हूँ। किताबोंका पढ़ना तो १२वें दिन तक जारी रहा और मैं आठ-आठ दस-दस घंटे पढ़ता रहता था। ७वें दिन तक बैठने, खड़े होनेमें अवलम्बकी जरूरत नहीं थी। हाँ, मैं ज्यादा चल नहीं सकता था। आठवें दिन (३० जून) कर्यानन्द जी और अनिल-मित्र साल-साल भरकी सजा लेकर आ गए। उस दिन कंठमें कुछ दर्द रहा। मैं अब अस्पतालमें था। अगले दिन इन दोनों साथियोंने भी उपवास शुरू कर दिया।

मुझे मालूम हो गया था, कि दवाके बहाने डाक्टर कोई शक्तिवर्धक चीज दे देते हैं, इसलिए मैं सिर्फ शुद्ध पानी लेता था, जिसमें सोडा अपने हाथसे डालता था।

११वें दिन मैंने डायरीमें लिखा था—"वजन १६०।।, पौंड कमजोरी मालूम हो रही है, उत्साह कम। निद्रालुता अधिक। दोपहरको भी सोए। बदनमें कहीं दर्द नहीं। खुजली अधिक। मालूम होता है, गवर्नमेंटने तै किया है—माँगोंकी उपेक्षा करो, हालत अबतर हो तो छोड़ दो....। रातको ९ बजे तक पढ़ते रहे। अबकी बार बलका ह्रास बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। पिछली बार आठ दिनसे पढ़ना बन्द रहा। अबकी बार आज भी पढ़नेमें दस-दस घंटा लगानेमें दिक़्क़त नहीं। बदन थोड़ा सिहरता है।" पन्द्रहवें दिन (७ जूलाई) में २२ पौंड कम हो गया। साँस लेनेमें दम घुटता सा मालूम होता था। छातीमें दर्द अधिक, सिरमें झुनझुनी थी और पेशाबमें एसीटोन अधिक। उस दिन १० बजे मिस्टर अंगर (इंस्पेक्टर-जनरल) आए। मैंने कहा—हम दोनों पुराने दोस्त हैं, विशेष कहने-सुननेकी जरूरत नहीं। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहबने कहा, कि उपवास तोड़ दें, तो सरकार आपकी बात सुनेगी। मैंने कहा—यदि मैं बच्चा होता, तो बगलवाले (लड़कोंके) जेलमें भेजा गया होता। ८ जुलाईसे कार्यानन्दजी और अनिलको जबर्दस्ती दूध पिलाया जाने लगा। जबर्दस्ती मुझे नहीं पिलाया गया, इसकेलिए मुझे कांग्रेसी सरकारका कृतज्ञ होना चाहिए। १६वें दिन भी मैं बराँडेमें दो घंटा कुर्सीपर बैठा रहा। उपवासका १७वाँ दिन था। सबेरे ही सुपरिन्टेन्डेन्ट साहबने आकर खबर दी, कि सरकारने आपको जेलसे छोड़ दिया है। मैंने कहा—अच्छी बात, ले चलिए मुझे बाहर, देखें कबतक सरकार इस तरह खेल खेलती रहती है।

३८० घंटेके उपवासके बाद सुपरिन्टेन्डेन्टके बँगलेपर उस दिन अनारके रससे उपवास तोड़ा। दोपहरके बाद वह हज़ारीबाग़के अस्पतालमें पहुँचा आए और मैं चार दिन वहीं रहा। १२ जुलाईको मुझे साधारण भोजन मिला। पहिली बार उपवासके बाद ज्यादा भूख लगी थी, लेकिन अबकी भूख नहीं मालूम होती थी। १४ जुलाईको पटना पहुँचा। किसान सभाके आफ़िसमें मालूम हुआ कि बिहारके हर जिलेमें किसानोंने अपने खेतोंको हाथसे न जाने देनेका निश्चय कर लिया है, सिर्फ़ गया ज़िलेमें ५०से अधिक ग्रामोंमें सत्याग्रह छिड़ा हुआ है।

बम्बईको—मैं चाहता था कि फिर पाँच-सात दिन डाक्टर सियावरशरण के यहाँ जाकर रहूँ, लेकिन इसी वक़्त बम्बईसे खबर आई, कि वार्त्तिकालंकारको वहाँका भारतीय विद्याभवन छपवाना चाहता है। अभी मेरा स्वास्थ्य इतना

अच्छा नहीं था, कि गाँवोंमें घूमूँ फिरूँ; इसलिए सोचा कि इस समयको इसी काममें लगा दिया जाय। बनारस-प्रयाग होते २१ की रातको बम्बई पहुँचा। किसी परिचितका पता नहीं लगा सका, इसलिए मैं एक होटलमें ठहर गया। अगले दिन पता लगाकर अँधेरी गया। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार मिले, उन्होंने ही प्रकाशनकेलिए बातचीत शुरू की थी। बीचमें तीन दिन बुखार आगया। भवनवालोंने ढाई रुपया प्रतिपृष्ठ पारिश्रमिक देनेकेलिए लिखवाया था। अब वह मोल-तोल करने लगे। मैंने कहा—मैं मुफ़्त भले ही दे सकता हूँ, लेकिन मोलभाव करनेकेलिए नहीं आया हूँ। प्रकाशनका इंतिजाम नहीं हो सका, और मैं ३० जुलाईको बम्बईसे रवाना हो गया। प्रयाग, सारनाथ होते २ को बनारस गया। रायकृष्ण दासजी छातीसे लगाकर मिले—पतित का स्वागत। अगले दिन (३ अगस्त) को मैं छपरा पहुँच गया।

९ अगस्तको प्रान्तीय किसान कौंसिलकी बैठक पटनामें हुई। मैं भी वहाँ गया था। मेरे पहिली बार जेलमें जानेके बाद पंडित बाँकेविहारी मिश्रने अध्यापकी छोड़कर किसानोंमें काम करना शुरू किया था। वह बड़ी लगनसे काममें जुट गए थे। छितौलीके किसानोंके झगड़ेके फैसलेके लिए जो कमेटी बनी थी, उसमें वह किसानोंके प्रतिनिधि थे। मालूम हुआ कि पंचायतने दो सौ बीघेसे अधिक खेत किसानोंको दिया। छितौली और यमुना भगतके सम्बन्धमें दो लेख "जनता" केलिए लिखे।

१५ अगस्तको अमलोरी (सीवान) गाँवमें किसानोंकी एक सभा थी। यहाँके जमींदर विद्यासिंहके जुलुम और मायाके मारे आस-पासके दस गाँवोंमें किसीके पास खेत नहीं रह गया था। उनकी इतनी तपी हुई थी, कि राह चलते मुसाफिरको भी जुर्माना लिए बिना छुट्टी नहीं देते। रुपएका ५ सेर रयैतोंसे घी ही नहीं लिया जाता, बल्कि किसानोंसे रुपया लेकर हाथी कीना गया था। हरी-बेगारी और दूसरे कितने ही नाजायज कर सतयुगकी तरह आज भी चल रहे थे। अमवारी और छितौलीके सत्याग्रहोंने बहुत जगहके दबे हुए किसानोंको उभार दिया था। यहाँकी सभामें ८ हज़ारसे अधिक किसान एकत्र हुए थे। विद्यासिंह के अत्याचारोंके विरुद्ध प्रस्ताव पास किया गया। सभामें गड़बड़ी डालनेकेलिए एक निर्लज्ज औरतको भेजा गया था, किन्तु वह अकेली क्या कर सकती थी। सभा बहुत अच्छी तरह हुई। सभा खतम होनेके बाद हम लोग स्टेशनकी ओर जा रहे थे, गाँवके सामनेसे जरासा आगे निकलते ही एक ढेला आकर मेरी बगलमें गिरा। घूम कर देखा (तो एक नौजवान दिखाई पड़ा, पीछे पता लगा कि वह विद्यासिंहका साला है) पकड़ा गया और एकाध थप्पड़ लगाकर छोड़ दिया गया। हम स्टेशनपर चले

गये। वहाँ विद्यासिंहके बहुतसे आदमी लाठी लेकर आये, लेकिन किसान भी अपनी लाठी लिए खड़े थे। कहनेपर भी वह तब तक जानेकेलिए तैयार नहीं हुए, जब तक कि हमारी गाड़ी वहाँसे रवाना नहीं हुई। मैं मारकाट पसन्द नहीं करता था, लेकिन हिंसक ज़मींदारोंको कौन रोक सकता था। फिर किसानोंको लाठी रख देनेकेलिए कहना अहिंसा नहीं कायरताका प्रचार करना था। मैं ऐसी कायरताको पसन्द नहीं करता। जमींदारके आदमी फिर अपने गाँवके किसानोंपर टूट पड़े और उन्हें खूब पीटा। गरीबोंका हित करनेकेलिए गए हुए काँग्रेसी मंत्री चुप रहे। विद्यासिंह बड़े धर्मात्मा थे, उन्होंने एक सिद्ध—कच्चा बाबा—केलिए बँगला बनवा दिया था, घोड़ा ले दिया था।—इससे इतना धर्म होगा कि १२ गाँवोंके लोगोंपर अत्याचार करनेसे जो पाप हो रहा था वह सब धुल जायगा। पाठकोंको शायद ख्याल होगा, कि मैं इन अत्याचारियोंको हजार वर्षोंकेलिए अमर कर रहा हूँ। मुझे विश्वास नहीं है कि यह पुस्तक हजारों वर्ष तक रहेगी, यदि रही तो भविष्यके हमारे उत्तराधिकारियोंकेलिए इससे बहुत सी बातें मालूम होंगी। रही अत्याचारियोंके अमर होनेकी बात, सो तो उन्हें कोई जानेगा भी नहीं। उनके अपने वंशज भी अपने पूर्वजोंका नाम लेनेमें शरम महसूस करेंगे।

१६ अगस्तको मैं छितौली गया। वर्षा हो रही थी, तो भी दो हज़ार किसान जमा हुए थे। लोगोंमें बहुत उत्साह था। अशर्फीसाहु अब भी पंचायतके फ़ैसलेको माननेकेलिए तैयार नहीं, और दीवानी मुकदमा लड़ना चाहते थे।

कुरबानके ऊपर सरकारने मुकदमा चलाया था, मैं उसमें गवाही देनेकेलिए गया। मैं सोचता था—कुरबानका क्या कसूर; लाठी उसने नहीं चलाई, उसके मालिकने चलवाई, फिर उसे जेलकी यातना दिलवानेसे क्या फ़ायदा। २९ अगस्तको मुकदमेकी तारीख थी। मैंने उस दिन अदालतमें जाकर दरख्वास्त देदी, कि कुरबानको छोड़ दिया जाय, मैं नहीं चाहता कि उसपर मुकदमा चलाया जाय। लोगोंको आश्चर्य तो हुआ, मुझको इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं मालूम हुई। आखिरमें कुरबानको छोड़ देना पड़ा।

३

एक और नये जीवनका आरंभ (१९३९-४०)

पहिली सितम्बरको रेडियोंसे पता लगा, कि जर्मनीने पोलैंडके ऊपर आक्रमण कर दिया। ३ सितम्बरको ग्यारह बजे दोपहरको इंगलैंडने भी जर्मनीके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया। अब मुझे ज्यादा दिनों तक जेलसे बाहर रहनेकी उम्मेद नहीं थी, इसलिये कोई स्थायी प्रोग्राम भी सामने नहीं रखा जा सकता था। १६, १७ सितम्बरको प्रान्तीय किसान कौंसिलकी पटनामें बैठक हुई। दो सौ कार्यकर्त्ता एकत्रित हुए थे। हम लोगोंने आगेके प्रोग्रामकेलिए कुछ निश्चय किया, यह ख्याल करते हुए कि कांग्रेस इस साम्राज्यवादी युद्धसे फायदा उठायेगी। १७ को ही रेडियोसे पता लगा कि आज सबेरे ६ बजे लालसेनाने उक्रइन और बेलोरसिया की अपनी खोई धरतीको लेनेकेलिए आगे कदम बढ़ाया। दूसरे दिन यह भी पता लगा, कि लालसेना ९० मील आगे बढ़ गई और तीसरे दिन उसने अपनी सारी धरती वापिस कर ली।

अक्तूबरके दूसरे हफ़्तेमें वर्धामें काँग्रेसकमेटी और कार्यकारिणीकी बैठक थी। वहाँ हिन्दुस्तानके कम्यूनिस्ट भी इकट्ठा होनेवाले थे। कम्युनिस्टपार्टी गैरकानूनी थी, लेकिन काँग्रेसी सरकारोंके ज़मानेमें कड़ाई कम हो गई थी। मैं भी उसमें सम्मिलित होनेकेलिए वर्धा पहुँचा। सुनील मुकर्जी और मैं दोनों ही पटनासे एक साथ गये। गोपीचन्दकी धर्मशालामें ठहरे। एक भोजनालयमें जब हम भोजन करनेकेलिए जाने लगे, तो आदमीने कहा—यह ढेढ़ (चमार) का होटल है। मैंने कहा, हम भी तुम्हारी बिरादरीके हैं, और वहाँ जाकर भोजन किया। काँग्रेसका दक्षिण-पक्ष अंग्रेजोंके साथ समझौता करनेकेलिए तुला था और वामपक्ष जनसंघर्ष चाहता था। आखिर अंग्रेज साम्राज्यवादियोंने वह थोड़ी बातें भी नहीं स्वीकार कीं, जिनको पाकर दक्षिणपक्ष सुलहके लिए तैयार था। १९३८ में तिब्बतसे लौटनेपर कलकत्तेमें श्री महादेव साहाके प्रयत्नसे मुज़फ़्फ़रअहमद, बंकिम मुकर्जी, भवानीसेन, सोमनाथ लाहिड़ी, रणेनसेन, अब्दुल हलीम जैसे भारतके प्रमुख कम्युनिस्टोंसे मुझे मिलनेका मौका मिला। बरसोंसे जिस पार्टीको मैं अच्छा समझता था, और जिसके बारेमें बहुतसी किताबें पढ़ी थीं, उसे वर्धामें अपनी आँखोंके सामने देखा। लोगोंकी संख्या ३० से अधिक नहीं थी। उनमें पंजाबी, मराठी, मदरासी, बंगाली, युक्तप्रान्तीय सभी

प्रमुख कम्युनिस्ट एकत्रित थे। हमारे प्रान्त (बिहार) में पार्टी कायम नहीं हुई थी, लेकिन हम दोनों पार्टीके थे। हिन्दुस्तान और बाहर भी व्यक्तिगत तौरसे कुछ कम्यू-निस्टोंसे मैं मिला था, लेकिन वहाँ अब्दुल मोमिन आदि प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओंसे व्यक्तिके तौरपर मिलाया था, और यहाँ मिल रहा था पार्टीके तौरपर। मैंने उन्हें देखा। मैं गुण-दोषको आदर्शके तौरपर नहीं, व्यवहारके तौरपर देखता हूँ। मुझे यहाँ एकत्रित हुए कम्युनिस्टोंको देखकर बहुत प्रसन्नता और उत्साह प्राप्त हुआ। न वहाँ प्रान्त-भेद था, न धर्म-भेद। वह सभी सगे भाईकी तरह थे, बिना संकोचके अपने भावोंको एक दूसरेके सामने रख सकते थे। रातरात भर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंपर विचार होता रहा। वह पहिला दिन था। हो सकता है, नई चीजका दर्शन बहुत मधुर होता है; लेकिन मैंने पीछे भी उसे वैसा ही पाया। जीवनके बहुत लम्बे समयको मैंने साधु, महात्मा तथा विद्वानोंमें बिताया था, जो कि जबर्दस्त व्यक्तिवादी होते हैं। अपनी वैयक्तिक रुचि और पक्षपातकेलिए वह सारे समाज और भविष्यको भाड़में झोंकनेकेलिए तैयार हो जाते हैं। उनके संसर्गका मुझपर क्या प्रभाव पड़ा, इसे मैं ठीकसे खुद नहीं कह सकता; लेकिन एक बात निश्चित है—मुझे व्यक्तिके अलग-थलग जीवनकी अपेक्षा समष्टिका सामूहिक जीवन सदा ही अधिक पसन्द रहा। राजनीतिक कामोंमें पड़नेके बाद तो मुझे और पता लगने लगा कि एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। क्रान्तिके संचालनकेलिए जबर्दस्त सुसंगठित सेना होनी चाहिए। मैंने कम्युनिस्ट पार्टीको उसी रूपमें पाया। मुझे स्तालिनके ये वाक्य बहुत सच्चे मालूम होने लगे—"इससे बढ़कर कोई सम्मान नहीं हो सकता कि आदमी इस सेना (पार्टी) का सदस्य हो। इससे बढ़कर कोई पदवी नहीं हो सकती, कि कोई पार्टीका आदमी बनाया जाय, (नेत् निचेवो व्वीशे, काक् चेस्त प्रिनाद्लेज़्हात् क एतोइ आर्मिइ। नेत् निचेवो व्वीशे, काक् ज्वानिये च्लेन पार्तिइ)। यहाँ वह जीवन था, जिसको देखकर आदमी अपने पार्टीकेलिए, अपने पार्टी-बन्धुकेलिए खुशी-खुशी जान दे सकता है। यहाँ वह ऐसे संगठनको देखता है, जिससे वह विश्वास कर सकता है कि जिस आदर्शकेलिए मैं अपने जीवनको दे रहा हूँ, उसके पूरा करनेकेलिए सदा तरुण रहनेवाली एक सेना मौजूद है।

वर्धासे लौटते हुए १६ को बनारस पहुँचा। उस वक्त वहाँ हिन्दी साहित्यसम्मेलन-का अधिवेशन हो रहा था। हिन्दी-हिन्दुस्तानीका झगड़ा खड़ा था। लोग हिन्दुस्तानी-का विरोध कर रहे थे, मैं भी विरोधी था, लेकिन हिन्दू संस्कृति और हिन्दू नामके

धर्मपर नहीं, बल्कि दो विस्तृत और सुविकसित साहित्योंको एक नकली भाषाके द्वारा एक करनेका प्रयत्न मुझे बिल्कुल लड़कपन मालूम होता था। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि हिन्दुस्तानीके पक्षपाती यदि एक बार पन्त और इकबालकी कविताओंको साथ-साथ रखकर ज़रा उन्हें समझनेकी तकलीफ़ करें, तो मालूम होगा कि दोनोंके समझनेकेलिए इस अधकचरी हिन्दुस्तानीसे कोई काम न बनेगा। मैं समझता हूँ, भाषाओंका सवाल दाढ़ी-चोटियोंके मिलानेसे नहीं हल होगा, उसे जड़से मिलाकर ही, हम हल कर सकते हैं। और जड़ है हमारी मातृभाषाएँ, गवारूँ, असाहित्यक कहकर जिनकी अवहेलना की जाती है। हिन्दी उर्दूवाले एक दूसरेसे बातचीत कर सकें, साधारण भावोंको समझा सकें, इसकेलिए मैं जरूर चाहता था कि हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने ही अक्षरोंमें दो-चार पाठ उर्दूके भी दे दिये जायँ, वही बात उर्दूकेलिए भी की जाय। मैंने भी वहाँ ४,५ मिनट कहा। मेरे कितने ही साहित्यक मित्रोंने मुझे कुर्त्ते-धोतीमें देखा।

१८ अक्तूबरको छपरा पहुँचा। वहाँ लोलाका पत्र मिला। मैंने लड़केका नाम "अग्नि" (रूसी—ओगोन) लिखकर भेजा था। लोलाने पत्र में अफसोस किया कि नाम ईगर रखा जा चुका है, लेकिन मैं इस नामको आगेकेलिए सुरक्षित रख रही हूँ। यह भी पता लगा कि ईगर ५ सितम्बरको (१६३८)को लेनिनग्रादमें पैदा हुआ, वह अठमासा शिशु था। पहिले बहुत कमजोर लेकिन ११ महीनेका फ़ोटो जो मेरे पास आया था, उसमें बहुत हट्टा-कट्टा था। लोलाने हरेक माताकी तरह अपने बच्चेके गुणोंकी तारीफ़के पुल बाँधे थे—बहुत सुन्दर है, बहुत स्वस्थ है, बहुत गम्भीर है, रोता नहीं है, इत्यादि। मैंने एक बार इसपर कुछ मज़ाक किया था, तो उसने लिखा कि अपनी आँखसे देखते तब मालूम होता।

१. **पार्टी मेम्बर**—कई बातोंका ख्यालकर बिहारमें अभी कम्युनिस्ट पार्टी नहीं कायम हुई थी। इसका एक प्रधान कारण यह था, कि पार्टी-केन्द्र जयप्रकाश बाबूसे बिगाड़ नहीं करना चाहता था, उसकी नीति थी, कि सभी वामपक्षी समाजवादियोंकी एकता कायम रहे। लेकिन जैसे-जैसे पार्टी-मेम्बरों और उनका प्रभाव अधिक बढ़ता गया, वैसे-वैसे काँग्रेस-समाजवादी नेताओंको भय मालूम होने लगा—अन्तमें बिहारमें भी पार्टीकी स्थापनाका निश्चय करना पड़ा। १६ अक्तूबर वह स्मरणीय दिवस है, जब कि मुंगेरमें बिहारकी कम्युनिस्ट पार्टीकी स्थापना हुई। मैं एक और साथीके साथ वहाँ पहुँचा। दूसरे जिलोंके भी कितने ही साथी आए थे। सब मिलाकर १६,१७ तरुण थे। कामरेड भरद्वाज पार्टी-केन्द्रसे इस कामके लिए आये थे। उन्होंने दो दिन

(१९,२० अक्तूबर) पार्टीकी कार्यव्यवस्था और नीतिके बारेमें समझाया। वर्धामें भी मैंने अच्छी वक्तृताएँ सुनीं। लेकिन यहाँ उन्हें और समीपताके साथ सुननेका मौका मिला। सभी तरुणोंमें उत्साह था। अनुशासन-रहित भीड़का सेनापति होनेकी जगह अनुशासनबद्ध सेनाका एक साधारण सैनिक होना ज्यादा अच्छा है, क्योंकि वहाँ अधिक सफलताकी सम्भावना है। खुफ़िया-पुलिस पूरी तौरसे सजग थी। २० तारीखको हम लोग मुंगेरसे अपनी अपनी जगहोंको लौटे। २४वीं अक्तूबरको पता लगा, कि ३० तारीखको काँग्रेस मंत्रिमण्डल इस्तीफ़ा देने जा रहा है, क्योंकि युद्धके कारण केन्द्रीय सरकार और गवर्नर मन्त्रिमंडलसे पूछे बिना ही जो चाहते हैं, कर डालते हैं। काँग्रेस इस अपमानजनक स्थितिमें नहीं रहना चाहती।

कम्युनिस्टोंकेलिए किसी वक़्त भी वारन्ट निकल सकता था। यद्यपि सरकारको यह प्रमाण देना सम्भव नहीं था, कि अमुक गैरकानूनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टीका मेम्बर है। लेकिन उसके पास बहुत बड़ा हथियार "भारत रक्षा कानून" था, वह बिना मुकदमाके ही जिसे चाहती उसे अनिश्चित काल तक केलिए जेलमें नजरबन्द कर सकती थी। साथियोंकी राय हुई कि मैं कुछ दिनोंकेलिए अन्तर्धान हो जाऊँ।

२. **अन्तर्धानके दो मास**—चौबीसों घंटे मेरे पीछे खुफिया पुलिस लगी रहती थी। काँग्रेस सरकारके वक़्त भी ख़ुफिया-विभाग केन्द्रीय सरकारकी मातहत था। उस वक़्त भी सरकारी गुप्तचर मेरे साथ घूमा करते थे, अब तो कुछ कहना ही नहीं। नवम्बर-के प्रथम सप्ताहमें मैं छपरामें था। स्टेशनसे सीधे जानेपर तो ख़ुफिया पीछे लग जाती। गोरखपुर जानेवाली ट्रेन रातको छपरा कचहरी स्टेशनपर खड़ी थी। एक साथीने तहसील देवरियाका टिकट ला दिया और मैं रातके वक़्त भेष बदलकर प्लेटफार्मके दूसरी ओरसे गाड़ीपर बैठ गया। देवरियामें एक अदृष्ट मित्रके पास गया। वहाँ दो हफ़्तेके करीब रहा। मैं छिपके रह रहा था, लेकिन तब भी धीरे-धीरे कितने आदमियोंको पता लगा और मेरे पास पहुँचने लगे। अब मैं बहुत दिनों तक वहाँ नहीं रह सकता था।

मलाँवमें—कुछ शताब्दियों पूर्व हमारे प्रथम पूर्वज (गयाधर) मलाँवसे चलकर चकर पानपुर आए। और कुछ पीढ़ियों बाद उनमेंसे एक (इच्छा-पाँडे) कनैलामें बस गये। मलाँवके बारेमें जब-तब मैं कुछ सुनता रहता था। इतिहास-प्रेमके कारण मेरी इच्छा होती थी कि किसी दिन मलाँव चलकर देखूँ। मैं एक मित्रको लेकर मलाँवके

लिए रवाना हुआ। गोरखपुर तक रेलसे गया, फिर वहाँसे इक्का और मोटरसे जाकर मलाँवके सामने उतरा। एक छोटी सी धार पार करनेके पहिले सामानको पासके गाँवमें रख दिया। मैं इस वक्त सिर्फ एक बार मलाँवको देखकर तुरन्त लौट आना चाहता था, इसी ख्यालसे सामान अपने साथ नहीं ले गया। बरेजा (सारन) के मेरे एक परिचित मलाँवमें बहुत दिनों तक पोस्टमास्टर रहे। वह पंडित शिवपूजन पाँडेके यहाँ रहा करते थे। मेरे बारेमें बहुत पहिले मलाँवके बन्धुओंको कुछ पता था। मैं वहाँ शैलेशकुमारके घरपर गया। यह मलाँवके एक बहुत संपन्न ज़मींदार हैं, लेकिन मैं जमींदार नहीं बन्धुके नाते वहाँ गया था। घरपर मालिक कोई नहीं था, लेकिन नाम मालूम होते ही नौकर-चाकरोंने बड़े सम्मानसे बैठकखानेमें बैठाया। शैलेश और उनके भाई किसी दूसरे गाँवमें गये थे, उनके पास आदमी भेज दिया गया। भोजनका वक़्त था। मैंने वहीं भोजन ला देने के लिए कहा। शैलेशकी दादी—जिनके बारे में तब तक मुझे नहीं मालूम था कि मेरी भाभी लगेंगी—ने आग्रह किया, कि हमारे बन्धु होकर बाहर खाना कैसे खायँगे। शायद उन्हें पता नहीं था कि मैं जाति, धर्म सब छोड़ चुका हूँ, हाँ, अपने पूर्वजोंके रक्तसे इन्कारी नहीं हूँ। खैर, घरमें जाकर भोजन किया। थोड़ी देर बाद शैलेश भी आ गये। अब तुरन्त लौटनेका सवाल नहीं था। मेरा सामान भी मँगवा लिया गया।

गाँव भरके लोगोंको मालूम होने लगा कि उनके कुलका अपने रक्त-माँसका सम्बन्धी एक आदमी आया हुआ है, जिसकी काफी प्रसिद्धि है। मैंने सोचा, इस समयका पूरा फायदा उठाना चाहिए और मलाँवके इतिहासकी सामग्री जमा करने लगा। कोठेपर रहनेका इन्तिज़ाम था। मलाँवने अपने पूर्वजोंके "धर्मको बहुत बातोंमें क़ायम रखा है, बहुत कम ऐसे पथभ्रष्ट हैं, जो मछली माँस नहीं खाते और शैलेशके यहाँ तो रोज ही मछली, माँस बना करता था। यह जाड़ोंके दिन थे। इस वक़्त साइबेरिया तककी चिड़ियाँ मलाँवके तालोंमें आती थीं, और रोज़ उनका शिकार होता था। खानेमें मुझे यदि शिकायत हो सकती थी, तो सिर्फ घी और मसालेकी; जिससे कि सुपच माँस दुष्पच बन जाता है; किन्तु यह तो सारे हिन्दुस्तानका रोग है। मेरा खाना अब कोठे ही पर आता था; मेजपर खाते वक़्त देखा कि शैलेश और दूसरे भी शामिल हो जाते हैं। मैं मना कैसे करता? वह जानते थे लोलाके बारेमें, वह देखते थे कि मेरे पास न चुटिया है न जनेऊ, तब भी यदि उन्हें उज्र नहीं था, तो मेरा कुछ कहना अभद्रता होती। उनकी बूढ़ी दादी क्या सोचती होंगी, इसे मैं नहीं कह सकता। शायद उन्हें मेरे बारेमें सारी

बातें मालूम न थीं। यह भी हो सकता है कि बन्धुस्नेहका पल्ला भारी हो। हाँ, मैंने जब उनसे मलाँवके रीतिरिवाजके बारेमें पूछा, तो वह बड़े स्नेहसे बतलाने लगीं कि किस तरह मलकबीर बाबाकेलिए हर पुत्रके जन्मके उपलक्ष्यमें एक छौना (सुअर-का बच्चा) चढ़ाना पड़ता, ब्याह-शादीमें कौन-कौनसे रिवाज बरते जाते हैं। वह उस वक़्त ६० वर्षसे ऊपरकी होनेपर भी थोड़ासा घूँघट बढ़ाये रखती थीं। शैलेशने कहा भी कि यहाँ घूँघटका क्या काम है। घूँघट कुछ कम हुआ, शायद वह बिल्कुल ही ख़तम हो जाता, यदि मालूम हो गया होता कि मैं उनका छोटासा देवर हूँ। मैंने मलाँवके इन चंद दिनोंके निवासमें बन्धुत्वका पूरा स्नेह पाया।

बचपनमें मैंने अहीरनृत्य देखा था। लेकिन उसके महत्त्वको तब तक नहीं समझ सका था, जब तक कि लेनिनग्रादमें वहाँके श्रेष्ठ कलाकारोंके नृत्यको मैंने नहीं देखा। उसे देखनेके बाद एकाएक बाल्यस्मृति जाग उठी और मेरा दिल बोल उठा—हमारे यहाँ भी एक श्रेष्ठ नृत्य है। भारत आनेपर छपरामें मैंने इस नृत्यके देखनेकी कोशिश की, लेकिन मालूम हुआ कि हमारे लोगोंने इसको "सभ्यता" का कलंक समझा और पिछले पच्चीस सालोंमें वह वहाँसे ख़तम हो चुका है। किसी चतुर मूर्तिकारकी अद्-भुत मूर्तिको तोड़े जाते देखकर जिस तरह एक कलाप्रेमीके दिलमें दुख होता है, उससे कम मेरे दिलमें नहीं हुआ। सारनाथमें मैंने इंतिजाम किया था और चाहता था कि बनारसके कुछ शिक्षित भद्र पुरुष भी उसे देखें। लेकिन साम्प्रदायिक मारकाटने उसे होने नहीं दिया। यह नृत्य अधिकतर सिर्फ़ अहीर जातिमें था, मैंने बचपनमें देखा था, कि किस तरह नर-नारी दोनों उसमें भाग लेते हैं। कनैलामें जगमोहन मेरा रिश्तेमें भाई लगता है। जगमोहनकी शादी होने वाली थी, दरवाजेपर चमार नगाड़ा बजा रहा था और गाँवके कितने ही तरुण अहीर—शायद भर तरुण भी—नाच रहे थे। जगमोहनकी माँ किसी कामसे दरवाजेसे बाहर निकली। देवरोंने ललकारा कि यह बुढ़िया क्या नाचेगी—अभी वह बुढ़िया नहीं स्वस्थ प्रौढ़ा थी। वह देवरोंकी ललकारोंको कैसे चुपचाप सह लेती, अखाड़ेमें कूदकर उसने देवरोंको ललकारा—जिसकी हिम्मत हो वह आकर मेरे साथ नाचे। आये दो एक देवर। लेकिन वह अँगुली, आँख और पैर को आरामसे हल्के-हल्के हिलानेका नाच नहीं था, वह था अहीरोंका वीरनृत्य, जिसमें शरीरके एक एक अंगपर बल पड़ता है। एक एक अंगकी चर्बी मसली जाती है और आध घंटेमें ही पसीना छूटने लगता है। चाचीके सामने कई आये लेकिन सब आकर हारकर बैठ रहे। उसने गर्वपूर्ण दृष्टिपातके साथ अखाड़ा छोड़ा। मैंने ३० वर्ष पहिलेकी उस स्मृतिसे लेनिनग्रादके नृत्यकी तुलना की थी।

लेकिन स्मृतिपर पूरी तौरसे विश्वास नहीं किया जा सकता। मैंने शैलेशसे अहीर-नृत्य देखनेकी इच्छा प्रकट की। अभी नृत्य यहाँसे बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ था, लेकिन स्त्रियोंने उसमें भाग लेना छोड़ दिया था। इस पापके दोषी थे, ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, बनिए, जो स्त्री-पुरुषके साथ नाचनेको अभद्र और अपमानकी दृष्टिसे देखते थे। जो कला १९वीं सदी तक सुरक्षित चली आई थी, जिस कलाको २०वीं सदीमें दुनियाके सामने अभिमानके साथ पेश किया जा सकता था, जो कला २१वीं सदीमें भारतके सभी नर-नारियोंकी प्रिय कला, प्रिय व्यायाम होगी, उसे हमारी अधकचरी सभ्यताने २०वीं सदीमें गला घोंटकर खतम कर देना चाहा। शैलेशने पहिले एक गाँवके ही एक नौजवान भरको बुलाया। माघ-पूसका जाड़ा पड़ रहा था, उस पर भी आधीरात बीत रही थी। तरुण कोई उतना सिद्धहस्त नर्तक नहीं था, लेकिन जब उसने नाचना शुरू किया, तो घंटे भर ही में सारे शरीरमें पसीना आने लगा। मैंने सोचा, मेरी बाल-स्मृतिने धोखा नहीं दिया। शैलेशने कहा—मैं पेलमेनकी प्रक्रियाके अनुसार व्यायाम करता हूँ, लेकिन उसमें भी कमरके पासकी चर्बीके गलानेका ऐसा अच्छा तरीका नहीं है, जैसा कि इस नृत्यमें।

कई दिनके बाद शैलेश अहीर-नृत्यकेलिए कुछ जवानोंको एकत्र करनेमें सफल हुए। उसे देखकर मैंने पूरी तौरसे समझ लिया कि मेरी स्मृति गलत नहीं है।

मलाँव राप्ती (अचिरवती) नदीके किनारे उसी प्रदेशमें है, जहाँ बुद्धके समय मल्लोंका प्रजातन्त्र था। उस समय भी वहाँ मल्लग्राम (मलाँव) रहा होगा। मल्लोंकी तरह ही यहाँके लोग भी सदा लड़ते-भिड़ते रहनेवाले आदमी थे। महाभारतमें इन्हें (साँकृत्यायनोंको) ब्रह्मक्षत्र कहा गया है। मलाँव में ही नहीं, कनैलामें भी लड़ने-भिड़नेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। बुद्धके वक्त "मल्लगाम" कहाँ रहा होगा, इसके बारेमें नहीं कहा जा सकता। अब भी आस-पासमें उसके तीन ध्वंसावशेष हैं, इन्हींमेंसे कहीं रहा होगा, लेकिन इन ध्वंसावशेषोंकी कभी खुदाई नहीं हुई।

हफ़्ते या अधिक दिन मेरे मलाँवमें बीते। मेरे वहाँसे रवाना होनेके पहिले ही शैलेशके चचा श्रीद्वीपनारायण पांडेय भी आ गये। मलाँवसे मुझे जौनपुर जिलेमें किसी वार्षिक अधिवेशनमें जाना था। मैंने पहिले ही उसे स्वीकार कर लिया था, इसलिए अब इनकार करना मुश्किल था। कम्यूनिस्टोंकी ज्यादा गिरफ्तारी नहीं हो रही थी, इसलिये भी प्रकट होनेमें हानि नहीं मालूम हो रही थी।

गाँवका नाम मुझे याद नहीं, लेकिन वह स्टेशनसे कुछ दूर था। मैं वहाँ अकेले ही पैदल चला गया। शायद प्रबन्धक और दूसरोंको भी बड़े नामवाले सभापतिको इस तरह आए देखकर कुछ बुरा लगा। बुरा लगना ही चाहिए, क्योंकि उत्सव प्रदर्शनके लिए ही किये जाते हैं।

वहाँसे मैं जौनपुर गया और किसीतरह छिपकर रातको इलाहाबाद पहुँच गया। मैं वहाँ दो-तीन जगहोंमें बिल्कुल गुप्त रहा। इस समयको मैंने "सोवियत्संघ-साम्यवादी-पार्टी-इतिहास" का हिन्दी अनुवाद करनेमें लगाया। अनुवाद बहुत जल्दी-जल्दी हुआ, उसे मैं दुहरा नहीं सका, और इसका जो भाग प्रकाशकोंने छपवाया, उसमें कम्पोजीटरोंकी गलतियोंको भी अधिकसे अधिक रहने दिया, इस तरह सारा काम चौपट हो गया।

३. किसान सम्मेलनका सभापति—पहिली जनवरीको मैं मढ़ौरामें था। अभी मढ़ौराके मजदूरोंकी पंचायतने झगड़ेका कोई फ़ैसला नहीं किया था।

४ जनवरीको साथी पूरनचन्द्र जोशी और भारद्वाज छपरा आये। उस वक़्त स्वामी सहजानन्द जी छपरा हीमें थे। जोशी और भारद्वाजने वर्त्तमान परिस्थितिपर स्वामीजीसे बातचीत शुरू की। वैसे स्वामीजी सदा हीसे वेदान्त, वैराग्य अतएव व्यक्तिवादके फेरमें रहे, किन्तु, जब उनका जनताके कष्टमय जीवनसे सम्पर्क होता है, तो वह आसमानसे धरतीपर उतर आते हैं और सारी शक्ति लगाकर पीड़ित किसानोंकेलिए काम करते हैं, किन्तु जैसे ही उनकी वृत्ति बाहरसे हटकर अन्तःकरणकी ओर लगती है, तो भूल जाते हैं और एक व्यक्तिवादीके रूपमें प्रकट होते हैं। धूप-छाँहकी तरह उनका जीवन इन दोनों रूपोंमें बराबर प्रगट होता रहता है। यह होते हुए भी उनकी निर्भयता, निरलसता और ईमानदारीके बारेमें कौन संदेह कर सकता है? जोशी-भारद्वाजने दो दिन तक उनके साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिपर विचार किया। वह किसी सभाकेलिए नहीं आये थे, और न लोगोंसे मिलना-जुलना ही चाहते थे। यद्यपि मैंने गोरखनाथ त्रिवेदीसे कह दिया था, कि आपके घरमें कौनसे ये दो व्यक्ति आए हुए हैं। किन्तु मुझे संदेह है, उन्होंने उनके व्यक्तित्वको समझ पाया। भारतीय कम्युनिस्टपार्टीके प्रधानमंत्री जोशी और भारतीय कम्युनिस्टोंके चार प्रधान नेताओंमें एक भारद्वाज यहाँ सामने मौजूद थे, लेकिन उनके चेहरेके चारों ओर कोई प्रभामंडल नहीं था, कि जिससे लोग उन्हें पहिचानते। जनता यद्यपि प्रभामंडलोंके फेरमें पड़ जाती है, लेकिन जनताकी लड़ाईको वही बढ़ा सकते हैं, जो प्रभामंडलके बिना हैं, और युद्धकी खाइयोंमें जनताके साथ कंधेसे कंधा मिलाकर लड़ सकते हैं।

बसंतपुर थानेमें बाला एक छोटा सा गाँव है। वहाँ भी ज़मींदारोंने किसानोंके खेतको निकालना चाहा, जिसमें वह कामयाब नहीं हुए; फिर उन्होंने गुंडोंको जमा-कर तलवार-भालासे प्रहार किये, जिनमें तीन किसान मारे गये। ६ जनवरीको मैं बाला गया। मैंने वहाँ देखा कि तीन-तीन आदमियोंके मरनेपर भी न वे भयभीत थे, न उनका उत्साह कम हुआ था। वह समझने लगे थे कि रक्तबीजकी तरह हमारा कोई उच्छेद नहीं कर सकता। उन्होंने अपनी सांघिक शक्तिकी थोड़ी-थोड़ी झलक देखी थी, और उससे आत्मविश्वास बढ़ा था। शामको एक बड़ी सभा हुई थी, जिसमें आस-पासके कई गाँवोंके किसान आए हुए थे। १४ जनवरीको काँग्रेस सोशिलिस्टपार्टीकी पटनामें बैठक थी। उस वक़्त सभापति मैं ही बनाया गया था, और हमारे कुछ दोस्तोंने फिनलैंडके साथ सोवियत् युद्धको बुरा कहा था। २१ जनवरीको फिर दूसरी बैठक हुई, उस वक़्त भी कितने ही लोग सोवियत्की निंदा उसी तरह कर रहे थे, जिस तरह इंगलैंडके टोरी और उनके अखबार। मुझे आश्चर्य हो रहा था, कि यह किस तरहके सोशिलिस्ट (समाजवादी) हैं, जो इतना भी नहीं समझते कि सोवियतकी निन्दा करना अंग्रेज टोरियों और फिनिश् किसान मजूरों के जानी दुश्मन मैनरहाइमके हाथमें खेलना है। खैर, पार्टीने सोवियत्की नीतिके समर्थनका प्रस्ताव पास किया।

२५ जनवरीको बाकरपुर (मुजफ़्फपुर) में सुलोचना-पुस्तकालयके उद्घाटनके-लिये मुझे बुलाया गया था। दो हजार लोग सभामें आये। मेरे व्याख्यानका नोट लेनेकेलिए सरकारी शीघ्रलेखक और डिपुटी-मजिस्ट्रेट पहुँचे थे। दूसरे दिन (२६ जनवरी) स्वतन्त्रता-दिवस सोनपुरमें बड़े धूम-धामसे मनाया गया। वहाँ भी शीघ्र-लेखक सरकारी अफ़सर मौजूद थे। २८को पानापुर-दियराके किसानोंमें व्याख्यान दिया। २८को बाढ़के छात्र सम्मेलनके सभापतिके तौरपर भाषण किया। यहाँ भी शीघ्रलेखक मौजूद थे। बाढ़में दो मानपत्र मिले, जिन्हें कि मैंने वहीं दे दिया। भाषण और उत्साह देखकर चार किसान आपसमें राय दे रहे थे—काँग्रेस-फाँग्रेस कुछ नहीं, असल काम करनेवाले किसानसभा और आर्यसमाज हैं—लाठी लिए प्रबन्ध करनेवाले विद्यार्थियोंको उन्होंने आर्य समाजी समझा था। ३०,३१ जनवरीको मढ़ौरा मजदूरोंके झगड़ेके फैसलेकेलिए पंचायत बैठी। छपराके कलक्टर मिस्टर कैम्प सभा-पति थे। मैं और कम्पनीके एक प्रतिनिधि उसके सदस्य थे। पहिले दिन कम्पनीके प्रतिनिधिने मंजूर किया, कि वह १२ नए मकान बना देंगे और पुराने मकानोंमें भी सुधार करेंगे। दूसरे दिनकी बैठकमें ४ आना नहीं साढ़े ६ आना रोज कमसे कम मजूरी

स्वीकार की और यह भी कि अधिक नफा होनेपर मजूरोंको बोनस दिया जाय। दूसरे मजूरोंकी मजूरीमें भी वृद्धि की गई। पर्व-त्यौहारके दिनोंमें छुट्टियाँ मंजूर की गईं। रजिस्ट्री करा लेनेपर मजूर-सभाको भी मान लेनेकी बात तय हुई। मजूरोंके दवाई दरपनके इंतिजाम करनेकी भी कुछ बातें मानी गईं। मढ़ौराकी मिठाई-मिलके मालिकोंने भी बहुत सी बातें मानी, और कमसे कम साढ़े पाँच आना वेतन स्वीकार किया। मुझे इस तरहके समझौतेमें भाग लेनेका पहला तजरबा था। मुझे दूसरे दिन मालूम हो गया था, कि चीनी मिलवाले मजदूर हमारे समझौतेसे सहमत नहीं हैं, इसलिए मिठाई मिलवालोंके समझौतेकी शर्तोंके माननेके पहिले मैंने यह जरूरी समझा कि पहिले मजूरोंको बुलाकर उनके सामने समझौतेकी शर्तें रख दी जायँ। चीनी मिलवालोंसे स्वीकृति लेनेमें कुछ देर हुई। यह एक बड़ा बोझ था जो कि साल भरसे लटका चला आता था। यद्यपि बोझ हल्का हो गया, लेकिन मैंने देखा कि मजूरोंका संगठन मज़बूत नहीं, और जब तक संगठन मज़बूत नहीं होता, तब तक विजयका फल स्थायी नहीं रह सकता। संगठन करनेका मुझे समय मिलेगा, इसकी बहुत कम आशा रह गई थी। ४ फरवरीको मैं रहीमपुर (खगड़िया) मुंगेर किसान सम्मेलनमें गया। वहाँसे जाकर बेगूसरायमें रातको रहा। वहाँ बड़े जोरकी अफवाह उड़ रही थी, कि राहुलजीको गिरफ़्तार करनेकेलिए १५ फ़ौजी पुलिस आई है, लेकिन अशान्तिके डरसे उसने गिरफ़्तार नहीं किया।

मैं अबकी बार प्रान्तीय किसान सभाका सभापति चुना गया था, उसकेलिए एक भाषण लिखना था। एकान्तका ख्याल करके मैं राजगिर चला गया। १९१९में मैंने जिस राजगिरको देखा था, उससे अब बहुत अन्तर हो गया था। यहाँ कई घर बन गये थे, और लोग भी ज्यादा आते थे। वैसे राजगिर तो एक अच्छा खासा सेनीटोरियम बननेके लायक है। १०,१५ लाख रुपया लगाकर यहाँ दो हज़ार कमरे बनवाये जा सकते हैं। नलोंके जरियेसे गरम चश्मोंका पानी स्नानागारोंमें पहुँचाया जा सकता है। फिर स्वास्थ्य या ऋतु-परिवर्त्तनकेलिए आनेवाले आदमी, आरामसे रह सकते हैं, लेकिन वह दिन अभी दूर है। वहाँसे मैं सहसराम (१३ मार्च) गया। तालाबके भीतर पत्थरकी वह विशाल इमारत है, जिसमें शेरशाह सो रहा है। अकबरने जिस उदार राजनीति और विशाल व्यवस्थाका अपने शासनमें उपयोग किया, उसका सूत्रपात शेरशाहने किया था। कहते हैं, शेरशाहके सारे शरीरको नहीं सिर्फ एक अँगुलीको समाधिस्थ किया गया है। शहरके बाहर चन्दन शहीद की पहाड़ीपर गये। यहाँ ही एक प्राकृतिक गुफ़ाके भीतर चट्टानपर अशोकका शिला-

लेख खुदा है। वहाँसे हम दरिगाँव गये। गाँवके ज़मींदार रंगबहादुरसिंह सामन्तयुगके सामन्तोंकी तरह किसानोंपर शासन करते थे। ग़रीब किसान त्राहि-त्राहि कर रहे थे। यहाँ भी मेरे व्याख्यानका नोट लेनेकेलिए शीघ्रलेखक और डिप्टी-साहब पहुँचे। डिप्टी साहब को बड़ी तकलीफ़ हुई, क्योंकि उन्हें धानके खेतोंमें दौड़ना पड़ा। १४ फरवरीको पटनामें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टीकी बैठक हुई। कम्यूनिस्टों-को बिहारमें बढ़ते देख नेता बहुत घबराए थे और पार्टीसे कम्यूनिस्टोंको निकाल बाहर करनेकेलिए तुले हुए थे। उन्होंने मंजर रिज़वीको सफ़ाई देनेका भी मौक़ा नहीं दिया, और पार्टीसे निकाल दिया। मुझे अभी निकालनेसे हिचकिचा रहे थे।

अगले दिन (१५ फर्वरी) प्रान्तीय कांग्रेसके पदाधिकारियोंका चुनाव था। मैंने आश्चर्यसे सुना, कि मैं भी रामगढ़ कांग्रेसके लिए प्रतिनिधि अतएव प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीका सदस्य चुना गया हूँ। मैं छपरामें साथियोंके कहनेपर प्रतिनिधि बननेका उम्मीदवार खड़ा हुआ था। लेकिन उसके साथ यह शर्त कर दी थी, कि यदि कोई प्रतिद्वन्दी खड़ा होगा तो मैं अपना नाम वापिस ले लूँगा। प्रतिद्वन्दी खड़े हुए और मैंने अपना नाम लौटा लिया। लेकिन आज सुना कि मैं प्रतिनिधि चुना गया हूँ। पता लगा, कांग्रेस-नेता डाक्टर महमूद को प्रतिनिधि बनाना चाहते थे। उनके विरुद्ध पंडित माणिकचन्द खड़े हो गए थे और उन्होंने इस शर्तपर अपने नामको हटाना स्वीकार किया, कि मुझे एक स्थानसे निर्विरोध जाने दिया जाय। इस प्रकार आवे-दनपत्र हस्ताक्षर तक भी न होनेके बावजूद मैं प्रतिनिधि चुन लिया गया। प्रान्तीय-कांग्रेस कमेटीकी राजनीति बहुत नीचे उतर आई थी। वहाँ कायस्थ और भूमिहार-गुट्टबन्दी चल रही थी। बेईमानी, ईमानदारी चाहे जैसे भी हो, अपनी अपनी गुट्टके ज्यादा प्रतिनिधियोंको भेजनेकी कोशिश थी। श्रीकृष्ण बाबूका पलड़ा भारी रहा और मथुरा बाबू, कृष्णबल्लभ सहाय, वृन्दा बाबू जैसे कर्मठ कांग्रेसी भी कार्य-कारिणीमें नहीं आए—यह हार राजेन्द्रबाबूकी थी।

छपरामें मैं जब रहता, तो अक्सर शामके वक़्त कचहरी, स्टेशनपर एक मुसल-मान चायखानेमें चाय पीने जाता था। यद्यपि मेरी मनशा नहीं थी, लेकिन यह एक प्रदर्शन सा बन गया, क्योंकि कचहरीके अधिकांश वकील मुख़्तार शहरके इसी भागमें रहते हैं, और शामको टहलनेकेलिए इस प्लेटफार्मको छोड़ कोई जगह नहीं है। कभी-कभी कोई दूसरे दोस्त भी शामिल हो जाते, ख़ासकर बाबू बच्चूबिहारी वकील। बाकी लोगोंमें कुछ समझते थे, कि इस आदमीको शरम हया नहीं है,

अर्थात् छिप कर यदि मैं मुसलमानकी चाय पीता, तो मैं अच्छा आदमी कहा जाता; लेकिन कुछ मेरी निर्भीकताकी तारीफ़ भी करते। एक दिन मैं वहाँ चाय पी रहा था। कोई मुसाफिर वहाँ खाने खानेकेलिए आया। उसने पूछा कि किस चीज़का मांस है। होटलवालेने कहा बकरेका। बकरेका मांस ज्यादा महँगा होता है, बेचारे गरीब किसानके पास उतने पैसे कहाँ? उसने कहा—"बड़का (गोमांस) नहीं है"। होटलवालेने कहा—"नहीं भैया, हमारे यहाँ सब तरहके बाबू चाय पीने आते हैं, दो पैसा कम ही नफ़ा कमायेंगे, काहेको यहाँ बड़का पकायें।" मैंने सोचा हिन्दू कितने बेकूफ़ हैं, यदि वह मुसलमानोंके यहाँ खाना खाते रहते, तो बिना दबाव हीके मुसलमानोंके दिलमें उनकी भावनाओंका ख्याल आता। लेकिन वह तो चले हैं लाठीके बलपर गोरक्षा कराने। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध था, मुझे कोई ख्याल नहीं था। बकरीदके दिन यदि छपरा रहता, तो अशरफ़के चचा अलीसाहबके यहाँ उसका तबर्रुक जरूर तनावल फ़रमाना पड़ता।

२४-२५ फर्वरीको मोतीहारीमें प्रन्तीय किसान सम्मेलन था। मैं सभापति था। स्वामी सहजानन्द जी, जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव, और डाक्टर अहमदके भाषण हुए। यू० पी० में तो पहिले ही से कांग्रेस सोशलिस्ट कम्यूनिस्टों के साथ झगड़ रहे थे, बिहार बचा हुआ था। कम्यूनिस्ट थोड़े थे, लेकिन उनकी समझदारी, ईमानदारी और कड़े अनुशासनमें रहनेकी बातको वह जानते थे। वह यह भी जानते थे कि समाजवादी क्रान्ति चाहनेवाले इन्हींकी तरफ़ झुकेंगे। नेतृत्व खतरेमें समझकर वह प्रान्तभरसे आए किसान कार्यकर्त्ताओंको समझानेमें लगे थे। छपरा पासका जिला है, वहाँसे ५०,६० किसान कार्य-कर्त्ता आए हुए थे। अपने कार्यकर्त्ताओंमें बैठना उनकी बातोंको सुनना और उनका बनकर रहना मुझे ज्यादा पसन्द था। मुझे देर तक वहीं बैठे देखकर कांग्रेस सोशलिस्ट नेताओंके पेटमें पानी नहीं पचा। उन्होंने समझा कि मैं उन्हें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टीके खिलाफ़ भड़का रहा हूँ। मैंने वहाँ किसी पार्टीका नाम भी नहीं लिया था। मुझे जब भनक मालूम हुई, तो उनकेलिए मैदान खाली कर दिया, फिर नेताओंने जाकर जो मग़ज़पच्ची की, उससे फ़ायदेकी जगह नुक़सान ही ज्यादा हुआ। तरुण बहुत असन्तुष्ट थे, वह समझ नहीं सकते थे कि कांग्रेस सोशलिस्ट एक ओर तो कम्यूनिस्टोंसे मेल करनेकी बात भी करनेकेलिए तैयार नहीं हैं, और दूसरी ओर गान्धीवादका पल्ला पकड़कर हिन्दुस्तानमें किसान-मजूर-राज कायम करना चाहते हैं।

२७ फर्वरीको मैं अमरपुर (जिला भागलपुर) के किसान-सम्मेलनमें गया।

१५ हजारकी जनता थी। जनता में जोश था और उससे भी अधिक प्रसन्नता मुझे इस बातसे हुई, कि तरुण कार्यकर्त्ता बहुत काफ़ी हैं। बीचमें खानेकी चीज़ोंको इकट्ठा रख दस-दस बारह-बारह आदमियोंका साथ खाना शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भले ही अच्छा न हो, लेकिन मानसिक स्वास्थ्यका वह जबर्दस्त परिचायक था। ग्रामीण किसान भी उसे देखकर नाराज़ नहीं प्रसन्न होते थे। वह समझते थे, कि कमुनिस्तोंमें न हिन्दू-मुसलमानका फरक है, न छूत-अछूतका। भागलपुरमें अगले दिन सभा रही। यद्यपि उसी दिन दोपहरको हम पहुँचे थे, लेकिन मैदान में ३ हज़ारसे अधिक लोग जमा थे। कलकत्तामें बंगाल काँग्रेस कर्मियोंका सम्मेलन था, मुझे उसका सभापति होनेकेलिए कहा गया, लेकिन मैंने तो उन्नाव किसान सम्मेलनका सभापति होना स्वीकार कर लिया था, इसलिए वहाँकेलिए अस्वीकृति लिख भेजी।

२ मार्चको पचरुखी (छपरा) की चीनी मिल के मज़दूरोंकी तकलीफ़ोंको देखने गया। यह गान्धीभक्त साराभाई (अहमदाबाद वालों) की मिल थी, किन्तु यहाँके मजूरोंको उतना भी सुभीता नहीं था, जितना कि मढौराके अंग्रेज़ मिलके मज़दूरोंको। मजूरोंको ढाई आना और तीन आना मजूरी मिलती। मढ़ौरामें पंचायत करते वक़्त मिलवालोंने कहा था, कि हिन्दुस्तानी मिलोंमें ज़्यादासे ज़्यादा जितनी मज़दूरी दी जाती है, उतना ही हमें भी देनेको कहिए, लेकिन मैंने इसे मंजूर नहीं किया। मैं समझता था, कि बिड़ला और साराभाईकी मिलोंमें मज़दूरोंका खून और भी चूसा जाता है। मजूरोंके हाल-चाल जानकर छोटीसी सभामें व्याख्यान दे मैं वहाँसे प्रयाग होते उन्नावकेलिए रवाना हुआ। पौने दो बजे उन्नाव पहुँच गया था। लेकिन कार्यकर्ताओंने व्यर्थ ही वहाँ पौने तीन घंटे रोक रखा। सभा वहाँसे १७ मील दूर शफ़ीपुरमें थी। ६ बजे जबतक हम वहाँ पहुँचे तबतक बहुतसे लोग उकताकर चले गए थे। तो भी मैंने व्याख्यान दिया। सरकारी शीघ्रलेखक मौजूद था और संयोगसे वह तरुण बछवल (आज़मगढ़) का रहनेवाला था। दो दिन रहनेके बाद ७ मार्चको मैं प्रयाग आ गया।

मैं इस साल के लिये अखिल भारतीय किसान सम्मेलन और सभाका सभापति चुना गया था। आन्ध्र-देशके पलाशा गाँवमें सम्मेलन होनेवाला था। मैंने सोचा, प्रयागमें रहकर भाषण तैयार कर लूँ। वहाँ डाक्टर अहमदके यहाँ ठहरा। मुझपर पुलिसकी बड़ी कड़ी निगाह थी, इसलिए अपने पुराने अ-राजनीतिक दोस्तोंके पास ठहरकर उन्हें तकलीफ़में डालना नहीं चाहता था और अहमद और हाजरा तो अपने साथी थे। उनके यहाँ भी हर १०वें १५वें पुलिस तलाशी कर जाती थी। अहमद और

हाजराका आदर्श और त्याग बहुत ऊँचा था। वह हर तरह से आराममें पले थे, और आरामकी जिन्दगी बितानेके सारे सामान रहते भी उन्होंने इस काँटेवाले रास्तेको अपनाया, इसके बारेमें मैं दूसरी जगह[1] लिख चुका हूँ। एक विचार एक आदर्शवाले साथियोंके साथ रहकर आदमी नरकका भी दुख भूल जाता है, उसकी मृत्युकी घड़ियाँ भी सुखकी घड़ियोंमें परिणत हो जाती हैं। भाषणके तैयार करनेमें कामरेड अहमदने भी बड़ी मदद की। उसी दिन श्री सज्जाद ज़हीर अपनी नववधू रज़ियाके साथ आये। नववधूने संकोचकी बात तो अलग, पहिले ही वाण-वर्षा शुरू कर दी—"मैंने सुना है, कि आप उर्दूके विरोधी हैं।" मैंने कहा—"आपने कहाँ सुना है?" उन्होंने बतलाया कि पटनामें लोगोंने बतलाया। मैंने कहा—मैं उर्दूका विरोधी नहीं हूँ। मैं तो जिसकी जो मातृभाषा है, उसको अपनी मातृभाषाको पढ़ने-लिखने, पूरी उन्नति करनेका पक्षपाती हूँ। हाँ, मैं इसका विरोधी ज़रूर हूँ कि लोग हिन्दुस्तानीके नामसे एक तीसरी भाषा के गढ़नेका प्रयत्न करते हैं। मैं तो यह भी कहता हूँ कि उर्दूवालोंको स्वेच्छापूर्वक कुछ हिन्दी भी सीखना चाहिये। रज़िया कुछ शान्त हुईं। मुझे यह ख़ुशी हुई कि सज्जाद ज़हीरने एक समझदार और शिक्षित साथीको बीबीके रूपमें प्राप्त किया।

११ तारीख़को ३ घरोंमें तलाशी ली गई और साथ ही हर्षदेव मालवीय पकड़ लिये गये। यह भी पता लगा कि सज्जादके नाम भी वारंट निकला है। यह इस बातकी सूचना थी, कि मुझे भी अब तैयार रहना चाहिए। अगले दिन मैंने भाषण क़रीब-क़रीब समाप्त कर दिया। १५ तारीख़को अपने प्रयागके दोस्तोंसे मिलने गया। डाक्टर बदरीनाथप्रसादने पूछा—"फिर कबतक मुलाक़ात होगी?" मैंने कहा—"लड़ाई बाद"। शामको लौटकर अहमदके साथ बातचीत कर रहा था। अँधेरा हो चला था। उसी वक़्त पाँच-सात सादे कपड़ेवालोंके साथ थानेदार साहब पहुँच गये और मुझे गिरफ़्तारीकी सूचना दे मकानकी तलाशी लेने लगे। साढ़े ७ बजे करनलगंज थानेमें ले गये। वहाँ काग़ज़पत्र दिखलाया गया। मैं भारतरक्षा क़ानून, दफ़ा २६ उपनियम १ के ६वें वाक्यके अनुसार गिरफ़्तार किया गया था। ९ बजे बाद मुझे मलाका जेलमें पहुँचा दिया गया।

[1] देखो "नये भारतके नये नेता।"

(३)

जेलमें २६ मास (१६४०—जुलाई १६४२)

१—हजारीबाग जेल (१९४० ई०)

मेरा वारंट भारत-सरकारने बिहार भेजा था। यदि मैं बिहारमें रहा होता, तो चार दिन पहिले ही गिरफ़्तार हो गया होता। खैर, अब कम्यूनिस्टोंपर सीधा प्रहार हो रहा था और बड़े-बड़े कम्यूनिस्टोंको पकड़कर जेलमें बन्द करनेका काम भारत-सरकारने अपने हाथमें लिया था। प्रान्तीय सरकार नहीं, भारत सरकारका क़ैदी होना कुछ गौरवकी बात थी। कहाँ चोरीमें क़ैद होकर आना, और कहाँ अब शाही क़ैदी—इसे ज़रूर सम्मानकी चीज़ मानना था। जेलमें हर्षदेव और मैं दो ही राजनीतिक बन्दी थे। अभी तक मुझे बिहारके जेलोंका ही अनुभव था। अब अपने जन्म-प्रान्तके जेलका भी अनुभव प्राप्त करना था, लेकिन मैं मलाका जेलमें १२ दिनसे ज़्यादा नहीं रह सका। बिहारमें छोटेसे बड़े जेलोंमें—सभी कोठरियोंके फ़र्श पक्के हैं, किन्तु यहाँ कच्चा फ़र्श था। मकान भी मालूम होता था, अकबर बादशाहके क़िलेके ही ज़मानेका था। जिन सेलों (तनहाई कोठरियों)में दिनमें भी अँधेरा रहे, वहाँ मच्छर क्यों न बसेरा करें। रातको मच्छरोंने खूब काटा। अगले दिन तौला गया। वज़न १८८ पौंड अर्थात् दो सौ पौंडमें १२ ही कम था। दफ़्तरमें बापका नाम और अँगूठेका निशान लगानेके लिए कहा गया। मैंने साफ़ इनकार कर दिया। जेलर साहब बहुत भलेमानुस थे। उनको इस बातका अफ़सोस था, कि मुझे तीसरे दर्जेका क़ैदी बनाया गया है। लेकिन बाप और नाना दोनोंकी हैसियत देखनेसे तो मुझे तीसरे दर्जेसे भी नीचे रखना चाहिए था। मैंने स्वयं भी कोई सम्पत्ति नहीं जमा की थी, आख़िर जेलोंमें पहिला दूसरा दर्जा सम्पत्ति देखकर आदमीको दिया जाता है। यह मैं मानता हूँ कि सम्पत्ति-वाले सारे जोंक, डाकू और कामचोर हैं, लेकिन सरकार तो इस बातको नहीं मानती—डाकुओंके राज्यमें डकैती शाही पेशा मानी जाती है। जेलर साहबने कहा, आप इसकेलिए सरकारमें दरख्वास्त दें। मैंने कहा—"मैं इसी श्रेणीमें ही रहूँ, तो अच्छा। हाँ, पढ़ने-लिखनेका सुभीता ज़रूर होना चाहिये। यदि मुझे कहना-सुनना होगा, तो सिर्फ़ उसीकेलिए। खानेकेलिए हमें जौ-चनेकी काली रोटी मिलती थी,

जिसमें तिनके भी काफ़ी रहते थे । दालमें कराई और तिनका भरा होता था और सागके नामपर घास उबाली जाती थी । मैंने देखा, युक्तप्रान्त इस बातमें बिहारसे बहुत पिछड़ा हुआ है, हमने तो वहाँ १९२१-२२में ही ऐसा खाना देखा था। हाँ, कांग्रेस मिनिस्टरीने यहाँके जेलोंमें बीड़ी और तम्बाकू देनेका हुक्म दे दिया था, वह अब भी मिल रहा था—लेकिन बीड़ीकी जगह लपेटी पत्तियाँ, और सुरती (तम्बाकू)की जगह डंठल । हम दो थे, इसलिए आपसमें भिन्न-भिन्न विषयोंपर वार्त्तालाप करते थे, और जो किताबें मिल जाती थीं, उन्हें पढ़ते भी थे। मैंने हिन्दू-मुसलिम समस्या-पर २५ मार्च (१९४०)की डायरीमें लिखा था—"यदि बहुमतकी राय (है) तो बहुमतवाले मुसलिम प्रान्तोंको अलग मुसलिमिस्तानके रूपमें स्वतन्त्र होनेकी क्यों न इजाज़त दी जावे । भाषामें ९० फ़ीसदी, जिस भाषाको बोलते हैं, उसीको शिक्षा और व्यवहार का माध्यम बनाना चाहिए ।"

२७के साढ़े ४ बजे शामको पता लगा कि मुझे हज़ारीबाग़ जेल ले जानेकेलिए बिहारसे पुलीस आई है । पर्दानशीन बहुओंको नइहर, सासुर ले जानेकेलिए आद-मियोंके आनेकी बात सुनकर वैसे ही ख्याल होता होगा, जैसा कि इस वक़्त मुझे आ रहा था । घंटे भरमें मुझे तैयार हो जानेकेलिए कहा गया, लेकिन वहाँ तैयारी क्या करनी थी । मैंने हर्षदेवसे बिदाई ली, रेलवे पुलीसकी लारीपर बैठा, बड़े स्टेशनपर गया और साढ़े ६ बजे पंजाब-मेलसे रवाना हो गया । पुलीसमें दो साधारण सिपाही और एक जमादार या सहायक थानेदार था । किसान-सत्याग्रहों और भूख-हड़तालोंके कारण भला कैसे हो सकता था, कि बिहारका कोई पुलिस-सिपाही मुझे न जानता हो । सिपाही चूँकि स्वयं किसानोंके बेटे होते हैं, इसलिए पेटके कारण चाहे उनको कुछ भी करना पड़े, किन्तु उनकी सहानुभूति सदा हमारे साथ रहती । उनके घरवाले भी ज़मींदारोंसे सताये हुए थे, हमारे आन्दोलनसे उनको भी हिम्मत मिली थी । किसानों-मज़दूरोंका आन्दोलन सचमुच ही शासक-वर्गके लिए बड़े खतरेकी चीज़ है । आख़िर किसान-मजूर-बच्चोंके भुजबलपर ही उन्होंने दुनियाको ग़ुलाम कर रखा है, किसान-संघर्ष जितना ही बढ़ेगा उतना ही शासक-वर्गको अपने हाथ-पैरों—सिपाहियों—से शंकित होना पड़ेगा । हमारे साथ जानेवाले तीनों पुलिसमैन भद्र, भलेमानुस थे । मुझे डेवढ़ा दर्जेमें ले गये, लेकिन रातको सोनेका मौक़ा दो-तीन घंटेसे ज़्यादा नहीं मिला । सवा आठ घंटेके सफ़रके बाद पौने तीन बजे हमारी गाड़ी हज़ारीबाग़-रोड पहुँची । वहाँ पहिले हीसे मोटर लिये पुलीसके आदमी तैयार थे । कितना अन्तर था ? पिछली यात्रामें कितनी

मुश्किलके बाद हमें जेलकेलिए मोटर मिली थी और आज सब चीज़ घड़ीकी सुईकी तरह चल रही थी। सबेरे ५ बजे हम जेलपर पहुँचे। फाटकके भीतर घुसते वक्त अँधेरा था। फिर मुझे एक नम्बरके वार्डकी उसी बैरकमें रखा गया। अली अशरफ़ भी नज़रबन्द थे। वह भी कम्यूनिस्ट थे। लेकिन हम दोनोंको एक जगह नहीं रखा गया। मंज़र और अनिल तो सज़ा पाये हुए क़ैदी थे, इसलिए उन्हें तो अलग रखना ही था।

५ अप्रैलको लोलाकी चिट्ठी आई। उसने उसे ६ जनवरीको लिखा था। डाक्टर श्चेरवात्स्कीका पत्र कुछ और देरसे मिला। उन्होंने लिखा था,—"क्या हमें फिर देखनेकेलिए तुम यहाँ आनेको सोचते हो?" लोलाकी चिट्ठीसे मालूम हुआ—"आचार्य श्चेरवात्स्की चाहते हैं कि तुम यहाँ आ जाओ और तुम्हारी मदद-से तिब्बती भाषाका एक व्याकरण और तिब्बती-रूसी-कोष लिखा जाय। मेरी सारी इच्छाएँ तुम्हारे साथ हैं। मैं तुम्हें अपने ईगरको दिखाना चाहती हूँ। क्या तुम्हारा लेनिनग्राद आना सम्भव है? ईगर स्वस्थ है, इस सालकी सर्दियोंमें वह बीमार नहीं पड़ा। वह बड़ा हो गया है, बिना सहायताके दौड़ने लगा है, और बोलता है। अब उसके ६ दाँत है। उसका पहिला शब्द था "पापा" (पिता) मेरे लिखनेकी मेज़पर तुम्हारा फ़ोटो है। ईगर जानता है, कि यह मेरा पापा है।"

अपनी ४ मार्चको चिट्ठीमें उसने लिखा था, "आजकल वह बड़ा अजब सा और दिलचस्प लड़का है। नर्सने उसे मुर्गी और चूज़ोंकी तसवीर दिखलाकर कहा था, कि यह 'मामा' है, और यह बच्चे हैं। शामको (घरआनेपर) मैंने यह कहते हुए पुकारा—'मामाके पास आ, मामा कहाँ है'। वह तसवीर उठा लाया और उसमें मुर्ग़ीको दिखला-कर कहने लगा 'यह मामा है'। जब तुम ईगरको देखोगे और वह अपने छोटे-छोटे हाथोंसे तुम्हारी गरदनको लपेटेगा, तब तुम समझोगे, कि पुत्र पानेका कितना महान् आनन्द होता है, फिर तुम नहीं कहोगे, कि मैं उसकी तारीफ़के पुल बाँधती हूँ।

"ईगर बहुत गम्भीर स्वभावका है, लेकिन किसी किसी वक्त वह खुशीमें पागल हो जाता है, फिर उसे रोकना मुश्किल होता है। तब उसके साथ बर्त्ताव करना कठिन मालूम होता है। कभी-कभी सबेरे मुझे कामपर नहीं जाने देता। वह मेरे लहँगे (स्कर्ट)के किनारेको पकड़कर रोने लगता है। शामको तब तक मेरी गोदमें बैठा रहता है, जब तक मैं उसे चारपाईपर सुला नहीं देती हूँ। पिछले दो सालोंमें मैं कोई सिनेमा या नाटक देखने नहीं गई। ईगर बहुत थोड़ा बोलता है। वह सिर्फ़ 'पापा' 'मामा' 'नर्स' 'बाबा' (दादी) दे, खोल, एक दो' बस इतना ही बोलता है।

उसे संगीतका बड़ा शौक़ है । रेडियोकी आवाज़ कानमें पड़ते ही वह चिल्लाना छोड़कर सुनने लगता है ।"

हमारे वार्डपर बड़ी कड़ाई थी । पहिले पहरेवाला अस्पताल, आफ़िस या गोदाममें चला जाता था, लेकिन अब उसे सिपाहीके साथ जाना पड़ता । मेरे और अशरफ़ दोनोंके वार्डोंपर एक सिपाही खास तौरसे रख दिया गया था । हम दोनोंको बिल्कुल अलग इसीलिए रखा गया था, कि एक दूसरेसे सम्पर्क न होने पाये, लेकिन सम्मिलित सिपाही इस कामको अच्छी तरह कर सकता था । सिपाही मुझे अच्छी तरह जानते थे । वह किसानोंके बेटे थे । वह मेरेलिए किसी कामको करनेमें अहोभाग्य समझते थे ।

यहाँ न पढ़नेकेलिए पुस्तकें थीं, न बात करनेकेलिए कोई आदमी । सारा समय बेकार जाते देखकर मैंने सोचा, अपनी जीवन-यात्रा ही लिख डालूँ । १६ अप्रैलको मैंने उसे लिखना शुरू कर दिया और १४ जून तक बीचमें दो-चार दिन छोड़ बराबर लिखता रहा । १९२६-२७ तक तो कोई अड़चन नहीं पड़ी, लेकिन आगे मैं डायरियाँ लिखता गया था, इसलिए लिखनेमें मन नहीं लगा । कुछ ही दिनों बाद लिखना छोड़ना पड़ा ।

अब कम्यूनिस्ट ज़्यादा आनेवाले थे । सबको अलग-अलग वार्डमें रखना सम्भव नहीं था, इसलिये ३ मईको अशरफ भी मेरे पास आ गये अब बोलने-चालनेका आराम हो गया ।

१२ मईको खबर मिली, कि चेम्बरलेनकी जगह चर्चिल इंग्लैंडके महामंत्री हुए । १५ मईको पढ़ा, एमरी भारतमन्त्री बने । मैंने कहा—"ख़ूब मिली जोड़ी, एक अन्धा एक कोढ़ी" । अब भारतके बारेमें वे क्या करेंगे, इसे समझनेके लिए ज़्यादा मत्थापच्चीकी ज़रूरत नहीं थी ।

धीरे-धीरे विनोद, विश्वनाथ माथुर, सुनील आदि दूसरे कितने तरुण आगये । हमारी जमात बढ़ी, और जमातके जीवनका हमें आनन्द मालूम होने लगा । गर्मी बहुत थी । रातको घरके भीतर सोनेमें बड़ी तकलीफ़ होती, यद्यपि हम लोगोंको मसहरी मिली थी, इसलिए मच्छरोंका भय नहीं था । बहुत लिखा-पढ़ीके बाद ४ जूनसे बाहर आसमानके नीचे सोनेकी इजाज़त मिली । हम लोगोंके खाना पकाने और दूसरे कामोंकेलिए साधारण क़ैदी थे । हम रोज़-रोज़ तो उन्हें अपना खाना नहीं खिला सकते थे, लेकिन हर हफ़्ते एक दावत हो जाती । दावतमें मालपुआ, पुलाव या गोश्त और कितनी दूसरी चीजें बनतीं और उस दिन राजनीतिक बन्दी

और वार्डके साधारण बन्दी सभी एक साथ बैठकर खाना खाते। भंगियोंके साथ खाना खानेमें कुछ एतराज़ होता, किंतु हम लोगोंमेंसे कुछ उनके साथ बैठ जाते थे।

१४ जूनको सुनीलने बंगालमें पुलीस किस तरह राजनीतिक तरुणोंकी यातना करती थी इसकी बात सुनाई। सुननेसे ही रोंगटें खड़े हो जाते। उँगलियोंमें सुई चुभाई जाती। तीस-तीस वोल्ट ताक़तकी बिजली बदनमें लगा दी जाती। हाथोंपर चारपाईके पावे रखकर आदमी उसपर बैठ जाते। लात-घूसा-थप्पड़का तो कोई ठिकाना नहीं और गालियाँ गन्दीसे गन्दी। आश्चर्य होता था, कि क्या यह किसी सभ्य राजकी बात हो रही है।

इधर सुपरिन्टेन्डेन्टके बर्त्तावसे तंग आकर हमने उनका बायकाट कर दिया था। जब वह आते तो कोई उनसे न बोलता न चारपाई से उठता। सुपरिन्टेन्डेन्टने डिप्टी-कमिश्नरसे शिकायत की। हम लोगोंने भी उनके अभद्र बर्त्तावके बारेमें लिख-कर भेज दिया। जाँच करनेकेलिए डिप्टी-कमिश्नर आये। उन्होंने मुझे पहचान लिया। जब वह आई० सी० एस्०केलिए लन्दन गये हुए थे, तब मैं वहीं था। और उन्होंने गावर-स्ट्रीटमें मुलाक़ातका स्मरण दिलाया। मुझे आश्चर्य हुआ कि आठ ही वर्षमें उनके सारे बाल सफेद कैसे हो गए। ख़ैर, जाँचसे हमें क्या आशा हो सकती थी? जो हमें दुश्मन समझता हो, वही न्यायाधीश बन जाय, तो न्यायकी क्या आशा हो सकती है?

२४ जूनको पता लगा, कि फ़्रांसने हिटलरके सामने हथियार रख दिया। यद्यपि हम ब्रिटिश-साम्राज्यवादके सख़्त विरोधी थे, लेकिन जर्मनीकी अन्तिम विजयको कभी वांछनीय नहीं समझते थे।

मैंने १९२३-२५के हज़ारीबाग़ जेलको देखा था। उस वक़्त जेलमें चीज़ोंकी लूट मची हुई थी। अब भी वही देख रहा था। बड़े जमादार थे फ़ौजके आदमी सीधेसादे, लेकिन समय पड़नेपर कड़े भी। एक दिन देखा कि सारे कटहल टूटकर चले गये। मैंने कहा—"जमादार साहेब! कुछ फलोंको रखा होता"। जवाब मिला—"क्या रखता, सब तो तोड़कर बँगलेपर चले जाते हैं, और कहाँ-कहाँ सौगात भेजी जाती है। मैंने सोचा था कि एक दिन क़ैदियोंको खूब तरकारी खिला दें।" आम, कटहल, साग, भाजी, मांस, दूध, दही सभी चीज़ोंकेलिए यही बात थी? नीचेसे ऊपर तक सारा जेल-विभाग एक ही रंगमें रँगा हुआ था। मैंने 'जीवनयात्रा'के कामको तो एक हद तक पहुँचाकर छोड़ दिया। साथी आ गये थे, इसलिए कभी बेडमिंटन भी खेलता, कैरममें माथुर और रतनकी तरह जादूकी अँगुली तो नहीं रखता था,

लेकिन मध्यम दर्जेका खिलाड़ी था। शामके खानेके बाद ताशमें भी शामिल हो जाता, लेकिन ब्रिजसे सख्त घृणा थी। वैसे जितने ज़्यादासे ज़्यादा ताशके खेल हो सकते थे, मैं उनको सीखता था।

सोवियत्ने फिनलैंडकी तरफ़ अपनेको मज़बूत कर लिया था। बाल्तिक-तटके तीनों राज्य--एस्तोनियाँ, लत्विया, लिथुवानियाँ--सोवियत् संघमें शामिल हो चुके थे। पोलैंड और रूमानियाँके दबाये हुए अपने हिस्सेको भी सोवियत्ने लौटा लिया था। इस तरह पच्छिममें सोवियत्ने अपनी स्थितिको काफ़ी मज़बूत कर लिया था। लेकिन जापान अपनेको तीसमार खाँ समझता था। ११ जूलाईके अख़बारमें पढ़ा, कि मंचूरियाकी सीमापर जापानियोंने सोवियत्से छेड़-छाड़ शुरू की। अगले दिन ख़बर मिली, कि निर्बलकी बहू समझकर जापान बाह्य-मंगोलियाके भीतर घुस गया। नोमन्हानमें मंगोलोंने तीर नहीं मोटर और टैंककी मददसे जापानका मुक़ाबिला किया। जापान बुरी तरह पिटा और उसे सुलह करनेकेलिए नाक रगड़नी पड़ी।

१९ जूलाईको पता लगा, कि इंग्लैंडपर हवाई हमलेकी प्रचंडताके कारण धनी लोग अपने बच्चोंको देशसे बाहर भेज रहे हैं। एक मज़दूर सदस्यने पार्लमेंटमें कहा--"सरकारको रोकना चाहिए, जिसमें कि धनी लोग अपने बच्चोंको बाहर न भेजें।" उसका यह कहना ग़लत था--इंग्लैंड धनियोंकेलिए है, मजूर भी धनियोंके लिए हैं, यही भगवानकी व्यवस्था है। उसके ख़िलाफ़ जाना अच्छा नहीं!

मैं अब सोच रहा था, हिन्दीमें एक ऐसी पुस्तक लिखूँ, जिससे साम्यवादके समझनेमें आसानी हो। उसके समझनेकेलिए साइंस, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि बहुतसे विषयोंका कामचलाऊ ज्ञान होना चाहिए। मैंने इसकेलिए पुस्तकोंका पढ़ना और नोट लेना शुरू किया।

२७ जुलाईको बिहार-गवर्नरके परामर्शमन्त्री मिस्टर रसल जेल देखनेकेलिए आये। मैं महीनों पहिले ही बैरक छोड़कर सेल (तनहाई कोठरी)में चला आया था। यहाँ एकान्तमें पढ़ने-लिखनेका ज़्यादा सुभीता था। और साथियोंसे मिलकर वह मेरे पास भी आये और पूछा कि कुछ कहना है। मैंने कहा--"साथियोंने माँगें पेश की होंगी।" उन्होंने कहा--"हाँ बहुतसी।" मैंने कह दिया--"उनसे अधिक मैं ख़ास तौरसे कुछ नहीं कहना चाहता।"

जेलमें काफ़ी समय था। इसलिए मैं चाहता था, कि तिब्बतसे लाये फ़ोटो-चित्रों-की सहायतासे कुछ पुस्तकोंका सम्पादन करूँ। मैंने इसकेलिए बिहार रिसर्च सोसा-

इटीको लिखा। लेकिन उन्होंने भेजनेसे इनकार कर दिया। मैं अपने इस अनुसन्धानके कार्यको नहीं कर सका, इसकेलिए मुझे अफ़सोस नहीं है, क्योंकि मैंने इस २९ महीनेके समयमें जिन छ पुस्तकों और आठ नाटकोंको लिखा, उनके कारण मैं अपने समयको निरर्थक गया नहीं मानता; लेकिन इसका ज़रूर अफ़सोस हुआ, कि सरकारने मेरे शुद्ध अनुसन्धान सम्बन्धी कार्योंकेलिए भी सुभीता नहीं दिया। अक्तूबरमें लोलाका पहिली जुलाईका लिखा पत्र मिला। इलाहाबादमें गिरफ़्तारी के बाद मैंने जो पत्र भेजा था, वह उसे मिल गया था। उसने लिखा—"यह बहुत चिन्ताजनक बात है, तुम फिर जेलमें चले गये। मैं डर रही हूँ, कि यह तुम्हारे स्वास्थ्यको नुक़सान पहुँचाएगा।" उसने किसी तरह ढूँढ़-ढाँढ़ कर 'अति प्राणप्रिय' कहकर मुझे संस्कृतमें सम्बोधित किया था। डाक्टर श्चेर्वात्स्कीने अपने ग्यारह जूलाईके पत्रमें लिखा था—"मेरे अतिप्रिय राहुल (My dearest Rahula), आखिर मैंने तुम्हारी "सोवियत्‌भूमि" देखी। मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने निहायत दिलचस्पीसे उसे पढ़ा। तुम्हारी किताब बहुत योग्यताके साथ लिखी गई है। बहुत अच्छा होगा, यदि रूसीमें अनुवाद कर दिया जाय।"

१९ नवम्बरको पता लगा कि बिहारके भूतपूर्व मन्त्री लोग सत्याग्रह करने जा रहे हैं। जेलमें नये तरहसे इन्तिज़ाम होने लगा। सरदार अर्जुनसिंह जेलर बनकर आये। सरदार अर्जुनसिंह छपरा से ही मेरे परिचित थे। कुछ दिनों बाद कांग्रेसी नेता जेलमें आने लगे, लेकिन उन्हें हमसे अलग रखा गया। दिसम्बरमें मुझे मलेरिया बुखारने पकड़ा, जो कभी छोड़ देता, और फिर आ जाता था। कुछ-कुछ सुनगुन होने लगी थी, कि हम लोगोंको देवलीमें भेजा जायेगा। २३ दिसम्बरको जेलसे हमें ख़बर दी गई कि २७ राजबन्दियोंमें ग्यारह मोतिहारीमें भेजे जायेंगे। हम देवली कैंपकी तैयारीके बारेमें अख़बारोंमें पढ़ चुके थे और यह भी कि वहाँ कुछ लोग जा चुके हैं; इसलिए विश्वास नहीं था कि हमें मोतिहारी ले जाया जायगा। पहिले यद्यपि ग्यारह ही आदमियोंके जानेकी ख़बर दी गई, लेकिन चलते वक़्त धनराज बाबूको और समेट लिया गया—जेलवाले उनसे बहुत परेशान रहा करते थे।

२—देवली कैम्पमें (१९४१)

२४ दिसम्बरके १ बजेके बाद हम लोगोंने अपने साथियोंसे बिदाई ली। १२ आदमियोंमें कुछके नाम थे—सुनील मुकर्जी, अलीअशरफ़, किशोरी प्रसन्नसिंह, विश्वनाथ माथुर। हमारे साथ एक थानेदार एक हवलदार और आठ हथियारबन्द

सिपाही थे। ६ महीने बाद हम जेलकी चहारदीवारीसे बाहर निकले थे, इसलिए लारीपर चलते वक़्त विस्तृत भूमि, नगर और गाँवोंके घर, स्त्री-बच्चे देखनेमें नई चीज़से मालूम होते थे। हज़ारीबाग़रोड आकर ८ बजे रातको हमें तूफ़ान-एक्सप्रेस मिला। आसनसोलसे डचौढ़ेका एक ख़ाली डिब्बा हमारे लिए रिज़र्व होकर आया था। चढ़नेकी तो बात ही अलग, कोई मुसाफ़िर हमारे डिब्बेके पास आने नहीं पाता था। सोनेकेलिए काफ़ी जगह थी। कानपुरमें ८ बजे सबेरे पहुँचे। यहीं हमने जल-पान किया और ३ बजेके बाद देहली पहुँचे। वहाँ स्टेशनपर ख़ुफ़ियाके कितने ही आदमी पहुँचे हुए थे। कोटाकी गाड़ी ७ बजे बाद मिलनेवाली थी। वहाँ अँधेरा रहते ही हम पहुँच गये थे, और इंस्पेक्टर नेत्रपालसिंह हमारेलिए लॉरी लेकर खड़े थे। चाय पीकर ६ बजे हम रवाना हुए। कोटा शहरसे बाहर ही बाहर निकाला गया। क़िला बग़लमें छूट गया। फिर बूँदी शहर आया। पहाड़ोंपर उसके पुराने महल देखे। सड़क पहाड़ोंके बीचसे थी। आगे गाँव बहुत दूर-दूर तक मिलने लगे। कहीं-कहीं पथरीली ज़मीन थी। भूमिके देखनेसे मालूम होता था, कि बरसातके पानीको बड़ी आसानीसे बड़े-बड़े सरोवरोंमें जमा किया जा सकता है। फिर इस उजाड़ भूमिको लहलहाते खेतों और हरे-भरे बाग़ोंके रूपमें परिणत किया जा सकता है। जहाँ-तहाँ ऊख पेलनेके पत्थरके कोल्हू पड़े हुए थे, वैसे ही जैसे मैंने पन्दहा, कनैलामें देखे थे। देवली क़सबेसे निकलकर १२ बजे हम कैम्पमें पहुँचे। कैम्प काँटेदार तारोंसे दूर तक घिरा हुआ था। पहिले तलाशीख़ानेमें ले गये। हम लोगोंके पास काफ़ी सामान था, और सबको अपने ही मोटरसे उतारकर रखना पड़ा। तलाशी ली गई। सारी किताबें और कापियाँ उन्होंने रख लीं। मेरे पास कोकटी और खादीके कुछ हाफ़पैंट, हाफ़शर्ट थे, साथियोंमेंसे किसी-किसीके पास हैट भी थे, सबको रखवा लिया गया। फिर सामान हमें ख़ुद लारीपर लादना पड़ा और लॉरी २ नम्बर कैम्पके फाटकपर पहुँची। कैम्पके बाहरके काँटोंवाली बाड़को टाटोंसे ढाँक दिया गया था, जिसमें कि लोग बाहर न दीख पड़ें। पहरा सारा गढ़वाली पलटनका था। कैम्पके बाहर थोड़ी-थोड़ी दूरपर कितने ही मचान बँधे हुए थे, जिनपर सिपाही बंदूक लिए पहरा देते थे। फाटक खुला, हम लोगोंने अपना सामान उतारकर भीतर किया। पहिलेसे ही मौजूद साथियोंने सामान ले चलनेमें मदद की। इस कैम्पमें दो बैरकें थीं। हरेक बैरकमें चार कमरे और कोनोंपर चार कोठरिया थीं। बैरक साफ़-सुथरी थी। नीचे पत्थरका फ़र्श, बाहर बरांडा, दीवारें पत्थरकी, किन्तु छत टीनकी थी। गर्मीमें कितनी तकलीफ़ होगी, इसका थोड़ा-थोड़ा

अनुमान होने लगा। हम कई कमरेमें बँट गए। मुझे उस कमरेमें जगह मिली, जिसमें घाटे, अय्यंगार, धन्वंतरि और बाबा करमसिंह धूत थे। हम नई जगह आए थे, किन्तु जहाँ अपने जैसे विचारोंवाले क्रन्तिकारी बंधु मौजूद हों, वहाँ आदमी अजनबी नहीं बनता। हाँ, यह मालूम हुआ कि जहाँ बिहारमें हम लोग पहिले दर्जेके कैदी थे, वहाँ अब दूसरे दर्जेके हैं, अब हमें सिर्फ ६ आना रोज़ खानेको मिलेगा, सप्ताहमें सिर्फ एक चिट्ठी पा सकेंगे और दो लिख सकेंगे।

हमारे कैम्प (नंबर २) में दो बैरकें थीं, जिनमें एकसौके करीब नज़रबन्द रहते थे। दो दर्जनके सिवा बाकी सभी पंजाबी और उनमें भी ज्यादा सिक्ख थे। बाबा करमसिंह धूतकी तरहके दो दर्जन तो ऐसे थे, जिन्होंने बहुत वर्ष अमेरिका या रूसमें बिताए थे। भोजनकेलिए एक रसोईघर और भोजनशाला थी। टीनसे छाया एक गुसुलखाना भी था। कैम्पमें बिजलीबत्ती और पानीके नलका इन्तिजाम था। पाखाना भी बुरा नहीं था। कैम्पके भीतर ही वोली-बाल खेलनेके दो क्षेत्र थे। पठानलोगोंका भोजनालय अलग था, बाकी ९० के करीब आदमी एक भोजनालयमें खाते थे। रसोई बनानेकेलिए कितने ही पंजाबी कैदी रखे गये थे। पंजाबी खाना हिन्दुस्तानके भोजनोंमें सबसे अधिक पुष्टदायक है और मेरेलिए तो स्वादिष्ट भी। शामके वक़्त रोज़ माँस बनता था, और धन्वन्तरि, घाटे जैसे कुछ ही अभागे थे, जो माँस नहीं खाते थे। दो वक़्त चाय और दो वक़्त भोजन मिलता था। खानेके इन्तिज़ामकेलिए हर हफ़्ते हम लोग एक कमेटी चुनते थे। देवली कैम्पमें पहरा देनेका काम तो पलटनके सिपाहियोंके हाथमें था, बाकी सारा इन्तिज़ाम खुफिया पुलिस करती थी—अस्पतालके कम्पाऊंडर तक खुफियापुलिसके आदमी थे। इसपर भी यहाँ ज्यादातर पंजाब पुलिसवाले थे। पंजाबमें ओडायरके ज़माने (१९१९) से आज तक कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ था। वहाँ अँग्रेज अफसरोंकी वैसी ही तानाशाही थी, और उनकी लाड़ली पुलिस जुल्म करनेमें सबका कान काटती थी। सबेरे १० बजे इन्स्पेक्टर बन्तासिंह हम लोगोंकी हाज़िरी लेने आते, और भीतरी काँटेदार घेरेके बन्द होते ही ९ बजे रातको दुबारा हाजिरी लेते। हाजिरीके वक़्त हमें अपनी चारपाइयोंके पास खड़ा होना पड़ता। देवली कैम्पका बादशाह था एक बूढ़ा फ़ौजी मेजर, जो हमारे सामने ही कर्नल बन गया। उसके नीचे था एक अधगोरा मेकार्डी, बाकी सभी हिन्दुस्तानी थे।

हमारे कमरेमें दस चारपाइयाँ थीं। मेरी बगलमें बाबा करमसिंहकी चारपाई थी। रातको हम अपनी बैरकमें एक दूसरेके कमरेमें जा सकते थे। लेकिन बैरकके

चारों तरफ़ कँटीला तार घिरा हुआ था, जिसका फाटक सवेरे खुलता था, फिर अपने कैम्पकी दोनों बैरकोंके आदमी मिलने-जुलनेकेलिए स्वतन्त्र हो जाते थे। देवली कैम्पका बड़ा डाक्टर पूरा गधा था। उससे मेडिकल साइंससे क्या वास्ता? हाँ, वह खुफ़ियाका काम अच्छा कर सकता था और लोगोंकी तलाशी लेनेमें भी अपनी बेइज्जती नहीं समझता था। छोटा डाक्टर बड़ा भलामानुष था। मैं तो हजारी-बाग़में ही मलेरियाके चंगुलमें फँस गया था और वह मेरे साथ यहाँ तक आया था। बल्कि कहना चाहिए वहाँसे यहाँ कुछ ज्यादा ही था। यहाँ आकर मुझे फिर बुख़ार आने लगा। ३ जनवरीको मुझे अस्पताल ले गये। अस्पताल काफ़ी दूर था। चाहे आपको १०४ डिग्रीका बुखार हो, यदि बेहोश न हों, तो अपनी रजाई अपना सामान सिरपर लादकर जाना पड़ता था। बीमार अस्पतालमें पहुँच जाता, लेकिन पथ्यका प्रबन्ध तीन दिन बाद होता—तीन दिन तक उसे अपने कैम्पके रसोईखानेसे खाना मँगाना पड़ता। रोगीके प्राणसे ज्यादा हिसाब-किताबका ख्याल ज़रूरी समझा जाता था। हवलदार आफिसको खबर देता। आफिस आगेसे कैम्पमें खर्च न भेजनेकी बात को दर्ज करता। फिर अस्पतालके हिसाबमें लिखता, ठेकेदारको सूचित करता, और इसके साथ साथ कितने अफ़-सरोंके दस्तख़त होते, तब कहीं जाकर दूध या कोई चीज मिलती। सन्निपात या निमोनियामें खानेकी कोई जरूरत नहीं, उससे थोड़ा कमकी बीमारी हो, तो कैम्पकी रोटी दालको खाना पड़ता, चाहे उससे दूसरे दिन सन्निपात ही हो जाय। डाक्टरको कोई पर्वाह नहीं। अस्पतालको लोग कालापानी कहते थे। बीमार बीमारीसे भी पहिले वहाँसे भागना चाहता था। छोटा डाक्टर कभी-कभी आता था, लेकिन जान पड़ता था, कि उसे हिदायत है कि हम जानवरोंपर कमसे कम खर्च किया जाय। मैं मुश्किलसे वहाँ दो रात रहा और तीसरी रात बैरकमें लौट आया। देवली कैम्पमें चार-पाँच पार्टियोंके राजबन्दी थे, लेकिन सबसे ज्यादा कम्यूनिस्ट थे। वहाँ थे, मदरासके घाटे और अय्यङ्गर, बम्बईके डाँगे, रणदिवे, मिरजकर, बाटली-वाला, पंजाबके सोहनसिंह जोश, बाबा सोहन सिंह भकना, बाबा बसाखा सिंह, वेदी, सागर, धन्वंन्तरि, युक्तप्रान्तके डाक्टर अहमद, भारद्वाज, अजयघोष, डाक्टर अशरफ़, हर्षदेव, युसुफ़, महमूदुज़्ज़फ़र, और बिहारके एक दर्जन हम लोग। इनके अलावा कुछ सीमाप्रान्तके पठान भी थे। लेकिन बेचारोंको राजनीतिसे कोई मतलब नहीं था। पंजाबपुलिसने एक पेशावरी डकैत तकको भी रिश्वत लेकर राजबन्दी बनाकर भेज दिया था।

जैसा कि मैंने पहिले कहा, हमारे कैम्पमें सबसे अधिक संख्या पंजाबी भाइयोंकी थी। हम लोगोंका दिन बहुत अच्छी तरह कटता था। जाते ही मुझे साथियोंने भारतीयपर लेक्चर देनेकेलिए कहा। महीने भरसे अधिक मैं रोज़ डेढ़ घंटे भारतीय दर्शनपर लेक्चर देता रहा। जहाँ श्रोताओंके ज्ञानका एक ही तल न हो और जहाँ सबकी दिलचस्पी उस विषयमें न हो, वहाँ दर्शन जैसे रूखे विषयपर लेक्चर देना आसान काम नहीं है। लेकिन मैंने किसी तरह अपने कामको निभाया और श्रोताओंकी संख्याको देखकर मालूम हुआ, कि मैं असफल नहीं रहा। इन लेक्चरोंने मुझे "दर्शन-दिग्दर्शन" लिखनेमें बड़ी सहायता की।

संघर्षका सूत्रपात—बिहारने अपने सभी राजबंदियोंको दूसरे दर्जेका बनाके भेजा था और युक्तप्रान्तकी सरकारने सबको पहिले दर्जेका। पंजाबने बहुत थोड़ेसे ऐसेम्बली मेम्बरों और दूसरे लोगोंको पहिले दर्जेमें भेजा था, नहीं तो सभी बाकी दूसरे दर्जेके थे। पहिले दर्जेके राजबन्दी जिस कैम्पमें रहते थे, उसे पहला नंबर कैम्प कहते थे। हम लोगोंके देवली छोड़नेसे थोड़ा पहिले एक तीसरा नंबर कैम्प भी खुल गया था। पहिले कैम्पमें कुछ लोग पढ़-लिख रहे थे, सुपरिन्टेन्डेन्ट वहाँ गया, लोग खड़े नहीं हुए, इसपर साहब आगबगूला हो गया। वैसे पहिलेसे भी राजबंदियोंको अस्पताल, खानेकी चीज़ इत्यादिकी तकलीफ़ें थी, और झगड़ेकी पूरी संभावना थी। लेकिन अब तो मेजर साहब भी व्यक्तिगत तौरसे रुष्ट हो गए। मेजर ने १७ ता० को हुक्म टाँग दिया, कि मीटिंग नहीं करनी होगी, कवायद बंद करना होगा। २५ जनवरीको अजमेरका चीफ़ कमिश्नर आया—हम लोगोंका सबसे बड़ा अफ़सर वही था। लाइफ-ब्वाय साबुनके बारेमें हमने कहा कि हमें चाहे मात्रामें कम हो, किन्तु नहानेकेलिए कोई अच्छा साबुन दिया जाय। उसने जवाब दिया, हम भी यही साबुन लगाते हैं बिहार से हुकम आया कि हमारे कपड़ोंको लौटा दो और यहाँ हमें अभी कपड़ा ही नहीं मिला था। कपड़ोंको लौटाकर हम नंगे रहते!! अस्पतालके जुल्म और बेपरवाहीका तो कोई ठिकाना ही नहीं। मुझे अक्सर बुखार आ जाया करता था और महीनेमें दो-तीन बार अस्पताल जाना पड़ता। २७ मार्चको गया तो डाक्टरने कहा—इंजेक्शन देंगे। और दूधका इंजेक्शन दिया जाने लगा। ५ अप्रैलको बुखार बहुत तेज़ हुआ। डाक्टरको खबर दी गई, लेकिन किसको पर्वाह? सूर्यास्तके समय बुखार १०३ डिग्रीसे ज्यादा हो गया। सिपाहीने कितनी ही बार खबर दी, किन्तु डाक्टर नहीं आए। अब बेहोशी आने लगी। डाक्टरको खबर देना भी मुश्किल काम था, क्योंकि सिपाहियोंको हमसे बात करनेकी सख्त मनाही थी,

दो-चार सिपाहियोंके कैद हो जानेपर वह और डर गये थे। साढ़े ६ बजे बन्तासिंह हाजरी लेने आए, तो उन्हें साथियोंने खूब फटकारा। बन्तासिहने जाकर डाक्टरको भेजा। बड़ा डाक्टर तब भी नहीं आया, छोटा डाक्टर खुद बीमार था, किन्तु वह उठकर आया। दूसरे दिन (६ अप्रैल) मुझे अस्पताल ले गये। अस्पतालमें पहिले हीसे आदमी भरे हुए थे। उस दिन मैं वहाँ रहा। ७ अप्रैलको बड़ा डाक्टर सबेरे आया और उसने मुझे अस्पतालसे जानेका हुकुम सुनाया। मैंने दोपहरको ही जाना चाहा, किन्तु साथ जानेवाला कोई सिपाही नहीं मिला। डेढ़ बजेसे ज्वर चढ़ने लगा, शरीरमें ठंडक और सिहरन होने लगी। बुखार ४ बजे तक १०४ डिग्री पहुँचा। कम्पाउंडरको कहनेपर वह आनेको तैयार नहीं हुआ और कोई लाल-सा पानी भेज दिया। शिर फटा जा रहा था, उसने एक पुड़िया भेज दी। यह था एक सभ्य सरकारका अस्पताली प्रबन्ध। मध्यकालीन बर्बरतासे यहाँ क्या कमी थी? दिखलानेकेलिए अस्पताल और डाक्टर जरूर थे, और खुफ़ियाके आदमियोंको कम्पाउंडर बनाकर रख दिया गया था। रोगियोंको भोजन देते वक़्त पूरा ख्याल रखा जाता, कि दूसरे दर्जेवाले बंदियोंको ६ आने और पहिले दर्जे वालों को १२ आनेसे अधिकका खाना न दिया जाय। ४ बजे कम्पाउंडर आया। ज्वर तेज था। आँखें मुंदी जा रही थीं, शिर फटा जा रहा था। अब अस्पतालवालोंको होश आया। डाक्टरने आकर कहा, इसका मुझे पता नहीं था। हाँ, ज्वर गिरानेका उपाय किया जाने लगा। पहिले ठंडेपानीकी पट्टियाँ शिरपर रखी गईं, फिर शिर भी भिगोया गया। बाल्टीमें पाइप डालकर पानी उड़ेला जाने लगा। बहुत देर बाद बर्फकी थैली आई। तब तक अँधेरा हो चला था, और शायद ज्वर भी उतरने लगा था। उस दिन इतना जोरका बुखार आ चुका था, किंतु एक ही दिन अस्पतालमें रखकर डाक्टरने जानेकी छुट्टी देदी। यह हालत थी, हमारी जानोंकी सरकारको जब कोई पर्वाह नहीं थी, तो इन खुफियावालोंको क्या होती? अस्पतालका कैसा प्रबन्ध था, यह इस उदाहरणसे मालूम हो जायगा।

अधिकारियोंको मालूम हो गया था, कि हम ज्यादा दिनों तक इन अत्याचारोंको बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। हमने अपनी माँगें भी लिख भेजी थीं। १४ अप्रैलको पता लगा कि मेजर हमारी माँगोंके बारेमें बातचीत करनेकेलिए दिल्ली गया हुआ है। यह भी अफ़वाह उड़ रही थी, कि हम लोग अपने प्रान्तोंमें भेज दिए जायेंगे, और इस कैम्पमें इतालियन युद्ध बंदी आएँगे। देवली ऐसी गरम और मलेरियासे भरी जगह में अंग्रेज शत्रुबन्दियोंको कैसे ला सकते थे? यदि लाते तो

अंग्रेजबन्दियोंके साथ क्या इतालीमें वैसा ही वर्ताव नहीं किया जाता? लेकिन प्रान्त भेजने आदिकी सब बात गलत निकली, जब कि १७ अप्रैलको डाँगे, रणदिवे, और बाटलीवालाको कैम्पसे निकालकर किसी अज्ञात जगहमें भेज दिया गया। २६ अप्रैलको राजेन्द्रसिंह और बाबा भगवानसिंह की हालत बड़ी खराब हो गई। राजेन्द्रसिंहको १०५ डिग्री ज्वर था, पाखानेसे खून आने लगा था, २० कै हुई। वह बेहोश हो गये और हालत अबतर थी। १२ बजे डाक्टरको खबर दी गई। बुलानेकी कितनी कोशिश की गई, लेकिन वह तीन बजेसे पहिले नहीं आया—राजबन्दियोंकी जानकी उसे पर्वाह नहीं थी। वैसे तो दुनियामें सबसे नीच हृदय ये अंग्रेजी सरकारके खुफिया-अफसर कैम्प के प्रबन्धक थे, लेकिन बड़ा डाक्टर तो बिल्कुल ही पत्थर था। हम लोग कितने दिनों तक बर्दाश्त करते। जेलवालोंको भी मालूम हो गया था। उन्होंने धमकी देनी शुरू की—जो भूख हड़ताल की, तो मुकदमा चलाया जायगा। कैसी बच्चोंकी सी बात थी। बिना मुकदमेके ही हम लोग अनिश्चित कालकेलिए बन्द थे—यदि उसमें दो एक साल निश्चित हो जाते, तो कौनसी आफ़त आ जाती? हमारे जेलकी सीमा कहाँ थी, कि सजा देकर उसे दो कदम और आगे बढ़ाया जाता। हाँ, सजा होनेपर एक फायदा तुरन्त होता, कि हमें देवलीसे निकालकर किसी दूसरी जगह रखना पड़ता। इस वक्त देवलीका टेम्परेचर ११६ डिग्री रहता था।

२७ अप्रैलको हमारी माँगोंके बारेमें जाँच करनेकेलिए चीफ़-कमिश्नर (अजमेर) आया। दोनों कैम्पोंके प्रतिनिधि बुलाए गये। उसने कहा कि आपकी माँगोंके बारेमें सरकार विचार कर रही है, भूखहड़ताल न करें। जूतेके बारेमें पूछनेपर बतलाया, इसे तो मदरास हाईकोर्टके जज भी गैरजरूरी समझते हैं।

यद्यपि हमारी बैरकोंकी छतवाली टीनके ऊपर खपड़ैल भी पड़ी थी। लेकिन देवलीमें ११६ और १२० डिग्री गर्मी थी। सबेरेके दो-तीन घंटे छोड़कर सारे दिन और कुछ रात तक भट्ठेसे निकलती हवाकी तरह की लू चलती थी। २७ अप्रेलको इसकी रोक-थाम केलिए पैसे-पैसेवाले एक एक पंखे दिए गये, जिनमें कुछ तो उसी दिन खराब हो गये। कैम्पके किनारेवाले मचानोंके सन्तरी ६ बजेके बाद सारी रात जोरसे बोला करते थे—"नम्बर तिरी आलिज़हेल—जिसका मतलब था "नम्बर थिरी आल् इज़ वेल। "सब अच्छा है" की जगह "सब नरक है" कहना देवली-कैम्पकी वस्तुस्थितिको बतलाता था, इसमें संदेह नहीं। मैंने डायरीमें लिखा था—"कमरेके भीतर तो रात-दिन दोज़खकी आग धक-धक कर रही है।" घरके भीतर तो सबेरे भी आँच निक-

लती थी। अगले दिन मैंने स्वप्न देखा—चूनेका भट्टा तपाकर खाली कर दिया गया, और हम उसीके भीतर बैठे हैं। फिर देखा कि मैं सेवारवाली नदीमें तैर रहा हूँ।

३० अप्रैलको कैम्पके तख़्तेपर नोटिस टँग गया, कि हमें दो की जगह चार कुर्त्ते, चार पाजामे या धोतियाँ, दो कच्छे, दो बनियान और एक जोड़ा देशी जूता सालमें मिला करेगा। ओढ़नेकेलिए दो-दो चादरें भी मिलेंगी और माँगें तो करीब-करीब पूरी हो गईं। लेकिन भोजन तथा पहिला दूसरा दर्जा हटाकर सिर्फ एक दर्जा रखनेकी माँग के बारेमें कुछ नहीं हुआ। हम लोगोंने मिलकर तै किया कि अगले सप्ताह भूख-हड़ताल की जाय।

जेलके राजनीतिक बन्दी कांग्रेस-सरकार या गोरी सरकार दोनोंसे राजबन्दियोंमें वर्गभेद—पहिला, दूसरा, तीसरा दर्जा—उठा देनेकी माँग बराबर करते रहे। और कितनी ही माँगें मंजूर हुईं, लेकिन वर्गभेद उठानेकी बात सरकारने कभी नहीं माना। मैंने किसान राजबन्दियोंमें वर्गभेद हटानेकी माँग पेश की थी, लेकिन कांग्रेसी सरकार उसमें टससे मस नहीं हुई। ऊपरसे कहा जाता, यह खर्चेका सवाल है, या साधारण या ग़रीब घरोंसे आए बन्दियोंको खाने-पीनेके इतने आरामके साथ रखना उन्हें जेल आनेकेलिए निमन्त्रण देना है। लेकिन कोई भी मानवपुत्र अपनी स्वतन्त्रताको इतनी सस्ती कब बेच सकता है? असल बात यह है, कि सरकारें स्वयं वर्गभेदपर आधारित हैं, वह अपने राजके किसी कोनेमें भी खान-पानकी समानता स्थापित होने देना नहीं चाहती। ६ मईको नोटिस लगा कि दूसरे दर्जेके बन्दियोंको ६ आनेकी जगह ९ आना खानेको मिला करेगा। अभी भी हमारी कितनी ही शिकायतें थीं, लेकिन हमने कुछ दिनों तक भूख हड़तालको स्थगित रखा। १३ तारीखको पता लगा, कि मेजर हमारी माँगोंके बारेमें बातचीत करनेकेलिए चीफ-कमिश्नरके पास आबू गया है। १६ मईको मालूम हुआ कि रविवार छोड़कर बाकी दिन दोनों कैम्पोंके राजबन्दी सबेरे एक घंटे (६ से ७ बजे) और शामको डेढ़ घंटे (साढ़ेपाँच बजेसे ७ बजे) तक मिल सकते हैं।

२८ मईको अस्पतालमें युक्तप्रान्तके राजबन्दी बेनीमाधवरायके साथ एक दूसरा राजबन्दी अस्पताल गया। अस्पतालमें नर्सका काम करनेवाले आदमीने बेनीमाधवके साथी को अपमानित किया। उसने भी इसका जवाब दिया, इसकेलिए उसे एकान्त-वासकी सजा मिली। हमारे साथियोंने इसका विरोध किया। फिर पता लगा कि अधिकारी उसे पागल बनाकर अलग रखना चाहते हैं। अस्पतालके बीमार साथियोंने जब विरोध किया, तो पचास-साठ सैनिकोंको लेकर मेकार्डी वहाँ पहुँचा।

वह उस तरुणको जबर्दस्ती ले जाना चाहता था। इसपर अस्पतालके बीमार साथी रायको घेरकर बैठ गये। जबर्दस्ती की जाती, तो जरूर एकाधकी जान जाती। खैर, मेकार्डी वहाँसे हट गया। सिविलसर्जनको अजमेर तार दिया गया, वह आया। वह रायको अजमेर ले गया। राजेन्द्रकी नब्ज देखी। सुनील और एक दूसरा साथी सख्त बीमार थे, लेकिन उसने उनको देखा तक नहीं। हमारी कैम्प-कमेटीने उससे बातचीत करनी चाही, किन्तु उसने बात भी नहीं की। अन्तमें ३० मईको साढ़े ६ बजे रात हमने ४० घंटेकी मियाद देकर अधिकारियोंको अल्टीमेटम दे दिया—यदि बड़ा डाक्टर नहीं हटाया गया और खतरनाक बीमारीवालोंको अजमेर अस्पताल नहीं भेजा गया, तो हम लोग भूख हड़ताल करेंगे। ३१ मईको पता लगा, कि बड़े डाक्टरको बदल देनेकेलिए तारसे हुकुम आया है, यह भी मालूम हुआ, कि मेजर सिविलसर्जनको लेकर रोगियोंको देखने आ रहा है। पहिली जूनको ८ बजे रातको हमारे कैम्पके नेता घाटे और धनवंतरि को बन्तासिंह बुला ले गये। सिविलसर्जन आया हुआ था। सिविलसर्जनने कहा कि सुनील, राजेन्द्रसिंह आदि खतरनाक बीमारीवालोंको कल यहाँसे अजमेर ले जाया जायगा, इसकेलिए अस्पताली मोटर भी आगई है, बड़ा डाक्टर जारहा है, भारत सरकारको तार दे दिया गया, कि किसी दूसरे डाक्टरको भेजें। जब तक वह नहीं आता, तब तक प्रतिसप्ताह मैं (सिविलसर्जन) मरीजोंको देखने यहाँ आऊँगा। यह भी पता लगा कि साथी बेनीमाधव रायको पागल नहीं करार दिया गया, वह अजमेरसे लौट आए हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हम इस शर्तपर बेनीमाधव रायको दिखला सकते हैं, कि आप लोग अपनी भूख-हड़तालको छोड़ दें। रातको हमने मिलकर आपसमें विचार किया, और तै किया कि हमारी दोनों माँगें मान ली गई हैं, इसलिए भूख-हड़ताल करनेकी जरूरत नहीं, लेकिन कम्यूनिस्ट पार्टीके बाहरवाले राजबन्दियोंने कुछ माँगें और भी जोड़ दीं, और भूखहड़ताल जारी रखी, किंतु कुछ दिनों बाद अपने ही मनसे उसे छोड़ देना पड़ा। कम्यूनिस्ट पार्टीवाले एक अनुशासनवद्ध सेनाकी तरह संगठित थे। कोई निर्णय करना होता, तो सब मिलकर उसपर पूरा विचार करते, गर्म-गर्म बहस होती, लेकिन जब एक मर्त्तबे कोई निर्णय हो जाता, तो कोई उसपरसे टससे मस नहीं होता था। उनका आगे बढ़ना भी एक साथ होता था और पीछे लौटना भी एक साथ। देवली-कैम्पमें कम्युनिस्टोंकी संख्या दो तिहाई थी, सिर्फ इसी कारण नहीं, बल्कि उनकी अनुशासन-बद्धताके कारण भी अधिकारी कम्युनिस्टोंकी बातोंकी जल्दी अवहेलना नहीं कर सकते थे। उनमें कोई नेतापनका

भूखा नहीं था। जिसको कैम्प अधिकारियोंसे बात करनेका काम दे दिया जाता, वही उनसे बात करता। लेकिन दूसरी पार्टियोंके बारेमें यही बात नहीं थी, वहाँ हरेक आदमी नेता बनना चाहता था।

सामाजिक जीवन—जैसा कि मैंने पहिले कहा, रसोई-पानीका इन्तिजाम करनेकेलिए हर हफ़्ते हमारी रसोई-कमीटी चुनी जाती थी। खाना-खानेकी चीज़ें ठेकेदारसे खरीदना, पैसोंका हिसाब रखना, खाना बनवाके खिलाना, आदि काम कमीटीके जिम्मे था। उस वक़्त देवलीमें दूध रुपयेका ८ सेर और माँस ४ सेर बिकता था। आटा आदि भी हजारीबाग़से सस्ता था, किन्तु साग-तरकारी मँहगी और दुर्लभ थी, उसे अजमेरसे मँगाना पड़ता था। हमने अपने कैम्पमें सरसोंका साग बो रखा था, और उससे काफी साग रोज निकल आता था। दूसरी जो चीज़ें अपने पैसेसे मँगानी होती थीं, उनकेलिए हफ़्तेमें एक दिन आर्डर देना पड़ता था, और ठेकेदारका आदमी सोमवारके सोमवार दे जाता था। हजारीबाग़में हमें कपड़ा धुलानेकी बड़ी तक़लीफ थी, लेकिन यहाँ बाहरका धोबी कपड़े ले जाता था और उसमें कुछ दिक्कत नहीं होती थी। हजारीबाग़में हमें रोज़ १२ सिगरेट मिलते थे। मैंने वहाँ थोड़ा-थोड़ा सिगरेट पीना सीखा था। यहाँ आकर देखा कि अय्यङ्गारने एक फ़र्शी और शेरगुलने एक पठानी हुक्का रखा है। मैं हुक्का-क्लबका भी मेम्बर बन गया था, किन्तु मेरी सर-गरमी ज्यादा दिन तक नहीं रही। मैंने अपने दोस्तोंसे बनारस, कलकत्ता और कहाँ-कहाँसे अच्छे तम्बाकू मँगाए थे; लेकिन, तीन चार महीने बाद हुक्केसे भी तबियत ऊब गई, और मैंने उसे छोड़ दिया। आरम्भिक ५,६ महीनोंमें उस बड़ी जमातके भीतर लिखनेकेलिए एकाग्रता नहीं मिलती थी, इसलिए गप-शप, हँसी-मज़ाक़, नाटक-प्रहसनमें बहुतसा समय जाता था। हमारे साथी बराबर रोज ३,४ घण्टा क्लास लेते थे, जिसमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, साम्यवाद तथा पार्टी-संबन्धी विषयोंपर व्याख्यान होते थे। गर्मियोंके बाद लोग पढ़नेमें बहुत समय देने लगे।

कमेटियोंके बारेमें कितने ही कार्टून भी निकले। कार्टूनोंकेलिए बिचार मैं देता, और खींचता था कोई और। रसोईघरकी दीवारपर जब कार्टून लग जाता, तो लोग उसे बड़े चावसे देखते थे। एक कमेटीमें बाबा शेरसिंह और ठाकुर बरियामसिंह जैसे तीन-तीन मनवाले मोटे-मोटे साथी आ गए, और उसीमें दुबले-पतले अशरफ़ भी थे। कार्टूनमें दो मोटी तोंदवाले बैठा दिए गये, और उनके सामने थालमें खूब भरके खाना रख दिया गया। अशरफ़को तीब

वर्षका बच्चा बना कर नंगा ही सामने बैठा दिया गया। भाव यह दिखलाया गया था, कि बच्चे बेचारेको रोटीका टुकड़ा भी नहीं मिल रहा है, वह रो रहा है और दो भोजनभट्ट अपने काममें लगे हुए हैं। बाबा शेरसिंह मौजी जीव थे। उन्होंने १९१४-१५ वाले लाहौर राजविद्रोहमें आजन्म कालापानीकी सजा पाई थी, और ज़िन्दगीका बहुत हिस्सा उन्होंने कालापानी और दूसरी जगहोंमें काटा था। वह कार्टून देखकर बहुत हँसे। ठाकुर बरियामसिंहको वह मीठा-कड़वा लगा, लेकिन वह मेरे घनिष्ट मित्र थे। वह मुझसे शिकायत करने लगे। मैंने कहा—ठाकुर साहब, आप अभी नौजवान हैं, वजन कम कीजिये और कनस्तरका घी छोड़िए। ठाकुर साहबके पास हर महीने दो महीनेमें एक पीपा कनस्तर घी घरसे चला आता था। उन्होंने कहा—अच्छा मैं घी छोड़ देता हूँ। मैंने कैम्पभरमें सूचना दे दी, कि ठाकुर बरियामसिंहने घी छोड़ दिया। ठाकुर साहबने बचे घीको भी शायद पकवान बनाकर खिला दिया। लेकिन ठाकुर साहबकी प्रतिज्ञा ज्यादा दिनतक नहीं चली। कहने लगे—लड़कपनसे घी खा आया हूँ, उसके बिना खाना फीका-फीका लगता है।

जब हम लोगोंके भोजनकेलिए ६ आनेकी जगह ८ आना मिलने लगा, तब सलाह होने लगी कि रसोईकेलिए कितने पैसे दिये जायें और कितने दूध-दाधके लिए। पंजाबी के यहाँ दूध-दाधका ही पलड़ा हमेशा भारी होता है। निश्चय हुआ कि पाँच आना दूध-दाधकेलिए दिया जाय, और तीन आना रसोईखानेकेलिए। हमने बहुतेरा ज़ोर लगाया कि रसोईखानेमें एक-दो आने और बढ़ा दिये जायें, लेकिन वहाँ कौन सुननेवाला था? था भी ठीक, हमारे पंजाबी साथी लोटेसे दूधपीनेवाले नहीं थे, वह बाल्टियोंसे दूध पिया करते थे। पाँच आनेमें सिर्फ ढाईसेर दूध मिलता था, उससे उनका क्या बनता? मैं कहा करता—पंजाबीके सामने बाल्टीमें चूना घोलकर भी रख दिया जाय, तो वह एक बार मुँह लगाए बिना नहीं रहेगा। अपनी बात यह थी, कि मुझे पाँच आना भी खर्च करना मुश्किल होता। खाली दूध एक प्याला भी पीना मेरेलिए मुश्किल है। घीसे भी मैं भरसक बचना चाहता, हाँ माँसमें मेरी दिलचस्पी ज़रूर रहती, और वह तो रसोईखानेमें रोज़ मिलता ही था।

सब लोगोंने मिलकर अपनी अपनी क्लब खोली थी। हरनामसिंह "चमक", मैं और मक्खनसिंह तरसिक्काने फल-क्लब बनाई। हम लोग खानेकेलिए मौसमी फल मँगाया करते। तरसिक्का अक्सर बीमार हो जाया करता, और उसे अस्पताल जाना पड़ता। मैंने उसका नाम बीमार रख दिया था—पंजाबी उच्चारण बमार। धीरे-धीरे सारे कैम्पके लोगोंने उसे "बमार" कहना शुरू किया। पहिले तो उसे बुरा

नहीं लगा, लेकिन पीछे जब सब जगह लोग "बमार-बमार" कहने लगे, तो उसे बुरा लगने लगा। उसने मुझसे कहा—अब मुझे बमार न कहा करें। मैंने कहा—एवमस्तु। मैंने दूसरे साथियोंको भी कहा कि अब अपने लोग तरसिक्काको "बमार" न कहें, लेकिन वहाँ कौन माननेवाला था? वह कहने लगे—आप भले ही "बमार" न कहें, लेकिन हम लोग तो "बमार" कहेंगे। सबसे बड़ी क्लब थी, पंडित रामकिशन, सुनील, माथुर, अशरफ़ आदि की। पीछे मैंने इस क्लबका नाम रख दिया था "कामचोर क्लब", जिस नामसे उसकी बड़ी ख्याति हुई। पंडित रामकिशन और शेहरगुल एक कोनेकी कोठरीमें रहते। वहाँ हम लोग दूध जमाकर रखते थे। दरवाजा खोलकर भेड़ना तो हम हिन्दुस्तानियोंकी आदत नहीं है। ३ दिन तक बिल्ला आकर दूध पी जाता था। अब उन्होंने दूध रखना बन्द कर दिया। एक दिन मैंने रात को देखा कि बिल्ला कोठरीके दरवाजेपर चक्कर लगा रहा है। मैंने साथियोंसे कहा—पंडित रामकिशनने पहरा देनेकेलिए एक बिल्ला रखा है। यार लोगोंने भी कहना शुरू किया—"पंडतने पहरा देनेकेलिए बिल्ला पाला है।" पंडित रामकिशनकी क्लबमें चाय खूब चलती थी। लोग चाय पी-पीकर अपने बर्तनोंको वहीं छोड़ देते, फिर जब ४ बजे चाय पीनेका वक्त आता, तो बर्तनोंके धोनेकी फिकर पड़ती। उसमें ज्यादा आदमी ऐसे थे, जो हाथके कामको पसन्द नहीं करते थे। फिर "कामचोरक्लब" नाम मुँहसे निकलते ही क्लब क्यों न सारे कैम्पमें मशहूर हो जाती? बाबा करमसिंह धूत, कामरेड किशोरी प्रसन्नसिंह, और दयानन्दका भाकी एक क्लब थी, जिसका नाम मैंने "छोलाबताऊँ-क्लब" रख दिया था। इस क्लबमें शामका भिगोया कच्चा छोला (चना) नियमसे रोज़ सबेरे खाया जाता, बताऊँ (बैंगन) जोड़ मिलानेकेलिए जोड़ दिया गया था, इस प्रकार इसका नाम था—"छोलाबताऊँ क्लब"। इसपर दयानन्द घीका पीपा (कनस्तर) दिखलाते फिरते, कि हमारे यहाँ घी भी खाया जाता है। मैंने कहा—"हाँ, इनके यहाँ घी भी खाया जाता है। एक चम्मचमें तीन आदमी खाते हैं, उसपर भी पीपेमें घी बढ़ता जाता है।" लोगोंने पूछा—"घी बढ़ता कैसे जाता है?" मैंने कहा—"इनके पीपेमें घीका चश्मा फूट निकला है"। साथियोंने हल्ला किया—"छोलाबताऊँ क्लबमें पीपेके भीतर घीका चश्मा फूट निकला है।"

बाबा करमसिंह धूत जवानीमें ही मज़दूरी करनेकेलिए अमेरिका चले गये थे, वहाँ बहुत सालों तक रहे। फिर सोवियत् रूस गये, और वहाँ भी कितने साल बिताए। हिन्दुस्तान आनेपर उन्हें कई साल तक जेलके भीतर रखा गया, अब फिर वह जेलके

भीतर थे। उनकी खाट मेरी बगलमें थी। हम दोनों पड़ोसी थे। उनकी उमर ७० वर्ष के करीब थी, केश, दाढ़ी सब सनकी तरह सफ़ेद, लेकिन इस अवस्थामें भी वह ४ बजे रात ही को उठकर खूब दंड-कसरत करते। दूसरोंको भी दंड-कसरत करने केलिए बहुत समझाया करते। व्यायामका उनके शरीरपर साफ़ सुप्रभाव दिखाई पड़ता था, लेकिन हम लोग उतनी मेहनतके आदी नहीं थे। माथुर और रछिपाल-सिंह आदिने कबूल तो कर लिया, लेकिन बाबा घड़ीकी सुईकी तरह ४ बजे उठ जाते और जवानोंको कसरत करनेकेलिए उठाते थे। हफ़्ते-दस दिन तक तो किसी तरह कसरत होती रही, फिर लोग बहाना करने लगे और बाबा अकेलेके अकेले रह गये। बाबा धूत बहुत साफ़-सुथरे रहते थे। धोबी कपड़े फाड़ देगा, इसके खयालसे वह कपड़े भी खुद धो लिया करते। मुल्तान-जेलमें जब वह राजबन्दी थे, उस वक्त उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर रंगीन खेस (पलंगकी चादर) बनवाई थी। आठ नौ वर्ष पहिले वह खेस बनी थी, और आज भी देखनेपर मालूम होता था, कि कल ही बनकर आई है। ऐसी सुन्दर खेसको रोज़-रोज़ बिछाना तो कोई पसन्द नहीं करता। बाबा चीज़ोंको बहुत जुगाकर रखा करते थे। मैंने कहा—"बाबा! बहुतसे लोगोंकी नज़र इस खेसपर गड़ी हुई है।" बाबाने उसे बिस्तरेके नीचेसे निकालकर बक्स में बंद कर दिया। अब एक षड्यंत्र रचा गया। मैंने हलवा बनवाया, "फल-क्लबकी" ओरसे एक दर्जन आदमियोंकी दावत हुई। दावत खानेवालोंमें कुछको रहस्य मालूम था, और कुछ को नहीं। मैंने मेहमानोंको कह दिया था—भाई आज चंगे-चंगे लीड़े (कपड़े) पहनके आना। नैनासिंहने खूब बड़ासा सफेद पग्गड़ बाधा था। योगिन्दर सिंहने रेशमी साफा बाँधा था। "चमक", मैं और "बमार" तो खैर अपने क्लबके आदमी थे। चमककी कोठरी ही हमारा क्लबघर था। कोठरीमें गद्दा बिछाया गया। बाबा धूतकी खेसको बक्सके भीतरसे निकाला गया, और उसे गद्दे पर बिछा दिया गया। ऊपरसे एक और चद्दर बिछा दी गई। मेहमान हलवा खाने लगे, बाबा धूत पहिले तो मानते नहीं थे, लेकिन खैर किसी तरह से मान गए। वह भी हलुवा खा रहे थे। इसी समय समयसे पहिले ही किसीने चद्दरको खेस परसे हटा दिया, बाबा धूतने देख लिया। उनकी त्यौरी बदल गई, और उतने ही में दक्षयज्ञ-विध्वंक्ष-लीला हो गई, नैनासिंह अलग भागे, जोगिन्दरसिंह अलग। बाबा मुझपर बहुत नाराज़ हुए, लेकिन हम दोनों तो रातको अगल-बग़ल सोनेवाले थे। बाबाने दो-तीन दिन गंभीर मुद्रा धारण की, फिर दिल तो उनका नरम था ही, नरम पड़ गये। यद्यपि खेसकाण्डका सरगना मैं था, लेकिन मैंने बहुत मासूम

बनकर बाबाको समझाया—"बाबा! मेरा भी थोड़ा कसूर है, लेकिन उतना क़सूर नहीं है जितना कि आप समझते हैं। देखा नहीं, नैनासिंह कितना बड़ा पग्गड़ बाँधके आया था, और जोगिन्द्रसिंहको क्या कभी कैम्पमें रेशमका साफ़ा बाँधे देखा गया था?" चमकने मेरे हाथ-पैर जोड़ दिए थे, इसलिए मैंने उसका नाम नहीं लिया। बाबाने समझ लिया कि नैनासिंह और जोगेन्द्रसिंह इस षड्यन्त्रके बानी थे।

माथुर और अशरफ़ कामचोरक्लबसे अलग हो गए थे। उन्होंने तै किया था, कि दोनों वक़्त दूध पी लिया करेंगे। दोनों ही बहुत पढ़नेवाले थे। बेचारे दूधको लाकर जँगलेपर रख देते, कि ज़रा ठंडा हो जाय तो पियेंगे, लेकिन पढ़नेमें इतने लग जाते, कि दूध ख्यालसे उतर जाता, फिर ठंडा हो जानेपर उसे पिये कौन? इसलिए वह आठ-आठ घंटे वैसा ही पड़ा रहता। मैंने दोस्तोंको दिखलाकर कहा—हमारे कमरेमें दूधका सिरका बनता है। लोग माथुर-अशरफ़से कहने लगे—"भाई, सिरका तैयार हो जाय, तो हमें भी थोड़ा देना।" कैम्पमें दूधसे सिरका बनानेवालोंकी भी चर्चा काफ़ी होने लगी।

चन्द्रमासिंह बिहारका एक वीर तरुण है, आतंकवादी होते वक़्त उसने अपनी वीरताका अद्भुत परिचय दिया था, और फाँसीसे बाल-बाल बचा था। चन्द्रमाकी सादी अभी-अभी हाजीपुरके पास हुई थी, थोड़े ही दिनों बाद उन्हें पकड़कर हज़ारीबाग भेज दिया गया। जेलमें बिनोदका क्षेत्र बहुत परिमित होता है। ढूँढ़-ढाँढ़कर लोगोंने चन्द्रमाकी बीबीसे भाभीका नाता लगाया। नाम किसीको मालूम नहीं था। मैंने मुनियाँ कह दिया, और वह उसी नामसे मशहूर हो गई। हाजी-पुर में नारंगी, केला, बहुत अच्छे और बहुत ज्यादा पैदा होते हैं। जब सब लोग एक ओरसे मुनियाँ कहने लगे, तो चन्द्रमा विरोध क्यों न करते? मुनियाँके बाद हाजीपुर और हाजीपुरके बाद नारंगी कहनेसे ही चन्द्रमा भाई नाराज होने लगे—दूसरे बेवकूफ़ोंकी तरह दिलसे नहीं, कुछ ऊपर ही ऊपरसे। एक बार चन्द्रमा-का मंत्रिमंडल रसोईखाने के प्रबंधके लिए चुना गया। मंत्रिमंडलके कुछ लोग काममें ढिलाई कर रहे थे, चंद्रमाके ऊपर काम शायद ज्यादा पड़ा था, इसलिए वह नाराज़ हो गए थे। कार्टून बनाकर दीवार पर चिपका दिया गया। मंत्रिमंडलके और आदमियोंको किस तरह बनाया गया था, यह मुझे याद नहीं। चन्द्रमाको एक बैलगाड़ीपर बैठाया गया था, जिसके ऊपर कुम्हड़ा, लौकी आदि तरकारियाँ रखी हुई थीं। चन्द्रमा मानो गुस्सेमें रसोईघर छोड़कर चले जा रहे थे। उनके सामने एक नारंगी का वृक्ष था, जिस पर दो नारंगियाँ लटक रही थीं। चन्द्रमा बेचारेको बहुत

बुरा लगा, लेकिन सारे कैम्पने जा-जाकर कार्टूनको देखा। और जब खबर पहिले नम्बर वाले कैम्पमें पहुँची तो वहाँसे भी उसके देखनेकी माँग आई। हाजीपुर और नारंगी सारे कैम्पमें मशहूर हो गए।

खेलके मैदानमें जहाँ हम लोग शाम सबेरे घूमने और खेल खेलने जाते थे, दोनों कैम्पोंके साथी इकट्ठा होते। वहाँ कभी-कभी कवि-सम्मेलन भी होता। यह नारंगीवाले कार्टूनसे पहिलेकी बात है। उस दिन कविता-पाठ होनेवाला था। जब हम उधर जाने लगे, उसी वक्त हमारी फलक्लबका केला आ गया। मैंने केला ले लिया। रास्तेमें खाने लगा, तो चन्द्रमा भाईने माँगा। उनको भी एक या दो केले दे दिए। शायद खानेका वक्त नहीं रह गया था, उन्होंने केलेको जेबमें रख लिया। नरेन्द्र अपनी कविता पढ़ रहे थे, उसमें कोई उपमा दी, या ऐसे ही "हाजीपुरकी नारंगी" कह दिया। चन्द्रमाने सोचा कि यहाँ चुप रहना बड़ी कायरता होगी, और जेबसे केला निकालकर दिखाते हुए बोले—"हाजीपुरमें केला भी होता है"। अभी तक सभी पहिले कैम्पवाले लोगोंको नारंगी और हाजीपुरका रहस्य नहीं मालूम था। सबको भारी जिज्ञासा हो उठी, और हमारे कैम्पवालोंने उनकी जिज्ञासाको पूरा करनेमें पूरी सहायता की। चन्द्रमा भाईको लोगोंने समझाया—और उन्होंने खुद देखा कि अभी तो नारंगीवाला सलाम थोड़े ही लोग करते थे, लेकिन अब तो सारे कैम्पमें लोग उसीकी चर्चा कर रहे हैं। न जाने किसीने समझाया, या चन्द्रमाने खुद ही समझ मान बैठे—राहुलजीने जानबूझकर मुझे वह केला उस दिन दिया था, कि जिसमें मैं उत्तेजित होकर भरी सभामें केला लेकर बोल उठूँ। यह बात बिल्कुल गलत थी। मैं इतना जरूर जानता था कि नरेन्द्र कविता पढ़ेंगे, और उसमें नारंगीका भी नाम आ सकता है। लेकिन उस दिन उस वक्त केला संयोगसे आ गया था। मैंने चन्द्रमाके आग्रह करने पर केला दिया था। खाना न खाना उनका काम था। हम लोगोंमें मज़ाक होता था, लेकिन स्नेह और मर्यादाके साथ, इसलिए कटुता आने नहीं पाती थी।

हज़ारीबाग आनेपर एक दिन और अच्छा मजाक रहा। चन्द्रशेखरका नया-नया ब्याह हुआ था। उसके जैसे क्रान्तिकारी तरुणकेलिए जेल दूसरी ससुराल होती है। शकुन्तला (चन्द्रशेखरकी बीबी) उस वक्त हिन्दू यूनिवर्सिटीमें शायद बी० ए० में पढ़ रही थीं। तरुणोंको चिट्ठियों द्वारा अपना प्रेम प्रकट करनेका अधिकार है, लेकिन उस वक्त रज़ियाकी तरह शकुन्तलाको भी एम० ए० पास पतिका कम्यूनिष्ट पार्टीका कण्टकाकीर्ण रास्ता अपनाना पसन्द नहीं था। उसके पिता पुराने कांग्रेसी थे, और

न जाने कितनी बार जेल गए आए थे, लेकिन गाँधीजीके रास्तेके अनुसार। कभी ६ महीना बरस दिनकेलिए जेल हो आना उतना बुरा नहीं था, लेकिन कम्यूनिस्टोंके-लिए तो कोई ठिकाना नहीं था, कि कब कौनसी सज़ा हो जाय। उसने भी रज़ियाकी तरह मनसूबा बाँधा था, कि मुझमें और कम्यूनिस्ट पार्टीमें से एकको चुनना होगा। चन्द्रशेखर मुस्करा देते थे और शायद कह देते, कि कम्यूनिस्टपार्टी तुम्हारी सौत नहीं है, मेरी माँ है। पीछे तो शकुन्तला भी पार्टीकी बेटी हो गई। खैर, एक दिन चन्द्रशेखरने एक लम्बा पत्र रातकी चाँदनी और कौन-कौनसी उपमाएँ देकर काव्यमय लिखा था। यार लोगों ने लंबे ख़तको लिखते देख लिया था। चन्द्रशेखर ख़तको अपने हाथसे आफ़िसमें दे आए। किसीने यह कहकर उसे आफ़िससे झटक लिया कि चन्द्रशेखर इसमें कुछ जोड़ना चाहते हैं। रातको नाटक हुआ और उसके अन्तमें माथुरने घोषित किया, कि मैं एक मेस्मरेज़िम्का खेल दिखाऊँगा, और आत्माको बुलवाकर कितनी अजीबसी बातें पूछूँगा। हम लोग बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करने लगे। उसने ओझा-सोखाके मंतर पढ़कर हाथ फेरते हुए एक साथी-को "बेहोश किया"। फिर परदेकी आड़से आत्माने चन्द्रशेखरके सारे पत्रको पढ़ डाला। चन्द्रशेखरको बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन लोगोंका खूब मनोरंजन रहा। चन्द्रशेखरने भी उसमें भाग लिया।

सोवियत्के ऊपर हिटलरका आक्रमण—हफ़्तों पहिले हीसे अख़बारोंमें अफ़-वाह छपने लगी कि हिटलर सोवियत्के ऊपर आक्रमण करना चाहता है। यद्यपि हम समझते थे, कि नात्सीवाद और साम्यवादकी आपसमें मौलिक शत्रुता है और झगड़ा होना असम्भव नहीं है, लेकिन आरम्भमें विश्वास नहीं होता था, कि इंगलैण्ड और उसकी पीठपर अमेरिकाकी शक्तिको तोड़े बिना हिटलर ऐसा करेगा। २० जूनके आनेवाले रेडियोकी बात सुनी कि रुमानियाने सोवियत्से कोई शहर वापिस माँगा है। उस दिन मैंने लिखा था—"यदि खबर सही है, तो इसमें जर्मनीका इशारा हो सकता है।" अख़बारोंने यह भी लिखा कि दो दिन के भीतर सारी जर्मनसेना का संचालन होनेवाला है। इसपर लिखा था—"यह संचालन सोवियत्के सिवा और किसकेलिए हो सकता है? तो क्या जर्मनीने एक ही साथ इंगलैण्ड और सोवि-यत् दोनोंसे भिड़नेका तय कर लिया। चीटींके परसे निकल रहे हैं।" २१ जूनकी खबरोंमें पढ़ा कि जर्मनीने फिनलैण्डमें अपनी सेनाएँ भेजी, और सोवियत्के पश्चिमी सरहदपर जर्मन सेनाएँ डटी हैं। ५ जगहोंपर दोनों सेनाओंमें मुठभेड़ भी हो गई—मुठभेड़की खबर जरूर ग़लत है। २२ जून रविवारकी रातको आकर बन्तासिंहने

रेडियोकी ख़बर सुनाई । आज ३ बजे जर्मन-सेनाओंने सोवियत्‌पर हमला कर दिया। मैंने उसी वक़्त समझ लिया कि फ़ासिस्तवादका साम्यवादपर हमला हो गया। मुझे यह निर्णय करनेमें देर नहीं लगी कि दुनियाके साम्यवादियों और मजूर-किसानोंका कर्तव्य है—साम्यवादकी रक्षाकेलिए हथियार लेकर फ़ासिस्तोंसे लड़ना। अब युद्ध दो पूँजीवादी देशोंके बीच नहीं रहा। दुनियाके छटे अंशसे साम्यवादके ख़तम होनेका मतलब है, सदियोंकेलिए किसान-मजूर-राजके स्वप्नको छोड़ देना । यह बहुत जबर्दस्त घटना थी । सब लोग इसपर गम्भीरतासे विचार करने लगे। मैंने पार्टी-साथियोंसे उसी रात कहा, कि अब युद्धके बारेमें हमारे पुराने भाव नहीं रह सकते, हिटलर अब हमारे दुश्मनका दुश्मन नहीं है। बल्कि हमारा दुश्मन है । तीन-चार पार्टीसाथियोंसे ही यह बात हुई, लेकिन मैंने देखा कि उनका रुख मुझसे बिल्कुल उल्टा है । वह समझते हैं, कि लाल-सेना उधर हिटलरसे भी लड़ती रहेगी और इधर हम भी अंग्रेजोंके ख़िलाफ़ अपनी लड़ाईको पहिले ही रूपमें जारी रखेंगे। अगले दो-एक दिन और यह चर्चा कुछ मित्रोंसे की, लेकिन कोई सुननेकेलिए तैयार नहीं था। मैंने फिर उसकी चर्चा करनी छोड़ दी। अब जैसे-जैसे हिटलर की सेना आगे बढ़ती, वैसे ही वैसे मेरे हृदयमें विकलता बढ़ रही थी, रातको बड़ी देर तक नींद नहीं आती थी। उस वक़्त मेरी यही आकांक्षा रहती कि, दिनरातका अधिक भाग नींद ही में बीत जाता । मेरी बुद्धि कभी यह नहीं कहती थी, कि हिटलर सोवियत्‌को जीत सकेगा । मैंने सोवियत्-सेनाके बारेमें पढ़ा था, सोवियत् सैनिकोंको देखा था, और साथ ही सोवियत्‌की उस साधारण जनताको देखा था, जो जीतेजी अपने स्वर्गको नाज़ियोंके हाथमें जाने नहीं देगी । पहिलेपहल जब लालक्रान्तिकी ख़बर मुझे मिली थी और आगेके युद्धोंके बारेमें थोड़ा-बहुत सुना था, उस वक़्त दूसरे लोगोंकी तरह मैं भी समझने लगा था, कि बोलशेविकोंकी जीतमें अपने पौरुषकी अपेक्षा संयोगने ज्यादा मदद की थी। लेकिन जब अक्तूबर क्रान्ति, १४ राज्योंके एक साथ बाल-सोवियत् पर आक्रमण और सफ़ेद जनरलोंद्वारा दुनियाके पूँजीपतियोंका सोवियत् पर हमला—इन सबके बारेमें विस्तृत अध्ययन किया, तो मालूम हुआ, कि सोवियत्‌राष्ट्र संयोगसे नहीं जनताके पौरुष, पार्टीके संगठन, सूझ, आत्मत्याग, और हिम्मतके बलपर कायम हुआ है; इसलिए पूरी तौरसे कभी मुझे निराश होना पड़ा हो, ऐसा समय मुझे याद नहीं । लेकिन नाज़ियोंके बढ़नेकी ख़बरें मुझे व्याकुल जरूर कर देती थीं । जिस वक़्त लेनिनग्रादपर जबर्दस्त हवाई हमले हो रहे थे, उस वक़्त मैं निराकार तौरसे नहीं देख रहा था । वहाँ मुझे लोला और ईगर दिखाई पड़ते थे, और उसी तरहकी लाखों

माताएँ और शिशु आँखोंके सामने आते थे। २६ जूनको लोलाका २३ अप्रैल और डाक्टर श्चेवात्स्कीका २२ अप्रैलका लिखा पत्र मिला। युद्धसे दो मासपूर्व यह पत्र लिखे गए थे। मेरे हृदयमें आग धधक रही थी, मैं सोच रहा था, लेनिनग्रादकी बमवर्षाके बारेमें। २८ जूनको पढ़ा—लेनिनग्राद जल रहा है। ७ जुलाईकी डायरीमें लिखा था—"मेरी चिन्ता दूर नहीं होती, रातको भी नींद खुलनेपर जल्दी आँखें फिर नहीं झपतीं।"

५ जनवरी (१९४१) के पत्रमें लोलाने लिखा था, "ईगर बहुत ही होशियार, उत्साही और सुन्दर बच्चा है, लेकिन जैसा कि मैंने पहिले लिखा था, वह बहुत कम बोलता है। पिछले दिनोंमें उसके शब्दकोषमें थोड़े शब्दोंकी वृद्धि हुई है—बिल्ली, कुत्ता, पुस्तक, रोटी, मक्खन, दियासलाई और कुछ और। तुम इसे समझ सकते हो कि अभी उसकी भाषामें प्रवाह नहीं है। वह बहुत हठी-ज़िद्दी बच्चा है, शायद उसकेलिए मैं भी ज़िम्मेवार हूँ। सबेरे साढ़े सात बजे मैं घर छोड़ती हूँ, और शामके ८ बजे लौटती हूँ। ठीक १० बजे रातको उसे सुला दिया जाता है, इसलिए वह सिर्फ़ दो घंटा मेरे साथ रहता है। दिन भर वह अपनी नर्सके साथ रहता है। नर्स बड़ी भली-मानुष स्त्री है। वह अच्छी तरह देख-भाल करती है। मैं उस वक़्त बहुत खुश होती हूँ, जब घर लौटती हूँ और जब ईगर अपने छोटे-छोटे हाथोंको मेरे गलेमें डालकर चिल्लाता है, "मा-मा मा-मा" फिर वह मेरे स्लीपरको लाकर देता है। उस वक़्तसे हम अलग नहीं होते। अपनी जाँघपर बैठाए ही मैं भोजन और चाय करती हूँ। मैं यह नहीं कह सकती कि यह सुविधा की बात है। लेकिन मेरा बेटा अलग होना नहीं चाहता, और मुझे उसकी इच्छाओंको माननेकेलिए बाध्य होना पड़ता है। मैं उसके साथके बर्ताव और शिक्षाकी देखभालकेलिए कड़ाई नहीं कर सकती। इन दिनों वह और ज्यादा बिगड़ गया है। वह अकेले सोना नहीं चाहता, और कहता है—जब तक तू नहीं सोएगी, तब तक मैं नहीं सोऊँगा। लेकिन जैसे ही मेरा शिर तकियापर पड़ता है, मैं सो जाती हूँ, और घरका काम-धाम वैसा ही पड़ा रहता है, इसलिए मैं १० बजे उसके सारे खिलौनोंको दे देती हूँ। ईगर देरसे क़रीब १२ बजे सोता है। यह बहुत बुरा है। इन सब बातोंसे तुम समझ सकते हो, कि तुम्हारा यहाँ होना कितना ज़रूरी है। तुम्हें अपने छोटेसे बच्चेको सँभालनेका काम अपने हाथोंमें लेना चाहिए।"

इन पंक्तियोंको पढ़ते समय फिर मुझे खयाल आता था, लेनिनग्रादके ऊपर घोर बमवर्षाका।

२४ मईके पत्रमें लोलाने लिखा था—"राहुल मेरे प्यारे ! आज मैं अपनेको

खुशकिस्मत औरत समझती हूँ। ६ बजे सबेरे मुझे तुम्हारा तार मिला। मेरे नन्हेसे बच्चेका फ़ोटो तुम्हें मिला? तुम उसे कैसा पसन्द करते हो? तुम्हारे साथ कुछ सादृश्य है? क्या वह हिन्दू जैसा मालूम होता है। ईगर बहुत चतुर, बहुत मनस्वी बच्चा है। उसकी स्मृति तेज़ है। उसका स्वभाव बहुत कोमल और मधुर है। इस वक़्त मेरा पेटका दर्द बहुत तेज हो गया है। गरम बोतल रखकर जब मैं लेट जाती हूँ, तो ईगर दौड़कर मेरे पास आ जाता है। वह मेरे गलेसे लिपट जाता है, वह मुझे चूमता है। फिर दर्दकी बात मालूम होनेपर उदास हो जाता है। लेकिन ईगर बड़ा हठी है। नर्स उसे 'बिगडू' कहती है। एक क्षणकेलिए भी अकेला नहीं छोड़ा जा सकता। इस जाड़ेमें जो कोई भी चीज़ उसके हाथ लगी, उसे उसने तोड़े बिना नहीं छोड़ा। वह मेरे चूर्णको गिरा देता है, गंधको उड़ेल देता है। कल उसने काफ़ीके बरतनको तोड़ दिया। काफ़ी और मुरब्बेको गिरा दिया। फिर बरतनको पैरसे चूर्ण कर दिया। यह साफ़ है, कि इस तोड़ने-फोड़नेमें उसे अदभुत आनंद आता है।.. पिछले हफ्ते जब मैं घर लौटी, तो देखा कि ईगरको भोजनवाली मेज़के साथ बाँध दिया गया है। उस दिन उसने एक प्लेट तोड़ डाली थी, और बिल्ली भी चारपाईसे बाँध दी गई थी, क्योंकि उसने व्यंजन खा लिया, तथा एक प्याला तोड़ दिया था। पहिले मुझे नर्सपर क्रोध आया, लेकिन पीछे मैंने उसकी शिक्षाको स्वीकार किया। पिछले हफ्ते मैं और ईगर दत्तके पास गए। महाशय दत्तने ईगरको बहुत पसन्द किया। वह कहते थे, "ईगर पूरा हिन्दू (हिन्दुस्तानी) है"। यह उस वक़्त (२ अगस्त) मैं पढ़ रहा था, जब कि जर्मन मास्को और लेनिनग्रादके पास पहुँचकर आक्रमण कर रहे थे, कियेफ़्पर भारी ख़तरा था। ७ अगस्तको मैंने लिखा था—"भारी परीक्षाका समय है। या तो संसारपर अपनी विजयकी धाक जमाकर लालसेना साम्यवादको सफल बनायेगी, नहीं तो मानवता फिर कुछ समयकेलिए अँधेरे खड्डुमें गिरेगी।" चिन्ता, उत्सुकताकी यही अवस्था तब तक जारी रही, जब तक कि नवम्बरके आखिरी हफ़्तेमें पासा पलटते दिखाई नहीं दिया। रस्तोफ़को लाल-सेनाने फिरसे छीन लिया। दिसम्बरके दूसरे हफ़्तेमें मास्कोके मोर्चेसे जर्मन सेनाको पीछे हटना पड़ा।

लिखना-पढ़ना—गर्मीभर तो मलेरिया और गर्मीके कारण पढ़ाई बहुत कम हो सकती थी, लिखाई होना तो सम्भव ही नहीं था। फिर "चमक" ने अपनी कोठरी मेरे हवाले कर दी। मैं सिर्फ सोनेकेलिए अपनी चारपाईपर जाता था, नहीं तो उसी कोठरीमें बैठकर लिखता रहता। देवलीमें राजबन्दियोंकी संख्या दो सौसे अधिक थी,

जिनमें अधिक तादाद सुशिक्षितोंकी थी। साइंस, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि विषयोंपर जितनी पुस्तकें मिल सकीं, मैं उन्हें पढ़ता और नोट लेता गया। कुछ पुस्तकें अजमेर-की पब्लिक लाब्रेरीसे भी आईं, और कुछ मैंने बाहरसे ख़रीदकर मँगवाईं। पढ़-पढ़कर मैं नोट लेता गया, और बढ़ते-बढ़ते यह नोट क़रीब दो हज़ार पृष्ठके हो गए। मैं साइंस-सम्मत भौतिकवाद या मार्क्सवादपर हिन्दीमें एक पुस्तक लिखना चाहता था। अंग्रेज़ीमें हज़ारों पुस्तकें हैं, लेकिन केवल हिन्दी जाननेवालोंकेलिए मार्क्सवादके मौलिक सिद्धान्तको समझनेके वास्ते पुस्तकोंका बहुत अभाव है, यह बहुत खटकता था। हजारीबागमें ६ महीने और देवलीमें ७ महीने—१६ महीनेके अध्ययनके बाद ३० जुलाई (१६४१) को मैंने पुस्तक लिखनी आरम्भ की। पहिले मैं यही ख्याल करके लिख रहा था कि एक ही पुस्तक होगी। नाम भी "वैज्ञानिक भौतिकवाद" रखा था। लेकिन, आगे बढ़नेपर मालूम हुआ, कि दो हज़ार पृष्ठोंकी एक पुस्तक लिखना अच्छा नहीं। विषय अलग-अलग होनेसे उन्हें अलग-अलग पुस्तकका नाम दिया जा सकता है। २७ अगस्तको (२६ दिनमें) "विश्वकी रूपरेखा" समाप्त हुई। ८ सितम्बरको मैंने "मानवसमाज" (उस वक्त वैज्ञानिक भौतिकवादका द्वितीय खंड) आरम्भ किया और १४ अक्तूबरको वह भी समाप्त हो गया। १६ अक्तूबरको "दर्शन-दिग्दर्शन"में हाथ लगाया, और २६ अक्तूबर तक सिर्फ यवन (यूनानी) और युरोपीय दर्शन को ही समाप्त कर पाया था, कि भूख-हड़तालका चौथा दिन होनेपर उसे रोक देना पड़ा। भूख-हड़तालके बाद नवम्बरभर तो धर्मकीर्तिकी स्ववृत्ति (प्रमाणवार्तिक) के खंडित अंशको तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें करता रहा, फिर २० नवम्बरसे १० दिसम्बर तक "दर्शनदिग्दर्शन" के भारतीय दर्शनवाले भागके कई अध्याय लिखे। इस प्रकार मैंने देवली-निवासके आखिरी ५ महीनोंका लिखनेमें बहुत सदुपयोग किया। बीच-बीचमें मुझे अपने साथियोंके सामूहिक जीवनमें भाग लेना पड़ता, और मैं उसमें किसीसे पीछे नहीं रहता था। रसोईखानेके मंत्रिमंडलमें भी रहा, लेकिन पीछे साथियोंने मुझे उससे मुक्त कर दिया। पहिले कैम्पमें डाक्टर अशरफ़, डाक्टर अहमद तथा कितने ही और तरुण साथी थे, जिनकी कलममें ताकत थी। मैंने उनसे कई बार कुछ लिखने, कुछ ग्रन्थोंके अनुवाद करनेके लिए कहा, लेकिन कुछ नहीं हुआ। हम लोगोंके पास एकान्त कोठरियाँ नहीं थीं। एक-एक कमरेमें दस-दस बारह-बारह आदमी रहते थे। फिर समवयस्क और तरुण अधिक संख्यामें थे। क्लासमें जानेकेलिए तो सभी वाध्य थे, इसलिए उस वक्त कोई खेल-कूदकी बात नहीं कर सकता था, फिर वह अपने मनकी कुछ पुस्तकें पढ़ते थे। फोनोग्राफ भी कभी-कभी बजाया

जाता था। मैंने भी फोनोग्राफ़ मँगा लिया था, जिससे हमारे कैम्पवालोंका बड़ा मनोरंजन होता था, और कामसे छुट्टी पाकर मैं उसे खुद बजाता था। मेरे दूसरे साथियोंकी यह धारणा बँध गई थी, कि इस वातावरणमें पुस्तकलेखन जैसा कोई गम्भीर कार्य नहीं हो सकता। शुरूमें मैं भी इस धारणाका शिकार रहा, किन्तु मुझे लिखना ज़रूरी था, इसलिए मैंने अपने मनको समझाया—"मनसाराम! तुम्हारे हँसी-खेल-मज़ाक़ सबकेलिए मैं पूरा समय देनेकेलिए तैयार हूँ। लेकिन कमसे कम कुछ लिखनेकी बात तुम ज़रूर स्वीकार करो।" आम तौरसे मैं २० पृष्ठ (स्कूली कापी) रोज़ लिख लिया करता था। अतवारको सिर्फ १० पृष्ठ लिखता था। जहाँ निश्चित पृष्ठ ख़तम हुए, कि मैंने क़लम रखी। फिर दोस्तोंसे मिलना बाजा बजाना या दूसरा काम शुरू होता। मैंने यह कोशिश नहीं की कि एक-एक दिनमें चालीस-चालीस पचास-पचास पृष्ठ लिखूँ, इसलिए मनसाराम भी मुझे बातका पक्का समझते थे।

भूखहड़ताल (२३ अक्टूबर-७ नवम्बर)—हमने एक बार कुछ घण्टों की भूखहड़ताल की थी, और बड़े डाक्टर के बदल जाने से वह छोड़ दी गई। हमारी माँगें भारत-सरकार के पास पहुँची थीं। कपड़े और खानेके बारेमें कुछ सुभीता भी हो गया, लेकिन अभी भी हमारी बहुत सी तकलीफें वैसी ही थीं। इसलिए संघर्ष करने बिना कोई चारा नहीं था। बंगाल के खुफियावाले तो यहाँ नहीं थे, लेकिन पंजाब-की खुफिया बंगालसे पीछे नहीं थी। एक दिन (१६ जनवरी) साथी मक्खनसिंह अफरीकन लाहौर-किलेकी यातनाओंका वर्णन कर रहा था। उसे सुनकर बदनमें आग लग गई। उसे वहाँ किलेके भीतर ले गए। पहिले मीठी-मीठी बोली बोली गई। खानेके लिए बढ़ियाँसे बढ़ियाँ इंतिजाम था। अफसरने संतरीको गाली देते हुए कहा—"बदमाश! एक इज़्ज़तदार बाबूके साथ तू ऐसा व्यवहार करता है"। लेकिन, जब उससे कोई काम बनते नहीं दिखाई पड़ा, तो अफसरने खुद माँ-बहिनकी गंदी-गंदी गालियाँ निकालनी शुरू की। धमकाया गया, कि यदि बात नहीं बतलाओगे तो तुम्हारी बहिन को यहाँ सामने लाकर....। (एकके साथ ऐसा किया भी गया था। अभागी औरत अपने प्रिय जनकी जान बचानेके लिए वहाँ गई थी)। फिर घुटनों और दूसरी जगहों पर—जहाँ पीड़ा ज्यादा होती है—चोट पहुँचाई जाती, बदनके रोम और बालों को एकएक करके नोचा जाता, कई कई रात तक सोने नहीं दिया जाता। हमारे साथीको हफ़्ते भर लेटने नहीं दिया गया। जैसे ही आदमी सोने लगता, वैसे ही ठोकर मार कर जगा दिया जाता—यह बड़ी असह्य यातना थी। और एक बात तो ऐसी की गई, जिसे लिखने में भी शरम आती है। २०वीं

सदीमें इन बातोंका सुनना भी आश्चर्यकी चीज है। हम देवलीमें उसी पंजाबी पुलिस अफसरोंके हाथमें थे।

२१ जुलाईको केन्द्रीय एसेम्बलीके मेम्बर श्री एन्० एम्० जोशी हमारी तकलीफोंकी जाँच करनेके लिए देवली कैम्पके भीतर आए। सरकार अच्छी तरह जानती थी, कि यह क्रांतिकारी वाक्शूर नहीं, कार्यशूर हैं, इनको जान पर खेलते देर नहीं लगेगी, इसलिए उसने मंजूर किया, कि जोशी साहब जाकर उनकी तकलीफें मालूम करें। हमने अपनी तकलीफें बतलाई। उन्होंने कैम्पको घूमकर देखा, मेरे बारेमें किसीने खासतौरसे कहा था। मुझसे पूछने पर मैंने कहा—मुझे भी वही तकलीफें हैं, साथ ही मैं चाहता हूँ कि लिखने और अनुसन्धानके कार्यको जारी रखूँ, लेकिन मेरे अराजनीतिक कामकेलिए भी सरकार कोई सुविधा देनेकेलिए तैयार नहीं। उसके बाद इतना हुआ कि हफ्तेमें एक दिन मुझे तिब्बतसे लाए तालपत्रोंको बृहत्प्रदर्शक शीशेसे पढ़नेकेलिए आफिसमें आनेकी इजाजत मिली। मैं जब वहाँ गया, तो देखा कि मेरा जोरदार बृहद्प्रदर्शक शीशा गायब है। चीजोंकी सूची बनानेका तो कोई कायदा नहीं था, इसलिए आफिस वाले जिस चीजको चाहते, उड़ा लेते थे।

भारतमें जब (१९२९) कम्यूनिस्ट पार्टीका संगठन नहीं हुआ था, उस समय कम्यूनिस्ट विचारवाले लोगोंने बंगाल, मद्रास, बंबई, पंजाब, युक्तप्रांतमें काम शुरू किया था। पार्टी-संगठनके बाद सभी प्रांत एक हो गए थे, लेकिन पंजाबके पुराने कम्यूनिस्ट किरती (कमेरा) पार्टीके नामसे अभी अपना अलग संगठन कायम किए हुए थे। इसमें १९१४ के बड़े-बड़े आत्मत्यागी बाबा सोहन सिंह भकना, बाबा केहर सिंह, बाबा शेर सिंह जैसे वृद्ध थे, जिन्होंने अपनी सारी जवानी देशकेलिए नौछावर कर दी, और आज सत्तर-सत्तर वर्ष की उम्रमें भी उनमें जवानों जैसा जोश था। बाबा सोहन सिंहकी कमर झुक गई थी, लेकिन अब भी वह १८ वर्षके तरुणकी तरह उत्साहसे क्लासोंमें जाते, नई बातोंको बड़े उत्साहसे सीखते थे। इससे पहले भी पार्टीने किरती वाले साथियोंके मिलानेकी कोशिश की थी, किन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। लेकिन अब सरकारने भारतभरके प्रमुख-प्रमुख कम्यूनिस्टोंको एक जगह कर दिया था, इसलिए उनका काम सुगम हो गया था। ७ महीनेके प्रयत्नके बाद हमें सफलता मिली, किरती दल कम्यूनिस्ट पार्टीमें मिल गया। २२ अगस्तको इसके उपलक्षमें एक भोज दिया गया, और लोगोंने बड़ी खुशी मनाई। तीनों कैम्पों—अब तक तीसरा कैम्प भी आबाद हो गया था—

के साथी खेलके मैदानमें जमा हुए। वहाँ भी आनन्द मनाया गया। व्याख्यान हुए। ६ फुट्टे बाबा केहर सिंहने अपनी सीधी सादी भाषामें अपने उद्गारोंको प्रकट किया—जिस वक्त मैंने देशकी आजादीके लिए पहिले-पहल झंडा उठाया था, उस वक्त कम्यूनिस्ट पार्टी नहीं थीं, रही होती, तो हम असफल न हुए होते। अब हमारी पार्टी मौजूद है। अब हमें इसके लिए जीना इसके हुक्मपर मरना है। पार्टी हुक्म दे, बूढ़े होनेपर भी हम जवानोंसे पीछे नहीं रहेंगे।

२३ सितम्बरको पंडित उदयनारायण तिवारीकी चिट्ठी आई, जिससे मालूम हुआ कि डाक्टर अवध उपाध्यायका देहान्त हो गया। अफसोसकेलिए क्या कहना? देशको उनसे बड़ी आशाएँ थीं, लेकिन जिसके लिए उन्होंने तैयारी की, उस कामको वह पूरा नहीं कर सके। जानेवालोंके लिए अफसोसकी जरूरत नहीं, अफसोस हमें अपने लिए होता है।

१० अक्तूबरको भूखहड़तालका अल्टीमेटम सरकारके पास भेज दिया गया। हमने १० महीनेतक इंतिजार किया, लेकिन सरकार कानमें तेल डाले बैठी रही। हमने उसमें लिखा था कि २२ तारीख तक हमारी माँगोंका यदि संतोषजनक उत्तर नहीं आया, तो हम उसकेलिए कोई रास्ता पकड़नेके लिए मजबूर होंगे। अगले दिन सुपरिन्टेन्डेन्टने बुलाकर कहा कि इतना समय पर्याप्त नहीं है। हमारे साथियोंने कहा, सरकारको कितना भी समय दिया जाय, वह पर्याप्त नहीं होगा। हम चाहते थे कि दूसरी पार्टीवाले भी मिलकर संघर्ष जारी करें, मगर वह इसकेलिए तैयार नहीं हुए। आख़िरमें हम १५९ आदमियोंने जानपर खेलनेका निश्चय किया। पहिले सोचा गया था कि सभी पार्टी-मेम्बरोंको हड़ताल अनिवार्य न की जाय, लेकिन कोई पीछे रहनेकेलिए तैयार न था, इसलिए हरेक पार्टी-मेम्बरको हड़तालमें शामिल होनेकी आज्ञा दी गई। हमारे २ दिन बाद १२ अक्तूबरको दूसरी पार्टियोंने भी अल्टीमेटम दे दिया।

१९ अक्तूबरको सुपरिन्टेन्डेन्टने नोटिस चिपका दी, कि जोशीकी रिपोर्ट १६ तारीखको सरकारके पास पहुँची, सरकार उसपर विचार कर रही है, उसे प्रान्तीय सरकारोंसे भी पूछना है इसलिए और समय देना चाहिए, जल्दी करनेकी ज़रूरत नहीं। ऐन मौक़ेपर प्रहार करना सरकार खूब जानती है। २० अक्तूबरको दिल्ली-का "स्टेट्समैन" दफ़्तरमें पहुँचते ही तुरन्त हमारे पास भेजा गया, उसमें जय-प्रकाशबाबूका पूरा पत्र छपा था। जयप्रकाशबाबूकी पत्नी उनसे मुलाक़ात करने गई थीं। उस वक़्त उन्होंने एक लम्बा ख़त किताबकी आड़से पत्नीके हाथमें देना

चाहा, लेकिन खुफ़ियावाले अफ़सरने पकड़ लिया। हमें इस बातका पता नहीं था। पीछे तो यह भी मालूम हुआ, कि उन्होंने उस चिट्ठीको कैम्पके भीतर आने-वाले किसी दर्जी या दूसरे आदमीके हाथमें दिया था, जिसे लेकर उसने सी० आई०डी०को दिया। सी० आई० डी०ने फिर उसे लौटानेकेलिए कह दिया। दो-चार दिन बाद आदमीने अपनी मजबूरीको प्रकट करते हुए उसे लौटा दिया। इसमें कितनी बात सच है, कितनी झूठी, इसे मैं नहीं कह सकता। कुछ भी हो एक बड़ा पत्र सी० आई० डी०ने पकड़ा और वह हमारी भूखहड़ताल शुरू होनेसे दो दिन पहिले "स्टेट्समैन"में छपा। इसमें राजबन्दियोंमेंसे एक प्रमुख व्यक्तिने स्वीकार किया था, कि हमारी तकलीफ़ें इतनी नहीं हैं, कि भूखहड़ताल की जाय; सरकारने कई बातोंके सुभीते दे दिये हैं, इत्यादि-इत्यादि। यह बहुत घातक हथियार था। सरकारने समझा कि इस चिट्ठीको छापकर हम भूख-हड़तालियोंके मनसूबे ख़तम कर देगी, और देशको समझा देगी, कि राजबन्दियोंकी माँगें उचित नहीं है, वह नाहक़ सरकारको तंग करना चाहते हैं। तुरन्त हम लोगोंने आपसमें विचार किया। हमारे कैम्पके लोगोंने कहा—हमें अपने संकल्पपर दृढ़ रहना चाहिए। मैंने कहा—ज़रूर इस पत्रने हम लोगोंका भारी अनिष्ट किया, लेकिन सरकार जो चाहती है, वह नहीं होगा। जनताकी सहानुभति हमारे साथ रहेगी; हाँ, हमें अब दो-एक प्राणोंको देकर इस पत्रके प्रभावको धोना पड़ेगा। यह पत्र ऐसे ढंगसे लिखा गया था, जिसको कोई क्रान्तिकारी नहीं लिख सकता था। कम्यूनिस्ट तो शत्रु थे, लेकिन खुद अपनी पार्टीके भी कितने ही रहस्योंको उस पत्रमें खोल करके लिखा गया था।

साथी जयप्रकाश और दूसरे लोगोंने एक दिन पहिले (२२ अक्तूबर) भूख-हड़ताल शुरू कर दी। हम लोगोंने अपने निश्चित दिनपर भूख-हड़ताल शुरू की। सरकारने डाक्टरोंका काफ़ी इन्तिज़ाम किया था। पहिले ही दिन आगराके डाक्टर फूलचन्द शर्मा आ गये थे। मैं तो पहिले दो भूख-हड़तालोंको कर चुका था, इसलिए पन्द्रह-बीस दिनोंकेलिए कोई बात नहीं थी, लेकिन हममें बहुतसे शरीरमें दुर्बल थे। किशोरी भाई ऐसे ही थे, अशरफ़ भी बहुत कमज़ोर थे, फिर बाबा सोहनसिंह जैसे बूढ़े भी थे। बाबा बसाखासिंहको हमने हाथ-गोड़ जोड़कर मनवाया था, कि वह भूख-हड़तालमें शामिल नहीं होंगे। उनमें बुढ़ापेकी ही कमज़ोरी नहीं थी, बल्कि वह तपेदिक़के भी मरीज़ थे। बाबाने दस-बारह दिन किसी तरह अपनेको रोका। फिर रुकना उनकेलिए मुश्किल हो गया। जब उन्होंने अपनी आँखोंके सामने नौजवानोंको सूखते देखा, तो वह सारी बातें भूल गये। लेकिन साथ ही उन्होंने चाहा

कि उनके नये निश्चयसे साथियोंको कष्ट न हो, इसकेलिए चुपके ही चुपके उन्होंने एक भीषण क़दम उठाया। बाबा बसाखासिंह एक सन्त पुरुष थे, भगवानके अनन्य भक्त थे, लेकिन साथ ही कमेरोंकेलिए जान देनेमें भी वह वैसे ही तत्पर रहते थे। देवलीके सेवक क़ैदी तो इस सन्तसे और भी प्रभावित थे। बाबाने रसोइएको बुलाकर कहा—मैं एक बात कहूँ बच्चा! क्या तू मानेगा।—"ज़रूर बाबाजी, आपकी बात भला मैं कैसे टाल सकता हूँ?"

"ज़रूर मानेगा?"

"ज़रूर बाबाजी।"

"ज़रूर?"

"ज़रूर।"

तीन बार कहलाकर बाबाने उससे कहा—"मेरे खानेकी चीज़ें रोज़ ले लिया करना, और उन्हें चुपकेसे सन्दूक़में बन्द कर देना। ख़बरदार, किसीसे कहना मत।"

बेचारे उस साधारण क़ैदीकेलिए बाबाका वाक्य ब्रह्मवाक्य था, वह उसके ख़िलाफ़ कैसे जा सकता था? बाबाकी भूख-हड़ताल चार-पाँच दिन चलती रही। उनके शरीरने एक दिन धोखा दिया, और वह गिर पड़े। संयोगसे भूख-हड़ताल ख़तम हो गई, मगर बाबाके संकल्पकी बात सुनकर साथियोंका दिल धकसे हो गया। उन्होंने बाबासे खिन्न मन हो उलाहना देते हुए कहा—"बाबा! आपने बड़ा निष्ठुर निश्चय कर डाला था।" बाबाने कहा—"क्या करता, मैं अपने हृदयकी व्यथाको बर्दाश्त नहीं कर सका।"

हाँ, तो २३ अक्तूबरको भूख-हड़ताल शुरू हुई, सिर्फ़ पानी-सोडा या नमकके साथ लेनेकी पार्टीने इजाज़त दी थी। मुझे तो उस दिन भूख नहीं लगी। नये भूख-हड़तालियोंको दो-एक दिन भूख लगती है। मैंने खाना छोड़ बाक़ी सब काम पहिले जैसा ही किया। कुछ साथियोंके शिरमें दर्द था। घाटे सारे कैम्पमें सबसे अधिक कमज़ोर और वज़नमें कम थे। उन्हें कलेजेकी बीमारी थी। घाटे भारतीय कम्यू-निस्ट पार्टीके पिताओंमें थे। हमें इस बातका बहुत दुःख था, कि हम पहिले उन्हींको खोने जा रहे हैं। सुनील, अय्यङ्गार जैसे बीड़ी-तम्बाकूके आदी लोगोंको तम्बाकू बीड़ी पीनेकी भी मनाही हो गई थी। उन्होंने उसका ख़्याल नहीं किया। दूसरे दिन (२४ अक्तूबर) घाटेकी हालत ख़राब हो गई, और उन्हें डाक्टर-अस्पताल ले गये। चन्द्रमाको तेज़ बुख़ार था, इसलिए मजबूर करके उन्हें अस्पताल भिजवाया गया। तीसरे दिन मुझे बहुत हल्की-सी कमज़ोरी मालूम हो रही थी। किशोरी और अश-

रफ़की हालत बहुत खराब रही। चौथे दिन (२६ अक्तूबर) २२ पृष्ठ लिखकर युरोपीय दर्शन मैंने समाप्त कर दिया, और उसके साथ ही आगे लिखना छोड़ दिया। उस दिन चार आदमी अस्पतालमें ले जाये गये। मुझे कमज़ोरी थी, किन्तु और कोई तकलीफ़ नहीं थी। उस दिन चीफ़-कमिश्नर आया था। उसने हमारे प्रतिनिधियोंको बुलाया, लेकिन उन्होंने जानेसे इनकार कर दिया। ५वें दिन तक १७ आदमी हमारे कैम्पके अस्पतालमें जा चुके थे। आज-कलसे कुछ अधिक कमज़ोरी मालूम हो रही थी।

पाँचवें या चौथे दिनकी बात है, अभी-अभी पह फट रहा था। लोग कमज़ोर तो थे ही। सबेरे-सबेरे वह अपनी चारपाइयोंपर लेटे या बैठे थे। इसी वक़्त "बमार"को न जाने क्या सूझी, उसने ग्रामोफ़ोनपर तवा लगा दिया, और तवा भी ऐसा लगाया जो बड़े गला-फाड़ स्वरमें गा रहा था "पानीका तू बुलबुला तेरा कौन टेकाणा"। सब ओरसे लोगोंने "हाऊ-हाऊ" किया, "बमार"ने झटसे तवा उतारकर रख दिया। मैं बाहर चारपाईपर लेटा था। बाबा शेरसिंहने अपनी चारपाईपरसे पूछा—"कौन है यह बाजा बजानेवाला"। मैंने कहा—"बाबाजी! साडा (हमारा) बमार" है। लोगोंने फिर मज़ाक़ करना शुरू किया—"बमार"ने तो अभीसे "तेरा कौन ठेकाना" गाना शुरू कर दिया।

छठें दिन कलसे कुछ और कमज़ोरी बढ़ी। कमिश्नर पहिले नम्बरके कैम्पमें गया, और बोला—आप लोगोंने जल्दी की, सरकारको समय नहीं दिया। सरकार जोशीकी सिफ़ारिशपर विचार कर रही है। आपकी कमसे कम माँगें क्या हैं? सरकारी ग़ैरसरकारी तीन मेम्बरोंकी कमेटी बना दी जाय, तो उनकी बात मानेंगे? जोशीकी सिफ़ारिशोंको मानेंगे? हमारे साथियोंने कहा—हमारी कमसे कम माँग चली गई, सरकार अपनी बात पेश करे, तो हम विचार करेंगे, कमेटी बनाना फ़िज़ूल है। हम लोग उसके ऊपर विश्वास करके हड़ताल नहीं तोड़ेंगे। जोशीकी सभी सिफ़ारिशें हमें मंज़ूर न होंगी। सातवें दिन मेरा वज़न १५७ पौंड रह गया था। जेल आते वक़्त वह १८२से अधिक था।

हमारे कैम्पके २० आदमी असपतालमें थे। किशोरी और अय्यङ्गार शरीरसे बहुत कमज़ोर थे, लेकिन उनकी हिम्मत ग़ज़बकी थी, अब भी वह डटे हुए थे। आठवें दिन वैसे ही स्वास्थ्यवाले आदमी रह गये थे, जो अब डट सकते थे। मुझे भूख-हड़तालोंका तजर्बा था और दूसरे भी कितने ऐसे साथी थे। मैंने देखा, कि नमक डालकर पानी पीनेसे पेट साफ़ होता है, मैंने यह नुसखा दूसरोंको भी बतलाया।

और वह बहुत काम आया। नमक या सोडा डालकर खूब पानी पीना, जिसमें कि अँतड़ियाँ सूखने न पायें और पेटको साफ़ रखने, इन दो बातोंका ध्यान रखनेसे शरीर बराबरकेलिए रोगी नहीं बनता। मर जाना बुरा नहीं है, लेकिन सदाकेलिए चिर-रोगी या अपाहिज होना बहुत बुरा है। ३१ अक्तूबरके अखबारमें पढ़ा कि भारत सरकारके होम-मेम्बरने एसम्बली अधिवेशनमें दहाड़ते हुए कहा—यह राज-नीतिक हड़ताल है, सरकार इसे नहीं मानेगी; हाँ, जिसमें कोई मरे नहीं, हम इसकी कोशिश करेंगे। हम सरकारके सामने घुटने टेककर दयाकी भिक्षा नहीं माँग रहे थे। हम मनुष्यके तौरपर जीते रहनेका अधिकार चाहते थे। दसवें दिन (१ नवम्बर) मुँहका स्वाद खराब था, और जल्दी खड़े हो जानेपर चक्कर आने लगता था। आज ४ दिनपर नमककी जुलाब ली। शामको पेटमें ज़रा-ज़रा दर्द हो रहा था। आज हमारे कैम्पके ३ आदमियोंको अस्पताल ले गये, लेकिन पार्टी-मेम्बर सभी डटे हुए थे। ग्यारहवें दिन मैंने "विश्वकी रूपरेखा"के ६० पृष्ठोंको फिरसे दुहराया। आज दो आदमियोंको पकड़कर ज़बर्दस्ती नाकसे दूध पिलाया गया। बारहवें दिन (३नवम्बर) हमारे सारे कैम्पको ज़बर्दस्ती नाकके रास्ते दूध पिलाया गया, लेकिन इसमें पूरी कुश्ती होती थी। दस-दस बारह-बारह आदमी आकर लिपट जाते, फिर कई मिन्टोंकी धक्कमधुक्कीके बाद चारपाईपर लिटाते थे। दोपहर तक तो भाड़ेके मज़दूरोंको लाकर उनसे पकड़नेका काम लिया गया, लेकिन पौने चार बजेसे गढ़वाली सिपाहियोंको इस कामकेलिए इस्तेमाल किया गया। पिछली दो हड़तालोंमें मुझे नाकसे दूध नहीं पिलाया गया था, लेकिन अबकी बार यहाँ ज़बर्दस्ती पिलाया गया। पेटमें गुड़गुड़ होने लगी। १३वें दिन १५ छटाँक दूध पेटके भीतर डाला गया। लोग अपनी ताक़तभर प्रतिरोध करते थे, लेकिन वहाँ एक-एकपर बारह-बारह लिपट पड़ते थे। १४वें दिनकी पकड़ा-धकड़ीमें मेरे एक जगह घाव लग गई। लेकिन आज कुश्ती काफ़ी रही। सबसे बलिष्ठ जवानको पकड़कर मैंने ज़मीनपर चित्त कर दिया। फिर चींटेकी तरह सब लिपट पड़े। आज चारपाईपर लिटानेमें उन्हें काफ़ी देर लगी। १६वें दिन (६ नवम्बर) सिपाहियोंको पकड़नेकेलिए नहीं ठेकेदारके मज़दूर आठ आना रोज़पर लाये गये। पेटमें दूध जानेके कारण लोगोंके शरीरमें ताक़त कुछ ज़्यादा थी, इसलिए कुश्ती देर तक होती, आज पहिली बारके दूध पिलाने-हीमें १ बज गये। शामको पता लगा कि जोशी साहेब आये हुए हैं। उन्होंने तीनों कैम्पोंकी कमेटियोंसे अलग-अलग बात की, और कहा—आप लोग हड़ताल छोड़ दीजिए, हम लोगोंने इस कामको अपने हाथमें ले लिया है। हमें विश्वास है कि

गवर्नमेंट कुछ करेगी। उनकी बातसे मालूम हो गया कि सरकार हमें अपने प्रान्तोंमें भेजकर छुट्टी ले लेना चाहती है। वह जानती है, प्रान्तोंकी नादिरशाही सरकारें हमारी माँगोंको हरगिज़ नहीं मंजूर करेंगी। प्रान्तोंमें लौटाने और एकसे वर्गीकरण-का विरोध सबसे ज़्यादा पंजाब-सरकार कर रही थी।

१६वें दिन (७ नवम्बर) भी मैं "विश्वकी रूपरेखा"को दुहराता रहा। आज हमारे तीनों कैम्पोंके प्रतिनिधियोंसे बात करके जोशीने विश्वास दिलाया, कि सरकार हमारी दूसरी माँगोंमेंसे काफ़ीको ज़रूर पूरा कर देगी। एक वर्गीकरण मुश्किल है, और उससे भी मुश्किल है प्रान्तोंमें भेजना। भारत सरकार प्रान्तोंमें भेजनेके खिलाफ़ नहीं, किन्तु पंजाब-सरकार इसका सख्त विरोध कर रही है; तो भी बात जारी है। हमारे साथियोंने इस बातको आकर हम लोगोंको बतलाया। तीनों कैम्पोंकी कार्य-कारिणी कमेटीने विचार किया, और उसने हड़ताल तोड़नेके पक्षमें राय दी। शामको तीन बजे तीनों कैम्पोंके साथी खेलवाले मैदानमें इकट्ठा हुए। डाँगे, रणदिवे, बाटलीवाला कई महीनेसे कैम्पसे हटाकर दूसरी जगह भेज दिये गये थे। पहिले उन्हें अजमेर जेलमें रखा गया, इसी बीचमें दूर एक कोनेमें नया बँगला बनवाया गया, और उन्हें वहाँ लाकर रखा गया। आज उन्हें भी मैदानमें लाया गया। हड़ताल छोड़ें या न छोड़ें, इसके पक्ष-विपक्षमें साथियोंने भाषण दिये। अन्तमें उनतालीसके विरुद्ध एक सौ बीसने कार्यकारिणीके प्रस्तावको स्वीकृत किया। दूसरी पार्टीवालोंने बीसके विरुद्ध चालीसके बहुमतसे हड़ताल जारी रखनेका फ़ैसला किया। ११ बजे रातको दूध आया, और हमारे १६० (?) साथियोंने दूध पीकर भूख-हड़ताल छोड़ दी।

अगले दिन (८ नवम्बर) ग़ैर-पार्टीवालोंमेंसे १६को भूख-हड़तालसे हटे हुए देखा गया। ४०से कुछ ऊपर आदमी अब भी डटे हुए थे। उस दिन शामको मूँगकी पतली दाल मिली, और रातको सागूदाना। हमारी देखभालकेलिए जो डाक्टर आये थे, वह सभी अच्छे थे। उनमेंसे सबसे भद्र डाक्टरको एक ग़ैरपार्टी राजबन्दीने जूतेसे मारा, आज भी एक सज्जनने जूता उठा लिया। यह बहुत बुरा था, क्रान्तिकारियोंके प्रति ये डाक्टर क्या भावना लेकर जायेंगे? हड़ताल तोड़नेके दूसरे दिन मालूम हो गया कि डाँगे और रणदिवेने भी सोवियत्‌पर हिटलरके आक्रमण होते ही मेरी ही तरह समझा था, और अब तो बाक़ायदा उसपर विचार-विनिमय होने लगा। धीरे-धीरे हमारे सभी साथी इस विचारसे सहमत हो गये कि अब फ़ासिस्तोंकी हार-केलिए सारी शक्ति लगाना हमारा कर्त्तव्य है। पहिली दिसम्बरको अन्तर्राष्ट्रीय

परिस्थितियोंपर विचार करके मैंने लिखा था—अमेरिका और जापानमें किसी वक्त युद्ध छिड़ सकता है। ८ दिसम्बरको रेडियोकी खबरसे मालूम हुआ, कि आज सूर्योदयके समय जापानने अमेरिका और इंग्लैंडके खिलाफ़ युद्ध घोषित कर दिया। यह भी मालूम हुआ कि सिंगापुर, फ़िलिपाइन् और होनोलुलूपर जापानने हवाई हमले किये हैं। पर्लहार्वरपर उसने आक्रमण करके ओकलाहामा नामक २९ हजार टनके अमेरिकन युद्धपोतको ध्वस्त कर दिया। अब युद्धकी आग सारी दुनियामें फैल गई। पिछला युद्ध भी इतना बड़ा नहीं था। सोवियत्‌केलिए इससे अच्छा अवसर क्या मिलता? कहाँ सारे पूँजीवादी देश एक होकर चौबीस सालसे उसके ऊपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे थे, और कहाँ उनके स्वार्थोंने उन्हें दो टुकड़ेमें बाँट दिया। बाल्डविन और चेम्बरलेनने इताली, जापान और जर्मनीके फ़ासिस्तोंको पीठ ठोक, सहायता पहुँचाकर बोलशेविकोंके खिलाफ़ लड़नेकेलिए तैयार किया था। उनकी सारी कूटनीति बेकार गई। अब लालसेनाको अकेले ही फ़ासिस्तोंसे लड़ना नहीं, अब इंग्लैंड और अमेरिकाको भी सोवियत्‌का साथ देना पड़ रहा है। जापानने सोवियत्‌के खिलाफ़ युद्धघोषणा नहीं की। तोक्यो, याकोहामा आदि शहरोंके ध्वस्त होनेका डर था—सोवियत् हवाई जहाज घंटे भरमें जापानी शहरोंपर बम वर्षाकर लौट भी आ सकते थे। ९ दिसम्बरको पता लगा, कि कल ५ घंटेकी लड़ाईके बाद थाई (स्याम)की सेनाने जापानकी शर्तोंको मानकर रास्ता दे दिया। अब जापान भारतकी ओर बढ़ रहा था। १० दिसम्बरको मालूम हुआ, कि अंग्रेजोंके दो युद्ध-महापोत (प्रिंस-आफ-वेल्स, और रिपल्स) सिंगापुरके पास डुबो दिये गये। बुरी खबर थी।

अब बराबर अफ़वाहें उड़ रही थीं, कि हम लोग जल्दी ही अपने प्रान्तोंमें लौटाये जायेंगे। फिर इतने साथी कब इकट्ठा होंगे, इसलिए मैं अधिकतर समय दोस्तोंसे बातचीत करनेमें बिताता था। दूसरे सप्ताह बाबा हरनामसिंह कसैलका मन्त्रि-मंडल रसोईखानेका प्रबन्धक था। किसीने याचकजीसे कहा—"गोश्तमें शलगमका पत्ता डालकर पकानेसे बहुत अच्छा होता है।" अबतक सरसोंके पत्तेको डालकर गोश्त बना करता था, नई चीज थी, उनको क्या पता था, कि शलगमका पत्ता गोश्तके स्वादको खराब कर देगा। "याचक" भी नरम-नरम पत्ते तोड़ रहे थे, मन्त्रदाताने कहा—"एकाध पत्ते पौदेकेलिए भी छोड़ दीजिएगा, नहीं तो वह सूख जायगा।" एकाध पत्तेका मतलब है दो-चार, सो भी बीचका नया मुलायम। जिसका अर्थ हुआ, कड़े-कड़े पत्ते डाल दो। याचकजीने खूब पत्ता तोड़ा। वह गोश्तमें डालकर पकाया

जाने लगा। बाबा कसैलने सोचा--"कौली (कटोरी)से कम गोश्त देनेपर साथी गाली देने लगते हैं, इसलिए कौली भर-भरके गोश्त परोसना चाहिए।" गोश्त क़रीब-क़रीब पक चुका था। उस वक़्त बाबा कसैलने दो बाल्टी पानी उड़ेल दिया। अब गोश्तके स्वादको क्या पूछना? मिला था कौली भर, लेकिन कोई आधी कौली भी खानेको तैयार न था। और जब मन्त्रदाताकी बात और दूसरे रहस्य खुले, तो कई दिनों तक खूब मज़ाक़ होता रहा। कितने लोगोंने प्रस्ताव किया, कि अगले हफ़्ते भी बाबा कसैलका मन्त्रिमंडल रहे।

१४ दिसम्बरको यह सुनकर साथियोंको बड़ा आनन्द हुआ, कि जर्मन फ़ासिस्तोंकी मास्कोके मोर्चेपर सख़्त हार हुई, और वह पीछे हट रहे हैं। १८ दिसम्बरको पता लगा कि भारतीय पार्टीकी नीति युद्धके सम्बन्धमें बदल गई। अब हरेक जन-स्वातन्त्र्य चाहनेवाले आदमीका कर्तव्य है--फ़ासिस्तोंको जल्दीसे जल्दी हरानेमें पूरी ताक़त लगाना।

२२ दिसम्बरसे देवली कैम्पसे राजबन्दी हटाये जाने लगे--बम्बईवाले साथी यहाँसे अपने प्रान्तकेलिए रवाना हुए। २८ दिसम्बरको बिहारके हम १२ आदमी भी साथियोंसे बिदाई ले कैम्पसे बाहर निकले। एक साल २ दिन तक (२६ दिसम्बर १९४०--२७ दिसम्बर १९४१) हमें देवली-कैम्पमें रहना पड़ा। गढ़वाली सैनिक और एक सी० आई० डी०का आदमी हमारे साथ चल रहा था। डब्बा कोटामें रिज़र्व था। दिल्लीमें दूसरा डब्बा मिला। ३० दिसम्बरको १२ बजे बाद हम हज़ारीबाग रोड पहुँचे, और उसी दिन शामको सवा चार बजे हज़ारीबाग जेलमें। सरदार अर्जुनसिंह अब भी जेलर थे, और सुपरिन्टेन्डेन्ट थे मेजर नाथ।

३

फिर हजारीबाग-जेलमें (१९४१-४२)

२ दिनके बाद (२ जनवरी १९४२ को) मैं फिर अपनी एकान्त कोठरीमें चला आया। १७, १८ दिन तक मैंने दोस्तोंसे मिलने, पुस्तकोंके पढ़ने आदिमें बिताये। ७ जनवरीको जाड़ेके दिनोंमें लालसेनाके प्रत्याक्रमणपर विचार करते हुए मैंने अपनी डायरीमें लिखा था--"(१) लालसेनाके पीछे हटनेमें निर्बलता नहीं, सैनिकनीति भी कारण थी; (२) आज शीघ्रतासे आगे न बढ़नेपर यह भाव काम कर रहा है, कि भूमि दखल करनेकी जगह जर्मन सेनाको अधिकसे अधिक तबाह किया जाय।"

कम्यूनिस्तोंकी नीति बदलनेपर कांग्रेसी अख़बार कम्यूनिस्तोंको ख़ूब गालियाँ दे रहे थे। "लेकिन, इतना करनेपर भी परिस्थितिके अनुसार अपने रास्तेको ठीक करके महान आदर्शके पीछे चलनेवाले मार्क्सवादियोंके प्रभावको कम करनेका यह रास्ता नहीं है। साधारण जन (किसान, मज़दूर) कम्यूनिस्तोंकेलिए दी जानेवाली इन गालियोंसे भड़कनेवाले नहीं हैं। 'रूसके साथी हैं', इसे वह गाली नहीं समझ सकते; जब तक कि यह उन्हें समझा न दिया जाय, कि 'रूस ख़राब शैतान है, वह मज़दूर-किसान-हितका शत्रु है'। यदि रूस अच्छा है, तो उसके साथी कैसे बुरे हो सकते हैं?" (१६ जनवरी)

२० जनवरीको भारत सरकारके गृहविभागके अतिरिक्त—सेक्रेटरी टोटन-हमकी दस्तख़तसे एक नोटिस आया, जिसमें लिखा था—"तुम—राहुल सांकृत्यायन—को भारतरक्षा क़ानून (२६ ख) के अनुसार केन्द्रीय सरकारके हुकुमसे इसलिए नज़र-बन्द किया गया है, कि तुम भारतीय कम्यूनिस्त पार्टीके मेम्बर हो; जो कम्यूनिस्त पार्टी अपने उद्घोषित प्रोग्राम—हिंसात्मक क्रान्तिद्वारा शक्तिपर अधिकार करना—को पूरा करनेकेलिए युद्ध-संचालनमें सक्रिय बाधा दे रही है।" आगे उसमें यह भी लिखा था कि तुम्हारे इलज़ामको फिरसे देखा जा रहा है, अगर उसके बारेमें तुम कुछ कहना चाहते हो, तो लिखकर दे सकते हो। मैंने अपने २३ जनवरीके पत्रमें उत्तर देते हुए लिखा, कि हम अब इस युद्धको अपना तथा जनताका युद्ध समझते हैं, इसलिए क्रियात्मक रूपसे इसमें भाग लेना ज़रूरी समझते हैं।

१७ जनवरीसे मैंने "दर्शन-दिग्दर्शन"के अगले भागको लिखना शुरू किया और ११ मार्चको पुस्तक समाप्त कर दी। बीचमें कोषवृद्धिके आपरेशनकेलिए २९ जनवरीसे ९ फ़रवरी तक हज़ारीबाग़ सदर-अस्पतालमें रहना पड़ा। मेजर गुप्त एक सिद्धहस्त सर्जन थे, उन्होंने बड़ी निपुणतासे आपरेशन किया। पिछली वार भूख-हड़तालके बाद जब मैं सदर-अस्पताल आया था, तो उस वक़्त जो तीन रोमन् कैथलिक साधुनियाँ रोगि-परिचर्य्याका काम वहाँ कर रहीं थीं, वह अब भी मौजूद थीं। क्रोशिया (यूगोस्लाविया) की सहृदय भिक्षुणी अब भी यहीं थी। यूगोस्लावियापर हिटलरने जो आक्रमण किया, उसपर वह खिन्न थी। वह जानती थी कि मेरा बच्चा और बीबी लेनिनग्रादमें हैं, इसलिए हम दोनोंकी परस्पर सम-वेदना थी। उसका रोमन-कैथलिक ईसाई धर्मपर बहुत विश्वास था। मुझे चुप-चाप लेटे रहना पड़ता था। उसने मुझे रोमन-कैथलिकोंका बाइबिल-इतिहास दिया। कहानियाँ तो दिलचस्प मालूम होती थीं, किन्तु बच्चोंकी-सी। ९ जनवरी-

को हम लोग जेलमें चले आये।

२५ फ़र्वरीको श्री कार्य्यानन्द शर्मा तथा कुछ और साथी जेलसे छूटे। सिंगापुरको जापानने ले लिया था। १० मार्चको रंगूनको भी अंग्रेजोंने खाली कर दिया। अब जापानी फ़ासिस्त हिन्दुस्तानकी सीमाके पास पहुँच रहे थे। हम लोग इस वक़्त जेलके भीतर फड़फड़ा रहे थे, क्योंकि हम समझते थे, कि इस समय हमारा काम बाहर है। लेकिन अंग्रेज़-शासक युद्ध जीतनेका उतना ख़्याल नहीं रखते थे, जितना कि भविष्यके अपने स्वार्थकी रक्षाका। हम कबतक छूटेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं था, इसलिए समयका उपयोग करना ज़रूरी था। १२ मार्चको मैंने "वैज्ञानिक भौतिकवाद"को लिखना शुरू किया और २४ तारीख़को उसे ख़तम कर दिया।

क्रिप्स-वार्तालाप—२३ तारीख़को पता लगा, कि सर स्ट्रेफ़ोर्ड क्रिप्स दिल्ली पहुँच गये। यद्यपि एमरी और चर्चिलकी भारतके बारेमें क्या नीति है, इसे हम अच्छी तरह समझते थे, लेकिन युद्ध एक स्वतन्त्र शक्ति है, वह असम्भवको सम्भव बना देता है। दिल्लीकी ख़बरोंको हम लोग बड़ी उत्सुकतासे देख रहे थे। इसी बीच ६ अप्रैलको कोलम्बो और ७को विशाखपटनम्, कोकनाडापर जापानियोंके हवाई हमले हुए।

८ अप्रैलकी ख़बरोंसे पता लगा, कि क्रिप्स वर्तालाप भंग हो गया, लेकिन अगले दिन फिर आशाजनक ख़बरें आईं। ११ अप्रैलके पत्रोंसे मालूम हुआ कि वार्त्तालाप टूट गया। बड़ी निराशा हुई, क्योंकि हम लोग समझते थे, कि जापानसे लड़नेकेलिए भारतका सारा धन-बल, जन-बल लगाना चाहिए और वह तभी लग सकता है, जब कि हमारी अपनी सरकार हो। हमारे नेताओंने यह नहीं समझ पाया, कि युद्ध स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति है, वह निहत्थोंको हथियार देती है, दबेहुओंको उठने, और बँधे हुओंको मुक्त होनेका अवसर देती है। वह यह नहीं समझ पाये कि एक बार युद्धके भीतर घुस जानेपर हमें पूरी सैनिक तैयारीसे कोई नहीं रोक सकता। उन्होंने युद्धकी परिस्थितिकी अपेक्षा काग़ज़के टुकड़ोंपर अधिक विश्वास किया, और चाहने लगे कि अंग्रेज़ शासक उन्हें पकी-पकायी थाली परोसकर सामने रख दें। चर्चिल-एमरीने अपनी ख़ुशीसे क्रिप्सको नहीं भेजा था। जैसे ही लम्बी-लम्बी बातें करके मित्र-देशोंकी जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें समर्थ हुए, वैसे ही उन्होंने पैतरा बदल दिया। यूगोस्लाविया, इताली, यूनानके पीछेके युद्ध-इतिहासने बतला दिया, कि विलायती टोरियोंका सारा छन्नवन्न वहाँ बेकार था, जब

कि उन देशोंके बहादुरोंने फ़ासिस्तोंके विरुद्ध सारी ताक़त लगाकर लड़ना शुरू किया। खैर, हमारे देशने एक बड़ा अवसर खो दिया। अंग्रेज़-शासकोंने हिन्दुस्तानके फ़ासिस्त-विरोधी भावोंको दबानेमें बड़ा काम किया। भारतीय देशभक्तोंकी निराशाने उन्हें जापानियोंकी ओर ताकनेकेलिए मजबूर किया। क्रिप्स तो मेकडानलकी ही तरह झूठा और बेईमान निकला।

मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा थी, कि भारतकी ऐतिहासिक सामग्रीको इस्तेमाल करते हुए कुछ ऐसे उपन्यास और कहानियाँ लिखी जायें, जिससे हमारी प्रगतिशीलता-को मदद मिले। मैंने अवतक ("बाईसवीं सदी"को लेकर) दो उपन्यास लिखे थे। त्रिपिटकको पढ़ते हुए मैंने देखा था, कि उस वक़्तके भारतमें सिर्फ़ राजाओंकी निरंकुशता ही नहीं थी, वल्कि पूर्व और पच्छिमके भारतमें कितने ही प्रजातन्त्र थे। वैशालीके लिच्छिवियोंका प्रजातन्त्र इतना बलशाली था, कि मगध और कोसलके राजाओंको भी उसकी ओर अदबसे देखना पड़ता था। मैंने उस समयकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओंके साथ-साथ जनतन्त्रताके रूपको एक उपन्यासके रूपमें चित्रण करना चाहा, जिसका परिणाम हुआ "सिंह सेनापति"। इसे मैंने ७ मईको लिखना शुरू किया था, और २६ मईको खतम किया।

यूरोपसे लौटते वक़्त (जनवरी १९३३) मैंने दो पुस्तकोंके लिखनेका इरादा किया था, जिसमें एकको ("साम्यवाद ही क्यों") १९३४ हीमें लिख डाला, लेकिन दूसरी किताबमें मैं दिखलाना चाहता था, कि भारतीय संस्कृति और सभ्यताकी दुहाई देनेवाले झूठ-मूठ ही प्राचीनताके नामपर हमारे रास्तेमें रोड़ा अटकाते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति-सभ्यता कभी अचल नहीं रही, उसके हरेक अंगमें घोर परिवर्त्तन होता रहा। "मानव समाज" लिखते वक़्त मैंने यह भी अनुभव किया, कि बहुतसे पाठकोंको इसका ऐतिहासिक विश्लेषण समझनेमें आसान न होगा। यदि इन सिद्धान्तोंको जातीय इतिहास-प्रवाहको दरशानेवाली कहानियोंमें अंकित किया जाय, तो पाठकोंकेलिए समझना आसान हो जायगा। कुछ ऐसे ही विचारोंसे प्रेरित हो श्री भगवत शरण उपाध्यायने कितनी ही कहानियाँ लिखी थीं, जिनके-लिए मैं उन्हें साधुवाद भी दे चुका था, और यदि सारे कालको लेकर उन्होंने एक पुस्तक लिख डाली होती, तो शायद मैं इस काममें हाथ भी न लगाता। अस्तु, इसी ख्यालको लेकर मैंने १ जूनको "वोल्गासे गंगा" की पहिली कहानी "निशा" लिखी। और अंतिम २० वीं कहानी "सुमेर" २१ जूनको खतम हुई।

जब तक जेलसे निकले नहीं, तब तक कुछ लिखते-पढ़ते रहना चाहिए। २६

जूनसे मैंने "जपनियाँ राछछ" और दूसरे ७ नाटकोंको छपराकी भाषा (मल्लिका) में लिखा। मैं १९२१ हीसे अपने व्याख्यानोंकेलिए छपरामें वहाँ हीकी भाषाको इस्तेमाल करता आया था। मैं इन मातृभाषाओंकी क्षमता और समृद्ध शब्द-भण्डारको अपनी आँखोंसे देखता था। सोवियत्‌में जानेके बाद वहाँकी मातृभाषाओंकी उपयोगिताको देखकर अच्छी तरह समझने लगा, कि जनताके हिन्दुस्तानमें इन भाषाओंको बहुत काम करना है। इसी ख्यालसे १९३९ में छपरासे वहाँकी भाषामें एक अखबार निकालना चाहा था, और उसी ख्यालको लेकर इन आठ नाटकोंको लिखा। इनमें चार "जपनियाँ राछछ" "देस-रच्छक," "जरमनवाँके हार निहिचय" "ई हमार लड़ाई" फ़ासिस्त-विरोधी भावोंको फैलानेकेलिए लिखे गए थे। "ढुनमुन नेता" में भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचार-धाराओंका विश्लेषण किया गया था "नइकी दुनियाँ" "और जोंक" में साम्यवादी विचारों और साम्यवादकी आवश्यकताको और "मेहरारुनके दुरदसा" में स्त्रियोंकी हीनावस्थाको दिखलाया गया था।

कांग्रेस कमेटीने अपने इलाहाबादके प्रस्ताव और बादकी कार्यकरिणीके प्रस्तावमें जो रुख लिया था, वह मुझे गलत मालूम हुआ। १६ जूलाईको इसके बारेमें मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"इस (१५ जूलाईके) प्रस्ताव और गाँधीजीके वक्तव्यसे मालूम होता है, कि यदि अंग्रेज-शासकोंकी अकल ठीक न हुई, तो गाँधीजी सिर्फ धमकी नहीं दे रहे हैं। यह गाँधी और कांग्रेसके जीवन-मरणका प्रश्न है। यदि इस लड़ाईभर वह चुप रहना चाहते हैं, तो उन्हें खतम समझिये। जिस प्रकारका आर्थिक संकट जनतापर है, उससे जनआन्दोलन विकटरूप धारण कर सकता है। जब अंग्रेजोंकी हारपर हारकी ख़बरें सुनकर लोग निराशावादी हो चुके हैं, तब सारे नेताओंको पकड़कर जेलोंमें भर देनेसे काम नहीं चलेगा। सबसे कमी यहाँ (कांग्रेसी विचारधारामें) यही है, कि वह मुस्लिम-लीगको केवल अंग्रेजोंके बलपर कूदनेवाली संस्था समझनेकी ग़लती करती हैं और यह नहीं समझती कि उसकी पीठपर मुस्लिम जनता कितनी है। और इसी ग़लत ख्यालके कारण वह मुस्लिम लीगसे समझौता करनेकेलिए तैयार नहीं है।"

९ जून और बादमें मैंने "पाकिस्तान और जातियोंकी समस्या" पर एक लेख लिखा। जिसमें भारतको एक बहुजातिक राष्ट्रके तौरपर मानकर समस्याओंको देखनेकेलिए ज़ोर दिया।

आखिर २३ जूलाई आई, और मुझे सबेरे ही हजारीबाग़ जेलसे छोड़ दिया गया।

४

बाहरकी दुनियामें (१६४२-४३ ई०)

सुनील, कार्यानन्द और दूसरे साथी प्रान्तीय पार्टी आफ़िसमें मौजूद थे, जब कि मैं २४ जूलाईको पटना पहुँचा। पहिले देखना था कि बाहरकी अवस्था क्या है। २६ जूलाईको सोनपुर पहुँचा, स्वागत हुआ, एक छोटी सी सभामें व्याख्यान देना पड़ा। २७ जूलाईको छपरामें भी गया। शामको टाउनहालके हातेमें सभा हुई। भाषण दिया, भाषणका जब अन्त हो रहा था, तो उस वक़्त कुछ आदमियोंने हल्ला मचाना शुरू किया। यह भी देखा, कि कुछ काँग्रेसी नेता भी कम्यूनिस्तोंके विरोधमें खास तौरसे हिस्सा ले रहे हैं। कालेजके विद्यार्थियोंके साथ अगले दिन तीन घंटे बिताये। उसने बतला दिया कि नई पीढ़ीमें नई विचारधारा बहुत तेजीसे प्रविष्ट हो रही है। सीवान कालेजके मैदानमें व्याख्यान और वार्तालापसे (२६ जूलाई) इस धारणाकी और पुष्टि हुई। अज़ीज़ साहबके यहाँ भोजन हुआ। उनका स्नेह उसी तरह ताजा था। ३१ को पटनामें प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक थी। मुझे भी उसके सदस्यके तौर-पर शामिल होना था। ३० जूलाईको जब हम दीघाघाटसे पटना जहाज़ द्वारा जा रहे थे, तो कुछ पुराने परिचित काँग्रेसी भी साथ चल रहे थे। एक भाई कह रहे थे कि इतना बड़ा युद्ध छेड़नेकी कांग्रेसवाले बात कर रहे हैं, लेकिन देश तो उसके लिए तैयार नहीं है। यद्यपि कांग्रेसने अभी इस तरहका कोई प्रस्ताव नहीं पास किया था, लेकिन यह ख्याल बहुत फैला हुआ था, कि अबके संघर्षमें रेलकी पटरियाँ उखाड़ी जायँगी, तार काटे जायेंगे, कचहरियोंको दख़ल किया जायेगा आदि। हमारे साथी भी कह रहे थे, कि इतने बड़े कामकेलिए जिस जबर्दस्त संगठन और अनुशासनकी जरूरत है, उसके लिए लोगोंको तैयार नहीं किया गया है। मैंने पूछा—"यदि तैयार किया जाता, तो यह ठीक होता? उन्होंने कहा—शायद, लेकिन आपकी क्या राय है?"

मैंने कहा—"यह ठीक नहीं है। ऐसा करके हम दुनियाकी उन सारी शक्तियोंकी सहानुभूतिको खो बैठेंगे, जो कि हमें स्वतन्त्र देखना चाहती हैं। इस वक़्त रेल, तार काटनेका यह छोड़ और कोई मतलब नहीं हो सकता, कि जापानियोंको हिन्दुस्तानके भीतर घुसनेमें मदद मिले। जिन्होंने कोरिया और चीनमें जापानके खूनी शासनका इतिहास नहीं पढ़ा है, वही आशा रख सकते हैं कि जापान हिन्दुस्तानको आज़ादी देगा।

हमारे साथ हाजीपुरके पासके किसी गाँवका एक नौजवान भी चल रहा था। वह पटनाकी बिजली कम्पनीमें नौकर था। उसने पूछा—"अब तक तो हम लोग पैसा-कौड़ी घरमें रखते थे अब चोरी-डकैती बहुत बढ़ गई है, हमें रुपयों को बंक में रखना चाहिए या नहीं ? मैंने कहा—"बंक में वह ज्यादा सुरक्षित रहेंगे।"

उसने कभी सत्याग्रहमें भाग न लिया था, न राष्ट्रीय आन्दोलनसे उसकी सहानुभूति थी। जब रेल-तार काटनेकी बात हो रही थी, तब वह बहुत खुश हो रहा था, और कहने लगा—"यह तो अच्छा होगा, नहीं तो अंग्रेज यहाँसे जाएँगे कैसे?"

मैंने कहा—"रेल-तार कट जाएँगे, तो पटनासे आपका गाँव बहुत दूर हो जायगा, फिर महीनेमें दो बार नहीं, ६ महीनेमें एक बार भी घर जाना मुश्किल होगा।"

बेचारा यह सुनकर घबड़ाया। मैंने कहा—"घबड़ानेकेलिए नहीं कह रहा हूँ, और न यही कह रहा हूँ कि देशकी आज़ादीकेलिए आदमीको चरम त्यागकेलिए तैयार नहीं रहना चाहिए। सवाल यह है कि अगर एक सरकारको लुंज करते हैं, तो उसकी जगह दूसरी सरकारका इंतिज़ाम आपको करना चाहिए। यह कहनेसे काम नहीं चलेगा, कि हम लोग अपना काम करे जाते हैं, फिर सँभालनेवाला सँभालेगा। सँभालनेवाला सँभालेगा नहीं, बल्कि यदि शासनयन्त्र आपके पास नहीं है, तो इसका परिणाम होगा लूटपाट और आपसमें मारकाट।"

इसके बाद मैंने यह भी कहा, कि इस वक़्त युद्धके समय ऐसा करके हम दुनियाकी सहानभूति खो बैठेंगे और अंग्रेज-टोरियोंको खुलकर दमन करनेका मौक़ा देंगे।

३१ जूलाईको सदाकत-आश्रममें प्रान्तीय काँग्रेस कमेटीकी बैठक थी। सभी जिलोंके लोग सम्मिलित हुए थे। राजेन्द्र बाबू अभी वर्धासे आए थे। उन्होंने अपने व्याख्यानमें कहा, कि मैंने आपको किसी प्रस्ताव या निर्णयकेलिए तकलीफ़ नहीं दी, बल्कि जिस अन्तिम युद्धमें हमें अब कूदना है, उसके बारेमें मैं आपको बतलाना चाहता हूँ। इसके बाद उन्होंने एक घंटाके क़रीब व्याख्यान दिया। जिसका संक्षेप था काँग्रेस सर्वस्वकी बाजी लगाने जा रही है। अपने ५२ सालकी उम्रमें काँग्रेसने कभी ऐसा क़दम नहीं उठाया। सत्याग्रह जो होगा, उसमें हर मौक़े हर तरीके इस्तेमाल किए जा सकते हैं। अहिंसाको छोड़कर और कोई भी बन्धन नहीं रहेगा। उस वक़्त पथ-प्रदर्शनकेलिए न काँग्रेस रह जायगी, न काँग्रेसनेता। फिर सबको अपने आप अपना नेता बनना होगा; हिन्दू, मुस्लिम समझौता पीछे, स्वराज पहिले।

जिलासे आए लोगोंने बतलाया कि देश इतने बड़े संघर्षकेलिए तैयार नहीं है।

बैठकके बाद राजेन्द्र बाबूने एक-एक जिलेके सदस्योंसे अलग-अलग बात की, जिसमें बातोंको और स्पष्ट किया, और बतलाया कि अहिंसा तथा सदाचारके खिलाफ़ कोई काम नहीं होना चहिए। बाकी तुम कर सकते हो।

वहाँसे आनेपर शामको मैं हिन्दुस्तानी प्रेसमें गया, तो कुछ भद्र पुरुषोंके पूछनेपर मैंने कहा—"रेल, तार कटेंगे, लूट-पाट मचेगी—और आँख मूँदकर सरकार दमन करेगी।" उसी दिन स्वामी सहजानन्दजीसे बातचीत हुई, और उन्होंने "हुंकार" के संपादनका भार मुझ लेनेको कहा, जिसे ८ दिसम्बर तक मुझे बहन करना पड़ा।

कलकत्तामें—(१—३ अगस्त)—उस दिन रातकी गाड़ीसे मैं कलकत्ताकेलिए रवाना हुआ। अगले दिन (१ अगस्त) भारतीय कम्यूनिस्त पार्टीके कानूनी होनेके उपलक्षमें उत्सव और प्रदर्शन था। यद्यपि वर्षा हो रही थी, तो भी प्रदर्शन-स्थानमें मजूरों, विद्यार्थियों और महिलाओंकी भारी संख्या एकत्रित थी। टाउन-हालमें भला बीस-बीस हजार आदमियोंकेलिए कहाँ जगह हो सकती थी? स्वयंसेवकोंने व्यवस्थाको अच्छी तरह कायम रखा। मुझे इसी सभाका सभापतित्व करना था। कलकत्ताका मेरा सम्बन्ध अड़तीस वर्षोंका है। सत्याग्रहके समयमें मैंने उसे देखा था। यद्यपि यह बात नहीं थी, कि इतना बड़ा प्रदर्शन पहिले-पहिल न हुआ हो, प्रदर्शन इससे बहुत बड़े-बड़े हुए हैं, लेकिन अबके कुछ खास चीजें थीं, जो मेरे ध्यानको अपनी ओर आकृष्ट किए विना नहीं रह सकती थीं। एक ओर अपनी उन सारी योग्यताओं और आत्मत्यागको लिए बंगालके वह तरुण थे, जिन्होंने नवीन भारतके इतिहासकी पहिली ईंटे रखीं और देशको आज़ादीकेलिए मरना सिखाया। दूसरी ओर ट्राम, कारपोरेशन और कारखानोंके हज़ारों मज़दूर थे, जो मज़दूरीकेलिए, मजूरोंपर होते अन्यायके प्रतिकारकेलिए कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। तीसरी तरफ़ मैं देख रहा था, उत्तरी भारतके मज़दूरों और बंगाली राष्ट्र-कर्मियोंके बीचमें जो भारी खाई थी, वह पट चुकी है। इस प्रदर्शन और सभाको देखकर आदमी निराशावादी कैसे रह सकता था? मैं कलकत्तामें ३ दिन रहा। इस बीचमें वहाँके विद्वानों और बुद्धि-जीवियोंसे मिलनेका मौका मिला। देखा साम्यवादने उन्हें बहुत प्रभावित किया है। बिहार और युक्तप्रान्तके मज़दूरोंसे मिला, और देखा कि पार्टी किस तरह उनमें आत्मचेतना भर रही है।

४ अगस्तको मैंने कलकत्तासे प्रस्थान किया और उसी दिन पटना पहुँच गया। ५ अगस्तको अखबारोंमें पढ़ा कि इलाहाबादके काँग्रेस-दफ़्तरकी पुलीसने तलाशी ली, वहाँके कितने ही काग़ज़ पत्र उठा ले गई और उनमेंसे कितनों हीको सरकारने अख-

बारोंमें छाप दिया। इसका सिर्फ एक ही मतलब था, कि दुनियाके लोग अंग्रेज-साम्राज्यवादियोंपर भारतके साथ समझौता करनेका ज़ोर न डालें। अंतर्राष्ट्रीय शुभेच्छा एकमात्र भारतको आज़ादी नहीं दिला सकती, लेकिन उसकी हमें बड़ी जरूरत है, इसमें भी शक नहीं।

५ अगस्तको गया जिलेमें मखदूमपुरके पास सती स्थानमें गया। यहाँके किसानों-पर जमींदारोंने वहुत जुल्म कर रखा था। किसानोंके १०० बीघे खेत परती पड़े हुए थे। एक ओर सरकारने पन्द्रह-बीससौ मन अनाज पैदा करनेवाले इन खेतोंको बेकार करनेमें मदद की थी, दूसरी ओर वह "अधिक अन्न उपजाओ," का प्रचार कर रही थी! क्या यह परस्पर-विरोधी बातें नहीं थीं? गाँवके ३१ आदमी जेलमें थे। लेकिन रोटीका सवाल ऐसा है, जिसे दमन दबा नहीं सकता। दो हज़ारसे कम जनता नहीं थी। स्वामीजी, मेरा और पं० यदुनन्दन शर्माका व्याख्यान हुआ।

६ अगस्तको पटनामें भी पार्टीके कानूनी होनेकी खुशीमें सभा हुई। यहाँ बारह-तेरह गाँधीवादी विद्यार्थियोंने सभामें गड़बड़ी मचानेकी कोशिश की। अब मालूम हो रहा था, कम्युनिस्त पार्टी जितनी ही बढ़ती जायगी, उसके विरोधी भी उतने ही बेकार होते जायेंगे। ७ अगस्तको मैंने मजिस्ट्रेटके सामने घोषित करके "हुंकार" का सम्पादन-भार अपने ऊपर लिया। उसकेलिए कई लेख और टिप्पणियाँ लिखीं। ९ अगस्तको हम नौगछियामें सभाकेलिए गए हुए थे। जिलाछात्रसभाके उत्सवका मैं सभापति था। सभा अच्छी रही, इन्द्रदीपका व्याख्यान पहिले-पहिल सुना। इंद्रदीप पटना विश्वविद्यालयके बहुत योग्य छात्रोंमें थे। एम० ए० में वह सर्व-प्रथम आए थे और राजेन्द्रकालेजने बिना माँगे ही उन्हें अर्थशास्त्रका प्रोफ़ेसर नियुक्त किया था। पटना कालेजने भी लेक्चरर बनाना चाहा था, लेकिन उन्होंने राष्ट्रसेवाको अपना लक्ष्य बनाया, इसलिए उसको कबूल नहीं किया। जिस वक़्त पार्टीके ऊपर जबर्दस्त दमन हो रहा था, उस वक़्त इंद्रदीप ने उसे बहुत सँभाला। मैंने इन्द्र-दीपके लेखोंको पढ़ा था, जिनके देखनेसे मालूम हुआ कि, उनकी कलममें बड़ी ताकत है। यहाँ उनके भाषणको सुनकर मुझे मालूम हुआ, कि वाणीपर भी उनका अधिकार है।

नौगछिया (भागलपुर) से रवाना होते-होते पता लग गया कि, काँग्रेस कार्य-कारिणीको गिरफ़्तार कर लिया गया। गाँधी, नेहरू, आज़ाद अब जेलमें थे, लोगोंमें बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी।

अगस्तकी आँधी—१० तारीखके दोपहरको छपरा पहुँचा। पता लगा,

कि कल भी विद्यार्थियोंने दमनके विरुद्ध जुलूस निकाला था, आज भी उनका एक बड़ा जुलूस निकला। मालूम हुआ, ५ आदमी अबतक इस जिलेमें गिरफ़्तार हो चुके हैं। कई देशभक्तोंने मुझसे पूछा, तो मैंने कहा "जापानको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जिस तरीकेसे फ़ायदा हो, वह काम हम नहीं करेंगे। साथ ही नौकरशाहीके हाथके हथियार नहीं बनेंगे। (लोगोंमें) बहुत जोश है। अव्यवस्था जरूर होगी। और नौकरशाही (इसे) चाहेगी।" (१० अगस्त)

११ अगस्तको पटना पहुँचा। यहाँ भी उत्तेजना बहुत थी। विद्यार्थियोंके जुलूस निकल रहे थे। अहमदाबाद, बम्बई, पूना आदिमें गोली चली, इन खबरोंने आगमें घीका काम दिया। दोपहर बाद जुलूस निकला। कम्यूनिस्त छात्रोंने समझानेकी कोशिश की, और अब तक वह सफल हुये थे, किन्तु गोलियोंकी खबरोंने तरुणोंको बहुत उत्तेजित कर दिया था। इसलिये वह अब कुछ कर डालना चाहते थे। एक बड़ा जुलूस निकल कर सेक्रेटरियटकी ओर गया। वहाँ दस हजारकी भीड़ जमा हो गई। गोली चली। तीन आदमी वहीं मर गए और कितने ही घायल हुये। शामके वक्त एक छात्र आया। देखा, उसका कमीज खूनसे भरा हुआ है। उसने बतलाया कि घायलोंको रिक्शामें रखते वक्त मेरे कपड़ोंमें खून लग गया। आधी रात को ७ (?) लाशोंका जुलूस निकाला गया। कौन था, जो इन तरुणोंकी मृत्यु पर आँसू न बहाता। बीच-बीचमें रोशनी थी, लाशें फूलसे सजी हुई थीं और अपार जनता पीछे-पीछे जा रही थी। सबकी आँखोंमें क्रोध था, सबके हृदयोंमें क्षोभ था। इस दृश्यने लोगोंके धैर्यको तोड़ दिया। १२ तारीखको पूरी हड़ताल रही, यह कहनेसे पटनाका वर्णन काफ़ी नहीं हो सकता। उस दिन पटना-शहरमें अंग्रेजी राज नहीं रह गया था। रिक्शे और इक्के नहीं चलते थे। छात्र भी अब नेतृत्व नहीं करते थे। नेतृत्व रिक्शा, इक्का चलानेवाले तथा दूसरे ऐसे ही आदमियोंके हाथमें चला गया था, जिनको राजनीतिमें इतना ही मालूम था, कि अंग्रेज हमारे दुश्मन हैं। चन्द्रशेखर और दूसरे कम्यूनिस्त छात्रोंको समझानेकी कोशिश कर रहे थे, लेकिन वह इन्हें अंग्रेजोंका दलाल कहते थे। मैं भी एकाध होस्टलोंमें गया था, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। दोपहर बाद जुलूस निकला, किन्तु इसमें कोई नेतृत्व नहीं था। एक विशाल सभा हुई, कांग्रेसके कुछ नेताओंने "क्रान्ति" में कूदनेकेलिए लोगोंको उत्साहित किया। सुननेवालोंने कहा—लेकचर सुननेकी जरूरत नहीं, चलो काम करें। फिर शहरके तार काटे जाने लगे। हमारे रहनेके मकानके पासमें एक तारका खम्भा था, एक आदमी उसपर चढ़ गया, और उसने

चीनोंकी टोपियोंको कूँच डाला। मैं और पं० यदुनन्दन शर्मा किसान सभा कार्यालयकी छतपर बैठे यह सब दृश्य देख रहे थे। डाकखानोंको जलाया जा रहा था, लेटरबक्स तोड़े जा रहे थे। दूकानदार भी बहुत खुश थे। कैदियोंकी भरी लारीको लोगोंने पकड़कर उन्हें छोड़ दिया। राजेन्द्रबाबूकी बात ठीक हो रही थी। वहाँ हरेक आदमी अपना नेता था। मैं देख रहा था, लोगोंमें वस्तुतः क्रान्तिने एक ऐसा भाव पैदा कर दिया था, जिसमें स्वार्थका नाम न था। हमारे मकानके सामने सड़कपर ईंटें रख दी गई थीं, जिसमें फ़ौजी लारियाँ उधरसे न चल सकें, यह बिल्कुल बच्चोंकी सी बात थी। फ़ौजी लारियोंको गढ़े और खड्ड भी नहीं रोक सकते। रातको अँधेरा था, चलनेवालोंका पैर ज़रूर टूटता, लेकिन रातके एक बजे तक मैंने देखा, एक आदमी स्वेच्छासे लोगोंसे कह रहा था—किरपा करके इधरसे आइए। "किरपा" शब्दने खास तौरसे मेरे ध्यानको आकृष्ट किया। क्योंकि अभी तक हमारे अशिक्षित जनोंमें इस तरहके शब्दका प्रयोग नहीं होता था। क्रान्ति तो नहीं आई, क्योंकि उसके लानेकी कोशिश नहीं की गई, लेकिन इसमें शक नहीं, कि क्रान्तिका वातावरण वहाँ ज़रूर था। नगरकी जनशक्तिने पुराने शासनको खतम कर दिया था—सिर्फ खतमभर कर दिया था, लेकिन खाली जगह पड़ी हुई थी। जिन विद्यार्थियोंने नगरके कमेरोंको उत्तेजित करके यहाँ तक पहुँचाया था, वह खुद इनको कोई रास्ता बता नहीं रहे थे। दूसरे दिन (१३ अगस्त) एक भद्र पुरुष बड़े उत्साहके साथ कह रहे थे—अब क्रान्ति बढ़ेगी। विद्यार्थी गाँवोंकी ओर जाएँगे, और वहाँ भी आग लगेगी। गान्धीजी सब कुछ जानते थे।

एक बंगाली भद्रपुरुष कह रहे थे, यह तो कोरी अराजकता है। स्वराज्य आखिर राज्य होता है, अराज्य नहीं, आप आगसे बचानेकी कोशिश कीजिए। कोशिश तो हो रही थी, लेकिन सरकारी दमनकी खबरें अखबारोंमें छपकर जब सारे शहरमें फैल गईं, उत्तेजना और बढ़ी। १२ अगस्तको सबेरेके वक़्ततक पटनामें सड़क-तार नहीं कटे थे, लेकिन उसी वक़्त अखबारोंमें दूसरे शहरोंमें सड़क-तार कटनेकी बातें छपीं। मैंने कहा—अब पटनामें भी वही होने जा रहा है। लोगोंने इन खबरोंसे सीखा और उसी दिन पटनामें भी रेलतार कट गए।

शाम तक जोश ठंडा हो चला। इक्के, रिक्शेवाले बेचारे रोज़ कमाते हैं, और रोज खाते हैं। दो दिन वह क्रान्तिकी लड़ाईमें शामिल रहे, लेकिन खानेका कोई ठिकाना नहीं था। मैंने उस दिन डायरीमें लिखा था "आज शामको बाढ़ (जोश) नीचेकी ओर जा रही है। गाँवोंमें जमींदार महाजन और बनियोंके लूटनेका प्रस्ताव

चलेगा।..इसको देखकर अफसोस होता है। जो अधिकार कल इन लोगोंके हाथमें आया था, उससे वह बहुत कुछ कर सकते थे।

१२ की रातको अगर आन्दोलन वाले चाहते, तो लोगोंसे दस-बीस लाख रुपया, हजारों मन अनाज जमा कर सकते थे, और उससे रिक्शे, इक्के वालों तथा दूसरे कमेरोंको खाना देकर उन्हें और कितने ही दिनों तक हड़तालपर कायम रख सकते थे——यह ठीक था कि टैङ्क और मशीनगनके आनेपर उनका डटा रहना संभव नहीं था। साथ ही उस रात यदि चाहते, तो काग़ज़वाले हज़ारोंमन काग़ज़ देते, प्रेस मुफ़्त उनकी घोषणाओं और पासोंको छापते। कुछ दिनों बाद उन्हें चाहे असफलता भी मिलती, लेकिन एक व्यवस्थित सरकार कायम करके उसके व्यवस्थापत्रोंको छापकर इतिहास-केलिए वह एक चिन्ह छोड़ जाते। लेकिन हमारे नेताओंने तो समझा था, कि हरेक आदमी अपना अपना नेता बने, बस यही क्रान्ति है। जो घटनाएँ मेरे सामने गुज़र रही थीं, उन्हें देखकर मुझे एक खयालसे और भी दुख होता था, कि क्रान्तिके साथ मज़ाक़ किया जा रहा है। जनताके हृदयमें बद्ध अपार शक्तिको खोल दिया गया था, लेकिन आतिशबाजीमें खर्च होनेवाली बारूदकी तरह, मैं समझता था, इसका दुष्परिणाम यह होगा कि इस वक़्तकी असफलतासे गंभीर क्रान्तिके वक़्त जनता उतना दिल खोलकर भाग नहीं ले सकेगी।

१४ तारीखको जोश और भी ठंडा हो गया। विद्यार्थी दो दिनों तक रहकर देख चुके थे, कि अब उनको कोई नहीं पूछता। जैसे उनमेंसे हरेकने अपना नेता बनना चाहा था, वैसे ही उनसे भी भारी संख्या मैदानमें आगई थी, जिनमें हरेक अपना नेता बनना चाहता था। बहुतसे छात्र तो कल ही पटना छोड़कर चले गए थे, आज कालेजोंको एक महीनेकी छुट्टी दे दी गई, और १० बजे तक होस्टलोंको छोड़ देनेका हुकुम दे दिया गया था। मैं एक होस्टलमें गया। वहाँ कुछ विद्यार्थी बहुत परेशान थे कि अपने सामानको कहाँ रखें। सुपरिन्टेन्डेन्टने एक कमरा खुलवा दिया और कहा कि अपने सामानपर नाम लिखकर इसमें रख दो। आज तीसरे दिन रिक्शा, इक्का-वाले बिना कहे ही अपने काममें लग गए थे, वह छात्रोंको गाली दे रहे थे। सेना पहुँच गई थी, और वह लोगोंसे रास्ता साफ़ करवा रही थी। कितने ही लोग तो खुद ही अपने सामनेकी सड़कको साफ़ कर चुके थे। रास्तेमें यदि कोई बाबू मिल जाता, तो उसे भी सेना सड़क साफ़ करनेमें लगा देती। एकाध प्रोफ़ेसरोंको भी पकड़कर उसने यह काम करवाया था। उसी शामको फ़ौजी-क़ानूनकी घोषणा हुई।

कार्यानन्द जी बम्बईमें काँग्रेस कमेटीकी बैठकमें गए थे। आज वह लौटे।

स्वामी सहजानन्द भी आए। उन्होंने अपना सामान फतुहामें छोड़ दिया था। १५ अगस्त को जीवेन्द्र ब्रह्मचारी उसे लेने गए। बतला रहे थे—एक जगह पाँच आदमी सड़कपर खड़े थे, कोई भी सवारी उधरसे गुजरती तो आदमी पीछे चार चार आना कर वसूल कर रहे थे। गाँवके कुछ आदमियोंने समझा था, कि अब यहाँ हमारा राज्य है, यहाँसे चलनेवालोंको टैक्स देना चाहिए। उस दिन सड़कोंपर लाउड-स्पीकरसे यह कहती हुई मोटरें घूम रही थीं, कि दो बजे तक रास्ता साफ़ कर दो, नहीं तो कड़ी सजा होगी; विरोधियोंको गोली मारी जायगी। रेलें बन्द हो गई, और लोग अब नावोंसे आने-जाने लगे। १६ अगस्तको बाँकीपुर और पटनामें खूब गिरफ्तारियाँ हुईं। सड़कोंपर आना जाना साधारण हो गया था। सिकरेटरियट और कुछ दूसरी जगहोंमें जानेकी मनाही थी। गोरी पलटनका जगह-जगह पहरा था, और कोई आदमी पासके बिना जा नहीं सकता था।

१७ अगस्तको देखा कि बहुतसे लोग शहर छोड़कर बाहर भाग रहे हैं। कोई घोड़ागाड़ीपर अपना सामान लिए जा रहा है, कितने परिवार नावोंसे भाग रहे हैं। पटना बड़ी तेजीसे खाली हो रहा था।

जब पटना या दूसरे शहरोंमें झगड़ा खतम हो गया, तब भी बिहारके गाँवोंमें कितने ही दिनों तक आग जलती रही। २१ अगस्तको मैंने लिखा था—"सेना इस वक्त विद्रोहको दबानेमें लगी हुई है। गाँधीवाद अराजकताको छोड़ व्यवस्थित संघर्षका रूप थोड़े ही ले सकता है। और अराजकता पीछे बदमाशों और गुण्डोंके हाथमें चली जाती है। वैयक्तिक लाभकेलिए लोग लूटमार करने लगते हैं। सोनपुरमें ऐसा हुआ, बिहटामें ऐसा हुआ।..नेता लोग तो जल्दी पकड़े जानेकेलिये उतावले हो गए। दमन करते वक्त ब्रिटिश नौकरशाही यह ख्याल नहीं कर रही है कि उसके शिरपर जापान बैठा हुआ है और भारतीय जनताको लेकर उसे जापानसे मुकाबिला करना है।

पहिले लोगोंने रेलके मालगोदामों और ट्रेनोंको खूब लूटा। चीनी, आटे, कपड़ेकी गाँठें, दियासलाईके डब्बे और दूसरी चीज़ें बैलगाड़ियोंपर लादकर अपने घरोंमें ले गए। अब पलटन देहातमें भी घूमने लगी थी, इसलिए लूटे सामानको लोग जहाँ तहाँ फेंकने लगे। गाँवोंके पोखरे और कुओंमें चीनीपाट दी गई और अब वह सड़कर बहुत बदबू पैदा कर रही थी। जिनके पास गंगा थी, उन्होंने चीजोंको गंगामें डाल दिया।

पालीगंज (पटना) थानेकी बात एक साथीने आकर बतलाई। एक स्वराजी नेता

भीड़ जमाकर थाना जलाने गए थे। थानेदारने कहा—जलाएँगे क्यों ? अब थानेमें आपका ही हुकुम चलेगा। नेता फूलकर कुप्पा हो गए। उन्होंने थानेके कागजपत्रपर अपना हस्ताक्षर किया, अपनी मुहर लगाई। पिस्तौल माँगने लगे, तो दारोगाने कहा कि मरम्मत होने गई है। वहाँ हफ्तेभर "स्वराज्य" रहा। फिर गोरी पलटनने पहुँचकर मारना घर जलाना शुरू किया।

अमवारी और जयजोरीके किसान इस बाढ़में नहीं बहे। लोगोंने बहुतेरा कहा, लेकिन उन्होंने जवाब दिया—राहुल बाबाका हुकुम ले आएँ, स्वामीजीका पत्र ले आएँ, तब हम इस लड़ाईमें भाग लेंगे। आसपासके साथियोंसे उन्हें मालूम हो गया था, कि इस वक्त हमें ऐसा संघर्ष नहीं छेड़ना है, जिसमें किसानों-मजूरोंके जबर्दस्त दुश्मन जापानको किसी तरहकी मदद मिले। लोग आँदरका पुल तोड़ने गए, साथी जौव्वाद और मजहरने बहुत समझाया, लेकिन पुल तोड़ दिया गया। एक विद्यार्थी शुकदेवसिंहने इस वक्त लोगोंके समझानेमें बहुत तत्परता दिखाई थी, इसके कारण नेता बहुत नाराज हुये, उन्होंने शुकदेवको पकड़ लिया, और झट ही फैसला हो गया कि उसे प्राण दंड दे दिया जाय। लेकिन प्राण-दंडको तुरन्त कार्यरूपमें परिणत नहीं किया गया। ४ दिन तक शुकदेवको उन्होंने अपनी जेलमें रखा, इसी बीच उत्साह ठंडा होने लगा और शुकदेवके प्राण बच गए।

सीवान शहरकी सभामें गोली चली, लेकिन तोड़-फोड़ वहाँ नहीं हुई। बसन्तपुर, गुठनी, दरौली, रघुनाथपुर आदि कई थानोंपर विद्रोहियोंका अधिकार हो गया था, और वहाँके थानेदार तथा सिपाही सीवान चले आए थे। थानोंकी जगह कोई दूसरी व्यवस्था हुई नहीं थी, इसलिए लूट मार मची हुई थी। गुठनी थानेके लोग आकर थानेदारसे प्रार्थना कर रहे थे, कि आप लौट चलें।

इनारा (आजमगढ़) के पासके एक दोस्त अभी अभी १४ सितम्बरको अपने गाँवसे लौटे थे। वह कह रहे थे—सेना तो लोगोंको भयभीत करके ही रह जाती है, किन्तु पुलिस आँख मूँदकर लूट रही है। पलटनको लिवा लानेका काम भी पुलिस हीका है। एक दिन पता लगा कि उनके गाँवमें फौज आ रही है। लोगोंने दो सौ रुपया जमा किया, और दारोगाके पास गए, लेकिन वह तीन सौ माँग रहा था। एक सौ रुपया जमा करनेकी दिक्कत हो रही थी, तो औरतोंने अपने गाड़े हुए रुपयोंको निकालकर दे दिया। दारोगाके न जाने ऐसे कितने तीन सौ थानेपर बैठे ही बैठे मिले होंगे। लोग बात ठीक-ठाक करके लौटे आ रहे थे। गाँवके किसी आदमीको देखकर उन्होंने दूरहीसे हाथ हिलाकर कुछ कहा। आदमी ने

समझा कि सिपाही आ रहे हैं। दौड़कर गाँवमें आ उसने और लोगोंको खबर दी। सारा गाँव भाग खड़ा हुआ। चूल्हेकी हाँड़ी चूल्हेपर रह गई, परसी थाली वैसी ही रह गई, लोग जो कुछ उठा सकते थे, उसे हाथमें लेकर भागे। उस दिन गाँवोंकी बहू और बेटियाँ एक समान दिखाई देती थीं। मैंने पूछा—घूँघट ? जवाब मिला—घूँघट करके भागतीं कैसे ? बेचारी नव-वधुओंने घरसे बाहरके स्थानोंको कभी देखा न था, अब आँखें खुली थीं, लेकिन किसी स्थानको पहचानती नहीं थीं, इसलिए उन्हें अँगुली पकड़कर ले जानेकी ज़रूरत थी। मेरे ब्राह्मण मित्रने दर्दभरी मुस्कुराहटके साथ कहा—एक घड़ीमें पीढ़ियोंकी मर्य्यादाएँ मिट गईं, जिन बहुओंके मुँहको किसीने नहीं देखा था, वह खुले मुँह हमारे सामने भाग रही थीं।

पुलीसकी इस वक़्त खूब बन आई थी। वह रुपया बनानेमें लगी हुई थी। कम्यू-निस्ट जहाँ भी थे, वहाँ लोगोंको इस कामसे अलग रहनेकेलिए कहते थे, लेकिन साथ ही वह यह भी कहते थे, कि अंग्रेज़ शासकोंने जान-बूझकर इस झगड़ेको पैदा कराया। क्रिप्सकी बातचीतके बेकार होनेपर मित्रदेशोंकी जनताने फिर दबाना शुरू किया था, कि हिन्दुस्तानके साथ समझौता किया जाय। अंग्रेज़-शासक यही दिखलाना चाहते थे, कि हिन्दुस्तानी हमारे नहीं जापानके मित्र हैं—जापानकी मित्रताको साबित करनेकेलिए इससे बड़ा सबूत क्या चाहिए, कि हिन्दुस्तानी हाथोंने उन रेलों और तारोंको काटा, जिनके सहारे जापानसे लड़नेकेलिए फ़ौजें भेजी जातीं।

साथी कार्यानन्द लखीसरायमें भीड़को मना कर रहे थे, पुलीस उन्हें पकड़ ले गई, और कई दिनों बाद छोड़ा। सुबोध (मुज़फ़्फ़रपुर) अपनेको खतरेमें डालकर अकेला लोगोंको समझा रहा था। उसने समझानेके ही लिए तोड़-फोड़की ओरसे छपी एक नोटिसको अपने पास रखा था। पुलीस उसके विचारोंको जानती थी। सुबोधको पकड़कर ३ (?) वर्षकेलिए जेलमें ठोक दिया। सोनपुरके साथी वेदान्तीने लोगोंके समझानेमें बड़ी हिम्मतका परिचय दिया। भीड़ रजिस्टरी फूँकने गई थी। वहाँ वेदान्ती कह रहे थे—"भाइयो! यह अपने ही काग़ज-पत्र हैं; इन्हें फूँकनेसे क्या मतलब"। उनपर भी मुक़दमा चलाया गया, और सिर्फ़ भीड़में रहनेके कारण ५ सालकी सज़ा दी गई—पीछे अपीलसे वह छोड़ दिये गये। गयामें इसी तरह हबीब और ओलाको जेलमें डाल दिया गया। बिहारमें सैकड़ों कम्यूनिस्ट इस तरह जेलोंमें बन्द कर दिये गये।

२९ अगस्तको मैं बिहार-सरकारके चीफ़ सेक्रेटरी गाडबोलेसे मिला और उन्हें

सारी परिस्थिति बतलाई। वह अपनेको बेबस बतलाते थे।

२२ सितम्बरको छपराके कलक्टर मिस्टर के० पी० सिंहसे मैं इन्हीं बातोंको बतलाने गया था, लेकिन उन्होंने हुकुम दिया—कल आइए। हिन्दुस्तानी आई० सी० यस० सभी इसी तरह के होते हैं, यह मैं नहीं कहता। क्योंकि कइयों को मुझे नजदीकसे देखनेका मौक़ा मिला है। लेकिन यह ज़रूर कहूँगा, कि वह अपने गोरे साथियोंसे भी अधिक अभिमानी होते हैं। "छुद्र नदी भरि चलि उतराई" यह चौपाई उनके ऊपर पूरी तौरसे घटित होती है। २२-२५ सितम्बरको मैं छपरासे प्रयाग तक गया। रास्तेमें बहुतसे स्टेशनोंको जला देखा। बलियासे पार होते वक़्त पता लगा, कि पुलीसने यहाँ कितना ज़ुल्म कर रखा है।

प्रयागमें (२७ सितम्बर) "हिन्दीगोष्ठी"के सामने मातृभाषाएँ ही शिक्षाका माध्यम होनी चाहिएँ।" पर व्याख्यान दिया। मैं इसके बारेमें अपने विचारोंको पत्रोंमें प्रकाशित कराता रहा हूँ, इसलिए कोई नई चीज़ नहीं थी, तो भी मैंने देखा कि अभी हमारे साहित्यिक इस सच्चाईको माननेकेलिए तैयार नहीं हैं। वह समझते हैं कि इससे हिन्दीको हानि होगी। मैंने उनकी शंकाओंका जवाब देते हुए कहा कि हिन्दीको नुक़सान होनेका डर नहीं; क्योंकि पटना, बनारस या आगरावालोंको प्रयागवालोंके साथ साहित्यिकी संपर्क रखनेकेलिए एक भाषाकी आवश्यकता होगी, जो हिन्दी ही होगी। हमारे प्रजातन्त्रोंके संघकेलिए भी एक सम्मिलित भाषाकी ज़रूरत है, वह हिन्दी होगी। लेकिन साथ ही हमें अपनी जनताको शीघ्र साक्षर और शिक्षित बनाना है, यह काम मातृ-भाषाएँ ही कर सकती हैं।

३० सितंबरको एक बर्मी तरुणसे मुलाकात हुई। वह आजकल प्रयाग आए हुए थे। कह रहे थे—"जिस वक़्त जापानी बर्मामें घुस आये, उस वक़्त तक भी सरकारने कम्यूनिस्टोंको जेलमें ही बन्द रखा, यह जानते हुए भी, कि ये जापानके सख़्त दुश्मन हैं, और जापानियोंके हाथमें जानेपर इनकेलिये गोली खानेके सिवा दूसरा रास्ता नहीं है।" वह बतला रहे थे, कि एक विशेषज्ञ कर्नल अंग्रेज़ बड़े विश्वासके साथ विश्वविद्यालयकी किसी बैठकमें कह रहे थे—"जापानी दो सप्ताहसे ज्यादा नहीं टिक सकते। उनका फेफड़ा बहुत कमज़ोर होता है, इसलिए वह ज्यादा ऊपर नहीं उड़ सकते। उनकी आँखें कमज़ोर होती हैं, इसलिए जापानी हवाई जहाज़ रातको हमला नहीं कर सकते।" सरकारी अफ़सरोंकी वीरताकी यह हालत थी, कि जापानी पलटनको १०० मील दूर ही देखकर वह अपना स्थान छोड़ देते थे। यदि कुछ अफ़सर आखिर तक अपनी जगहोंपर डटे रहते, तो इतनी लूटपाट न होती, मगर उन्होंने

जनताको कभी अपनाया नहीं था, हमेशा उसका दमन किया था; इसलिए उनको डर था, कि ऐसी अवस्थामें लोग उन्हें चबा जायेंगे; इसी कारणसे सरकारी अफ़सर सबसे पहले भागते थे। जापानियोंका वहाँ कहीं पता नहीं था, वह दो हफ़्ता बाद डेल्टा के चारों ज़िलोंमें पहुँचे थे, लेकिन अफ़सर पहिले ही वहाँसे रफ़ूचक्कर हो गये थे।

२ अक्तूबरको मैं सारनाथ गया। कई वर्ष बाद अबकी जाना हुआ। चीनी मन्दिर तैयार हो गया था। किन्तु यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि इतने वर्षों रहनेपर भी वहाँके चीनी साधूने हिन्दी नहीं सीखी। बर्मी धर्मशालामें बर्मासे भागकर आये १८ स्त्री-बच्चे ठहरे हुए थे। स्त्रियाँ बतला रही थीं, कि किस तरह सेनाने उनके ऊपर बलात्कार किया। यह सभी स्त्रियाँ भारतीयोंकी पत्नियाँ या भारतीय बापोंकी लड़कियाँ थीं। १७-१८ सालकी उड़िया माँ-बापकी एक लड़की भी उनमें थी। उसके घरमें २५० गाएँ, ५० भैंसें, हज़ारों मन धान और खेत थे। उसका बाप वहीं मर गया। माँ, बेटी, भाई जान लेकर भगे। सब रास्ते में मर गए और वह अकेली यहाँ तक पहुँची!

युद्धका पासा पलटा—१९४२की गर्मियोंमें हिटलरी सेना फिर बड़ी तेज़ीसे सोवियत्के भीतर बढ़ने लगी। वह स्तालिनग्राद और काकेशश तकमें घुस गई। भारी ख़तरा था। ख़बरोंको सुनकर दिल विकल हो उठता था। २९ अगस्तके पत्रोंमें पढ़ा, कि लालसेनाने स्तालिनग्राद पहुँची जर्मन फ़ौजोंपर हमला कर दिया है। लेकिन अब भी जर्मन डटे हुए थे। उनके आगे न बढ़नेने इस बातको तो साबित कर दिया, कि मास्को और लेनिनग्रादकी तरह यहाँ भी सोवियत्ने अपनी एक आख़िरी मोर्चाबन्दी कर रखी है, जिससे आगे वह जर्मन-सेनाको बढ़ने नहीं देगी। पहिली फ़र्वरी (१९४३)को पढ़ा कि जर्मन सेनापति फ़ील्ड मार्शल पाउलुसने हथियार रख दिया, और ११ जर्मन तथा ५ इतालियन जेनरलोंके साथ क़ैदी बना लिया गया। जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, सोवियत्की अजेयताके प्रति मुझे कभी अविश्वास नहीं हुआ था, लेकिन विश्वास करनेकेलिये ठोस आधारकी ज़रूरत थी। पहिला ठोस आधार उस वक्त मिला, जब कि देखा जर्मन-सेनाएँ मास्को और लेनिनग्रादके पास पहुँचकर रुक गईं, उससे बड़ा आधार तब मिला, जब जर्मनोंको करारी हार खाकर मास्कोसे पीछे हटना पड़ा। १९४१के जाड़ोंकी सफलताओंने भी लालसेनाकी शक्तिको बतलाया, लेकिन उसमें जाड़ेने कितनी मदद की थी, इसके बारेमें नहीं कहा जा सकता था। १९४२की गर्मियोंमें जर्मन-सेना वोरोनेज़की ओर बढ़ी, लेकिन

उसपर इतनी मारपीट पड़ी, कि उसे सिकुड़ जाना पड़ा, यह तीसरा आधार मिला। विश्वासकेलिए सबसे बड़ा आधार स्तालिनग्रादमें लालसेनाकी विजय हुई। उसने बतला दिया कि लालसेनाने अपने दावँ-पेच और सैनिक सूझ पहिलेहीसे तैयार कर रखे हैं।

कलकत्तामें (१३-२२ अक्तूबर १९४२)—११ अक्तूबरको अब भी रेलकी ट्रेनें बहुत कम चल रही थीं और गिने-चुने टिकट मिलते थे। इन्तिज़ाम इतना रद्दी था, कि लोगोंको दिन-दिन भर पड़ा रहना पड़ता था और चौगुने-पचगुने दामपर टिकट मिलते। इंद्रदीप, अशरफ़, और मुझे कलकत्ता जाना था। बड़ी लाइनसे पहुँचनेकी हमें उम्मेद नहीं थी, इसलिए हमने पटनासे मुज़फ़्फ़रपुरका टिकट लिया। मुज़फ़्फ़रपुरमें मेरे दोनों साथी कलकत्ताके टिकटका इन्तिज़ाम करने गये और मैं पूर्व निश्चयानुसार समस्तीपुर चला गया। सस्ते और पुष्टिकारक भोजन देनेमें हिन्दुस्तानमें मुसल्मान-होटल सबसे अच्छे हैं, यह मेरी धारणा है। १ प्याला चाय और एक सीख कबाब-केलिए जब होटलवाला भाई चार पैसा माँगने लगा, तो मेरे आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा। मैं समझता हूँ, इस वक़्त (सितम्बर १९४४) जब कि मैं इन पंक्तियोंको लिख रहा हूँ, एक प्याला चाय और एक सीख कबाबका वही दाम नहीं होगा; तो भी है कोई हिन्दू-होटल, जो इतना सस्ता खाना दे। हाँ, वह नाक-भौं सिकोड़ कर यह कह सकते हैं, कि मुसल्मानोंके यहाँ सफ़ाई नहीं है, उनके यहाँ जूठ-मीठका कोई विचार नहीं। हिन्दू-घरोंमें जहाँ रसोईके पास ही आँगनके एक कोनेमें नाबदान सड़ा करता है, वहाँ ज़रूर बहुत सफ़ाई है! अपने गुरुओंका थूक और जूठ खानेवाले यदि जूठ-मीठकी बात करें, तो यही कहना होगा, कि लज्जा तेरा सत्यानाश हो। शामको साथी आ गये। यह जानकर खुशी हुई कि हवड़ा तकका टिकट मिल गया।

१२ अक्तूबरको हम लोग रेलसे रवाना हुए। उस दिन ईदका दिन था। गाँवोंमें झुंडके झुंड नर-नारी बालक-बालिकायें अच्छा कपड़ा पहने ईदगाहकी ओर जा रहे थे। वहाँ मिठाईकी दूकानें भी लग गई थीं। अच्छा खासा मेलासा मालूम होता था। हमारी गाड़ीमें कुछ लोग ध्वंसकी प्रशंसा कर रहे थे, और उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह डाला, कि नेपाल-सरकारने हुकुम दे दिया है, कि अंग्रेज़ी राजसे जो भी आये, मनचाही ज़मीन और आधे दामपर अन्न दिया जाय। हमारे ही डब्बेमें तीन-चार तराईके नेपाली थे, उन्होंने कहा—यह सब ग़लत है, जो भागकर गये हैं, वह अपने सम्बन्धियोंके पास गये हैं, और खुद भी धनी हैं। प्रशंसकोंको क्या पता था, कि नेपाल-राजमें ज़रा भी उग्र राजनीतिक विचार रखनेपर गोली मारके दो-दो दिन

तक लाशें टाँग रखी जाती हैं। गंगापार हो हमने बड़ी लाइनकी गाड़ी पकड़ी, लेकिन वह झाझामें जाकर रुक गई। हजारों मुसाफ़िर पड़े हुए थे, उनमें कुछ गाड़ीमें सोये और कुछ बाहर। दूसरे दिन (१३ अक्तूबर) गाड़ी छूटी। जसीडीह (वैद्य-नाथ)में गाड़ी थोड़ी देरकेलिए ठहरी। भीड़ बहुत थी, इसलिए खुद जाकर पानी लानेकी जगह अशरफ़ने पानी लानेकेलिए लोटा एक आदमीको दे दिया। वह उसे लेकर चम्पत हो गया। अशरफ़ पानीका इन्तिज़ार कर रहे थे। गाड़ी चली। मैंने कहा—"बोलो होशियार अशरफ़की जय", शायद लोटा भी किसी दूसरेका था।

गाड़ीके एक मुसाफ़िर कह रहे थे, जो एक बार कलकत्तासे भागकर आये थे, अब फिर लौटे जा रहे थे। मैंने कहा—'पहिले तो ख़ाली हल्लेपर भागे थे, और अब तो बम भी गिर सकता है। उन्होंने जवाब दिया—देशमें जाकर भूखे मरना पड़ता है, कलकत्ता में कोई रोजगार तो मिल जायेगा। हमारी गाड़ीमें रंगूनसे भागे हुए एक सज्जन थे, वह रंगूनके बारेमें बतला रहे थे—जब रंगून पर बम गिरा, आदमी तो बहुत नहीं मरे, लेकिन फिर किसकी हिम्मत थी, कि वहाँ ठहरे। लोग सब कुछ छोड़कर भागे। हज़ारों गायें, भैंसें भूखी ऐसे ही सड़कोंमें घूमा करती थीं। कलकत्तापर भी किसी वक़्त बम गिर सकता है। हमने घूमते वक़्त एक जगह बहुतसी भैंसें, गायें देखीं। मैंने इन्द्रदीपसे कहा—"याद रखना इस जगहको। यदि यहाँ बम गिरा तो रेलकी आशा मत करना। हम पाँच-छ जने आये हैं, भैंसें तो बेमालिककी हो जायँगी, फिर पाँच-छ तगड़ी-तगड़ी भैंसें ले चलेंगे। थक जायेंगे तो पीठपर चढ़ लेंगे। दूध खानेको मिलेगा, रास्तेमें घास अभी बहुत है।" हमारे रहते कलकत्तामें बम नहीं गिरा।

कलकत्तामें पूरनचन्द्र जोशीकी क्लास थी। बिहार-उड़ीसा, बंगाल-आसामके मुख्य-मुख्य कम्यूनिस्त अपनी राजनीतिक शिक्षाकेलिए वहाँ आये थे। जोशी चार-चार पाँच-पाँच घंटे तक वर्त्तमान राजनीतिक गुत्थियोंको समझाते थे। वह वक्ता नहीं हैं, किन्तु समझने और समझानेमें ग़ज़बकी बुद्धि रखते हैं। हम जानते हैं, कि सर्वज्ञता झूठा शब्द है। वैसे तो हरेक ज्ञान बराबर बढ़ता रहता है, लेकिन राजनीतिमें तो और जल्दी-जल्दी परिस्थितियोंके बदलते रहनेके कारण ज्ञानको नया रूप देनेकी ज़रूरत पड़ती है। इनके बारेमें जोशीका ज्ञान बहुत व्यापक और गम्भीर है।

कलकत्तामें रहते वक़्त हमें कभी-कभी टिमटिमाती हलकीसी रोशनीमें चलना पड़ता था—हवाई हमलेकेलिए सतर्क रहना ज़रूरी था। अलीपुरमें मुझे साथी महादेव साहा व्याख्यान देनेकेलिए ले गये। भोजन एक मध्यमवर्गीय गंगोली-परि-वारमें हुआ। बैठक नये ढंगसे सजी थी, उसकी दीवारपर मृत पिताके चरणोंकी

छाप लटक रही थी—आधुनिकता और प्राचीनताका अजीब सम्मिश्रण था। भोजन हमें चौकेमें करना पड़ा। कई तरहकी मछलियाँ, बंगाली मिठाइयाँ परोसी गईं। उनसे यह तो मालूम हुआ, कि बंगाली भोजन मधुर भी होता है, और पुष्ट भी। घरके भांजे पार्टी मेम्बर थे। उनके नामके साथ मिश्रा लगा देखकर मैंने पूछा, तो मालूम हुआ कि दो ही चार पीढ़ी पहिले वह सरयूपारी थे, लेकिन अब ब्याह करके पक्के बंगाली हो गये हैं।

मुंगेरके गाँवमें—२४ अक्तूबरसे पहिली नवम्बर तक लक्खीसरायके पासके बहुतसे गाँवोंमें जाना पड़ा। साथी कार्यानन्दने इधर किसानोंमें बहुत काम किया था। और उसके कारण वहाँ जागृति भी ज़्यादा थी। २५ तारीख़को पहिले हम उनके गाँव सहूरमें गये। यह क्यूलसे तीन मीलपर जमालपुरवाली रेलवे लाइनके किनारे है। यहाँकी ग्राम-पंचायत बहुत सजीव है, स्वयंसेवक भी जागरूक हैं। १५० घरोंकेलिए सिर्फ़ ३५० एकड़ खेत है, जिसमें ज़्यादातर धानकी खेती होती है। गाँवमें एक मिडिल इँगलिश स्कूल हैं। गाँवमें स्वयंसेवकोंका एक अच्छा संगठन है। पहिले खेत चरा लिये जाया करते थे, लेकिन अब स्वयंसेवकोंकी मुस्तैदीसे चराना रुक गया है। पुरुषोंकी सभामें दो हज़ार आदमी आये थे। स्त्रियोंकी अलग सभा हुई थी, जिसमें मैं और सरदेशाई बोले। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेकेलिए इधर उतनी सड़कें नहीं हैं। २६ अक्तूबरको नन्दनावाँ जाना था। सहूर और नन्दनावाँ दोनों ही बहुत पुराने नाम मालूम होते हैं। नन्दनावाँ तो नन्दनग्राम है। यहाँका धान और चिउरा दोनों ही मशहूर है। गाँवमें बुद्ध और ताराकी दो मूर्त्तियाँ देखीं, जिनके ऊपर खुदे अक्षरोंके देखनेसे वह १०वीं-११वीं सदीकी मालूम होती थीं। साथी श्रीनन्दन बड़े ही उत्साही तरुण हैं। उनकी माता मर गईं, तो एक दिनके श्राद्धमें हज़ार-पाँच सौ रुपया फूँक देनेकी जगह उन्होंने यही पसन्द किया कि गाँवकेलिए पुस्तकालय बना दिया जाय। मुझे ही नींव देनी पड़ी। एक सभा हुई, जिसमें, मैं, सरदेशाई बोले। सरदेशाई प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताके भतीजे हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा अपने चचाकी देखरेखमें हुई थी। वह धानकी क्यारियोंमें पैदल दौड़नेकेलिए नहीं पैदा हुए थे, न सर तेजबहादुर सप्रूके प्राइवेट सेक्रेटरी होनेने उन्हें इसकेलिए तैयार किया था। लेकिन आज वह हमारे प्राचीन देशको नवीन करना चाहते थे। नवीन करनेका काम हिन्दुस्तानके कमेरे ही कर सकते हैं, इसीलिए वह भी गली-गलीकी धूल फाँकते फिर रहे थे। नन्दनामामें कितने ही मुसल्मान घर हैं, और हिन्दुओं मुसल्मानोंका सम्बन्ध बहुत अच्छा है।

२८को हम एकाढ़ा पहुँचे। एकाढ़ा (एकाढका) भी पुराना नाम है। मगधमें ऐसे पुराने नाम बहुत मिलते हैं। हम लोग एकाढ़ा जानेकेलिए सरारी स्टेशनसे चेवाड़ा तक इक्केपर गये। चेवाड़ा हज़ार घरोंका एक अच्छा बड़ा मुसलमान गाँव है (इधर इस तरहके १२ मुसलमान गाँव हैं)। यह किसी वक़्त अच्छा बाज़ार था, लेकिन स्टेशनसे दूर होनेके कारण श्री नहीं रही। २ मील पैदल जानेपर एकाढ़ा पहुँचे। नामसे ही मुझे प्राचीनताकी गन्ध आने लगी थी, लेकिन वहाँ पहुँचनेपर इसके और भी प्रमाण मिले। एक बौद्ध देवीकी मूर्त्तिपर "ये धर्मा" लिखा हुआ था। दूसरी शिरोहीन मूर्त्ति बुद्धकी थी, जिसपर दाताका नाम भी खुदा था, लेकिन वह घिस गया था। यहाँ विष्णु और सूर्यकी भी कई मूर्त्तियां थीं। लोग बतला रहे थे, कि यहाँकी बहुतसी मूर्त्तियाँ लोग उठा ले गये। गाँवमें वत्सगोत्री (महाकवि बाणके गोत्रवाले) बाभनों (भूमिहारों)के ही घर अधिक हैं। यहाँ भी दो हज़ारकी सभामें व्याख्यान देना पड़ा, और रातको बहुत देरतक लोग राजनीतिक परिस्थितिके सम्बन्ध-में बात करते रहे। अगले दिन तेऊस और बरबिघामें बीता। तेऊस गाँव ज़मींदारों-का है। डेढ़ सौ वर्ष पहिले इनके पूर्वज निखती (रघुनाथपुर, सारन)से यहाँ आये। पचीस-पचास हज़ार आमदनीवाले यहाँ कई ज़मींदार-परिवार हैं। थोड़ी ही दूरपर अमावाँ राजासाहेबका गाँव था। कम्यूनिस्ट और ज़मींदारोंसे क्या वास्ता ? और मैं तो ख़ास तौरसे किसान-संघर्षके कारण और ज़्यादा बदनाम था। लेकिन लंकामें भी विभीषण पैदा हो जाते हैं—स्वार्थकेलिए नहीं, लोकहितकेलिए। गाँवके एक तरुणके आग्रहपर यहाँ आना पड़ा। भोजन और थोड़ा विश्राम करनेके बाद हम फिर बरबिघाकी सभामें व्याख्यान देने चले गये। श्रुतबन्धु शास्त्रीका घर यहाँ पास हीके गाँवमें है। वह भी मौजूद थे। पटनासे व्याख्यानकी रिपोर्ट लिखनेकेलिए सी० आई० डी०के इंसपेक्टर आये हुए थे। डेढ़ हज़ारकी सभामें व्याख्यान हुआ।

३० अक्तूबरको हम वहाँसे मेहूस पहुँचे। यह मगध देश है, मगध जितना पुराना है, उतने ही पुराने यहाँके बहुतेरे ग्राम हैं। प्राचीन कालकी बहुतसी निशानियाँ यहाँ मिलती हैं। मेहूसमें महेश्वरी देवीका मन्दिर है। अष्टभुजाकी मूर्त्तियाँ हैं, सभी अंगभंग हैं, और पालवंशके अन्तिम कालकी मालूम होती हैं। बाहर बरगदके नीचे विष्णु और सूर्यकी खंडित मूर्त्तियाँ हैं, गाँवके बीचमें एक टीला है, जिसपर खंडित मुकुटहारधर (वज्रयानी) बुद्धकी मूर्त्ति है, जिसे भोजराजके नामसे लोग पूजते हैं। गाँवसे दक्षिण पीपलके नीचे एक बड़ी मूर्त्ति थी, जिसे दो साल पहिले किसी उन्तहा (उन्मत्त)ने तोड़ डाला। यहाँ १२½ इंच लम्बी ६ इंच चौड़ी २½ इंच मोटी ईंटें

मिलती हैं, जिससे जान पड़ता है कि वाणके समयमें भी यह गाँव मौजूद था। गाँवमें एक शाकद्वीपीय ब्राह्मणके घरमें कुछ संस्कृतकी पुस्तकें थीं, लेकिन दो सौ वर्षसे पुरानी कोई नहीं। शामको पुस्तकालयका वार्षिकोत्सव था, जिसके साथ ही राजनीतिक व्याख्यान भी हुआ। अँधेरा होनेसे थोड़ा पहिले दो मीलपर माफो गाँवमें भी लोग बड़े आग्रहसे ले गये। यहाँपर भी पुस्तकालयमें मेरा व्याख्यान हुआ। जान पड़ता है, मगधके इस अंचलमें पुस्तकालयोंकी ओर लोगोंका ध्यान बहुत गया है। यदि मगही भाषामें अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी जातीं, तो गाँववालोंका बड़ा कल्याण होता। हिन्दीका आनन्द बहुत थोड़े ही लोग ले सकते हैं, तो भी इनका शौक़ सराहनीय है।

दूसरे दिन (३१ अक्तूबर) चढ़नेकेलिए घोड़ा मिला और ६ मील चलकर हम शेख़पुरा पहुँचे। गाँवका नाम आधुनिक मालूम होता है, लेकिन पहाड़के किनारे यह लम्बा बसा हुआ क़सबा कोई पुरानी जगह मालूम होती है। एक सज्जनने पंच-मार्क (मौर्य तथा प्राग्मौर्य कालवाला) सिक्का दिखलाया। वह कह रहे थे कि यहाँ और भी कितनी ही पुरानी चीजें मिलती हैं। लेकिन मुझे तो डी० एम० हाई स्कूलमें व्याख्यान देकर आज ही लखीसरायके युवक पुस्तकालयमें शामिल होना था।

पहिली नवम्बरको हम कितनी ही दूर बैलगाड़ीसे जाकर नदी पार हो काकन गाँवमें पहुँचे। मननपुर स्टेशन यहाँसे ७, ८ मील है। वैसे जैन-परम्पराएँ ऐतिहासिक स्थानोंके बतलानेमें कभी-कभी अविश्वसनीय होती हैं, लेकिन काकनको जो उन्होंने काकंदी नाम दिया है, वह बिल्कुल ठीक है। काकंदी बुद्ध और पाणिनिके कालमें भी एक बड़ी नगरी थी। काकन्दी-माकन्दी जोड़ेसे नाम मालूम होते हैं, लेकिन माकन्दी बुलन्द शहर ज़िलेमें कहींपर थी, जब कि काकन्दी यहाँ मगधकी दक्षिणी सीमापर अवस्थित थी। गाँव सारा पुरानी बस्तीके ऊपर बसा हुआ है और गलियोंमें आसानीसे कुषाण (ई० पहिली शताब्दी)-कालीन ईंटे मिल जाती हैं, जो १६ इंच लम्बी १० इंच चौड़ी और २½ इंच मोटी होती हैं। खंडित मूर्त्तियाँ भी हैं, लेकिन यहाँकी बहुतसी मूर्त्तियाँ लोग उठा ले गये। यहाँ एक जैन मन्दिर है, जिसके दर्शन-केलिए जब-तब जैन गृहस्थ आया करते हैं। प्राचीन काकन्दी कितनी समृद्ध रही होगी, इसके बारेमें तो नहीं कह सकते, लेकिन ज़मींदार वर्त्तमान किसानोंका कैसा शोषण कर रहे हैं, यह इसीसे मालूम होगा कि उन्हें प्रति बीघा (⅝ एकड़) १२ मन चावल, ढाई मन दाल और दो रुपया नक़द देना पड़ता है। मैं यदि वहाँ गया न होता, तो शायद इस बातपर विश्वास न होता। इतना देकर किसानोंको बचता ही क्या

होगा ? यहीं एक ग्रामीण कवि प्रेमदाससे भेंट हुई । प्रेमदासने सभामें जापानी अत्याचारपर एक अच्छी कविता सुनाई थी, जिसे उन्होंने उसी दिन तैयार किया था ।

काकन्दीसे लौटकर हम क्यूल (किमिकाला ?) नदी पार हो उसीके किनारे बसे रेयोड़ा गाँवमें गये । यह काकनसे ३ मीलपर होगा । गाँव बहुत पुराना नहीं मालूम होता । एक खपड़ैलके नीचे अष्टभुजा देवीकी मूर्त्ति रखी हुई थी, उसके शरीरमें बहुत कपड़े लपेटे हुए थे । मूर्त्ति कुछ विशेषसी मालूम हुई । मैंने कपड़ेको हटाया, तो देखा ८वीं शताब्दीके अक्षरोंमें लेख लिखा था, और वहाँ साफ़ "काकन्दी ग्राम" आया था । गाँवमें पुरानी ईंटें या दूसरी चीज़ें नहीं मिलतीं, इसलिए यह मूर्त्ति ज़रूर काकन्दसे उठाकर यहाँ लाई गई । वहाँसे मननपुर स्टेशनपर गाड़ी पकड़ी और उसी दिन पटना पहुँच गया ।

कलकत्तामें ही मालूम हो चुका था, कि सोवियत् सुहृद्संघने हिन्दुस्तानसे एक शिष्ट मण्डल सोवियत्-भूमिमें भेजनेका निश्चय किया है, जिसमें मेरा भी नाम था । लेकिन यात्रा ख़र्चीली होनेवाली थी, जिसकेलिए मैं तैयार नहीं था । पटना आनेपर पता लगा कि पासपोर्ट ले लेनेकेलिए तार आया हुआ है, लेकिन अभी मैंने दरख़्वास्त नहीं दी । अब मुझे बम्बई जाना था । बम्बई जानेसे पहिले मैं दिल्ली जाना चाहता था, जिसमें कि लोलाके बारेमें वहाँ कुछ पता लगा सकूँ ।

छपरा होते प्रयाग पहुँचा । "निराला" जी को वैसे भी दो एक बार देखा था, और उनकी कुछ कृतियाँ भी पढ़ी थीं । १२ नवम्बरको वह मेरे स्थानपर आए । और "बादल" "पत्थर कूटती" तथा "कुकुरमुत्ता" की कविताएँ सुनाईं । "निराला" हमारी पीढ़ीके असाधारण प्रतिभाशाली कवि हैं । लेकिन मैं देखता था, हमारा समाज इस अद्भुत प्रतिभासे उतना फायदा नहीं उठा रहा है । "निराला" को भी दिन-प्रतिदिनकी असुविधाएँ जरूर असह्य होती होंगी, लेकिन उनके मनकी बनावट ऐसी है, कि एक तरह का भाव देर तक उनके सामने नहीं रह सकता । शायद कोई पाठक कहे, "निराला" को यदि कष्ट या चिन्ता है, तो यह उनका कसूर है । गोया आप कसूरका दण्ड चाहते हैं । लेकिन यह दण्ड तो निरालाको नहीं मिलेगा, इसकी हानि तो हमारे साहित्यको भोगनी पड़ेगी । भले ही "निराला" व्यवहार-शून्य हों, भले ही अपनी मौजमें वह कभी-कभी अपनी सुध-बुध खो देते हों, लेकिन "निराला" की देन हमारे साहित्यके लिए है, यदि उनको हम अधिक निश्चिंत अधिक सन्तुष्ट रख सकें, तो हमारे साहित्यको और फायदा होगा । निरालाके साथ आजके

समाजने जो उपेक्षा की है, उसकेलिए अगली पीढ़ियोंको पछताना पड़ेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि "निराला" यदि निश्चिन्त, संतुष्ट, प्रसन्न रखे जा सकते, तो वह और भी ऊँचे दर्जेका साहित्य हमारेलिए प्रदान करते।

दिल्लीमें (१३-१४ नवम्बर)—प्रयागसे चलते वक्त महबूब अहमद साहब इलाहाबादसे दिल्लीके यात्री मिल गए। रास्ता बहुत अच्छा कटा। महबूब साहबके साथ ही कूचानाहरखाँमें सामान रखा। फिर घूमने निकले। साथी यज्ञ-दत्तका पता नहीं लगा। नई दिल्लीमें भिक्षु शासनश्री मिले, वहीं चला गया। बहुतसे लोगोंकी तरह मुझे भी भ्रम था कि "सोवियत् यूनियन न्यूज़" सोवियत्का मासिकपत्र है। मैंने यह भी समझा कि इसका संपादक कोई रूसी होगा, फिर उससे मास्को, लेनिनग्रादके दोस्तोंका पता लगेगा। टेलीफ़ोनसे पूछनेपर उसने संपादकका पता देनेसे इनकार कर दिया। जिस प्रेसमें पत्र छपता था, वहाँ पता लगानेपर जान पड़ा कि संपादकने अपना पता नहीं दिया है और वह कभी-कभी प्रेस ही में आ जाते हैं। आखिर इतना रहस्य रखनेकी ज़रूरत क्या थी? खैर, बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करनेपर मालूम हुआ कि पत्र अंग्रेजी सरकार का है और रूसी नाम रखनेवाले एक पोल द्वारा संपादित होता है, जो कि १४,१५ सालसे अंग्रेजी सरकारके नौकर हैं। तास्सके प्रतिनिधि उस वक्त दिल्लीमें नहीं थे, उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। उनकी बीबी मिलीं। पहिले तो शंकित-हृदयसी बात करती थीं, लेकिन जब मैंने अपनी पत्नी और दो एक मित्रोंका नाम बताया, तो खुलकर मिलीं। यह भी मालूम हुआ कि, वह मेरी पत्नीको जानती हैं। लेकिन उनसे कोई विशेष बात नहीं मालूम हो सकी। एक दिन घूमते-घामते सड़कके पास एक मकानपर लाल झंडा देखा, वहाँ जानेसे साथी यज्ञदत्त भी मिले और देवलीके साथी मनोहरलाल भी। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि दिल्लीमें पार्टी अच्छा काम कर रही है।

आगरामें—कई वर्षों बाद १५ नवम्बरको आगरा जानेका मौका मिला। किसी समय आगरामें मेरे बहुतसे परिचित थे, लेकिन यह बीसों वर्ष पहिलेकी बात है। रामन्ना शास्त्री वहीं गोकुलपुरामें थे। मैं उनके पास चला गया। मुसाफिर विद्यालयके विद्यार्थी दोस्त तो आगरेमें कहाँ मिलते? डाक्टर लक्ष्मीदत्तसे मिलने मैं नामनरे गया। २३,२४ वर्ष बाद उन्हें देखनेका मौका मिला। पहिले तो बैठकेमें बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। शायद उन्हें मालूम नहीं हुआ, कि कौन मिलने आया है। बड़े प्रेमसे मिले। मैंने देखा, कि वह प्रौढ़ शरीर अब तिरसठ वर्षका बूढ़ा हो गया है। स्मृतियाँ अब भी ताज़ी थीं। उनके छोटे भाई तारादत्त घरपर नहीं

थे। पुराने दोस्तों और घरके बारेमें बातें होती रहीं। उन्होंने रहनेकेलिए बहुत आग्रह किया, किन्तु मेरे पास समय कम और मिलना-जुलना ज्यादा था। पुरानी स्मृतियाँ बहुत मधुर होती हैं। लेकिन बुढ़ापा अच्छी चीज नहीं है। शरीर ही नहीं, वह मनको भी बूढ़ा कर देता है, और आदमी ४० वर्ष पुरानी दुनियाका बनकर रहना चाहता है। डाक्टर साहबके यहाँ गाय-भैंसें काफ़ी थीं। इसका मतलब है कि घरमें काफ़ी दूध होता था, साथ ही द्वारमें चारों ओर गोबर ही गोबर दिखलाई पड़ता था। हिन्दू घरकेलिए चारों ओर बिखरा गोबर उससे उड़ती तेज गन्ध और खुरसे कुटा हुआ आँगन बड़े सौभाग्यकी चीज़ समझी जाती है, इसके बारेमें डाक्टर साहबके साइंसका विरोध था या नहीं, इसे म नहीं कह सकता। विरोधी भी हो, तो साइंससे धर्मका पल्ला भारी होता है।

अगले दिन किला देखने गया। अपने विद्यार्थीकालमें किलेको देखा भी हो, तो उसका स्मरण नहीं। जहाँगीरीमहल देखा, जिसमें जहाँगीरकी बेगम जोधाबाई रहा करती थीं। दीवान-ख़ास और दीवान-आम देखे। बादशाहों और बेगमोंके रहनेके इन महलोंको देखनेसे एक बातका पता लगा कि हवादार बड़े-बड़े कमरोंके बनानेका उन्हें शौक़ नहीं था। आजकलके आदमीको ऐसे कमरोंमें रखा जाय, तो वह इन्हें आरामदेह नहीं कहेगा। हो सकता है उस वक्त संगमर्मरके पत्थर, हीरा-मोती और सोना-चाँदी चारों ओर बिखरा देखनेसे लोगोंको ज्यादा आनन्द मालूम होता हो। ताजमहल भी देख आए, आजकल उसकी मरम्मत हो रही थी।

बम्बईमें (१८ नवम्बर–२ मार्च १९४३)—आजकल रेलकी यात्रा एक पूरी मुहिम थी। खैर, हमें जगह तो मिल गई। गाड़ीमें फ़ौजी सिपाही ज्यादा थे, और वह विनय तो जानते ही न थे। ऐसे ही ट्रेनें कम हो गई थीं, और फ़ौजी सिपाही जिस गाड़ीमें बैठते उनकी पूरी कोशिश बिस्तरा बिछाकर लेटनेकी रहती। सिपाहियोंकेलिए अलग भी ट्रेनें खुलती थीं, उनकेलिए डब्बे भी रिज़र्व होते थे, तो भी वह दूसरे डब्बोंमें बिस्तर जमाए बैठे रहते थे, और मुश्किलसे ही कोई साधारण मुसाफिर उसके अन्दर घुस पाता। आजकल शायद ही किसी देशमें सैनिकोंका ऐसा भाव साधारण जनताके बारेमें देखा जाता हो। लेकिन इसकेलिए दोषी है, अंग्रेजी सरकार। वह भारतीय सिपाहियोंको देशभक्ति नहीं राजभक्तिका पाठ पढ़ाना चाहती है। देशभक्ति है भी उसकेलिए खतरेकी चीज।

१८ नवम्बरको मैं बम्बई पहुँच गया। बम्बई आया था, इस ख्यालसे कि मार्क्स-वादके सम्बन्धमें कुछ पुस्तकें लिखूँ। बम्बई न जाने क्यों मुझे पसन्द नहीं आती।

कुछ ही दिनोंके रहनेके बाद मालूम हुआ कि उसकी आबोहवा मेरे अनुकूल नहीं है। पेटकी तो हर वक़्त शिकायत रहती थी और ज्वरने भी कई बार आवृत्ति की। पहिले मैं कुछ दिनों तक माटुंगामें रहा, फिर पार्टी कार्यालय हीमें रहने लगा। सोवियत् युद्ध मैदानकी खबरें अच्छी अच्छी आ रही थीं। लालसेना आगे बढ़ रही थी। जर्मन पीछे हट रहे थे। यहीं पत्रोंमें पढ़ा कि डाक्टर श्चेर्वत्स्की अब नहीं रहे। वह इतने वृद्ध थे, कि उनका महाप्रयाण असंभव नहीं था। लेकिन मैं तो उनसे एक बार और मिलनेकी आशा रखता था, उन्होंने कितनी योजनाएँ बनाई थीं, और आशा रखते थे, कि हम दोनों मिलकर किसी वक़्त अनुसंधानका कार्य करेंगे। उनका एक पत्र था—

(LENINGRAD, WASS. OSTNOW)
7TH LINE 7

My dearest Rahula,

The last letter received from you was dated April 27, it was answered by me in the midst (?) of July. After that date nothing was received but nevertheless, we have written twice. One of these days I have seen your son, a beautiful child, he speaks a little, but understand every thing and we hope that he will speak everything splendidly very soon......We are very much troubled because no further news from you are coming. We hope that you have not forgotten us, letters must come and we expect them.

With my compts. and best regards
Th. Stcherbatsky

(लेनिनग्राद..

मेरे अति प्रिय राहुल! तुम्हारा पिछला पत्र २७ का था। जिसका उत्तर मैंने जुलाईके मध्यमें दे दिया था। उस तारीखके बाद तुम्हारी कोई खबर नहीं आई, तो भी हमने दो बार लिखा। इन दिनों एक बार मैंने तुम्हारे पुत्रको देखा। सुंदर शिशु है, वह थोड़ा बोलता है, लेकिन हरेक बात समझता है। हम आशा करते हैं, कि वह जल्दी ही अच्छी तरह सब कुछ बोलेगा। ५ सितम्बरको उसका द्वितीय

वर्ष पूरा होगा। माँ उसका फ़ोटो खिंचवाएगी, और तुम्हारे पास उसी पते—हजारीबाग़—पर भेजेगी। हम लोगोंको बहुत चिंता हो रही है। तुम्हारी कोई खबर नहीं आ रही है। मैं अपनी गर्मीकी यात्रासे लौटा हूँ। यह बहुत दिलचस्प यात्रा रही, यद्यपि यह बहुत दूरकी यात्रा न थी। युद्धके जमानेमें यह सम्भव भी नहीं था। हम आशा करते हैं कि, तुम हमें भूले नहीं हो। पत्रोंको जरूर आना चाहिए, हम उनकी प्रतीक्षा करते हैं। मेरा धन्यवाद और बहुत सम्मान

थ० इचरवात्स्की)

उनका सबसे अंतिम पत्र था, जो कि २३ जून १९४१ के आसपास देवलीमें मिला था—

Leningrad,
Wass Ostnow,
7th line 2, flat 31
22-IV-31

Dearest Rahula,

We have at last received your letters from October and from 16 September, both arrived on the 19 April. The letters sent by you to my address did not arrive at all, it is nevertheless possible that some of them can still arrive, we will then inform you. But you are still in Jail. But are you still informed how long will your arrest last? How is your health? In the two letters that have reached us there is not a word about your health. There must be some answer regarding your future. Is it not possible that you (? know) nothing on your future. Have you asked, have you insisted on being informed on your destiny?

As regard me personally I am not very bad. The winter is very cold, ice is not yet melted on the river before my windows. My activity in science is very slow. I cannot during all this winter work very much, I hope it will go better. I hope for the coming spring, perhaps I

will work again.

Your Igor is very active, he speaks very well, but so for only in Russian. It is impossible now to find a teacher for him. I hope it will be possible during summer. Igor is very fond of book, he is ready to spent whole day to look through pictures.

Yours most affectionately
Stcherbatsky.

(लेनिनग्राद
वास्स ग्रोस्त्रोव
७वीं गली२, घर ३१
२२ अप्रैल ४१

अतिप्रिय राहुल,

अन्तमें हमें पहिली अक्तूबर और १६ सितम्बरवाले तुम्हारे पत्र मिले। दोनों ही १६ अप्रैलको आए। मेरे पतेपर भेजे तुम्हारे पत्र बिल्कुल ही नहीं आए, तो भी संभव है, कि उनमेंसे कोई अब भी आवे, तब हम तुम्हें सूचित करेंगे। लेकिन तुम अब भी जेलमें हो? क्या तुम्हें सूचना दी गई है, कि तुम कब तक पकड़े रखे जाओगे। तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? यह दोनों पत्र जो हमारे पास आए हैं, उनमें तुम्हारे स्वास्थ्यके बारेमें एक भी शब्द नहीं। आगे क्या होने जा रहा है, इसका कोई जवाब ज़रूर मिलना चाहिए। क्या वह वस्तुतः संभव है, कि आगेके बारेमें तुम्हें कुछ भी सूचित नहीं किया गया। तुमने पूछा—तुमने इसकेलिए जोर दिया कि आगेके बारेमें तुम्हें सूचित किया जाय।

मेरे बारेमें जहाँ तक व्यक्तिका सम्बन्ध है, मेरा (स्वास्थ्य) बहुत बुरा नहीं है। हेमन्त बहुत ठंडा, मेरे जँगलोंके सामने नदीका बर्फ़ अभी गला नहीं। मेरे वैज्ञानिक कार्यकी गति बहुत मन्द है। इस सारे जाड़ेमें मैं बहुत काम नहीं कर सका। मैं आशा करता हूँ कि आगे बेहतर होगा। मैं बसन्तके आनेकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तब शायद मैं फिर काम करूँगा।

तुम्हारा ईगर बहुत चपल है, वह खूब अच्छी तरह बोलता है, लेकिन अस्फुट शब्दों ही में। उसकेलिए एक शिक्षक पाना असम्भव है। मैं आशा करता हूँ कि गर्मियोंमें यह संभव होगा। ईगर पुस्तकोंसे बहुत प्रेम करता है। वह उनकी तस-

वीरोंको देखनेमें सारा दिन खर्च करनेको तैयार है। तुम्हारा बहुत ही स्नेहालु—
श्चेर्वात्स्की)

डाक्टर श्चेर्वात्स्की मेरे ऊपर कितना स्नेह रखते थे, यह कुछ-कुछ उनके इन पत्रोंसे मालूम होगा। विद्याके नाते भी हमारा घनिष्ट सम्बन्ध था,——जब हमने एक दूसरेको देखा नहीं था, तब भी वह मेरे अदृष्ट मित्र थे। तिब्बतकी खोजोंके बारेमें सूचना पानेकेलिए वह उत्सुक रहा करते थे। लोलाके सम्बन्धके बाद वह मुझे बिल्कुल आत्मीय समझते थे, वह लोलाके विद्यागुरु थे। लोलाने एक बार लिखा था, कि डाक्टर कह रहे हैं कि जब ईगर बड़ा होगा, तो मैं उसे दर्शन पढ़ाऊँगा। भारतीय दर्शन और संस्कृत भाषाका इतना बड़ा विद्वान् आज तक यूरोपमें नहीं हुआ। उनके "बौद्धन्याय" (Buddhist Logic 2 Vols)को पंडित सुखलालजीने पढ़ाकर सुना, तो वह इतने प्रभावित हुये कि कह उठे——इसे तो काशीकी न्यायाचार्य परीक्षामें अनुवाद करके रखना चाहिए। आधे दर्जनके क़रीब उन्होंने भारतीय दर्शन——विशेष कर बौद्ध-दर्शन——पर फ्रेंच, अंग्रेजी और रूसीमें ग्रन्थ लिखे हैं। जब मैं पहिली बार लंकामें था, तो बर्लिनके प्रोफ़ेसर ल्युडर्स वहाँ हमारे विहारमें आए थे। उन्होंने बतलाया था, कि यूरोपमें पूर्वीय दर्शनके सबसे बड़े पंडित डाक्टर श्चेरवात्स्की हैं। नजदीकके समागमके बाद मैं उनके अगाध पाँडित्यको और भी ज्यादा जान सका। वह पश्चिमी दर्शनके भी पंडित थे, इसीलिए दर्शनपर अधिकारके साथ लिख सकते थे। कितने ही यूरोपीय विद्वान् हैं, जो अपने भाषा-ज्ञानके बलपर भारतीय दर्शनके सम्बन्धमें पुस्तकें लिखते हैं। न उन्हें पश्चिमी दर्शनका ही पता है, न पूर्वी दर्शन हीका। वह इस कमीको अपनी ऊटपटाँग कल्पनाओं और अप्रासंगिक टिप्पणियोंसे पूरा करते हैं। आचार्य श्चेरवात्स्कीने धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुका बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। वह योगाचार-दर्शनकी एक पुस्तकमें लगे हुए थे, किन्तु उनकी सबसे बड़ी इच्छा थी, कि धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकका अंग्रेजीमें एक सुन्दर अनुवाद करें। धर्मकीर्तिको वह भारतका कान्ट कहते थे। वस्तुतः कान्ट हीकी तरह धर्मकीर्ति भी भारतके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक हैं——हाँ, अपने यथार्थवादमें धर्मकीर्ति ज्यादा नजदीक हैं हेगेल् और मार्क्सके। उनसे अच्छा धर्मकीर्तिका अनुवादक नहीं मिल सकता। वह पश्चिमी यूरोपके विद्वानोंकी भाँति संस्कृतके उथले ज्ञानको पसन्द नहीं करते थे। उनके विद्यार्थियोंको भी मैंने देखा कि वह संस्कृत भाषाको ज्यादा गंभीरतासे पढ़ते हैं, शायद इसमें रूसी भाषाका संस्कृतके साथ निकटतम संबंध भी कारण हो।

अब भी शायद मुझे लेनिनग्रादके उस घरमें जाना हो, जिसमें आचार्यके साथ

कितने ही घंटे कितने ही दिन बिताए थे, लेकिन अब वह प्रसन्नवदना मूर्ति वह गंभीर प्रतिभा कहाँ दिखलाई पड़ेगी ! !

बम्बईमें मैंने कई पुस्तकोंका अनुवाद किया, मगर मुझे लेनिन की पुस्तक "गाँवके ग़रीबोंसे" का अनुवाद ही सबसे ज्यादा पसन्द आया। लेनिनने इसे इतनी सरल भाषामें लिखा है, कि आश्चर्य होता है कि उतने गंभीर ग्रन्थोंको लिखनेवाली लेखनी इतनी सरल पुस्तक कैसे लिख सकी ? दो एक किसान-मजदूर नेताओंकी जीवनी मैंने इधर लिखी थी, लेकिन मुझे अभी इस तरहकी किसी पुस्तक के लिखनेका ख्याल नहीं आया था। अभी अलग-अलग जीवनियों के लिखने का ही ख्याल था—"सोच रहे हैं भारतीय कम्यूनिस्ट-नेताओंमेंसे कुछकी जीवनी लिखें" (१ दिसम्बर १६४१)। १८ दिसम्बरको एक साहित्यिक दोस्तकी चिट्ठी मिली। उन्होंने लिखा था—"आपके या मार्क्सवादी विचारोंके अधिक निकट होनेपर भी मैं भारतीय कम्युनिस्टोंकी रीति-नीति और व्यक्तित्वका विशेष क़ायल नहीं हूँ। आशा है, आप इस स्पष्ट सम्मतिसे बुरा नहीं मानेंगे।" मैंने बुरा नहीं माना, अपनी डायरीमें उनके बारेमें सिर्फ इतना ही नोट किया—"है न निर्मल नक्षत्रलोकबिहारी तारकराज।"

मुझे यह ख्याल आया कि कम्यूनिस्ट नेताओंकी जीवनियोंपर एक पुस्तक लिखूँ, जिसपर उनकी रीति-नीति और व्यक्तित्व के न कायल लोग भी कुछ सोचनेकेलिए मजबूर हों। यहाँ से "नये भारतके नये नेता" के लिखनेका संकल्प हुआ। शायद मेरे उक्त दोस्त अब भी अपने उन्हीं विचारोंपर दृढ़ हैं। यदि हैं, तो यही कहूँगा, कि राजनीति और समाजनीतिसे मज़ाक़ करना बहुत आसान काम है।

दिसंबरके अंतिम सप्ताहमें जापानियोंने कलकत्तापर बम-वर्षा की। साथी महादेव-साह कलकत्तासे बम्बई आने वाले थे, मगर टिकट नहीं मिल रहा था, इसलिए रुक गए।

बहुत दिन बाद २६ दिसम्बरको गेशे धर्मवर्धनका पत्र नगर (कुल्लू) से आया। उन्होंने लिखा था, कि मैं दो साल तक लंकामें घूमता रहा, अमेरिका जानेका निमन्त्रण आया था, लेकिन युद्धके कारण न जा सका।

बंबई हिन्दुस्तानके फिल्मोंकी राजधानी है। सबसे ज्यादा हिन्दी फिल्म यहीं बनते हैं। मैंने वहाँ जब तब कई फिल्म देखे, लेकिन कालक्षेपके ही ख्यालसे। बहुत कम फिल्म मुझे पसन्द आए। पहिली जनवरीको "कबीर" फिल्म देखने गया, उसके बारेमें मैंने डायरीमें लिखा था—"इतिहास और भूगोलके ऊपर दिल खोलकर छुरी चलाई गई है। नीरूको पाजामा पहिनाया गया। आज भी बनारसकी तरफ जुलाहोंमें

बहुत कम ही पाजामा पहनते हैं। रामानन्दको घंटा डुलाने वाला मुछंदर बनाया गया। कबीरके समय कहाँसे लाकर काशिराजको बसा दिया। बनारससे पूछनेकी क्या जरुरत? भारतीय थैलीशाहोंकी राजधानी–बंबई–सबका काम दे सकती है। गाने-नाचनेको दिखाकर जब पैसोंके बटोरनेमें बाधा नहीं, तो मौज है और बातोंको। तुकारामके अभंगको राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहकर गवाया। गोया कबीर-पंथियोंकी खजड़ी वाली भजन बुरी थी?"

पहिली फर्वरीसे ही सोवियत् युद्धक्षेत्रमें लालसेनाके विजयकी खबरें स्तालिनग्रादमें जर्मन फील्डमार्शलके गिरफ़्तार होनेके साथ शुरू हुई। उसके बाद तो फिर पासा ही पलट गया। ९ को खबर आई कि कुर्स्कको लाल सेनाने ले लिया। १० को पता लगा, कि जर्मनोंने रस्तोफको खाली कर दिया। जर्मन अब उलटे पैर लौटे जा रहे थे।

१० को मालूम हुआ कि गाँधीजीने लिनलिथगोको चिट्ठी लिखकर कहा है कि अगस्त और बादमें जो उपद्रव देशमें हुए, काँग्रेस उनकी जिम्मेवार नहीं, और काँग्रेसके ऊपर उनका इलजाम लगाना झूठा है। पिछले ६ महीनोंसे कम्युनिस्ट भी यही बातें करते थे।

दुनिया जीवन-मरणके एक भीषण संघर्षसे गुजर रही थी, लेकिन इंगलैंडके थैली-शाहोंको सबसे ज्यादा इसी बातकी फिकर थी, कि युद्धके बाद हमारे स्वार्थ कैसे सुरक्षित रहें यह विचार करते हुए मैंने अपनी पहिली फर्वरीकी डायरीमें लिखा था —"इंगलैंड और अमेरिकाके थैलीशाह शासक युद्धपश्चात्की क्रान्तियोंकी फिक्रमें ज्यादा हैं। कासाब्लङ्कामें रुजवेल्ट, चर्चिल कोई बड़ी जंगी कारवाई करनेकेलिए नहीं, बल्कि अपनी जनतासे अपनी अकर्मण्यता छिपानेकेलिए इकट्ठा हुए थे। कामरेड स्तालिन ऐसे कच्चे गुइयाँ नहीं है, जो उनके कामनें सहायता देते। जीरो फ्रेंच साम्राज्य और फ्रेंच वर्ग-शासनको भी रखना चाहता है, इसलिए उसे क्यों दे-गालसे मिलनेकेलिए मजबूर किया जाय, आखिर देगालके साथ मजूर-वर्ग भी तो हैं। ब्रिटिश नौकरशाह भी भारतमें कमकरोंकी आगे आनेवाली तनी भृकुटीको देख रहे हैं। बंगालमें जगपरिवर्तकोंकी पहुँच हर स्तरमें है। मजूर साथ होंगे, देखना है, किसानोंमें जिन्नाके चेले और फ़जलुल हक़ कितनी फूट डाल सकते हैं। बुद्धिजीवी काफ़ी साथ रहेंगे, मलवारमें जंगपरिवर्तकोंका बहुत प्रभाव है, मगर वह छोटा-सा प्रान्त है। तमिल-प्रान्तमें (उनका) मजूरोंमें ज्यादा जोर, मगर किसानों तथा बुद्धिजीवियोंमें (क्या है) इसे हम नहीं कह सकते। आँन्ध्रमें मजबूत, और निर्णायक शक्ति (उनकी)

बंगाल जैसी है। बिहारमें फूट, बुद्धिजीवियोंमें सुस्ती किन्तु किसानोंमें अधिक जागृति (है)। यू० प्रा० में (वह) बढ़ेंगे, खासकर बुद्धिजीवियोंमें, मजूरोंमें किसानोंमें लौटे सिपाहियों द्वारा भी। पंजाबमें वर्त्तमान और अगली सरकार भी उनके विरुद्ध रहेगी और नागरिक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, मगर वहाँके कुछ शिक्षित तथा सभी यंत्र-निपुण (सैनिक)—जो फ़ौजोंसे आकर भूखे मरेंगे—जग परिवर्तनमें काफ़ी सहायक होंगे। सिक्खोंमें खूब ज़ोर बढ़ेगा, हिन्दुओंमें उन्हीं सैनिकोंसे आशा (है)। मुसलमानोंमें भी वही सैनिक (जगपरिवर्त्तक) होंगे और सारे प्रतिगामी एक ओर (होंगे)। सब मिलकर पंजाबमें भी भविष्य बेहतर होगा। मध्यप्रान्तमें मुर्दा सा..। सिन्धमें (फैसला) नागरिक स्वतंत्रता और लाल-सेनाके प्रभावसे कितना लाभ उठा सकते हैं, इसपर निर्भर है। बम्बई और महाराष्ट्रमें मजूरोंसे बाहर उनका काम न बढ़ रहा है, न उसका कोई प्रोग्राम है। अंग्रेजीके जर्नलिज़्म (पत्रकारकला) से यह काम नहीं हो सकता। बुद्धिजीवी पक्के क्रान्तिकारी नहीं होते, मगर उनपर प्रभाव डालने या पछाड़नेसे हमारा प्रचार हर तबक़ेमें बढ़ता है। इसकी तरफ महाराष्ट्र-जगपरिवर्त्तकों का ध्यान तक नहीं है। गुजरातमें कुछ हो सकता है, मगर काम करने वाले हाथ कम हैं, गान्धीजीका प्रभाव मजूरों तकसे भी उठा नहीं, इसलिए वह कमजोर रहेंगे। कर्नाकट अभी मध्यप्रान्तकी कोटिमें है। आसाममें सुरमा वेली (उपत्यका) आगे रहेगी। और फिर भारतमें अंग्रेज नौकरशाही सबसे प्रतिगामी और शक्तिशाली है, वह भारतीय (पूँजीपतिवर्ग) से जरूर समझौता करेगी और परिवर्त्तक शक्तियोंको नष्ट करनेकी भारी (कोशिश करेगी) मगर (पूँजीशाहोंकी) इंगलैंडमें हालत अच्छी नहीं रहेगी। मजूर-नेता कम्युनिस्टोंके साथ एकता करके मजूरोंकी एकताको मजबूत नहीं होने देंगे। किन्तु, तब भी इंगलैंडमें कम्यूनिस्टोंके प्रचारमें लालसेनाकी सफलता सबसे ज्यादा सहायक होगी। युद्धके बाद सेना, सिविक-गार्ड, बारूद-फ़ैक्टरियोंसे निकाले गये भूखे मरते स्त्री-पुरुष। इनके सामने टोरी—मजूर नेताओंकी ताक़त (बेकार होगी)। रियायतोंसे पेट नहीं भरा जा सकता। ज़ोर (इस्तेमाल करनेपर) गृहयुद्ध (होगा)। लालसेनाका योरपपर प्रभाव (पड़ना निश्चित है)। योरुप-अमेरिकाके थैलीशाह शासक जर्मनीको हिटलरोंकी प्रसव-भूमि बनाए रखना चाहते हैं, जिसमें सोवियत्को आगेकेलिए भी फँसाए रखा जाय। मगर सोवियत् इनसे कहीं ज्यादा होशियार है। वह जर्मनीमें युंकर तथा क्रूप् आदिकी पौधोंको नहीं रहने देगी, चाहे चर्चिल रुज़वेल्ट कुछ भी करना चाहें, अर्थात् जर्मनीमें मजूरकिसान राज्य—सोवियत्—(चाहे न भी हो), किन्तु

(होगा वह) सोवियत् समर्थक। इंगलेंड अपने स्वार्थ-द्वंद और गृहयुद्धके डरसे लाल-सेनापर हल्ला नहीं बोल सकता। राइनके पूरब और योरपसे प्रतिगामी शक्तियोंका खातमा होगा। इसका भी प्रभाव फ्रान्स और इंगलेंडपर (पड़ेगा)। अमेरिकाको भरोसा है, कि लालसेना अतलांतिक पारकर आक्रमण करके साम्यवाद नहीं कायम करेगी। फिर वह क्यों चर्चिलकी आगमें कूदेगा ? ब्रिटिश थैलीशाहीकी साख विश्वके बाज़ारमें खतम, जिससे कि इंगलेंडमें वह कमज़ोर, जिससे उसके भारतीय प्रतिनिधि कमज़ोर; जिससे भारत ही नहीं, बल्कि अफगानिस्तान तथा ईरानमें भी परिवर्तक शक्तियों-को बल प्राप्त (होगा)। चीन भी, सोवियत्के साथ रहेगा, क्योंकि चर्चिल-एमरी हाँग-काँग तथा दूसरी जगहोंपर लुप्त यूनियन-जैक गाड़नेका (मनसूबा) रखते हैं। और जापान ?——जापानमें परिवर्तक शक्तियोंका बढ़ना अवश्यंभावी, राज्य शक्ति-पर अधिकार तक संभव (है)। थैलीशाहोंकी सारी जातिसे बदला लेनेकी नीति, अपनेलिए बाज़ारका सुभीता करने, राष्ट्रीय बिखराव तथा अपमानका मनसूबा वहाँकी भारी जनताको सोवियत्-पक्षपाती बना देगा। सोवियत् अपनी पश्चिमी सीमाकी भाँति पूर्वी सीमाको भी सुरक्षित करेगी। उसे फिर दूसरा युद्ध अपनी सीमा-ओंपर नहीं लड़ना है, यह बात तय है। कोरियामें जनप्रजातन्त्र बनेगा। मन्चूरिया चीनके भीतर किन्तु एक परिवर्त्तक भूखण्ड होगा। जावा आदिमें पूर्व-व्यवस्था कायम होगी, मगर उसमें (भारी) विरोध उठ खड़े होंगे——इंगलेंडकी तरह हालैंडकी भीतरी दिक्कतें, निवासियोंकी स्वातन्त्र्य-आकांक्षा तथा हारको निश्चित देख जापानियोंको वहाँके लोगोंको अधिकाधिक अधिकार देकर यूरोपियन पूँजीशाहोंके खिलाफ़ मनोभाव तथा शक्ति तैयार करनेका प्रयत्न (करना होगा)। इस प्रकार प्रशान्त महासागरके इस छोरपर प्रशान्ति नहीं रही। हाँ, फिलीपीन स्वतन्त्र होगा। अब इस चित्रपटके भीतर देखो भारतको। भारतके फ़ौलादी ढाँचे ढीले, यद्यपि ऐंठ पहिलीसी है।"

लड़ाईसे लौटे भूखे नौजवान कुछ करनेकेलिए उतावले, गाँधीवाद——भारतीय पूँजीवादका अंग्रेज पूँजीपतियोंसे गठबन्धन, परिवर्त्तक विचारोंका अधिक प्रसार, परिवर्त्तनके पक्षमें मजूरोंकी जबर्दस्त शक्ति, किसानों और रियासतोंके अनवरत संघर्ष, मार्क्सीदलका सर्वत्र भारी प्रभाव। "अब बताओ" कौन अधिक बलवान रहेगा ? परिवर्त्तक शक्तियाँ या भारतीय पूँजीपति अंग्रेज नौकरशाह——गुड़ियाराजा।

फर्वरीके अन्तमें मुझे फिर बुखार आ गया, और अब बम्बई छोड़नेका ही निश्चय हुआ और ३ मार्चको मैं बम्बईसे रवाना हुआ।

युक्तप्रान्त और बिहारमें (मार्च-अप्रैल)——उस दिन पंजाब-मेलमें बड़ी भीड़

थीं, लेकिन जिस डिब्बेमें मैं बैठा , उसमें कुछ सैनिक भी बैठे थे, जिसका मतलब था, दूसरोंकेलिए दरवाज़ा बन्द । ४ मार्चको मैं आगरा पहुँचा । बुखार दो-तीन दिन और रहा । ८ तारीखको नागार्जुन भी सिन्धसे पहुँच गए, और तबसे तीन महीने तक हम दोनों साथ ही रहे । अबकी बार मैं प्रान्तीय किसान सम्मेलनका सभापतित्व करनेके-लिए इधर आया था । सम्मेलन १४,१५ मार्चको होनेवाला था, लेकिन बुखारके कारण मैं कुछ पहिले ही चला आया । आगरामें एक हफ़्ता रहनेके बाद फीरोजाबाद चला गया । आगरा छावनीमें गाड़ीमें बड़ी भीड़ थी, आगरामें आकर तो वह और ठसम-ठस भर गई । खैर, जँगलेके पास बैठे हुए थे, इसलिए चारोंओर पके गेहूँकी सुनहली बालियोंको देखकर प्रसन्नता हो रही थी । लेकिन फ़सल सभी जगह अच्छी नहीं थी । सभी जगह खाद-पानी अच्छा हो, तभी न फ़सल अच्छी हो । पानी तो है, मगर ज़मीनके नीचेसे निकाला कैसे जाय? बैल और चरसेसे किसान लुटिया-लुटिया भर पानी निकालते हैं, यह तो प्यासेको सींकसे पानी पिलाना है । यमुनाके आसपासकी समतल मिट्टी वाली ज़मीन पहाड़ोंके खोहवाली जैसी मालूम होती है । सैकड़ों पीढ़ियोंसे इसे हम एक स्वाभाविक दृश्य समझते आए हैं, कभी इस बातपर ख्याल भी नहीं किया, कि कितनी मिट्टी इस तरह हर साल बहकर समुद्रमें जा रही है । पानीको तो खैर बादल कुछ लौटा भी लाते हैं, किन्तु समुद्रके पेटमें गई मिट्टी तो एक तोला भी लौटके नहीं आती । भूतत्त्व-शास्त्री बतलाते हैं, कि आरंभिक आग्नेय चट्टानोंसे घिस-घिसकर हज़ारों वर्षोंमें एक अंगुल मोटी मिट्टी बनी । प्रकृतिकी यह कितनी मँहगी देन है, लेकिन इसकी रक्षाका हमने कोई इंतिज़ाम नहीं किया । सोवियत्‌में अब इसकी ओर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है, वहाँ सीमेन्टके नाले और बाँध बनाए जा रहे हैं, जिसमें कमसे कम मिट्टी समुद्रमें जाने पाए; हमारे यहाँ तो न जाने कब इसके लिए कोई प्रयत्न किया जायगा ।

फीरोज़ाबादमें उस दिन साथी अनसारीके घरपर खाना खाने गए । यह एक मध्यमवर्गीय पुराना खानदान है । सदियोंसे इनके यहाँ पर्दा होता आया है, लेकिन उनकी बीबी और बड़ी लड़की दोनोंने पर्दा छोड़ दिया । ख़ानदानमें बड़ी खलबली मची है । खुद बूढ़ी माँ तक ने बेटेका बायकाट कर दिया है । छोटी लड़की कह रही थी कि दादी बर्तनमें हाथ नहीं लगाने देतीं, कहती हैं—तुम लोग अल्लाको नहीं मानते, दोज़खमें जाओगे । मैंने उससे कहा——रोनी सूरत बनाकर गिड़गिड़ाते हुए दादीके पैर पकड़-कर कहना कि दादी तू तो अंगूरोंके बाग़में जायगी । लेकिन दोज़ख और बहिश्तके बीचमें एक छोटी पतली दीवार है, मैं कुछ भी होऊँ, लेकिन हूँ तो तेरी ही पोती;

कभी-कभी एकाध गुच्छा तोड़कर हमारी ओर भी फेंक देना। बच्ची कहने लगी—ऐसा कहनेपर मारने दौड़ेंगी। दादी बेचारीको बड़ा दुःख है। २६, २७ साल पहिले मैं एकसे अधिक बार फ़ीरोज़ाबाद आया था। एक बार आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवके अवसरपर भी व्याख्यान देने आया था। आर्यसमाजके ज़बर्दस्त वक्ता प्रयागदत्त अवस्थी भी पहुँचे थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं पूरबका ब्राह्मण-पुत्र हूँ, तो बड़ी गम्भीरतासे समझाने लगे—देखो, इस धर्महल्लेमें खाना मत खाया करो, यहाँ ढेढ़-चमार सब घुस आते हैं; अपना भोजन आप बनाया करो। लेकिन पंडितजीके उपदेशोंकेलिए मेरे कानमें जगह न थी; यदि वह मेरा आजका खाना देखते, तो न जाने क्या कहते। हाँ, फ़ीरोज़ाबाद तबसे बहुत बढ़ गया है। अब इसकी आबादी ४० हज़ार है, और चूड़ी बनानेके ६० कारख़ाने। फ़ीरोज़ाबाद सारे हिन्दुस्तानको चूड़ी देता है। युद्धके समय, जब कि विदेशी चूड़ियाँ आनी बन्द हो गईं, यह अकेले सारे भारतकी नारियोंकी सौभाग्यरक्षा कर रहा है। लेकिन उसके रास्तेमें बहुत-सी रुकावटें हैं—कोयला न मिलनेसे २५ कारख़ाने बन्द हो गये हैं। मज़दूरोंका संगठन मज़बूत है।

बछगाँवमें (१३-१५ मार्च)—किसान-सम्मेलन बछगाँवमें होनेवाला था, इसलिए १३ तारीख़को हम बैलगाड़ीसे बछगाँवकेलिए रवाना हुए। १० मीलका रास्ता है, किंतु बैलगाड़ीको अपनी चालसे चलना था, तो भी हमारा रास्ता अच्छी तरहसे कटा। अलीगढ़ और प्रतापगढ़के दो साथी साथमें किसानोंके गीत गाते चल रहे थे, जिसमेंसे एकके पद्य बनारसी और अवधीमें थे, और दूसरेके ब्रजभाषामें। कच्ची सड़ककी दोनों तरफ़ खेत थे, जिनमें चने पके हुए थे। लोग होले उखाड़-उखाड़कर ला रहे थे, सतयुगसे यही धर्म चला आया है, इसलिए लोगोंने शायद ही मालिकसे पूछनेकी ज़रूरत समझी हो। कच्चे होले खाते हम अपना रास्ता नाप रहे थे। हमारे गाड़ीवानको गणेशपालका बारहमासा बहुत पसन्द आया, उस बारह-मासेमें बहुत सीधी-सादी ब्रजभाषामें किसानोंकी बारह मासकी विपदा गाई हुई थी। गाड़ीवान लिखना-पढ़ना नहीं जानता था, लेकिन उसने गणेशपालसे बार-बार बिनती की, कि इस बारहमासेको लिखकर हमें दे दें। रास्तेमें हमें बहुतसी लकड़ी-भरी गाड़ियाँ मिलीं। लोग बतला रहे थे, कि यह चूड़ीके कारख़ानोंकेलिए जा रही हैं, गीली होनेपर भी तीस सेरका एक रुपया मिल जाता है। फ़ीरोज़ाबादके दस-दस बीस-बीस कोस तकके दरख़्त बड़ी बेदर्दीसे काटे जा रहे थे। बाग़ एक साल में तैयार नहीं होते, और यहाँ उनके ऊपर एक ओर से कुल्हाड़ा चलाया जा रहा था।

दोपहरको हम बछगाँव पहुँचे। बछगाँव एक साधारणसा गाँव है, लेकिन "वत्सग्राम" नाम पुराना मालूम होता है। भरद्वाज वंशज वत्स इसी कुरुपंचालके रहनेवाले थे, लेकिन आजसे तैंतीस-चौंतीस सौ वर्ष पहिले वह इसी ग्राममें रहते थे, यह कहनेकेलिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, गाँवके बाहरके देवस्थानमें एक शुंगकालीन खंडित मूर्त्ति देखी, जिससे इतना तो पता लगता है कि आजसे २१-२२ सौ वर्ष पहिले यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

सम्मेलनके रास्तेमें पुलीसवालोंने जहाँ तक हो सका, बाधा डाली। फ़ीरोजा-बादमें तो जुलूस निकालनेके ख़िलाफ़ हुकुम निकाल दिया गया था, लेकिन श्री मुंशी-लाल गोस्वामी और दूसरे साथियोंने सम्मेलनको सफल बनानेकेलिए ख़ूब मेहनत की थी। पुलीसवालोंने इतना ही नहीं कहा था कि जो सम्मेलनमें जायगा, वह पकड़ा जायगा, बल्कि उन्होंने वहाँ सड़कके किनारे अपना ख़ेमा भी डाल दिया था। लेकिन तब भी सम्मेलनमें तीन हज़ारसे अधिक किसान आये। एक हज़ार औरतोंका आना बतला रहा था, कि साथी हाजरा और उनकी सहायिका मुन्नी शुक्लाकी की हुई मेहनत अकारथ नहीं गई। हाजरा नवाबोंके ख़ानदानमें इसलिए नहीं पैदा हुई थीं, कि धूपमें पैदल एक गाँवसे दूसरे गाँवमें दौड़ती फिरें, लेकिन उन्होंने खुद इस रास्तेको स्वीकार किया था। हाजरा एक ब्राह्मण परिवारमें ठहरी थीं। मैंने देखा, जिस वक़्त वह बूढ़ी अम्मासे बिदाई ले रही थीं, तो बुढ़ियाकी आँखोंमें आँसू थे। उसने उसी तरह हाजराको बिदा किया, जैसे माँ अपनी बेटीको बिदा करती है। उसको यह भी नहीं ख़्याल आया, कि यह मुसलमानकी लड़की है। हफ़्ते भरमें हाजरा अम्माके घरकी बेटी बन गई थीं। सभामें कितने ही किसान कवि और गायक आये थे। बनारस ज़िलेके धर्मराज और रामकेर भी पहुँचे थे। मैं रामकेरकी कविताकी प्रशंसा सुन चुका था, डफ बजाते हुए जब रामकेरने सुनाया "खुसी रहो या रंज रहो, तूँ अपने घरे हम अपने घरे" तो सारी जनता मुग्ध हो गई। मैं डर रहा था, कि पांचाली (भाषा)-क्षेत्रमें बनारसके गाँवकी भाषा लोग नहीं समझेंगे, लेकिन रामकेरने अपने अटट देहाती गीतोंको सुनाकर उन्हें मुग्ध कर दिया, और मेरी धारणा ग़लत साबित हुई। यहीं मुझे अनुभव हुआ कि युक्तप्रान्त और बिहारकी स्थानीय मातृ-भाषाओंमें भी शब्दकोष और मुहावरोंकी इतनी समानता है, कि लोग उसे अच्छी तरह समझ लेते हैं। सम्मेलन सफल रहा। स्त्रियोंका भी एक सम्मेलन हुआ, जिसकी स्वागताध्यक्षा गोस्वामीजी की बीबी हुईं।

१५ मार्चके आधी रातको कुछ लोग गाड़ियोंपर और कुछ पैदल चल पड़े।

प्रतापगढ़ी भाईने एक बिरहा गाया "जेके लागे हैं, अनेकों ठगहार"। कुछ नौजवानोंने इस कड़ीको उड़ा लिया और उसमें जोड़-जोड़कर वह रात भर रास्तेमें बिरहा गाते फ़ीरोज़ाबाद पहुँच गये। फ़ीरोज़ाबादमें मैंने देखा, हाजरा और मुन्नी शुक्ला—एक मुसल्मान और दूसरी जौनपुरके ब्राह्मणी—एक थालीमें खा रही हैं। कम्यूनिस्त अपने खाने-पीनेको छिपाते नहीं। इसपर टिप्पणियाँ ज़रूर होती होंगी, पर उनको इसकी पर्वाह नहीं है। वह जिस भविष्यका सपना देख रहे हैं, उसमें यह एक मामूली बात है। मुन्नीकेलिए यह ज़रूर आश्चर्यकी बात थी, क्योंकि छ ही महीने पहिले उन्होंने घरसे बाहर पैर रखा था।

उस दिन (१६ मार्च) शामको हमारा खाना डाक्टर अशरफ़के साढ़ूके यहाँ हुआ। कुल्सुम्—अशरफ़की बीबी—भी आजकल यहीं थीं। ५, ६ वर्षके साहेबज़ादेसे रास्तेमें भेंट हुई थी, वह किसी लड़केके साथ स्कूलसे आ रहे थे। मैंने पूछा—"कहाँ गये थे?" लजानेकी कोई बात नहीं थी, उन्होंने बड़े इतमीनानसे जवाब दिया—"स्कूलसे आ रहा हूँ।" मैंने पूछा—"पढ़ने गये थे?" जवाब और भी इतमीनानके साथ मिला—"बच्चोंको देखने गया था।" गोया हज़रत बच्चे नहीं थे और स्कूलमें सोलह-सोलह वर्षके पढ़नेवाले सब बच्चे थे। आख़िर जन्मजात वक्ता अशरफ़के साहेबज़ादे हैं न? भोजन तो ख़ैर अच्छा बना ही था, लेकिन सबसे आनन्दकी चीज़ थी, स्त्रियोंके गीतकी चर्चा। हाजराने भी कितने ही गीतें जमा किये हैं, कुल्सुम्को कौमारावस्थाकी याद की हुई कुछ गीत मालूम थे। वह मथुरा ज़िलेके गाँवकी रहनेवाली हैं और सो भी हिन्दूकी लड़की। उनके सारे गीत हिन्दुओंके थे, विवाह और कन्याकी बिदाईसे सम्बन्ध रखनेवाली कितने ही मार्मिक गीत कुल्सुम्ने सुनाये। उन्होंने इस ओर मेरी बहुत दिलचस्पी देखकर कहा, एक बार आइए, जब मैं अपने नैहरमें रहूँ, फिर खूब अच्छे-अच्छे गीत सुनवाऊँगी। हाँ, यहाँ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातको मैं छोड़ गया। कुल्सुम्के भाई धर्नसिंह और प्रतापसिंह हिन्दू राजपूत हैं, और पति डाक्टर अशरफ़ मुसल्मान राजपूत। हिन्दुस्तानमें पन्द्रह-बीस लाख ऐसे राजपूत हैं, जिनमें धर्मकी प्रधानता नहीं जातिकी प्रधानता है। चाहे कोई मुसल्मान धर्म माने, चाहे कोई हिन्दू, ब्याहशादी वह आपसमें करते हैं। कुल्सुम्की शादी इसी तरहसे हुई है। मैंने सोचा, इन लोगोंने सैकड़ों वर्ष पहिले हीसे भविष्यके हिन्दुस्तानकेलिए रास्ता दिखला दिया है।

प्रयाग, बनारस होते हम छपरा पहुँचे। पता पहिले ही लग गया था कि

पं० गोरखनाथ त्रिवेदीके घरमें चोरी हो गई। हज़ारोंके ज़ेवर और कपड़े चोरी गये। मेरे २, ३ बड़े-बड़े बकसोंके भारी वज़नको देख चोरोंने समझा कि इनमें रुपये भरे हैं, और वह उन्हें भी उठा ले गये। खेतमें जाकर खोला तो देखा, उनमें किताबें हैं। कुछ कपड़े भी थे, जिन्हें वह ले गये, बाक़ीको वह वहीं छोड़ गये। मुझे बड़ी खुशी हुई, जब देखा मेरे असली धनको उन्होंने नहीं छुआ—वहाँ कई सालकी डायरियाँ थीं।

२५ मार्चको पटनामें अन्न कष्टके सम्बन्धमें नागरिकोंकी सभा थी। मुस-लिम लीग, हिन्दू सभा, ज़मींदार और कम्यूनिस्त सभी इसमें शामिल थे। ५ महीना पहिले पटनाको जिस वक़्त मैंने छोड़ा था, उस वक़्त कम्यूनिस्तोंने अभी-अभी इस काममें हाथ लगाया था। उस वक़्त वह अकेले थे, लेकिन आज सभी उनका साथ दे रहे थे। रुपयेका तीन सेर चावल, दो सेर गेहूँ बिक रहा था, और वह भी मिलना मुश्किल था। दस आना बारह आना सेर सत्तू था, जब कि छ-सात आना सेर चीनी मिल रही थी। चार-पाँच साल पहिले यदि कहा जाता, कि दो सेर चीनी में एक सेर सत्तू मिलेगा, तो लोग विश्वास नहीं करते। लेकिन अब लड़ाईने असम्भव-को सम्भव कर दिया है। छपराके गाँवोंमें घूमनेपर लोग यही पूछ रहे थे, कि लड़ाई कब खतम होगी। ढाई सेरके चावलके ख़रीदनेकी किसमें हिम्मत थी? दो रुपये का धोती जोड़ा अब दस रुपयेमें बिक रहा था। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची थी।

५ अप्रेलको मैं अतरसन (छपरा)में था। लोग बतला रहे थे, महाराज-गंजमें कल दो सेरका चावल बिका। आजकल अनाजकी डकैतियाँ बहुत बढ़ गई थीं। ७ अप्रेलको सीवानमें कोई सज्जन बतला रहे थे, कि कमलाराय (?)के यहाँ कुछ आदमी उधार अनाज माँगने गये। उन्होंने नहीं दिया, इसपर डाकुओंने उनके खलिहानमें आग लगा दी, और डेढ़ हज़ार मन अनाज राख हो गया। यह बड़ी ही हृदयद्रावक बात थी—अनाजको जलाना, लूटना नहीं! किसी समय मनुष्यके मुँहके आहार अनाज तथा पशुके मुँहके आहार तृणमें आग लगाना भारी पाप समझा जाता था। मुझे बचपनकी बात याद आ गई। कनैलामें हमारे घरमें काफ़ी धान होता था, और जाड़ोंमें पुआलका भारी गंज लगा रहता था। आग तापते वक़्त हम लड़के जब उसमेंसे दो-चार तिनके आगमें डाल देते, तो आजी (दादी) तिलमिला-कर कह उठतीं "गऊके मुँहका आहार जला रहे हो! बड़ा पाप होता है।" और सच-मुच हम लड़के भी कुछ सहम जाते थे।

८ अप्रेलको हम लोग जैजोरी गये। खलिहानका काम हो रहा था। बादल

था। दोपहरको कुछ बूँदें भी गिरीं। खलिहानका अनाज जब तक घरमें नहीं आ जाता, तब तक किसान डरते रहते हैं। देखा, एक्कोंका किराया ज्यादा नहीं बढ़ा है। दूध और नमकका दाम पहिले ही जैसा रहा, किन्तु बैलोंका दाम कई गुना बढ़ गया। किसान कह रहे थे, कि हमारे बैलोंको सरकार पल्टनकेलिए खरीद रही है। कोई-कोई तो कहते थे कि बैलको तोलकर ४० रुपया मन दाम दे दिया जाता है। कुछ भी हो आजकल पलटनके खानेकेलिए गाय-बैल ज़्यादा मारे जा रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं और खेतीकेलिए यह एक बड़ी समस्या हो रही है। फ़रीदपुरमें हक साहेबके "आशियाना"में गये। २२ वर्ष पहिले मैं यहाँ बाबू मथुराप्रसादके साथ आया था। वह दिन याद है, जब बेगम हकने यहाँ हम लोगोंको चाय पिलाई, और बाबू मथुराप्रसादने वैष्णव समझकर मुझे समझाना चाहा, कि चाय पीनेमें कोई हर्ज नहीं है, किन्तु मैं उससे पहिले ही कुर्गमें एक थालीमें मुसल्मानके साथ खा चुका था। १९२९में हक साहेबके पास जब आया था, तो पुस्तकोंके ढेरमें बैठे उन्होंने कहा था—"आओ बैठो, यहाँ पढ़ो, और अध्यात्मविद्याका अभ्यास करो।"

दोपहरको यहीं मज़हरके यहाँ भोजन करके हम जैजोरी गये। उस दिन वहाँ और अगले दिन अमवारीमें किसानोंकी सभा हुई। आजकी परिस्थितिपर मैंने कुछ कहा। जैजोरीमें ही सुन लिया था, कि अदमापुरके (घाघरावाले) बाँधको राहुल बाबाने बँधवा दिया। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। अमवारीमें जब अदमापुरके बाँध बँधवानेकेलिए राहुल बाबाका गीत रामायनके साथ झाल ढोलक लेकर गाते सुना, तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। इतना ही नहीं, माँझीका रेलका पुल भूकम्पके वक़्त टूट गया था, उसकी मरम्मतका भी श्रेय अंग्रेज़ कम्पनी या सरकारको नहीं, राहुल बाबाको दिया जा रहा था। किस तरह पँवारे बना करते हैं, यहाँ इसका एक अच्छा उदाहरण था। अदमापुरके बाँध बँधवानेमें सत्यताका अंश इतना ही था, कि ४ वर्ष पहिले मैंने घाघराके बाँधकेलिए जनताका एक ज़बर्दस्त प्रदर्शन छपरामें करवाया था, जिसमें १२, १३ थानोंके किसान आये थे, अमवारीके भी किसान पहुँचे थे। पीछे सरकारने जब उस बाँधको बँधवा दिया, और जिन खेतोंमें ४ वर्षसे पानी आ जानेके कारण एक अच्छत भी नहीं होता था, उसमें खूब धान होने लगा; तो किसानोंकी सहज बुद्धि और स्नेहपूर्ण हृदयने अदमापुरके बाँधके साथ मेरा नाम जोड़ दिया। अमवारीके किसान अब अच्छी अवस्थामें थे। चन्द्रेश्वर बाबू और उनके परिवारका इन किसानोंके प्रति अब अच्छा बर्त्ताव था। सत्याग्रहके वक़्त गुप्तेश्वर बाबू लठियलोंको मेरे ऊपर प्रहार करनेकेलिए उकसा रहे थे, और आज

उन्होंने बड़े आग्रहसे अपने ही दरवाज़ेपर सभा करवाई, प्रान्तीय किसान सम्मेलन-केलिए चन्दा दिया और दूसरोंको भी देनेकेलिए कहा। व्याख्यानके बाद जलपान कराया और बहुत दूर तक पहुँचाने आये। भाषणमें मैंने कहा था, जिस स्वप्नको हम देख रहे हैं, उसमें किसीको कष्ट-चिन्ता न रह जायेगी।

५. चौंतीस साल बाद

चौंतीस साल क्या होता है, इसका साक्षात्कार मुझे अबसे पहिले कभी नहीं हुआ था। गिननेको कई घटनायें थीं, जिन्हें चौंतीस क्या उससे भी अधिक सालोंमें मैं गिन लिया करता था; मगर चौंतीस सालका ठीक-ठीक रूप मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने अपने जन्मग्राम पन्दहामें—जो मेरे नानाका ग्राम है—उन चेहरोंको देखा, जिन्हें मैंने यौवनके वसंतमें देखा था। और आज? मेरी तीन मामियोंमेंसे एक सूरजबली मामाकी बहूको ले लीजिये। १९०९ ई०में उन्हें मैंने २०-२२ सालकी तरुण सुन्दरीके रूपमें छोड़ा था और आज उनके चेहरेपर गंगा-यमुनाके असंख्य नाले खिंचे हुए थे। ऊपरसे एक आँख भी जाती रही। आज उस सुन्दर चेहरेका कहीं पता नहीं। पन्दहाके आजके निवासियोंमें मेरे परिचित चेहरोंकी संख्या एक दर्जनसे अधिक नहीं थी, और उन सबकी हालत पके आम-कीसी थी।

सारे परिचित चेहरे यद्यपि अधिकतर सदाकेलिए विलुप्त हो चुके थे, तथापि उनकी जगह मैंने बहुतसे तरुण चेहरे देखे और उनमेंसे कितनोंसे परिचय प्राप्त किया। इन नव-परिचित चेहरोंका साक्षात् होनेसे जो आनन्द हुआ, उसीने इस बातकी न्याय्यताको समझा दिया, कि नयोंके आनेकेलिए पुरानोंका स्थान खाली करना ज़रूरी है।

सत्ताईस साल हो गये, जबसे मैं अपने आज़मगढ़ ज़िलेमें नहीं गया था। पचास साल पूरे होनेके साथ ९ अप्रैल १९४३के बाद, मैं आज़मगढ़ ज़िलेमें जानेकेलिए स्वतंत्र था। यद्यपि इस समयकी प्रतीक्षा मेरे बन्धुओंकी तरह मैं भी कर रहा था, किन्तु दूसरे कामोंको देखते हुए मैं समझ रहा था, कि शायद इस वर्ष जानेका मौक़ा न मिल सकेगा, लेकिन समय मिल गया।

१२ अप्रैलकी रातको एक बजे सीवान (छपरा)से नागार्जुन और मैं रेलद्वारा आज़मगढ़केलिये रवाना हुए। मऊमें एक बजे दिनकी तपती भूमिपर भी पैर रखते वक़्त एक तरहका आनन्द मालूम होता था। मालूम हो रहा था, किसी न्यामतसे मैं अब तक

वंचित था और आज वह मुझे मिल रही है। दूसरी ट्रेनके जिस डिब्बेमें हम बैठे, उसमें कितने ही बलिष्ठ ग्रामीण भद्रजन बैठे थे। उनके लम्बे चौड़े स्वस्थ शरीरको देखकर मुझे अभिमान हो रहा था। वे उसी भाषाको बड़ी ज़िन्दादिलीके साथ बोल रहे थे, जिसे मैंने भी माँके दूधके साथ सीखा था। मुझे इसका अफ़सोस हो रहा था, कि मैं उसे अब नहीं बोल सकता। आज़मगढ़ ज़िले के सात दिनके निवासमें अपने वन्धु-मित्रोंसे उनकी भाषामें बोलनेका प्रयास मैंने करके देखा, लेकिन मेरे मुँहसे छपराकी बोली निकल आती थी।

आज़मगढ़के तरुण साहित्यिक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त स्टेशनपर मौजूद थे, इस-लिए शहरमें धर्मशाला ढूँढ़नेकी ज़रूरत नहीं पड़ी। मैं इस यात्रामें एक तीर्थयात्रीके तौरपर गया था और शैशवके स्मरणीय स्थानोंके साथ फिरसे परिचय तथा साक्षात्कार की लालसा रखता था; इसलिए मैं सार्वजनिक रूपसे किसी समागम या अभिनन्दनमें शामिल नहीं होना चाहता था। गुप्तजीने मेरे भावोंका ख्याल किया, यह प्रसन्नताकी बात थी।

आज़मगढ़ शहरसे यद्यपि मेरा जन्मग्राम पन्दहा, सात मीलसे ज्यादा नहीं है, तो भी मगर मैं शहरमें बहुत कम गया हूँ। वहाँके तहसीली स्कूलको देखा था। अबकी गया तो देखा, वह दूसरी जगह चला गया है। मकान नया है, किन्तु पुराने मकानकी श्रीहीनता क़ायम रखनेकी पूरी कोशिश की गई है। शिबली-मंज़िल आज़मगढ़की एक ख़ास चीज़ है। इस्लामिक संस्कृतिके मर्मज्ञ, अरबी-फ़ारसीके महा-विद्वान् अल्लामा शिबली एक महान प्रतिभाके धनी थे। उन्होंने अपनी लेखनी, तथा अध्ययन-अध्यापन द्वारा देशकी भारी सांस्कृतिक सेवा की है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि उनके कामको और भी विस्तृत रूपमें जारी रखकर मौलाना सुलेमान नदवीने अपने गुरुकी इस जीवित यादगारको क़ायम रखा है। शिबली-मंज़िलमें कितने ही विद्वान बड़े त्याग और तन्मयताके साथ इस्लामिक अनुसन्धान और ग्रन्थ-प्रणयनमें लगे रहते हैं। शिबली मंज़िलका दार्-उल-मुआरिफ़ उर्दू-साहित्यको बहुत समृद्ध कर रहा है।

१३ अप्रैलको सबेरे आठ बजे हम दोनों एक्केसे रानीकीसरायकेलिए रवाना हुए। शहरसे बाहर निकलते-निकलते पुलिसवालोंने हमारे एक्केवालेकी जो गत बनाई, वह एक नया अनुभव था—आज पुलिस सर्वशक्तिमान् थी।

पाँच-छ सालकी उम्रमें जब मैंने पढ़नेकेलिए रानीकीसरायमें क़दम रखा था,

तो मैं बहुत डर-डरकर चल पाता था। पन्दहा गाँवके लड़कोंकेलिए रानीकी सराय एक संभ्रान्त नगरी थी। वहाँकी हर एक बातसे रोब टपकता था। जब रानीकीसरायके लड़के पकड़ना कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानीकीसरायके पुरुषोंको धोतीका एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रख, दूसरेको घुट्ठी तक छोड़ते देखता, तो मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानीकीसरायकी नागरिकताका वह रोब नहीं रहा, तो भी रानीकीसरायके मदरसेके छ सालोंका मेरे निर्माणमें भारी भाग है।

सड़कसे चलते एक बार मैं बस्तीके आरपार हो गया, लेकिन किसी चेहरेको पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे, किन्तु रामनिरंजन पंडित रानीकीसरायमें होंगे, इसका मुझे ख्याल नहीं था। हम दोनों स्टेशनकी ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित पोखरे रानी-सागरके दक्खिनी भीटेपर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुन-सान था।

फिर हम तालाबके उत्तरी भीटेकी ओर गये। महावीरजीका वही मन्दिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजीकी सेना-वानरोंकी संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू दे रहा था, जैसा बालपनमें वह हर साल एक महीनेकेलिए हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओंसे कुछ पूछ-ताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़बाबा (बलदेवदास) मेरी ओर ख़ास तौरसे देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुलजी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक़्त रानीकी-सरायके स्कूलमें पढ़ते थे, किंतु मैं दो दर्जा नीचे पढ़ता था। अब अपने परि-चितोंका पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-शेष कर चुके थे। महावीरजीके मन्दिरके पास बरगदकी जड़में एक खंडित मूर्ति रक्खी थी—गुप्तकालीन मूर्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़बाबाके साथ अब हम उस स्थानपर आये, जहाँ किसी वक़्त हमारा पुराना मदरसा था। बीचमें शाला (दालान) तीन तरफ़ बराण्डा, एक तरफ़ दो कोठरियाँ—मदरसेका वह नक़्शा अब भी मेरे स्मृति-पटपर अंकित है। हर जाड़ेमें होनेवाली सफ़ेदीसे उज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओरकी चहारदीवारीसे घिरे हातेमें लगे गेंदेके फूलोंकी सुगन्ध मानो अब भी मेरी नाकमें

आ रही थी। लेकिन मैंने उस स्थानको जिस स्थितिमें देखा, उससे चित्त खिन्न हो गया। अब वहाँ उस मदरसेका कोई चिह्न नहीं रह गया था। वहाँ थे अड़ूसे और कुछ दूसरे कटीले पौधे। लोग इस स्थानको खुले पाखानेके तौरपर इस्तेमाल करते थे। हाँ, हमारी परिचित इमलियोंमें एकाध अभी भी मौजूद थीं।

बाजारमें द्वारिकाप्रसाद, रामनिरंजन पंडित और कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानीकीसरायसे पन्दहा मील भरसे ज्यादा दूर नहीं है। धूपमें हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आनेकी खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामाके पुत्र कैलाश प्रस्थान करनेसे पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आनेके हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपनकी सुनी कहानीके छ महीने और बरस दिनके रास्तेसे तुलना किया करता था; यद्यपि दोनोंमें कौन छ महीने और कौन बरस दिनका था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरेलिए दोनों कठिन रास्ते थे। एकपर एक ठूँठा पीपल था और ठुँठवा बाबाका प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेचनेवाले स्त्री-पुरुष भी वहाँ बिना कुछ चढ़ाये आगे नहीं बढ़ते थे। दूसरे रास्तेपर, बस्तीसे दूर नीमके पेड़ोंसे ढँका बालदत्त रायका पोखरा था; जिससे दोपहरके वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था—वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठकी दुपहरीमें नाचा करते थे। इन दोनों स्थानोंके बाबों-के चरणोंमें नानीको गिड़गिड़ाकर नातीकेलिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरेसे भरे हुए हैं। मैं उर्दूका विद्यार्थी था, मगर बाबोंका डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे" की महिमा सुनकर मैंने सारा हनुमान-चालीसा याद कर डाला था।

हम बालदत्तके पोखरेके रास्तेसे गये। पासकी परती और जंगल अब खेत बन गये थे। वर्षोंसे भूतोंने पोखरेपर नृत्य-महोत्सव रचाना बन्द कर दिया—लोगोंके दिलसे उनका डर जाता रहा। ठुँठवा बाबाकी हालत तो और भी खराब थी। कच्ची सड़कके किनारे एक पतली डाली और चन्द पत्तियोंवाले उस लम्बे पीपलको दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तरमें खड़े देखकर रातको किसी भी अकेले बटोहीके दिलमें भयका संचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सड़क पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षोंकी पाँत खड़ी हो गई और पीपल उस वृक्ष-पंक्तिमें गुम हो गया, जिससे ठुँठवा बाबाके प्रभावको भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुँठवा बाबा नई पीढ़ीकेलिए अपने अस्तित्वको खो चुके हैं।

पन्दहामें घुसनेपर पहिले वृद्ध परिचित मिले लौहर नाना। अश्रु-गदगद कण्ठसे 'कुलवन्तीके पुत्र—केदार' कहना और फिर गलेसे लिपट जाना मेरे धैर्य्यपर ज़बरदस्त प्रहार करनेकेलिए काफ़ी था।

नेत्रोंको सूखा रखने और स्वरको ठीक करनेकेलिए भारी प्रयत्न करना पड़ा। मेरे सामनेसे शैशवके प्रियजनोंकी मूर्तियाँ पार होने लगीं। मेरे नाना तीन भाई थे। उनकी अपनी सन्तान एक मात्र मेरी माँ थीं, किन्तु बाक़ी दो बड़े छोटे भाइयोंके पाँच और दो लड़के थे। सातों मामोंमें अब सिर्फ़ जवाहर मामा रह गये थे। मेरे शैशवमें वे कलकत्तामें पुलिसके सिपाही थे और जब एकाध महीनेकी छुट्टीपर आते, तो ताज़ी गिरीवाले नारियल लाते। अब वे पेंशन पाते थे और नेत्रोंसे वंचित थे। उनका चेहरा अपने पिताके तीनों भाइयों-जैसा था। विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसी सफ़ेद दाढ़ी नहीं, बल्कि नानोंसे मिलनेवाले उस चेहरे और उनके रुद्ध-कंठस्वरने मेरे नेत्रोंको आखिर गीला करके ही छोड़ा। रानीकीसरायमें थोड़ीसी खिन्नता आई थी और मैं धैर्य्यकी परीक्षा पास कर गया था, किन्तु पन्दहाने मुझे पराजित कर दिया। कुलवन्तीके पुत्र, रामशरण पाठकके नाती केदारनाथको देखनेकेलिए गाँवके लोग आने लगे। मेरी तीनों मामियाँ—जो सभी विधवायें और पुत्र-पौत्रवाली थीं—अपने भानजेको देखने आईं। उस वक़्त उनके अश्रु-प्रक्षालित मुखोंको देखकर मुझे उस प्यारी मामी—रामदीन मामाकी पहिली स्त्री—की याद बारबार आती थी। उनका स्नेह मेरेलिए शैशवकी बहुमूल्य स्मृतियोंमेंसे है।

पन्दहाके गली-कूचों, उसके ताल-तलैयोंको तेरह बरस तक रातदिन देखता रहा, और उसके बाद भी तीन बरस तक मैं उनके सम्पर्कमें रहा। गाँवकी पुरानी चीज़ोंको देखने निकला। सबसे अचरजकी बात मुझे यह मालूम हो रही थी, कि पुराने कुओं, गड़हियों, तलैयोंके बीचके अन्तर घटकर सिर्फ़ एक तिहाई रह गये थे। क्या धरती सचमुच ही छोटी हो गई, अथवा उस दूरीके बढ़ी होनेका कारण बाल्यका छोटा शरीर था? गाँवमें शायद ही कोई घर अपनी पुरानी दीवारपर था, दरवाज़ोंकी दिशा और आँगनोंके विस्तारमें भी परिवर्तन था। मैं वह आँगन और उसके बगलवाले घरको देखने गया, जिसमें मेरी माँने अपने ज्येष्ठ पुत्रको आजसे पचास साल पहिले जन्म दिया था, मगर आज उस घरका कहीं पता नहीं। आँगन, कई घरों, बाहरके द्वार, कुल्हाड़ तथा बैठकेके घरोंकी जगह चहारदीवारीसे घिरा एक खुला सहन था। हाँ, उस ओसारेका थोड़ा-सा भाग अब भी नई खपड़ैलसे ढँका था, जिसने मेरे प्रसूतिगृहका काम दिया था। नानाका

कुँआ अब भी मौजूद था, और यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब भी उसका पानी वैसा ही मीठा है।

बड़ी रात तक गाँव के वृद्ध और तरुण बातें पूछते रहे। चौंतीस बरसपर लौटे रामशरण पाठकके नाती अथवा हिन्दीके लेखक राहुल सांकृत्यायनकी ख़बर पाकर आसपासके गाँवके लोग भी आते रहे।

१४ अप्रैलको मुझे पन्दहाके और स्मरणीय स्थानों और देवताओंको देखनेका मौक़ा मिला। मुँह-हाथ धोनेकेलिए हम गाँवसे उत्तरकी ओर गये। देखा, बनवारी माईके पासकी झाड़ी साफ़ हो चुकी है और उसपर जवाहर मामाके लगाये महुए खड़े हैं। बनवारी माईके स्थानको देखनेसे मालूम होता था कि सालमें भूल-भटककर ही अब कोई पूजा-कड़ाही चढ़ाता है। वहाँ एक खंडित मूर्ति रहा करती थी। लोगोंने बतलाया, कुछ समय पहिले माई अन्तर्धान हो गई। गाँवोंके इन पुराने देवस्थानोंमें कितनी ही बार खंडित किन्तु कलापूर्ण प्राचीन मूर्तियाँ देखी जाती हैं, बनवारी माईकी मूर्ति भी कोई इसी तरहकी मूर्ति रही होगी और उसे किसी कला या पैसेके प्रेमीने अन्तर्धान करा दिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

रातको रामनवमी थी, मगर बचपनमें 'रामनवमी'से ज़्यादा उसका दूसरा नाम—बड़का बसियौड़ा—मुझे सुननेमें आता था। आज शायद पन्दहा छोड़नेके बाद पहिली ही बार मुझे 'बसियौड़ा' नाम सुननेको मिला। मेरी मामी (कैलाशकी माँ) ख़ास तौरसे जलपान बनाने जा रही थीं, लेकिन 'बसियौड़ा'का नाम सुनकर दूसरे भोजनको मैं क्यों पसन्द करने लगा? साबित उड़दकी दाल (बिना हल्दीकी), तेलकी बेड़हिन (दाल भरा परौठा), गुलगुला और लाल भात बालपनके परिचित खाद्य थे; आज भी उसे खानेमें बड़ा आनन्द आ रहा था। दिन भर गाँव और आसपासके गाँवोंके लोग आते रहे, जिसमें रानीकीसरायके सहपाठी जगेसर (झिलमिट) और बाँकीपुरके बाबू सरयूसिंह भी थे। मैंने सरयू बाबूको सोलह-सत्रह वर्षकी अवस्थामें देखा था। अब उनके केश सफ़ेद हो चुके थे, वह कई पौत्रोंके बाबा थे।

शामके वक़्त गाँव और उसके टोलोंकी फिर खाक छानी। देवताओंका महत्त्व अवश्य इन चौंतीस वर्षोंमें कम हो गया है। जिस महामाईके स्थानपर नव-दम्पतीका पूजाकेलिए जाना अनिवार्य था, आज उसके आसपास तक पाखानेका क्षेत्र बन चुका है और वृक्षकी जड़में पाँच-सात सिन्दूरके दाग़ मालूम होता था, सतयुगके लगे हुए हैं। पहिले व्याह, पुत्र-जन्मादि समयोंपर गिन-गिनकर ग्राम-देवताओंको छौने (सुअरके बच्चे) चढ़ाये जाते थे। हमारे ममेरे भाइयों—दीपचन्द और कैलाश—

ने हिसाब लगाया, तो मालूम हुआ कि एक दर्जनसे ऊपर छौने उनके घरके नाम बाक़ी पड़े हुए हैं। हनुमतवीर और अनारवीरसे लोग वैसे ही ढीठ हो गये हैं, जैसे अपने आजके बड़े-बूढ़ोंसे। लेकिन जवाहर मामा कह रहे थे—मैं अपनी ज़िन्दगीभर निबाहे जा रहा हूँ। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अपने सेवकोंकी उपेक्षासे क्रुद्ध हो अनारवीर बाबाने कुछ ही साल पहिले गाड़ीमें जुते बैलोंको पीछेसे दबाकर टाँग दिया, बैलोंको फाँसी-सी लगने लगी। ख़ैर, किसी तरह रस्सी काटकर उनकी जान बचाई गई। आश्चर्य तो यह है कि यह सब देखकर भी नई पीढ़ी देवताओंका आदर-पूजन करनेकेलिए तैयार नहीं।

पन्दहाकी सीमापर बसई एक छोटीसी बस्ती है। बादशाही ज़मानेमें यहाँके सैयद-लोगोंका वैभव-सूर्य बहुत चढ़ा हुआ था। वे सीधे लखनऊ अपनी मालगुज़ारी भेजा करते थे। आज उनके घरोंका पता नहीं। कई सैयद लड़के मेरे साथ रानीकी-सराय पढ़ने जाया करते थे। कितनी ही बार उनके साथ मैं उनके घरोंमें गया था। ईंटोंके गिरे-पड़े घर थे, तब भी उनमेंसे कितने खड़े थे। उनके आँगनोंमें चारपाईपर बैठी वैभवशाली वंशकी संतानें—सैयदानियाँ—मेरा भी उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करती थीं; जिस तरह अपने लड़कोंका। आज उनके वंशका कोई बसईमें बच नहीं रहा था। घरोंकी ईंटें तक दिखलाई नहीं पड़ रही थीं। पिछवाड़ेके उन अनारों और शरीफ़ोंका भी कोई पता नहीं, जो बचपनमें मेरेलिए ख़ास आकर्षण रखते थे। पुराने सैयदोंकी ईंट-चूनेकी क़ब्रोंपर श्रद्धाकी दृष्टि डालते हुए, हम कोइरी लोगोंके घरकी ओर गये। अब साग-भाजीके न उतने खेत हैं, न उतने घर। मेरे बाल-सहपाठी हीराके घरमें कोई नहीं रह गया। बसईमें कितने ही घर जुलाहोंके हैं, लेकिन कपड़ा बुननेकी जगह वे सनकी सुतरी बट रहे थे—कितने ही कपड़ा बुनना भी भूल गये।

लौटते वक़्त मेरे बाल-सहपाठी राजदेव पाठक मिले। उनके सारे केश सन जैसे सफ़ेद थे। उन्होंने बालकोंके खेल—चिब्भी डाँड़ी—का निमन्त्रण दिया। एक बार मनमें आया—काश, हम फिर बारह-तेरह सालके हो जाते। लेकिन तब आगेकी दोनों पीढ़ियाँ कहाँ होतीं? सतमीके घरका भी कोई चिह्न नहीं रहा। सतमीके चार बच्चे किस तरह मलेरियामें गल-गलकर दरिद्रताकी भेंट चढ़े, यह मैं अपनी एक कहानीमें लिख चुका हूँ। सतमीका सबसे छोटा लड़का सन्तू अब भी कहीं ज़िन्दा है।

पन्दहा जानेसे पहिले बहुत थोड़े ही नाम और सूरतें मुझे परिचितसी मालूम

होती थीं, लेकिन वहाँकी नई-पुरानी मूर्तियों, भूमि और वातावरणमें घूमते, साँस लेते ही स्मृतियाँ फिर जागृत होने लगीं, और सत्रह-अट्ठारह वर्षसे ऊपरकी उम्रके जिन्हें मैं देख चुका था, उन्हें पहचाननेमें दिक़्क़त नहीं हुई।

१६ अप्रैलको हम निज़ामाबाद गये। यहींके स्कूलसे मैंने १९०९में उर्दू-मिडिल पास किया था। पुराने मिडिल-स्कूलकी जगह क्या, उसी नींवपर उसी शकलकी अपर प्राइमरी स्कूलकी इमारत है। मिडिल-स्कूल आजकल क़स्बेसे पश्चिम चला गया है। दोनों ही स्कूलोंके अध्यापकोंमें मेरा कोई परिचित नहीं निकला। टौंसका घाट और उसके पासके छोटे शिवालय और नानकशाही संगतमें कोई परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। हाँ, घाटपर भी एक-दो पानकी दूकानें नई चीज़ थीं। पता लग गया था कि मेरे पुराने अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय अपने घरपर ही हैं। उनका घर क़स्बेके भीतरकी संगतके पास है। यह संगत भी पहिली अवस्थामें है। हाँ, एक यह फ़र्क़ जरूर मालूम पड़ता है कि बाहरी छतके भीतर भी क़दम रखते ही लोगोंका सिर ज़बरदस्ती ढँकवाया जाता है। पंडित सीताराम श्रोत्रिय 'हरिऔध'जीके शिष्य थे, स्कूल और साहित्य दोनोंमें। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। नागार्जुनजीने अपनी कविता—जातिगौरव गंगदत्त—सुनाई, इसके बाद श्रोत्रियजीने भी अपनी कुछ कवितायें सुनाईं।

निज़ामाबादमें हम उन कुम्हारोंके घरोंमें भी गये, जो खिलजी-शासनके ज़मानेमें देवगिरिसे आकर यहाँ बस गये थे। उनके बनाये मिट्टीके बर्तन दुनियामें प्रसिद्ध हैं। स्थानीय कुम्हारोंसे इनका नाता-रिश्ता है, मगर वे अपनी कलाको दूसरे कुम्हार-कुलमें स्थान नहीं देना चाहते, इसीलिए अपनी लड़कियों तकको अपनी कला नहीं सिखलाते। लड़ाईसे पहिले उनके बनाये लाखों रुपयोंके बर्तन—चायका सेट, गुलदस्ता आदि—देश-विदेश जाया करते थे, किन्तु आज अवस्था अच्छी नहीं है। अब इन झिनकारी वाले कुम्हार घरोंकी संख्या एक दर्जनसे ज्यादा नहीं रह गई है।

लौटते वक़्त पन्दहाके सीवानेपरके उन खेतोंको भी हमने देखा, जहाँ चन्द साल पहिले घोड़रोज (नीलगाय)के शिकारकेलिए हिन्दू-मुसलमानोंमें देवासुर-संग्राम छिड़ गया था। संग्रामके बाद अब शान्ति है। हिन्दू हाय-हाय कर रहे थे—दस पाँच साल पहिले जहाँ दो ही चार घोड़रोज देखे जाते थे, वहाँ आज उनकी संख्या पचासों तक पहुँच गई है और वह खेतीको भारी नुक़सान पहुँचा रहे हैं। मैंने कहा—घोड़रोज बकरी और हिरनकी जातिके होते हैं, इनके कान, आँख, पूछ वैसी ही होती हैं, वैसे ही लेंड़ी करते हैं। उन्होंने मुझे यह भी सूचित किया कि बकरियोंकी

तरह वे एकसे ज़्यादा बच्चे देते हैं। इतना होनेपर भी लोग इन्हें गाय बनाकर इनके लिए धर्म-युद्ध करनेकेलिए तैयार हैं!

× × ×

१३ अप्रैलको ही, जब कि मैं रानीकीसराय पहुँचा था, किसीने मेरे पितृग्राम कनैला-में ख़बर दे दी। आज़मगढ़केलिए मेरे पास सिर्फ़ सात दिन थे और इतने कम समयमें कनैलाको मैं अपने प्रोग्राममें नहीं रखना चाहता था। मेरे ममेरे भाइयों—दीपचन्द और कैलाश—ने बारबार कनैला सूचना देनेका आग्रह किया, लेकिन मेरे अस्वीकार करनेपर वे चुप रह गये। दूसरे दिन—१४ अप्रैल—दोपहरको देखा, मेरे छोटे भाई श्यामलाल साइकिलपर पन्दहा पहुँच गये। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ—किसने ख़बर दी? जान पड़ता है चौंतीस सालके बाद लौटे आदमीकी ख़बर लोगोंकेलिए भारी आकर्षण रखती है; इसीलिए मेरे आनेकी ख़बर रानीकीसरायके साधारण आदमियोंमें फैल गई। रानीकीसरायमें कनैलाके चुड़िहारेकी रिश्तेदारी थी। वहींसे कोई आदमी कनैला गया और उसी दिन मेरे आने की सूचना दस मील दूर पहुँच गई। भाईने अपनी घर और गाँवकी ओरसे चलनेकेलिए बहुत ज़ोर दिया, मगर मैंने उसे अगली यात्राकेलिए रख छोड़नेकी बात कहकर इन्कार कर दिया। श्यामलाल उसी दिन लौट गये।

१६की शामको दिन रहते ही कनैलाके लोगोंकी टोलियाँ आने लगीं। पाँच-छ करके वे दस बजे रात तक आते रहे। उनकी संख्या तीससे अधिक पहुँच गई, और उनमें कई जातियोंके प्रतिनिधि थे। गाँवके बूढ़े चचा रघुनाथ और दादा (आजा) सुखदेव पांडेको भी दस-ग्यारह मीलकी मज़िल मारकर आया देख मेरा निश्चय कुछ विचलित होने लगा। कनैलाके सबसे ज़्यादा आनेमें असमर्थ रामदत्त चचा थे, मगर वे मुझे देखनेकेलिए कितने उत्सुक थे, इसकी ख़बर एकाध बार पहिले भी मिल चुकी थी। अपने बहुतसे वृद्धोंके दर्शनसे मैं वंचित हो चुका था। मेरे संस्कृतके प्रथम गुरु तथा फूफा महादेव पंडित (बछवल)ने कई बार देखनेका सन्देश भेजा था, मगर मैं नहीं जा सका और दो-तीन साल पहिले उनका देहान्त हो चुका। मेरे जन्मके समयके सम्मिलित परिवारकी दादी सिर्फ़ ग्यारह दिन पहिले मरी थीं और उस दिन मेरे वंशज उनका श्राद्ध करके आये थे। मैं कुछ और वृद्धोंके दर्शनसे अपनेको वंचित नहीं करना चाहता था, इसलिए हमारे गाँवके नाती तथा मेरे समवयस्क औघड़ बाबा रघुनाथने जब कनैला चलनेको कहा, तो मैंने स्वीकृत दे दी।

गर्मीके दोपहरकी यात्रामें पड़ना सौभाग्यकी बात नहीं, अतएव हमने

भिनसारे ही चलना तय किया था। सबेरे हाथीके कसकर ग्रानेमें कुछ देर होने लगी, तो हम पैदल ही चल पड़े। हाथीने डेढ़ मील बढ़ जानेपर हमें पकड़ पाया। पहिले रघुनाथ बाबाके साथ मैं ग्रौर नागार्जुन भी हाथीपर बैठे, मगर हम दोनों ही ऐसे 'हलके' शरीरके थे, नागार्जुनजीको यह समझते देर नहीं लगी कि हाथीपर चलनेकी ग्रपेक्षा पैदल चलना उनकेलिए कहीं ग्रारामका रहेगा। उस दिन दोपहर तक ग्राकाशमें मेघ छाये थे। रघुनाथ बाबा मेरे पुण्य-प्रतापकी दुहाई दे रहे थे। कनैलासे दो मील पहिले डीहा पहुँचनेपर बूँदें ज़्यादा पड़ने लगीं, लेकिन वहाँ हमें मुँह-हाथ धोना ग्रौर जल-पान करना भी था।

डीहाके ग्रपर प्राइमरी स्कूलमें ग्राज (१७ ग्रप्रैल) छुट्टी थी, इसीलिए वहाँके प्रधानाध्यापक मेरे सहपाठी पंडित श्यामनारायण पाण्डेय मौजूद न थे। पिछले सालोंमें शिक्षाका ग्रधिक प्रचार हुग्रा है, यह जगह-जगह नये क़ायम हुए मिडिल तथा दूसरी तरहके स्कूलोंसे पता चलता था। रानीकीसरायमें जब मैं पढ़ने गया था, तब वहाँ एक छोटासा लोग्रर प्राइमरी स्कूल था, लेकिन ग्रब वहाँ मिडिल स्कूल था। डीहामें मदरसा पहिले भी था, मगर ग्रब तीन ग्रध्यापक पढ़ाते थे। मैं तो बराबर नानाके साथ पन्दहामें रहता था, इसीलिए मेरी पढ़ाई-लिखाई रानीकीसराय ग्रौर निज़ामाबादमें ही हुई। मगर कनैलाके लड़कोंको डीहाका स्कूल ही नज़दीक पड़ता था। ग्रब तो कनैलामें भी ग्रपर प्राइमरी स्कूल हो गया था। कनैला से दो ही ढाई मील दूरपर धर-वारामें मिडिल स्कूल था। तीस-बत्तीस साल पहिले मिडिल पास लड़के बिरले ही मिलते थे, किन्तु ग्रब वे हर गाँवमें ग्रौर ग्रधिक संख्यामें मिलते थे। पन्दहामें कुबेर नानाके लड़केको मैट्रिक तक पढ़कर खेतीमें जुटा देख मुझे कुछ सन्तोष ज़रूर हुग्रा, मगर खेतीके काममें विद्याका उपयोग न हो तो सारी पढ़ाई व्यर्थ है। शिक्षित व्यक्ति साइन्सके किसी तरीक़ेको खेतीमें बरतते नहीं देखे जाते। गाँवमें शिक्षाके प्रचारका ग्रगर कोई ज़्यादा ग्रसर हुग्रा, तो यही कि मुक़दमेबाज़ी बढ़ गई थी। ज़मीन-जायदादकेलिए जाल-फ़रेब ज़्यादा होने लगा था। इससे विद्याका यश उज्वल नहीं हुग्रा।

कनैला गाँवके पश्चिमकी कुटीका—जहाँ प्राइमरी स्कूल है—पुराना मकान गिर चुका था ग्रौर वहाँ कई घर तथा बड़े-बड़े वृक्ष दीख पड़े। लम्बे वर्षोंको वृक्षोंके ज़रिये ग्रासानीसे नापा जा सकता है।

ग्रभी गाँवके हम बाहर ही थे कि लड़कोंकी पलटन ग्रपने जन्मजात नेताग्रोंके साथ हमारा स्वागत करनेकेलिए पहुँच गई—इसे स्वागत करना ग्रौर तमाशा

देखना दोनों ही कह सकते हैं। उनमें पाँचसे बारह बरस तकके लड़के मौजूद थे।

गाँवसे नज़दीक ऊसरके अकेले कुयेंके पास पहुँचकर हम हाथीसे उतर पड़े। मेरे बचपनमें भी यह कुआँ इस निर्जन ऊसरमें मौजूद था, और गाँवके लोग ज़्यादातर यहींसे पीनेकेलिए पानी ले जाते थे। इस दिक़्क़तको दूर करनेका प्रथम प्रयास मेरे पिताने अपने दरवाज़ेपर कुआँ बनाकर किया। आज तो गाँवके भीतर कई कुएँ बन चुके थे। इस ऊसरवाले कुएँके आसपास एक दर्जन घर आबाद हो गये थे, जिनमें चुड़िहार और दर्ज़ी लोगोंके घर ज़्यादा थे। मेरी ही उम्रके, किन्तु रिश्तेमें चचा रांजबली (रजब्अली)की ठुड्डीपर लटकती दाढ़ी सफ़ेद हो चुकी थी। मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई, कि एक समयके मुमूर्ष चुड़िहार और दर्ज़ी परिवार अब हरे-भरे हैं। कनैलामें दो-तीन घरोंको छोड़कर सभीको मैं दरिद्र-अवस्थामें छोड़कर गया था, मगर अब सभीकी हालत अच्छी थी। उस समय गाँवका दो-तिहाईसे अधिक भाग ऊसर था, अब उस ऊसरसे लोगोंने काफ़ी खेत बना लिया था। पहिलेके खेतोंमें भी लोग अब अधिक परिश्रम करते थे। सिंचाईकेलिए कई नये पक्के कुएँ बन गये थे। अपेक्षाकृत कम मुक़दमेबाज़ी होती है, यह है कारण कनैलाकी समृद्धिका। मेरी अनुपस्थितिमें आकर मौजूद हो गई दो पीढ़ियोंकी समस्याको ऊसरने हल कर दिया—जहाँ तक गाँवके ब्राह्मणों (ज़मींदारों)का सम्बन्ध है; और शायद एक पीढ़ी और भी ऊसरसे नये खेत बना सकें। गाँवके घरोंके स्थान और आकार दोनोंमें परिवर्तन हुआ देखा। पहिलेकी अपेक्षा अबके घर अधिक सुन्दर, साफ़ और विस्तृत थे; इसकेलिए बहुतसे परिवारोंको गाँवके विचले स्थानोंको छोड़ पूरबकी ओर बढ़ना पड़ा। सत्ताइस साल पहिले आख़िरी बार मैं तीन-चार दिनकेलिए कनैला आया था। उस वक़्तके मकानोंके नक़्शे अब भी मेरे मस्तिष्कमें अंकित थे, लेकिन अब पूछकर ही मैं किसी घरको जान सकता था। गाँवमें पहुँचते-पहुँचते सभी बाल-वृद्ध-नर-नारी अपने हाड़-मांससे बने शरीरवाले केदारनाथके इर्द-गिर्द आ खड़े हुए। मैंने चचा वंशीके सजल नेत्रोंको देखा और मेरे हाथ उनके चरणोंपर पहुँच गये। गाँवकी वृद्धतम स्त्री यमुना आजी (आर्या, दादी)की ज़बान अब भी उसी तरह तेज़ चल रही थी, मगर अब उनका शरीर बहुत निर्बल हो चुका था, आँखोंकी ज्योति भी मन्द पड़ गई थी। गाँवके बीचमें पत्थरका पुराना कोल्हू अपनी जगहपर अब भी खड़ा था, किन्तु हँसिया, खुरपे और गड़ासोंको रगड़रगड़कर लोगोंने उसकी आरीपर बहुतसे गढ़े कर दिये थे। हमारे पुराणपन्थी नेता कुछ भी कहें, किन्तु कनैलाके ग्रामीणोंका पूरा विश्वास है, कि लोहेके कोल्हूको हटाकर पत्थरवाले कोल्हूके युगमें लौटा नहीं जा सकता।

कनैलामें हम ग्यारह बजेके क़रीब पहुँचे थे और वहाँ सिर्फ़ चार घंटे रहना था, इसलिए एक-एक मिनटको अच्छी तौरसे इस्तेमाल करना था। मेरे भाइयोंमें श्याम-लाल और रामधारी घरपर ही थे। सबसे छोटा श्रीनाथ दिल्लीमें लोगोंको रसगुल्ले खिला रहा था। सत्ताइस साल पहिले जिनकी उमर चौदह-पन्द्रह बरसकी हो चुकी थी, उन्हींको मैं पहचान सकता था और ऐसे चेहरे बहुत कम थे। मुझसे कुछ ही बरस जेठे दूधनाथ भैयाकी भौहें भी सफ़ेद होने लगी थीं। रामदत्त कक्काके शरीरमें हड्डी और चमड़ेके अतिरिक्त यदि और कुछ दिखलाई पड़ता था, तो वह थी उन्हें बाँधकर इकट्ठा रखनेवाली धमनियाँ।

स्नान करनेकेलिए चलते वक़्त मेरे जन्मके बाद अलग हुए अपने बन्धुओंके घर देखे। वंशी चचा और उनके भाई तथा मेरे समवयस्क किसुना (किन्ना) चचा-का घर पुरानी जगहसे बहुत दूर हटकर बना था। बाग़के छोरपर अवस्थित जिस अकेले पीपलको लोग भूतोंका गढ़ समझते थे, अब वह बस्तीमें आ गया था। और भूत? आदमियोंकी भीड़में बेचारे भूत कैसे बसे रह सकते? मैंने एक जगह कहा था, आदमियोंके बस जानेपर भूतोंको बाल-बच्चे लेकर भागना ज़रूरी हो जाता है। किसीने पूछा—"क्यों?"

"मनुष्योंके लड़के ढेला-डंडा फेंका करते हैं और भूत तथा उनके बच्चे तो दिखलाई नहीं पड़ते, जिससे उनमें भी अन्धों, कानों, लँगड़ोंकी संख्या बढ़ने लगती है; इसीलिए भूत-भुतनियोंको जगह ख़ाली करनी पड़ती है।"

मेरे कुछ भाइयोंकी तरह कितने ही पाठकोंको भी यह दलील पसन्द न आयगी, किन्तु भूत-चुड़ैल बहुतसे स्थान ख़ाली कर चुके हैं, इससे सभी सहमत थे।

पुराने कनैलाकी बस्तीमें हरी पत्तियोंकेलिए आँखें तरसती रहती थीं, किन्तु अब किसीके द्वारपर पकड़ीका वृक्ष था, तो किसीके द्वारपर नीम। गर्मीमें वृक्षकी शीतल छाया कितनी सुखद और सुहावनी होती है। यह देखकर खेद हुआ कि कनैलाका बाग़ बहुत कुछ उजड़ चुका है और नये अमोलोंको लगानेका लोगोंको शौक़ नहीं।

नहानेके बाद मैं गाँवके घरोंको देखने चला, साथकी परिषद्को रोका नहीं जा सकता था। चमार-टोलीके बाद ब्राह्मणों, अहीरों, कहारों, चुड़िहारों, दर्ज़ियों, गड़ेरियोंके घरोंको देखते, साहेब-सलामी करते, क़रीब-क़रीब सारा गाँव फिर आया। पत्रहीन बरगदके नीचे बैठे बुद्धको देखकर शाक्योंके ख़ूनके प्यासे कोसलराज विदू-डभने पूछा था—"पास ही हमारी सीमाके भीतर घनी छायावाला यह बरगद है, भगवान इसके नीचे क्यों नहीं बैठते?"

बुद्धने उत्तर दिया—"बन्धुओंकी छाया शीतल होती है, यह शाक्योंकी भूमिका बरगद है।"

भोजन तैयार था। श्यामलाल हम दोनोंको खाना खिलाने अपने घरमें ले गये। सत्ताईस साल पहिलेवाले घरके सामने यह महल-सा लगता था। उसके जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगनमें ही समा जाते। आँगन पूरब-पश्चिम लम्बा है, जिससे सूरजकी धूप काफ़ी देर तक मिलती रहती है। नाबदानको दक्षिण तरफ़ खोलते देख गाँवके बड़े-बूढ़ोंने भय प्रकट किया था, किन्तु उसके लायक़ ज़मीन उसी ओर थी। श्यामलालने साहस दिखलाया और नाबदानको उधर ही खोल दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़िपर प्रहार करनेकी कुछ हिम्मत रखते हैं।

भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ोंसे ढँकी एक मूर्तिने मेरे पैरोंपर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलनेको उठ खड़ा हुआ। ख़ैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता; न मुझे बतलाया गया। मेरे नामसे शैशवमें घरवालोंने जो ब्याह किया था, उसे तो घरके साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था। आँगनमें काफ़ी स्त्रियाँ जमा थीं, जिनमें यमुना आजीको छोड़कर मैं किसीको भी न पहचानता था।

आसपासके गाँवोंमें भी ख़बर पहुँच गई थी और तीन बजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये। जमावड़ेने सभाका रूप लिया और मुझे कुछ बोलनेकेलिए कहा गया। मैंने गाँवकी समृद्धिपर हर्ष प्रकट किया और आजकी परिस्थितिमें अन्न, वस्त्र तथा रक्षाका प्रबन्ध करनेकेलिए कहा।

आज रातको मुझे संस्कृतके प्रथम गुरु फूफाके घर बछवल रहना था। मेरे बालमित्र यागेश दत्त पन्दहा पहुँचे थे। उनके आग्रहको ठुकरा नहीं सकता था। भरोंके दोनों टोलोंको देखकर मैं आगे बढ़ा, तब नागार्जुनजीने डीहके स्थानको देखकर ख़बर दी कि वहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ हैं। बचपनमें मैंने भी इन मूर्तियोंको देखा होगा, मगर उस वक़्त उनकी आप बीती सुननेकेलिए मेरे पास कान नहीं थे। वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध-धर्म (वज्रयान)के एक घोर देवता (वज्रभैरव)की छोटी-सी, किन्तु सुन्दर मूर्तिके दो खंड पड़े थे—आगकी ज्वालाकी तरह लहराती केश-शिखाओं और गोल-गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटिसे नीचे दोनों पैर दूसरी ओर। नव-दस सौ वर्ष पहिले कनैलामें भी उन देवताओंकी पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बतके अनेक मन्दिरोंमें मैंने देखा है। आज कनैला-वालों—विशेषकर वहाँके पुराने निवासियों राजभरों—को यह पता नहीं, कि उनके

पूर्वज हज़ार वर्ष पहिले उन देवताओंको पूजते थे, जो हिमालयके उस पार अब भी जीवित हैं। कनैलाके पुराने खेतोंके नीचे पुरानी आबादीके ध्वंस छिपे हुए हैं। ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दीकी ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, खिलजी-शासन-कालमें यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोटका एक भाग अब भी डीह बाबाके पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता क़तल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहिले भर लोग सुअर पाला करते थे, मगर अब सारे ज़िलेमें और आसपासके दूसरे ज़िलोंमें भी उन्होंने सुअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाजमें उनका स्थान पहिलेसे कुछ ऊँचा हुआ है, इसका तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविकाके एक साधनसे वे वंचित ज़रूर हो गये। सुअरी एक-एक बारमें बीस-बीस बच्चे देती है और सालमें तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसेकी आमदनीका यह एक अच्छा ज़रिया था। सबसे ज़्यादा दिक़्क़त तो गाँवके देवताओंको पड़ रही है। वर्षोंसे उन्होंने छौनोंकी एक फट्ठी भी दाँत-तले दबानेकेलिए नहीं पाई है।

बछवल कनैलासे दो-ढाई मीलसे ज़्यादा दूर नहीं है। बीचमें मंगई (मार्गवती) नामकी छोटी नदी पड़ती है। गर्मीमें वह ज़्यादातर सूख जाती है, इसलिए लोग जगह-जगह बाँध बाँधकर पानीको रोक लेते हैं। इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज़्यादा सार्थक था। मंगई सीधे गंगामें गिरती है। बरसातमें इसमें इतना पानी रहता है कि छोटी-मोटी नावें सिसवा (शिशपा) ग्राम और उसके आगे तक चली जाती होंगी। उस कालमें नदियाँ ही अधिकतर व्यापार-मार्गका काम करती थीं।

हम लोग सिसवामें बँधे बाँधपरसे मंगई पार हुए। यहींसे कनैलाकी बाक़ी जन-मंडली पीछे लौटी। नदी पार सिसवा या शिशपा ग्रामका मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं, कि शिशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिशपा ग्राम नामका कोई निगम काशी जनपदमें था, इसका पुस्तकोंमें तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेषकी गवाहीसे इन्कार नहीं किया जा सकता। आजकलके ग्रामीण पंडित सिसवाको शिशुपालकी राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखंड)का राजा था, इस समस्याको हल करनेकी तकलीफ़ वे क्यों करने लगे? बल्कि उन्होंने सिन्धुराज 'जयद्रथ'की भी एक जगह ढूँढ़ निकाली है। जयद्रथके स्थानपर पाँच-छ बड़ी-बड़ी खंडित मूर्तियाँ हैं, इसका पता मुझे बादमें लगा और मैं उन्हें देख नहीं सका। हाँ, यागेशने सिसवामें मिले मुझे दो ताँबेके पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओरकी शक्ल किसी शक राजाकी मालूम होती थी। दूसरे दिन आज़मगढ़ पहुँचनेपर मालूम हुआ, कि दोनों

सिक्के कुषाण राजा कनिष्कके हैं। उनमेंसे एककी पीठपर वायु देवता और दूसरेकी पीठपर मित्र देवताकी मूर्तियाँ थीं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्तको पुराने सिक्कोंको एकत्र करने और पहचाननेका बहुत शौक़ है। उन्होंने आज़मगढ़ ज़िलेमें मिले सेरों कुषाण सिक्के जमा किये हैं। दो हज़ार बरस पहिले कनिष्कका कोई उच्च राज-कर्मचारी शिंशपा ग्राममें रहता था। उस वक़्त सिसवाके आजके ऊजड़ टीलोंपर व्यापारियों और शिल्पियोंके कितने ही अच्छे भले घर थे, देश-विदेशके पण्य-द्रव्योंसे सजी दूकानोंवाली वीथियाँ थीं; जगह-जगह ऐसे कितने ही देवालय थे, जिनके देवता अब विस्मृत हो चुके हैं। मंगईका व्यापार-मार्ग यही जलीय राजमार्ग इस सारी समृद्धिका कारण था। उस मार्गका स्थान नये मार्गोंने लिया और शिंशपा ग्राम धीरे-धीरे सिसवाके निर्जन टीलेमें बदल गया। सिसवाके गर्भमें उसके इतिहास-को बतानेवाली बहुतसी सामग्री छिपी पड़ी है, जो किसी वक़्त ज़रूर अपना मुँह खोलेगी। मैंने चन्द मिनटोंमें ध्वंसको पार करते हुए जो कुछ भी समझ पाया, उसे, यहाँ संक्षेपमें लिखा है।

हम शामको बछवल पहुँचे। यागेश वर्षों मेरे तरुणाईके अभियानोंमें साथ रहे हैं। वे राष्ट्रीय कर्मी हैं। यद्यपि वे मेरी बुआकी देवरानीके लड़के हैं, लेकिन बाल्यसे ही बछवलमें उन्हींके साथ मेरा सबसे अधिक प्रेम रहा। तीस साल पहिले एक बार हम दोनोंने कुर्ता पहने रोटी खाई थी, जिसे देखकर उनकी माँ रोई थीं। आज अपने पुत्रको मेरे और नागार्जुन जैसे 'सर्वभक्षी'के साथ बैठकर दाल-भात खाते देखकर उनकी स्वर्गीय आत्मा कितनी तड़फड़ा रही होगी! हाँ, उनको यह देखकर धैर्य ज़रूर होगा कि कनैलाके सरपंच श्यामलाल भी साथ ही बैठे खा रहे हैं।

दूसरे दिन कुछ रात रहते ही नागार्जुन और मैं हाथीपर रवाना हुए। चँड़ेसरमें एक्का ले दस बजे (१८ अप्रैल) तक आज़मगढ़ पहुँच गये। कानोंकान सुनकर कितने ही लोग मिलने आये। आज़मगढ़के कवि "शैदा" और "चन्द्र"ने अपनी कई रचनायें सुनाईं, 'यात्री' (नागार्जुन)ने भी अपनी कृतियोंको सुनाकर गोष्ठीका मनो-रंजन किया। १९ अप्रैलको ठीक सात दिन रहनेके बाद, दस बजे सबेरे ट्रेन पकड़ी और दो बजे तक हम आज़मगढ़ ज़िलेके बाहर चले आये।

५

उत्तराखंडमें (मई—जून १९४३)

गर्मी आगई थी। मैं कुछ लिखने-पढ़नेकी सोच रहा था। ख्याल आया, चलें हरद्वार, शायद वहाँ लिखने-पढ़नेका काम चल सके। प्रयागमें ६ दिन रहकर मैं और नागार्जुन हरद्वारकेलिए रवाना हुए। लखनऊसे सीधी गाड़ी पकड़ी। हरदोई जिले तक तो अब भी जहाँ तहाँ ऊसर ज़मीन मिल रही थी, किन्तु रुहेलखण्डकी सीमाके भीतर घुसते ही चारों ओर उर्वर भूमि थी। जगह-जगह गाँव और हरे-हरे बाग़ थे। पंचाल राज, दिवोदास, और सुदासका वह वैभव इसी उर्वर भूमिके कारण था। इस उर्वर भूमिने वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाजसे ऋग्वेदकी सुन्दर ऋचाएँ कहलवाईं। सारी उर्वरताके रहते आज पंचालपुत्रोंके शरीर सूखे हुए हैं, उनके तनपर कपड़ा नहीं है। साढ़े तीन हजार वर्ष पहिले गणके राजको हटाकर पंचालोंने शासनकी बागडोर राजाके हाथमें दे दी, और स्वयं प्रजा बन गए। आज गिरते-गिरते वह इस अवस्थामें पहुँच गए हैं, लेकिन चक्र परिवर्त्तन जरूर होगा, कोई दूसरा नहीं करेगा, इन्हीं आजके पंचालोंको करना होगा। किसी समय पंचाल उत्तरी भारतका अग्रणी जनपद था, किन्तु आज वह सुषुप्त है।

बरेलीमें गाड़ी बहुत देर तक ठहरी, और मुरादावादमें तो उसने हद कर दिया। पौन घंटा रुकनेके बाद रेलवेवालोंने हल्ला किया, उतरो-उतरो डब्बे कटेंगे। हमारा डब्बा भी कटनेवाला था। डब्बा बदलते बदलते गाड़ी चल दी। खैर, हम दूसरे डब्बेमें बैठ गए, न जाने क्या समझकर गाड़ी फिर लौट आई, और स्टेशनपर उसने धरना दे दिया। पार्सल ट्रेन पर चढ़ कर हम लोग खूब पछताए। खैर, एक फ़ायदा हुआ। वैसे हम रातको जाते, लेकिन अब दिनमें यात्रा करनी पड़ी। मुरादाबाद और बिजनौरकी भूमि बड़ी ही शस्यश्यामला है। ऊखकी खेती यहाँ बहुत होती है। इधर तीन सेर आटा बिक रहा था, तब भी लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। हम लुकसर पहुँचे। हरद्वारकी गाड़ी तैयार मिली, और १२ बजे हम वहाँ पहुँच गए। पंडे तो वहाँ बहुत थे, लेकिन पंडोंसे हमें काम न था, तो भी कहीं ठहरना था। ज़हाँ धर्मशालामें पूछने गए, वहीं जवाव नहींमें मिला। जब हम धर्मको मानतेही नहीं थे, तो आखिर हमें अधिकार क्या था किसी धर्मशालामें ठहरनेका। कई धर्मशालाओंका दरवाजा खटखटानेके बाद हम लोगोंको गंगामाईने अक्ल दी।

सोचा, किसी पंडेका ही पल्ला पकड़ना चाहिए । हरिश्चन्द्र पंडाके पास गए, उनसे कहा—भैया, हम धरम-वरम करने नहीं आए हैं, हम सैर करने के लिए आए हैं; हमें कोई ठहरनेकी जगह दिलवाओ। पंडाने भाषा या भेससे समझा, कि इनकी मदद करनेमें कोई हर्ज नहीं । सूरज मलकी धर्मशालामें हमें सात जनममें भी जगह नहीं मिलती, ऐसे ही यमराज वहाँ दरवाजेपर बैठे हुए थे; लेकिन हरिश्चन्द्र पंडाने मदद की, और हम दोनोंकेलिए कोनेमें एक अँधेरी कोठरी मिल गई ।

अप्रैलका अन्त था, काफ़ी गर्मी पड़ रही थी; किंतु वस्तुतः गंगा यहाँ गंगा थी; जिसके शीतल निर्मल जलकी महिमा ऋषियोंने हज़ारों वर्षसे गाई है, और आगे भी गाई जाएगी । नहानेमें आनन्द आता था । हमने जाकर स्नान किया । हाथ हाथभरके रोहित मत्स्य वहाँ स्वच्छन्द विचर रहे थे । भगवानने इन्हें आदमीके खानेकेलिए बनाया है, लेकिन वहाँ कोई उन्हें पूछता न था । आज हमने तीर्थोपवास किया, और सिर्फ फलाहारका आश्रय लिया । सेठोंने धर्मशालापर तो काफ़ी ख़र्च किया है, कई कमरे खूब साफ़-सुथरे हैं, यद्यपि वह उन्हींको मिलते हैं जो उनके "लायक" हैं । लेकिन हिन्दूधर्ममें पाखानेकेलिए एक भी पैसा ख़र्च करना पाप समझा जाता है—इसकी प्रतिध्वनि हर जगह मिलती थी । पाखाना ख़ूब गंदा था और पेशाबकेलिए तो सारा आँगन खुला हुआ था । हमारे राजभक्त कहेंगे कि हिन्दुस्तानियोंको यह समझानेमें हज़ारों वर्ष लगेंगे । मैं ऐसा नहीं समझता, सोवियत मध्यएसियामें मैंने देखा है, लोग कितनी जल्दी इन सामाजिक नियमोंको समझ लेते हैं । शामके वक़्त हम घूमने निकले । पहिलेसे हरद्वार बहुत बढ़ गया है । हरिकी पौड़ीपर बिड़लाका घंटाघर खड़ा है । पहिले वह कुछ और भी संदेश देता, लेकिन आज वह भारतीय पूँजीवादका महान् कीर्त्तिस्तंभ है । बिड़लाघाटको देखा और कई सेठोंके दूसरे मकानोंको भी । सेठोंके सामने अब राजा झूठे हैं । उनके ख़र्च और बढ़ गए हैं, लेकिन आमदनी उतनीकी उतनी ही है, और सेठोंकेलिए आमदनीकी कोई सीमा नहीं । भारतीय पूँजीवादने अब अपने यौवनमें क़दम रखा है । इसका परिचय हमारे तीर्थोंमें और मिलता है । मैंने एक सेठकी इमारतपर लोगोंके बहुत तरहके लेख लिखे हुए देखे । मेरा भी मन ललचा गया, लेकिन अपना नाम लिखनेकेलिए नहीं । मैंने पेंसिलसे लिख दिया—

"तामीरे हैं खैराते हैं औ तीरथ-हज भी होते हैं ।
यों ख़ूनके धब्बे दामनसे ये दौलतवाले धोते हैं ।।"

हरद्वारमें जब पैर रखनेकेलिए इतनी आफ़त थी, तो वहाँ बैठकर कुछ लिखना

पढ़ना कैसे हो सकता था ? सोचा, चलो ऋषिकेश देख आएँ, ऋषियोंकी भूमि है, शायद वहीं कहीं ठौर-ठिकाना लग जाये । १३ आना लारीको देकर चले । हरद्वार बढ़ता ही चला जा रहा है, मीलों तक सड़कके किनारे घर और बग़ीचे बनते गए हैं । बहुतसा जंगल कट गया है, और वहाँ खेती होती है । ३४ वर्ष पहिले जब मैं इस रास्ते गया था, तो हरद्वार एक छोटी सी जगह थी, यहाँ जंगल ही जंगल ज्यादा थे ।

और ऋषिकेश ? अब वह महलोंका नगर है । कहाँ उस समयके दो-चार क्षेत्र कुछ छोटी कुटियाँ और कहाँ ये प्रासाद ! उस वक़्त भी कालीकमलीवालेका क्षेत्र और पंजाबक्षेत्र मौजूद थे, लेकिन वह बहुत छोटे-छोटे थे । अब तो इन दोनों क्षेत्रोंने आधे नगरको घेर रखा है । बाक़ायदा दूकानें बन गई हैं । यहाँसे मोटर-लारी देवप्रयाग और टेहरीको जाती हैं । पाठशालाएँ भी कई हैं । हम लोग लछमनझूलाकी ओर बढ़े । जगह जगह साधुओंके प्रासाद कुटियाके नामसे खड़े हैं । धर्मकी बड़ी बड़ी दूकानें भी हैं, जहाँ पुस्तकोंके विज्ञापन, साइनबोर्ड और दूसरी तरह ग्राहकोंको आकृष्ट किया जाता है । कौन ऋषिकेशका सबसे बड़ा धर्म-सेठ है, इसको कहना मुश्किल है । यदि शिवानन्दको कहे, तो ब्रह्मलीन जयदयाल गोयन्दका नाराज हो जाएँगे । भैया तुलसीके पत्ते सभी बराबर हैं "कोउ बड़ छोट कहत अपराधू" ।

दोपहरको लछमनझूला पार किया । झूला भी पहिलेवाला नहीं है । इधर भी खूब पक्के मकान बन गए हैं । २४,२५ साल पहिले मैंने बाबा रामउदार दास फल-हारीका नाम सुना था, मेरा भी नाम वही था, किसीने चित्रकूट या कहीं और रहते वक़्त मुझे बताया था । उस वक़्त लछमनझूलाकी यह दूकान शुरू ही हुई थी । अब तो खैर मूलपुरुष नहीं रह गए, किन्तु "यावत् चन्द्र दिवाकरौ" रहनेवाली कीर्ति उनकी मौजूद है, दर्जनों मन्दिर, धर्म-शालाएँ और "कुटिया" बन गई हैं । खूब सदावर्त्त चलते हैं । सन्तलोग श्रद्धालु सेठोंकी दूध-भिक्षाको ग्रहणकर निर्द्वन्द्व हो भगवद्भजन करते हैं । शायद ही कोई अभागा हो, जो शरदचाँदनीकी तरह छिटके इन हज़ारों सौधौंको देख, उनकेलिए करोड़ों रुपये खर्च करनेवाले धर्मात्मा सेठोंकी दानशीलताको जानकर गदगद न होगा । लेकिन हमारे-लिए गदगद होनेमें एक और भी बाधा थी । गर्मी बहुत तेज़ थी, और पैदल चलकर आनेसे शरीर भी कुछ थक गया था । लेकिन वहाँ कहीं ठंडी जगहपर लेटनेका ठौर-ठिकाना नहीं लग रहा था—न कोई महन्त मदद करने आया न सेठ । आखिरमें यहाँ भी हमारा उबार करनेवाले मजूर ही मिले । कुछ मजूर मकान बनानेका काम कर रहे थे । उन्होंने हमें शरण दी, लेटनेकेलिए चटाई

दी। प्यास बहुत लगी हुई थी, नीचे उतरकर गंगासे पानी भरकर लानेकेलिए उनसे नहीं कह सकते थे। उन्होंने वर्त्तन दिया, और नागार्जुनजी पानी भर लाए। २,३ घंटेके विश्रामके बाद धूप कम हुई, फिर हम गंगाके बाएँ किनारे से स्वर्गाश्रमकी ओर चले। रास्तेमें जहाँ तहाँ वहुत सी कुटियाँ थीं, कितने ही आमके वृक्ष भी लगे थे। लेकिन कितनी ही कुटियाँ परित्यक्त भी थीं। क्या धर्मभूमि भारतमें तपस्वियोंकी कमी हो गई या टीनसे छाई इन कुटियोंमें रहनेकेलिए हमारे तपस्वी तैयार नहीं—इसमें संदेह नहीं, यह गर्मीका मौसम था। हम अनुभव कर रहे थे, वहाँ कितनी ज्वाला लहक रही है। स्वर्गाश्रम है तो स्वर्ग ही जैसा, लेकिन वह स्वर्ग कैसा, जहाँ अप्सराएँ नहीं? हाँ, शायद गर्मीकी वजहसे अभी बहुतसे स्थान खाली पड़े थे। वर्षा और शरदमें इसकी शोभा और बढ़ती होगी। आधुनिक शिक्षाने जब वर्त्तमान शताब्दी के आरम्भमें हमारे देशमें क़दम रखा, तो लोग धरमकी ओरसे कुछ उदासीन हो गए, लेकिन जब हमारे विश्वविद्यालयोंके स्नातकोंने काषायवस्त्र धारण कर लिया तो श्रद्धा दसगुने बलसे लौट आई। मैंने देखा कितनी ही तरुण शिक्षिताएँ बड़ी श्रद्धाके साथ इन कुटियोंकी परिक्रमा कर रही थीं।

नावसे गंगापार करके हम फिर इस ओर चले आए। फिर बन्दरोंके झुण्ड और कोढ़ियोंकी भीड़के भीतरसे होते हुए ऋषीकेश लौट आए। भारतके किसी भी तीर्थ-स्थानमें इतने कोढ़ी नहीं मिलेंगे, जितने कि ऋषिकेशमें। ऋषिकेश आज अयोध्याका कान काट रहा है। उसी तरह हजारों साधू, उसी तरह साधुनियाँ, उसी तरह भक्ति-भाव। लेकिन इतने कोढ़ियोंको अपनी गोदमें रखनेका साहस अयोध्याको भी नहीं हुआ।

हम उस दिन ऋषिकेशमें सिर्फ जगह देखने गए थे। मालूम हुआ, जगह वहाँ मिल सकती है, और हरद्वारकी अपेक्षा अधिक उदारताके साथ। लेकिन इधर दो तीन दिनसे मेरे शिरमें चक्कर आने लगा था। यह गर्मी हीके कारण था, इसलिए सोचा, हरद्वार, ऋषिकेश या ज्वालापुर महाविद्यालयमें रहनेसे काम नहीं चलेगा। अब कोई ठंडी जगह पकड़नी चाहिए। आनन्दजी हरद्वारमें आने-वाले थे, उनको मैं खबर भी दे चुका था, इसलिए उनकेलिए कोई संदेश छोड़ जाना जरूरी था। इस साल हिन्दी साहित्यसम्मेलन हरद्वारमें होनेवाला था। पहिले मेरी बड़ी इच्छा थी कि सम्मेलनको देखकर आगे बढ़ूँ, लेकिन शिरदर्दने मजबूर कर दिया। सम्मेलन स्वागतकारिणी सभाके कार्यालयमें गया। वहाँ पंडित किशोरीदास बाज-पेयी विराजमान थे। मैंने पूछा—"आनन्दजी कब आ रहे हैं।" उन्होंने कहा—

"अभी मुझे कोई खबर नहीं है।" मैंने कहा—"आनन्दजी आएँ तो उनको कह देंगे कि आपके दोस्त आए थे, गर्मी बर्दाश्त न करनेके कारण पहाड़पर चले गए हैं।" उन्होंने पूछा—"आपका नाम ?" मुझे झूठ बोलनेकी कोई ज़रूरत नहीं थी, मैंने कहा—"केदारनाथ पांडे, आजमगढ़ जिलेका रहनेवाला हूँ।" वाजपेयीजी सन्तुष्ट हो गए। यदि याद रहेगा, तो उन्होंने आनन्दजीसे केदारनाथ पांडेका संदेश दिया होगा।

उत्तर काशीकी ओर—३० तारीखको भोजन करके हमने ऋषिकेशकी लारी पकड़ी, और पंजाब-सिन्ध क्षेत्रमें जाकर उतरे। श्रद्धालुओंने इतने कमरे बनवा दिए हैं, कि उनमेंसे काफ़ी खाली पड़े रहते हैं। प्रबन्धक भद्रजन थे, हमें एक हवादार कमरा रहनेकेलिए मिल गया। चारपाई, चिराग, पानीकेलिए मिट्टीका घड़ा भी, सबका इंतिजाम। क्षेत्रवाले खाना भी देनेको तैयार थे, लेकिन हमें उसकी ज़रूरत नहीं थी। शामको जब कुछ ठंडा हुआ, तो हम गंगाकी तरफ़ घूमने गए। वहाँसे लौटकर कुटियोंकी ओर मुड़े। एक नाथपंथी धर्मशाला देखी। मुझे कुछ स्वाभाविक जिज्ञासा थी, नाथसाहित्यके बारेमें। वहाँ गया तो महात्माओंने ज्ञान देना शुरू किया—पोथी-पत्रामें क्या रखा हुआ है, नाथोंकी बानी गुरुमुखसे ग्रहण की जाती है। मेरे ऊपर सौ घड़े पानी पड़ गए। वहाँ भला साहित्यकेलिए क्या आशा हो सकती थी ? और कहनेपर एक छपी हुई भजनोंकी रद्दीसी पुस्तक मिली, जिसमें चौरासी सिद्धोंके नाम गिनाए गए थे। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ, जब मैंने देखा कि आधेसे कुछ अधिक नाम ठीक चौरासी सिद्धोंके ही हैं। मैंने नाथपंथकी ऐसी पुस्तक नहीं देखी थी, जिसमें सिद्धोंके इतने ठीक नाम उतरते हों। यहीं पदुमनाथ मिल गए, ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं लेकिन आदमी बहुत स्पष्टवक्ता। उन्होंने बतलाया कि भीष्मनाथ नामके एक पंडित साधु आज कल नाहन रियासतमें हैं। उन्होंने बहुतसे "शवद" जमा किए हैं, मगर वे छपे नहीं हैं। मैंने ऋषिकेशकी प्रशंसामें दो चार शब्द कहे और श्रीअयोध्यापुरीसे उसकी तुलना की। इसपर पदुमनाथ उबल पड़े और कहा—'यह सबसे बढ़कर.. घर हैं।' मैंने कहा—"क्या कह रहे हो नाथजी ?" पदुमनाथने कहा—"साधू सवेरेसे दोपहर तक क्षेत्रोंसे रोटियाँ जमा करते हैं, फिर खाकर सो जाते हैं, शामको फिर शहरका चक्कर मारते हैं।" अगर बात ठीक भी हो, तो इसमें साधुओंका क्या दोष ? प्राचीन ऋषियोंके आश्रमोंमें भी इतने जबर्दस्त ब्रह्मचर्य पालनका विधान नहीं था। किसी जानकारने कह दिया है—

"विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः,

तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥"

लेकिन इस घोर कलियुगमें बड़े ज़ोर-शोरसे सागरमें विंध्य तैराए जा रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि इस ब्रह्मचर्यका कोई सुफल नहीं। आखिर जितनी हिन्दू विधवाएँ आज ब्रह्मचर्य पालनकेलिए मजबूर की गई हैं, उन सबको मुक्त कर दिया जाता तो भारतकी जनसंख्या और कितनी बढ़ जाती। कितने ही शिक्षित संख्या-नियन्त्रण-पर जोर दे रहे हैं, विधवा-विवाह निषेधने इस कामको कितने ही अंशमें पूरा किया है। साधुओंके ब्रह्मचर्यने क्या किया है, इसके बारेमें राय देना ज़रा मुश्किल है। लन्दनमें एक बार एक हिन्दू तरुण साधुओंकी निन्दा कर रहे थे—यह निकम्मे हैं, मुफ़्तके खाते हैं, आदि, आदि। मैंने पूछा "आपने स्टडबुल् (महासाँड़) देखा है या नहीं?" उन्होंने कहा—"देखा है"। मैंने कहा—"अभी हमारा देश इसमें बहुत पिछड़ा हुआ है। यूरोपवाले स्टड्बुल्की बड़ी क़दर करते हैं, इसीलिए उनके यहाँ गायोंकी नसल दिनपर दिन तरक्की करती है। आपने किसी स्टड्बुल्को कभी गाड़ी खींचते या हल चलाते देखा है?"

"नहीं देखा?"

"तो आपकी परिभाषाके अनुसार ये निकम्मे और मुफ़्तके खानेवाले हुए?"

वह झुंझलाकर बोले—"तो आप कहना चाहते हैं, कि साधु नसलको बेहतर बनानेकेलिए हैं? उनमें कितनोंकी तो अपनी ही नसल दुरुस्त नहीं होती, वह क्या बेहतर नसल बनाएँगे।"

मैंने कहा—"आप उत्तेजित न होइए। यदि दो-चार 'स्टड्बुल्' खराब हों, तो आप सारे स्टड्बुलोंको क़तल करनेका हुक्म तो नहीं देंगे? मैं आप ही से पूछता हूँ, क्या आपने किसीके अँधेरे घरमें साधुके प्रतापसे चिराग जलते नहीं देखा?"

"आपका मतलब है निःसन्तान घरमें सन्तान होनेसे?"

मैंने कहा—"हाँ,"

शायद उनका नाम ओमप्रकाश था। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"दूसरेके यहाँकी बात क्यों कहूँ, मेरे अपने चचा ही के यहाँ ऐसा हुआ।"

मैंने कहा—"आप अपने चचाकी सम्पत्तिसे वंचित हुए, लेकिन इसका क्रोध सारी संस्थाके ऊपर उतारना क्या ठीक है?"

सिर्फ़ ऋषिकेश, अयोध्या या बनारस के साधुओं पर इस तरह का दोष देना फजूल

है। हिन्दू, ईसाई, बौद्ध सभीके घर वही मिट्टीका चूल्हा है। असलमें ब्रह्मचर्य और भक्तिभाव दो अलग-अलग चीजें मानी जातीं, तो बेहतर होता, किन्तु इसकेलिए अभी हमारे धर्मात्मा लोग तैयार नहीं। इसीलिए मानव प्रकृतिको दूसरे रास्ते अख्तियार करने पड़ते हैं, जिनमें बाज़ बहुत अभद्र हैं, इसमें सन्देह नहीं। हमारे एक मित्रने एक बार सुझाव पेश किया था, कि साधुओं और साधुनियोंके वकायदा मठ बनें। साधुनियोंके वंध्यात्वको स्वाभाविक या कृत्रिम रूपसे निश्चित कर दिया जाये, और भजनानन्दियोंके बारेमें किसी तरहकी दुर्भावना न उठाई जाय। मालूम नहीं हमारे दोस्त का यह सुझाव मंजूर होगा या नहीं।

पहिली मईको १० बजे हमने टेहरीकी मोटर पकड़ी। मोटर पहिले होसे खूब भरी थी। उसने मुनिकी रेतीमें जाकर १५ बोरे नमक और लादे। हमें तो डर लगने लगा, कि पहाड़ी रास्तेमें कहीं टें न बोल दे। रियासती अफ़सरका ही काम था, फिर मुसाफिरोंकी पर्वाह करनेकी क्या ज़रूरत ? तीन घण्टे तक लारी वहीं खड़ी रही, फिर जाकर चली। ऋषिकेशके बगलका पहाड़ टपना था। रास्ता कड़ी चढ़ाईका था। पहाड़ी दृश्य और लारीके इंजनकी घोर घनघनाहटका आनन्द लेते टेढ़े मेढ़े हम ऊपर चढ़ने लगे। प्रायः १० मील चलनेपर नरेन्द्रनगर आया। उस वक़्त सारे गढ़वालपर टेहरीवाला राजवंश शासन करता था। गोरखोंका राज आया। फिर अंग्रेजोंने मदद देनेके मेहनतानेमें अंग्रेजी गढ़वाल ले लिया, और रियासती गढ़वाल टेहरी राजवंशके हाथमें रह गया। इसकी आवादी साढ़े चार लाख और भू-कर पाँच-छ लाख है।

नरेन्द्रनगरको पिछले राजा नरेन्द्रशाहने अपने नामसे बसाया। उससे पहिलेके राजा प्रतापनगर बसा चुके थे। न यहाँ उद्योग-धंधा न कोई दूसरा बड़ा कारबार? ऊपरसे हर राजाको अपने नामसे नगर बसाने और लाखों रुपया लगाकर महल बनानेका शौक़। मय दानव जैसे मुफ़्तमें आकर नगरोंको बसानेवाले तो थे नहीं, आखिर यह सारा धन प्रजाकी गाढ़ी कमाईसे ही जमा होता था, इसलिए सारी आफ़त प्रजापर पड़नी ही थी। टेहरी नगरको भी इसका फल कुछ भुगतना पड़ा, क्योंकि वहाँके ही निवासियोंको अधिकतर इन नगरोंमें जाना था। फिर टेहरीके सैकड़ों घर यदि खंडहर बन रहे हैं, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नरेन्द्रनगरमें राजप्रासाद और सरकारी मकानोंके अतिरिक्त कुछ दूकानें भी हैं। दो घंटे तक लारी वहाँ ठहरी रही, फिर वह आगे चली। सड़क काफ़ी चौड़ी नहीं है, और रास्ता पहाड़ी घूम-घुमाऔआ। कई जगह लारीको खड्डमें जानेका भय था। उतराई चढ़ाई करते-करते हमने चम्पा

डाँड़ा पार किया। ऊँचाई ४ हजार फ़ीटसे ऊपर ही होगी। नरेन्द्रनगरसे चलनेपर पहाड़ोंमें जंगल दिखाई पड़े। आगे जंगलको अंधाधुन्धा काट कर खेत बनानेकी कोशिश की गई है। कहीं कहीं गेहूँ अब भी खड़े थे। बीच बीचमें दूकानें भी मिलीं, और कलिम्पोङ्की तरह तो नहीं, लेकिन कहनेपर चाय भी मिल जाती थी। शामको हमारी लारी गंगाकी उपत्यकामें आई। इस विस्तृत उपत्यकामें सभी जगह गाँव और खेत दिखाई पड़े। टेहरीसे बाहर नदीके इस पार ही लारी खड़ी हो गई, भार-वाहकसे सामान उठवाकर हम लोग नगरकी ओर चले। एक सिक्ख धर्मशालामें ठहरनेकेलिए कोठरी मिल गई।

टेहरीमें—हम टेहरीमें ज्यादा रहना नहीं चाहते थे, किन्तु बोझी (भारवाहक) का मिलना उतना आसान नहीं था, इसलिए यहीं ठहर जाना पड़ा। खानेकेलिए कोई तकलीफ़ नहीं थी, बहुतसे हिन्दू रसोईखाने यहाँ मौजूद थे, जिनमें मछली-माँस मिल जाता था। अगले दिन टेहरी नगर देखने गए। शिल्प-उद्योग-विहीन नगरकी अवस्था जैसी होनी चाहिए, वैसी ही इसकी थी। राजाओंने अपने अपने नाम से नगर बसाकर और सत्यानाश किया है, यह पागलपनके सिवा और कुछ नहीं है। शायद वह समझ रहे हों, कि इस तरह वह अपने नामको अमर कर रहे हैं। मान लो आजसे एक लाख वर्ष बाद प्रतापनगर और नरेन्द्रनगर रह ही जायँ, और इधर दो ही एक पीढ़ी बाद हिन्दुस्तानके सारे राजवंशोंपर महामारी आ जाये, तो किसको पता होगा कि ये प्रताप और नरेन्द्र कौन थे ? टेहरी बड़ी सुन्दर जगहमें दो नदियोंके संगमपर बसी हुई है। यहाँ एक इन्टर कालेज है। रियासतमें कई जगह स्कूल भी हैं, लेकिन ब्रिटिश भारत-की तरह यहाँके भी शिक्षित दफ़्तरोंकी कुर्सियाँ ही तोड़ सकते हैं। दफ़्तरोंमें इतनी कुर्सियाँ नहीं हैं, इसका परिणाम है बेकारी। हम पुराने मन्दिरोंको देखने गये। सत्येश्वर महादेवके पास एक बरगदके नीचे खंडित चतुर्भुज मूर्ति है, जो मुसलिम कालके पहिलेकी जान पड़ती है। उस वक़्त टेहरी यदि राजधानी रही होगी, तो किसी दूसरे राजवंशकी। टेहरीमें भी चावलका भाव २ सेर और आटेका ३ सेर था। ग़रीब कैसे इतने मँहगे अनाजको खरीद सकते हैं। इन पहाड़ी नदियोंसे आसानीसे नहर निकाली जा सकती है, विजली पैदा की जा सकती है। यहाँ फलोंके बाग़ लग सकते हैं। लेकिन यह शासक तो सिर्फ विलासिताको ही आधुनिक युगसे लेते हैं। इनको पूरा विश्वास है, कि अंग्रेजोंका शासन तब तक चलता रहेगा जब तक गंगा जमुनामें जल है। फिर बाहरसे कौन हमें निकालने आयेगा, और भीतर यदि किसीने तीन-पाँच किया, तो हमारी जेलें पड़ी हुई हैं—लोगोंको उनमें ठूँस-ठूँसकर मार डालेंगे।

उन्होंने ज़ार और कैसर जैसे मुकुटधारियोंके मुकुटको धूलमें लोटते देखकर कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की। उनकी अकल इससे भी कुछ ठिकाने नहीं आई, कि इंगलैंड का एक बादशाह आज दरदर मारा फिर रहा है। प्रजा उनकेलिए कीड़े मकोड़े हैं, और यह भगवानकी ओरसे उनके ऊपर शासन करनेकेलिए भेजे गए हैं। हाँ, मोटरका रास्ता ज़रूर कुछ बन गया है, और सड़क बनानेमें कितने ही लोगोंको काम भी मिल जाता है, लेकिन उसके साथ ही हज़ारों बोझिया, जो पहिले सामान ढोया करते थे, अब बेकार हो गए हैं। तीन दिन इंतिजार करनेके बाद यहाँसे ४४ मील उत्तर-काशीकेलिए आठ रुपयेपर एक बोझी मिला। दो दिनके रास्तेकेलिए आठ रुपया बहुत ज्यादा है, लेकिन हम टेहरीमें बैठकर इंतिजार नहीं करना चाहते थे।

४ मईको ६ बजे सबेरे ही रवाना हुए। रास्ता बहुत दूर तक सीधा रहा। आजकल गूजरलोग अपनी गाय-भैंस लिए ऊपरकी ओर जारहे थे, शायद २१,२२ सौ वर्ष पहिलेसे—जब कि वह हिन्दुस्तानमें आए—आजतक उन्होंने अपना पेशा पशुपालन ही रखा। सभी गूजर पशुपालक होते, तो पंजाबमें गुजरात और गुजराँ-वाला न बसा पाते, और न सौराष्ट्र तथा अपरांतको अपना नाम देकर गुजरात बना पाते। जब नीचे जंगल काफ़ी था, तब उन्हें अपने पशुओंको लेकर नीचे ऊँचे पहाड़ों के लाँघनेकी ज़रूरत नहीं थी, किन्तु अब नीचे जंगल कहाँ? इसलिए मईके शुरू हीमें इन्हें मैदान छोड़ हिमालयका रास्ता लेना पड़ता है। मध्यएसियासे आकर रहते उनका कोई और भी धर्म रहा होगा, हिन्दुस्तानमें आकर इन्होंने हिन्दू या बौद्ध धर्म स्वीकार किया होगा, और आज मुसलमान हैं। इनके पूर्वजोंने मध्यएसिया छोड़कर अच्छा किया या बुरा, इसके बारेमें हम क्या राय दे सकते हैं? आखिर उन्होंने अपनी जन्मभूमिमें हूणोंसे जीवनकेलिए संकट देखा, तभी तो वह उसे छोड़नेकेलिए मजबूर हुए। हाँ, गूजरोंकी प्राचीन मातृभूमिमें आज सोवियतका पंचायती राज है, अब वहाँके पशुपालक भी अपने साथ रेडियो लिए घूमते हैं। उनका जीवन चिन्ता और भयका जीवन नहीं है, सुख और समृद्धिका जीवन है। दिलमें तो आया कि हप्ता दो हप्ता इन खानाबदोश गूजरोंके साथ बिताया जाय। इससे हम नुक़सानमें नहीं रहते। अब भी उनके पास कुछ पुराने गीत होंगे, पुराने राग और नृत्य होंगे, पुराना विश्वास होगा; किन्तु हमारे पास न वैसा भेस था, न भेस बनानेकेलिए काफ़ी समय।

ये लोग पंजाबी बोलते हैं। रंग और पहाड़ियोंसे बहुत साफ़ तो नहीं होता, लेकिन गूजरियाँ बहुत स्वस्थ और ऊँचे कदकी होती हैं। एक गूजरीको बुखार आ गया था। भल्याणाकी चढ़ाई आई, बेचारी चलनेमें असमर्थ होकर एक जगह बैठी थी। मैंने

पूछा, क्या मैं कोई मदद कर सकता हूँ। उसने इतना ही कहा कि आगे हमारे आदमी मिलेंगे, उनसे मेरे बारेमें कह देना। आदमी हमें मिले। वह घोड़ा लेकर अपनी बीमार तरुणीको लाने जा रहे थे, मैंने उनसे संदेश कह दिया। ११वीं १२वीं सदी तक पश्चिमी तिब्बत—गूगे—की राजसीमा भल्याणाकी इस चढ़ाई तक थी।

५ घंटेमें १२ मील चलकर ११ बजे हम भल्याणा पहुँचे। यहाँ धर्मशाला और दूकानें हैं। बोझीने अपने और हमारेलिए भोजन बनाया। भोजन करके हमने ४-५ घंटे विश्राम किया। ४ बजे फिर रवाना हुए। सब जगह खेत ही खेत थे। लोग आकाशकी ओर मुँह लगाए बैठे थे, और अपार पानी गंगामें होकर फ़ज़ूल ही नीचे बहा चला जा रहा था। रियासत यदि एक इंजिनियर और कुछ लोहा-सीमेंट-लकड़ीकी मदद करती, तो यहाँ नहर बन गई होती। फिर सारा पर्वतगात्र फलदार वृक्षों और लहलहाते खेतोंसे ढँका दिखाई पड़ता।

शामको सूर्यास्तबाद हम नगुण पहुँचे। यहाँ एक धर्मशाला है, जिसमें भीड़ भी थी, और गंदगी भी, इसलिए हमने सीताराम मंदिरका आश्रय लिया। थोड़ी देर बाद प्रयाग (बलिया) के एक पेन्शनर जज साहब सपत्नीक वहाँ पहुँचे। उनको भी ठहरनेकेलिए कष्ट हो रहा था। पत्नीने जब सुना कि मैं छपराका रहने वाला हूँ, तो उन्होंने बतलाया कि मेरी लड़की छपरामें ब्याही है। खैर, हम एक दूसरेकी भाषा तो बोल ही सकते थे। धर्मशालामें पिस्सुओं और खटमलोंसे लोहा लेना पड़ता, यहाँ निश्चिन्त थे। सामने भागीरथी कल-कल करती बह रही थी। सीताराम मंदिरको कभी किसी बैष्णवने स्थापित किया था, किन्तु उसके पीछे सँभालनेवाला कोई साधु नहीं रहा। अब एक गृहस्थ धूपबत्ती कर देता है। शायद जब हमारे ऐसे अश्रद्धालु भी दो-एक आना दे सकते हैं, तो दूसरे भी कोई दाता अवश्य मिल जाते होंगे।

अगले दिन (५मई) ६ बजे ही हम रवाना हुए। १५ मीलपर धरासू मिला। अभी सवेरा था, इसलिए हम यहाँ नहीं ठहरे और दो मील और चलकर डूँडा पहुँचे। धरासूसे इधर खूब जंगल है, चीड़के बड़े बड़े वृक्षोंसे सारा पर्वत ढँका हुआ है। कहीं कहीं गाँव और खेत भी हैं। यहीं भोजन और मध्याह्न विश्राम हुआ। चार बजे फिर चले, ढाई घंटे बाद मातरी पहुँचे। अभी दिन था, लेकिन देखा, आसमानमें बादल घिरा हुआ है, पानी बरसनेका डर है, इसलिए मातरी हीमें ठहर गए। एक अकेली दूकान थी। दूकानदारने रहनेकी जगह और बर्त्तन-भांड़ा भी दे दिया। हमारे बोझीने भोजन बनाना शुरू किया। रास्ता चलनेवालोंकेलिए अच्छा है, कि

एकाध घंटा दिन रहते ही ठहर जायँ। आटा तीन सेर और चावल ढाई सेरका था अर्थात् नीचेसे यहाँ अन्नका भाव अच्छा था। लेकिन यदि नीचेके यात्री ज्यादा आ गये, तो अनाजका भाव बढ़ेगा। लौटते वक़्त मैंने देखा, अबकी साल यात्री खूब आ रहे हैं। शहरवालोंको पता तो नहीं लग गया, कि उत्तराखंडमें खाने-पीनेकी चीज़ें सस्ती और सुलभ हैं।

उत्तरकाशीमें (६–२४ मई)—सवेरे ही हम फिर चले। बीच बीचमें एकाध दूकानें और पड़ीं। रास्ता समतल था—५ ही मीलका रास्ता था। ८ बजे हम उत्तर-काशी पहुँच गए। बिड़लाधर्मशालाका नाम सुनकर हम वहाँ गए। मुंशी साहब अभी सोए पड़े थे। कुछ देर इंतिजार करनेके बाद उन्हें जगाना पड़ा। उन्होंने शकल सूरत देखी। हमारी शकल सूरतमें कोई विशेषता न थी। कहनेपर उन्होंने ऊपरका कमरा खोल दिया। जँगलेके शीशे टूटे हुए थे, लेकिन जालीदार किवाड़ सुरक्षित थे। जब टूटे शीशोंकी ओरसे मक्खियाँ आ सकती हैं, तो किवाड़की जालीकी उनको क्या पर्वाह! दूसरा कमरा देनेकेलिए कहनेपर मुंशीने बड़े रूखेपनसे कहा—बस यही है। बाजारमें गए तो दोको छोड़ सारी दूकानें बन्द थीं। नागार्जुन आटा-दाल-लकड़ी लिवा लाए। बोझीने खाना बनाया। खानेके बाद वह मजूरी लेकर चला गया। हम लोग कुछ थके थे, सो गए।

सोचा था, चलो चाहे मक्खीवाली ही कोठरी हो, किन्तु जगह तो मिली। यहाँ बैठ कर कुछ दिनों लिखना-पढ़ना होगा; लेकिन जान पड़ता है, सेठोंकी सहायता हमारे भाग्यमें बदी नहीं है। मुंशीने आकर कहा—गोस्वामी गणेशदत्त या बिड़ला सेठकी चिट्ठीके बिना तीन दिन से अधिक कोई यहाँ ठहर नहीं सकता। उसने इन शब्दोंको बड़े रूखेपनसे कहा। मैंने पूछा—वह आज्ञा कहाँ है? उसने कहा—"मैं जो कहता हूँ"। तीन दिन रहनेका नियम उचित था, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। अगर एक एक यात्री तीन तीन हफ़्ते तक कोठरी दख़ल करके बैठ जाए तो बाकी यात्री क्या करेंगे? मैंने उससे कहा—"जब तक और यात्री नहीं आते तब तककेलिए हमें रहने दो। इस बीचमें किसी दूसरी जगह इंतज़ाम करेंगे।" उसने 'नहीं' किया। यह अड़चन तो सामने आई ही, साथ ही एक दूसरी अड़चन भी थी—अपने हाथसे खाना बनाना। यदि दोनों शाम हमें अपने हाथसे खाना बनाना और बर्त्तन मलना पड़ता, तो दिनके प्रकाशका अधिक भाग उसीमें चला जाता—प्रकाश आजकल मँहगी चीज हैं, क्योंकि मिट्टी का तेल मिलना सुलभ नहीं है। हम दोनों चले कोई ठौर ढूँढ़ने। किसी पंडेके यहाँ जगह मिल जाती, लेकिन भीड़-

भड़क्काका डर था। काली कमलीवालेकी धर्मशालामें गए। वहाँके प्रबंधक संन्यासी बड़े शिष्ट थे। लेकिन हमने देखा कि वहाँ बहुत भीड़ है,अतः ऐसी जगह रहना उचित नहीं समझा। पंजाब-सिन्ध क्षेत्रमें पहुँचे। वहाँ दो कोठरियाँ नई बनी हुई थीं, नईका मतलब था कि उनमें अभी खटमलों-पिस्सुओंने बसेरा नहीं लिया था। क्षेत्र-प्रबंधकने बड़ी खुशीसे एक कोठरी हमें दे दी और कह दिया कि एक पंजाबी माईने इस कोठरीको बनवाया है, वह साधुओंके सत्संगके लिये आया करती हैं। यदि वह आईं, तो कोठरीको छोड़ देना होगा। मैंने कहा "एवमस्तु"।

गंगा यहाँसे बिल्कुल नजदीक थीं। खानेकी बात चलने पर प्रबंधकने कहा कि एक शाम तो हमारे यहाँ सैकड़ों साधुओंको भोजन दिया जाता है, दूसरे यात्री भी खा जाते हैं। हमने कहा —"हम बस इतनी ही मेहरबानी चाहते हैं, कि हमारे लिये आप भोजन बनवा दिया करें। हम कोई विशेष भोजन नहीं चाहते। हम अपने लिये भी वही सामान दे देंगे, जो रसोईमें दूसरोंकेलिए बना करता है।" प्रबन्धकने हमारा बहुत सन्तोषजनक इन्तिज़ाम कर दिया। अब रहनेकेलिए निश्चिन्त हो गये। उसी दिन हमारा सामान उठकर चला आया।

उत्तरकाशी यह पचास-साठ ही वर्षोंका दिया नाम है, नहीं तो सरकारी काग़ज़ोंमें आज भी इसे बाड़ाहाट (बाड़ाबाज़ार) कहा जाता है। हिमालयके तीर्थोंमें जब सेठ-साहूकार, राजा-बाबू पहुँचने लगे और उनसे काफ़ी आमदनी होने लगी, तो लोगोंने नये-नये प्रयाग और काशी बनाने शुरू किये, उत्तरकाशी भी इसी तरहकी नक़ली काशी है। इसका यह अर्थ नहीं, कि बाड़ाहाट पहिले महत्त्वका स्थान नहीं था। यह बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्वकी जगह है। यहाँका पाँचवीं, छठीं शताब्दीका त्रिशूल सारे हिन्दुस्तानमें अपने ढंगकी अद्वितीय चीज़ है। ११वीं शताब्दीकी अष्टधातुकी बुद्धमूर्त्ति भारतीय मूर्त्तिकलाका एक सुन्दर नमूना है। उत्तरकाशी छठीं शताब्दीमें ही यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। लेकिन ऐतिहासिक महत्त्वसे धार्मिक दूकानदारी तो नहीं चल सकती, इसलिए बाड़ाहाटको उत्तरकाशी बनना पड़ा। शक्तिका पता मुझे मालूम था, क्योंकि उसपर गुप्ताक्षरमें उत्कीर्ण लेखको मेरे पास "गंगापुरातत्त्वांक"में छापनेकेलिए भेजा गया था। लेकिन मैं वहाँके बारमें कुछ और जानना चाहता था। पता लगा कि यहाँकी संस्कृत पाठशालामें श्रीचन्द्रशेखर शास्त्री पढ़ाते हैं। मैं उनसे मिलने गया। जो कुछ जानते थे उन्होंने बतलाया। यह सुनकर अफ़सोस हुआ, कि उनकी बदली गंगोत्रीके पंडोंके गाँव मुखवामें हो गई। यद्यपि संस्कृत पंडितोंमें ऐतिहासिक रुचि नहीं होती, तो भी चन्द्रशेखरजी इधरके

रहनेवाले थे, इसलिए सम्भव था, कि उनसे कुछ और पता लगता। जब हम वहाँसे चलने लगे, तो एक दाढ़ीवाले गुजराती ब्रह्मचारी आ गये। चन्द्रशेखर पंडितसे हमारी संस्कृतमें बातचीत चल रही थी। ब्रह्मचारीको जब यह मालूम हुआ कि हम बौद्ध हैं, तो उनका चेहरा बिल्कुल फ़क़ हो गया। शायद वह समझने लगे कि तब तो भगवान शंकराचार्यका सब किया-कराया मिट्टीमें मिलने जा रहा है—संस्कृतज्ञ ब्राह्मण भी यदि बुद्धके चेले बनने लगे, तो वेदान्तको क्या आशा हो सकती है ? उनमें शिष्टाचार छू नहीं गया था। शास्त्रीने बम्बई विश्वविद्यालयका बी० ए०, एल-एल० बी० कहकर उनका परिचय दिया था। लेकिन हम आक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिजके भी कितने ही गधे देख चुके थे, इसलिए आश्चर्य करनेकी ज़रूरत नहीं थी।

अगले दिन (७ मई) पुलिसका सिपाही आया, पूछा—कितने दिन रहोगे ? हमने कहा—कुछ दिन रहेंगे, हमारी डाक आनेवाली है, ("दर्शनदिग्दर्शन"का प्रूफ़ आनेवाला था)। उसने कहा—पुलिसचौकीमें जाके नाम लिखाना, दस्तख़त करना पड़ेगा। ४ बजे पुलिसचौकीमें गये। हुलिया और पिताका नाम गाँव आदि सब लिखा गया। हुज्जत करनेका मतलब था, तुरन्त उत्तरकाशी छोड़ना। मालूम हुआ, कि इसकी नक़ल टेहरी भेजी जाती है। उन्होंने पढ़ा होगा—केदारनाथ पांडे ....पं० वैजनाथ....उनको क्या मालूम था, कि रियासतमें ख़तरनाक आदमी घुस आये हैं। चप्पल टूटनेवाला था, इसलिए नागार्जुनजीकेलिए जूतेकी ज़रूरत थी। ग्यान्शूमें मोचीके पास गये। उसके पास चमड़ा नहीं था। उत्तरकाशीमें दूकानें तो बहुत थीं, लेकिन अभी कितनी ही खुली नहीं थीं—यात्रियोंका मेला शुरू नहीं हुआ था। दूकानोंपर आलू भी मिलना मुश्किल था।

हम यहाँ रहकर "दर्शनदिग्दर्शन"का प्रूफ़ देखना चाहते थे, एक उपन्यास लिखना चाहते थे। नागार्जुनजी तिब्बती भाषा पढ़ना चाहते थे, क्योंकि वह तिब्बतकी तैयारी करके गये थे। उपन्यास तो ४०, ५० पेज लिखकर फाड़ दिया, वह मुझे पसन्द नहीं आया। शामको (८ मई) पूरबके छोरकी ओर टहलने गये। रास्तेपर एक दुर्गाका मन्दिर है। जिसके बाहर कितनी ही खंडित मूर्त्तियाँ पड़ी हैं। जूता लेना ज़रूरी था। पता लगा कि नदी पार बोङा गाँवमें जूता बनानेवालोंके घर हैं। पुलसे पार हो बूढ़े केदारके रास्तेमें तीन मील तक गये। वहाँ भी जूता बनानेवाला कोई नहीं मिला। रास्तेमें तेजपातके सूखे पत्ते पड़े हुए देखे। यहाँ उसके वृक्षोंका जंगल खड़ा है और यहाँवाले उसका कोई उपयोग नहीं जानते। इधर पहाड़ोंमें सबसे ज़्यादा काम स्त्रियाँ करती हैं—खाना पकाना ही नहीं, खेतीका काम भी वही

करती हैं, शायद हल नहीं चलातीं, बाक़ी खेतमें कूड़ा फेंकना, बोवाई-निराई करना सब उन्हींका काम है। पुरुष तो बैठे-ठाले दिखाई पड़ते हैं। हाँ, उनका एक रोज़गार है, वह गंगाजल लेकर युक्तप्रान्त, बिहार और दूर-दूर तक चले जाते हैं। इस इलाक़ेके सारे राजपूत ब्राह्मण बनकर गंगाजल बेंचते फिरते हैं—गंगाजल भी बहुत कम होता है, अधिकतर तो कूपजल, नदीजल ही होता है, जहाँ जल ख़तम हुआ, फिर गंगाजली भर ली जाती है। गंगोत्रीके आसपासके लोगोंको इससे ख़ासी आमदनी हो जाती है। यहाँ ब्याह करनेकेलिए स्त्रियाँ ख़रीदी जाती हैं और आमदनीके अनुसार दाम भी हज़ार-पाँच सौ तक जाता है। पहिले बचपनकी शादी ज़्यादा होती थी, लेकिन सरकारने इसके ख़िलाफ़ क़ानून बना दिया, अब १४से कमकी लड़की और १८से कम लड़केकी शादी नहीं हो सकती। क़ानून तो कहता है, कि १००से अधिक दाम लड़कीका नहीं लेना चाहिए, लेकिन किसीको अपनी लड़की ब्याहनेकेलिए मजबूर नहीं किया जा सकता, और चुपकेसे कितना रुपया दिया गया, इसका किसको पता? दामका चौथा अंश रियासत लेती है। हाँ, सौसे अधिक रुपया नहीं लिखाया जाता। जब पटरी नहीं खाती, तो औरतको छोड़ देते हैं। झालामें रहनेवाले एक साधू बतला रहे थे, वहाँ एक-एक घरमें तीन-तीन चार-चार परित्यक्ता स्त्रियाँ बैठी हुई हैं।

उत्तरकाशीमें एक मिडिल इंगलिश स्कूल है। यहाँ कुछ कताई-बुनाईके सिखलानेका भी इन्तिज़ाम है। मास्टर मोतीलालने ऊनकी कताई-बुनाई दिखाई। आजकलकेलिए तो कोई हरज नहीं, क्योंकि मिलके बने ऊनी कपड़े बहुत महँगे हैं, लेकिन लड़ाई ख़तम हो जानेपर जब मिलके सस्ते कपड़ोंकी बाढ़ आ जायेगी, तो इन महँगे कपड़ोंको कौन पूछेगा? टेहरी रियासत क्या यहाँ बिजली पैदा करके घर-घरमें मशीनके कपड़े नहीं बुनवा सकती? इस विभागका उपयोग चन्द वर्षोंके ही लिए है। आज ही स्वामी रामतीर्थके शिष्य स्वामी आनन्दसे भेंट हुई, बड़े मिलनसार और उदार-हृदय-व्यक्ति हैं।

हमारे निवासस्थानके बग़ल हीमें सिद्ध गम्भीरनाथ (गोरखपुर और गया)के शिष्य साधू प्रज्ञानाथ रहते थे। यह उत्तरकाशीके विद्वान् साधुओंमें हैं। मैं एक तो उनकी ओर नाथपन्थी होनेसे आकृष्ट हुआ, दूसरे सुना था कि वह मानसरोवर हो आये हैं, हमें भी थोलिङ् तक जाना था। उनके बतलानेसे मालूम हुआ, भैरोघाटीसे १० दिनमें थोलिङ् पहुँचा जा सकता है। नाथ-पन्थका जहाँ तक सम्बन्ध है, वह समझते हैं कि ८४ सिद्ध भी शंकराचार्यके चेले थे। कुछ विद्यार्थियोंको वह कोई

वेदान्त ग्रन्थ पढ़ा रहे थे। कुछ देर तक हम ध्यानसे सुनते रहे थे, कि कौन भाषा बोल रहे हैं, गद्य हैं या पद्य ? यदि मुँह गोल करके बंगाली उच्चारण होता, तो भी समझमें आ जाता। लेकिन वहाँ देख रहे थे कि हरेक शब्दके बोलनेमें नाकका पूरा इस्तेमाल किया जा रहा है, अनुस्वारोंकी गिनती नहीं है। ८४ सिद्धोंके बारेमें जब मैंने तिब्बती ग्रन्थोंकी कुछ बात कही, तो उन्होंने कहा—वह सब झूठा है। ८४ सिद्ध पक्के आस्तिक और अद्वैतवादी थे—जिनकी कृतियोंकी बात तो अलग, नामोंको भी जो नहीं बतला सकता, उसकेलिए ऐसा दावा करना बड़े साहसकी बात है। लेकिन उन्हें समझाये कौन, वह १०वीं १२वीं सदीमें विचरनेवाले जीव हैं। वैसे साधू प्रज्ञानाथका स्वभाव अधिक मधुर और मिलनसार है। साधू प्रज्ञानाथके ही गुरुभाई साधू शान्तिनाथ हैं। उनकी विद्वत्ता बहुत ही गम्भीर है। सिद्ध गम्भीरनाथ अपने समयके सबसे बड़े सिद्ध योगी समझे जाते थे। उनके चमत्कारोंका यदि शतांश भी सच है, तो भारतको सुखी और स्वतन्त्र बना देना उनकी कानी उँगलीका काम था, फिर उन्होंने क्यों ऐसा नहीं किया ? भगवानके काममें दखल देना नहीं चाहते थे, या खून चूसनेवाले शोषक वर्गने पूजा-प्रार्थना करके उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया। एक और सिद्धा माता आनन्दमयी बंगालमें पैदा हुई हैं। उत्तरकाशीमें भी उनका एक काली मन्दिर है। उनकी अद्भुत शक्तियोंके बारेमें भी कितनी ही पोथियाँ लिखी गई हैं। कनखलके स्वामी कृपालुदेवकी जीवनी "सन्तदर्शन"का एक सचित्र मोटा पोथा छपा हुआ है। उसमें भी स्वामीजीके अलौकिक क्रियाओंके सैकड़ों उदाहरण हैं। रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमन, योगिराज अरविन्द आदि बड़ी-बड़ी मछलियोंके बारेमें तो कहना ही क्या है ? उनकी सिद्धाइयोंका तो कोई ओर-छोर नहीं है। उनके चमत्कारोंपर जो बड़े-बड़े पोथे लिखे गये हैं, उनको देखकर किसी वक़्त मुझे कुफ़्त होती थी; लेकिन पीछे मैंने समझा कि शोषक वर्गकी यह सब उपजें हैं। जब तक शोषक वर्ग नष्ट नहीं होता, तब तक ये कूड़े-करकट नष्ट नहीं होंगे। मनकी एकाग्रतासे मेस्मरिज़्म जैसी कुछ ताक़तें पैदा हो जाती हैं, और इन्हींको लेकर बातका बतंगड़ खड़ा कर दिया जाता है। मुझे तो एक बार ख़्याल आया कि एक सिद्धाकी जीवनी लिखूँ, जिसमें आधुनिक और प्राचीन सारी सिद्धाइयोंको उस सिद्धाके साथ जोड़ दूँ। पुस्तकको खूब श्रद्धा भक्तिसे लिखा जाय और आनन्दमयीकी जीवनियोंकी तरह उसमें भिन्न-भिन्न मुद्राओंकी कितनी ही तस्वीरें लगवा दें। फिर इस पुस्तकको श्रद्धालुओंके सामने पेश किया जाय, देखें, उनकी श्रद्धामें यह सब खुराफातें कितनी समाती हैं ? मैंने इसकेलिए कुछ पुस्तकें भी जमा कीं, लेकिन लिखनेका अवसर नहीं मिला।

साधु शान्तिनाथने अपने गुरु गम्भीरनाथके साथ रहकर खूब योगाभ्यास किया। फिर योगमें रोगका प्रचंड भय आया। डाक्टरोंने कहा कि यदि अब भी अपनेको नहीं सँभालते, तो स्वास्थ्य चौपट हो जायेगा और दिमाग़ भी ख़राब हो जायेगा। उन्होंने दर्शनका अध्ययन शुरू किया, और भारतीय दर्शनका गम्भीर अध्ययन किया, पाश्चात्य दर्शनको भी पढ़ा। अन्तमें वह इस परिणामपर पहुँचे, कि यह सारी दार्शनिकोंकी उड़ानें झूठे तर्कोंपर अवलम्बित थोथी कल्पनाएँ हैं। उन्होंने इसपर पुस्तकें लिखीं। उनकी पुस्तक "धार्मिक दर्शनकी समालोचनात्मक परीक्षा" (The critical Examination of the Philosophy of Religions, 2 vols), उनके गम्भीर अध्ययनका परिणाम है। साधु प्रज्ञानाथ अपने गुरुभाईको नास्तिक ही नहीं समझते, बल्कि यह पूछनेपर कि आपने उनकी किसी पुस्तकको पढ़ा है, उन्होंने बड़ी अवहेलना दिखाई। साधु प्रज्ञानाथने वेदान्तपर दो-तीन पुस्तकें काफ़ी परिश्रमसे लिखी हैं, लेकिन तर्क हैं वही हज़ार वर्ष पुराने। वह आशा रखते हैं कि उनकी यह कृति चिरस्थायी होगी। मैंने कहा, आप इसे खूब अच्छे काग़ज़पर लिखवाकर ज़मीनमें गाड़ दीजिए, शायद हज़ार दो हज़ार वर्षों बाद लोगोंके हाथमें लगे, तो इसकी कदर होगी।

हमारे वासेकी दूसरी ओर एक वैष्णवकी छोटीसी ठाकुरवाड़ी थी। उसकी महंथिनी ५० सालकी एक प्रौढ़ा बैरागिन थी। नानीने इस मन्दिरकी स्थापना की थी, फिर बेटी अपनी बेटीके साथ आई। वह छपरा ज़िलेमें गुठनी थानेकी रहनेवाली थीं। नतिनी जब बहुत छोटी थी, तभी यहाँ आ गईं, अतः छपराकी बोली नहीं बोल सकती। पासके किसी गाँवमें ब्याह हुआ था, लेकिन पतिने छोड़ दिया और अब वही ठाकुरबाड़ीकी महंथिन है—मन्दिरकी जमीन और हातेको छोड़कर वहाँ कोई जायदाद नहीं है; बेचारी किसी तरह माँग-जाँचकर गुज़ारा करती है।

१६ मईको हम लोग विश्वनाथके मन्दिरमें गये। उत्तरकाशी है, तो विश्वनाथको भी होना चाहिए, लेकिन यह विश्वनाथ बिल्कुल नये हैं। हाँ, मन्दिरके सामने जो पीतलका ८, १० हाथ ऊँचा त्रिशूल (शक्ति) है, वह भारतकी अति पुरातन ऐतिहासिक वस्तुओंमें है। इस त्रिशूलकी पूजा होती है। फ़र्शसे थोड़ा ऊपर त्रिशूलकी जड़में ३ पंक्तियाँ संस्कृतमें लिखी हैं। लिपि वही है, जो कि मौखरि हरिवर्मा (६ठीं सदी)के हड़हावाले लेखमें हैं, जिस लिपिसे कि तिब्बतके अक्षर निकले हैं। ११वीं सदीमें बाड़ाहाट तिब्बती राजाओंके हाथमें था, यह अभी हम बतलाने जा रहे हैं। त्रिशूलमें दो जगह कुछ शंखलिपिमें भी लिखा हुआ है। शंखलिपि अभी तक पढ़ी

नहीं गई। सैदपुर-भितरीके गुप्तस्तम्भ (ग्राजकल यह स्तम्भ राजकीय संस्कृत कालिज बनारसके हातेमें गड़ा है)परभी इस लिपिमें लेख है, सुल्तानगंज (भागलपुर)से कुछ दूरके एक पहाड़में भी मैंने इस लिपिको देखा, जावा द्वीपमें भी इस लिपिके लेख मिले हैं।

हम पुराने मन्दिरोंकी तलाशमें परशुराम मन्दिर देखते हुये उजालीकी ग्रोर जा रहे थे। उसी समय ग्रानन्द स्वामी मिले, उन्होंने बतलाया—"यहाँ पीतलकी एक बुद्धमूर्त्ति है। डाक्टर पन्नालाल यहाँ ग्राये थे। उन्होंने इसे बहुत पुराना बतलाया। उसके नीचे लेख भी है, लेकिन लिपि ऐसी है कि कोई पढ़ नहीं सकता।" वह मुझे वहाँ लिवा लाये। परशुराम मन्दिरके दक्खिनकी ग्रोर एक छोटी-सी कोठरी है, जिसको दत्तात्रेयका मन्दिर कहते हैं। इस गुमनाम जगहमें भारतीय मूर्त्तिकलाका एक सुन्दर नमूना, पच्छिमी तिब्बत ग्रौर भारतके सम्बन्धकी एक ऐतिहासिक श्रृंखलाके रूपमें यह बुद्धकी मूर्त्ति विद्यमान है। पहिलेका मन्दिर गोल था, इसपर पुंडरीकार (छत्रमुकुट) भी था। छतरी लकड़ीकी थी। मन्दिरके चारों ग्रोर देवदारके खम्भोंपर परिक्रमा बनी हुई थी। मन्दिर गिर गया, ग्रौर २० वर्ष पहिले स्वामी पूर्णानन्द (कैलाश)ने यह नया मन्दिर बनवाया। ५, ६ पीढ़ियोंसे पुरी-नामा गृहस्थ पुजारी यहाँ पूजा करते हैं। मन्दिरमें १५, २० रुपये ग्रामदनीकी जागीरी ज़मीन है, राजकी ग्रोरसे १०० रुपया सालाना भोगरागकेलिए मिलता है। मूर्त्तिको दत्तात्रेयकी मूर्त्ति कहते हैं। मूर्तिके प्रभामंडलके भागको सोना समझकर कोई काट ले गया। उस कटे स्थानको देखकर लोगोंने कल्पना की, कि पहिले इसमें दत्तात्रेयके तीन मुंड थे, जिनमेंसे दोको बौद्धोंने काट दिया। वाम पार्श्वका प्रभा-मंडल कन्धेसे थोड़ा ऊपर तक बचा है, लेकिन नीचेका बिल्कुल ख़तम है। मूर्त्ति ३०" (४५ ग्रंगुल) ऊँची ठोस पीतलकी है। ग्राँखोंकी पुतलियोंकी जगहपर सदा चमकनेवाली रौप्य ग्रौर ग्रोठोंपर ताम्र धातु लगी हुई है। ग्रासन-पीठ १३ ग्रंगुल ऊँचा है ग्रर्थात् ग्रासन लिये हुए सारी मूर्त्ति ५८ ग्रंगुल या ३ फ़ुट २ इंचके क़रीब ऊँची है। मूर्त्तिको घिस-घिसकर साफ़ किया जाता है, इसलिए मुखको क्षति पहुँची है। चीवर उभयांस (दोनों कन्धोंको ढाँकनेवाला है)। पाद पीठमें सामनेकी ग्रोर तिब्बती ग्रक्षरोंमें लिखा हुग्रा है—"ल्ह-बचन-पो-न-ग-र-ज़ऽ-थुबस-प" (देवभट्टारक नागराजके मुनि)। ग्रानन्द स्वामीको मेरे लिपि-सम्बन्धी 'ग्रगाध ज्ञान'पर बड़ा ग्राश्चर्य हुग्रा। ग्राख़िर डाक्टर पन्नालाल जैसे मर्मज्ञ भी जिस ग्रक्षरको नहीं पढ़ सके, उसे देखनेके साथ मैंने ग्रप्रयास पढ़ दिया, तो ग्राश्चर्य क्यों न हो! मैंने

उनसे कहा कि यहाँ रास्ते जानेवाले किसी भोटियाको पकड़कर लाइए, वह इसे पढ़ देगा। जब नागार्जुनजीने भी लेखको पढ़ दिया, तब उनका आश्चर्य गया। मैंने कहा—तो भी इस मूर्त्तिका महत्व कम नहीं है। यह मूर्त्ति ६०० वर्षसे कुछ ज्यादा पुरानी है। जिस पुरुषने इस मूर्त्तिको बनवाया, उसे मैं जानता हूँ। वैसे भी आनन्द स्वामी मेरा नाम पहिले हीसे जानते थे, इसलिए इस लेखके पढ़नेसे उनकी मान्यतामें अधिक वृद्धि हुई हो, ऐसी कोई बात नहीं। पच्छिमी तिब्बत—गूगे (शङ्-शुङ्)—में १०३०के आसपास खोर-दे नामक राजा राज्य करते थे। इन्होंने ही थोलिङ्के महाबिहारको बनवाया। बौद्ध धर्ममें उनकी बड़ी श्रद्धा थी, लेकिन साथ ही अन्धी श्रद्धा नहीं थी; यह तो इसीसे मालूम होता है, कि तन्त्रमन्त्रपर उनका विश्वास नहीं था। तिब्बतमें उस वक़्त बौद्ध धर्ममें बहुत विकार आ गया था। राजा खोर्-देने चाहा, कि बौद्ध धर्मकी फिर उन्नति हो। उन्होंने २०के क़रीब तरुणोंको संस्कृत पढ़नेकेलिए कश्मीर भेजा, लेकिन उनमेंसे सिर्फ़ दो जीते लौटे। राज्य अपने भाईको देकर वह स्वयं और अपने दो लड़कों नागराज और देवराजके साथ भिक्षु हो गये। भिक्षु होनेपर खोर्-देका नाम येशे-ओद् (ज्ञानप्रभ) पड़ा। राजभिक्षु ज्ञानप्रभने भारतसे दीपंकर श्रीज्ञानको बुलानेकी बहुत चेष्टा की, लेकिन वह उनके जीवनकालमें नहीं आ सके। ख़र्चकेलिए वह अपने उत्तरी सीमान्तपर पैसा जमा करने गये थे, उसी वक़्त पड़ोसी तुर्कजातीय राजा गर्-लोक्ने पकड़कर उन्हें जेलमें डाल दिया, और वह क़ैद हीमें मरे। मैं समझता हूँ, भल्याणाका डाँड़ा उस वक़्त गूगेके राजाकी सीमा थी, और बाड़ाहाट उनके राज्यके भीतर था। ग्यान्शू, धराशू आदि नाम पुराने नामोंसे बिगड़कर बने मालूम होते हैं। सम्भव है, उस वक़्त यहाँके निवासियोंमें तिब्बती भी रहे हों। मुखवा जैसी कई बस्तियोंके बारेमें तो हम निश्चयपूर्वक जानते हैं, कि आधुनिक बाशिन्दे वहाँ बहुत पीछे पहुँचे। शायद १४वीं-१५वीं सदीमें भल्याणा-से इधर तिब्बती शासन-चिह्न लोप होने शुरू हुए। ज्ञानप्रभके पुत्र वही नागराज थे, जिन्होंने इस सुन्दर मूर्त्तिको बनवाया। ज्ञानप्रभके मरनेके बाद उनके भतीजे चङ्-छुब्-ओद् (बोधिप्रभ)ने बड़े प्रयत्नसे दीपंकर श्रीज्ञानको बुलाया, और १०४२ ई०में अपने यहाँ उनका स्वागत किया। तिब्बती इतिहाससे हम इतना ही जानते थे कि नागराज अपने पिता येशे-ओद्—ज्ञानप्रभ—के साथ भिक्षु हो गये, जिससे मालूम होता है कि नागराजने राज्य नहीं किया। लेकिन इस मूर्त्तिमें उन्हें भिक्षु नहीं "ल्ह-बचन-पो" (देवभट्टारक कहा गया है) जो कि राजाके लिए ही लिखा जा सकता है; राजभिक्षुकेलिए शब्द है "ल्ह-ब्ल-म"। इसका अर्थ यह हुआ कि

नागराजका पच्छिमी तिब्बतपर राज था, और अपने राज्यके इस स्थानपर उन्होंने १०२५ ई०के आसपास एक अच्छा बौद्ध बिहार बनवाया। उत्तरकाशी छोड़नेसे पहिले ही मेरी कुछ ख्याति हो चली थी। तहसीलदार साहबने भी कुछ बातें पूछीं। शिक्षित यात्रियोंमेंसे भी कुछ आने लगे, जिनमें उज्जैनके डाक्टर नागरकी धर्मपत्नी और हमारे मलखाचक (छपरा)के बद्री बाबू भी थे।

गंगोत्रीकेलिए प्रस्थान—आखिर प्रूफ़ हमारे सामने नहीं आ सका और २६ मईको गंगोत्री तककेलिए एक बोझी लेकर हम चल पड़े। दो-तीन मील जानेके बाद सड़कसे बाईं ओर एक छोटासा बँगला दीखा। उत्तरकाशीमें पता लग गया था कि गोस्वामी गणेशदत्तजी आकर यहाँ तपस्या करते हैं। तपस्या ज़रूर है, दुनियाके लोग गर्मीमें इन पहाड़ोंकी ओर मुँह करते हैं और गोस्वामीजी जाड़ेमें। वह जाड़ेमें हिमालयमें एक तरह गलनेकेलिए आते हैं। उनके आदमीने यह भी बतलाया कि गोस्वामीजी सिर्फ़ फलाहार करते हैं और सारा फलाहार नीचेसे आता है। जो भगत लोग गोस्वामीजीकेलिए १० रुपये रोज़का फलाहार भेजते हैं, वह भी धन्य हैं। सुनते हैं, गोस्वामीजी जब-तब मौन भी रहते हैं। मौन, फलाहारी, हिमालयका तपस्वी कितने-कितने गुण हैं, इस महापुरुषमें। बिड़ला धर्मशालामें जब हम पत्थरके लेखको देखते थे तो मालूम होता था कि बिड़लोंकी धर्मशाला है। जब दरियों और दूसरी चीज़ोंपर लिखे हुए नामोंको देखते थे, तो मालूम होता था—नहीं, सारी माया गोस्वामी गणेशदत्तकी सनातनधर्म सभाकी है। खैर, अद्वैतवादके अनुसार गणेशदत्त =बिड़ला=सनातनधर्म सभा ठीक ही है। मैं तो सोच रहा था, यदि कुछ साल पहिले गोस्वामी गणेशदत्तने हिमालयकी तपस्या शुरू की होती, तो मालवीयजीको कृष्णाश्रमके चरणोंमें शिर रगड़नेकी ज़रूरत न पड़ती—यहाँ एक खाँटी (शुद्ध) ब्राह्मण महातपस्वी मौजूद था, वह जाकर हिन्दू विश्वविद्यालयके विश्वनाथकी नींव रख देता। इसमें कोई शक नहीं, कि गोस्वामी गणेशदत्त हिन्दू धर्मकी एक दिव्य विभूति हैं, और सनातनधर्मके तो वह प्राण हैं। तपस्यापर भी उन्होंने क़दम रखा है। कौन जानता है, एक दिन वह भी गंगोत्रीके दिगम्बरोंमें नहीं शामिल हो जायेंगे। आज भी पंजाबके करोड़पति थैलीशाह गोस्वामीजीकी चरणधूलि माथेपर लगानेकेलिए होड़ लगाये हुए हैं। गोस्वामीजीके दैनिक हिन्दी-उर्दू पत्र अपने 'त्यागमूर्त्ति'-की प्रशंसा करनेमें शेष, शारदाको मात कर रहे हैं।

मनेरीके पास हम पहुँच रहे थे। वहाँ कुछ तिब्बती नर-नारी मिले। ये खम्बा लोग जाड़ोंमें ऋषिकेश, देहरादून तथा नीचे तक जाते हैं। आजकल वह तिब्बतकी

ओर जा रहे थे। यह छोटा-छोटा व्यापार करते हैं। उस दिन किसीके परिवारमें एक भिक्षुणी मर गई थी और लोग चाय-सत्तू-भोजका इन्तिज़ाम कर रहे थे। मैंने उनसे थोलिङ्के बारेमें कुछ बातें पूछीं। मैं ल्हासाकी तिब्बती बोल रहा था, वह समझने लगे, कि मैं ल्हासाकी ओरका हूँ—चेहरेको बारीकीसे देखनेकी उन्होंने ज़रूरत नहीं समझी।

मनेरीमें हमने भोजन और विश्राम किया। इधरके पहाड़ी वैसे तो प्याज़ खूब खाते हैं, लेकिन यात्राके दिनोंमें दूकानमें प्याज़ मिलना मुश्किल है—यह सेठ लोगोंकी कृपा है! प्याज़के विना भला कोई तरकारी अच्छी बन सकती है? मनेरीमें गंगामाईकी कृपा हुई। कोई आदमी एक बोझा प्याज़ लादे लिये जा रहा था। हमने थोड़ीसी प्याज़ ख़रीदी। उस दिन हम मैंजोमें रहे। किसी गाँववालेने एक दूकान खोल दी है। देर हो रही थी, इसलिए हम लोगोंने यहीं रहना पसन्द किया। उज्जैन और बनारसकी भी जमात यहीं ठहरी। बोझीने प्याज़ डालकर खूब अच्छी तरकारी वनाई। सुगन्धि चारों ओर फैलने लगी। श्रीमती नागरने भी इस देवाहारका अर्धभोजन तो किया; पर पूरे भोजनकेलिए बद्री बाबू ही सामने आये। अगले दिन (२७ मई) हम लोग थोड़ा पहिले चल पड़े। चढ़ाईका रास्ता था, लेकिन बहुत कठिन नहीं। मल्लाचट्टी प्राय: आधी दूरपर पड़ी। यहींसे बूढ़े केदारनाथका रास्ता अलग होता है। हम लोग भटवारी पहुँच गये। यहाँ डाकबँगला, धर्मशाला और कितनी ही दूकानें हैं। धर्मशालेमें हम लोगोंने भोजन और विश्राम किया।

३ बजे फिर रवाना हुए। दिन अस्त हो रहा था, तव ऋषिकुंडपर पहुँचे। ३४ वर्ष पहिले जब मैं यहाँ आया था, तव पत्थरके इतने अच्छे कुंड न थे, और न नहानेका इतना अच्छा इन्तिज़ाम। अब तो ऋषिका मन्दिर भी वन गया था, और पंडा कह रहा था कि इसी ऋषिकी तपस्यासे यह गर्म कुंड पैदा हुआ। लेकिन मुझे तो अपने बोझीकी बात ज़्यादा युक्तियुक्त मालूम हुई। उसने कहा—एक बार महादेव पार्वती कैलाश जा रहे थे। रास्तेमें महादेवजीको लघुशंका लग गई और उसीसे यह गर्म कुंड बन गया। मुझे मालूम होता था कि पुजारी भी ऋषिकी तपस्यावाली वात नीचेवालोंके ठगनेकेलिए कहता था, नहीं तो सच्ची परम्पराका पता उसे भी ज़रूर था। उज्जैन-मंडलीके सत्यात्माजी (हठयोगी) हमारे साथ थे। शंकरजीके प्रस्राव-तीर्थमें स्नान करते हुए मैंने सत्यात्माजीसे कहा—एक बार शंकरजी पार्वतीजीके साथ काशीसे गर्मीके दिनोंमें चले थे। भाँग-बूटीकी आदत छूटी नहीं थी, लेकिन इस सर्द जगहमें बूँदा-बाँदीके वक़्त पहुँचे। लघुशंका लगनी ही थी, यही

वह जगह है जहाँ सदाशिवने प्रस्ताव किया। सत्यात्माजी माननेकेलिए तैयार नहीं थे, और उधर पुजारी घास नोचकर संकल्प करवानेकेलिए सिरपर सवार था। हमने कहा—संकल्प रहने दीजिए, आपको ऐसे ही पैसा मिल जायेगा। स्नान करते कुछ देर हुई और हम लोग अँधेरा होते-होते गंगनाणी पहुँचे—कुंडसे यह बहुत दूर नहीं है। उज्जैनवाली जमात बहुत देरमें आई। श्रीमती नागरकेलिए पैदल चलना बहुत मुश्किल हो रहा था। लालटेन लेकर लोग उन्हें देखने गये। रातको हम यहीं रहे। गंगनाणी काफ़ी ठंडी जगह है, उपत्यका भी यहाँ बहुत सँकरी है।

२८ मईको हम फिर आगे चले। अब देवदारके वृक्ष आने लगे थे। कुछ मील जानेपर एक धर्मशाला (ल्वारनाग) दिखलाई पड़ी। किसी धर्मात्माने धर्मशाला बनवा दी थी, जिसमें कोई गाय-बैलवाला आदमी रहता था। पता लगानेपर मालूम हुआ कि वह ६ आना सेर दूध और ८ आना सेर आटा दे सकता है। हमने कहा, चलो खीर ही बन जाये। खीर बनने लगी। मक्खियाँ बहुत थीं, लेकिन मक्खियों-के खानेवाले गिरगिट (साँड़े) भी कम नहीं थे। आदमीके लेट जानेपर तो वह देहपर पैंतराबाज़ी करने लगते थे। वह काटते नहीं, न उनमें विष होता है, लेकिन नीचेवाले उनसे डरते ज़रूर हैं। खीर-रोटी खा विश्राम कर हम फिर चले। ४ मील तक मामूली रास्ता था, फिर सूखी चट्टीकी चढ़ाई शुरू हुई। यहाँ गंगाके किनारे इतनी सीधी पहाड़ी दीवार खड़ी हो गई है, कि रास्तेको घुमाकर ले जाना पड़ा है। चढ़ाई दो-तीन मीलकी होगी, लेकिन नए आदमीका मन भर जाता है। आस-पास बहुत खेत हैं। अखरोटके कितने ही दरख़्त हैं। सेब, आड़ू जैसे फल यहाँ बहुत अच्छी तरह पैदा हो सकते हैं, लेकिन किसीका उस ओर ध्यान नहीं। सुखीकी सर्दी में मारछा, मँडुवा, चीना, और फाफड़ा ही सनातनसे बोया जाता रहा, लेकिन अबकी साल कुछ गेहूँ भी बोया गया था। फ़सल अच्छी दिखाई पड़ रही थी। यदि ठीक उतर गई तो गेहूँ भी यहाँ होने लगेगा। आलू दस पैसे सेर था, और बहुत अच्छा आलू। काली कमलीवालेकी एक अच्छी धर्मशाला और दो दूकानें थीं। हम लोगोंके रहनेकेलिए एक कोठरी मिली। रातको यहीं विश्राम किया।

२९ मईको हमें पहिले मीलभर चढ़ाई चढ़नी पड़ी। रास्ता सुखी गाँवके पाससे था। फिर उतराई आई। यहाँसे नीचेकी ओर देखनेपर सामने गंगाकी विस्तृत उपत्यका थी, जिसके आस-पासके पहाड़ देवदारोंसे ढँके हुए थे। ४ मीलके करीब झालागाँव था, गाँव रास्तेसे हटकर कुछ नीचे है। हम लोगोंने एकाध जगह छाछ पानेकी

कोशिश की, लेकिन नहीं मिला। उतरते-उतरते गंगाकी अँगनाईमें आए। फिर बागोरी पहुँचे। यह तिब्बती बोलनेवाले सीमान्ती लोगोंका गाँव है। तिब्बतवाले इन्हें रोङ्पा कहते हैं, और दूसरे पहाड़ी जाड कहते हैं। वस्तुतः यह हिन्दू-तिब्बती जाति है। इनके मुखपर तिब्बती मंगोलमुद्रा है, मातृभाषा भी तिब्बती है, लेकिन इन्होंने संस्कृतके साथ काफ़ी हिन्दी रक्त भी स्वीकार किया है। अब भी वह बौद्धधर्मको मानते हैं, लामाकी पूजा करते हैं; लेकिन क्षत्रिय बननेका बहुत शौक़ है, और इसकी कुंजी ब्राह्मणोंके हाथमें है, यह भी वह जानते हैं। बागौरी इनका स्थायी ग्राम नहीं, यह असली रहनेवाले नेलङ्के हैं। वहीं इनके खेत और अच्छे अच्छे घर हैं, लेकिन जाड़ोंमें बर्फ़ पड़नेसे पहले घरोंमें ताला लगाकर नीचे चले आते हैं। बागौरीमें दो ही चार दिन मुक़ाम रखते हैं। फिर उत्तरकाशीसे नीचे डूँड़ामें जाड़ा बिताते हैं। डूँड़ामें इनके मकानोंको हमने खाली देखा था। मईके आरम्भ हीमें बागौरी आ जाते हैं, और दो महीना रहकर नेलङ् चले जाते हैं, इस प्रकार इनके तीन गाँव हैं।

बागौरीमें हमने मामूली तौरसे बातचीत की, और फिर हरशिलमें ब्रह्मचारी-जीके मन्दिरमें चले गए। हरशिल भी अब हरिप्रयाग बननेकी तैयारीमें है। राजा राम ब्रह्मचारीने एक अच्छा मन्दिर और धर्मशाला बनवा दी है, इसमें सदावर्त भी बटने लगी है। ब्रह्मचारी कुछ साल पहिले मर गए। उनके एक ही गूँगा लड़का है। ब्रह्मचारीने अपने लड़केकी तीन शादियाँ कीं, जिनमें एक भानदे इधरके पहाड़ोंकी "हीरराँझा" की नायिका बन गई। स्वामी कृष्णाश्रम वही दिगम्बर त्यागमूर्ति हैं, जिनसे महामना मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयके विश्वनाथ-मन्दिरका शिला-न्यास करवाया था। वह पहिले पुरुष थे, जो ग्यारह-बारह हज़ार फ़ीट ऊँचाईकी गंगोत्रीमें आकर दिगंबर रहने लगे। इस सर्दीमें नंगा रहना मामूली बात नहीं। पहिले जाड़ोंमें वह हरशिल चले आते थे। कहते हैं कि वह राजाराम ब्रह्मचारीकी सबसे सुन्दरी बहू भानदे (भानुदेवी) को गीता पढ़ाते थे; लेकिन वह तो मौन रहते थे, फिर गीता कैसे पढ़ाते ? खैर, पहाड़ियोंने अपनी भाषामें जो गीत बनाया है, उसमें गीता पढ़ानेकी बात है। गीतके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"चवन्नीको पेरा, तें क्या बुरा मानो राजारामको डेरा।
झाका बुणी खाटरे भान दे ! तें भले सीक्यो गीताको पाठ भान दे भक्ताणी।
चीणे तू बंगला, तें ने कानो छोड़ी हरशिलको जंगला, है भान दे।
गूँगानीकी गोली, ते ना भालो भानदे ! अबोलाके बोली॥"

भानदेको कृष्णाश्रमका ज्ञान इतना लगा, कि वह उनके साथ हो गई। कृष्णाश्रमने ससुरको तीन सौ रुपये दे दिए और झगड़ा पाक हो गया। अब वह भगवत्स्वरूप ब्रह्मचारीके नामसे अपने गुरुकी सेवामें रहती है। गंगोत्रीमें कृष्णाश्रमका एक बड़ा बंगला है। पंडा लोग बहुत विरोध करते हैं, लेकिन श्रद्धालु सेठ स्वामीके चरणोंमें शीश नवाने जरूर जाते, और खूब पूजा चढ़ाते हैं।

हमें वैसे ठहरना तो था हरशिलमें क्योंकि नेलङ्वालोंके साथ थोलिङ्की ओर जानेकी सलाह थी, लेकिन बोझी गंगोत्री तकका था, इसलिए सोचा चलो गंगोत्रीसे भी हो आएँ। हरशिलमें एक वैदिक पाठशाला थी। पंडित हरेश्वरजी नौटियाल अध्यापक थे। उनसे चलते चलते ही परिचय हो गया, और हमने बहुतसा सामान यहीं छोड़ दिया। उस दिन ढाई मील चलकर धरालीमें रहे। धराली पचास-साठ घरोंका एक अच्छा गाँव है। यहाँ पँवार राजपूत रहते हैं। कई धर्मशालाएँ हैं और गंगाकी धार बहुत चौड़ी है।

दूसरे दिन बूँदा-बाँदी होने लगी, और सर्दी बहुत बढ़ गई। हम लोगोंको तो सर्दीके मारे कोठरीसे बाहर निकलना मुश्किल मालूम हो रहा था, लेकिन देखा कि एक बंगाली साधु चार अंगुलकी कौपीन लगाए एक पैरपर गंगाके भीतर खड़े जप कर रहे हैं। गिरनेसे रोकनेकेलिए कमरके नीचे एक डंडा लगा रखा था। वह डेढ़ घंटे तक इसी तरह उसमें खड़े रहे। यह कम तपस्या नहीं थी। लेकिन देख रहे थे कि तपस्याका आकर्षण अब कुछ कम होता जा रहा है। श्रद्धाका सुनहरा युग उस समय था, जब कृष्णाश्रम इधर आए थे, और उनकी माँग काशी तक हुई थी। अब एक दर्जनके करीब ऐसे तपस्वी हो गए हैं, इसलिए महिमा कम होनी ही थी। मेरे कुछ दोस्त इसपर अफ़सोस कर रहे थे। मैंने तो कहा कि उत्तराखण्डमें १००दिगंबरोंकी जरूरत है, तब जाकर श्रद्धाका बाँध टूटेगा। योग और समाधिके बारेमें भी यही राय है। छ छ घण्टे समाधि लगानेवाले एक लाख माईके लाल पैदा हो जायँ, तो सारे चमत्कार-आकर्षण खतम हो जाएंगे, और लोग ज्यादा बुद्धिसे काम लेंगे। वर्षाके कारण अगले दिन (३० मई) २ बजेसे पहिले हम धराली नहीं छोड़ सके। देवदारोंकी छायामें चलनेमें बड़ा आनन्द आ रहा था। गंगा के पार पंडोंका गाँव मुखवा दिखाई पड़ रहा था। १८वीं शताब्दीकी अंतिम दशाब्दीमें गढ़वाल नेपालके हाथमें चला गया। नेपालियों (गोरखों) ने गंगोत्रीमें गंगाजीका एक मन्दिर बनवाया और मानसा गाँवके गंगारामके पुत्र कीदू और केदारदत्तको पूजाका काम सौंपा। उसी वक़्तसे गंगोत्री महातीर्थकी स्थापना हुई। आज यदि आप किसी पंडेसे पूछें, तो सतयुगसे इधरकी बात ही नहीं

करेगा। केदारदत्तकी छठी पीढ़ी (केदारदत्त—गौरीदत्त—देवीदत्त— मोतीराम—हरिनन्द—तुलसीराम) में तुलसीराम हैं, जिनकी उम्र आजकल ६० सालकी है।

साढ़े तीन मीलपर साङ्ला (जंगला) का पुल मिला। परलेपार किसीने एक अच्छी धर्मशाला बनवा दी थी। किसी साधुने चिलम पीकर आग छोड़ दी, और धर्मशाला जल गई। पुलपार कर अब हम जिधरसे चल रहे थे, वहाँ देवदारोंकी और बहार थी। एक मीलसे कुछ अधिक चलनेपर एक रास्ता बाँई ओर ऊपरकी ओरसे आता दिखाई पड़ा और दूसरा दाहिनी ओरसे नीचेकी ओर जाता। हमने अपनी सहजबुद्धिका उपयोग किया, और नीचे चल पड़े। आगे दो गंगाओंका संगम मिला। लेकिन वह इतना नीचे तथा संकटपूर्ण रास्तेमें था, कि कोई श्रद्धालु इस प्रयागमें स्नान करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था, हालाँकि आदिप्रयाग-इसे ही कहना चाहिए। पानी देखनेसे एक और जालसाज़ीका पता लगा। वस्तुत: गंगा वह नहीं है, जिसके किनारे गंगोत्री बसी हुई है। नेलङ्से आनेवाली गंगामें जितना पानी है, उससे आधा भी गंगोत्रीवाली धारमें नहीं, फिर वह असली गंगा कैसे? लेकिन गोरखा सैनिकोंकेलिए नेलङ्की ओर जाना आसान नहीं था, इसलिए जो धार उनके रास्तेपर पड़ी, उसीपर उन्होंने गंगामाईकी मूर्ति पधरा दी। आगे एक लोहेका पुल आया, फिर चढ़ाई शुरू हुई। सड़क होपर एक छोटेसे गढ़ेमेंसे लालपानी निकल रहा था, मैंने कहा—इसका नाम गौरीकुंड या रजस्वलाकुंड होना चाहिए। कोई सेठ दो चार हज़ार रुपया खर्च कर दे, तो यह मुश्किल नहीं है, और इसमें भी संदेह नहीं कि इस कुंडका पूजनकर चरणामृत लेनेवाली सौ अपुत्राओंमें पंद्रह-बीस पुत्रवती ज़रूर हो जाएँगी। अगली चट्टीका नाम भैरवचट्टी है। मैंने अपने श्रद्धालु मित्रोंसे कहा कि भैरव महाराज वहीं पैदा हुए थे, जहाँसे यह लाल जल निकल रहा है। मैंने भी चरणामृत लिया, उसमें सोडाका-सा स्वाद आ रहा था, साथ ही कुछ बदबू भी थी। भैरव चट्टीमें अब दो धर्मशालाएँ बन गई हैं। जिस लोहेवाले झूलेसे चौतीस साल पहिले मैं पार उतरा था, वह अब टूट गया है, लेकिन तार अब भी आरपार लगा हुआ है।

साढ़े पाँच बजे फिर हम लोग आगेकेलिए रवाना हुए। हिमालयका सबसे सुन्दर दृश्य हमारे सामने था। चढ़ाई ज्यादा नहीं थी, लेकिन हम नौ हज़ार फ़ीटसे ऊपर चल रहे थे, हमारे फेफड़ोंको साँस लेनेकेलिए ज्यादा काम करना पड़ता था, इसलिए थकावट ज्यादा मालूम होती थी, और हमारे पैर धीरे धीरे उठ रहे थे। यहाँ हमने एक जगह जंगली चना देखा। खानेमें साग खट्टा मालूम होता था। गंगोत्री-

से आधा मील इधर ही गौरीकुंडका पुल मिला। इस पुलको पार कर लोग दिगम्बर तपस्वियोंका दर्शन करने जाते हैं। साढ़े आठ बजे अँधेरा होते होते मैं गंगोत्रीमें पहुँचा, नागार्जुनजी और बोझी पहिले ही पहुँच गए थे। अब वह २४ साल पहिलेवाली गंगोत्री नहीं थी। वहाँ कितने ही पक्के मकान बन गए हैं। एक पंडेकी मददसे हमें एक कोठरी रहनेको मिली। धरालीमें पानी बरसा था, और उन्हीं बादलोंने यहाँ बर्फ़ बरसाई थी। बर्फ़ गल गई थी, और हवा सन-सन बह रही थी, सर्दीका तो कुछ पूछो ही नहीं।

लकड़ियाँ काफ़ी खरीदी थीं, लेकिन हवा इतनी तेज चल रही थी, कि लोग दरवाजा नहीं खोलने देते थे, धुएँके मारे रातको दम घुटने लगा था। गोमुख यहाँसे १४ मील है। रास्तेकी बर्फ़ अभी गली नहीं थी। हमारे ख्यालसे जब यह असली गंगा नहीं है, तो यह असली गोमुख भी नहीं हो सकता था। असली गोमुख तिब्बतकी सीमापर है। आजकल तिब्बतकी सीमाका भी झगड़ा लगा हुआ है। तिब्बती लोग झाँगलाके पुलसे और नीचे मुखवाके रास्तेपर पड़नेवाले गुमगुमा नालेको अपनी सीमा कहते हैं। इस प्रकार टेहरी राज जिसको अपनी सीमा मानता है, उससे चालीस-पचास मील और नीचे वह अपनी सीमा लाना चाहते हैं। झाँगला तकके पहाड़ोंके देवदारुको काटनेकी मनाही हो गई है, और सीमाके झगड़ेका फैसला युद्धके बादपर रख दिया गया है। सबेरे धूप अच्छी निकल आई। लोग गंगामें नहाने गए। हमने सिर्फ मानस स्नान किया। इधर-उधरके कई फ़ोटो लेते रहे। जयपुरके राजाने पत्थरका नया मन्दिर बनवा दिया है। कुछ साल पहिले गोरखा लोगोंका बनवाया मन्दिर गंगामाई बहा ले गईं। गंगाके मन्दिरमें भी हम गए, पुराने मन्दिरसे सम्बन्ध रखनेवाला एक ताम्रफलक है, जिसपर भ्रष्ट संस्कृतमें एक लेख लिखा हुआ है। पंडा लोगोंने बहुत समझानेकी कोशिश की, कि यह तीर्थ भगीरथ महराजाके वक़्त हीसे चला आता है। वह किदू-केदारसे मुखवाके आरम्भको भी नहीं मानना चाहते थे, लेकिन मैंने दो तीन पंडोंसे ऐतिहासिक रहस्य खोज निकाला था। छपराके योगानन्दजी भी कलसे हमारे साथ हो गए थे। अगस्त उपद्रवके बाद जो धर-पकड़ शुरू हुई थी, उसी वक़्त गोपालगंजकी ओरके एक काँग्रेसी कार्यकर्त्ता निकल पड़े। पहिले बेकायदा साधू बनकर गुज़रात और कहाँ कहाँ घूमते रहे, फिर ऋषिकेशमें आकर गंगाके भीतर रोज़ खड़े होनेवाले एक दिगम्बर तपस्वीके चेले बन गए, और कभी कभी गुरुके स्थानपर भी गंगामें खड़े होने लगे। वह ऋषिकेशमें सुनी बातोंका समर्थन कर रहे थे और बतला रहे थे कि ऋषिकेशमें सन्त और सन्तिनियोंकी संख्या बराबर नहीं,

दो सन्त पर एक सन्तिनी है। साधुओंके पाखंडके भीतर उनको रहना पड़ा था, इसलिए उनके प्रति एक विरक्ति आगई थी। वह पुराने कांग्रेसकार्यकर्ता थे, और मुझे अच्छी तरह जानते थे, इसलिए हम लोगोंमें एक तरहकी आत्मीयता स्थापित हो गई। गंगा-माईमें स्नान करनेकी बात पूछी। मैंने कहा ज़रूर स्नान करो और उन्होंने उस ठंडी धारमें पाँच-सात डुबकी लगाई। ऋषिकेशमें भी गंगाका पानी ठंडा रहता है, जाड़ोंमें भी उन्हें एक लँगोटी लगाए खड़ा रहना पड़ता था, इसलिए उन्हींकी हिम्मत थी, जो इतनी डुबकियाँ लगा पाए। भगतलोग दिगम्बरोंके उपनिवेशकी ओर दर्शन करनेकेलिए जा रहे थे, लेकिन हमने जाना पसन्द नहीं किया। परिचितोंमेंसे कोई कृष्णाश्रम और भानदेका भी दर्शन कर आया था। दोपहर बाद जब हम लौट रहे थे, तो गौरीकुंडके पुलके पास एक नंगे काले विशाल दिगम्बर जटाधारीको चट्टानके सहारे खड़ा देखा, खैर उत्तराखंडके एक तपस्वीका दर्शन हमें भी हो गया। पीछे नागार्जुन जी बतला रहे थे, कि यह महात्मा कैलासके रास्तेमें थेलिङ् तक पहुँचे थे। सत्रह-सत्रह हज़ार फ़ीट ऊँचे डाँड़ेको नङ्गे पार करना साहसका काम ज़रूर है, हो सकता है कि कुछ ठहर ठहरकर जाते, तो बर्दाश्त भी हो जाता, एक-ब-एक जानेपर शरीरने इन्कार कर दिया, और महात्माको बुखार आने लगा। वह मौन भी रहते थे, लेकिन मौन तोड़कर नागार्जुनसे उन्होंने बात की और कहा कि अब मैं कैलाश नहीं जाऊँगा। वह वहाँसे लौट आए। ११ हजार फ़ीटपर अभ्यास करनेसे आदमी बारहो महीना बिना कपड़े नंगे रह कर सर्दी बर्दाश्त कर सकता है, इस बातको इन तपस्वियोंने सिद्ध कर दिया। जाड़ोंमें वहाँ कोई भगत नहीं आता। रहनेकेलिए कुटिया बनी हुई हैं। पासमें लकड़ियोंका जंगल है। मालूम नहीं उस वक़्त ये लोग आग तापते हैं या नहीं। काले दिगम्बरकी तोंद देखनेसे यह भी पता लगा, कि इस तपस्यासे शरीर कृश नहीं हो सकता, यदि खानेको खूब घी-शक्कर-आटा मिले।

हरशिलमें (१–७ जून)—३१ मईके दोपहरको हम गंगोत्रीसे लौट पड़े। बोझीको हमने सबेरे ही छोड़ दिया था। नागार्जुन और मेरे अतिरिक्त मेरी जमातमें योगानन्द और जगाधरीके पासकी एक संन्यासिनी थीं। उसी दिन हम साढ़े आठ बजे धराली चले आए। बड़ी दौड़ लगाई थी, इसलिए यहाँ पहुँचनेपर शरीर चूर-चूर हो रहा था।

अगले दिन (१ जून) बड़े सबेरे चल दिए और घंटाभरमें हरशिल चले आए। अब थोलिङ् जानेकी धुन सवार थी। पच्छिमी तिब्बतके एक कोने (छु-मुरती) में १९२५ में मैं ज़रासा गया था। ११वीं शताब्दीमें यहाँके बौद्ध बिहारोंमें संस्कृत

के सैकड़ों गम्भीर ग्रन्थोंके अनुवाद हुए थे, इसलिए मुझे कुछ सन्देह ज़रूर था, कि वहाँ संस्कृतके ग्रन्थ भी होंगे। पीछे नागार्जुनजीने थोलिङ्से लौटकर कहा, कि उनका भी इसपर विश्वास है, लेकिन वे ग्रन्थ तिब्बती सरकारकी मुहर लगकर बन्द चीज़ोंके भीतर है। उत्तरकाशीकी बुद्ध प्रतिमा और उसपर नागराजके लेखको देखकर मेरी और भी इच्छा हुई, कि कमसे कम थोलिङ् चले चलें। लेकिन मैं एक माससे ज्यादा दे नहीं सकता था, यह भी दिक्कत थी। उस दिन नंबरदार दिलीपसिंहसे भेंट की। उन्होंने कहा, कि नेलङ् वाले ऊपर ७,८ दिन बाद जायेंगे।

पंडित हरेश्वरजीसे हमारा उसी दिन अच्छा परिचय हो गया था, और वह हर तरहसे कोशिश करते थे, कि हम लोगोंको किसी तरहकी तकलीफ़ न हो। उनके विद्यार्थी हमारे लिए भी खाना बना देते थे।

पंडित हरेश्वरजीने बतलाया कि यहाँसे मुखवाके रास्तेपर पहाड़पर किसी राजाकी राजधानी थी, उसकी टूटी फ़ूटी दीवारें और दूसरी चीजें अब भी दिखाई पड़ती हैं। हम लोग खाना खाके पहिली जूनको इस पुरानी राजधानी कछोराकी ओर रवाना हुए। चढ़ाई चढ़नी पड़ी और शायद एक मीलसे ज्यादा। ऊपर बस्तीके चिह्न साफ़ दिखाई देते थे। कोई कोई गढ़े हुए पत्थर भी मिले। परित्यक्त खेत तो बहुतसे थे। पहाड़ीके ऊपर पुराने किलेका ध्वंसावशेष आजकल सभी जगह वीरान पड़ा है। जिस जगहपर गढ़े हुए पत्थर दिखलाई पड़ते हैं, वहाँ खुदाई करनेसे शायद कुछ पुरानी चीज़ें भी मिलें। पंडितजीने इस स्थानकी पुरानी कथा सुनाई। पहिले गुमगुमासे सुखीकी चढ़ाई तक एक राजा राज करता था, जिसकी राजधानी कछोरामें थी। उसका भाई सीमामें रहता था। दोनों भाइयोंमें झगड़ा हो गया। छोटा भाई भागकर भोट चला गया और वहाँसे भोट राजाने उसकी मददकेलिए सेना भेजी। उसी वक़्त कछोरा बर्बाद हुआ। कोई कोई कहते हैं कि कछोरा नहीं, सीमा राजधानी थी। और भोट सैनिकोंने अनजाने अपने मित्रके निवास कछोरामें आग लगा दी। ३ जूनको हम कछोरा गए। बड़े कछोरासे पहिले छोटा कछोरा मिला। यहाँ पहिले बहुतसे खेत थे, जिन्हें सरकारने "रक्षित वनषण्ड" बना दिया और अब पुराने खेतोंमें देवदारुके दरख़्त लग गए। छोटे कछोरासे आगे थोड़ी सी चढ़ाई आई। आध मील जानेपर फिर खेतोंकी विस्तृत भूमि आ गई। कुछ खेत अभी भी हैं। कछोरा राजमें पहिले आठ बड़े बड़े गाँव थे, जिनमें गरतोक, रतोटिया, भन्डार, कोटा (गुमगुमा) यह चारों अब ध्वस्त हो गए हैं, सीमा, कछोरा, पुराली और सुखी अब भी किसी न किसी हालतमें वर्त्तमान हैं। कछोराके ध्वंसके इतिहासके बारेमें और भी मालूम

हुआ : "दो भाई थे। राज दोनोंमें बँट गया। परंपराके अनुसार बड़े भाईको ज्येष्ठांश मिलना चाहिए था, लेकिन छोटेने न देनेकेलिए झगड़ा कर लिया। जब अपनेसे काम नहीं बना, तो छोटा भोट जाकर वहाँसे सेना ले आया। पहिले छोटे भाईकी राजधानी सीमा आई। भूलसे भोट सैनिकोंने सीमाको जला दिया। कछोरा जानेपर वहाँ देवीके मन्दिरमें साठ शत्रु सैनिक बन्द मिले। उन्होंने देवीमन्दिर मार्कंडेयमें आग लगा दी। राजा घायल होकर मर गया। उसके वंशज भागकर रमौली चले गए।" नीचे मैंने किसी पुराने मन्दिरके पत्थरके चौखट देखे। पत्थरोंमें लोहा डालनेकेलिए छेद भी बना था। पहिले इधर नहर भी आती थी, जिससे कि ये सारे खेत आबाद थे। पुरानी बस्तीके अवशेष ये कुछ गढ़े पत्थर और दो एक खूबानियोंके वृक्ष हैं। वहाँसे एक मील और चढ़ाई चढ़नेके बाद हम एक जगह पहुँचे। यहाँ चट्टानमें गणेशकी द्विभुज मूर्त्ति उत्कीर्ण थी। उसके एक हाथमें परशु था, पासमें किसी मन्दिरके शिखरका आमलक था, जिसमें इकतीस आमलक रेखाएँ थीं। इसे कहीं दूसरी जगहसे लाया गया बतलाते थे। पासकी चट्टानपर १९ अक्षरोंका एक लेख खुदा हुआ था। दूसरी पंक्तिमें सिर्फ़ एक अक्षर था। अक्षर स्पष्ट नहीं थे। लेकिन "क, य, ज," बतला रहे थे, कि यह १०वीं सदीके आसपासमें लिखा गया था। मैंने लेखको अपनी डायरीमें नोट कर लिया। यहाँ स्ट्रावरी खानेको मिली—स्ट्रावरीको यहाँके लोग फलोग कहते हैं।

पंडित हरेश्वरजीने बतलाया कि भटवारीसे आध मील ऊपर भी कोई राजा रहता था, जहाँ कुछ पत्थरकी मूर्त्तियाँ अब भी मौजूद हैं। इसी तरह सुखीके ऊपर भी एक राजा रहता था। उनका कहना था, नेलङसे उत्तरकाशी तक ५ राजा थे। हरसिलको होसिङ (होसलिन) नामके एक अंग्रेजने बसाया। उसीने पहिले-पहिल यहाँसे देवदारकी लकड़ी नदीके द्वारा नीचे भेजी, लोगोंको ख्याल भी नहीं था, कि इन लकड़ियोंका कोई दाम भी हो सकता है। होसलिनका बँगला अब भी मौजूद है। देवदारकी लकड़ीका यह एक दोतल्ला मकान है। कमरे बड़े-बड़े हैं, जिसमें शयनगृह, पाठगृह, भोजनगृह, बैठकखाना और स्नानागार भी हैं। जाड़ेमें मकानको गर्म रखनेका भी इन्तिज़ाम था। लकड़ियोंमें कुछ कारुकार्य भी देखनेमें आया। दरवाज़े खूब बड़े-बड़े हैं। बाहर साहबने एक सेबका बाग़ लगाया था, जिसके अब दो-एक ही वृक्ष रह गये हैं। होसलिनने चाहा कि वह अपनी सन्तति यहाँ छोड़ जाय, इसीलिए उसने मुखवाके एक बाजगीकी लड़कीसे शादी की। लेकिन सन्तान साहेब बने बिना नहीं रह सकी। उन्होंने हरसिलको बेंच दिया।

चालीस-पचास सालसे इस बँगलेमें कोई नहीं रहता, अब यह राजकी सम्पत्ति है। थोड़ेसे खर्चसे इसे मरम्मत करके अच्छा बनाया जा सकता है। होसलिनने यहाँसे पहिले-पहिल लकड़ियाँ भेजी थीं। आज बड़े पैमानेपर देवदारकी लकड़ियाँ गंगामें तैरती हरद्वार पहुँचती हैं। उसने सेबके बाग़ लगाये थे और आज भी राजोद्यान तथा ब्रह्मचारीके बाग़में सेब, नासपाती, बिही, खूबानी आदिके वृक्ष लगे हुए हैं। नये सेबके तैयार होनेमें तो अभी कई महीनोंकी देर थी, किन्तु ब्रह्मचारीजीकी दूकानसे मुझे पिछले सालके सेब खानेको मिल गये। होसलिनने ही पहिले इस इलाक़ेमें आलूकी खेती शुरू की, आज इधरके सभी गाँवोंमें आलूकी खेती खूब होती है।

पंडित हरेश्वरजी नैटियालके विद्यार्थी रुद्री और यजुर्वेदका स्वर-सहित अध्ययन करते थे। ३३ साल पहिले मैंने भी बनारसमें इन्हींकी तरह हाथ ऊपर-नीचे करते रुद्री और यजुर्वेद संहिताको पढ़ा था, लेकिन उस वक्त अर्थ समझनेकी क्षमता नहीं रखता था। मैंने रुद्रीको उठाकर देखा। मालूम हुआ, उसको रुद्री कहना ही ग़लत है। वस्तुतः वह इन्द्री है, क्योंकि उसमें इन्द्रके मन्त्र ही सबसे अधिक हैं। जान पड़ता है, इन्द्र आदि देवताओंके मन्त्रोंका कोई एक संग्रह था, जिसका पहिले कोई दूसरा ही नाम रहा होगा, पीछे शैवोंने इसे दखल कर लिया और नाम बदलकर रुद्राष्टाध्यायी कर दिया।

इधर जंगलोंमें जिम्बू बहुत होता है। जिम्बूको यहाँके लोग लादू कहते हैं। शायद पलान्डु (प्याज़) भी इसी लादू (पलाडू) से बना है। लादू है जंगली प्याज़, लेकिन इधर इसे देवताओंका प्रिय मसाला माना जाता है। यहाँके लक्ष्मीनारायणके मन्दिरमें रोज़ इसको डालकर भगवानकेलिए दाल-तरकारी तैयार की जाती थी। गंगोत्रीकी गंगामाई भी उसे बहुत पसन्द करती हैं। पंडा लोग यात्रियोंको उसे प्रसादके तौरपर देते हैं। एक सेठ-सेठानीको—जो शायद अग्रवाल थे—भी पंडाने लादू दिया था। उन्होंने तरकारीमें छोड़ा। सेठानीको पसन्द नहीं आया। वह शिकायत कर रही थीं। मैंने कहा—"राम-राम! आप क्या कर रही हैं, आप यहाँ देवताओंका प्रसाद लेने आई हैं, या शाप। यह कैलाशकी बूटी है, प्याज़ नहीं है। यदि इसकी गन्ध आपको अच्छी नहीं लगती, तो अपना दुर्भाग्य समझिए। हो सकता है, किसीको अगरबत्तीका धूम भी बुरा लगे।" उनके साथका पंडा बहुत खुश हुआ। उसने मेरा समर्थन करते हुए कहा—"आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं—हम लोग प्याज़का भोग देवताको नहीं लगा सकते, लेकिन लादूका भोग हमेशासे लगता आया है।" सेठानी कहने लगीं—"मुझे तो इसकी गन्ध प्याज़ जैसी मालूम होती है।" पंडा और मैं

दोनों सहमत थे, कि यह नाकका क़सूर है। नौटियालजीकी श्रद्धा और मेरे प्रति सम्मानको देखकर सेठसेठानी यह तो जानते ही थे, कि यह आदमी शास्त्रवेद जानता है। मैंने बड़ी गम्भीरताके साथ फ़तवा दिया—"आपको यदि इस यात्राका पुण्य लेना है, तो लादूके प्रति, अतएव देवताओंके आहारके प्रति, जो अपमान किया है उसका मार्जन करें, उसे दोनों वक़्त भोजनमें डालकर खायें। छौंक-बघार और मसालेके तौरपर इस्तेमाल करें।" सेठानी भयभीत तो हो गई थीं, पर मालूम नहीं, उन्होंने देवताओंको प्रसन्न किया, या नाराज़ कर ही लौट गईं।

गंगोत्रीसे बद्री बाबू और श्रीमती नागर भी लौट आई थीं। वह लोग भी वहाँ दो-एक रात ठहरे। बद्री बाबूको तो प्याज़ पसन्द थी, मैंने श्रीमती नागरको भी लादू माहात्म्य सुनाया, लेकिन मेरे व्यंगोंसे बहुत परिचित थीं, इसलिए उनपर जादू नहीं चल सका।

चौंतीस साल पहिले ऋषीकेश तपोवन था। अब वह अयोध्याकी तरह एक शहरके रूपमें परिणत हो गया है और साधुओंमें वही जीवन दिखाई देता है, जो अयोध्यामें। उत्तरकाशीमें साधुओंकी जमात बढ़ती जा रही है। कई अच्छे-अच्छे मकान बन गये हैं। लड़ाईके कारण नहीं हो सका, नहीं तो वहाँसे टेहरी तक मोटर-का रास्ता बन गया होता, लेकिन लड़ाईके बाद उसे कौन रोक सकता है। उत्तरकाशी भी ऋषीकेशके क़दमोंपर चल रही है। अब दूकान गंगोत्रीमें भी बढ़ रही है और वह भी उस दिनका सपना देख रही है, जब कि वहाँ भी कमसे कम गर्मियोंकेलिए ऋषीकेश बस जायगा।

तिब्बतके रास्तेमें—अब हम लोग आगे जानेकी कोशिशमें थे। नागार्जुनजी तो अनिश्चित कालकेलिए तिब्बती भाषाके अध्ययनार्थ जा रहे थे, किन्तु मैं तीन, चार हफ़्तेसे ज्यादा नहीं दे सकता था। मेरा इरादा था थोलिङ जाकर लौट आनेका। सोचा गया, यहाँसे घोड़ा और आदमी लिया जाय तो काम ठीक समयपर सम्पन्न हो सकेगा। मेरे एक पैरमें कुछ चोट आ गई थी, इसलिए भी चलनेमें दिक़्क़त थी। ढूँढ़ते-ढाँढ़ते नेलङका शिवदत्त नामक तरुण मिल गया। बहुत ही धार्मिक स्वभाव-का नौजवान था। मेरे बारेमें कितनी ही बातें लोगोंमें फैल गई थीं। मैं फर-फर तिब्बती बोलता ही था, ल्हासा कई बार हो आया था, मेरी लिखी तिब्बती भाषाकी प्रथम पुस्तक और व्याकरण मौजूद थे, इसलिए ख्याति बढ़नी ज़रूरी थी। शिव-दत्तने जब सुना कि मैं थोलिङ जाना चाहता हूँ, तो वह चलनेकेलिए तैयार हो गया। मजूरी रुपया रोज़ और ख़ाना तै हुई। उसने ढूँढ़-ढाँढ़कर दो रुपये रोज़पर अपने

चचाकी घोड़ी ले कर ली। उत्तरकाशीमें मैंने १०० रुपयेका एक नोट भुनाया था, कुछ फुटकर पैसे भी थे। लेकिन थोलिङ जानेकेलिए और पैसोंकी ज़रूरत थी। मैंने जब अपना सौ रुपयेका नोट भुनानेकेलिए भेजा, तो पता चला, यह नहीं भुन सकता, क्योंकि किसी बैङ्ककी मुहर थी। नीचे होता, तो इसे अच्छा समझा जाता, लेकिन यहाँ ऐसा दाग़ी नोट लेनेकेलिए कोई तैयार नहीं था! सारा गुड़ गोबर होना चाहता था। उसी दिन (७ जून) जयपुरके एक बड़े सेठ आ गये। वैसे होता, तो कुछ दिक़्क़त भी होती, लेकिन किसीने उनके सामने मेरी महिमा गा दी थी, और रातको वह खुद "मैं आ सकता हूँ" कहकर मेरे पास आये। परिचय हो गया। नोटकी दिक़्क़त मैंने कही। उन्होंने पाँच-पाँच रुपयेके बीस नोट दे दिये, चलो गंगामैयाने यह समस्या भी हल कर दी।

८ जूनको सत्तू खाकर हम तीनों आठ बजे रवाना हुए। मैं घोड़ीपर था। धराली और साङला (झाङ्ला या जाङ्ला नहीं)के आगे कोपङ्में भेड़वालोंके पड़ावमें देवदारके नीचे ठहरे। यहीं चाय-सत्तू हुआ। कुछ देर विश्राम करके १ बजे फिर चले। आगे गंगोत्रीका रास्ता छोड़कर बायेंका रास्ता पकड़ा। पुराने झूलेके थोड़ा पहिले हीसे देवदारकी अत्यन्त रमणीय स्थली आई—शायद हिमालयमें यह अति-सुन्दर देवदार वन है। मन कहता था, कि यहीं एकाध महीने ठहरा जाय। देवदारके घने हरित पत्रोंकी छायाके भीतर सूर्यकी किरणें घुस नहीं सकती थीं, नीचे सूखे सूचीपत्रोंका गद्दा बिछा हुआ था, चारों ओरसे देवदारकी भीनी-भीनी सुगन्ध आ रही थी। सड़कके किनारे एक जगह थोड़ासा खुलासा स्थान था। यहाँ नेलङका एक परिवार पड़ा हुआ था। उनकी गायें और चँवरियाँ जंगलमें चर रही थीं। घरकी तरुण लड़की बहुमूत्र रोगसे अत्यन्त पीड़ित थी। उन्होंने दवा माँगी, लेकिन हमारे पास दवा न थी। मैंने दही-भात खिलानेकेलिए कहा। आगे कुछ दूर और पर्वत-पृष्ठकी समतल भूमि मिली, फिर उतराई और चढ़ाईका रास्ता आया, जो कहीं-कहीं अत्यन्त कठिन था। रास्ता बनानेकेलिए सारा श्रम और धन नेलङ्वाले खर्च करते हैं, टेहरी दरबार कुछ नहीं देता—अभी इस भूमिकेलिए तिब्बत और टेहरी दर्बारमें तनातनी भी है। दोपहर बाद हीसे ऐसा रास्ता आ गया था, कि मैं घोड़ीपर नहीं चढ़ सकता था। गरदङ्के काष्ठपुलसे थोड़ा पहिले ही हमें रातकेलिए ठहरना पड़ा। चारों ओर टूटी चट्टानें पड़ी थीं, और गंगा बड़े ज़ोरसे गर्जन करती हुई बह रही थीं। हवा तेज़ थी, इसलिए सर्दी भी काफ़ी थी। आसपास जंगली बथुआ बहुत था। हमने बथुआका चर्बी-आलू-चावल-लादू डालकर थुक्पा पकाया। चाय

वनी। घोड़ीके घासकेलिए ज्यादा तरद्दुद करनी पड़ी।

९ जूनको सवेरे ६ बजे फिर रवाना हुए। नेलङ्‌वालोंके बनाये लकड़ीके पुलको पार किया। रास्ता बहुत कड़ा था। वस्तुतः इस रास्तेके बनानेमें आदमीने बहुत कम हाथ लगाया है। एकाध जगह खूबानीके वृक्ष दिखाई पड़े, जो बतला रहे थे, कि यहाँ कभी आदमी बसते थे। पुल पार होते ही हमें पदुम वृक्ष (सरो, शुग्पा या बलसाम्) मिलने लगे। धीरे-धीरे देवदार छोटे और विरले होते-होते खतम हो गये; फिर पदुम वृक्ष ही नेलङ्‌से कुछ मील पहिले तक मिलते गये। आज कई जगह ऐसे खतरनाक रास्ते मिले, जहाँ नीचेकी ओर खिसकती सूखी मिट्टी और कंकड़ियों-परसे हमें पार होना पड़ा। एक जगह शिवदत्तको घोड़ीकी पीठसे सारा सामान उतार-कर पार करना पड़ा। घोड़ीको भी लगाम पकड़ कर ले जाना पड़ा। इधरकी घोड़ियाँ भी छिपकलीकी औलाद हैं, नहीं तो इस रास्तेको पार करना कुछ आसान नहीं है। एक जगह एक साधू लौटते मिले। बेचारे रास्ता भूलकर गंगोत्री न जा इधर चले आये थे। जहाँ दो रास्ते होते हैं, वहाँ हिन्दीमें एक मोटा साइनबोर्ड लगाना चाहिए था। किंतु यहाँ एक छोटीसी तख्ती एक वृक्षपर ऐसी जगह लगा रखी थी, जिसपर बहुत कम आदमियोंका ध्यान जा सकता था। गरदङ्—शायद इसीको नौटियाल गरतोक कहते थे—के सामनेवाले एक पहाड़को दिखला कर शिवदत्त बतला रहे थे, कि पहिले वहाँ दुर्ग था, बस्ती भी थी, वहाँ अब भी खूबानीके वृक्ष पाये जाते हैं। नेलङ्‌वालोंकी भेड़ें जहाँ-तहाँ आती मिलीं। ६ मील चलकर हमने सत्तू खाया। फिर चले। नेलङ् पहुँचनेसे मील भर पहिले ही जंगल खतम हो गया। अब तिब्बत-की तरह नंगे पहाड़ और नंगी अँगनाई दिखाई पड़ रही थी। नेलङ् खतम होनेके पहिले मेलिङ और चोरघाट गंगाका संगम था। शिवदत्त बतला रहे थे, कि इधरसे जाकर आदमी बुशहर (कनौर)में पहुँच सकता है। रास्तेमें एक जगह नालेमें भी बर्फ़ मौजूद थी, हम उसे पार हुए और छ बजे नेलङ् पहुँच गये।

नेलङ् ६०, ७० घरका एक बड़ा गाँव है। मकानोंकी छतें लकड़ीकी हैं, और दीवारमें भी बहुत अधिक लकड़ी बरती गई है। अभी गाँवमें सन्नाटा था। घर पीछे एक-एक आदमी आकर जौके खेतोंको बोकर चले गये थे, लेकिन फाफड़ाके बोनेमें देर थी। घरोंमें ताले बन्द थे। भटवारीके कितने ही पहाड़ी भेड़-बकरियोंपर अनाज लादकर नमक बदलने आये थे, लेकिन अभी नमक लानेवाले भोटियोंका कहीं पता नहीं था। एक बखारके सायवानमें हम लोगोंने डेरा डाला। हवा खूब चल रही

थी, इसलिए सर्दी भी काफ़ी रही, लेकिन जब आदमीको दो-तीन हफ़्ते अभ्यस्त हो जाता है, तो सरदी उतनी कड़ी नहीं मालूम होती।

१० जूनको घोड़ी ले तीनों मूर्त्ति थोलिङ् चले। क़रीब एक मील चलनेपर गंगा दो चट्टानोंके बीचमें बह रही थी। हम सुन चुके थे, कि यहाँ एक विकराल दैत्य रहता है, जो हर साल न जाने कितने प्राणोंकी बलि लेता है। पुलके देखते ही इस बातकी सच्चाईपर पूरा विश्वास हो गया। पुल क्या था, दो गोल-गोल लट्ठे रखे थे। वह एक तरफ़ एक हाथ चौड़ा था, और दूसरी ओर एक बित्ता रह गया था। लट्ठोंके ऊपर छोटी-छोटी टहनियाँ बिछाई हुई थीं, जिनके ऊपर पत्थरके टुकड़े रखे थे। चलनेपर लट्ठे हिलते थे, उनसे ज़्यादा टहनियाँ हिलतीं, उनसे भी ज़्यादा पत्थर काँप रहे थे और नीचे प्रलय कोलाहलके साथ गंगाका खौलता पानी बह रहा था, जिसके चार ही पाँच हाथ आगे बड़ी-बड़ी चट्टानें थीं। इसमें गिरनेवालेकी मौत ठीक योगियोंकी मौत होती, ज़रा भी सोचने-समझनेका मौक़ा नहीं मिलता, और शरीरके पचासों टुकड़े हो जाते। यह नज़ारा सामने था, जब हम पुल पार करने जा रहे थे।

शिवदत्त तो सामान पीठपर लादे बकरीकी तरह खट-खट करते पार हो गया। मैंने अपने हृदयके भावोंकी ज़रा भी छाप चेहरेपर आने न दी, और उस पार पहुँच गया——हाथ-पैर तुड़वाकर अपाहिज बन कर जीनेकी यहाँ सम्भावना ही नहीं थी, फिर ऐसी मृत्युसे डरनेकी क्या ज़रूरत? ऊपरसे मैं यह भी जानता था, कि यह दैत्य हज़ार आदमियोंमेंसे एककी बलि लेता है, मैं खुशीसे ९९९वाली नाम-सूचीसे अपना नाम क्यों कटाता? लेकिन, नागार्जुनजीकेलिए बड़ी समस्या थी। हिम्मत छोड़ देना भी बुरा था, आख़िर दुनिया क्या कहती? लेकिन जब हिलते लट्ठोंको देखते, टहनी और पत्थरोंको काँपते देखते, नीचे मृत्युको अट्टहास करते देखते, तो शरीरका सारा ख़ून जमने लगता। मैंने उन्हें मन्तर बता दिया, कि नीचेकी ओर मृत्युके मुख-विवरको मत देखो। लेकिन अट्टहास उनके ध्यानको अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता। ख़ैर, सोच-साचकर उन्होंने क़दम आगे बढ़ाया। मालूम होता था, एक-एक पैर अस्सी-अस्सी मनके हैं। ऐसी जगहोंपर जहाँ सबसे ख़तरेकी गति है, वहाँ तो सरपट मारते पार होनेकी ज़रूरत होती है। इस पार आये, तो मैंने कहा——"जय अपराजिता माईकी।" अपराजिताने अपने सिन्दूरकी रक्षा अपने ही की।

ख़ैर, हम तीनों तो उधर पहुँच गये, सामान भी पहुँच गया, लेकिन घोड़ी उस पुलको कैसे पार कर सकती थी? शिवदत्तने घोड़ीको तब भी लानेकी कोशिश की,

लेकिन पुल सूँघकर वह चार क़दम पीछे हट जाती। मैंने भी कहा, घोड़ीको मारना ठीक नहीं है। हम दोनों इस पार बैठे। शिवदत्तने गाँवमें जाकर दो पहाड़ियोंको आनेकेलिए राज़ी किया। कई रस्सियोंको जोड़कर एक बड़ा रस्सा बनाया गया, और रस्सेको एक आदमी नदीके दूसरे पार ले गया। पुलसे सौ-डेढ़-सौ गज़ नीचे नदी-की धार चौड़ी हो गई थी। यहाँ घोड़ीके गलेमें रस्सी बाँधी गई, उसे पानीमें डालकर खींचने लगे। मुझे यह ढंग बुद्धिपूर्वक नहीं मालूम होता था। मध्य-तिब्बतमें हमें कितनी ही बार घोड़ोंको नदी पार कराना पड़ा था, लेकिन वहाँ रस्सा-वस्सा नहीं बाँधा जाता, ऐसे ही हल्ला करते पत्थर फेंक-फेंककर घोड़े-खच्चर पार करा दिये जाते हैं। लेकिन देश-देशका अपना धर्म होता है, यहाँवालोंने यही विधि निकाली है। सम्भव है, अनाड़ी पहाड़ियोंकी जगह नेलङवाले होते, तो ज़्यादा अक़लसे काम लेते। पानीमें पड़नेपर घोड़ी तैरने लगी, उसे रस्सीके सहारे तिरछे पार होने देना चाहिए था, लेकिन पहाड़ियोंने सीधे खींचना शुरू किया, रस्सी टूट गई और घोड़ी बह चली। उसने पैर हिलाया, तो गलेका लम्बा रस्सा तीन पैरोंमें लिपट गया, संयोगसे थोड़ी दूरपर गंगाकी दो धारें हो गई थीं, बीचमें एक टापू आ गया था, घोड़ी उसीपर जाकर खड़ी हुई। उसके दोनों पिछले पैर और एक अगला पैर रस्सेसे छाना हुआ था। १० बजेसे २ बजे तक आदमी उस टापूपर जानेकी कोशिश करते रहे, लेकिन तेज़ धारामें किसीका पैर जम नहीं सका, हताश होकर लौट आये। घोड़ी डूबकर तो नहीं मरी, लेकिन अब भूखों मरनेकी सम्भावना थी। उस टापूमें पत्थर थे पानी मिल सकता था, लेकिन हम किसी तरह भी वहाँ एक मुट्ठा तिनका नहीं भेज सकते थे। मैंने डायरीमें लिखा—"हाथ-पैरसे बँधी घोड़ी वहीं मृत्युकी प्रतीक्षा कर रही है, शामको हिमगलित जल बहुत बढ़ जायेगा। तीनों भोटियोंने कहा—अभी नहीं मरेगी। कल जलके उतारकी प्रतीक्षामें गाँवमें बैठे हैं, हृदयमें रह-रहकर शीतल वायुका झोंका लग जाता है। इस पुल और गंगाने बहुतोंकी बलि ली है।"

मुझे घोड़ीके बचनेकी एक सैकड़ा भी उम्मेद नहीं थी। आज (१० जून) ही नमक लेकर बहुतसे भोटिया आ गये, जिनमेंसे कुछने घोड़ीके निकालनेकी कोशिश की। अगले दिन (११ जून) मैंने शिवदत्तसे कहा कि मैं फ़ी आदमी दो-दो रुपया दूंगा, किसी तरह भी आदमियोंको ले जाकर वहाँसे घोड़ीको निकालो। शिवदत्त ५ भोटियोंको लेकर गया। मैंने गाँवसे थोड़ा नीचे उतरकर वहाँसे देखा, घोड़ी उसी तरह चुपचाप पड़ी है। मैं बिल्कुल निराश था, इसी समय ग्यारह बजे किसीने

ख़बर दी—घोड़ी निकल आई। अब घोड़ी लेकर थोलिङ जानेका कौन नाम लेता? घोड़ी छोड़ते तो हमारे पास सामान इतना था, कि शिवदत्त उसे उठाकर चल नहीं सकता था। दूसरा रास्ता यह था, कि मैं हफ़्ते-दो हफ़्ते नेलङ्में ठहरूँ, लोग आवें, नया पुल बने, फिर थोलिङ्केलिए चलें। मेरे पास इतना समय नहीं था, जुलाईमें मुझे लौटना था। मैंने लौटनेका निश्चय किया। नागार्जुनजीसे कहा—"तुम भी चलो दार्जिलिंगमें तिब्बती पढ़ना"। लेकिन उनका संकल्प बहुत दृढ़ था, और वह उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। पाथेय और उपहार उनके साथ छोड़ १२ जूनको शिवदत्त और घोड़ीको लेकर मैं लौट पड़ा।

मसूरीकी ओर—लौटते वक़्त हमारे क़दम बड़ी तेज़ीसे बढ़े। भैरवघाटीके पुराने पुलके पास उसी रमणीयतम देवदार वनमें नेलङ्वालोंके पास चाय पी। कोपङ्में शेरसिंह मिले। कहनेपर उन्होंने विश्वास दिलाया, कि हम अच्छी तरह नागार्जुनजीको थोलिङ् पहुँचा देंगे। साढ़े १२ घंटेमें २५ मील चलकर उसी दिन शामको हम हरसिल पहुँच गये। शिवदत्त मंसूरी तक हमारे साथ चलनेकेलिए तैयार हो गये, इसलिए दूसरे दिन (१३ जून) आकर हम गंगनाणीमें ठहरे। अब वर्षाके दिन थे, इसलिए रास्तेमें भी भीगनेकी नौबत आती, लेकिन आनन्द स्वामीने एक बरसाती दे दी थी, उसने बहुत मदद की। नेलङ्से हम तीसरे ही दिन उत्तरकाशी पहुँच गये होते, लेकिन गंगोरी पहुँचते-पहुँचते वर्षा तेज़ हो गई, और हमें वहीं रह जाना पड़ा। १५ जूनको सबेरे ही हम उत्तरकाशी पहुँच गए। आनन्द स्वामीसे मिले। "दर्शन-दिग्दर्शन"के प्रूफ़के दो पुलिन्दे आये थे। मैं प्रूफ़ोंके देखनेमें लग गया। मंसूरी तककेलिए स्वामी गणेशानन्द साथी मिल गये।

मुझे प्रूफ़ देखकर यहींसे लौटा देना था, इसलिए १६ जूनको ढाई बजे तक मुझे उत्तरकाशीमें रहना पड़ा। स्वामी गणेशानन्दसे सलाह हुई, कि वह डूँड़ामें पहुँचकर ठहर जायें। शिवदत्त और मैं भी डाकख़ानेसे छुट्टी पाकर चले। बरसातके कारण पर्वत रोम-रोमसे पुलकित हो गये थे—चारों तरफ़ हरी-हरी घास दिखाई पड़ती थी। डूँड़ामें नेलङ्वाले लोगोंके घरोंके बाहर बड़े-बड़े पत्तेवाले धतूर उगे थे। गोबर और लेंड़ीकी इतनी खाद जमा हो गई थी, कि जिससे पचासों एकड़ खेत पाटे जा सकते थे। डूँड़ामें नेलङ्वालोंने हाल हीमें अपनी बस्ती क़ायम की है, और दो-तीन घरोंको छोड़कर बाक़ी मामूली झोंपड़ियाँ हैं। रातको हम लोग डूँड़ामें ठहरे। शिवदत्तने रोटी-भाजी बनाई, तीनों मूर्त्तियोंने डटकर भोजन किया।

स्वामी गणेशानन्द छिपे रुस्तम निकले। उन्होंने आनन्द स्वामीसे मेरी तारीफ़

तो बहुत सुन ली होगी, लेकिन अब उनका गुण प्रकट होने लगा। वह उन जगहोंका भी चक्कर लगा आये थे, जहाँ जानेका मैंने कभी स्वप्न देखा था, और वह स्वप्न अभीतक पूरा नहीं हुआ। वह यारकन्द और चीनी तुर्किस्तान हो आये थे। ल्हासा और मानसरोवरको भी उन्होंने देखा था। जावामें भी वह रहे, और फ्रेंच हिन्दी-चीनके सेगोङ्को भी देख आये थे। गढ़वाल और शिमलाके पहाड़ तो सदा उनके पैरोंके नीचे रहते हैं। मेरे सामने एक ऐसा आदमी था, जिससे मैं ईर्ष्या कर सकता था। यह ज़रूर था कि उनमें अन्तर्दृष्टि नहीं थी, और न क़लमकी ताक़त ही, इसलिए हज़ारों वर्षोंसे जैसे हमारे फक्कड़-साधू काकेशश, चीन आदि दुर्गम देशोंमें घूमते अपना चिह्न भी नहीं छोड़ पाये, उन्हीं आदमियोंकी भाँति स्वामी गणेशानन्द भी नाम रहे।

१७ जूनको हम ६ ही बजे रवाना हुए। धराशूमें गुड़ खाकर चाय पी। खानेकेलिए हम एक मील और आगे एक दूकानमें ठहरे। भोजन हुआ, और चार बजे रवाना हुए। नाला पार करके हमने टेहरीका रास्ता छोड़ा। सुना था, भल्याणासे मसूरीका रास्ता अच्छा है, लेकिन हमने बरस दिनका नहीं, छ महीनेका रास्ता पकड़ा—वह रास्ता जिससे पहाड़ी लोग आते-जाते हैं। दाहिनी ओर कुछ खेत थे, उन्हीं में से हमारा रास्ता था। गर्मी थी, इसलिए स्वामी गणेशानन्दने कुछ सामान तो शिवदत्तको दे दिया था, और कुछको शिरपर रख लिया था। उनके बदनपर एक लँगोटी रह गई थी, जिसमें पेट खूब बाहरकी ओर निकला हुआ था। कुछ औरतें खेतमें काम कर रही थीं। वह स्वामीको देखकर खूब हँसीं, लेकिन स्वामी 'कुत्ते भूँकते रहते हैं, हाथी चला जाता है'-की कहावतको चरितार्थ कर रहे थे। आगे हम पहाड़पर धीरे-धीरे ऊपरकी ओर चढ़ने लगे। चारों ओर चीड़के वृक्ष थे। एक जगहसे देखा, नगुणकी चट्टी दूर नीचे दीख रही है। चढ़ाई बहुत मुश्किल नहीं थी, लेकिन आगे नालेमें बहुत कड़ी उतराई आई। उतराई उतरनेके बाद ही वैसी ही चढ़ाई शुरू हुई। अब मैं पहाड़ी यात्रासे अभ्यस्त हो गया था, इसलिए किसीसे पीछे रहनेवाला नहीं था। शामको ८ बजे लालूरी पहुँचे। यह दश-बारह घरोंका गाँव है। हम गाँव के नम्बरदार एक गौड़-सारस्वत ब्राह्मणके दरवाज़ेपर ठहरे। उत्तरकाशीमें खूबानी कच्ची थी, हरसिलमें और कच्ची थी, लौटकर जब तक उत्तरकाशी आये, तब तक खूबानीकी फ़सल खतम हो गई थी। लालूरनीमें हमें खूबानी खानेको मिली। यहाँपर ब्राह्मण बनकर "गंगाजल" बेंचनेवाले कितने ही राजपूत मिले। यह जाड़ोंके शुरूमें देश गये

थे, और अब घर लौट रहे थे। मालूम हुआ, कि "गंगाजल"का व्यापार कुछ व्यवस्थित रूप धारण कर चुका है। हरद्वारके लाला करमसिंह इन्हें दो रुपये सैकड़े (मासिक) सूदपर रुपया क़र्ज़ देते हैं। लौटते वक़्त लोग सूद-मूर लौटा देते हैं।

१८ जूनको तड़के ही हम फिर रवाना हुए। कल नालेसे जो खड़ी चढ़ाई शुरू हुई थी, उसका तिहाई ही हम पार कर सके थे। आज फिर चीड़के जंगलमेंसे हम ऊपर चढ़ रहे थे। मोरयाण (मराड)के डाँड़े तक तीन मीलकी घनघोर चढ़ाई मिली। चीड़ ख़तम होनेके बाद बर्फ़ानी वृक्षों (बान आदि) का जंगल आया। डाँड़ेपर भल्याणासे आनेवाला रास्ता भी आ मिला। उतराईमें कुछ ही दूरपर पानीका चश्मा आया। उतराई कल जैसी सख़्त नहीं थी। गड़ैतकी चट्टीमें एक दूकान और एक टीनकी गन्दीसी टूटी-फूटी धर्मशाला है, दोपहरके भोजनकेलिए हम यहीं ठहर गये। भोजनके बाद फिर चले। गर्मी बहुत लग रही थी, ख़ैरियत यही थी, कि रास्ता नीचेको था। थानाभवन (भवन) आया। कितनी ही दूर तक पथरीला रास्ता था। एक जगह मावा लेकर खाया। शामको फिर हम चीड़ोंके बीचसे चलने लगे। गर्मी भी नहीं थी। फेड़ी गाँव पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। टिकनेका ठाँव ढूँढ़ा, जब वह न मिला तो भनसारीकेलिए चल पड़े। अँधेरी रात थी। कुछ दूर चलनेके बाद रास्ता न सूझनेके कारण गिर-पड़ जानेका भय लगा, इसलिए चीड़के जंगलमें हम लोग लेट रहे। हो सकता है, वहाँ रीछ रहते हों, या कोई और जानवर, लेकिन हमको इसका कोई पता नहीं था। १९के तड़के ही फिर रवाना हुए। भनसारी मील ही भरपर थी। यहाँ आये होते, तो बहुत आराम-की टिकान मिली होती। बुलन्दशहरके लालाजीकी दूकान थी। लालाजी स्वामीजीके परिचित थे। उनका लड़का बहुत बीमार था। पिताके आग्रहपर स्वामीजी वहीं रह गए, लेकिन बिना खिलाए लालाजी हमको जाने देना नहीं चाहते थे। मैंने कहा घरमें जो तैयार है, वह खिला दीजिए। रातके परावठे बचे हुए थे, उसे खाकर चाय पी, फिर मैं और शिवदत्त चल पड़े। एक मील और हल्की चढ़ाई चढ़नेके बाद टेहरी राजका चुंगीखाना आया। यहाँ सेबका बगीचा भी लगा हुआ था। चुंगीवालेने आसानीसे छुट्टी दे दी। एक मील और चलनेपर सुजाखोलीका डाँड़ा (जोत) मिला। यहाँ बहुत सी मिठाईकी दूकानें थीं। सामने ३४ मील नीचे देहरादून शहर दिखाई दे रहा था। मसूरी सिर्फ़ ६ मील थी, और रास्ता बहुत अच्छी सड़क। बादलकी छायामें चले और १० बजे म्यूनिसपैल्टीके चुंगीघरपर पहुँच गए। बोझीका एक आना महसूल दिया, फिर हम लनढौर बाज़ारमें चले आए। शिवदत्तका परिचित

किसना खम्बाकी यहाँ दूकान थी। सामान रखकर हम घूमने गए। होटलोंमें रहनेकी जगह नहीं थी और मेरा वहाँ कोई दूसरा परिचित नहीं था। किसना खम्बा बहुत ही भद्रपुरुष हैं। उनकी एक बहुत छोटी सी दूकान थी। उन्होंने कहा—आपको तकलीफ़ तो होगी, लेकिन मेरी इच्छा है, कि आप इसी घरमें रहें। यहाँ तकलीफ़ होनेका क्या सवाल था ? बावन हाँड़ीका भात जो खाए हुए थे।

उस दिन मसूरीकी बाज़ारोंमें चक्कर काटते रहे। मुझे तो यहाँ गरम मालूम होता था, और कहता था, कि यहाँ कौनसी ठंडक पानेकेलिए लोग आते हैं। लेकिन मुझे यह भी ख्याल करना चाहिए था, कि सात दिन पहिले नेलङ्में ११,६०० फ़ीटपर था, और मसूरी है ६६०० फ़ीट। हिमालयका मैं अनन्य-प्रेमी हूँ, लेकिन हिमालयके इन आधुनिक नगरोंसे मैं बड़ी घृणा करता हूँ। वहाँ मुझे अपना दम घुटता सा मालूम होता है। आज ही अख़बारमें पढ़ा, कि लार्ड बेवल हिन्दुस्तानके वायसराय बने—एक ही झोलीके चट्टे-बट्टे यह छोड़ और क्या हो सकता है।

जौनसारमें—२० जूनको शिवदत्त मुझे मोटरके अड्डेतक पहुँचाने आया। वह बहुत ही मेहनती, सच्चा और भलामानुस था। मेरे साथ उसे यह अनुभव नहीं हुआ कि वह किसीकी नौकरी करता है, इसलिए उसका स्नेह भी बहुत ज्यादा था। मैंने नागार्जुनजीकेलिए चिट्ठी लिखकर दी, और उससे कहा, कि तुम अपने साथ उन्हें थोलिङ् ले जाना। वह खुद भी थोलिङ् जानेकेलिए उत्सुक था—चिट्ठी तो नागार्जुनजीको मिल गई, लेकिन उनके नेलिङ् छोड़ने तक शिवदत्त वहाँ नहीं पहुँच सका था। मैं एक रुपया दे देहरादूनकी लारीपर बैठा। आजकल यात्री नीचेसे ऊपरकी ओर जाते हैं, इसलिए लारियाँ ज़्यादातर खाली ही नीचे उतरती हैं। सवा नौ बजे लारी रवाना हुई, और घूम-घुमौवा सड़कोंको फाँदती एक घंटे बाद वह देहरादून पहुँच गई—७ हज़ार फ़ीटसे अब २१सौ फ़ीटपर चले आए थे, इसलिए गर्मीके बारेमें क्या पूछना ? होटलकी तलाश कर रहे थे, कि पहाड़ीजी मिल गए। उनसे मालूम हुवा, मेरे नाम रूससे कोई तार आया है, यह तार लोलाका ही हो सकता था। पार्टी-आफ़िस गए, तो मालूम हुआ, कि आनन्दजी किसी सेठ साहबके यहाँ ठहरे हैं। वहाँ जानेपर मुझे भी लाचार मेहमानका मेहमान बनना पड़ा। आजकल देहरादून में लीचियों की खूब बहार थी और जब तक मैं देहरादूनमें रहा, अधिकतर लीचीके फलाहारपर गुजारा रहा। सन्त निहालसिंहका मकान वहाँसे ज्यादा दूर नहीं था। उनसे पहिलेसे ही परिचय था, इसलिए दो-तीन बार वहाँ जाना पड़ा। सन्तजीका सारा जीवन साहसका जीवन रहा है। उनकी क़लममें जितनी ताक़त है, उतनी ही

वह हिम्मत भी रखते हैं। दुनियाँके वह कोने-कोनेमें घूमे हैं, और अपनी क़लमके बलपर तथा बड़े सम्मानके साथ। देहरादूनमें उन्होंने अपना मकान बनवा लिया है, लेकिन वैयक्तिक गृहके ख्यालसे नहीं। उनकी कोई सन्तान नहीं है, वह चाहते हैं, कि इसे राष्ट्रकेलिए एक उपयोगी संस्थाके रूपमें बदल दिया जाय। श्रीमती सेंट निहालसिंह—जो अमेरिकन महिला हैं—बड़े स्निग्ध स्वभावकी हैं। ६ मास पहिले जब मैंने उन्हें देखा था, तो दम्पतीके चेहरेपर बुढ़ापेका इतना असर नहीं था, लेकिन अब वहाँ गोधूली साफ़ दिखाई दे रही थी।

आनन्दजी, सुशील और मैं तीन आदमी पहिलेसे ही थे। अब बद्रीपुरके तरुण सत्येन्द्रजीसे परिचय हो गया। सलाह हुई, कालसी देख आया जाय। कालसीमें अशोकका शिलालेख है, उसको देखनेकेलिए मेरे मुँहमें पानी क्यों न भर आता? २३ जूनको चारों जने मोटरपर बैठे, और दोपहरतक चूहड़पुर पहुँच गए। कुल २५ मीलका फासला है। चूहड़पुर अच्छा बाज़ार है, नाजकी बड़ी मंडी है। सहारनपुरसे एक सीधी सड़क यहाँ आती है। अशोकके वक़्त पटनासे तक्षशिला जानेका प्रधान राजपथ सहारनपुर होकर जाता था। सहारनपुरसे कालसी तकका यह रास्ता अशोक-के समयमें भी मौजूद होगा। चूहड़पुरने कालसीको मार दिया, बाईस-तेईस सौ वर्षों तक हिमालयके पादतलमें जो एक प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र था, अब वह अंतिम दम तोड़ चुका है, और इसमें चूहड़पुरका ख़ास हाथ है। चूहड़पुर मैदानमें बसा हुआ है। फैलनेकेलिए काफ़ी जगह पड़ी है, देहरादून और सहारनपुरके लिये यहाँसे पक्की सड़कें गई हैं, जिनपर रात-दिन लारियाँ दौड़ा करती हैं, साथ ही हिमालयका चरण भी यहाँसे दूर नहीं है, फिर उसके सामने कालसीकी क्या चलती? सत्येन्द्रजीके परिचित आनन्दकुमार एक उत्साही तरुण हैं, उनके ही यहाँ हम ठहरे। चूहड़पुरके आस-पास ३ ईसाई गाँव हैं, जो ज्यादातर खेती करते हैं। ५० वर्ष पहिले इन्हें बिजनौर, बुलन्द-शहर आदि जिलोंसे लाकर बसाया गया। १८५७के गदरके बाद यह सारा इलाका एन्फेल्ड नामक एक फ़ौजी अफ़सरको दे दिया गया, पीछे उसने अपनी ज़मींदारी नाहन (सिरमौर) के राजाके हाथ में बेंच दी। चूहड़पुरमें चायके बगीचे हैं। यहाँ आस-पास दूर तक चायकी खेती अच्छी होती है। चायके बाद धानकी खेती ज्यादा होती है। पास हीमें यमुनाकी नहर बहती है।

कालसी में—दो बजे दो ताँगा करके हम लोग कालसीकेलिए रवाना हुए। आनन्दकुमारजी भी हमारे साथ थे, इसलिए अब हमारी ५ आदमियोंकी मंडली थी। चकरौतावाली सड़क ही कालसीकी भी सड़क है। यमुनाके इस पार भी एकाध जगह

पहाड़ियाँ हैं। हमने लोहेके पुलसे यमुना पार किया। साढ़े ६ मील जानेपर कालसीका डाकबँगला आया। सड़कसे एक फर्लाङ्ग उतरकर यमुनाकी तटीमें एक घरके भीतर वह शिला है, जिसपर २२०० वर्ष पहिले राजा अशोकने अपने धर्मलेख खुदवाए थे। चौकीदारने आकर ताला खोल दिया, हम भीतर गए। शिलाके दक्खिन और पच्छिम पार्श्वमें लेख खुदे हुये हैं। पूर्व पार्श्वमें हाथीका एक बहुत सूक्ष्म रेखा चित्र है, जिसपर गजतम लिखा हुआ है। उस समय अभी बुद्धकी मूर्तियाँ नहीं बनती थीं, इसलिए गजतमसे बुद्धको सूचित किया जाता था। घरके भीतर कुछ गुप्तकालीन अलंकृत पाषाण हैं। अशोकने ऐसे ही स्थानोंपर अपने लेखोंको खुदवाया था, जहाँ ज्यादासे ज्यादा आदमी उन्हें देख सकें। यह भी कोई ऐसा ही स्थान था। पहाड़ोंसे उतरकर यमुना यहीं मैदानमें आती है, फिर शिमला स्थापित होनेसे पहिले कनौर (बुशहर) वाले इसी रास्ते नीचे आया करते थे। अब भी जाड़ोंमें कनौरवाले बकरियों और ऊनी कपड़ोंको बेंचनेकेलिए इधर पहुँचते हैं। इसलिए एक ओर यह स्थान हिमालयके एक भागका व्यापारकेन्द्र था, तो दूसरी ओर संस्कृतिका भी प्रसारणकेन्द्र था।

आकर हम अपने ताँगोंपर बैठे, और डेड़ मील चलकर कालसी पहुँच गए। यह पहाड़के नीचे नहीं, बल्कि पहाड़की कटि या पिंडुलीमें बसी है। पासमें अमलावा नामकी एक छोटी-सी नदी बहती है। कालसीके आस-पास आमके बहुतसे बाग़ हैं। ऊपर नीचे समतल स्थान तो इतने हैं कि वहाँ पचास हज़ारकी आबादी का एक अच्छा नगर बस सकता है। खैर, नगर बसानेकी बात करनेवाला तो आज यहाँ पागल समझा जायगा। दोमहले तिमहले कितने ही मकान यहाँ खाली पड़े हैं, जिनमें डेड़-दो-सौ परिवार आरामसे रह सकते हैं। मीरा बहनने मुझसे अपने आश्रमके बारेमें बात की, तो मैंने उनसे कहा, कि कालसीमें रहनेपर आसपासके ग़रीबोंकी सेवा भी हो सकती है और साथ ही मकान बनानेकेलिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ेगा। मैंने कितने ही पुराने नगरोंके ध्वंस देखे हैं, लेकिन सैकड़ों वर्षोंसे रास्तेमें पड़ी हड्डियोंके देखनेसे वह प्रभाव नहीं पड़ता, जो कि ताजा मुर्दा देखनेसे। कालसी ताजा मुर्दा है—उसके प्राचीन इतिहासको देखनेसे ऐसा कहनेमें दिलको दुःख होता है, तो भी आज जो उसकी अवस्था है, उसे देखकर यह छोड़ और क्या कहा जा सकता है। अब यहाँ आठ-दस घर मुसल्मान (पठान, शेख) और और बीस-बाइस घर बनिए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ जौनसारियोंके भी झोंपड़े हैं। जाड़ोंमें तीन-चार महीने केलिए चक्रौताका तहसीलदार यहाँ चला आता है, इसलिए शायद इतने घर

कुछ दिनों और चले जायँ; लेकिन, न यहाँ आस-पास खेत हैं, न कोई दूकान है, न कोई शिल्प-व्यवसाय, फिर कालसीको क्या आशा हो सकती है ? दो-दो तीन-तीन नगर-पथोंकी पाँतियाँ खतम हो चुकी हैं, उनके घर गिरकर ढूह बन गए हैं। सिर्फ एक सड़क बची हुई है। उसके किनारे भी कुछ घर ज़मीनके बराबर हो गए हैं, कुछकी दो-दो हाथकी दीवारें खड़ी हैं, कुछपर छत नहीं है, कुछकी छतमें कितने ही झरोखे कट गए हैं, और कुछ घर वर्षोंसे बिना दिया-बातीके सुनसान खड़े हैं। जिस दिन हम गए, उस दिन एक घरसे बारात जानेवाली थी। मोटरें भी थीं, बाजे भी थे, लोग भड़कीले कपड़े पहने हुए थे। बनियाइनें भी इन्द्रधनुषके नाना रंगोंके कपड़े पहने गीत गा रहीं थीं। मैं आश्चर्यसे देख रहा था, इस श्मशानमें क्या हो रहा है। जो बनिए अपने घरोंकी मरम्मत कर सकते हैं, सालमें दो एक बार शादी-त्यौहारकेलिए आ जाते हैं, उन्होंने अपना घर दूसरे शहरोंमें भी बना लिया है। शायद दो-तीन घर ऐसे भी हैं, जिनको जमींदारीसे आमदनी है, और वह कालसीको छोड़ना नहीं चाहते।

चकरौतासे नीचे यमुना और टौंसके बीच देहरादून जिलेका यह इलाका जौनसारके नामसे पुकारा जाता है। चकरौतासे आगे बावरका इलाका है। जौनसार और बावर मिलकर सारा क्षेत्रफल २५११४ वर्गमील है। १८८७ में इसकी आबादी २३२८८ थी, १४ वर्ष बाद १९०१ में, बढ़कर ६११०० और १९३१ में ८०००० रह गई। बासक बिबसक, बुथियार, चाल्टा, यहाँकी अछूत जातियाँ हैं। सबसे अधिक संख्या इन्हींकी है। इसके बाद चौहान-तोमर-नेगी रावत जैसी राजपूत जातियाँ हैं, कुछ ब्राह्मण भी हैं। चकरौता और दूसरी जगहोंपर कितने ही बाहरी बनिया दूकानदार भी बस गए हैं। जौनसारी और बावरी लोगोंमें अब भी बहुत कुछ बहुपतिविवाह—सभी भाइयोंकी एक पत्नी—होते हैं। अभी भी इन लोगोंमें बहुत सीधा-साधापन है। इस शताब्दीके आरम्भ तक तो यदि किसीके यहाँ कोई मेहमान चला जाता था, तो खाने-पीनेकी और चीज़ोंकी तरह घरकी अविवाहिता तरुणीको प्रदान करके अतिथि-सत्कार किया जाता था। यह पुराने युगका रिवाज था[1]। भोले भाले जौनसारी इसे शुद्ध भावनासे करते थे, लेकिन नीचेवाले लोग इसे वेश्यावृत्तिमें परिणत करने लगे। जौनसारियोंको जब यह पता लगा, तो उन्होंने इसे बुरा माना, और धीरे धीरे यह प्रथा बहुत कुछ खतम हो गई। खेती छोड़ यहाँके

---

[1] The Mothers 3 vols., 1926. Westermark—The History of Human Marriage

लोगोंकेलिए जीवनका कोई दूसरा सहारा नहीं है। चकरौतामें गोरोंकी छावनी बननेके बाद इस इलाकेमें रतिज बीमारियाँ बहुत बढ़ गईं। व्यापार तथा सूद-व्याजसे बनिये लोगोंको बहुत लूटने लगे हैं। चव्वालीस वर्षोंमें जनसंख्याका तिगुना हो जाना भी उनकी दरिद्रताका कारण हुआ। पिछड़ा प्रदेश कहकर सरकारने इस इलाकेमें सुधार-कानून नहीं लागू होने दिया, लेकिन जौनसारियोंमें काँग्रेसकी आवाज़ हल्कीसी पहुँची ज़रूर है। यह वह इलाका है, जहाँकी नदियोंसे अपार बिजली पैदा की जा सकती है। जहाँके पहाड़ोंपर सेब, नासपाती आदि फलोंसे हर साल करोड़ों रुपएकी आमदनी हो सकती है। जहाँ ऊनी कपड़ों और मोज़ोंके कारखाने बन सकते हैं। ढूँढ़नेपर जहाँ कितनी ही धातुओंकी खानें निकल सकती हैं। अर्थात् आधुनिक साइन्स और मनुष्य के बाहुबलको पूरी तौरसे इस्तेमाल किया जाय, तो यह बहुत समृद्ध प्रदेश बन सकता है, लेकिन वर्त्तमान व्यवस्थामें इसकी क्या आशा हो सकती है ?

कालसीमें हमने अपना सामान आर्यसमाजमें रखा—जब नगरी सूनी है, तो आर्यसमाज क्या हरा-भरा होगा ? शामके वक़्त हम टहलते हुए अमलावाके किनारे थोड़ा ऊपर गए। आमोंके बाग़में रखवालेसे पके आम लिए, और नदीके किनारे बैठकर खूब खाया। फिर बस्तीसे नीचेकी ओर गए। यहाँ आटा पीसनेकी दर्जनों पनचक्कियाँ हैं, लेकिन दो तीनको छोड़कर सब उजड़ी पड़ी हैं। जितने खानेवाले हों उसीके अनुसार तो आटा पीसा जाएगा। शामको खानेकी समस्या आई। लेकिन यहाँ न हलवाईकी दूकान न आटे-चावलकी ही दूकान थी; पैसा रहते भी खाना मिलना सम्भव नहीं था। आनन्दजीको तो शामको खाना नहीं था। मैंने भी कहा, मुझे ज़रूरत नहीं; लेकिन सुशील, आनन्दकुमार, और सत्येन्द्रको तो कुछ खाना था। ख़ासकर आनन्दकुमार यह पसन्द नहीं करते थे, कि कालसीमें मैं भूखा ही रहूँ। कुछ उत्साही तरुणोंने जौनसारियोंकेलिए एक अशोकआश्रम खोल रखा है। इसके संस्थापक पंडित धर्मदेव विद्यालंकार आजकल जेलमें थे, लेकिन चिकित्सा-लयके वैद्यजी मौजूद थे। उन्हें भी खिलानेकी चिन्ता पड़ी। खैर, किसी तरह उन लोगोंने बारातवाले भोजमें हमें भी शामिल करा दिया। मैं वहाँ खाने नहीं गया; लेकिन वहाँसे पूरी-तरकारी मेरेलिए चली आई। संयोग कहिए, नहीं तो यदि बारात-की तैयारी न होती, तो कालसीमें भूखों ही रहना पड़ता। इसका यह मतलब नहीं, कि कालसीसे मुझे विरक्ति हो गई। कालसीसे मुझे प्रेम है, जैसे स्थानमें वह बसी है, उसको देखकर मुझे विश्वास है, कि कालसी फिर कभी जीवित होगी।

अगले दिन (२४ जून) हमें चकरौताकी लारी पकड़नी थी। लारी आनेमें कुछ

देर थी। जलपानकेलिए मैंने साथियोंसे श्राम ढूँढ़नेको कहा। ढूँढ़ते फिरते हमें एक टीनसाज़ शेख मिला। उजड़ी बस्तीमें टीनसाज़ीसे क्या काम चलेगा, इसलिए साथमें उसने ग्राम बेचनेका रोज़गार भी कर लिया था। वहाँसे हमने कुछ सौ आम ख़रीदे और बाल्टीमें भिगोकर खूब चूसा।

लारी आई, हम उसपर चढ़कर रवाना हुए। सहिया (सैंया) में दोपहरको पहुँचे। आनन्दकुमारजीके बहनोईकी यहाँपर दूकान और लेन-देनका कारबार था। यहीं भोजनकर थोड़ा विश्राम किया। फिर मैं और आनन्दकुमार लारीसे चकरौताको रवाना हुए, और बाकी तीन मूर्तियोंने पैदलका रास्ता पकड़ा। उन लोगोंको रास्तेमें रातको रह जाना पड़ा, लेकिन हम लोग शामको वहाँ पहुँचकर आर्यसमाजमें ठहरे—आनन्द-कुमारका परिवार आर्यसमाजी था। आर्यसमाज मंदिरकी अवस्था देखनेसे मालूम होता था, कि अनुयायियोंमें उतना उत्साह नहीं। चकरौताकी बस्ती पहाड़की रीढ़पर बसी हुई है। पहाड़ोंकी रीढ़ अक्सर काफ़ी चौड़ी हुआ करती है, लेकिन यह दुबली गायकी रीढ़ जैसी है, और बस्ती मच्छरकी टाँगकी तरह इधर-उधर फैली हुई है। गोरी पलटनकी छावनी होनेसे सारा रोज़गार उसीपर निर्भर करता है। आब-हवा अच्छी है। देवबन (९३३१ फ़ीट) और लाखामंडल भी जाना था, लेकिन किसीको उत्साह नहीं था। २५ जूनको आनन्दजी, सुशील और सत्येन्द्रके साथ पैदल रवाना हुए, और मैं तथा आनन्दकुमार खुली लारीपर। सूर्यास्तसे पहिले हम चूहड़पुर पहुँचे गए। आनन्दजीके दलको उस दिन कालसीमें ही रह जाना पड़ा। अगले दिन (२६ जून) यमुना-स्नान और डटकर आम्रयज्ञ हुआ। दोपहर तक पीछे छूटी मूर्तियाँ भी आ गईं। शामको हम गौतमकुण्ड देखने गए। कभी यहाँ जंगल रहा होगा, लेकिन अब कट चुका है। कुण्ड बहुत अच्छा यद्यपि उतना साफ़ नहीं है। यहाँ सालमें किसी वक़्त भारी मेला लगता है। जैसा कि पहिले लिख चुका हूँ, यह यमुनाके इस पारका इलाका नाहनके राजाकी जमींदारी है, और यमुनाके उसपार तो नाहन रियासत ही है। १८५७ से पहिले जौनसार और बावरका इलाका भी नाहनके राजमें था, लेकिन "अर्ध तजहिं बुध सर्वस जाए" की कहावतको मानकर राजाने यह हिस्सा अंग्रेजोंको दे दिया। शामको आर्यसमाजमें व्याख्यान दिया। प्रबन्धकोंने खुद रूसके सम्बन्धमें बोलनेकेलिए कहा। श्रोताओंमें कितनी ही स्त्रियाँ थीं।

बासमतीकी भूमिमें—२७ तारीख़को दोपहरसे पहिले ही हम देहरादून लौट आए थे। सत्येन्द्रजीका आग्रह था, कि हम उनके घर बद्रीपुरमें चलें। देहरादूनका बासमती चावल बहुत मशहूर है—शायद दुनियाँमें कहींभी इतना अच्छा चावल नहीं

होता, लेकिन उसके खेत देहरादूनमें नहीं हैं। तपोवनके खेतोंका बासमती बहुत अच्छा समझा जाता है, और बद्रीपुर भी अपनी वासमतीकेलिए मशहूर है। बासमतीके बाद का चावल रामजवान कालसीके नीचे भी खूब होता है। वैसे बाहरके लोग चावलकी इन बारिकियोंके पीछे नहीं जाते। सत्येन्द्रजीके साथ ताँगेपर हम लोग बद्रीपुर गए। ताँगेमें उनकी स्नातिका बहन भी जा रही थीं। बद्रीपुर ४०० एकड़ खेतों और १०० घरोंका गाँव है, लेकिन कुछ परिवार यहाँ काफ़ी सुखी और संस्कृत हैं। सत्येन्द्रजीकी जाति कर्णवाल—अहलूवालिया (कलवार) के बीस घर गाँवके जमींदार हैं, जीविका अधिकतर बासमतीकी खेती और हालमें कुछ लीची-के बगीचोंसे होती है। गाँवके ५० घर चमार तो सहस्राब्दियोंसे नरक भोगनेके ही लिए बने हैं। नहरके किनारे पुरबिया मजूरोंकी कितनी ही झोंपड़ियाँ हैं। पूरबिया-से मतलब—पूर्बी अवधसे आए मजूरोंका है। जान पड़ता है, उत्तरी भारतमें पूर्वी यू० पी० और विहार मजूरोंकी खान है। फ़ीजी, मारिशश, ट्रिनीडाड, जमेका सिंगापुर, रंगूनसे लेकर कलकत्ता, बम्बई, लहोर, कराचीतक यहांके लोग अपना जाँगर बेचते फिरते हैं। देहरादूनमें स्थानीय मजूर दुर्लभ और महँगे हैं, इसीलिए पुरबियोंने घर-बारके साथ अपनी झोपड़ियाँ यहाँ डाल दी हैं।

सत्येन्द्रजीके तीन चचा हैं। तीनोंकी खेती-बारी एक साथ, लेकिन मकान और खाना अलग-अलग है। शायद पच्छिमी सभ्यताने उन्हें इस तरहकी व्यवस्थाका भक्त बनाया। ३ चूल्हा करनेमें कितनी लकड़ी, कितना परिश्रम बढ़ जाता है, लेकिन इसके लिए रसोई करनेवालियोंमें व्यवस्था स्थापित करनी पड़ेगी, शायद वह मुश्किल होगी। सत्येन्द्रजीका घर गाँवमें था, लेकिन वह गाँवका घर नहीं था। खूब पक्के, सीमेन्ट, ईंट, काँच लोहेके अच्छे साफ़ सुथरे मकान थे। बिजली लगा देनेपर वह सोवियतके पंचायती गाँवके घर मालूम होते। घरके नर-नारी सभी शिक्षित और संस्कृत थे। शिक्षा हो, संस्कृति हो, पैसा हो, और फिर नरनारी शरीरसे परिश्रम करें। सत्येन्द्र-जीके वाणप्रस्थी चाचा आर्यसमाजी होते हुए भी बहुत सुधरे विचारके हैं, और मैं समझता हूँ, कि घरकी शिक्षा-संस्कृतिमें भी उनका ज्यादा हाथ रहा। मैं नहीं समझता, वह शिक्षा+संस्कृति+धन=कामचोरी इस सूत्रको मानते होंगे। लेकिन मुझे वहाँका वातावरण कुछ ऐसा ही मालूम हुआ। हर बातमें शहरकी अंधाधुंध नक़ल थी। ताज़े ग्रामीण जीवनकी सुगन्धि वहाँ नहीं दिखाई देती थी। स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थीं, और यह प्रशंसाकी बात है कि खाना भी उन्होंने अपने हाथसे बनाया था—उस दिन उनके चचाके घरमें एक महाभोज हुआ था। आँगन पक्का खुला, हवादार था,

जिसके एक कोनेमें खट्टे अंगूरकी लता फैली हुई थी। उस परिवारके जीवनको देखकर मुझे खुशी न हुई हो, यह बात नहीं; लेकिन कामचोरपनसे मुझे नफ़रत है। उससे बचनेकेलिए मैं अपना नुसखा पेश करता, तो लोग इसे पागलपन कहते। पुरुषोंके सफ़ेद कुरते और सफ़ेद धोतियाँ फावड़ा चलानेकेलिए नहीं थीं, वह अभिनवतम फ़ैशनकी साड़ियाँ घुटने भर कीचड़में घुसकर बासमतीकी पौद रोपनेकेलिए नहीं थीं, और मेरी चलती तो मैं उनसे यही कराता।

अगले दिन (२८ जून) सवेरे हम टहलनेकेलिए निकले। दक्खिन ओर डेढ़ मीलपर गढ़वालकी पुरानी राजधानी नवादा है। हम वहाँ तक नहीं पहुँच सके, पद्मसर तक गए, फिर वहाँसे घूमकर माजरी गाँवमें गये। यहाँ एक नानक पंथी मठ है। मठको ट्रस्टके हाथमें दे दिया गया है, तो भी महन्त मनमाने खर्च के-लिए मठकी ज़मीनको बर्बाद कर रहा है। लेकिन ट्रस्टियोंके कानोंपर जूँ तक नहीं रेंगती—हाँ, वह ज़मीनको सीधे नहीं बेंचता, बल्कि बहुत कम शरहपर दायमी पट्टा लिख देता है। गाँवकी ओर लौटते वक़्त हमने बासमतीके खेतोंको देखा। यह धानकी क्यारियोंकी तरह नहीं है, बल्कि रब्बी की तरह रोपनेके वक़्त उनकी मेड़ें ऊँची कर दी जाती हैं। खेतोंकी ज़मीन अच्छी है, और अच्छे खेतोंमें बीस मन प्रति एकड़ तक बासमती हो जाती है, जिसका दाम आजकल ४०० रुपए होगा। लेकिन इससे अच्छी आमदनी तो गन्नेसे हो सकती है, यानी एकड़में हज़ार रुपए।

२८ को ही हम देहरादून चले आए। अगला दिन हमने देहरादूनके भिन्न-भिन्न स्कूलों और दूसरी संस्थाओंके देखनेमें लगाया। दूनके पब्लिक स्कूलमें वही लड़के पढ़ सकते हैं, जिनके माँ-बाप दो सौ रुपया महीना खर्च कर सकते हैं। कर्नल ब्राउन स्कूलमें डेढ़ सौ रुपयेसे काम चल सकता है, ये स्कूल पक्का साहेब बनानेकी टकसालें हैं। साहेब बनाना घाटेका सौदा नहीं है, क्योंकि बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ उनके-लिए सुलभ हो सकती हैं। डी० ए० वी० कालेज और महादेवी कन्या कालेज आर्य-समाजकी शिक्षासंस्थाएँ हैं, जिनमें कालेज तक पढ़ाई होती है। सैनिक स्कूलके देखनेकी इच्छा तो मुझे नहीं थी, लेकिन फ़ारेस्ट रिसर्च इन्स्टीटच्यूट (जंगल अनुसन्धान प्रतिष्ठान)को देखना ज़रूर चाहता था, मगर वह आजकल बन्द था। आर्यसमाजमें हिन्दी-प्रेमियोंने भाषण देनेकेलिए निमन्त्रित किया था। मैंने उनसे इस बातकी अपील की, कि हिन्दी अभी आसमानी भाषा है, इसका धरतीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। बहुतसे आदमी इसे आठ-आठ दस-दस वर्ष लगाकर पढ़कर उसपर अधिकार प्राप्त करते हैं, और "हिन्दी हमारी मातृभाषा है" कहकर पोथे भी लिखते हैं। मैं

भी पोथे लिखता हूँ, लेकिन मैं यह क़सम खानेकेलिए तैयार नहीं हूँ, कि हिन्दी मेरी मातृभाषा है। लेकिन अमातृभाषावाले लेखकोंकी भाषामें कृत्रिमता बहुत होती है। दुर्भाग्यवश हिन्दीके अधिकांश लेखक इसी कोटिके हैं। लेकिन हिन्दीकी जड़ आकाशमें नहीं पातालमें भी है, और वह है, चकरौता तहसील (जौनसार बावर)को छोड़ देहरा-दूनका बाक़ी प्रदेश, बुलन्दशहरकी गुलावठी तहसील, मेरठ-मुज़फ़्फ़रनगर-सहारनपुर-के तीनों ज़िले—अर्थात् कुरु-देश। हिन्दी इसी कुरु-देशकी मातृभाषा है। बहुत कम कुरुदेशी हिन्दीके लेखक हुए हैं, जो हैं भी, वह अमातृभाषावाले लेखकोंकी नक़ल करते हैं, और कोशिश नहीं करते कि कुरुके किसानों, मजूरों, कारीगरोंकी सजीव भाषासे लेकर हिन्दीको कुछ दें। मेरा विचार है, जब तक हिन्दीकी जड़ कुरुभूमिकी मिट्टीसे जुड़ नहीं जाती, तब तक हिन्दीकी कृत्रिमता दूर नहीं होगी।

मैं नहीं समझता, मेरी बातोंको कितने श्रोताओंने पसन्द किया होगा। "वोल्गासे गंगा"की कितनी ही कहानियोंको पढ़कर आर्यसमाजियोंमें काफ़ी लोग मुझे बुरा-भला कहने लगे थे।

६

फिर क़लमका चक्कर (१९४३ ई०)

पहिली जुलाईको आनन्दजी, सुशील और मैं देहरादूनसे हरिद्वार आये। स्टेशन-पर गुरुकुलकाँगड़ीके एक विद्यार्थी तथा पंडित भगवान वल्लभ रामकिंकर पांडे मौजूद थे। लोग पांडेजीके नामकी बड़ी शिकायत करते हैं। तारीफ़ यह कि इसमें मराठियों और गुजरातियोंकी तरह पिताका नाम मिलाया नहीं गया है, अगर मोटे टाइपमें नामको लिखकर साटा जाय, तो पांडेजीका शरीर भी उसकेलिए काफ़ी नहीं होगा। भगवान पांडे या वल्लभ पांडे काफ़ी था, भगवान वल्लभ पांडे भर भी ग़नीमत थी। और रामकिंकर वस्तुतः उनका कविताका उपनाम है, जिसे पांडेके बाद रखा जाता तो भी बोलनेवालोंकेलिए कुछ साँस लेनेकी फ़ुर्सत मिलती। लेकिन एक साथ भगवान वल्लभ रामकिंकर पांडे कहना मुश्किल है, याद रखना तो उससे भी मुश्किल। पांडेजी संस्कृतके पंडित हैं, और हिन्दीके कवि भी। उनका स्वभाव बहुत अच्छा है, और विचार भी दक़ियानूसी नहीं हैं। हम लोगोंको गुरुकुल काँगड़ीमें जाना था, लेकिन पांडेजीकी नगरी कनखल रास्तेमें पड़ती थी। बिना जलपान कराये

वह कैसे जाने देते ? पहिले हम उनके घर गये, इसके बाद गुरुकुल काँगड़ीमें प्रोफ़ेसर केशवदेवके यहाँ ठहरे। गुरुकुलके वार्षिकोत्सवके समय आनेका बहुत आग्रह हुआ था, लेकिन उस समय मैं नहीं आ सका था, अब अपने आप पहुँच गया था। यद्यपि यह संस्था प्राचीन वैदिकयुगको फिरसे लानेकेलिए स्थापित की गई है, लेकिन गुज़रा ज़माना फिर लौटके नहीं आता, इस बातको यहाँके अधिकांश अध्यापक तथा प्रायः सभी तरुण मानते हैं, लेकिन गुरुकुलके संचालक बूढ़े अभी इस सच्चाईको समझनेके लिए तैयार नहीं। १७ वर्ष पहिले जब मैंने इस संस्थाको काँगड़ी गाँवकी भूमिमें देखा था, तबसे अब बहुत परिवर्त्तन है। विद्यार्थी कुर्त्ता-पाजामा ही नहीं पहनते हैं, बल्कि नई बातोंके सुनने और सीखनेको भी तैयार रहते हैं। मैंने "तिब्बत-यात्रा", "सोवियत भूमि" आदि विषयोंपर कई व्याख्यान दिये। एक दिन ज्वालापुर महा-विद्यालय भी गया। लेकिन आचार्य हरदत्त शास्त्री उस वक़्त वहाँ नहीं थे। दूसरे भाइयोंने बड़े स्नेहसे अपनी संस्थाको दिखलाया। यहाँ ज़्यादातर प्राचीन ढंगसे संस्कृतकी पढ़ाई होती है। काँगड़ी गुरुकुलमें अंग्रेज़ी तथा आधुनिक साइन्सकेलिए भी काफ़ी समय दिया जाता है। संस्कृतकी पढ़ाईका—चाहे प्राचीन ढंगसे हो या आधुनिक ढंगसे—एक ही महत्त्व है, कि हम अपनी जातिके ऐतिहासिक विकासको समझें, यदि यह नहीं हुआ, तो वह सिर्फ़ तोतारटन्त है, और यदि उसका धर्म तथा साम्प्रदायिकताको मज़बूत करनेमें उपयोग किया गया, तो यह व्यभिचार है।

काँगड़ीके अध्यापकोंके हातेमें मैं ठहरा था। वहाँ शायद १४ या १५ प्रोफ़ेसर रहते थे, जिनमें अधिकांश पंजाबी थे। जिस तरह बंगालियोंको सबसे पहिले मछली-की फ़िक्र होती है, उसी तरह पंजाबियोंको दूधकी। दूध शुद्ध मिलना चाहिए और कटोरी लुटिया भर नहीं, बाल्टी भर। इसका यह परिणाम हुआ है कि वहाँ प्राय हरेक घरमें अच्छी जातिकी भैंसें या गाएँ रखी गई हैं। इसको कोई बुरा नहीं कह सकता। आख़िर सारे स्वास्थ्य शरीरके स्वास्थ्यपर निर्भर हैं। पंजाबी पत्नी कितनी प्रिय होती है, इसकेलिए मैं राय देनेका अधिकारी नहीं हूँ, लेकिन पंजाबी गृहस्थिनीके यहाँ मेहमान बनना बड़े ही सौभाग्यकी बात है—हाँ, भोजनमात्राकी नापको अपने हाथमें रखना होगा। प्रोफ़ेसरोंकी स्त्रियोंमें भी कुछ तो ग्रैजुएट थीं, और शिक्षित तो सभी थीं। लेकिन उनकेलिए क्या काम था? दोनों शाम रोटी पकाकर खिलाना और हर साल एकको संख्या बढ़ाते बच्चोंको सँभालना—बच्चोंको सँभालना इतना आसान काम नहीं है। चाँटा-थप्पड़ तो हरेक माँ जानती है, और विश्वविद्यालयकी ग्रेजुएट माताएँ इसमें शायद और आगे हैं, लेकिन पिटते हुए भी

कितने ही वच्चे माँको रुला देनेमें निपुण निकलते हैं। रोटी-पानीके बाद प्रोफ़ेसरानियों का सबसे बड़ा काम है शिशुओंकी देखभाल करना, इसके बाद फिर घरकी गौओं और भैंसोंको सँभालना। इनमेंसे किसी कामको बुरा नहीं समझता, लेकिन मैं यह समझनेकेलिए अपना सिर खपा रहा था कि इसमें विश्वविद्यालय, या कन्यामहा-विद्यालयकी सोलह-सोलह सालकी शिक्षाका कहाँ उपयोग है ? मुझसे कोई पूछता तो मैं कहता कि घर-घरकी नरसरी तोड़कर एक शिशुशाला बनाओ, घर-घरकी गाय-भैंसोंकेलिए एक गोशाला तैयार करो और घर-घरके चौके-चूल्हेको फोड़कर एक रसोई-घर बनाओ। लेकिन इसका जवाव मिलेगा—शिशुशाला छोड़ बाक़ी चीज़ें तो वहाँ मौजूद ही हैं ? मौजूद ही हैं, तो लोग क्यों नहीं वहाँ खाने जाते, क्यों वहाँसे दूध नहीं लेते ? पत्नीके हाथकी रोटी मीठी होती है, तो १४, १५ पत्नियाँ ही वारी-बारीसे हफ़्ते-हफ़्ते भर भोजन पकाके दिया करें, कमसे कम महीनेमें तीन हफ़्ते तो उन्हें छुट्टी रहेगी। यदि इसपर भी किसीकी जीभ नहीं मानती, तो लोहा लाल करके पासमें रखना चाहिए। पशुशालाको तो वह और आसानीसे कर सकते हैं, क्योंकि अपनी-अपनी भैंसें, गाएँ अपने प्रबन्धमें सामूहिक तौरसे रखनी पड़ेंगी, इसलिए घाटे-नफेका कोई सवाल नहीं है। शिशुशालाको तो और सफलतासे चलाया जा सकता है। वच्चे बहुत खुश रहेंगे, क्योंकि पंजाबी माँका थप्पड़ भी ज़ोरदार होता है। अगर एक हातेके भीतर पन्द्रह-सोलह परिवार न रहते होते तो शायद मैं इस सुझावको नहीं पेश कर सकता।—पीछे मालूम हुआ, पन्द्रह, सोलह नहीं, बत्तीस परिवार हैं, बत्तीस नहीं काँगड़ी गुरुकुल तो ऐसे स्थानपर हैं, उसके पास ऐसे साधन हैं कि यदि अपने दक़ियानूसी ख़यालोंको छोड़कर आज वह किसी सरकारी विश्वविद्यालयसे अपना सम्बन्ध जोड़ दे, तो वहाँ दो हज़ार विद्यार्थी जमा हो जाएँगे और प्रोफ़ेसरोंकी संख्या सैकड़ों पहुँच जायगी।

भगवानजीके साथ ३ जूलाईको हरद्वार गये। महन्त शान्तानाथ अबके साहित्य सम्मेलनके स्वागताध्यक्ष थे। उत्साही और विद्यानुरागी जीव हैं, मुझे अभी कुछ दिन और इधर रहना था, प्रूफ़का काम ख़तम करके थोड़ा वर्षा हो जानेपर आगे बढ़ना चाहता था। उनका बहुत आग्रह हुआ कि मैं उनके यहाँ रहूँ। लेकिन जब तक मैं अपनी आँखोंसे देख न लूँ कि यहाँ सरस्वतीके चरणोंमें लक्ष्मी उसी तरह नहीं पड़ी हुई है, जैसे कलकत्तेवाली महाकालीके चरणोंमें सदाशिव; तब तक लक्ष्मीवाहनसे मुझे दूर ही रहना पसन्द आता है। श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिरको देखा। महन्तजीने यहाँ पुस्तकोंका बहुत अच्छा संग्रह किया है। साथ ही अख़बार पढ़नेवालों, पुस्तक पढ़ने

वालों तथा अनुसन्धान करनेवालोंके अनुकूल स्थान भी हैं। नीचे एक अच्छा व्याख्यान-भवन है। इस तरहके पुस्तकालय भारतमें दुर्लभ हैं। महन्तजी पुस्तकालयकी उन्नतिकी ओर बराबर ध्यान रखते हैं, और संस्कृत हिन्दीकी नई पुस्तकें मँगवाते रहते हैं।

अन्तमें यही ठीक हुआ, कि मैं भगवानजीके घरपर ही रहूँ। उन्होंने विश्वास दिलाया कि ज़्यादा लोगोंको सूचना नहीं होने पायेगी और मैं एकान्तमें अपना लिखना-पढ़ना जारी रखूँगा। ६को आनन्दजी और मैं हरद्वार गये—कनखलसे हरद्वार ३ मीलसे ज़्यादा नहीं होगा। भोजनोपरान्त हम लोग गंगाके ऊपरकी ओर टहलते टहलते बिलकुल बाहर चले गये, और लकड़ियोंके टालके समीप पत्थरके चूनेके चबूतरेके पास बैठे—स्थान गंगाके तटपर था। धीरे-धीरे मधूकरी लिये कितने ही साधू आये, वह भी भोजन करके बैठ गये। कुछ मद्रासी साधुओंने आकर वहीं भात पकाया। वहाँ चर्चा थी, इस भोजनकी, और उस भोजनकी, इस क्षेत्रकी और उस क्षेत्रकी। हम देर तक कभी उनकी ओर देखते, कभी गंगामें बहते कनस्तरोंके ठाटपर दूधवालोंको जाते देखते।

शामको ताँगा करके हम कनखलकेलिए चले। कुछ ही दूर चलनेपर दो आदमी ज़बर्दस्ती आकर ताँगेपर लद गये। आनन्दजीने कहा, हम लोगोंने सारा ताँगा कनखलकेलिए किया है। इसपर दोनों आगन्तुकोंमेंसे एक—जो पंजाबी पहलवान था—कहने लगा: तुम लोग उतर जाओ यह हमारा ताँगा है। हम लोग तो चुप थे, लेकिन कुछ आदमी वहाँ जमा हो गये। उनमेंसे कुछ लोगोंने समझाना शुरू किया, तो पहलवानने गाली निकाली। लोग भी उत्तेजित हो गये, और झगड़ेका सारा सामान हो गया। ताँगावाला दूसरा ताँगा लाकर हाथ जोड़ने लगा। उसका ख़याल करके हमने ताँगेको छोड़ दिया। बहुत दिनोंसे नागरिक जीवनके दूसरे पहलूको मैं भूल गया था। नगर, कामचोर नागरिकोंके अड्डे हैं, जब वे दूसरेकी कमाई मुफ़्तमें खाते हैं, तो इनकी कमाईको भी दूसरा मुफ़्त क्यों नहीं खायेगा। लड़कपनमें मैंने बनारसमें गुंडे देखे थे, यह भी देखा था कि वह कितनी तड़क-भड़कसे रहते हैं। वह छोटे आदमियोंको नहीं सताते थे। उनके यजमान थे, बड़े-बड़े सेठ और बाबू। सेठजीके यहाँ एक हज़ारकी माँग आई, वह कैसे इनकार कर सकते थे। इनकारपर सरेबाज़ार सरपर जूता पड़ता। इसकेलिए प्रधान गुंडेका आदमी एक तो जेल जाने नहीं पाता, क्योंकि कौन उसके ख़िलाफ़ गवाही देकर आफ़त मोल लेता। यदि जेल चला भी जाता तो उससे बिगड़ता क्या। मारनेवालेको इनाम मिलता ही। यह पहलवान भी उसी

तरहका गुंडा था। उसका यह कहना ठीक ही था कि यह मेरा ताँगा है। ताँगेवालेकी एक बार भी हिम्मत नहीं हुई, कि कहे यह मेरा ताँगा है। जब तक शहरोंके ये काम-चोर मौजूद हैं, और घूस-रिश्वत लेना कोतवालों और थानेदारोंका पेशा है, तब तक गुंडे ख़तम कैसे हो सकते हैं ?

प्रोफ़ेसर नन्ददुलारे बाजपेयीके निबन्धसंग्रह हिन्दी साहित्य "बीसवीं शताब्दी"को पढ़ रहा था। मैंने उसके बारेमें अपनी डायरीमें लिखा—"द्विवेदीजीने रत्नाकर तथा मैथिली शरण गुप्तके बारेमें जो विश्लेषण किया है, वह ठीक जँचता है। (बाजपेयीजी-की) भाषा बहुत प्रभावशालिनी, भावोंपर अध्ययन तथा विशाल दृष्टिकी छाप है।

(७ जुलाई) "प्रेमचन्दकी आलोचना करते वक़्त वह बहुत नीचे उतर आए हैं, और आलोचक नहीं व्यक्ति विवादी बन गए हैं। प्रेमचन्दके दोषोंको ख़ूब बढ़ा चढ़ा कर दिखाना और गुणोंकेलिए भरसक एक शब्द भी न आने देना—इसी धारणाके साथ आलोचना लिखी गई है।"

यहाँ स्वामी चन्द्रशेखर गिरिसे मुलाक़ात हुई। वह आजकर निरंजनी अखाड़ा-के एक महन्त हैं। आखाड़ोंके बारेमें जब तब मैंने कुछ बातें सुनी तो थीं, लेकिन मुझे उनके ढाँचेके अध्ययनका पर्याप्त मौक़ा कभी नहीं मिला। गिरिजीसे कुछ बातें जानकर मेरी दिलचस्पी और बढ़ी, फिर मैंने निर्वानी अखाड़ेको नज़दीकसे अध्ययन करना चाहा। गिरिजीने मदद दी, अखाड़ेवाले दूसरे साधुओंने भी सहायता की, और मैंने "संन्यासी अखाड़े" के नामसे एक लेख लिख दिया। शताब्दियोंसे जनतन्त्रता भूल गए भारतमें किस तरह अन्तर्प्रान्तीय जनतन्त्रताका संगठन हुआ, अखाड़े इसके अच्छे उदाहरण हैं। यद्यपि इधर उनमें कितने ही विकार आगए हैं, किन्तु यदि नवीन जनतंत्रताके आदर्शको लेकर लोग उसमें पहुँचें, तो वह बहुत कुछ सुधार कर सकते हैं।

भगवानजी नियमपूर्वक रोज़ शंकरकी बूटीको लिया करते हैं। १० जुलाईको को उनका आग्रह हुआ कि मैं भी थोड़ा लूँ। १९१४ के बाद कभी मैंने भाँग नहीं पिया, लेकिन इधर मुझे यह निश्चय हो गया, कि वेदोंका सोम, पश्तोका ओम्, पारसियोंका होम, तिब्बतियों का सोमराजा यही भाँग हैं—तिब्बती और पश्तो दोनोंके उपरोक्त शब्द भाँगकेलिए इस्तेमाल होते हैं। मैंने सोचा ज़रा सोमको फिरसे पीकर देखना चाहिए, क्योंकि २९ सालकी स्मृतिसे काम नहीं चल सकता। शामको चवन्नीभर सोम मैंने भी लिया, और बिल्कुल ऋषियों हीकी तरह मधु-क्षीरके साथ। शामके वक़्त जब हम टहलने लगे, तो उसका प्रभाव पड़ने

लगा। हम एक ग्रामके बाग़में पहुँचे थे। भगवानजी ग्रामको छाँट-छाँटकर ले रहे थे। मुझे मालूम हो रहा था कि ग्रामोंके खरीदनेमें उन्होंने ढाई युग बिता दिए। पन्द्रह-बीस ही ग्राम छाँटे होंगे कि मैंने कहा—"पर्याप्तमस्ति"। शिरके भीतरकी मज्जाके परमाणु बड़ी द्रुत गतिसे चलते मालूम पड़ते थे। जान पड़ता है उसीके कारण थोड़ा काल भी अधिक मालूम होता था, छोटीसी ग्रावाज़ भी बड़ी सुनाई देती थी। बाहरसे प्रसन्नमुख बने रहनेकी चेष्टा ज़रूर होती थी, किंतु स्वादकी पहिचानमें बड़ी गड़-बड़ी थी, और भोजनकी मात्राका तो पता ही नहीं लगता था। उसी वक़्त मैंने अपने मस्तिष्ककी अवस्थाके बारेमें ग्रानन्दजीको कुछ लिखवाया था, संभव है, वह काग़ज़ अब भी उनके पास हो। सोमका तजर्बा हुआ, उसमें यह देखा, कि जिस मानसिक कार्यमें मस्तिष्कके बहुतसे कोष्टकोंकी सहायता अपेक्षित होती है, वह काम भाँग पीकर नहीं किया जा सकता। विशृंखलित या एकाकी वृत्तियोंसे मौज़-मेलेका काम जरूर लिया जा सकता है। मेरी इस सम्मतिपर भगवानजीको आपत्ति थी, लेकिन मैंने अपनी मानसिक अवस्था जैसी देखी, वैसी ही राय दी थी।

१२ जुलाईको चिट्ठी मिली, जिससे मालूम हुआ कि लेनिनग्रादसे तार आया है, जिसमें लोलाने लिखा है—"साथ रहना ज़रूरी है, लेनिनग्राद आओ, या हमारे भारत आनेका इंतिजाम करो। बहुत चुम्बन" (Necessary to be together. Come to Leningrad or arrange our departure for India. Many kisses.)। पहिले मैंने पासपोर्ट नहीं लिया। उस वक़्त लोलाका पता-निशान नहीं था, लेकिन अब जानेकेलिए चित्त उतावला हो पड़ा। हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना है, इसका तभी पता लग सकता है, जब यहाँसे बाहर जानेकेलिए आप सीमान्तपर पहुँचते हैं, और सिपाही कहता—"जेलरका हुकुम?" अभी पासपोर्टकी दरख्वास्त देनी थी, न जाने कितने दिन लगेंगे।

१९ जुलाईको प्रयागकेलिए रवाना हुआ। २१ को वहाँ पहुँचा। यहाँ कुछ प्रूफ़का काम देखना था। यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि उदयनारायण तिवारीने अपने डाक्टरेटका निबंध (**थेसिस**) तैयार कर लिया है, अब टाइप करके उसे देना बाकी है। वह ८, ९ सालसे बड़ी तत्परताके साथ भोजपुरी भाषाके अनुसंधानमें लगे थे। शायद उन्होंने इस निबन्धको कई साल पहले पूरा कर दिया होता, लेकिन उनका ध्यान जल्दी डाक्टर बननेकी ओर उतना नहीं था, जितना अपने विषयके सांगोपाँग अध्ययन की ओर, इसीकेलिए उन्होंने पाली और हिन्दी-यूरोपीय भाषातत्त्वके दो-दो और एम० ए० किए।

२६ को खबर उड़ी, कि मुसोलनीने जगह खाली की, और बोदोगलियो इटलीका प्रधान-मंत्री बना। फ़ासिस्ट दुर्गमें दरार पड़ी। लाल सेना भी आगे बढ़ती जा रही थी, और अब सिर्फ़ जाड़ेमें लाल सेनाके बढ़नेका सवाल नहीं था। "प्रमाणवार्त्तिक स्ववृत्तिटीका" ६ सालसे कम्पोज़ हुई पड़ी थी। "स्ववृत्ति"के लुप्त अंशको भी मैंने तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें कर दिया था, लेकिन अभी तक उसका प्रकाशक कोई ठीक नहीं हो सका था। बिहार रिसर्च सोसाइटीकी ओरसे छपनेवाली थी, वह नहीं हो सका। भारतीय विद्याभवन (बंबई) से बातचीत हुई थी, वहाँ भी ठीक नहीं हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालयसे छपनेकी बात तय हुई थी, लेकिन काग़ज़के झगड़ेके मारे वह भी खटाईमें रह गया। अंत में किताबमहलके मालिक श्री श्रीनिवास अग्रवालने प्रकाशनकी जिम्मेवारी ले ली, और अब मैं उससे निश्चिन्त हो गया।

बंबईमें (५ अगस्त—६ सितम्बर)—अब मुझे पासपोर्ट लेनेकी फ़िकर थी। ५ अगस्तको बम्बईकेलिए रवाना हुआ। एक डब्बेमें कुछ ज्यादा जगह थी, उसमें बैठते वक़्त मैंने अपने दोस्तोंसे पूछा—यह डब्बा कट तो नहीं जायगा? उन्होंने कहा —नहीं, लेकिन जबलपुरमें वह डब्बा कट गया। बग़लके डब्बेमें घुसा, वहाँ बड़ी भीड़ थी। कुछ देर खड़ा रहा। आसपासके आदमी आराके रहनेवाले थे। मैंने भी छपराकी बोलीमें बात करनी शुरू की। बोलीका चमत्कार दिखाई पड़ा। मुझे बैठनेकेलिए जगह मिल गई, और पीछे तो सोनेकेलिए भी स्थान मिल गया। यह सब भाई बम्बई जारहे थे। नौकरी करनेकेलिए नहीं, बल्कि जूता बनानेकेलिए। मालूम हुआ, बंबईमें हजारसे ऊपर आराके चमार भाई रहते हैं। खाने-पीनेमें भेद-भाव न देखकर और घनिष्ठता बढ़ी। यात्रा और बड़े आनन्दसे कटी। वह महँगी-की बात कह रहे थे। अनाज पिछले सालसे और महँगा हो चला था, और काग़ज़के रुपएको हाथमें आते देर लगती, पर खर्च होते पता नहीं चलता था। वह पछता रहे थे, कि हमने धरतीको पहिले क्यों नहीं पकड़ा। पुरखोंने ग़लती की, उस समय धरती इतनी दुर्लभ नहीं थी। जिनके पास धरती है, आज वह खाने-पीनेसे निश्चिन्त हैं, हमारे पास भी धरती होती तो क्यों यह हालत होती। उनको क्या मालूम था, कि पुरखोंको धरती मिलनेमें और मुश्किल थी, धरती मिल जाती, तो दो पैसेमें हल-वाही कौन करता?

५ बजे शामको गाड़ी विकटोरिया टर्मिनस (बोरी बन्दर) पहुँची। मैं पार्टी आफ़िसमें पहुँचा। बंबईमें दो काम करना था—पासपोर्ट लेनेकेलिए कोशिश करना और "नये भारतके नये नेता" केलिए कुछ और जीवनियोंका संग्रह करना। जीवनी-

का काम तो उसी दिनसे शुरू हो गया। मैंने इस पुस्तकमें जितनी जीवनियाँ लिखीं उनकेलिए चरितनायकसे पूछकर उनके बाल्यसे अब तककी जीवन-घटनाओंकेलिए नोट लिए, शिक्षा-दीक्षा और वातावरणका पता लगाया। बारह-तेरह जीवनियाँ इन नोटोंके सहारे मैं तैयार कर चुका था।

पासपोर्टकी दरख्वास्तपर किसी जे० पी०की दस्तखत करानी थी। साथी मीरजकरने मददकी, और डाक्टर मालिनी सुखतनकरने दस्तखत कर दिया। आफ़िसमें जानेपर पता लगा कि इसपर पुलीस कमिश्नरकी भी दस्तखत होनी चाहिए। हम उनके पास पहुँचे। मालूम हुआ, अभी बिहार सरकारसे पूछ-पाछकर वह हस्ताक्षर करेंगे। ५, ६ दिन इसमें गए। १९ को बतलाया गया कि मेरी दरख्वास्त पासपोर्ट आफ़िसमें भेज दी गई। पासपोर्ट इतनी जल्दी मिलनेवाला नहीं है, यह मैं अच्छी तरह जानता था। अभी उसे बंबई गवर्नमेंट देखेगी, फिर वह भारत सरकारके पास भेजेगी, और कितनी पूछ-ताँछ होगी। खैर, मैंने अपना काम खतम कर दिया था।

अबकी बार अनाज ही की महँगाई नहीं देखी, बल्कि रेजकियोंका भी बाज़ारमें मिलना मुश्किल था। पैसे-इकन्नी-दुअन्नीकी जगह डाकखानेके टिकट रखने पड़ते थे। जिसके पास पैसे आ जाते, वह एक दो रुपएकी रेजकी बराबर पास रखनेकी कोशिश करता था, न जाने किस वक्त कोई चीज़ खरीदनी पड़े। रेजकी पहिले ही कम थी और जब करोड़ों आदमी कुछ न कुछ रेजकीको अपने पास रख छोड़ना चाहते थे, तो उनका और भी अकाल क्यों न पड़े?

"वार्तिकालंकार" (प्रमाणवार्तिक-भाष्य) को मैं ७ साल पहले तिब्बतसे लिख लाया था। अभी तक उसके छपनेका प्रबन्ध नहीं हो सका था। मुनि जिनविजय जीने भारतीय विद्याभवनसे प्रकाशित करनेकी इच्छा प्रकट की, और मुझे इससे निश्चिन्तता हुई, यद्यपि झूठी ही। मैंने एक दर्जनसे ज्यादा जीवनियोंके यहाँ नोट लिए, और ७ सितंबरको वहाँसे प्रस्थान कर दिया।

प्रयाग (८ सितम्बर—३ अक्तूबर)—८ सितम्बरको सवेरे मध्य प्रदेशसे गाड़ी गुज़र रही थी, बर्षाके दिन थे, चारों ओर हरियाली हरियाली दिखाई देती थी। गाड़ियोंमें सिपाही भरे हुए थे। साधारण लोगोंमें सबसे ज्यादा चर्चा थी, कपड़ेकी महँगाई, अनाज की महँगाई, रेजकीका न मिलना आदि आदि। सब यही चाह रहे थे, कि युद्ध जल्दी समाप्त हो। प्रयागमें मैंने प्रूफ़ देखनेके अतिरिक्त "नये भारतके नए नेता" के लिए जीवनियाँ भी लिखनी शुरू कीं। अभी और भी जीवनियाँ लेनी थीं। २६ सितम्बरको कानपुरमें कविसम्मेलनका सभापति होकर जाना पड़ा।

बंगालमें जिस तरह लाखों आदमी कीड़े-मकोड़ेकी मौत मर रहे थे, उसे सुनकर सारे भारतका हृदय विह्वल हो चुका था। कई कवियोंने बहुत करुणापूर्ण कविताएँ सुनाईं। साढ़े ११ बजे रातको कवि-सम्मेलनसे छुट्टी ली। साथी युसुफ़की जीवनीकेलिए नोट लेने थे। ५ बजे रात तक मैं उनसे पूँछ-पूँछकर नोट लेता गया। यू० पी० के मजूरोंका सबसे बड़ा नेता युसुफ़ बिलकुल स्वनिर्मित पुरुष है। मजूर रहते उसने मजूरोंके दुःखोंको अनुभव किया। पठन और चिन्तनसे उसकी आँखें खुलीं, और युसुफ़ने वह रास्ता पकड़ा जिसपर वह आज भी चल रहा है। संतसिंह आज युसुफ़ हैं, लेकिन धर्मकेलिए नहीं। जब पुलिस वारन्ट लिए उसके पीछे पीछे फिरती थी, उसी वक़्त उसने यह नाम बदला था।

स्टेशनपर एक डेढ़ घंटा बैठे, फिर गाड़ीसे दोपहरको प्रयाग पहुँचे। रातभर सो नहीं सके थे, इसलिए (२७ सितंबर) बाकी दिन सोते रहे। शामको विश्व-विद्यालयकी हिन्दी-परिषदमें "प्रगतिशीलता" पर व्याख्यान दिया। कुछ पुराने ढंगके साहित्यिक भी वहाँ आए थे। बहुतसे समझदार और ईमानदार पुरुष भी न जाननेके कारण गलतीमें पड़ जाते हैं। मैंने बतलाया कि प्रगतिशीलताका यह मतलब नहीं है कि सूर, तुलसी, कालिदास और वाण दकियानूसी विचारवाले समझे जायें। वह सामन्तीयुगमें पैदा हुए थे। उनकी कवितासे सामन्तसमाजकी पुष्टि हुई थी, इसलिए उनकी कविताएँ गंगामें बहा देनी चाहिएं। महान् कवि चाहे किसी समाज और युगमें पैदा हुए हों, वह हमेशा हमारेलिए महान् रहेंगे। जब तक उनकी कवितामें यह शक्ति है, हमारे हृदयमें वह कोमलता है, जिससे हर्षके समय मुख उत्फुल्ल हो जाता है, विषादके समय आँखें गीली हो जाती हैं, तब तक इन महाकवियोंके लिए कोई ख़तरा नहीं। पुराने कवियोंको त्याज्य कहनेकी बात प्रगतिशील नहीं, पागल करेगा। मैंने यह भी कहा, कि शायद इसे आप मेरा वैयक्तिक विचार समझते हों, लेकिन यह बात नहीं है। एन्गेल्सने स्वयं प्रोफ़ेसर डुइरिंगके इस मतका बड़े जोरसे खण्डन किया था, कि गोयथे आदि महान कवियोंकी कृतियोंको पाठ्यक्रमसे निकाल देनी चाहिए। एक साहित्यसेवीने मेरे भाषणके बाद कहा, कि यदि प्रगतिशील लेखकोंका हमारे अतीतके काव्य-निर्माणके प्रति यही भाव है, तो इससे हमें कोई विरोध नहीं है, दुनियाँ बदलनेकेलिए उनके साहित्यिक प्रयत्नके हम विरोधी नहीं,।

अल्मोड़ा, पंजाब, कश्मीर की यात्रा (४-३० अक्तूबर)—अपने "नये भारतके नये नेता" के लिए मुझे अभी और कितनी ही जीवनियोंकी ज़रूरत थी। भारद्वाज भुवालीमें थे, पन्तजी अल्मोड़ामें, और कितने ही चरितनायक पंजाबमें। ४ अक्तूबर-

को मैं अल्मोड़ाकेलिए रवाना हुआ। रास्तेमें एक दिनकेलिए लखनऊमें ठहरा। फिर छोटी लाइनकी गाड़ी पकड़ी। भोजीपुरामें ७ के सबेरेको पहुँचा, वहाँसे दूसरी गाड़ीमें बैठ काठगोदाम पहुँचा। काठगोदाम हिमालयके चरणमें है। यहाँ से नैनीताल और अल्मोड़ाको लारियाँ जाती हैं। भुवाली और रानीखेत अल्मोड़ाके रास्तेमें पड़ते हैं। मैं सीधे अल्मोड़ा गया। ७ बजे अल्मोड़ा पहुँचा। समुद्रतलसे ३७०० फ़ीट ऊपरकी जगह और अक्तूबरका प्रथम सप्ताह बीत रहा था, इसलिए गर्मीका नाम नहीं था। उस दिन शामको देखा कि सारे अल्मोड़ाके नरनारी उदयशंकर कलाकेन्द्रकी ओर जा रहे हैं। आज वहाँ रामलीला होनेवाली थी। मैं अभी-अभी आकर एक होटलमें उतरा था, इसलिए वहाँ जानेकी इच्छा नहीं हुई। पं० सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर-केन्द्रमें ही ठहरे थे। दूसरे दिन (८ अक्तूबर) मैं उनके पास गया। स्थान बहुत रमणीय है। यह देखकर अफ़सोस हुआ, कि उदयशंकर कला केन्द्रको जैसी सहायता मिलनी चाहिए, वैसी नहीं मिल रही है। लक्ष्मी समुद्रके किनारे बसी है, और उदयशंकरने अपना कलाकेन्द्र यहाँ हिमालयके एक कोनेमें स्थापित किया है, यह भी उसमें बाधा है, किन्तु इससे भी ज्यादा बाधा लक्ष्मीवाहनोंकी मूर्खता है। मैंने सुना कि किसी राजा साहबको दिखलानेके-लिए कला प्रदर्शनका आयोजन किया गया था। केरलके कथाकाली (मूकनृत्य) के एक महान कलाकारका प्रदर्शनके समय ही देहान्त हो गया, और उसे बन्द करना पड़ा। राजा साहबने इस शोकपूर्ण घटनाका जिक्र भी नहीं किया, और उलाहना दिया, कि आपने हमें नृत्य नहीं दिखलाया। ऐसे राजाओंसे क्या आशा हो सकती है? शायद उदयशंकर भी अनुभव करने लगे, कि सेठों और राजाओंके बलपर उनकी कलाका प्रसार नहीं हो सकेगा, इसलिए वह जनताकी ओर अधिकाधिक झुकते जा रहे हैं। जब उन्हें पता लगा कि मैं आया हूँ, तो दोनों भाई वहाँ पहुँचे। कलाका मुझे कोई परिचय नहीं है, लेकिन रसगुल्लेका परिचय न होनेपर भी आदमी उसका स्वाद ले सकता है, बल्कि मैं तो कहूँगा कि रसगुल्लेकी तारीफ तभी है, जब उसके बनानेकी बारीकियोंको न जानते भी आदमी उसमें अच्छा स्वाद अनुभव करे। मैंने पन्तकी जीवनीके नोट लिए। श्री बोशी सेन और उनकी पत्नी (अमेरिकन) अल्मोड़ा हीमें रहती हैं। ६ साल पहिले उन्होंने आनेकेलिए निमन्त्रण दिया था, लेकिन मैं उस समय नहीं आ सका। पास समय था, इसलिए मैं ढूँढ़ते ढाँढ़ते उनके पास पहुँचा। सेन महाशय प्राणीशास्त्रके अनुसन्धानमें लगे हुए हैं। इधर अपनी "विश्वकी रूपरेखा" लिखनेकेलिए मुझे साइन्सके कितने ही ग्रन्थोंको पढ़ना पड़ा था, लेकिन साइन्सको

जब तक प्रयोगशालाकी सहायतासे न पढ़ा जाय, तब तक न भली भाँति ज्ञान होता है, और न पूरा आनन्द मिलता है। उस दिन उनकी विवेकानन्द-प्रयोगशालाके नये मकानका उद्‌घाटन हुआ था। मैं वहाँ पहुँचा। सेन-दम्पती बड़े स्नेहसे मिले। उन्होंने प्रयोगशाला दिखलाई। यह जानकर उन्हें अफ़सोस हुआ, कि मैं कल ही यहाँसे जानेवाला हूँ।

रातको टहलते हुए मैं झीजाड़ मुहल्ले में पहुँचा। पूरनचन्द्र जोशी का जन्म यहीं हुआ था। जोशीके पिता पंडित हरनन्दन जोशीके चचाके पोते पंडित भोलादत्त पहिले स्टेशनमास्टर थे, अब उन्होंने एक दूकान कर ली थी। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं पूरनका दोस्त हूँ, और उस घरको देखना चाहता हूँ, जिसमें कि पूरन पैदा हुए थे, तो उन्होंने मुझे आत्मीय-सा समझा। अल्मोड़ाकी ओर अभी साम्यवाद का संदेश नहीं पहुँचा है। यह आश्चर्यकी बात है कि जिसने भारतके स्तालिनको पैदा किया, वहाँ लोग साम्यबादके बारेमें इतना कम जानते हैं। मैंने केरल और आँध्रके छोटे-छोटे गाँवोंको देखा, जहाँके नर नारी जोशीको जानते ही नहीं है, बल्कि उसके उँगली हिलाने पर प्राण देनको तैयार हैं। अल्मोड़ा अपने सपूतको ज़रूर जानेगा। पंडित भोलादत्त जोशीको राजनीतिसे कोई सम्पर्क नहीं। अख़बार भी शायद ही पढ़ते हों। हाँ, इसकी भनक उनके कानों तक ज़रूर पहुँच चुकी थी, कि जोशी अब बड़ा आदमी हो गया है। कितना बड़ा आदमी, इसका उन्हें पता नहीं। वह नहीं जानते कि हिन्दुस्तानके सबसे सुसंगठित, सबसे अधिक अनुशासनबद्ध क्रान्ति सेनाका वह प्रधान सेनापति है। उन्होंने बार-बार कहा, पूरनको इधर आनेकेलिए कहिए। मैंने कहा—उसके ऊपर कामका बहुत बोझ है, मुझे सन्देह है, कि वह छुट्टी निकाल सकेगा। किन्तु मैं यह ज़रूर चाहूँगा कि वह अपनी पत्नीके साथ एक बार झीजाड़की इस छोटी-कोठरीको ज़रूर देख जाय, जिसमें मालतीने ३६ वर्ष पहिले उसे जन्म दिया था। उन्होंने अभी नहीं सुना था, कि जोशीका ब्याह हो गया है। वह बहूके बारेमें पूछने लगे। मैंने कहा—कल्पना बंगालिन है, और उसने पिस्तौल तथा बम चलानेका जबर्दस्त अभ्यास किया था—मुर्दोंपर नहीं, ज़िन्दोंपर। फ़ांसीसे बाल-बाल बची, और जन्म कालापानीकी सज़ा पाई। यह है तुम्हारे भाईकी बहू—लेकिन बूढ़ी नहीं है। शायद वह भी तुम्हारे घरको देखना चाहेगी। फिर वह मुझे उस पुराने घरको दिखलाने ले गए। तीसरे तल्लेपर अब भी वह बड़ा रसोईघर है, जिसमें बहुत-सी क्यारियाँ खिंची हुई हैं। और भी कितनी ही छोटी-छोटी कोठरियाँ देखीं। पुराने ढंगका घर है, इसलिए छतें नीची और दरवाजे छोटे हैं। मुझे विनम्र शिरसे उनके भीतर

जाना पड़ता था। मकान सौ वर्षसे क्या कम पुराना होगा ? परिवारके लोग नौकरी-पेशा हैं, इसलिए ज्यादातर बाहर-बाहर रहते हैं, और मकानका बहुतसा हिस्सा खाली पड़ा रहता है। ९ अक्तूबरको १२ बजे मैं भुवाली चला आया। रास्तेमें रानीखेतमें उतरकर सिर्फ चाय पी। भुवालीमें तपेदिकके बीमारोंकेलिए एक अच्छा सेनिटोरियम है। यह गर्मीके सैलानियोंका मौसम तो नहीं था, लेकिन सेनिटोरियमके कारण भेंट-मुलाकात करनेवाले यहाँ ज्यादा आया करते हैं। मैं अपना सामान लेकर होटलमें गया। वह एक दरबेका डेढ रुपया माँगता था, और इसकी गारन्टी नहीं थी, कि वहाँ खटमल नहीं होंगे। मैंने एक धर्मशालामें अपना सामान रखा। घूमते वक्त यशपाल-दम्पती मिल गए। कुछ देर तक उनसे बात हुई। सेनिटोरियमके बारेमें पता लगा, कि मिलनेवाले सवेरे साढ़े आठ बजेसे ग्यारह बजे तक और शामको चार बजेसे छ बजे तक मिल सकते हैं। देवलीके बाद आज भरद्वाजको देखा। शरीर पर काफ़ी माँस चढ़ आया था, और देखनेमें वह स्वस्थ मालूम होते थे। लेकिन तपेदिक बड़ा धोखेबाज़ रोग है, अभी वहुत सावधानी रखनेकी जरूरत होगी। वह टहलने जाया करते थे। एक दिन ठोकर लगनेसे गिर पड़े, फिर कई दिनतक बुखार आता रहा। दूसरे दिन (१० अक्तूबर) मैंने जीवनीके नोट लिए। पहिली रातको खटमलों और पिस्सुओंने नाकमें दम कर दिया : मैदानमें मच्छर तंग करते हैं और पहाड़ोंमें खटमल-पिस्सू, बड़ी आफ़त है। लेकिन यह सब सफ़ाई न रखनेके कारण होता है। और दवा-दारू डालके सफ़ाई करना द्रव्यसाध्य काम है। खैर, दूसरे दिन जमाल किदवई मिले। उन्होंने भी रहनेका आग्रह किया। कृषि-विभागके एक अधिकारी मिले, रातको मैं उनके ही यहाँ रहा।

११तारीखको मैंने फिर लारी पकड़ी। बरेलीसे सहारनपुर वाला रास्ता न पकड़ मैंने काठगोदामवाली छोटी लाईनकी सड़कको ही चुना। बड़ी लाईनमें बड़ी भीड़ भी होती है, इसका भी ख्याल था। काठगोदामसे बदायूँ होते हुए हाथरस। दिन होता तो उत्तर-पंचाल और दक्षिण-पंचालके इस भूखण्डको ध्यानसे देखता, लेकिन बरेलीसे पहिले ही रात हो चुकी थी। हाथरसमें थोड़ा ठहरनेके बाद दिल्लीवाला मेल मिला। डेवढ़ेका टिकट था। भीड़के कारण एक डब्बेको छोड़ा। तब तक गाड़ीने सीटी दे दी। दूसरे दर्जे में बैठ गया, यहाँ सोनेकेलिए जगह भी मिली।

दिल्लीमें (१२-१३ अक्तूबर)—अगले दिन (१२ अक्तूबर) दोपहरको गाड़ी दिल्ली पहुँची। पार्टीका पता मालूम था। ताँगा करके वहाँ दरियागंजमें साथी यज्ञदत्त शर्माके घरपर पहुँचा। यज्ञदत्त पहिले एक कालेजमें प्रोफ़ेसर थे, लेकिन

पार्टीका सेक्रेटरी होनेके कारण उनको काफ़ी समय नहीं मिलता था। नौकरी छोड़कर अब वह सारा समय पार्टीके काममें लगाते हैं। उनकी बीबी शिक्षिता तरुणी हैं। जानती हैं, हिन्दूके घरमें जन्म हुआ, उनकेलिए पतिका अनुसरण करनेके सिवा कोई रास्ता नहीं। यज्ञदत्त इस सिद्धांतको नहीं मानते, लेकिन उससे क्या? खैर, इससे एक फ़ायदा तो होता है, पत्नी सोचनेकेलिए मजबूर हैं: कम्यूनिष्टपार्टीमें क्या बात है, क्या आदर्श है, जिसकेलिए उसके पतिने आरामकी ज़िन्दगी छोड़कर जेल और भुखमरीका रास्ता पकड़ा है। उस वक्त अभी वह अपने पतिकी बातोंको समझ नहीं पाती थीं, लेकिन जब मैं दूसरीवार (१९–२३ फर्वरी) दिल्ली गया तो पत्नीमें वहुत परिवर्तन पाया, अब उनका वह मुरझाया चेहरा नहीं रह गया था। छूत-छात तो नहीं रह गई थी, लेकिन माँस-मछली-अंडेका नाम लेना अभी सह्य नहीं था। लेकिन छोटे बच्चे बिन्दुको मैंने अपना दोस्त वना लिया था। खाना खानेकेलिए पासके मुसलमान होटलमें जाता था। बिन्दु ने कहा, मैं भी चलूँगा। पहिले तो कहा, मैं पैदल चलूँगा और उसने जूता भी नहीं पहिना। लेकिन रास्तेमें पैर जलने लगे। उठाना पड़ा। जिस किसी चीज़की ओर वह हाथ न बढ़ाए, इसलिए मैंने पहिले ही आइसक्रीमकी बत्ती पकड़ा दी। होटलमें गए। माँस और रोटी सामने आई। बिन्दुने कहा––मैं भी खाऊँगा। बेचारा माँसके टुकड़ेको तो नहीं खा सका, क्योंकि अभी आदत नहीं थी, लेकिन माँस-रसमें दो एक नेवाले तर किए। मिर्च ज्यादा थी, इसलिए ज्यादा खानेकी हिम्मत नहीं हुई। था अभी तीन ही सालका, लेकिन सवाल जबाव खूब करता था। मैं वहाँ गया था, पासपोर्टमें कुछ जल्दी करवानेकेलिए। टोट्नहम्ने फ़ोनसे जवाव दिया, कि अभी पासपोर्ट हमारे पास नहीं आया। वैदेशिक विभागके सहायक सेक्रेटरी कप्तान हसनने कहा, कि पासपोर्ट आयेगा तो लिख-पढ़के वह वम्बई भेज दिया जायगा। जब तक कोई बड़ा आदमी बीचमें न पड़े तब तक सरकारी दफ़्तरोंपर क्या प्रभाव डाला जा सकता है?

पंजाबके गावोंमें (१४–१७ अक्तूबर)––उसी दिन मैंने फ्राँटियर मेल पकड़ा, और दूसरे दिन (१५ अक्तूबर) साढ़े ८ बजे अमृतसर पहुँच गया। मुझे बाबा सोहन-सिंह भकना और बावा वसाखासिंहकी जीवनियोंके नोट लेने थे। बाज़ार-मुनारियामें इधर-उधर ढूँढ़ा, लेकिन देशभगत परिवार सहायक कमेटीका पता नहीं लगा। फिर "स्वतन्तरका" का पता ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पुतलीघरके पास डाक्टर गुरुबख़्शसिंहके बँगलेपर पहुँचा। न "स्वतन्तर" मिले, और न डाक्टर साहब ही। लेकिन डाक्टर साहबकी पत्नी सन्तकौरने स्वागत किया। आज ही भकना जाना चहता था, लेकिन ताँगा नहीं

मिला। आज गुरुरामदासका जन्म दिन था। दर्बारसाहबमें दीपमालिका जलाई जा रही थी। दर्शकोंकी बड़ी भीड़ थी। आखिर सिक्खोंका यह सबसे पवित्र तीर्थ जो है। आस-पासकी दर्शनीय चीज़ें घूम-घूमकर देखीं। यहाँ कम्यूनिस्तोंका काम अधिकतर किसानोंमें है, विद्यार्थियोंमें भी कुछ है, उन्होंने ताँगावालोंकी मजूर-सभा भी संगठित की है, स्त्रियोंमें कोई काम नहीं हुआ है। पूँजीपति तो परछाहींसे भी चिढ़ते हैं और शिक्षितवर्ग भी उदासीन है।

साथी रामसिंह कालामालासे सलाह हुई और उनके साथ पहिले बाबा वसाखा-सिंहके जन्मग्राम ददेरमें जानेका निश्चय हुआ। १६ को सवेरे ६ बजे ही हम तरन-तारन की गाड़ीमें बैठे। तरनतारन भी सिक्खोंका एक तीर्थ है, अच्छा खासा कसबा और म्युनिसपैलटी है, लेकिन सड़कें और गलियाँ वैसी ही गन्दी हैं, जैसी कि और शहरों और कसबोंकी। हम लोगोंने डेढ़ रुपयेमें सिरहालीका ताँगा किया। सिरहालीमें पुलिसका थाना है, और पासमें किलानुमा सराय। पंजाबमें अंग्रेजी शासन उसी तरह चला आरहा है, जैसे ४० वर्ष पहिले था और गाँवोंमें थानेदारका रोब लाटसाहबसे कम नहीं है। ताँगेसे उतरकर हम लोग पैदल चले। सिरहाली बहुत बड़ा गाँव है, और सबसे बड़े मकान हिन्दू साहूकारोंके हैं। "कोमा गाता मारु" वाले बाबा गुरुदत्त सिंहकी यहीं जन्मभूमि है। गाँवके बाहर निकलकर हम खेतोंके रास्ते चले। यहाँकी भूमि बहुत ही उर्वर है। खेत उतने बड़े-बड़े नहीं है, बाकी सभी चीज़ें बड़ी-बड़ी हैं—भैंसें भी बड़ी, गाएँ भी बड़ी, औरतें भी बड़ी, मर्द भी बड़े। एक जगह मैंने हलवाहेको दो विशाल बैलोंसे हल जोतते देखा, वह बीच-बीचमें गाना भी गा रहा था, और जब बैल कुछ मीठे पड़ते, तो उन्हें गालियाँ भी देता, बादमें फिर अपनी गीतकी कड़ीको गाने लगता। पंजाबके साथियोंने पंजाबीमें बहुत सी कविताएँ की हैं। मैंने कला-मालासे कहा—"साथी! तुमने ऐसी भी कविताएँ बनाईं, जिनके गानेकेलिए यह हलवाहे लालायित हों?" "नहीं बनाईं हैं," यह मैं जानता था। पंजाबी कवि भी शिक्षित वर्गकेलिए कविता बनाना चाहते हैं, उनको यह ख्याल नहीं है कि उनकी कविता के प्रेमी इन गाँवोंमें भी रहते हैं। सिरहालीसे ददेर तीन मील है। एक-डेढ़ घंटेमें हम वहाँ पहुँच गए, बाबा वसाखासिंहने देखते ही आके झप्पी मार ली (कंठसे लगा लिया)। देवलीसे ही मैं बाबाको जानता था। कितना बच्चोंका-सा सरल और स्निग्ध स्वभाव? उन्हें अजातशत्रु कहा जा सकता है, यद्यपि वह जोंकोंको हटाकर मजूरों-किसानोंका राज कायम करना चाहते हैं। शत्रु भी उनका सम्मान करते हैं। उनका सारा जीवन कष्ट और तपस्याका है। वह जहाँ रहते हैं

वहाँ प्रेमकी एक विस्तृत परिधि बन जाती है। अपने जन्मग्राममें बहुत कम संतों की प्रतिष्ठा होती है। तुलसीने भी कह दिया—

"तुलसी तहाँ न जाइए, जहाँ जनमको ठाँव।
गुन औगुन जानै नहीं, धरै पाछिलो नाँव।"

लेकिन बाबा वसाखा सिंह सन्त हैं, और अपने गाँवमें भी उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा है। भगवानके वह बड़े भक्त हैं, और मेरे ऐसे भगवान्का शत्रु मिलना मुश्किल है। लेकिन उनकी भक्तिमें लोक-सेवाका बड़ा भाग है। कई सालोंसे वह तपेदिक के मरीज़ हैं। जेलसे भी उन्हें मृतप्राय समझकर छोड़ा गया, लेकिन अब भी जब तक साँस है, तब तक वह अपना एक एक क्षण जनसेवामें लगाना चाहते हैं।

मैंने बाबाकी जीवनीका नोट लिया। समय ज्यादा नहीं था, इसलिए थोड़ा बहुत ग्रामीण जीवन देखा। दूसरे प्रान्तोंसे पंजाबी किसान ज्यादा सुखी है, इसके कई कारण हैं। यहाँ बड़े-बड़े जमींदार नहीं हैं, किसान अपने खेतका खुद मालिक होता है, आबादी भी बहुत घनी नहीं, इसलिए लोगोंके पास काफ़ी खेत होता है। पंजाबी किसान कूपमण्डूक नहीं होता। वह अपनी जीविकाकेलिए सातों समुद्र फ़ाँद जाता है। वैसे युक्त प्रान्त और बिहारके लाखों आदमी समुन्दर फाँद गए हैं, मगर स्वतन्त्र मज़दूरके तौरपर नहीं, बल्कि शर्तबन्द कुलीके तौरपर, वह जहाँ गए वहीं बस गए। पंजाबी किसान स्वतंत्र मजूरी करनेकेलिए कनाडा पहुँचा, युक्तराष्ट्र अमेरिका पहुँचा, मैक्सिको, पनामा और अर्जन्तीन तक छा गया। साथ ही उसको अपने गाँवसे प्रेम है, इसलिए घरमें पैसा भेजता है, खुद भी आता है। बाबा वसाखासिंह भी मजूरी करनेकेहीलिए युक्तराष्ट्र अमेरिका पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने अपनी खेती कर ली थी, लेकिन जब १९१४ ई० में देशकी आज़ादीकी पुकार हुई, तो सब छोड़ छाड़कर भारत चले आए। तबसे उनके जीवनका अधिक भाग जेलों, और नज़रबन्दियोंमें बीता। उस दिन शामको मैंने पहलवान बिशनसिंहको देखा। यह भी स्वतन्त्रताकी लड़ाईमें कालेपानीकी सजा पाए थे। अब उनका शरीर ६० के करीबका होगा, लेकिन मन उसे देखनेसे थकता नहीं था। मैं भी काफ़ी लंबा चौड़ा हूँ, लेकिन मेरे जैसे तीन आदमी बिशनसिंहके शरीरसे निकल सकते हैं। भावी भारतमें हमारे यहाँ कैसे मर्द होने चाहिए, बिशनसिंह उसका एक नमूना है। उनकी चौड़ी छाती, उभड़े हुए कन्धे शेरकी तरह बड़े बड़े पंजे अब भी बतला रहे थे, कि उस शरीरके भीतर कितना बल रहा है।

१७ को फिर हम उसी रास्ते तरन तारन आए और वहाँसे लारीपर ही बैठे अमृतसर पहुँच गए ।

बावा सोहनसिंह भकना भी अमृतसरमें आ गए थे, उनकी जीवनीका नोट तो मैंने वहीं ले लिया, लेकिन वह मुझे अपने घर ले गए बिना नहीं छोड़ना चाहते थे। १८ अक्तूबरको हम दोनों रेलसे स्टेशनपर उतरे, और वहाँसे दो मील चलकर भकना पहुँचे । बावा सोहनसिंह भी मजूरी करने अमेरिका पहुँचे थे, और एक बड़ी पैतृक सम्पत्तिको धर्मके नामपर फूँक-फाँककर। अमेरिकामें उन्हें मालूम हुआ, कि स्वतन्त्र देशमें पैदा होनेका क्या आनन्द होता है । उन्होंने वहांके हिन्दुस्तानियोंमें आज़ादीकी रूह फूँकी, गदर पार्टी कायम की, जिसके वही प्रथम सभापति बनाए गए। आखिरी कुर्बानी करनेकेलिए वह १९१४ में हिन्दुस्तान आए, और फ़ाँसीके तख्तेसे उतर अपने दूसरे साथियोंकी तरह अपने जीवनके अधिक भागको जेलोंमें बिताया। देवलीमें मैं देखता था कि कमर टेढ़ी हो जानेपर भी बाबा कितना मेहनती विद्यार्थी अपनेको साबित कर रहे हैं। बावाकी चार पीढ़ीसे एक ही एक सन्तान होती आई थी, और अब उनके साथ वंश ख़तम हो रहा है—लेकिन इसे ख़तम होना नहीं कहना चाहिए, उन्होंने अपनेको एक विशालवंशमें विलीन कर दिया। गाँवके भीतरका मकान उन्होंने कन्यापाठशालाकेलिए दे दिया है, और रहनेकेलिए अपने खेतपर एक मकान बना लिया है । यह खेत भी वह पार्टीको लिख देनेकी सोच रहे थे। ५,६ घंटा रहनेके बाद फिर मैंने जाकर शामकी गाड़ी पकड़ी, और उसी दिन शामको लाहौर पहुँच गया ।

८,९ वर्ष बाद मैं अबकी बार लाहौर आया । लाहौर दिनपर दिन बढ़ता जा रहा है । मेरे विद्यार्थी-जीवनके समय यहाँ अंग्रेज कम्पनियोंकी बड़ी बड़ी कोठियाँ नहीं थीं, लेकिन अब तो चौरंगी जैसी इमारतें दिखाई पड़ती हैं। मैं लाहौर गया था, कुछ जीवनियोंकेलिए । वह काम तो हो गया, फिर दोस्तों से मिलना जुलना था। पंडित विश्वबन्धु शास्त्रीने वैदिककोषके जिस कामको अपने हाथमें लिया था, उसने बहुत विशाल रूप धारण किया है । वैदिक वाङ्मयका उनका अनुसंधान एक चिरस्मरणीय काम रहेगा। एम० ए० में उन्होंने इतने नम्बर पाए थे, जितने पंजाब यूनिवर्सिटीमें उससे पहिले किसीको नहीं मिले थे । शास्त्री पास करनेपर विलायत जाकर पढ़नेकेलिए उन्हें छात्रवृत्ति मिल रही थी । वहाँसे लौटकर एक पक्के साहब बहादुर की तरह आरामका जीवन बिताते, बच्चे-बच्चियोंसे घर भरता, और भविष्यकेलिए अपना सूत्र छोड़ जाते; लेकिन तरुणाईमें ही उन्होंने इन सब चीज़ोंपर लात मार दिया,

अनुसन्धान और अध्ययनको अपने जीवनका ध्येय बनाया। अनुसन्धानने उनकी दृष्टिको विस्तृत बनाया। उन्होंने अपने विचारोंके सामने प्रतिष्ठाकी पर्वाह नहीं की। वेदसे उनके विचारोंको डिगा देखकर आर्य समाजमें बहुत विरोध किया गया; लेकिन उन्होंने उसकी पर्वाह न की। मुझे यह प्रसन्नता हुई कि मेरे पुराने मित्रोंमें कमसे कम एक तो ऐसे हैं, जिनका विकास अभी तक रुका नहीं है, अर्थात् अभी वह सजीव हैं। २० अक्तूबरको साथी बी० पी० एल० बेदी मुझे अपनी कुटियामें ले गए। माडल टाउन लाहौरसे काफी दूर है। मध्यमवर्गकी नई बस्ती है। वहाँ लोगोंने नए नए सुन्दर घर बनवा लिए हैं, लेकिन बेदीकी अपनी झोपड़ी—फूसकी दीवार फूसकी छतकी है। जमीन तो भाईकी है, जिसने अपने फकीर अनुज और अनुज-वधूको झोपड़ी खड़ी करदेनेकी इजाजत दे रखी है, इसी झोपड़ीमें बेदी और उनकी पत्नी फ्रेडा नववर्षके लड़के रंगाके साथ रहते हैं। बेदीकी जीवनी मैं "नए भारतके नए नेता" में लिख चुका हूँ। दोनों आक्सफोर्डके ग्रेजुएट हैं। लेकिन उन्होंने देशभक्तिके कंटकाकीर्ण पथको अपनाया। बेदी भी देवलीमें रहे थे। फ्रेडाको मैं वहाँ नहीं देख सका। फ्रेडा सोलहों आना पंजाबिन बन गई है, कपड़े लत्ते और खाने पीने ही में नहीं; भावों और विचारोंमें भी। उसकी जेठानी आई० सी० एस० की बीबी शुद्ध पंजाबिन है, लेकिन सास जितनी अपनी अंग्रेज बहूको मानती है, उतनी बड़ी बहूको नहीं। जब आमदनी करनेका रास्ता उन्होंने छोड़ दिया, तो खर्च कम करनेका रास्ता भी निकालना ही चाहिए, और दोनोंने अपने जीवनको बहुत सरल कर लिया है। मैंने हँसते हुए फ्रेडासे कहा—लोलाको भी मैं कुछ दिनोंकेलिए तुम्हारे पास छोड़ दूँगा, तुम उसे अपनी चेली बनाना और सब गुर बतला देना। उसने कहा—हाँ, ज़रूर। बेदी पंजाबीका बहुत सुन्दर वक्ता है। मैंने कहा, पंजाबीमें कुछ लिखो। उसने हाँ कहा है। रंगा बापकी ही तरह बड़ी सुन्दर पंजाबी बोलता है और अपने दर्जेके लड़कोंका सरदार है। उसे ख्याल भी नहीं आता, कि वह पंजाबी छोड़ कुछ और है।

अगले दिन (२१ अक्टूबर) लाहौरके साहित्यिकोंने मेरे स्वागतमें एक चाय-पार्टी दी। पंजाबी, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजीके लेखक वहाँ जमा हुए थे। मैंने साहित्यके बारेमें कुछ कहा। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूपसे भी मुलाकात हुई। अबकी वार मैं उनके यहाँ नहीं जा सका, उलाहना देना उचित था, लेकिन मैं तो अपने राजनीतिक विचारोंके ख्यालसे भी जानेमें संकोच कर रहा था। अभी तक मैंने उनके चेहरे पर बुढ़ापा नहीं देखा था, लेकिन अब उसकी साफ छाप दिखाई पड़ रही थी।

काश्मीर—शेर-कश्मीर शेख अब्दुल्लाकी जीवनी मुझे और लेनी थी, इसलिए

मैं उसी (२१) रात रावलपिंडीके लिए रवाना हुआ। आजकलकी रेल-यात्रामें यदि खड़े होनेभरकी जगह मिल जाए, तो भी बहुत है। लेकिन मुझे तो बैठनेकी जगह मिल गई थी। रातको रावलपिंडी पहुँच गया। रावलपिंडीसे कश्मीर जानेवाली मोटर-में एक सीटका ५५ रुपया किराया पड़ता है, लेकिन आज कल लोग पहाड़ोंसे नीचे उतर रहे थे। अक्टूबरके अन्तमें कौन पहाड़पर जाता है? लारीसे जानेपर १० रुपये और कम पड़ते, लेकिन रास्ते में दो दिन और बिताने पड़ते, इसलिए मैं २५ रुपया देकर मोटरमें बैठा। पहिले कितनी दूर तक मैदानी इलाका था, फिर पहाड़ आया। मरी रास्तेसे कुछ हटकरके ही है, लेकिन ड्राइवर सवारीकेलिए वहाँ गया। शिमला मसूरीकी तरह यह भी साहबों और मध्यवित्त लोगोंकी हवाखोरीकी जगह है। सवारी कोई नहीं मिली, खैर, मैंने मरी देख ली। कई गलियाँ (डाँड़े) पार करके हम झेलम नदीकी उपत्यकामें आए। कुछ दूर तक सीमाप्रान्तमें भी चलना पड़ा। फिर एक पुल पारकर कश्मीर रियासतमें दाखिल हुए। दोमेलमें चुंगीवालोंने चीज़ोंकी देख भाल की, मेरे पास कोई चीज़ ही नहीं थी। आगे सफेदा और बीरीकी पत्तियाँ पीली पड़ कर गिर रही थीं—जाड़ा आ गया था। रावलपिंडीसे श्रीनगर १९८ मील है। ३३ मील रह जानेपर बारामुला आया। यह समुद्रतलते ५२०० सौ फ़ीट (१ मील) ऊपर है। अब सड़ककी दोनों तरफ़ सफ़ेदेकी पाँतियाँ थीं। कहीं कहीं सफ़ेदे काटे गए थे, लेकिन साथ ही नए पौधे भी लग गए थे। अब हम कश्मीरकी विस्तृत उपत्यकामें थे। आजकल तो खैर चिनारकी पत्तियाँ भी अंगारे जैसे लाल रंगको लेकर गिर रही थीं, इसलिए हरियालीका सौन्दर्य कहाँ दिखलाई पड़ता, लेकिन दोबारकी गर्मीकी यात्राओंमें भी मैं अनुभव करता रहा, कि यहाँके नंगे पहाड़ोंमें कौन-सा प्राकृतिक सौन्दर्य है, कि उसकी सुषमा वर्णन करते लोग नहीं थकते।

शामको मैं श्रीनगर पहुँच गया। पता ढूँढ़ते-ढाँढ़ते जम्मू कश्मीर राष्ट्रीय कान-फ़्रेन्सके हेडक्वाटर मुजाहिद-मंज़िलमें पहुँचा। फ़ोन करनेसे पता लगा कि शेख साहब शहर ही में हैं। मुझे श्रीनगर में कुछ देखना भालना नहीं था। पहिली दो यात्राओं-में मैं उसे काफ़ी देख चुका था। अगले दिन (२३ अक्तूबर) शिकारा (छोटीनाव) से मैं मीरां-कदल गया। शेख साहबसे बातचीत हुई, उन्होंने अगले दिन अपने घरपर आनेकेलिए निमन्त्रित किया। इस वक़्त लोग धड़ाधड़ नीचे जा रहे थे, मकान खाली हो रहे थे। बास-नौकाएँ बहुत सस्तेमें मिल रही थीं, लेकिन जाड़ेको बर्दाश्त करनेकेलिए यहाँ कौन तैयार था? इस मँहगीके ज़मानेमें भी मीठी-मीठी नाँखें (नासपाती) बहुत सस्ती बिक रही थीं।

२४ अक्तूबरको मैं शेख साहबके घरकी ओर चला। उनका गाँव सौरा अब शहरका अंग बन गया है, लेकिन है ६ मील दूर। रास्तेमें नौशेहरा पड़ा, इसे सुल्तान जैनुल आब्दीनने अपनी राजधानी बनाया था। सौरामें दुशाला बनानेवाले कारीगर और किसान मजूर रहते हैं, खेत बहुत कम है। शेख अब्दुल्लाको बड़ी कठिनाईके साथ अपनी पढ़ाई जारी रखनी पड़ी। उन्होंने अलीगढ़से एम० एस-सी० किया। छोटी-मोटी सरकारी नौकरी मिली थी, लेकिन जनताकी ग़रीबी और अपमानको देखकर वह अपनेको भूल गए, जनताके हक़केलिए ज़रा भी जीभ हिलानेपर राजके कोप-भाजन हुए। फिर उनका जीवन राजनीतिक संघर्षका जीवन हो गया। सदियोंसे कायर समझे जानेवाले कश्मीरियोंके भीतर उन्होंने रूह फूंक दी। राज्यने गोलियाँ चलवाई। लोगोंको जेलोंके भीतर ठूंसा, लेकिन इसका कोई फल नहीं हुआ। शेखने पहिले अपना काम मुसलमानोंमें शुरू किया था, लेकिन संघर्षने बतला दिया, कि सभी कमेरों-के दुःख एकसे हैं। आज वह कश्मीर रियासतके हिन्दू-मुसलमानोंके प्रिय नेता हैं।

अजय घोष बारामूलामें थे, इसलिए २५ अक्तूबरको मुझे भी आकर वहीं ठहरना पड़ा। महमूदकी बीबी डाक्टर रशीदा भी आजकल यहीं थीं। मुझे अजयकी जीवनी-के नोट लेने थे, बस इतने ही भरकेलिए वहाँ उतरा था। २६ को देखा कि रावलपिंडी जानेवाली लारीका मिलना मुश्किल है, इसलिए अबटावादवाली लारी पकड़ी। ड्राइवर पठान था, और बहुत अच्छा आदमी था। दोमेलके पुलसे सड़क अलग हुई, और हम मुज़फ़्फ़राबाद (२२०० फ़ीट) होते शामको रामकोट (२५७८ फ़ीट) पहुँचे। यहीं सीमाप्रान्त और कश्मीरका सरहद है। अब हम हजारा जिलेमें प्रविष्ट हुए। कुन्हार नदीके किनारे गढ़ीहबीबुल्ला अच्छी बस्ती है। इधर कुछ दूर तक पहाड़ोंमें हमें जंगल नहीं मिला था, लेकिन आगे चढ़ाई आई, पहाड़ चीड़के जंगलसे ढँका था। अब रात हो गई थी। मनसहरामें हमें ठहर जाना पड़ा। होटलमें खाने और ठहरनेका इन्तिज़ाम हो गया। जब दाम सस्ता है, तो मकानकी सजावट और सफ़ाईके देखनेकी जरूरत नहीं।

दूसरे दिन (२७ अक्तूबर) हम सवेरे ही एबटाबाद पहुँच गए। वहाँसे दूसरी लारी मिली, और उतराई ही उतराई उतरते हवेलियाँ पहुँच गए।

यहाँसे रावलपिंडी रेल भी जाती है, लेकिन मैंने लारीसे ही जाना पसन्द किया। अब मैदानी ज़मीन थी। इधरके इलाकोंमें दूसरी जगहोंकी अपेक्षा फलोंका ज्यादा शौक़ है। हरीपुरके बाहर बहुतसे बगीचे थे, और अब तो हमारे अमरूद भी वहाँ पहुँच गए हैं। हसनअब्दाल (पंजा साहेब) पहुँचकर हमने हवड़ा-पेशावर वाली

बड़ी सड़क पकड़ी। लारीमें खूब भीड़ थी। जगह जगह फ़ौजें पड़ी हुई थीं, और फ़ौज़ी कारें तथा लारियाँ इधर उधर दौड़ रही थीं। तक्षशिला बग़लमें छूट गई। दोपहर बाद हम रावलपिंडी पहुँच गए, और तीन बजेकी गाड़ी पकड़कर दिन ही दिन-में लाहौर। आज दीवाली थी, लेकिन चिराग बहुत कम घरोंमें जलाया गया था। देशके बड़े-बड़े नेता जब जेलोंमें सड़ रहे थे, तो कोई कैसे दिल खोलकर दिवाली मनाता?

२६ अक्तूबरकी शामको प्रयागकेलिए रवाना हुआ, और लखनऊमें गाड़ी बदलकर ३१ अक्तूबरके सूर्योदयके पहिले ही प्रयाग पहुँच गया।

प्रयागमें (३१ अक्तूबर—६ दिसम्बर)—मुझे सबसे पहिले "नए भारतके नए नेता" को खतम करना था। इसके लिए प्रयागमें जम जाना पड़ा। इसे लिखते प्रूफ़ भी देखता रहता था। २०, २१ नवम्बरको कानपुरमें प्रगतिशील लेखक संघमें भी जाना पड़ा। प्रेसका काम भी बहुत झंझटका होता है, दूसरे पेशेवालोंकी तरह प्रेसवाले भी मुश्किल हीसे कोई काम वायदेपर करते हैं। "नए भारतके नए नेता" में मैंने ४२ जीवनियाँ दीं, नवम्बरके भीतर ही पुस्तक छप जानेकी उम्मेद थी, लेकिन १० को जब मैं बनारसकेलिए रवाना हुआ, तो दो जीवनियाँ अभी बाकीही थीं। बनारसमें ४ दिन रहा। दोस्तोंसे जहाँ तहाँ मिलता रहा। लड़ाईके बारेमें लोग बहुत बातें करते थे। पहिले जब मैं सोवियतकी अपराजेयताके बारेमें कहता, तो लोग अन्य-मनस्क होकर सुनते, लेकिन अब सोवियतकी विजय उनके सामने थी। स्तालिन-ग्रादमें लालसेनाने जर्मन फ़ौज़ोंको जो जबर्दस्त शिकस्त दी, उसके बाद उसने शत्रुको साँस लेने नहीं दिया। सारा साल लालसेनाकी विजयका साल रहा।

१५ दिसम्बरको ११ बजे दिन की गाड़ी पकड़ी। पहिले तो जगह अच्छी कुशादा मिली। सारनाथसे भरने लगी, औंड़िहारमें और भरी, गाज़ीपुरमें भीड़ हो गई, बलियामें धक्कमधक्का, और छपरामें पहुँचकर यह हालत हुई, कि कचहरी स्टेशन जानेका ख्याल छोड़ दिया, और यहीं उतरकर रिक्शासे पं० गोरखनाथ त्रिवेदीके घर गया।

कालेज हो जानेसे छपरामें कुछ बौद्धिक परिवर्त्तन ज़रूर आया है, यह विद्यार्थियों ही के कारण। वैसे सैकड़ों ग्रेजुएट वकील तो पहिलेसे ही छपरामें रहते थे, लेकिन वकालतका पेशा बहुत हृदयहीन पेशा है। आजके समाजमें उसकी बहुत ज़रूरत है, क्योंकि विशाल वैयक्तिक सम्पत्तिकी रक्षाका भार उसे ही सँभालना पड़ता है। लेकिन वस्तुतः वह प्रतिभाओंके क़बरीस्तान बननेका ही काम देता है। विद्यार्थियोंको पता

लगा, तो वह आने लगे, और राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय और साहित्य नाना विषयोंपर बात चलती रहती। मैंने अपने "दर्शन दिग्दर्शन" में लिखा है, कि हमारे न्याय-वैशेषिकने बहुत-सी बातें यूनानी दार्शनिकोंसे ली हैं, इसी विषयको लेकर मैं कालेजके विद्यार्थियों-के सामने बोला। शायद पच्चीस वर्ष पहिले बोलनेपर इसका बहुत विरोध होता, क्योंकि शताब्दीके आरम्भमें भारतमें जो नवजागरण हुआ, उसका एक अर्थ यह भी लिया जाता था कि भारतने सदा दुनियाको सिखाया है, उसने किसीसे कुछ सीखा नहीं है। लेकिन यहाँ विरोधमें क्षीण आवाज़ उठी, और वह भी इस ग़लत भावको लेकर कि गोया मैं भारतके सारे दर्शन को यूनानकी देन मानता हूँ। मैं तो इतना ही कहता था, कि भारत और यूनानमें दर्शनके सम्बन्धमें काफ़ी दान-आदान हुआ है।

१८ को पटना चला गया। अगले दिन वहाँ अन्न समस्याके बारेमें एक विराट् सभा हुई, जिसमें ६ हज़ार आदमी एकत्रित हुए थे। सालभर पहिले जब कम्यूनिस्ट साथियों-ने अन्न, कपड़े आदि रोज़-रोज़की समस्याओंको लेकर नागरिकोंमें काम करना शुरू किया, तो लोग यही समझते थे, कि कुछ होना-हवाना नहीं है, नाहक ही ये नौज-वान अपना समय बर्बाद कर रहे हैं। लेकिन आज नौजवानोंके सभी प्रशंसक थे। लीग, कांग्रेस, हिन्दूसभा सभी विचारोंके लोग एकत्रित हुए थे। उनकी माँग और उनकी आवाज़ इतनी हल्की नहीं थी, कि सरकार उसकी उपेक्षा करती। लोगोंमें आत्मविश्वास था। एक दिन शामबहादुर बाबूके पास मिलने गया। मैं जब जायसवालजीके यहाँ जाड़ोंमें आया करता था, तो शामबाबूसे रोज़ ही मुलाक़ात हो जाया करती थी। बड़े सरल सज्जन आदमी हैं। १० वर्षोंके भीतर ही कितना परिवर्त्तन हो गया। बुढ़ापे और प्रमेहने मिलकर उन्हें सौ वर्षका बुड्ढा बना दिया। ज़िन्दगीसे बेज़ार थे, बागमें फले आमकी किसी दिन टपकनेकी बारी आती है। उमर ढलनेके साथ आदमीका ध्यान ज्यादातर अपने समवस्यकों या वृद्धोंकी ओर जाता है, और वह उनमेंसे किसीको आज किसीको कल टपकते देखता है; इसी-लिए उसे मानव जीवनके एक ही पहलूका ख्याल होता है, जिससे सिर्फ निराशा ही निराशा बारहों मास नई-नई दिखाई पड़ती है। लेकिन, मानव-उद्यानमें सिर्फ पीले पड़कर टपकने वाले आम ही नहीं होते, बल्कि बारहों मास नई-नई मंजरियों और नई-नई बौरियाँ लगा करती हैं। यदि आदमी उधर ध्यान देता, तो अधिक आशावादी बनता। लेकिन यह तभी हो सकता है, जबकि आदमी अपनेसे पीछे आने वालोंका बाप-दादा बननेका ख्याल छोड़ उनके साथ अभिन्न सौहार्द, सहृदयता स्थापित करें।

छपरा होते २५को बनारस लौट आया। इस साल ओरियन्टल कान्फ्रेंस

(प्राच्य परिषद्) यहीं हिन्दू विश्वविद्यालयमें होनेवाली थी, इसलिए तब तक यहीं ठहरनेका विचार हुआ। भिक्षु जगदीश काश्यपकी कुटिया हिन्दू विश्वविद्यालय हीमें थी, इसलिए रहनेका अच्छा ठौर था। सामने पंडित सुखलालजी रह रहे थे। वहाँ गुजराती जैन भोजनका सुन्दर प्रबन्ध था। किताब लिखने या प्रूफ़ देखनेका झगड़ा-झंझट नहीं था, इसलिए कथा-गोष्ठी ही कालक्षेपकेलिए अच्छा साधन थी। मुनि जिनविजयजी आजकल यहीं ठहरे हुए थे। काश्यपजीको चीन जानेका बुलावा आया था, लेकिन वह जानेमें आनाकानी कर रहे थे। कभी कहते कि वहाँ जापानियों-के बम गिर रहे हैं, कभी कोई दूसरा बहाना करते। मैंने बहुत समझाया कि ऐसे मौक़ेसे फ़ायदा उठाओ, लेकिन मुझे विश्वास नहीं कि महादेव बाबा हिलें-डुलेंगे। सारनाथ आने-जानेकेलिए अपनी योजनाके अनुसार उन्होंने एक रिकशा बनवाया था, जिसमें बैठनेकी जगहको जान-बूझकर एक तिहाई कम करवा दिया था। यह मुटाई कम करनेकेलिए नहीं हो सकता था, शायद कोई दूसरा साथ न बैठ जावे, यही ख्याल काम कर रहा हो, लेकिन बड़े रिकशामें भी बहुत ही कम आदमी उनके साथ बैठनेकेलिए तैयार होंगे। और रिकशाके दोनों किनारोंको इतना ऊँचा कर दिया था कि यदि कोई दुर्घटना हो, तो आदमी कूदकर भाग भी न सके। काश्यपजी दार्शनिक हैं, और दार्शनिककेलिए सब सम्भव है, लेकिन मेरी व्यवहार बुद्धि उसे समझकी बात नहीं समझ रही थी।

एक दिन अस्सीपर मैं पंडित जयचन्द्र विद्यालंकारकी पत्नी शास्त्रिणी सुमित्रा देवी से मिलने गया। अभी बैठा ही था, कि पुलीस का आदमी आ धमका। उसने नाम-ग्राम पूछना शुरू किया। लेकिन मैं तो नामी चोर था, इसलिए बतलाने में हिचकिचाहट क्या होती। हाँ, यह ज़रूर मालूम हुआ कि पुलिस इस घरको फँसाने-की वंशीके तौरपर इस्तेमाल कर रही है।

३० दिसम्बरसे प्राच्य परिषद्केलिए विद्वान आने लगे। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी, डाक्टर सुकुमार सेन और कितने ही दूसरे विद्वानोंसे मुलाक़ात हुई। ३१को सयाजी पुस्तकालयके विशाल हालमें १२वीं प्राच्य परिषद् जुटी। सर राधाकृष्णन सुवक्ता हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है; लेकिन साथ ही हिन्दुओंकी लकीर पीटना भी उनके स्वभावमें है, वह इसी तरहके अनाप-शनाप बोल गये। इसके बाद दरभंगाके महाराजाधिराजने अपनी लिखित वक्तृता पढ़कर परिषद्का उद्घाटन किया। लक्ष्मीवाहन होनेके सिवा उनमें और कौन गुण था, कि विशेषज्ञ विद्वानोंकी इस परिषद्के उद्घाटनका भार उनके ऊपर दिया गया। भारतके वर्णाश्रमधर्मकी

महिमाका उन्होंने खूब गायन किया। लोग सुनते नहीं, तो क्या करते। शामको संस्कृत नाटकका अभिनय हो रहा था, उसी वक़्त पता लगा कि महामहोपाध्याय पंडित बालकृष्ण मिश्रका आज देहान्त हो गया—संस्कृतका एक अद्वितीय पंडित चल बसा।

पहिली जनवरी १६४४को परिषद्के भिन्न-भिन्न उपविभागोंकी बैठकें होती रहीं। डाक्टर अलटेकरने एक लेख पढ़ा, जिसमें कुषाणोंके हाथसे मध्यदेशके मुक्त करानेका श्रेय गुप्तोंको नहीं, यौधेयोंको है, यह उन्होंने प्रतिपादित किया। "वोल्गासे गंगा" लिखते वक़्त जब मैंने 'सुपर्ण यौधेय' नामक कहानी लिखी थी, उसी समय-से दिमाग़में यह ख्याल चक्कर काट रहा था कि भारतके अन्तिम महाशक्तिशाली यौधेयगणके ऊपर एक उपन्यास लिखूं, अब उसके लिखनेका विचार और दृढ़ हो गया।

७

पासपोर्टके चक्करमें (१६४४ ई०)

३ जनवरीको मैं प्रयाग पहुँचा। बम्बईके पत्रसे मालूम हुआ, कि सरकारने पासपोर्ट दे दिया है। ७को मैं बम्बई पहुँचा। पूछनेपर मालूम हुआ कि सरकारने अफ़ग़ानिस्तानके रास्ते नहीं सिर्फ़ ईरानके रास्ते दिया है, और साथ ही यह भी शर्त लगा दी है, कि जब तक ईरान और सोवियतके बीसा नहीं मिल जाते, तब तक पासपोर्टको इस्तेमाल नहीं किया जा सकता (Not available for the Union of Soviet Socialist Republics and Iran without visas from the respective consul offices)

यह पासपोर्ट देना नहीं, खेल करना था। सोवियतका कौन्सल हिन्दुस्तानमें नहीं है, इसलिए यहाँ रहते बीसा कैसे मिलता? ईरानमें सोवियत कौन्सल है, और बम्बईमें ईरानका कौन्सल रहता है, लेकिन उसको लिख दिया गया था कि सोवियत-का बीसा देखे बिना ईरानका बीसा मत दो। आखिर इसका क्या मतलब? इससे तो पासपोर्टका देना और न देना बराबर हुआ। सरकारने अफ़ग़ानिस्तानके रास्ते बीसा शायद इसीलिए नहीं दिया, कि वह ईरानकी तरह उसकी मुट्ठीमें नहीं है। सरकारकी नियतका पता लग गया। बीबी-बच्चेसे मिलनेकेलिए एक मित्र-देशमें

जाने देनेसे इनकार कर वह दुनियामें वदनाम नहीं होना चाहती, साथ ही वह चाहती है, कि मैं हिन्दुस्तानसे बाहर न निकल सकूँ। १३ जनवरीको मैंने भारत सरकारके पास चिट्ठी लिखी कि पासपोर्ट देनेकेलिए जो शर्तें लगाई हैं, उनके साथ मैं सोवियत न जा सकूँगा, इसलिए मुझे अफ़ग़ानिस्तानके रास्ते जानेकी इजाज़त दें, या ईरानी बीसा लेनेमें सोवियत बीसाको पहिले ले लेनेकी शर्त न पेश करें। चार महीनेके बाद तो यह पासपोर्ट मिला था। उसमें यह शोशा लगानेका मतलब था, फिर लिखा-पढ़ीमें कुछ महीने ख़राब करने !

ग्वालियरमें—(१५—१८ जनवरी)—पिछले साल भी विक्टोरिया कालेज ग्वालियरकी छात्रपरिषद्‌ने मुझे सभापति होनेकेलिए निमन्त्रित किया था। तब तो नहीं जा सका था, लेकिन अबकी जाना स्वीकार कर लिया था। १४ जनवरीको पंजाब मेल पकड़ा। अगले दिन शामको ५ बजे गाड़ी स्टेशनपर पहुँची। "सुमन"जी और कितने ही छात्रोंके साथ प्रिंसिपल पियर्स मिले। पियर्स महाशयके नामसे मैं पहिले भी परिचित था। वह सीलोनमें भी रहे थे, लेकिन इसके पहिले मुझे उनका दर्शन नहीं हुआ था। यह मुझे मालूम था कि वह उन अंग्रेज़ोंमें हैं, जो भारतीयोंके साथ भेद-भाव रखनेके विरोधी हैं। उन्होंने तो एक भारतीय महिलासे व्याह करके इसका क्रियात्मक परिचय दिया है। कितनी ही देर तक हमारी बात होती रही। रातको कवि-सम्मेलन हुआ। 'नेपाली','सुमन' तथा कितने ही दूसरे कवियोंने कविता पाठ किया। श्रोताओंने बड़ी दिलचस्पीके साथ सुना। मैं होस्टलमें ठहरा था, और विद्यार्थी मेरे समयका जितना भी इस्तेमाल कर सकें, मैं उसमें बाधा नहीं डालना चाहता था। दिन भर किसी न किसी विषयपर चर्चा छिड़ी रहती। सन्ध्याको छात्रपरिषद् (कालेज यूनियन)का वार्षिक अधिवेशन था। छात्रोंमें पारितोषिक वितरणका काम मुझे करना पड़ा, उसके बाद कुछ बोलना भी पड़ा। फिर चाय-पान और कुछ मनोविनोदके प्रोग्राम रहे। कोई अशिष्ट मज़ाक़ नहीं था, लेकिन कुछ सज्जनोंने एकाध मज़ाक़को पसन्द नहीं किया। आख़िर हम संक्रान्ति युगमें हैं, जहाँ अतीत और वर्त्तमानके दो-दो मानदंड मौजूद हैं। अतीतके मानदंडका कुछ बातोंमें विरोध हो, यह स्वाभाविक है। रातके वक़्त फिर कालेज हालमें सभा हुई, और "सांस्कृतिक एकता"पर बहुतसे व्याख्याताओंने अपने विचार प्रकट किये, मैंने भी कुछ कहा।

१७ जनवरीको ग्वालियरके दर्शनीय स्थानोंको देखना था। पुरातत्त्व-विभागके अध्यक्ष गर्दे महाशय और प्रिंसिपल पियर्स साथ लेकर दिखानेको चले। ग्वालियर

(गोपगिरि)का क़िला बहुत पुराना है। ८वीं ९वीं सदीमें भी यहाँ किसी सामंतकी राजधानी थी। क़िला पहाड़के ऊपर बहुत ही सुरक्षित स्थानपर है। चित्तौड़की तरह यहाँ भी बहुतसे प्राचीन मंदिर हैं, यद्यपि उस समयकी मूर्त्तियाँ तोड़-ताड़कर फेंकी जा चुकी हैं। तेलीका मन्दिर वास्तुकला और मूर्त्तिकला दोनोंकी दृष्टिसे बहुत सुन्दर है। शायद यह नवीं शताब्दीका है, और चालूक्य वंशी द्वितीय तैलपका बनवाया है, लेकिन तब इसका समय १०वीं सदी होगा। तैलपने भोजके चचा मुंजको पराजित किया था, और उसीने राष्ट्रकूट वंशके अन्तिम राजा द्वितीय कर्कको पराजित करके उस वंशका उच्छेद किया था। यहाँ मूर्त्तियाँ सिर्फ़ दीवारोंमें बच रही हैं, और सभी अंग-भंग हैं। मन्दिरमें अब कोई मूर्त्ति नहीं है। सास-बहूका मन्दिर वास्तुकलाकी दृष्टिसे अच्छा है, लेकिन तैलप मन्दिरके टक्करका नहीं। वहाँसे हम राजा मानसिंहके महलको देखने गये। इसे १५वीं सदीमें ग्वालियरके इस स्वतन्त्र राजाने बनवाया था। अकबर और जहाँगीरके मकानोंको देखनेसे भी मालूम होता है कि उनमें आजके मकानोंकी तरह हवा, रोशनीका इन्तिज़ाम नहीं था। यहाँकी रानियोंकी कोठरियाँ तो काल-कोठरीसी मालूम होती हैं? वैसे वास्तुकला बुरी नहीं। नीचे उतरकर पुराने ग्वालियरमें होते म्यूज़ियम गये। यह एक पुराने महलमें अवस्थित है, और गर्देजीके अथक परिश्रमका प्रमाण है। संग्रह थोड़ा, लेकिन बहुत अच्छा है। उन्हें क्रमसे रखनेमें बहुत कौशल दिखलाया गया है। रातको ग्वालियर रियासत छात्र-संघका अधिवेशन था। साम्यवादका रियासतके छात्रोंपर प्रभाव है, किसान सभापर प्रभाव है, और मज़दूरोंपर भी उसका प्रभाव है। भला, यह कैसे हो सकता था कि साम्यवादके बढ़ते प्रभावको सभी लोग पसन्द करें। प्रबन्धक अच्छी तरह समझ सकते थे कि कुछ विरोधी गड़बड़ करनेको तैयार हैं। अधिवेशन शुरू हुआ, मैंने व्याख्यान दिया, कोई कुछ नहीं बोला। इसके बाद लोगोंने बड़े-बड़े प्रस्ताव पढ़ने और उसपर लम्बी-लम्बी स्पीचें देनी शुरू कीं। श्रोता इसकेलिए तो आये नहीं थे, वह आये थे बाहरके वक्ताओंका व्याख्यान सुनने। संघवालोंको चाहिए था, कि अपने प्रस्तावोंको प्रतिनिधियोंमें पास करा लेते। एकाध प्रस्तावपर लोगोंको समझानेकेलिए एकाध व्याख्यान भी हो जाते, तो कोई हर्ज नहीं था। हिन्दू सभावालोंने "राहुलजी गोभक्षक हैं, वह हिन्दुओंके दुश्मन हैं", इत्यादि-इत्यादि कहकर लोगोंको भड़कानेकी कोशिश की, लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। राहुलजी यहाँ सभामें बोल रहे थे, तो भी गड़बड़ी करनेकी उनकी हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि वह जानते थे, कि श्रोतृमंडलीमें उनका कोई साथ नहीं

देगा। लेकिन जब बड़े-बड़े प्रस्तावों और लम्बे-लम्बे व्याख्यानोंको सुननेसे जनता उकता जाये, तो दस आदमी भी सभामें गड़बड़ी पैदा कर सकते हैं। अधिवेशनके सभापति डाक्टर रामविलास शर्मा ज्यों ही बोलनेकेलिए उठे, कि आठ-दस आदमियोंने हल्ला शुरू किया। जनता तटस्थ होकर तमाशा देखती रही। प्रस्ताव तो पास हो गये, लेकिन अधिवेशन शान्तिपूर्वक समाप्त नहीं हुआ।

१८ जनवरीको एक ही दिन मेरे चार जगह व्याख्यान रखे। मैंने भी कहा, जितनी मरजी हो, जोत लो। सबेरे मुरारके आर्यसमाज मन्दिरमें सम्मिलन हुआ। यहाँ व्याख्यान नहीं, शंकासमाधानके तौरपर घंटे-डेढ़ घंटे तक सत्संग चलता रहा। मैंने बतलाया कि क्यों हमारे समाजमें आमूल परिवर्त्तनकी जरूरत है। फिर मुरार हाई स्कूलके विद्यार्थियोंके सामने "सोवियत शिक्षा"पर व्याख्यान दिया। विद्यार्थियोंसे ज्यादा उसे शिक्षकोंने पसन्द किया, क्योंकि शिक्षित वर्गका जीवन आजकी व्यवस्थामें सबसे चिन्तापूर्ण है। खानेके बाद सार्वजनिक सभाभवनमें कितने ही चिन्तनशील व्यक्तियों और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओंसे वार्त्तालाप होता रहा। शामको ७ बजे हिन्दी साहित्य सभाकी ओरसे "तिब्बतमें भारतीय संस्कृति और साहित्य"पर व्याख्यान दिया। यहाँ बहुत काफ़ी संख्या शिक्षितों और साहित्यिकोंकी थी। मैं उसी रातको दिल्लीकेलिए रवाना होनेवाला था, लेकिन घी-तेलके खानोंने पेटको खराब कर दिया। कई दस्त हुए और आज 'सुमन'के घरपर रुक जाना पड़ा। 'सुमन' हिन्दीके एक उदीयमान तरुण कवि हैं। उनसे हिन्दीको बहुत आशा है।

१६ तारीखकी रातको मैं पेशावर एक्सप्रेससे दिल्लीकेलिए रवाना हुआ।

दिल्लीमें (२०-२३ जनवरी)—सबेरे ७ बजे ही हमारी गाड़ी दिल्ली पहुँच गई। पासपोर्टकेलिए कुछ कोशिश करनी चाही, किन्तु मेरे साथियोंकी भी सलाह हुई कि इससे कोई फ़ायदा नहीं। जहाँ सन्देश पहुँचा न था, वहाँ पहुँचा दिया।

२३ जनवरीको दिल्लीकी पार्टी-कान्फ्रेन्स हुई। दिल्लीमें कम्यूनिस्तोंकी शक्ति पहिली यात्रासे अब कई गुना बढ़ गई थी। पार्टी मेम्बर भी ज्यादा थे, और यज्ञदत्त अब अकेले नहीं थे। फारूकी, बहाल सिंह और दूसरे भी कई साथी दत्तचित्त हो काम कर रहे थे। दिल्लीके नौ-दस हजार मुनीमोंका दृढ़ संगठन था—हिन्दू मुसल्मान सभी मुनीम पार्टी को अपनी पार्टी समझते थे, सरला ने स्त्रियोंमें खूब जागृति पैदा की थी। मिल-मजदूरोंमें भी पार्टीका काम बहुत आगे बढ़ा था। सबेरेके वक्त झंडा फहरानेका काम मुझे दिया गया। शामको ७ बजे सभा शुरू हुई, तो वर्षा होने लगी।

लेकिन पाँच-छ हजार श्रोता बराबर डटे रहे । सज्जाद जहीरकी कलमका जौहर तो मैंने देखा था, लेकिन वह इतने अच्छे वक्ता हैं, यह इसी वक्त मालूम हुआ। ६ बजे नाटक शुरू हुआ। साथ भाई यज्ञदत्तकी पत्नीको मैंने ग्रामीण स्त्रीके भेसमें नाटकमें भाग लेते देखा, वह जरूर पहिलेसे बहुत आगे बढ़ गई थीं ।

मेरा सबसे छोटाभाई श्रीनाथ दिल्लीमें मिठाईका काम करता है, यह मुझे मालूम था । पिछली बार मैंने उसे ढूँढ़नेकी कोशिश की थी, मगर वह नहीं मिला। वह भी सभामें आया था । थोड़ी देर उससे बातचीत हुई। दूसरे दिन मैंने सबेरेकी गाड़ी पकड़ी

इन्दौर (२५–२८ जनवरी)—पानी काफ़ी बरस गया था। शाम तक वर्षा या वर्षाके चिह्न मिलते गए। कोटा पहुँचते वक्त सूर्यास्त नहीं हुआ था। आधी रातको गाड़ी रतलाम पहुँची । डब्बेमें इतनी भीड़ हो गई, कि बाहर निकलना मुश्किल था। इन्दौरवाली गाड़ी खड़ी थी, जाकर उसीमें सो रहा। सबेरे (२५) ८ बजे गाड़ी चली । अब हम प्राचीन अवन्ती और बादकी मालवभूमिमें चल रहे थे। मालव भूमिको सदासे अन्नकी खान समझा जाता रहा है, कथाएँ प्रसिद्ध रहीं कि वहाँ कभी अकाल नहीं पड़ा। भूमि ज्यादा समतल है । काली मिट्टी बतला रही थी, कि वह बहुत उर्वर है। पहाड़ियाँ बहुत कम हैं। इस वक्त गेहूँ-चनेके खेत लहलहा रहे थे। एक किसान कह रहा था—किसानोंकेलिए अच्छा समय है, दो मानी कपासके १०० रुपए आ जाते हैं। हाँ, उनको अगर कोई कष्ट था तो कपड़े और कारखानेकी दूसरी चीजों का। इन्दौर आनेसे पहिले कपड़ेकी कई मिलें मिलीं।

इन्दौरमें मध्यभारत फासिस्टविरोधी लेखक सम्मेलनका मुझे सभापतित्व करना था। मैं समयसे पहिले आया था। आनेकी सूचना भी मैंने पहिलेसे नहीं दी थी। १२ बजे इन्दौर पहुँचा। ताँगा लेकर ढूँढ़नेके लिए निकला। लाल झंडाके कारण ज्यादा भटकना नहीं पड़ा, फिर मुझे साथी सरमंडलके घरपर ले गए। ग्वालियर और इन्दौर दोनों मराठा रियासतें हैं। इन्दौर महाराष्ट्रके और नज़दीक है, इसलिए नगरके निवासियोंमें मराठोंकी काफ़ी संख्या है। यहाँके जो कम्यूनिस्त तरुण हैं, उनमें अधिक संख्या महाराष्ट्रोंकी है, मुझे भी महाराष्ट्र परिवारका अतिथि बनना पड़ा।

अगले दिन (२६ जनवरी) सोवियत सुहृद संघने चायपानका प्रबन्ध किया। कितने ही सोवियत सुहृद वहाँ एकत्रित हुए थे। इन्दौरमें सार्वजनिक सभाकी मनाही थी, इसलिए व्याख्यान खुले तौर से नहीं हो सकता था। यहाँ मैंने सोवियतके बारेमें कहा। संघके पास सोवियतसे आई बहुतसी पुस्तकें, चित्र और कार्टून थे।

एक बड़ेसे चित्रमें एक बड़ा ही भावपूर्ण दृश्य दिखलाया गया था। लालसैनिक पीठपर बन्दूक रखे द्नियेपर् नदीके किनारे पहुँचकर अपने फौलादी टोपको उतार उसमें महा-नदीका जल भरकर पी रहा था। उसके चेहरेपर वैसेही भाव थे, जैसे मातृ-स्तन से महीनोंका वंचित शिशु माँके स्तनको अपार आनन्दके साथ पी रहा हो। सोवियत-जनोंकेलिए अपनी नदियाँ बहुत ही प्रिय और पुनीत हैं। दो वर्ष पहिले द्नियेपर् महानदी जर्मनोंके हाथमें चली गई थी, आज लाल सैनिक माता द्नियेपर्के तट पर पहुँचा, और खूब अघाकर उस पुण्य-जलको पी रहा है। हम भी गंगासे प्रेम करते हैं, लेकिन हमारा प्रेम वैसा लौकिक, साकार नहीं है।

शामको मराठी साहित्य समितिके हालमें सम्मेलन शुरू हुआ। हालमें जितने आदमी आ सकते थे, उतने भरे थे। शामू संन्यासीने स्वागत पढ़ा। मैंने अपना भाषण सुनाया। अगले दिन सवेरे फिर बैठक हुई। कई निबन्ध पढ़े गए और कितने ही प्रस्ताव पास हुए। दो घंटे बाद होल्कर कालेज में विद्यार्थियोंके सामने सोवियत शिक्षापर व्याख्यान दिया। ऐसे व्याख्यान मैं कई वर्षोंसे देता आ रहा हूँ, लेकिन अब लोग दिलचस्पी ही नहीं विश्वासके साथ सुनते हैं, क्योंकि लालसेनाके विजयोंने २५ सालोंके सोवियत-विरोधी गन्दे, झूठे प्रोपेगण्डाको निर्मूल साबित कर दिया है; लोग समझते हैं कि सोवियतमें जरूर कोई ऐसी बात हुई है, जिसने ज़ारकी रूसी सेनाको दुनियाकी सर्वश्रेष्ठ सेनामें परिणत कर दिया। शामको मिल-मजूरोंके सामने व्याख्यान दिया। रातको फिर सम्मेलन शुरू हुआ। आज अधिकतर सांस्कृतिक प्रोग्राम रहा। शामूने भीलोंका एक गाना गाकर उनका नृत्य दिखलाया। यह नृत्य सामूहिक हुआ करते हैं, अकेले नाचनेमें उतना मज़ा कैसे आ सकता है, और साथ ही वहाँ कोई बाजा भी नहीं था। लेकिन शामूने उसके महत्त्व को समझा है, यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। लोगोंने बहुत पसन्द किया और, शामूको कई पारितोषिक मिले। अन्तमें मेरे व्याख्यानके साथ संम्मेलन समाप्त हुआ।

दूसरे दिन (२८ फरवरी) कनाडियन प्रोफ़ेसर विल्मोन्ट मिलने आए। कई सालोंसे वह चीनमें अध्यापन कर रहे थे, और अब छुट्टीपर घर लौट रहे थे। उन्होंने चीनकी भीतरी अवस्थाके बारेमें कई बातें बताईं, और कहा कि चाङ् कैशक् की सरकार चीनी कम्यूनिस्तोंको फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहती। रातको जनरल लाइब्रेरीमें तिब्बतपर व्याख्यान दिया।

उज्जैनमें (२९-३० जनवरी)—उज्जैनके साथी दिवाकर अपने यहाँ ले जाने-केलिए बहुत उत्सुक थे, मैंने भी सोचा कि १० सालकी पुरानी स्मृतिको फिर ताजा

कर आऊँ। २९ को हम दोनों उज्जैनकेलिए रवाना हुए। फतेहाबाद स्टेशन इन्दौर जाते भी पड़ा था। यह मालवाका बहुत शीतल स्थान समझा जाता है। कोई खास ऊँचाई तो नहीं है, लेकिन मैदान बहुत विस्तृत है, और शायद यहाँ हवा बराबर चलती रहती है। दोपहरको हम उज्जैन पहुँचे।

प्रोफ़ेसर प्रभाकर माचवे के यहाँ ठहरे। उसी दिन पौने तीन बजे माधव कालेज़ के छात्रोंके सामने सोवियतपर व्याख्यान दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ ६-७ हज़ार हस्तलिखित ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है, जिनमें एक भोजपत्रपर शारदा लिपिमें खण्डित बौद्ध सूत्र भी है, जो सम्भवतः गिलगित या इसी तरहके दूसरे स्थानसे मिला था। शामको मज़दूर-राज्यपर एक सार्वजनिक सभामें व्याख्यान देना पड़ा। हज़ारों आदमियोंकी उपस्थिति बतला रहीं थीं कि २५०० सौ वर्ष की पुरानी महानगरी उज्जयिनी आधुनिक बातोंको सुननेकेलिए तैयार है। रातको डाक्टर नागरके घर पर गए। डाक्टर नागर वहाँ नहीं थे। उनकी पत्नीके हाथका मधुर भोजन गंगोत्री यात्रामें मैं अनेक बार कर चुका था, यह कैसे हो सकता था कि वह भोजन कराए बिना मुझे आने देतीं। उस यात्राके परिचित बद्रीबाबू या दूसरे गंगोत्रीवाले साथी नहीं मिले। सवेरे माडल हाईस्कूलके छात्रोंके सामने एक व्याख्यान दिया। दोपहरको ताँगेपर उज्जयिनीके ध्वंसावशेषोंको देखनेकेलिए निकला। पहिले शहरसे बाहर वेश्या टेकरीकी ओर गया। ताँगे को पहिले ही छोड़ देना पड़ा। फिर पैदल चलकर टेकरीपर चढ़े। शायद यह हिन्दुस्तानका सबसे बड़ा बौद्ध स्तूप है—अनुराधपुर (लंका) के रत्नमाल्य-चैत्यसे भी बड़ा। इसकी पौने तीन इंच मोटी ईंटें बतला रहीं थीं कि यह मौर्यकाल में बना। बहुत सम्भव है, भारतके बहुतसे नगरोंमें बनवाए अशोक स्तूपों (धर्मराजिका-चैत्यों) मेंसे यह एक है। और शायद उसी उद्यानमें बना है, जहाँ प्रद्योतका राजोद्यान था, जिसे राजाने अपने पुरोहित तथा पीछे बुद्धके तृतीय प्रधान शिष्य महाकात्यायनको दान किया था। अब यह देखनेमें एक पहाड़ी-सा मालूम होता है। ऊपरसे उज्जयिनीके पासकी विस्तृत भूमि दिखाई देती है। लाखोंकी आबादीकी उज्जयिनी अब कुछ हज़ारका एक कसबा रह गया है। उज्जयिनीने भारतीय संस्कृति और साहित्यकी बड़ी सेवा की है, और शताब्दियों तक वह बौद्धोंका एक महाकेन्द्र रही। ९ वीं-१० वीं शताब्दीमें ही परमार राजाओंने उज्जयिनीसे हटाकर धारामें अपनी राजधानी बनाई और तबसे उस महानगरीका पतन शुरू हुआ, जहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका दर्बार था, जिसमें कालिदास अपनी सरस कविताओंका पाठ किया करते थे,

जहाँ महा क्षत्रप नहपान और चष्टन, रुद्रदामा, और रुद्रसिंहने शासन किया, और इसे विद्या तथा कलाका केन्द्र बनाया। शुंगों और मौर्योंने जिसकी श्रीवृद्धि की, जो एक बार प्रद्योतके शासनकालमें सारे भारतकी राजधानी बननेकेलिए पाटलीपुत्रसे होड़ लगाए थी। वही उज्जयिनी हमारे सामने थी। यद्यपि कपड़ेकी मिलोंकी चिमनियोंसे निकलता धुआँ बतला रहा था, कि उज्जयिनी आधुनिक दुनियाँमें भी जीनेकी आशा रखती है; किन्तु उज्जयिनी फिर अपने गौरवको तभी प्राप्त करेगी, जब मालव अपना प्रजातंन्त्र स्थापित करेंगे, मालवी भाषा शिक्षाका माध्यम बनेगी, उज्जयिनी उसकी राजधानी बनेगी और उद्योग-धंधे तथा शिल्पके एक प्रधान-केन्द्रका रूप धारण करेगी; वहाँसे और आगे उँडासाके पास महासरोवर देखने गये। महानगरी उज्जयिनीमें इस तरहके अनेक् सर रहे होंगे। ऊँची-नीची भूमि और नाले भी बतला रहे थे, कि वहाँ इस तरहके कितने ही बड़े-बड़े सरोवर रहे होंगे। प्राचीन उज्जयिनी सौधों और अट्टालिकाओंकी ही नगरी नहीं थी, बल्कि वह उद्यानों और उपवनोंकी भी पुरी थी। उँडासाके पास हमने वह गड्ढे भी देखे, जहाँ कुछ दिनों पहिले खुदाईमें कंकाल मिले थे। लौट-कर महाकालके पास आये। उज्जयिनीके ध्वंसावशेषोंमें कितनी ऐतिहासिक निधियाँ पड़ी हुई हैं, इसके खोजनेकेलिए अभी उतना प्रयास नहीं हुआ। सड़कोंके निकालने, नालियोंके बनानेमें अप्रयास आबादीके कई स्तर निकल आते हैं, और कहीं-कहीं ग्वालियर सरकारने थोड़ी-बहुत खुदाई भी की है, लेकिन यह बिल्कुल आरंभिक प्रयत्न है। पंडित सूर्यनारायण व्यास अपनी जन्मभूमि और उसके इतिहासके बड़े प्रेमी हैं। लेकिन जब तक वह प्रेम सारी नागरिक जनता ही नहीं, सारी मालव जनतामें नहीं हो जाता, तब तक उज्जयिनी अपने रहस्यको नहीं बतला सकती। उसके पुनरुज्जीवनके-लिए तो पहिले मालव-जनका पुनरुज्जीवन करना होगा। मजूर साथियोंसे कुछ देर तक संलाप होता रहा, फिर साढ़े ७ बजे आर्यसमाजके आँगनमें "दुनियाको भारतकी देन"पर एक व्याख्यान दिया। श्रोता दो हज़ार रहे होंगे। शायद कितने ही भारतप्रेमी समझे थे, कि मैं सिर्फ़ 'देन ही देन'की बात करूँगा, लेकिन मैंने बत-लाया, कि भारत अपनी स्वतन्त्रता और सजीवताके कालमें दुनियाको बहुत देता रहा, साथ ही दूसरोंसे उसने निस्संकोच भावसे लिया भी खूब—यवन लोगोंने अपनी कला, ज्योतिष, दर्शनकी कितनी ही बातें हमें सिखलाईं। शायद कुछ भाइयोंको मेरी स्पष्टवादिता पसन्द न आई होगी।

बम्बईमें (१ फ़र्वरी–५ मार्च)–३१ जनवरीको ११ बजे मैंने नागदासे गाड़ी

पकड़ी। स्टेशनपर वहाँ थोड़ी देर ठहरनेके बाद दिल्लीसे आनेवाली गाड़ी मिली, और मिली भी पैसेन्जरट्रेन, जो कि हर स्टेशनपर ठहरती चलती थी। दोहदमें मैं दिन ही दिनमें पहुँच गया था, यही गुजरात और मालवाकी सीमा है। मालवा छोटा प्रजातन्त्र नहीं होगा। उसकी कपासकी खेती तो अब भी इन्दौर और उज्जैनमें कई कपड़ेकी मिलोंको चला रही है। मालव किसान-मजूर, जनता कई रियासतोंमें बँटी हुई है। औरंगजेबके वक्त (१७०७ ई०) तक मालवा शासकोंके सुभीतेकेलिए अनेकों टुकड़ोंमें बँटा नहीं था, वह अखंड मालव था। आज अखंड भारतकी फ़िकर है, लेकिन अखंड मालवकेलिए भी क्या किसी मुखसे कोई वाक्य निकलता है? खेती बड़ी अच्छी होती है, कपास और कपड़ा भी तैयार होता है, लेकिन मालवजन अपनी परिश्रमकी कमाई आप नहीं खा सकते, उनका ख़ून सामन्तों और सेठोंके महलका गारा बनता है—सामन्तों सेठोंमें अधिकांश अपनेको मालव सन्तान भी कहनेको तैयार नहीं हैं। कब तक मालवामें नंगी मूर्तियाँ और सूखी ठठरियाँ दिखाई पड़ेंगी? कब तक सचमुच ही सस्य श्यामला मालव-माता अपने क्षीरको अपने बच्चोंके मुँहमें देनेसे वंचित रहेगी?

दोहदके बाद अब सीधा गुजरात था। हमारे डब्बेमें मैले-कुचैले कपड़े पहननेकी जगह साफ़ कपड़े पहननेवाले लोग आये, और गाड़ीमें बाज़ारके भाव और सट्टेबाजीकी बातें सुनाई देने लगीं। यह तो नहीं कहा जाता सकता, कि गुजरातमें सिर्फ़ बनिये ही रहते हैं, लेकिन मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तानमें कोई ऐसा प्रान्त नहीं है, जहाँ इतनी अधिक जन-संख्या व्यापारपर गुज़ारा करती है। छोटे व्यापारियोंको बड़े व्यापारियोंके मुँहमें रहकर जीना और मरना है, यह वर्ग साम्यवादसे सबसे अधिक भय खाता है, इसीलिए सबसे अधिक उसका विरोध भी करेगा—कोई आश्चर्य नहीं, जो गान्धीवाद यहाँका राजनीतिक धर्म बना।

रातको ११ बजे गाड़ी बड़ौदा पहुँची। गुजरात-मेलमें मुश्किलसे बैठने भरकी जगह मिली। ख़ैरियत यही हुई, कि अगले स्टेशनोंपर इस ट्रेनकेलिए टिकट नहीं मिलता, इसलिए भीड़ और नहीं बढ़ी। सबेरे ८ बजे बम्बई सेन्ट्रल स्टेशनपर पहुँचे।

पासपोर्टके बारेमें अभी गड़बड़ी ही चल रही थी। मैंने उस दिन (१ फ़र्वरी)-की डायरीमें लिखा था "नौकरशाही पासपोर्टमें गड़बड़ी करनेकेलिए तुली हुई है, कभी कहती है—ईरान सरकार नहीं चाहती। वाह, महाराजा साहेब नहीं चाहते। कभी—इनका पिछला राजनीतिक रिकार्ड ख़राब है। फिर पासपोर्ट देनेका अभिनय क्यों किया? कभी—यहीं बीबी-बच्चेको क्यों नहीं बुला लेते?"

अगले दिन मैंने लोलाको तार दिया, "पासपोर्ट मिल गया है, लेकिन सोवियत बीसा ज़रूरी है। सोवियत सरकारसे कहकर तेहरान और काबुलके कौन्सलोंको बीसा देनेकी हिदायत करवाओ। न हो तो, ईगरके साथ चली आओ। जवाब तारसे देना।" ऐसे तो मैंने कई तार लोलाको दिये, लेकिन जो तार उसके पास पहुँच सके, उनमेंसे यह एक था। आजकल सेन्सर करनेवालोंके आलस्य और दुर्वृत्तिके कारण तार भी लेनिनग्रादसे डेढ़-डेढ़ महीनेमें पहुँचते हैं। लालसेनाने जर्मन फ़ासिस्तोंसे अपनी ही रक्षा नहीं की, बल्कि अंग्रेजोंकी भी रक्षा की, लेकिन भारतके अंग्रेज़ नौकरशाह अब भी सोवियतको हैज़ा और प्लेगकी भूमि समझते हैं और चाहते हैं कि वहाँ कोई जाने-आने न पाये।

मुझे पासपोर्ट मिल गया था, इसलिए सम्भव था कि किसी समय मुझे भारतसे रवाना होना पड़े। मुनि जिनविजयजीने कहा, कि सोवियत जानेसे पहिले वार्त्तिका-लंकारकी एक-दो जिल्दोंको सम्पादित कर दें, तो अच्छा। उन्होंने भारतीय विद्या-भवनमें एक एकान्त कमरा भी दे दिया। दूसरे दिन मैं वहाँ चला गया। तिमहले-पर चारों ओरसे हवा आने लायक़ अच्छा कमरा था। जिस वक़्त बम्बईमें दूसरी जगहोंमें पसीना छूटा करता था, उस वक़्त भी यहाँ हवा आया करती थी। साथ ही लगा हुआ स्नानकोष्ठक था। इसलिए मुझे इधर-उधर जानेकी ज़रूरत नहीं थी। धर्मकीर्त्तिके ग्रन्थ "हेतुबिन्दु"की टीका (अर्चट या धर्माकरदत्तकृत) किसी जैन-भंडारसे प्राप्त हुई थी। इस टीकाकी टीका (दुर्वेक मिश्र) मुझे तिब्बतके ङोर-गुम्बामें मिली थीं। पंडित सुखलालजीने उसका सम्पादन किया था। लेकिन धर्मकीर्त्तिका मूल ग्रन्थ अभी नहीं मिल सका था, इसलिए उनकी इच्छा हुई कि मैं उसको तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें कर दूँ। पहिले मैंने यह काम किया। धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रन्थ "सम्बन्धपरीक्षा"की खंडित कारिकाओंको भी तिब्बती अनुवादसे संस्कृतमें कर डाला। वार्त्तिकालंकार प्रायः १८ हज़ार श्लोकोंके बराबर एक विस्तृत ग्रन्थ है, जो तीन जिल्दोंमें छपेगा। तिब्बती अनुवादसे मिलाकर पाठ-भेद देते हुए उसको सम्पादित करना सबसे बड़ा काम था। उसमें लग गया और दो जिल्दोंका काम पूरा करके ही छोड़ा।

१४, १५ फ़र्वरीको स्वामी सत्यस्वरूप और उनके गुरु स्वामी गंगेश्वरानन्दसे साक्षात्कार हुआ। स्वामी सत्यस्वरूपसे तो बनारसमें भी भेंट हो चुकी थी, लेकिन स्वामी गंगेश्वरानन्दसे मिलनेका यह पहिली बार मौक़ा मिला था। उन्होंने स्मरण दिलाया कि २१ साल पहिले गया कांग्रेस (१९२२)के वक़्त मैंने आपका व्याख्यान

सुना था। दोनों ही संस्कृतके पंडित हैं और साथ ही बुद्धिवादी। स्वामी सत्य-स्वरूपके विचारोंमें बनारस छोड़नेके बाद और भी तेज़ीसे विकास हुआ है। साधु शान्तिनाथकी वह बड़ी प्रशंसा कर रहे थे और कहते थे कि उस निर्भीक, निर्लोभ प्रतिष्ठात्यागी महापुरुषकी भी जीवनी आपको लिखनी चाहिए। मैंने शान्तिनाथ-की प्रखर बुद्धिका चमत्कार उनके ग्रन्थोंमें देखा है, मैं चाहता हूँ कि उनकी जीवनी लिखूं, लेकिन अभी मेरे पास इतना समय नहीं था, कि उनकी खोजमें निकलूं। "वोल्गासे गंगा", "मानवसमाज" आदि मेरी पुस्तकोंको गुरु शिष्यने पढ़ा है। सत्य-स्वरूपजी कह रहे थे, साधुओंमें कितने ही इनको पढ़कर बहुत सन्तुष्ट हुए हैं। एक विद्वान संन्यासी तो कह रहे थे—रास्ता तो हमें यही सच्चा और श्रेयस्कर मालूम होता है, लेकिन करें क्या ? हमारे भक्त हैं, यही सेठ लोग, और उनके लिए यह कुनैनकी गोलियाँ हैं !

२० फ़र्वरीको माटुंगा गया। वहाँ एक आधुनिक ढंगके दर्शन पंडितसे मुलाक़ात-हुई। वह व्यवहारमें मार्क्सकी नीतिको स्वीकार करते थे, किन्तु दर्शनमें अपनेको और ऊँचे तलपर पाते थे, "असीम"को सीमित करनेकेलिए तैयार नहीं थे। उनके लिए सत्य असीम था। मैंने कहा, सीमासे परे क्या है, इसका हमको ज्ञान नहीं है, फिर अपने अज्ञानके बलपर असीमके बारेमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ करना क्या निराधार नहीं है। हमारा ज्ञान जगतके उतने ही अंशको बतलाता है, जहाँ तक कि साइंसकी पहुँच है। साइंसकी पहुँच या सीमाएँ भी बराबर बढ़ती जा रही हैं, इसलिए हमारे ज्ञानकी भी सीमा बढ़ रही है। साइंसकी सीमाओंके विस्तारके साथ हम अपनी दृष्टिका विस्तार करें। लेकिन उतावलेपनमें यदि बुद्धि अँधेरेमें कूदना चाहती है, तो यह दुराग्रह मात्र है। ज्ञानकी सीमा बढ़ानेका एकमात्र साधन है, प्रयोग—साइन्सका व्यवहार। चूँकि प्रयोगकी गति प्रकाश-गति जैसी द्रुत नहीं है, इसलिए बागडोरको कल्पना (बुद्धि) के हाथमें दे देना ग़लत बात है।

२२ फ़र्वरीको लोलाका तार आया। उसने इसे तीन दिन पहिले (१९ फ़र्वरी)-को भेजा था। उसने लिखा था—"व-ो-क्-स् द्वारा भेजा पत्र मिल गया, तार दो क्या लेननग्राद् आनेकी सम्भावना है" (Letter VOKS received. Telegraph possibility arriving Leningrad.) मैंने उसी दिन तार द्वारा जवाब दिया, कि मैं आना चाहता हूँ, सोवियत बीसा भिजवाओ।

बम्बईमें ख़ुराकबन्दी (राशनिंग) हैं, हर आदमीको निर्धारित परिमाणमें भोजन-सामग्री मिलती है। यह निर्बन्ध सिर्फ़ ग़रीबोंकेलिए है। धनी लोग होटलोंमें जाकर

चाहे जितना खाना खा सकते हैं, बाज़ारसे ख़रीदकर चीज़ें ला सकते हैं। आख़िर शासन भी तो विलायती धनियोंका है और धनियोंके फ़ायदेके ही लिए है। फिर शिकायत की क्या जरूरत ?

२४ फ़रवरीके पत्रोंमें पढ़ा, कि चर्चिलने मार्शल तीतोको यूगोस्लावियाका नेता स्वीकार कर लिया। साम्राज्यवादकेलिए यह बड़ी कड़वी घूंट थी, लेकिन, चेम्बरलेनकेलिए भी हिटलरसे युद्ध ठानना क्या कड़वी घूंट नहीं थी ? उसने इस भेड़ियेको ख़ुश करनेकेलिए अपने कितने ही मित्रोंकी बलि दी। कई बार उसके पास जाकर नाक रगड़ी और समझाया कि यदि हम लोग लड़े तो दुनिया बोलशेविक हो जायेगी। लेकिन हिटलरने अपने बोलशेविक दुशमनोंको लोहेके चना जैसा देखा, और साम्राज्यवादी भगतोंको नरम हलवा। इसीलिए, वह इनके ऊपर दौड़ा। चर्चिलने भी अब तक यूगोस्लावियाके जागीरदारों और पूंजीपतियोंकी भगोड़ी सरकारको अपना विश्वासपात्र माना था, लेकिन भगोड़ी सरकारके प्रधान सेनापति मिखाइलोविच यूगोस्लावियामें हिटलरी सेनाकी मददसे देशभक्तोंका संहार करनेमें सारी ताक़त लगा रहा था, और मिखाइलोविचके चेतनिक सैनिक हिटलरका झंडा उठाये घूम रहे थे। तीतोने इस बातको कई बार बतलाया, सोवियत रेडियोने इसे कई बार ब्राडकास्ट किया, लेकिन विलायती पूंजीपति इसे सुननेकेलिए तैयार नहीं थे। मालूम पड़ता था कि उन्हें हिटलरके हरानेकी उतनी फ़िकर नहीं थी, जितनी कि यूगोस्लावियामें फिरसे धनिक सरकारकी स्थापनाकी। हिन्दुस्तानमें हम जानते ही हैं कि चर्चिल-एमरी तथा उनकी दासी यहाँकी नौकरशाही फ़ासिस्तोंके हरानेकी उतनी फ़िकर नहीं करती, जितनी कि लड़ाईके बाद अपने शासनको अक्षुण्ण रखनेकी, भारतमें अखंड शोषण करनेकी। यदि भारतीय राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर सकेंगे और भारतीय सैनिक समझने लगेंगे, कि हम दूसरोंकी आज़ादीकेलिए नहीं, बल्कि अपनी आज़ादीकेलिए लड़ रहे हैं, तो भारतपर अंग्रेज़ोंका शासन अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। यदि सब तरहका कच्चा माल रखते हुए लड़ाई जीतनेकेलिए अत्यावश्यक मोटर, टैंक, हवाई जहाज़ जैसे यन्त्रोंको भारत अपने यहाँ बनाने लगेगा, तो लड़ाईके बाद यहाँ अंग्रेज़ोंका अखंड शोषण नहीं रह सकेगा। अंग्रेज़ पूंजीपतियोंका स्वार्थ उन्हें मजबूर करता था, कि तीतो जैसा कम्यूनिस्त और हिटलरकी नाकमें दम करनेवाले, उसके लड़ाके सैनिक यदि मज़बूत हो जायेंगे, तो राजा-नवाबोंकी यूगोस्लावियामें नहीं चलने पायेगी—पूंजीवाद वहाँसे बिदा हो जायगा। मिखाइलोविच और उसके मालिक भी समझते थे, कि तीतो अपनी वीरतासे वहाँकी जनताके हृदयोंमें जो भाव

पैदा कर रहा है, उससे उनके वर्गको सख्त ख़तरा है। यूगोस्लाविया यदि हिटलर-की गुलामी भी स्वीकार कर ले, तो धनिक वर्ग वहाँ बना रहेगा, इसीलिए अपने वर्ग-स्वार्थकेलिए वह हिटलरसे मिल गया। लेकिन चर्चिलका वर्ग-स्वार्थ हिटलरके वर्ग-स्वार्थसे विरुद्ध जाता था; इसलिए चेतनिककी आशा छोड़कर उसने तीतोको माना। यह हो जानेपर भी तीन महीने बाद तक हिन्दुस्तानकी नौकरशाही चेतनिकोंकी "बहादुरी"का फ़िल्म दिखानेमें प्रोत्साहन देती रही। यूरोपमें कमसे कम यूगोस्लावियामें तो विलायती साम्राज्यवादियोंकी चाल नहीं चली, लेकिन इताली, यूनान, पोलैंडमें अभी भी वह अपनी चालें चलते जा रहे हैं।

२७ फ़र्वरीको मालूम हुआ, कि मेरे उपन्यास "सिंहसेनापति"के कुछ वाक्योंको लेकर कितने ही जैन रूढ़िवादी बहुत उछल-कूद रहे हैं। वह अपने गुजराती-हिन्दी पत्रोंमें लेखकके ख़िलाफ़ कितने ही लेख लिख रहे थे। कौनसी ऐसी बात थी? उपन्यासकी नायक-नायिका नहीं, बल्कि एक परिहासशीला पात्राने जैन साधुओंकी नग्नताको प्राकृतिक प्राणियोंसे उपमा दी, बस इसीपर हमारे दोस्त आगवगूले हो गये। जहाँ तक तीर्थङ्कर महावीरका सम्बन्ध है, उपन्यासके नायकने उनके प्रति बड़े सुन्दर भाव प्रकट किये हैं। लेकिन नायककी बात कौन पूछता है, वहाँ तो कहींसे कुछ लेकर झगड़ा करनेकी प्रवृत्ति है। एकाध जगहसे धमकीकी भी भनक आई। मैंने कहा—कौशाम्बीजीको दिक़ करके सेठ लोगोंका मन चसक तो नहीं गया है? यदि और गोत्रोच्चार न करवाना है, तो ततैयाके छत्तेमें उँगली न डालें।

बेजवाड़ामें अबकी वार अखिल भारतीय किसान सम्मेलन होनेवाला था। मैं सम्मेलनका भूतपूर्व सभापति था; लेकिन, उस साल (१९४०) सम्मेलनमें जानेसे पहिले ही गिरफ़्तार हो गया था। पिछले सम्मेलनमें भी मैं भकना नहीं जा सका, इसलिए अबकी बार वहाँ जानेका निश्चय किया। ६ मार्चको सर्दार पृथ्वीसिंह, डाक्टर अधिकारी और दूसरे साथियोंके साथ हम लोग मद्रास एक्सप्रेससे रवाना हुए। दूसरे दिन ८ बजे सबेरे हैदराबाद आया। यहाँ गाड़ीका डब्बा बदलना पड़ा। भारतकी रियासतें यद्यपि अब भी शताब्दियों पहिलेका स्वप्न देख रही हैं, लेकिन नई विचारधाराको रोकनेकी उनमें शक्ति नहीं है, शायद वह अब भी इसे माननेके-लिए तैयार नहीं, और किसी समय इस्तेमाल करनेका इरादा रखकर अपने फ़ौलादी पंजेको सँभाले बैठी हैं। लेकिन, उस वक़्त उन्हें मालूम होगा कि वह ऐसी प्रचंड अग्निसे मुक़ाबिला करने जा रही हैं जिसके स्पर्शसे उनका फ़ौलादी पंजा गलकर पानी हो जायेगा। हैदराबादके पार्टी-मेम्बरोंको पता लग गया और उनमेंसे दर्जनों

प्लेटफ़ार्मपर पहुँच गये। वह नारे लगा रहे थे और क्रान्तिकारी गीत गा रहे थे। उनमें मुसल्मान ज़्यादा थे, हिन्दू मराठे और आन्ध्र भी थे। दो-तीन स्त्रियाँ भी थीं। लोग चकित होकर देख रहे थे।

इस यात्रामें मैंने सरदार पृथ्वीसिंहकी टाइप की हुई जीवनीको पढ़ना शुरू किया और तै किया कि इसपर हिन्दीमें एक पुस्तक लिखूँगा। ७ मार्चको रातके ८ बजे बाद हम बेजवाड़ा पहुँचे। हमारे रहनेका इन्तिज़ाम मोगल राजपुरम्‌में किया गया था। कुछ देर बाद हम अपने निवासस्थानपर पहुँचा दिये गये।

८

१. आंध्रमें (१९४४ ई०)

दूसरे प्रांतोंके अशिक्षित भी तिलंगा नामसे परिचित हैं, किन्तु युक्तप्रांत और बिहारकी ग्रामीण स्त्रियाँ तिलंगा फ़ौजी सिपाहीको कहती हैं। सम्भव है, अठारहवीं सदीमें कम्पनीकी हिन्दुस्तानी फ़ौज तेलगू बोलनेवालोंसे ही शुरू हुई हो, और पीछे कम्पनी बहादुरके सभी सिपाही तिलंगा कहे जाने लगे। अपनी क़लमसे बंगाली या दूसरे नवशिक्षितोंने भले ही कम्पनी बहादुरकी जड़ें मजबूत की हों, मगर हिन्दुस्तानकी पहिली तलवार, जिसने कम्पनीके राज्यकी बुनियाद रक्खी, वह तिलंगेकी ही थी। तिलंगे हिन्दुस्तानपर विदेशी शासनके लादनेमें सहायक हुए, यह निन्दाकी बात ज़रूर है, लेकिन इसका बहुतसा दोष उनपर नहीं, इतिहासपर है, जिसे यहाँ दिखलानेका अवसर नहीं; परन्तु उनमें सैनिक बल था, इसमें तो शक नहीं।

तिलंगे या तेलगू बोलनेवाले जिस सवालाख वर्ग मील भूखंडमें रहते हैं, उसीको आंध्र देश कहते हैं। आज आन्ध्र देश शासकोंके सुभीतेकेलिए छिन्नभिन्न करके बहुतसे टुकड़ोंमें बाँट दिया गया है। उसका उत्तरी भाग मध्यप्रदेशके चाँदा ज़िले और बस्तर रियासतमें जहाँ काट लिया गया है, वहाँ पश्चिमी भाग—प्रायः सारे आन्ध्र राष्ट्रका एक तिहाई—हैदराबाद रियासतमें है। हैदराबाद शहर ही नहीं, रियासतका सबसे अधिक भाग तेलंगानामें है। पश्चिम-दक्षिणमें कोलारकी सोनेकी खानोंके साथ-साथ आन्ध्रके कितने ही भागको मैसूर रियासतने दबा लिया है। जो भाग ब्रिटिश भारत—मद्रास प्रान्त—में रह भी गया है, वह भी शासकोंकी ओरसे उपेक्षित रहा है। लेकिन आज तीन करोड़ आन्ध्र अपनी इस दुरवस्थाको बर्दाश्त

करनेकेलिए तैयार नहीं है। युग उनके साथ हैं। आज जनता शासकोंके सुभीतेके-लिए नहीं शासन जनताके सुभीतेकेलिए चाहिए, और वह जनताका शासन होना चाहिए। आन्ध्र-जन जानता है, कि न्यायकी दोहाई देनेसे न्याय नहीं मिला करता, निर्बल कभी न्यायकी आशा नहीं रख सकता; इसीलिए आज आन्ध्र करवट बदल रहा है।

आन्ध्र हमेशासे एक पराक्रमशाली जाति रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पुत्र बिन्दुसारको हिन्दूकुश (अफ़ग़ानिस्तान)के पारतक अपनी सीमा फैलानेमें सफ-लता मिली, मगर कलिंग—पूर्वी आन्ध्र—के विजयकेलिए मौर्योंको तीसरी पीढ़ी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। अशोकने सारे भारतके सैन्यबलको एकत्रित कर आन्ध्रोंपर आक्रमण किया, लेकिन आन्ध्र मिट्टीके नहीं फ़ौलादके बने हुए थे; वह अपने प्राणोंसे प्यारी स्वतन्त्रताको ऐसे ही छोड़नेवाले न थे। वीरता और आत्मोत्सर्गमें अपराजित होते हुए भी संख्याके सामने उनको पराजित होना पड़ा, लेकिन साथ ही उन्होंने अशोकको खूब सबक़ सिखलाया। कलिंग-विजयके बाद अशोक चंड-अशोक नहीं धर्म-अशोक बने। वीर आन्ध्रोंकी क़ुर्बानी और उनके रक्तोंसे लाल गोदावरी और कृष्णाकी धाराओंको देखकर अशोकका मानव-हृदय दहल उठा। आन्ध्रोंने अपनी स्वतन्त्रताका कुछ भाग खोया ज़रूर होगा, मगर अगले मौर्य सम्राटोंके समय वह फिर मज़बूत हो गये, और सौ बरस भी नहीं बीतने पाये, कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दिके मध्यमें वह नर्मदा और ओडीसा तकके दक्षिणी भारतके अधिकारी बन गये। इतना ही नहीं शताब्दीके अन्त तक पहुँचते आन्ध्रोंकी विजय ध्वजा गंगा और जमुनाके कछारों तकमें फहराने लगी। हाँ, उस वक़्त महाराष्ट्र और आन्ध्र एक थे। दोनोंके शासकों—सामन्तों—की भाषा एक थी, और शायद कुछ शासितोंकी भी। महा-राष्ट्रमें शासकोंकी भाषाने शासितोंकी भाषाका उन्मूलन कर दिया, लेकिन आन्ध्रोंने पुराने नामके साथ शासितोंकी पुरानी भाषाको ही क़ायम नहीं रखा, बल्कि शासकोंके साथ उनकी भाषाको भी अपनेमें विलीन कर लिया।

ईसाकी दूसरी शताब्दीके अन्तके साथ विशाल आन्ध्रराष्ट्र भी छिन्नभिन्न होने लगा। शकोंद्वारा उन्मूलित कितने ही उत्तरी भारत (उत्तरप्रदेश-बिहार)के राज-वंशोंने आन्ध्रमें शरण ली, शायद वह वहाँके राजवंशके प्रतिष्ठित सम्बन्धी भी थे। जिस वक़्त आन्ध्र-साम्राज्यका ध्वंस हो रहा था, उसी वक़्त ईक्ष्वाकु-वंशी चांतमूलने—जो शायद पूर्वी आन्ध्रका सामन्तशासक था—वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। धान्यकटक और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा)के सुन्दर पाषाण-स्तूप और

उनकी अद्‌भुत मूर्तियाँ चान्तमूलकी बहिन चान्तिसिरी और पुत्र राजा सिरीवीर पुरिसदात (श्रीवीरपुरुषदत्त)की नहीं आन्ध्र शिल्पियोंकी अमर कृतियाँ हैं। विश्वकी इस अद्‌भुत कलाकेलिए आन्ध्रोंका शिर गर्वसे क्यों न उन्नत हो ? लेकिन उन्हीं शिल्पियोंकी सन्तानें आज माचेरलामें पत्थरकी पट्टियाँ काटना और धरनी कोट (धान्यकटक)में ईंट-पत्थर ढोना भर जानती हैं। क्या जनताके साथ उसकी कलाके दिन भी नहीं लौटेंगे ?

तीसरी सदीके बादसे फिर सारा आन्ध्र एक स्वतन्त्र राष्ट्रके तौरपर संगठित नहीं रह सका। इस सामन्त-युगके पारस्परिक कलहके कारण वह अपनी शक्तिको भिन्न-भिन्न राजवंशोंकेलिए लड़नेमें खपाता रहा, और कभी-कभी दूसरेके बापको बाप कहकर भी सन्तोष कर लेता था—विजयनगर था तो शुद्ध कर्नाटक राजवंश लेकिन आन्ध्र भी उसकेलिए अपनत्वका अभिमान करता था।

वर्तमान शताब्दीमें जब देश-व्यापी चेतना जागृत हुई, तो आन्ध्रकी विशृंखल किन्तु सुप्तप्राय चेतना भी उससे स्पंदित हुए बिना कैसे रह सकती थी ? चेतनाके साथ आन्ध्रोंको भान होने लगा, कि उन्हें किस तरह छिन्नभिन्न कर दिया गया है, तभीसे सभी आन्ध्रोंका एक राष्ट्र बनानेका आन्दोलन आरम्भ हुआ। असहयोग-आन्दोलनकी जब देशोंमें बाढ़ आई, तो दक्षिणी भारतमें आन्ध्र राष्ट्रीयताका गढ़ बन गया। नौकरशाहीने इसे तोड़नेकेलिए तरह-तरहके हथियार इस्तेमाल किये, जिनमेंसे एक था अब्राह्मण-आन्दोलन। त्यागका सबसे ज़्यादा ढिंढोरा पीटनेवाले ब्राह्मण दक्षिण भारतमें जाकर अपने स्वार्थकेलिए कितने पतित हुए, इसका उत्तर भारतीय लोग अनुमान भी नहीं कर सकते। उनके अनुसार दक्षिणमें ब्राह्मण और शूद्र सिर्फ़ दो ही जातियाँ हैं और शूद्र भी सत्-शूद्र नहीं। इसलिए ब्राह्मण देवता अपने सिवा किसीके हाथका खाना क्या पानी भी नहीं पी सकते। राजू-रेड्डी-कम्मा-स्त्री-पुरुष युक्तप्रान्त-बिहारके राजपूत और ब्राह्मणोंसे बिल्कुल मिलते-जुलते हैं; दोनोंका चेहरा-मुहरा, रंग-रूप एकसा है और राजुओंमें कितनों हीका तो उत्तरी राजपूतोंसे शादी-सम्बन्ध भी है; लेकिन दक्षिणके ब्राह्मण देवताओंकेलिए ये सभी शूद्र हैं। उनके हाथका पानी भी नहीं पिया जा सकता ! विदेशी स्वदेशी सबको ही म्लेच्छ-शूद्र घोषित करनेवाले इन त्यागमूर्तियोंका अपना आचरण कैसा है ? अंग्रेज़ी पढ़कर विदेशी म्लेच्छोंका बूट साफ़ करनेमें सबसे पहिले यही थे ! फिर उनका कृपापात्र क्यों न बनते ? नौकरियोंमें उनकी भरमार, कचहरियोंमें उनकी भीड़, पुछल्लेधारियोंमें उनका आधिक्य। शारीरिक मेहनतसे दूर रहनेवाले इस काम-

चोर वर्गने अपने सुख और प्रभावको विदेशी शासकोंके शासनमें भी खूब बढ़ाया। ब्राह्मण देवता अब भी अपने आराध्य देवताओंके पूजा-अर्चनाकेलिए कटिबद्ध थे, किन्तु आराध्य देवताओंके पास उतनी चाकरियाँ न थीं। असन्तुष्ट या ईमानदार ब्राह्मणोंको राजनीतिमें आगे बढ़ते देख, नौकरशाहीने अब्राह्मण-अंदोलनको प्रोत्साहन दिया। यद्यपि वह आन्ध्रमें उतना नहीं बढ़ सका, जितना कि तमिलनाडमें, तो भी उसका असर हुआ ज़रूर, जिसका एक फल तो यह हुआ, कि मांटेगु-सुधारके बादके अब्राह्मण-मंत्रिमंडलोंने अब्राह्मण बालकोंकी शिक्षाकी ओर खास तौरसे ध्यान दिया, उन्हें छात्रवृत्तियाँ देदेकर गाँवोंसे निकाल स्कूलों और कालेज़ोंमें भेजा। कुछ समय तक जो नौकरशाही अपनी सफलतापर फूली न समाती रही, उसकी आँखें तब खुलीं, जब १९३१-३२ के सत्याग्रहमें सुंदरैया जैसे झुंडके झुंड अब्राह्मण तरुण छात्रोंको कूदते देखा। इनमेंसे कितने ही हिन्दू विश्वविद्यालयमें पहुँच पाये थे, वहाँ उन्हें समझमें आया कि मुट्ठीभर स्वार्थलोलुप ब्राह्मणोंको ही अपनी सारी शक्तिका निशाना बनाना शरमकी बात है; नवीन और स्वतंत्र आंध्र ब्राह्मणोंका नहीं सबसे अधिक उनका है। उन्होंने कुछ कुछ रूस और साम्यवादके बारेमें भी सुना था, इसलिए भी उन्हें समझनेमें देर नहीं लगी, कि उनका विरोधी शिखंडी नहीं कोई और है। सुन्दरैया, गोपालैय्या नारायणराव आदि आदि सैकड़ों आन्ध्र तरुणोंने देशकी स्वतन्त्रताकेलिए खुले दिल और खुलीं आँखों काम करना शुरू किया, उनके वृद्ध अब्राह्मण पितरोंने बहुत समझाने-बुझानेकी कोशिश की, किन्तु सब निष्फल। तरुणोंने सोचा—सारे खेल तो हम जानते हैं, खानों कारखानोंमें हम काम करते हैं, ब्राह्मण कामचोर तो आकशमें लटक रहे हैं; ठोस आन्ध्रभूमि तो आज़ाद होनेपर हमारी ही होगी। उधर प्रसादराव, वेंकटाचार जैसे ब्राह्मण तरुणोंने भी समझा कि आँखमें धूल झोंकनेके दिन गए, राष्ट्रकी शक्ति छिन्न-भिन्न करनेसे काम नहीं चलेगा। साम्यवादने संकुचित दृष्टिको व्यापक बना दिया, राष्ट्रीय आन्दोलनके अँधेरे कोनोंको प्रकाशित कर दिया। वह बिखरी हुई शक्तियोंको समेटनेमें जुट पड़े। प्रसादरावने अपना ब्राह्मणपन छोड़ा और शूद्रोंके साथ खान-पान करके जनताको एक सूत्रमें बाँधना शुरू किया, सुन्दरैय्याने अछूतोंकी टोली ले रेड्डियोंके कुओंपर धावा बोल दिया। हज़ारों वर्षोंसे चली आती छुआछूतकी दीवार ढहने लगी। बूढ़े सभी जगह क्षुब्ध हुए, अब्राह्मण नेता तथा ब्राह्मण कांग्रेसी सरदार सभी एक स्वरसे विरोध करने लगे।

लेकिन आन्ध्र तरुणोंने सिर्फ समाज सुधारनेकेलिए अपना जीवन उत्सर्ग नहीं किया। वह पत्तोंके नोचनेमें अपना समय नहीं बरबाद करना चाहते,

उन्हें है काटनी, सारी बुराइयोंकी जड़ आर्थिक शोषण और विषमताको। उन्होंने खेत मज़दूरोंकी तक़लीफ़ोंको देखा, और मुक्ति पानेकेलिए उनका संगठन किया। ज़मींदारोंके अत्याचारोंको देखा और प्रतिकारकेलिए किसानोंको संगठित किया, और लड़ाईमें अत्याचार सहनेमें सबसे आगे रहकर। यद्यपि ये नेता उमरमें छोटे थे, मगर उनके गुणोंने शोषित जनताको अपनी तरफ़ खींचा। नौकरशाही उनके पीछे पड़ी। पुराने काँग्रेसी नेता वर्धा तक गोहार ले गए और वहाँसे भी कड़े-कड़े अनुशासन निकले; घर, गाँव और देशके सत्ताधारियोंने उनका विरोध करनेमें कोई बात उठा न रखी, ओछेसे ओछे हथियारोंको उठाया, मगर साधारण शोषित जनता इन तरुणोंके साथ आगे बढ़ती गई। सौभाग्यसे ब्राह्मणोंकी इस व्यवस्थाके कारण आन्ध्र, मालावार आदि प्रान्तोंमें हिन्दू-मुस्लिम पानी, रोटी आदिका सवाल नहीं उठने पाया। ब्राह्मण रोटी-पानीको अपनी जाति तक सीमित रखते थे, शूद्रोंके खान-पानसे उनके धर्मशास्त्रका कोई सम्बन्ध न था। फिर अब्राह्मणोंको क्या पर्वाह ? इसलिए आन्ध्रमें हिन्दू रोटी-पानी मुस्लिम रोटी-पानी नहीं बनने पाया। हाँ, प्रसाद-राव जैसोंके ब्राह्मण-घरोंमें कुछ हायतोबा ज़रूर मची। रेड्डी-कम्मा-परिवारोंने भी अछूतोंके साथ रोटी-पानी करनेमें आपत्ति ज़रूर उठाई। मगर आन्ध्रतरुण अछूतो-द्धारको बिलकुल साधारण सी बात समझते हैं। वह तो लड़ रहे हैं साधारण जनताकी रोटीकी लड़ाई—किसानोंको खेतपर अधिकार दिलाना, बेठ-बेगार उठवाना, पुलिसकी घूस-रिश्वत और जुलुमको हटवाना, और जनताको सभी अत्याचारोंसे त्राण दिलानेकेलिए स्वतन्त्रताकी लड़ाईका सैनिक बनाना। जनताने अपने तजर्बेसे देखा कि एक-एक तिनका अलग-अलग कुछ नहीं है, मगर हजार तिनके मिलकर हाथीको भी गिरा सकते हैं। जनताका आत्मविश्वास बढ़ा, साथ ही इन तरुण नेताओंमें उनकी श्रद्धा भी।

२—किसान-सम्मेलन

२. किसान सम्मेलन—१४-१५ मार्च (१९४४) को बेजवाड़ामें अखिल भार-तीय किसान सम्मेलन होने जा रहा था। नौकरशाही आन्ध्रके किसानों और उनके नेताओंकी शक्ति जानती थी। फ़ासिस्तोंके प्रति जितनी घृणा ये किसान और उनके नेता अपने दिलोंमें रखते थे, उतनी दूर तक नौकरशाही भी नहीं पहुँच सकती थी। अपनी अंधी नीतिके अनुसार नौकरशाहीने राष्ट्रके फ़ासिस्त-विरोधी नेताओंको जेलोंमें बन्द करके पाँचवें दस्तेके कामको आसान कर दिया और वे देश-भक्तिका चोला

पहनकर इन सच्चे देशभक्तोंके खिलाफ़ तरह तरहका प्रचार करने तथा जनताको भड़कानेमें अपनी सारी शक्ति लगाने लगे। किन्तु आन्ध्रके ये तरुण-नेता मजूर-किसान जनताके अपने थे। जनता इनकी बातपर विश्वास करती थी, आखिर, आग-पानीमें सर्वत्र वह इन्हींको अपने साथ देखती थी, अकाल हो चाहे महामारी पुलिस जमींदारका जुलुम हो या विशाखपटनपर जापानी बमवर्षा, सभी जगह हथेलीपर प्राण रख करके कौन लोगोंके पास डँटे रहे, यह वह खूब जानती थी। नौकरशाही किसानोंके उत्साह और शक्तिको बेजवाड़ामें विराट् रूपमें साकार नहीं देखना चाहती थी। उसने सम्मेलनके काममें हर तरहकी रुकावट डालना अपना फ़र्ज़ समझा। हफ़्तों पहिले और पीछे तीस मील चारों ओरके सभी स्टेशनोंसे बेजवाड़ाका टिकट बन्द कर दिया गया। समझा था कि इस तरह किसान सम्मेलनमें आनेसे रुक जाएँगे। लेकिन अपने सम्मेलनमें किसानोंको आनेसे रोक कौन सकता था। उनके पास गाड़ियाँ थीं, कितने हीके पास तो नावें थी और पैर तो सभी के पास थे ! पुलिसके गोइन्दोंने झूठी अफ़वाह फैलानेमें भी अनाकानी नहीं की। कभी कहा—रास्ता बन्द है, कभी कहा—वहाँ तो गोली चलेगी, कहीं कहीं यह भी कि शहर-को सरकार बन्द कर चुकी है। शहरके स्वास्थ्य-विभागके अध्यक्ष बीमारी फैलनेका बहाना करके सम्मेलन बन्द करनेकी अलग कोशिश कर रहे थे। लेकिन आन्ध्रके किसान और उनके नेता कोई कच्चे गुइयाँ नहीं थे। वहाँ पाँच हज़ार सधे हुए (कम्यूनिस्त) पार्टी-मेम्बर, दस हज़ार स्वयंसेवक-स्वयंसेविका, और एक लाख किसान-सभाके मेम्बर, और गाँवके-गाँव लाल झंडेपर जान देनेवाले लोग थे। नौकरशाही, पाँचवाँ दस्ता और लीडरीकेलिए मरनेवाले कितने ही काँग्रेसी नेता सर पटकते रह गए, मगर किसानोंका सम्मेलन बड़े शानसे हुआ। दो हज़ार स्वयंसेवक तो कई दिन पहिले ही पहुँच चुके थे, फिर चार हज़ार और आये। १३ तारीखकी रातको उनकी संख्या आठ हज़ारके भी ऊपर पहुँच गई, जिनमें पाँच सौ महिला-सेविकाएँ थीं।

१४ तारीखको सवेरे आठ बजे वह स्मरणीय जुलूस निकला, जिसकी तुलना काँग्रेसके अधिवेशनके जुलूसोंसे भी करनी मुश्किल है, क्योंकि वह निर्भर करता है उच्च और मध्यम वर्गके उत्साह और धनपर, और यह था किसानों और कमकरोंका जुलूस। दो मील तक आदमियोंका चलता प्रवाह था, जिसमें हज़ारों लाल झंडियाँ और झंडे फहरा रहे थे। हज़ारों कंठोंसे निकले गगन-भेदी नारे विजयवाड़ाको मुखरित कर रहे थे। दर्शकोंसे अट्टालिकाएँ और छत ही नहीं रास्तेके वृक्ष भी ढँके थे। आन्ध्रके उत्तम जातिके बृहदाकार सुन्दर बैलोंकी गाड़ीमें सभापति बैठे थे।

शत्रु शोक मूर्छित हो गये थे और मित्र पुलकित । मुर्दोमें नई चेतना, नई आशा पैदा हो रही थी ।

सम्मेलनमें एक लाखसे ऊपर स्त्री-पुरुष जमा हुए थे । चालीस-चालीस और पचास-पाचस हज़ारकी जनता तो रातके चार-चार बजे तक बैठी संगीत और अभिनयको देखती रहती । मैंने भी काँग्रेसके कितने ही अधिवेशन देखे हैं, लेकिन स्त्रियोंकी इतनी बड़ी संख्या वहाँ भी कभी नहीं देखी गई । १५००० से भी अधिक स्त्रियाँ और ४ बजेके धूपमें ही आकर बैठ जाती थीं । स्वयं-सेविकाओंने पानी पिलानेका बहुत अच्छा इन्तिज़ाम किया था । पानीमें छूत-छातका तो सवाल ही क्या, वहाँ तो एक ही मिट्टीके गिलाससे सभी पानी पी रहे थे । इतनी भारी भीड़में इसे छोड़कर दूसरी व्यवस्था ठीक हो ही नहीं सकती थी ।

रातको १० बजेसे संगीत नृत्य और अभिनयका प्रोग्राम शुरू हुआ । हमारे बंगालके साथी ललित-कलामें आगे बढ़े हुए हैं । हम समझ रहे थे कि यहाँ भी वही बाजी मार ले जाएँगे । हमने समझा था, आन्ध्रकी ग्रामीण जनता झंडा उड़ाने, नारा लगाने और लाख-दो-लाखकी संख्यामें एकत्रित हो अपने उत्साह और प्रेमको दिखानेमें भले ही अग्रणी हो, मगर कलाके इस इस क्षेत्रमें बंगालके पास पहुँचनेमें अभी उसे बहुत देर लगेगी । लेकिन आन्ध्रने हमारी धारणाको झूठा कर दिया । दो दिनके कलाप्रदर्शनके बाद कॉ० मुज़फ़्फ़र और कॉ० गोपाल हलदरने अपने भावोंको प्रगट करते हुए कहा,— इनके पास वह अतल स्रोत (जनता) है, जो सभी कलाओंकी जननी है; यहाँके कर्मी अपने साथ पहिले किसी कलाको लेकर जनताके पास नहीं पहुँचे, बल्कि वह उन्हींसे कलाको सीखते हैं, जब कि बंगालमें हम मध्यमवर्गकी कलाका संस्कार ले जनताके पास पहुँचते हैं और उसकी कलाको ठीकसे सीख नहीं पाते ।

आन्ध्रके साथी जिस वक़्त जनताकी लड़ाइयाँ लड़ने लगे थे, उस वक़्त उन्हें कभी ख्याल भी न आया था, कि जनता राजनीतिक ज्ञान प्राप्त करनेका पात्र ही नहीं है, बल्कि उसका प्रतिदान कहीं ज़्यादा है । सतयुगवाले काँग्रेसी नेता वर्षमें एक बार अंग्रेजी लच्छेदार व्याख्यान देकर और सरकारके सामने कुछ माँग-जाँच पेश करके अपनी देशभक्ति पूरी कर डालते थे, जनतासे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था, जनता उन्हें जानती नहीं थी । गान्धीजीने माँग-जाँचका रास्ता छोड़ा और जनशक्तिका आवाहन किया । अब अंग्रेजीके लच्छेदार भाषणसे काम न चल सकता था और न छठे-छमाहे शहरी अधिवेशनोंसे । उन्होंने अपनी माँगोंको जनताकी माँग बनानेकेलिए उसके बीच जाना शुरू किया । जनताने अँगड़ाई

ली। इन्द्रका सिंहासन डोलने लगा। लेकिन गान्धी आन्दोलनने भी जनताका बाहरी स्पर्शभर पाया। स्वराज और आज़ादीके नारेको जनताने मुग्ध और चकित होकर देखा, उसे निराकार स्वराज्य निराकार भगवान् जैसा ही मालूम हुआ। लेकिन आन्ध्रके तरुण-कम्यूनिस्ट निराकार स्वराज्यकेलिए जनताका आवाहन नहीं कर रहे थे। वह उनकी रोज़-बरोज़की लड़ाइयोंको लड़ाकर बतला रहे थे, कि हम साकार स्वराज्य चाहते हैं—कामचोरोंको नहीं कमकरोंको इस धरतीका मालिक होना पड़ेगा, तभी सब आफ़तोंसे मुक्ति होगी। कई वर्षों तक वह भी किसानोंमें भाषण देते रहे, लड़ाइयोंको लड़ते रहे फिर जनताने उन्हें बतलाया कि व्याख्यान-की भाषाके अलावा एक और भी भाषा है, जिसके इस्तेमालसे थोड़ेमें बहुत समझाया जा सकता है और जनताके अन्तस्तल तकको प्लावित किया जा सकता है। वह भाषा है जनताके गीतोंकी, उसके नृत्यों, अभिनयों, प्रहसनोंकी। कोई-कोई गीत तो पहिलेके किसान-मजदूर-संग्राममें ही बने। संगीत अभिनयका सहयोग पाकर हज़ारगुना शक्तिशाली हो जाता है, इसका पता १९४२ में मिला। शायद किसी शिक्षित तरुणने इस प्रयोगको शुरू नहीं किया। लड़ाई लड़नेवाली जनताके किसी पुत्रने ही देवता-प्रेम या दूसरे पुराने विषयोंकी जगह अपनी नई माँगोंको रखकर कलाका प्रथम प्रयोग किया। शायद तरुण नेताओंमेंसे भी कितने ही गँवारू नाँच-गानेको अच्छी दृष्टिसे भी नहीं देखते थे और स्वयं अखाड़ेमें कूदना तो सभीके लिए लज्जाकी चीज़ थी। लेकिन, जल्दी ही उनका मोह दूर हो गया। उन्होंने देखा, जन-कलाकी भाषा उनके विचारोंको बहुत आसानीसे हरेकके हृदय तक पहुँचा सकती है। किसान वीर और उसकी कुर्बानीकी बुर्र कथा (बीरकथा) को दो साधारण-सी मिट्टीकी एकमुँही ढोलकोंपर गाकर रात-रात भर मंत्र-मुग्ध हो सुननेके-लिए लोगोंको मज़बूर किया जा सकता है। अब उन्होंने अपनी बुर्र कथाएँ बनाईं—किसानोंके युद्ध, मजूरोंकी मिहनत, स्तलिनग्राद, जोया आदि आदि, कितनी ही नई बुर्र-कथाएँ बनीं। किसानों और मजूरोंने अपनेमेंसे कवि और गायक दिए, शिक्षितों-ने भी शिष्यता स्वीकार की, चारों ओरसे लोग इन नई बुर्र-कथाओंकी माँग करने लगे। उस दिन जब मैं गुंटूरमें था, तो पार्टीसे एक किसानने विवाहकेलिए एक बुर्रकथा-मंडली माँगी थी और १६० रु० दक्षिणा पेश की थी। आज आन्ध्रमें जिला-जिलाके ही नहीं तालुके-तालुके (तहसील-तहसील) की अपनी बुर्रकथा-मंडलियाँ हैं।

उस समय आन्ध्रमें ५,००० पार्टी मेम्बर थे, जिनमें सारा समय जनताका ही काम करनेवालोंकी संख्या १००० तक पहुँच चुकी थी। उनमें ७४ सैकड़ा विवाहित थे।

कम्युनिज़्मको घरसे शुरू करना वह जरूरी समझते हैं। उनकी पत्नियाँ, बहिनें और माताएँ पहिले इन तरुणोंको पागल भले ही समझती रही हों, लेकिन अब वह समझने लगीं कि हरेक स्वार्थ-त्याग और आत्मोत्सर्ग पागलपन नहीं है। पिछले सालभर तक स्त्रियोंकेलिए विशेष शिक्षाशाला चलती रही, जहाँ कुछ हफ़्तोंसे ३ महीने तक उनकी शिक्षा होती थी। उनके पति और भाई क्यों विदेह हो रहे हैं, यह बात उन्हें इन क्लासोंमें मालूम होने लगी। राजनीतिक शिक्षाके साथ साथ दस्त-कारी, नर्सिंग, प्राथमिक-चिकित्सा आदि कितनी ही बातें उन्हें सिखलाई गईं। जो आग आन्ध्रतरुणोंमें जल रही थी, वह अब आन्ध्रतरुणियोंके हृदयोंमें जलने लगी। तरुणियोंमें कितनी ही ऐसे राजू, रेड्डी, कम्मा परिवारोंकी थीं, जिनके घरमें स्त्रियोंकेलिए पर्दा था, वह पुरुषोंके सामने नहीं आ सकती थीं, बाहर जानेपर बैलगाड़ीको चारों तरफ़-से पर्देसे ढाँका जाता था। सैकड़ों तरुण अपनी तरुण-पत्नियों और बहिनोंको घरसे निकाल लाए, समाजके चौधरी बौखलाए, और राजनीतिक प्रतिद्वन्दी इसे अच्छा अवसर समझ इन तरुण-तरुणियोंके ऊपर हर तरहका दोषारोप करने लगे। मगर जनता हमेशा अपनेलिए मरनेवालोंके साथ रही। जिस वक़्त कम्यूनिस्त तरुणियोंने अपनी बुर्र-कथा मंडली बनायी, उस वक़्त विरोधियोंने और आसमान ऊपर उठाया। बुर्र-कथा नाच नहीं है। उसमें बीच-बीचमें दो-तीन क़दम आगे-पीछे चलते गाना भर पड़ता है, मगर विरोधियोंने कहना शुरू किया—देखो ये बेशरम लड़कियोंको नचाते-गवाते फिरते हैं। कान्फ्रेन्सके वक़्त उदया और उसकी दो साथिनोंने ज़ोयाकी मार्मिक बुर्रकथा गाई थी। ४० हज़ार नर-नारी आँसू बहा रहे थे। वैसे आमतौरसे स्त्रियाँ अपना गान और अभिनय सिर्फ स्त्रियोंमें ही करती हैं। कुत्ते भूँकते ज़रूर हैं, लेकिन जब जनता उन तरुणियोंके साथ है, तो क्या पर्वाह ?

भागवत कथा और कालक्षेपके पुराने ढंगको लेकर किसीने नए युगकी कथायें सुनाईं। दो नौजवान आन्ध्रमें भीख माँगनेवाले फकीरोंका भेस धरके रंगमंचपर आए। एकके हाथमें था चिमटा और दूसरेके हाथमें खर्र-खर्र करके घूमनेवाला घुमौवा काठका सुग्गा। आल्ला-आल्ला करते बीच-बीचमें दो चार हिन्दी शब्द बाकी तेलगू भाषामें वह ऐसी विचित्र भाव-भंगीके साथ गा रहे थे, कि भाषा न समझने-वाले भी बिना प्रभावित हुए न रहे। हममेंसे कितनोंके तो कान खड़े हो गए—आन्ध्र-के साथियोंने मिट्टीको सोना बनानेकी विद्या सीख ली। जनताके भावोंको प्रकट करने वाले किसी भी गीत और अभिनयको तुच्छ नहीं समझना चाहिए। मेवाड़के बंजारे किसी समय आन्ध्र तक बैलोंपर माल लादे हुए वाणिज्य किया करते थे। रेलोंके

कारण उनका व्यवसाय छिन गया, वह अपने देशको भी लौट न सके और हज़ारोंकी तादादमें यहीं रह गए। आज भी वह मेवाड़ी हिन्दी बोलते हैं और अपने होली आदि त्यौहारोंको मनाते हैं। मजूरीके अलावा उनकी स्त्रियाँ नाच-गान करके कुछ भीख माँग लिया करती हैं। गर्बाकी तरह ताली बजाते शरीरको अगल-बगलमें झुकाते एक चक्करमें घूमना और अपने देशवाले सुरमें गीत गाना—यह है लम्बाड़ी नृत्य। इन बनजारोंको यहाँ लम्बाड़ी कहा जाता है। लम्बाड़ी स्त्रियोंकी तरह लँहगा, चुनरी पहिने, बालों कानोंसे कौड़ी तथा चाँदीके झुमके लटकाए ७ से १२ साल तककी कुछ लड़कियोंने लम्बाड़ी-नृत्य दिखलाया। गीतोंका सुर लम्बाड़ियोंका था, लेकिन तेलगूमें कही जाने वाली बातें बंगालके अकाल या स्त्रियोंके उद्बोधनकी थीं।

खुले मंचपर बिना किसी पर्देके हिटलर, मुसोलिनी, तोजोका एक सुन्दर प्रहसन किया गया। यह प्रहसन सिर्फ हँसानेहीकेलिए नहीं था, बल्कि उसमें बतलाया गया था, कि कैसे रावणकी तरह फ़ासिस्त दुनियाँकी आँखोंमें धूल झोंकते हुए आगे बढ़ते गए और कैसे स्तालिनग्राद और दूसरी जगहोंपर उनकी पराजय शुरू हुई। अबीसीनिया, तुनीसिया, सिसिली आदिके पतनके साथ मुसोलिनीका पतन। फिर मुसोलिनी हिटलरका बाँह पकड़कर रोना, सबको बहुत आकर्षक तौरसे दर्शाया गया था। मल्लाहोंके नाच और कितने दूसरे अभिनय इतनी सफलताके साथ दिखाए गए थे, कि भारतके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंसे आए प्रतिनिधियोंने आभारपूर्वक स्वीकार किया—आन्ध्रने हमारी आँख खोल दी, हम नहीं समझ पाये थे कि जिसे लोग गँवारू मनोरंजन कहते हैं, उसमें इतनी कला, इतनी मधुरता, मनोरंजन और शक्ति है। अलीगढ़के साथीने ढोला, चबोला, धोबियों, कुम्हारों और दूसरी कमकर जातियोंके बीसियों तरहके गानों और नृत्योंको गिनाकर कहा, अब हम भी जन-जागरणकेलिए जनकलाका उपयोग करेंगे। मैंने पूछा—आपमें से कोई खुद भी नाच-गा सकता है? एक तरुणने कहा—हाँ मैं। मैंने पूछा—नाचनेमें शर्माओगे तो नहीं? तरुणने उत्तर दिया—अब तक तो शरम लगती थी, लेकिन जान पड़ता है यहाँ कृष्णामैयाने उसे धो दिया।

जब चारों ओरसे कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ उपस्थित की जा रही थीं, तब भी सम्मेलनके कार्यकर्त्ता पूरे आत्मविश्वासके साथ अपने काममें लगे हुए थे। आत्म-विश्वासके कारण थे। उन्होंने हवामें काम नहीं किया था। किसान बड़े उत्साहसे अपने सम्मेलनकी बाट देख रहे थे। उस दिन पन्द्रह सौ बैलगाड़ियोंकी भीड़ पंडालके

आस-पासकी जगहोंमें जमा थी। स्वयं-सेवकोंने सफ़ाई और पानीका पूरा इन्तजाम किया था, बाक़ी आदमियों और पशुओंके खानेकी चीज़ें किसान अपने साथ लाए थे। जिस तरह जनकलाको एक नया रूप दिया, उसी तरह किसानोंने धार्मिक यात्राओं-को भी एक नया रूप दिया था। तीर्थयात्रियोंकी प्रभा (शिखर) पर देवताओंके चित्रोंकी जगह मजूर-किसान नेताओंके बड़े-बड़े चित्र लगे थे और उन्हें लाल झंडियोंसे सजाया गया था। सवारीकेलिए गाड़ियोंकी अत्यावश्यकता होनेपर भी गाँववालोंने 'प्रभा' केलिए एक गाड़ी सुरक्षित रखी थी। एक गाँवने सम्मेलनकेलिए तीन हज़ार रुपए दिए थे और उसके दो हज़ार नर-नारी उत्सवमें शामिल हुए थे। गाँवोंमें घरपर लोग रहनेकेलिए तैयार नहीं थे! एक बुढ़ियाने कहनेपर साफ़ जवाब दिया—मैं ज़रूर जाऊँगी, क्या जाने फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले! विजयवाड़ासे पचासों मील दूरसे एक मुसलमान परिवार गाड़ीपर आया था। गाँवमें भी इधर मुसलमान लोग एक तरहकी हिन्दी बोलते हैं। मैंने उस गाड़ीपर एक हरी और एक लाल झंडी देखकर पूछा—यह दो रंगकी झंडियाँ कैसी? दृढ़, स्वस्थ, और बलिष्ट तरुणने उत्तर दिया—यह हमारी मुस्लिम लीगकी झंडी है और यह हम किसान-मजदूरों की। उसने बतलाया कि हमारे गाँवके सभी मुसलमान किसान सभामें हैं और हमारा महबूब पार्टीमें। मैंने पूछा हिन्दीमें भी आपकेलिए गीत बने हैं या नहीं? जवाब मिला कामरेड महबूबने हमारी भाषामें नाटक लिखा है, नाटक खेला भी है, हम जानते हैं फासिस्त-राक्षसोंके अत्याचारको, हम जानते हैं सरकारकी निकम्मी नीतिको! वहाँ तो नहीं किन्तु पीछे गुंटुरमें कामरेड महबूबसे मुलाक़ात हुई। इधर दक्षिणके मुसलमानोंमें बोली जानेवाली हिन्दी (दकिनी) बड़ी प्यारी भाषा है। व्याकरणभी उसका बहुत सरल है—लिंग वचनके नियमोंमें काफी कमी कर दी गई है। वस्तुतः बाहरके प्रांतोंके लिए इसी तरहकी हिंदी चाहिए। महबूब उर्दूभी अच्छी जानते हैं। लेकिन वह अपने और मुठ्ठी भर साहित्यकोंके लिये नाटक नहीं लिखने जा रहे हैं। वह उधरकी—आंध्र ही नहीं सारे दक्षिणी भारतकी—मुस्लिम जनताके लिये नाटक लिखते हैं। इसीलिये दकिनी भाषाको अपनाए हुए हैं। वह अपने नाटकोंको छपवाना चाहते हैं, मगर इधर उर्दूका वैसा कोई प्रेस नहीं। आन्ध्रके कम्यूनिस्त मुस्लिम लीगको संदेहकी दृष्टिसे नहीं देखते, वह उसे मुसलमानोंकी राष्ट्रीय संस्था समझते हैं और उसे दुर्बल नहीं सबल देखना चाहते हैं। इसीलिये मुसलमान किसान-मजदूरोंको मुस्लिम लीगमें शामिल होनेके लिए प्रेरणा देते हैं। वह अच्छी तरह जानते हैं कि साधारण किसान-मजदूर जनताके शामिल

हो जाने पर मुस्लिम लीग राष्ट्रीय क्रांतिकेलिये एक बड़ी शक्ति बन जाएगी।

विहार, युक्तप्रांत, और पंजाबके प्रतिनिधि इन बैलगाड़ियोंके मुहल्लोंको बड़ी शौकसे देखने जाते थे। बालसंघम्के बालक दूरसे आये हम प्रतिनिधियोंको देखकर लाल सलामी देते थे और तेलगू भाषामें कोई जोशीले गीत सुनाते थे।

पानी पाखानेके अतिरिक्त इतनी बड़ी भीड़के खानेका इन्तिजाम करना आसान काम नहीं था, लेकिन भोजनशालाके प्रबन्धक एक लाख आदमियोंको खिला देना खेल-सा समझते थे। उनका प्रबन्ध इतना सुन्दर था, कि किसीको खानेकी दिक्कत नहीं होती थी। एकबारके खानेका चार आना टिकट था। एकेक बार चार-चार पाँच-पाँच हजार आदमियोंको बैठानेका इंतिजाम था, जिसको दो-दो ढाई-ढाई सौके घेरोंमें बाँटा गया था। वहाँ न ब्राह्मणका सवाल था न शूद्रका, न हिन्दूका न मुसलमानका। मनुष्यमात्र एक साथ एक पाँतीमें बैठकर भोजन करते थे।

सम्मेलनकी ओरसे कई प्रदर्शनियाँ खुली थीं। हजारों बैलों, गायों और भैंसों-की एक विस्तृत पशु-प्रदर्शनी थी। सरकारी कृषि-विभागको इसमें सहयोग देना चाहिये था, लेकिन वहाँ उसका कोई पता नहीं था। मध्यआन्ध्रके इन जिलोंमें अच्छी नसलकी गाय-भैंसोंके पालनेका कितना शौक है, यह इस प्रदर्शनीसे मालूम होता था। आन्ध्रकी सुन्दर नसलोंके साथ-साथ हरियाना और मांटगोमरी (साहीवाल) की नसलके सुन्दर गाय-बैल और हिसारकी भैंसेंभी मौजूद थीं। जिन बैलोंको प्रथम और द्वितीय इनाम मिले थे, उनके दर्शनके लिये दर्शकोंकी भीड़ लगी रहती थी।

३–पुराने आंध्रकी तीर्थयात्रा

धान्यकटक (अमरावती), नागार्जुनीकोंडा, जगैय्यापेट्ट, गोली आदि प्राचीन भारतीय कलाके ध्वंसावशेष आंध्रमें ही हैं। हरेक पुरातत्त्वप्रेमी और कला-नुरागीके लिये ये भारतके महान् तीर्थ हैं। मैंने इनके बारेमें पढ़ा था, शिलालेखों और मूर्तिचित्रोंके फोटोभी देखे थे। १६३३ में वहाँ जाते जाते रह गया। अबकी बार इस अवसरसे वंचित नहीं रहना चाहता था। सौभाग्यसे मुझे श्री संजीवदेव जैसा पथप्रदर्शक मिल गया। संजीवदेव आंध्रके एक ख्यातनामा कला-समालोचक हैं और मेरी ही तरह उनकोभी घुमक्कड़ी-जीवनका व्यसन रहा है। हिमालय, उत्तरी भारत और बंगालमें वह वर्षों घूमते रहे। उनका गाँव तुम्मपुडी कृष्णा पारकर दो ही तीन स्टेशन बाद पड़ता है। यह इलाका जमीदारी नहीं रैय्यतवारीका है, अर्थात्

किसानों और सरकारके बीचमें बड़े-बड़े जमीदारोंका यहाँ अभाव है। तुम्मपुडी-के पाससे कृष्णाकी बड़ी नहर जाती है। खेतोंकी पाँच-छ हाथ मोटी कोयले जैसी काली मिट्टी बतला देती है, कि यहाँकी भूमि बहुत उर्वर है; इसीलिये एक एकड़का दाम तीन तीन हजार रुपये तक जाता है। गाँवके आसपास मीठे नींबूके बहुतसे बाग हैं, ताड़ों और बबूलोंकी तो कोई संख्या ही नहीं है—तुम्मपुडीका अर्थ है बबूलपुरी। शायद वबूलोंके जंगलमें यह गाँव पहले-पहल आबाद हुआ। गाँवकी अधिकांश भूमिके मालिक संजीवदेवके सजातीय कम्मा लोग हैं। उनमेंसे बहुतोंके मकान गाँव नहीं शहर जैसे मालूम होते हैं। संजीवदेवको उनके चचाने गोद लिया था। घरमें सिर्फ़ बूढ़ी चाची थीं, जो वेदान्तिनी होते हुए भी घरमें बहू देखनेकी लालसा लगाये हुए हैं। शायद संजीवदेव अब और उनको अधिक निराश नहीं करेंगे। गाँवमें एक लड़की कितने ही दिनोंसे उनकेलिए ठीक कर रखी गई है, मगर वह उनके कलाप्रिय हृदयके अनुकूल नहीं है। साथ ही संजीवदेव शहरकी परियोंको भी पसन्द नहीं करते। घर पक्का, दुमहला, हवादार है, जिसे सजानेका प्रयत्न नहीं किया गया है। आँगनमें तुलसीका बिरवा एक पक्के ऊँचे थालेपर लहरा रहा था, जो बतला रहा था, कि चाची शुष्क वेदान्तिनी ही नहीं हैं। उन्होंने हमारेलिए आन्ध्रका सुन्दर भोजन तैयार किया, हाँ, मिर्चकेलिए थोड़ी मेहरबानी रखकर। हम पीढ़ोंपर बैठे। हरे केलेके पत्तेमें मेहमानको भोजन कराना यहाँ बहुत अच्छा समझा जाता है। लेकिन भोजन-परसे केलेके पत्तेको रसोई-घरसे चौके तक लाना आसान काम नहीं, इसकेलिए संभ्रान्त परिवारोंमें एक गोल पेंदी तथा विना बारीका थाल होता है, जिससे पत्तेको आसानीसे सरकाकर सामने रखा जा सकता है। हर बार भातको घीसे सींचनेका आन्ध्रमें रवाज है। तर्कारी, चटनी, अचार, दही, सांबर सबको पत्तेपर सँभाल लेना उतना मुश्किल नहीं है, लेकिन मिर्च, नमक, इमली और नीबू देकर बना दालका रस—चारु—की बड़ी धारको भातमें सँभालना मेरेलिए सदा बड़ी समस्या रही। दक्षिणके अभ्यस्त लोग ऐसे समय कलाई तकके अपने सारे हाथ-को भात मसलने और चारु मिलानेमें लगा देते हैं, लेकिन चीनी लकड़ियोंसे अभ्यस्त होनेपर भी अभी तो मुझे इसमें असफल ही रहना पड़ा। यहाँके कम्मा पुरुषोंको मैंने देखा, मगर स्त्रियोंको नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह आन्ध्रकी उन तीन कुलीन जातियोंमें है, जिनकी स्त्रियाँ पुरुषोंके सामने नहीं आतीं। कम्मा लोगोंके रूप, रंग और आकारके देखनेसे ही मालूम हो जाता है कि यह उत्तरी भारतकी लड़ाकू जातियोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

धान्यकटक—१८ मार्चको हम दोनों रेलसे गुंटूर गये। धान्यकटक (अमरावती) वहाँसे बीस मीलपर है, मोटर-बसें बराबर चलती रहती हैं। धान्यकटक बौद्धोंका एक पुनीत स्थान रहा और तांत्रिक बौद्धोंकेलिए तो यह सबसे बड़ा तीर्थ था। इसीके नामपर तिब्बतमें आजकलका सबसे बड़ा मठ (आठ हज़ार भिक्षुओंवाला) डेपुङ प्रतिष्ठापित हुआ था। डेपुङ्का शब्दार्थ है धान्य-कटक या धान्य-राशि। तान्त्रिक बौद्धोंके अनुसार बुद्धने तन्त्र-मार्गका प्रथम उपदेश यहींपर किया, अतएव यह उनकेलिए बोधगयासे कम पवित्रता नहीं रखता। इसमें ऐतिहासिक सत्यका अंश भले ही न हो, मगर इससे स्थानकी महत्ता तो ज़रूर प्रकट होती है। तिब्बतमें धान्य-कटक जानेकी कुछ पथ-प्रदर्शिका पुस्तकें भी लिखी गई हैं, जिनमें अधिकांश सुनी-सुनाई बातें ही दर्ज हैं। लेकिन धान्यकटक मौर्योंके बाद बौद्धोंका एक महान् गढ़ रहा है, इसमें सन्देह नहीं। धान्यकटकका महाचैत्य मूर्तिकलाका सुन्दर नमूना था, यह तो उसके पाषाणफलक अभी भी बतला रहे हैं—यह प्रायः सभी लन्दनके ब्रिटिश-म्यूज़ियममें रखे हुए हैं। अमरावतीकी कला एक स्वतन्त्र कला-सम्प्रदाय है। लेकिन कला ही नहीं इस चैत्य (स्तूप)ने बौद्धोंके एक प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय—चैत्यवादी—को भी अपना नाम प्रदान किया था। तिब्बती परम्पराके अनुसार धान्य-कटकके पूर्व और पश्चिमके दो पर्वतोंके पास निवास करनेके कारण दो बौद्ध सम्प्रदायोंके नाम पड़े थे पूर्वशैलीय और अपरशैलीय। धान्यकटकसे पाँच मील पूरब अब भी एक शैल है, लेकिन पश्चिमका शैल तीस मीलसे अधिक दूर है।

धान्यकटक कृष्णा नदीके बाएँ तटपर बसा हुआ है। समुद्रसे यहाँ तक नावोंके आनेमें कोई रुकावट नहीं है, इसलिए अपनी समृद्धिके कालमें धान्यकटक एक अच्छा खासा बन्दरगाह रहा होगा; साथ ही धान्यकटक आन्ध्र-साम्राज्यके पूर्वी भागकी राजधानीके रूपमें तो शायद अशोकके समयसे ही चला आ रहा था, पीछे इक्ष्वाकु-वंशियोंके समय तो यह अपने चरम उत्कर्षपर पहुँच गया था। धान्यकटकके ध्वंसाव-शेष आज भी आठ-दस मील तक चले गये हैं। अमरावतीका छोटासा क़सबा और धरनाकोटका गाँव इसी ध्वंसपर बसे हुए हैं। अमरावतीके लगे किन्तु धरनाकोटसे मीलभर पश्चिम महाचैत्यका ध्वंसस्थान है। इसके सुन्दर शिलाफलक बहुत पहिले ही हटाये जा चुके हैं। पीछेकी खुदाईमें जो शिलाखंड मिले, उनमेंसे कुछ अभी भी एक छतसे ढके कटघरेमें रखे हुए हैं। यद्यपि यह उत्कीर्ण-मूर्तियाँ छँटुवी हैं, किन्तु यह भी धान्यकटकके दक्षशिल्पियोंके हाथकी दाद देती हैं। धरनाकोटमें शेख़, सैयद, मुग़ल, पठान मुसलमानोंके बहुतसे परिवार बसते हैं, जिनकी जीविका खेती और

क्रय-विक्रय है, लेकिन इन्हींमें उन शिल्पियोंकी भी सन्तानें हैं, जिन्होंने महाचैत्यको अपने हाथोंसे सिरजा। प्राचीन धान्यकटकके विस्तृत ध्वंसावशेषके गर्भमें हमारी कला और इतिहासकी क्या-क्या सामग्री छिपी हुई है, इसे आजकी व्यवस्थामें नहीं जाना जा सकता। यह तभी जाना जा सकता है, जब राष्ट्रका भविष्य सहस्रशीर्ष, सहस्रभुज जनताके हाथमें आयेगा, जब नवीन आन्ध्रमें उत्साह, कलाप्रेम, समय और श्रमकी कमी नहीं रहेगी !

(१) श्रीपर्वत (नागार्जुनी कोंडा)

१९ तारीख़को हमारी जमात चार आदमियोंकी हो गई। गुंटूरसे रेलसे चलकर मध्याह्नको माचेरला पहुँचे। माचेरला पहुँचनेसे मीलों पहिले पथरीली भूमि आ जाती है। यह पत्थर कहीं-कहीं हाथ-दो-हाथ ज़मीनके नीचेसे शुरू होते हैं, कहीं-कहीं धरतीसे समतल, और कहीं-कहीं थोड़ा ऊपर भी उठे हुए। यह सीमेंटके पाषाण हैं। एक सीमेंट कम्पनी रेलोंपर भरकर इन्हें पचासों मील दूर अपनी फ़ैक्टरीमें ले जाती है। आजके आन्ध्रकी झोंपड़ियोंकेलिए सीमेंटकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आज जनता अपनी और सीमेंटशैलोंकी स्वामिनी नहीं है। जब स्वामिनी होगी तो एक छोटीसी फ़ैक्टरीसे काम नहीं चलेगा, उस वक़्त यह सीमेंट-प्रसविनी भूमि एक सीमेंट-उत्पादक नगरमें परिणत हो जायेगी और आजकी निरीहता और दरिद्रताका कहीं पता नहीं रहेगा। माचेरला एक छोटासा बाज़ार है। इमारतमें काम आनेवाले शिलाफलक आज भी यहाँ तैयार होते हैं, श्रीपर्वतके शिल्पियोंके पास अब यही काम रह गया है। श्रीपर्वत या नागार्जुनी कोंडा यहाँसे तेरह मील दूर है। श्रीपर्वतके ध्वंसावशेषकी खुदाई होनेके बाद बैलगाड़ी जाने लायक़ सड़क बना दी गई। सड़क ऊँची-नीची पहाड़ी भूमिसे होकर जाती है। हम लोगोंने दो बैलगाड़ियाँ सवारीकेलिए ली थीं, धूप काफ़ी तेज़ थी, और पानी दूर-दूर बसे रास्तेके चार-पाँच गाँवोंमें ही मिल सकता था। हमें श्रीपर्वतके पासके गाँव "पुल्लारेडीगुलम्"का एक तरुण ब्राह्मण साथी मिल गया था। मैं अभी उसे पार्टी-सहायक भर ही जानता था, मुझे क्या पता था, कि सत्रह सौ बरस पुराने शिलालेखोंको वह भी मेरी ही तरह फरफर बाँचता जायेगा। तरुणने संस्कृत या पाली भाषा नहीं पढ़ी थी, तो भी वह जहाँ-तहाँ शब्दोंका अर्थ समझ लेता था, यह रहस्य हमें दूसरे दिन मालूम हुआ। पल-नाडका यह पहाड़ी इलाक़ा बहुत पीछे तक बहादुरोंकी भूमि रहा है। आज भी इसके वीरोंकी बहुतसी बुर्रकथायें लोग रात-रातभर सुनते हैं। कुछ ही साल पहिले

यहाँ लीडरी चाहनेवालोंने एक आन्दोलन फैलाया, जिसमें जनता अपने पुराने जोशके साथ पिल पड़ी। नेता राजनीतिक शिक्षा या संगठन तो करना जानते नहीं थे। विशृंखलित जनताने एक बार जोश दिखलाया फिर पुलिस और मिलिटरी उनपर दौड़ पड़ी, और उनकी वह दुर्गत हुई जिससे मिदनापूर और बलिया याद आते हैं। अभी लोग सशंक रहते हैं, मगर पलनाडकी स्वाभाविक वीरता अभी उस भूमिको छोड़कर गई नहीं है।

गाँवोंमें कहीं-कहीं लम्वाडी (बंजारे) लोगोंकी भी झोंपड़ियाँ हैं। पहिले गाँवमें तो उनकी भाषा मुझे पहिले-पहिल सुननेमें आई थी, इसलिए मैंने उसे परखनेमें अपने चार-पाँच मिनटकी बातचीतको खतम कर दिया। फिर मालूम हुआ, यह मेवाड़के दक्षिणी सीमान्तकी भाषा है। छे-छो लगाकर अगले गाँवमें जब मैंने एक स्त्रीसे एक-दो बातें पूछीं, तो उसका चेहरा खिल उठा। उसने समझा मैं भी लम्बाडी हूँ। शायद बीस बरस पहिले होता, तो मैं भी कुछ दिनों तक लम्बाडी बनता। इनके रहनेकी फूसकी बिलकुल छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ हैं। आन्ध्रकी यह बहुत ही ग़रीब जाति है। भाषा, वेष, रीतिरवाज अभी अपने पूर्वजोंके ही पकड़े हुए हैं, इसलिए वह साधारण नहीं एक अजनबीका दरिद्रतापूर्ण जीवनको बिता रहे हैं। जीवनकी व्यथाको भुलानेकेलिए उनके अपने गीत और नृत्य हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों ही शामिल होते हैं; कभी पैसा मिल जाता है, तो सस्ती मदिराकी भी सहायता ले लेते हैं। वह लम्बाडी स्त्री मुझे भी लम्बाडी समझकर विकसितवदना हो रही थी। उस फटे मैले चीथड़ोंसे ढँके शरीर, कौड़ियोंके झुमकोंवाले केशपाशसे घिरे कृशगौर-मुखपर अकाल-वार्धक्यके साथ झलकती हँसी मेरे मनमें क्या-क्या भाव पैदा कर रही थी! लेकिन मुझे यह सोचकर सन्तोष हुआ, कि आन्ध्रके नये नेता जनताकेलिए हैं, उनके आन्ध्रमें किसी जातिके जीवनमें बाधा नहीं डाली जा सकती।

दस मील पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। अब भूमि ऊबड़-खाबड़ ही नहीं थी, बल्कि यहाँ छोटी-छोटी झाड़ियोंसे ढँकी पहाड़ियाँ भी शुरू हो गई थीं। खूब अँधेरा हो गया था, जब हम पहाड़ीके सबसे ऊँचे स्थानपर पहुँचे और साथियोंने कहा, दुर्गका यह पहिला फाटक है। इसके बाद उतराई शुरू हुई और आगे हमें एक दूसरा फाटक बतलाया गया। फाटकका मतलब था, बड़े-बड़े पत्थरोंकी चिनी दिवारें जो दोनों तरफ़से नज़दीक आ जाती हैं। पहिले फाटकके होनेमें तो सन्देह नहीं, किन्तु दूसरेके बारेमें वही बात नहीं कही जा सकती थी।

हम रातके नौ बजे पुल्लरेड्डीगूडममें पहुँचे। यह डेढ़ सौ घरोंका छोटासा गाँव

हैं। गाँवमें दो छोटी-छोटी धर्मशालायें (चोल्टरी या छत्रम्) हैं। एकको गाँवके बनियाने धर्मार्थ बना दिया है। हमने दो कोठरियोंमेंसे एकमें सामान रखा और बाहर बरांडे तथा बादके खुले आँगनमें सोनेका इन्तिज़ाम किया।

श्रीपर्वतकी यह लम्बी-चौड़ी उपत्यका एक बड़ी कढ़ाईकी तरह चारों ओर पहाड़से घिरी हुई है। कढ़ाईकी बारी दो जगह फूट गई है, जहाँपर कि कृष्णा उसके चरणोंको छूती है। कृष्णापार मोग़लाई यानी निज़ामका राज्य है। धान्यकटक यहाँसे नीचे सत्तर मीलके क़रीब है। लेकिन नौका पोदुगल तक ही आ सकती है। आगे चट्टानोंके कारण वह नहीं आ सकती, अर्थात् लंका और दूसरे द्वीपोंके जिन बौद्ध तीर्थ-यात्रियोंने अपने-अपने शिलालेख श्रीपर्वतमें छोड़े हैं, वे अपनी समुद्री नावोंद्वारा पोदुगल तक ही आये होंगे, फिर उन्हें उनतीस मीलकी यात्रा स्थलसे चलकर पूरी करनी पड़ी होगी।

श्रीपर्वत "आश्चर्यवार्तासहस्रों"का उद्गम-स्थान रहा। श्रीपर्वतके तन्त्रमन्त्र-वेत्ताओंके चमत्कारोंकी प्रतिध्वनि संस्कृतके अनेक काव्योंमें गूँज रही है। दूसरी सदीके महान् दार्शनिक नागार्जुनका तो यह बहुत ही प्रिय स्थान रहा, और पीछे तान्त्रिक बौद्धोंका यह सर्वोत्तम पीठ बन गया। नागार्जुनकी कितनी ही दार्शनिक कृतियाँ यहीं लिखी गई होंगी। अपने "सुहृद्" शातवाहन नरपतिको प्रसिद्ध "सुहृल्लेख" उन्होंने शायद यहीं बैठकर लिखा था। सुन्दर शिक्षाओंसे पूर्ण यह पत्र आज भी अपने तिब्बती और चीनीभाषा-अनुवादोंमें सुरक्षित है। नागार्जुनने अपनी "विग्रहव्यावर्तनी" और दूसरे निबन्धोंद्वारा जो तर्क और न्यायशास्त्रका प्रारम्भ किया, वही आगे सारे भारतीय न्याय और तर्कशास्त्रके प्रबल प्रवाहका उद्गमस्थान बना। अब श्रीपर्वतका महत्त्व मालूम हो सकता है। पहाड़ों और कृष्णाकी धारासे घिरा श्रीपर्वत एक स्वाभाविक दुर्ग है, किन्तु यह कभी कोई बड़ी राजधानी रहा हो, इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। चान्तमूलकी बहन चान्तिसिरी और पुत्र राजा वीरपुरिसदत (वीरपुरुषदत्त) तथा उसके पुत्र राजा एहुबल चान्तमूलने अपार धनराशि खर्च कर श्रीपर्वतके भव्य स्तूपोंको बनवाया। राजधानी धान्यकटकसे सत्तर मील दूर इस दुर्गम-पर्वतमें इन अद्भुत कृतियोंका निर्माण भी इस स्थानके धार्मिक महत्त्वको बतलाता है।

दूसरे दिन हम लोग बहुत सबेरे ही, स्तूपावशेषोंको देखने निकल पड़े। दो-तीन फ़र्लांगपर एक छोटे टीलेके ऊपर एक छोटासा स्तूप और उसके उत्तर तरफ़ भिक्षुओंके रहनेकी कोठरियोंसे घिरा उपोसथागार मिला। इसकी ईंटें १६ इंच लम्बी, ९ इंच चौड़ी और दो इंच मोटी थीं। टेकरीसे थोड़ा और पूरब चलनेपर

समतल भूमिमें श्रीपर्वतके सबसे बड़े स्तूपका ध्वंसावशेष है। इस स्तूपको अनेक "अश्वमेधयाजी" राजा वीरपुरुषदत्तकी बुआ चान्तिसिरीने बनवाया था। शिला-स्तम्भोंपर बड़े सुन्दर अक्षरोंमें कई लम्बे-लम्बे लेख खुदे हुए हैं, जिनमें धान्यकटकके ईक्ष्वाकु-वंशके कितने ही व्यक्तियोंके नाम तथा उनकी धार्मिक श्रद्धाका उल्लेख है। इन लेखोंसे पता लगता है, कि चान्तमूल (शान्तमूल)की दो बहिनें थीं—बड़ी चान्तसिरिका व्याह पोगिय-वंशज खन्दसिरिके साथ हुआ था। चान्तमूलके पुत्र राजा वीरपुरुषदत्तकी रानी छठसिरि (षष्ठिश्री)के पिताका नाम हम्मसिरि (हर्म्यश्री) था। वीरपुरिसदतके पुत्र राजा एहुबल चान्तमूलका नाम भी शिलालेखोंमें आया है। उज्जैनकी रुद्रधर भट्टारिकाका भी दान एक लेखमें है। शायद उस वक़्त धान्यकटकके राज्यवंशका उज्जैनके राजवंशसे सम्बन्ध था। स्तूपका शिलाकंचुक अनेक मूर्ति-चित्रोंसे अलंकृत था, जिनका बहुतसा भाग खुदाईमें मिला और आज भी पासके म्युज़ियममें रखा है। महाचैत्यके पास एक दूसरा चैत्यघर है, जिसकी ईंटें १८ इंच लम्बी, ११ इंच चौड़ी और ३ इंच मोटी हैं। महाचैत्यकी एक तरफ़ ३६ खम्भोंका विशाल उपोसथागार था।

म्युज़ियममें तत्कालीन आन्ध्रके प्रस्तर-शिल्पकी जो अद्भुत झाँकी देखनेको मिलती है, उससे आँखें चौंधिया जाती हैं। शिल्पीकेलिए ये श्वेत पाषाण पत्थर नहीं, मानो मक्खन या मोम थे। कितने कोमल हाथोंसे उसने अपनी छिन्नीको चलाया होगा। शरीरके अंग-प्रत्यंगके सामंजस्यमें कमाल किया गया है—बड़ी मूर्तियोंमें ही नहीं क्षुद्रतम मूर्तियोंमें भी वही कौशल पाया जाता है। निर्जीव पाषाणको कैसी सजीवता प्रदान की गई है! उत्कीर्ण दृश्योंमें कहीं बुद्धके जीवनको संकेतों द्वारा अंकित किया गया है, और कहीं साक्षात् मूर्ति द्वारा। कितने ही जातक-कथाओंके दृश्य भी हैं। एक जगह कुलीन स्त्री-पुरुषोंका नृत्य हो रहा है, साथमें वीणा, ढोल आदि वाद्य बज रहे हैं। स्त्रियोंके कितने ही आभूषण आज भी आन्ध्रमें व्यवहृत होते हैं, लेकिन नाकमें चार-चार आभूषण पहननेवाली स्त्रियोंका उस वक़्त अत्यन्त अभाव था। एक जगह शक योद्धा अंकित किया गया है, उसके सिरपर नुकीला टोपा है; लम्बा जामा, कटिबन्ध और पाजामेके साथ उसके मुँहपर लम्बी दाढ़ी भी है।

श्रीपर्वत यद्यपि महायानियों और तान्त्रिक बौद्धोंकेलिए परमपुनीत स्थान रहा, तो भी यहाँके इन दृश्यों और मूर्तियोंमें महायान और तन्त्रयानकी छाया भी नहीं दीख पड़ती।

महाचैत्यसे दक्षिण कुछ फ़र्लांगपर दो-तीन और बौद्धबिहारों और स्तूपोंके

ध्वंसावशेष हैं। बड़े-बड़े स्तम्भ और मूर्तियाँ जिस तरह टूटी हैं, उससे जान पड़ता है, कि विहारोंमें आग लगा दी गई थी।

श्रीपर्वतमें शिलालेखोंकी भरमार है, यद्यपि उनमें कुछ नामोंके अतिरिक्त दूसरी बातें एकसी दुहराई गई हैं। इन शिलालेखोंमें जिस भाषाका प्रयोग किया गया है, वह पालीसे अत्यन्त नज़दीक है। ईक्ष्वाकु और उनके उत्तराधिकारी पल्लव राजाओंके प्राकृत लेख बतलाते हैं, कि शायद यही भाषा उस समयके शासक-वर्गकी मातृभाषा थी। यह निश्चय है, कि सर्वसाधारणकी भाषा वर्तमान तेलगूका ही प्राचीन रूप रहा होगा। उस समय आन्ध्र-साम्राज्यके पश्चिमी और पूर्वी भागोंमें जनताकी भाषा और शासकोंकी भाषाका द्वन्द चल रहा था। तृतीय शताब्दी तक अभी शासकोंकी भाषा (शिलालेखोंकी आर्यभाषा)का बोलबाला था। यह जानना बड़ा कुतूहल-जनक होगा, कि किस शताब्दीमें महाराष्ट्रमें महाराष्ट्रीने जनताकी अपनी भाषाका स्थान लिया और आन्ध्रकी तेलगूने शासकोंकी भाषाको निर्वासित किया। 'इकड़े' 'तिकड़े' 'कोन्डा' (पर्वत) आदि कितने ही मराठीमें बँच निकले शब्द भी, इन दोनोंके इसी सम्बन्धको बतला रहे हैं।

(२) **लम्बाडी**—पुल्लारेड्डीगुड़म्‌में कितने ही परिवार लम्बाडियोंके बस गये हैं। पुरुषोंकी पोशाकमें तो अन्तर नहीं है, लेकिन स्त्रियाँ अपनी वेष-भूषाको हर देश और कालमें आसानीसे नहीं छोड़तीं। लम्बाडी स्त्रियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं, अब भी वह मेवाड़के बंजारोंकी पोशाक अपनाये हुए हैं, जो आन्ध्र स्त्रियोंकी लम्बी साड़ीके आगे विचित्रसी मालूम होती है। अपने लहँगा, चुनरी और लटकते कौड़ियों-चाँदीके झब्बोंवाली चोलीको सिलवानेमें उन्हें काफ़ी मुश्किल होती होगी। हाथोंमें कंकण और हाथीदाँतकी चूड़ियाँ बाजूके ऊपर तक चली जाती हैं। उनकी नाचमें काफ़ी परिश्रम होता है। उन्होंने नाचके वक़्त एक गाना गाया था—

"तूँ पाँच पचीस दे, तूरे मोरे भाई, गुगरूगू।
तारी बासड़ीरे मूड़ो छोड़ रे, पाँच पचीस देरे।
तारे बेटाने पूचण देरे, मोरे भाई०।
तारी बेटीने पूचण देरे०।
तारे ग्वाड़िन पूचण देरे०।
त्वारी बाड़ीने पूचण देरे०।
तारे भाईने पूचण देरे०।
तारी भाईरी ग्वाणीने देरे०।

तारे भीयाने पूचन देरे० ।
तारी याड़ीने पूचन देरे० ।
तारी भोजाईने पूचन देरे० ।
तारी बाईने पूचन देरे० ।
तारी भ्याननें पूचन देरे० ॥१॥"
"भीयाने हाथे सोनेरी अँगूठी, खोंसला, खोंसला ।
बापूरे हाथे सोनेरी झारी० ।
मिचुड़ा (बिच्छू) खोंसलारे० ।
दादारे हाथमों सोनेरा झारी, मिचुड़ा खोंसला खोंसलारे ।
काकारे हाथे सोनेरा कड़ा, मिचुड़ा० ॥२॥"
"कका बसेरिये, दरजी झीकड़िया ।
नसाब छाँण, लेखो करोरे, दरजी झीकड़िया ॥३॥"

लम्बाडी आज गंगासे बहुत दूर चले गये हैं, लेकिन अब भी गंगा उन्हें भूली नहीं है, कृष्णा गोदावरीके गीतोंकी जगह लंबाडिने गाती हैं—"ब्यातणुरे पगला, हेठे गंगा बहीजा ।"

लम्बाडी भाषाके कुछ शब्द हैं—

वाप	भ्याँन (नानकी बहिन)
याड़ी (माँ)	बाई (मोट वहन)
भीया (भैया)	ससुरो
भोजाई	सासु
साड़ी (साली)	मामा
नाना	
नानी	जम्मीं (धरती)
काका (चाचा)	खेतर (खेत)
दादा (पितामह)	घऊँ (गेहूँ)
दादी	साड़ (धान)
मासा (मौसी)	चावड़ (चावल)
फूपी (बूआ)	ग्वाड़नी (भार्या)
फूपा	छ्वारा (छोरा)
बापुरघर (बापघर)	छ्वारी (लड़की)

याड़िरघर (मायका)
अंगार
पाणी
नूण
मरचा
माड़ी (मछली)
बोटी (मांस)
कुकुड़ी (मुर्ग़ी)
छेड़ी (बकरी)
गोरली (भैंस)
गावड़ी (गाय)
बड़द (बैल)
बादड़ (बादल)
राम (आकाश)
भाटा (पत्थर)
डोकरा (बूढ़ा)
डोकरी (बूढ़ी)

दक्षिणमें होली मनानेका रिवाज नहीं है, लेकिन लम्बाडी उसे बड़े शौक़से मनाते हैं। यद्यपि वह आज चावलके देशमें रह रहे हैं, किन्तु रोटी ही आज भी उनका प्रधान भोजन है।

४. नए आन्ध्रके कुछ गाँव

(१) दावलूर—बेजवाड़ाके किसान सम्मेलनमें हमने किसानोंके उत्साहको देखा था। मैं चाहता था उनके एक-आध गाँवोंको देखना। साथियोंसे पूछनेपर दावलूर देखनेकी इच्छा हुई। अभी तक ज्यादातर ईंटों-पत्थरोंसे बात करना था या अंग्रेजी पढ़े-लिखोंसे, लेकिन अब जाना था खेतिहर-मजूरोंके लालगाँवमें। सौभाग्यसे साथी पिच्चैया मिल गए, जो हिन्दी अच्छी तरह जानते हैं। दावलूर तेनाली स्टेशनसे अठारह-उन्नीस मील दूर है, लेकिन मोटर-बस गाँवके पास तक जाती है। हम लोग १० बजेके क़रीब वहाँ पहुँच गए थे।

दावलूर गाँवमें ३००० एकड़ (१ एकड़ बराबर ४८४० वर्ग गज़) ज़मीन है। गाँवके १०० परिवारोंके पास निर्वाह-योग्य ज़मीन है—इनमें दो ब्राह्मण, १० कम्मा और एक बनियाँ परिवारोंके पास काफ़ी ज़मीन है, वह कुलक-परिवार हैं। २२० अछूत परिवारोंमें ५० के ही पास एकाध एकड़ खेत है, बाकी किसानोंके यहाँ

मजदूरी करते हैं। पचास कम्मा, तेलगा और मुसलमान परिवारोंकी भी जीविका सिर्फ़ मजूरी है। तीन मुसलमान बढ़ई हल-फाल बनानेका काम करते हैं। पाँच हजाम भी अपने ही व्यवसायसे जीते हैं और उन्हें फ़सलपर हर किसान दो बोरा धान देता है। ३० धोबी-परिवारोंका भी काम चल जाता है। बीस एरूकुल-परिवार टोकरी बनाते हैं, जिसे अनाजके दामपर बेचते हैं। तीस तेलगा-परिवारोंमें कुछ फेरीवाले हैं। तीन चुंडू परिवार गाँवकी चौकीदारी करते हैं। १५ जंगम-परिवार स्त्री-पुरुष दोनों बुर्रकथा कहते माँगते हैं। गाँवके तीन चौथाई परिवारोंकी जीविका सिर्फ़ मजूरीसे चलती है। लेकिन यही तीन सौ खेतिहर मजूर आज सारे गाँवके कर्त्ता-धर्त्ता हैं। जो बारह-तेरह धनी किसान हैं, उनकी भी मजाल नहीं कि गाँवके विरुद्ध जाँय। आज इस गाँवमें मजूर-सभाके ४०० सौ मेम्बर हैं और किसान-सभाके १००, महिलासभाकी १०६ सदस्याएँ और बालसंघके ६०। इनके अतिरिक्त ५२ वालंटियर हैं। कम्युनिस्ट पार्टीके ४० मेम्बरोंमें ३२ अछूतजातिके मजूर हैं। लेकिन दावलूरके इन अछूतोंको सिर्फ पाठकोंके समझनेकी आसानीकेलिए ही हम अछूत लिख रहे हैं, नहीं तो वह अपनेको अछूत नहीं समझते। दूसरे भी उनके साथ वैसा वर्ताव नहीं करते। उनके आत्मसम्मानने कम्यूनिस्टोंकी शिक्षा और क्रियात्मक व्यवहारसे स्वभाविक रूप धारणकर लिया है। यह सच है कि अभी उनकी गरीबी गयी नहीं है, लेकिन पहिलेसे उसमें बहुत अन्तर हुआ है। मजूरी भी बढ़ी है और दावलूरके मजूर कामरेड जिस तरह ईमानदारीसे काम करते हैं, उससे सड़कोंके ठेकेदार और दूसरे उन्हें रखना बहुत पसन्द करते हैं।

दावलूरके मजूरोंमें यह परिवर्तन कैसे आया? यह अछूत इसाई हो चुके हैं, इनकेलिए गिरजा भी खुला हुआ है और गाँवमें एक पादरी भी रहता है। लेकिन साहब पादरी इन नवदीक्षित इसाइयोंसे वैसे ही दूर रहता रहा, जैसे कि ऊँची जातिका हिन्दू। मजूरी बढ़ाने या आर्थिक व्यवस्था बेहतर करनेकेलिए हिन्दूमालिकों, महाजनों और सरकारसे लड़ना पड़ता, जिसकेलिए पादरी सहायता करनेको तैयार न थे। उनको सबसे आसान बात यही मालूम पड़ती थी, कि अपनी भेड़ोंको मरनेके बाद स्वर्गमें पहुँचा दिया जाय।

गाँवमें इस परिवर्तनका सूत्रपात १९३६ में हुआ। सूर्यनारायण राव (कम्मा) उत्साही काँग्रेस कार्यकर्त्ता और तालुका काँग्रेसके प्रेसिडेन्ट थे। अपने धुनके पक्के थे। समाजकी कुछ भी न परवाह करके उन्होंने अपना विवाह एक विधवासे किया था। काँग्रेसके कामोंके कारण उनका एक पैर सदा जेलमें रहता ही था। वह

जेलमें थे, वहीं वह कामरेड रामलिंगैयाके सम्पर्कमें आए। रामलिंगैयाने साम्यवादकी घुट्टी पिलाई। सूर्यनारायणने अपने गाँवके मजूरोंमें प्रचार करना शुरू किया। लेकिन मजूर उनकी बात सुननेको तैयार न थे। १९३६ में उन्हें असफलता ही असफलता दिखाई पड़ी। पादरी कहता—ये नास्तिक अनीश्वरवादी हैं, इनकी बात मत मानो। दुर्भाग्यसे सूर्यनारायण ऐसे तरुणोंको अभी यह समझमें नहीं आया कि ईश्वर और धर्मके पीछे लाठी लेकर पड़ना सिर्फ़ पत्तियोंको नोचना है। सारी विपत्तियोंकी जड़ तो है आर्थिक विषमता और आर्थिक शोषण। सारी शक्ति इस शोषणके विरुद्ध लगानी चाहिए, फिर "नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम्"।

और तरहसे निराश हो सूर्यनारायणने बाइबलपर अधिकार प्राप्त किया और धनियोंके विरोधमें लिखे गए बाइबलके वाक्योंको लोगोंके सामने रखना शुरू किया। साल भरके परिश्रमके बाद मजूरोंमेंसे कुछ उनके साथ सहानुभूति रखने लगे। १९३७ का साल था। मजूरोंने दो नाप धानकी जगह ढाई नाप प्रतिदिनकी मजूरी माँगी। काम लेनेवाले मालिकोंने मजूरी बढ़ानेसे इनकार कर दिया। ५०० मजूर-मजूरिनोंने खेतोंमें काम करना छोड़ दिया। सूर्यनारायण और उनके साथियोंने आस-पासके गाँवोंमें भी जाकर मजूरोंको समझाया और आस-पासके १४ गाँवोंके मजूर-हड़तालमें शामिल हो गए। मालिकोंने दूसरे गाँवोंसे मजूर मँगाकर काम करनेकी कोशिश की, मगर सारा प्रयत्न बेकार गया। फ़सलका काम बिगड़ रहा था, आखिर जोताई, बोआई, कटाई सालके बारहों महीने तक तो चलती नहीं रहती, हफ़्ते दो हफ़्तेमें ही वहाँ सालभरका काम चौपट हो जाता है। तीन दिनोंकी हड़तालके बाद सुलह हुई और दो नापकी जगह ढाई नहीं तीन नापकी मजूरीपर। मजूरसंघपर अब मजूरोंकी पूरी आस्था हो गई। स्वर्गमें क्या मिलेगा, यह संदिग्ध बात थी; लेकिन मजूरीमें प्रतिदिन एक नाप बढ़ जाना उनकी आँखोंके सामने था। फिर वह अपनी शक्तिके संगठनके सबसे बड़े साधन मजूर-संघको क्यों न दिलसे प्यार करें।

पादरीने कम्युनिस्टोंके प्रभावको बढ़ते देख दूसरी धमकी दी और कहा कि यदि मजूर-संघको नहीं छोड़ते, तो हम व्याह नहीं कराएँगे। उन्होंने समझा कि सबसे बड़े ब्रह्मास्त्रको चला दिया, अब मजूरोंकी अकल ज़रूर ठिकाने आएगी। लेकिन मजूरोंके पास कौनसी लाख-दो-लाखकी सम्पत्ति रक्खी थी, कि व्याहके कानूनी न होनेसे दाय-भागमें बखेड़ा खड़ा होगा। उन्होंने कहा—जाने दो, हम गिरजामें व्याह नहीं कराने जाएँगे, हमारा व्याह हमारा मजूरसंघ करायेगा। फिर तो मजूरसंघके पंच ही पुरोहित बनने लगे। पंचोंके सामने ही वधू वरके गलेमें माला डाल देती और वर वधूके

गलेमें सौभाग्य चिह्न—मंगलसूत्र डाल देता। पानभोजपर संघने निमन्त्रण किया और व्याहपर पाँच रुपयेसे अधिक खर्च करनेकी मनाही कर दी। मजूरसंघके संगठनमें आकर जैसे-जैसे वह अपनी शक्तिको बढ़ते देख रहे थे और जैसे ही जैसे कम्युनिस्टोंके प्रभावमें वे ज्यादा आते गए, वैसे ही वैसे उन्होंने अपनी ज़िम्मेदारी महसूस की। ताड़ी और सिगारकी फ़जूलखर्चीको बन्द किया। "रे, तू" गालीका प्रयोग छोड़ा। उनकी भाषा, परस्पर व्यवहार सभीमें परिवर्तन दिखाई देने लगे।

१९३७ का वही संघर्ष दावलूरके मजूर साथियोंका अन्तिम संघर्ष था, फिर किसीको उनका सामना करनेकी हिम्मत नहीं हुई।

अपनी संगठित शक्तिके बलपर सफल संघर्ष करके दावलूरके मज़दूरोंका आत्मविश्वास बढ़ा। सोवियतकी बातें वह बड़े चावसे सुनते थे। उनको विश्वास होने लगा कि सारे भारतके किसान-मजूर यदि संगठित होकर चाहें, तो यहाँ भी लाल झंडेकी विजय हो सकती है। पार्टी-कामरेड उनकी राजनीतिक वर्गचेतना को बढ़ानेकी पूरी कोशिश करते रहे। रात्रि-पाठशाला खोली गई। इन नए साम्यवादी मजूरोंकेलिए लज्जाकी बात थी कि वह अभी भी अँगूठेका निशान करें। पार्टीका साप्ताहिक पत्र आता तो उसे लोग बैठकर सुनते, जहाँ समझमें नहीं आता वहाँ कोई साथी समझाता। जीविकाकेलिए गाँवमें लोगोंकी मजूरी करनी पड़ती थी। वहाँ काम न रहनेपर सड़क बनानेका काम करते, और कभी-कभी कामकी खोजमें सौ मीलसे भी अधिक चलकर निजामराजमें चले जाते। बड़ी जातके हिन्दुओंके अत्याचारके मारे उन्होंने ईसाईधर्म स्वीकार किया था। रोटीकी लड़ाईकेलिए जब वह मजूरसंघके रूपमें संगठित हुये, तो पादरीने नास्तिक और पतित कहकर उनका विरोध शुरू किया, अब कम्युनिज़्म ही उनके लिए सब कुछ था। उनकी रामायण और बायबल कम्युनिज़्मकी पुस्तक-पुस्तिकाएँ थीं। जब दिमाग़ी उड़ान लेते तो सोवियतकी कल्पना करते। खाली वक्तमें थके-माँदे होनेपर जब किसी मनोरंजनकी जरूरत होती, तब पुराने गाने उनके लिये इतने रुचिकर न होते। अब उन्होंने सदियोंसे विकसित होते आये गाँवके संगीत और अभिनयको नया रूप देना शुरू किया। उनके भीतर अपने कवि पैदा हो गये, जिन्होंने अपनी बुर्र-कथाएँ बनाईं। ज्यादा शिक्षित और संस्कृत साथियोंने हाथ बँटाया और उन्होंने बहुतसी सामग्री पैदा की। गाँवसे बाहर काम करनेकेलिए जाते तो ढोल बाजा ज़रूर साथ जाता, लेकिन यह सिर्फ फ़ुरसतके समयकेलिए। दावलूरके मजूरोंको काम देकर मालिकको देख-भाल करनेकी कोई ज़रूरत नहीं थी। वह कामसे जी चुरानेको पाप समझते थे। काम

करनेके वक़्तके कितने ही गाने उन्होंने बना लिए । कहाँ तो उनमें धर्मांधता इतनी थी, कि ईसाई-धर्मविरोधी समझकर साथियोंको मारनेकेलिए तैयार थे और कहाँ दावलूर (शरणग्राम) कम्युनिज़्मका गढ़ बन गया।

१९४० में दावलूरमें मजूर कान्फरेन्स हुई, जिसमें पाँच हज़ार मजूर आए थे। साम्यवाद अब उनकी अपनी चीज़ थी। उसे समझानेकेलिए वह स्वयं नए-नए उदाहरण गढ़ते। पूँजीवादके अन्दर क्यों नहीं जनता पनप सकती और साम्यवादमें क्यों सब तरह रास्ता खुला होता है, इसके बारेमें एक मजूर दूसरे मजूरसे कह रहा था—देखते नहीं वृक्षके नीचे लगे हुए बाजरेको और वृक्षके दूरके बाजरेको, वृक्षकी छायाकी तरह पूँजीवाद आदमीको पनपने नहीं देता। मार्क्सवादका रास्ता छोड़ मजूरोंकेलिए दूसरा कोई रास्ता नहीं है, इसे समझाते हुए वह आपसमें कह रहे थे—भाई आहार जीवन-मरण है, बाजरेपर बैठा हुआ कौवा ढेला फेंकनेपर भी उसे छोड़ नहीं सकता, बालसे दाना लेना है, तो कौवेको बाजरा नहीं छोड़ना होगा। एक जगह उनका कुलक मालिक तलवेमें वेसलीन लगाकर वृक्षके नीचे सोया था, उसपर मक्खियाँ-चींटियाँ झुक रही थीं। एकने दूसरेसे कहा—यह हैं पूँजीवादी समाजकी बरक्कत।

शामको तीन हज़ारसे ऊपर आदमी जमा हो गए और मुझे उनके सामने कुछ बोलना पड़ा। रातको संगीत-कलाका प्रदर्शन हुआ। सातसे बारह बरस तककी कई लड़कियोंने कई सुन्दर गान गाए, जिनका विषय था देशानुराग, बंगालका दुष्काल, आहार कमेटी, बंजर ज़मीन जोतना, सुन्दर-सुन्दर भूमिकी महिमा और प्राण देकर भी हम लाल झंडीकी रक्षा करेंगे। फिर कई अभिनय हुए। दो लड़कियोंमें एक अंधाभाई हो गई और दूसरी वहन, दोनों फटे चीथड़ेमें लिपटे हुए थे। बहन भाईको लाठी पकड़ाए रंगमंचपर लाई, फिर दोनोंने अन्नकष्ट और मुनाफ़ाखोरोंके लोभका बहुत ही करुणापूर्ण गाना गाते हुए भीख माँगनेका अभिनय किया। सूर्यनारायणकी बीबीने बेजवाड़ामें उदयाकी बुर्रकथामंडलीमें बहुत सफलतापूर्वक भाग लिया, और यहाँ सूर्यनारायणने स्वयं बहुत सुन्दर तौरसे बुर्रकथा कही। उनके चुटकुलोंसे लोग लोटपोट हो जाते थे। हिटलरैय्या पागल गीत भी बड़ा मनोरंजक था!

पार्टीने दावलूरके मजूरोंमें जो जीवनसंचार किया उसका स्पष्ट प्रभाव उनके हर काममें मिलता है। घंटय्या पार्टीमेंम्बर हैं। उनके घरमें स्त्री और चार बच्चे हैं। जीविका मजूरी है; लेकिन हालमें उन्होंने अपना एक ईंटका मकान तैयार कर लिया, जिसमें कुल पचास रुपए लगे, और वह भी अधिकतर एक पुराने घरसे ख़रीदी लकड़ियोंपर

खर्च हुए। उन्होंने स्वयं ईंट तैयार की, दीवारें चिनी। हाँ, इस काममें दूसरे साथियोंने भी उनकी मदद की। उनके पास दो भैंसें और दो मुर्गियाँ हैं। मकान काफ़ी साफ़ है।

उस दिन सूर्यनारायणके घरमें एक छोटा-मोटा भोज हो गया, जिसमें पचीस-तीस साथी शामिल थे। अछूत ईसाईसे ब्राह्मण तक सभीने साथ दालभात खाया और कम्मा (क्षत्रिय) जूठी पत्तलें उठा रहे थे। जो क्रियात्मक भाईचारा कम्युनिस्ट दिखलाते हैं, उसे ईसाई पादरी भी करनेमें असमर्थ हैं, और साथ ही इसमें बड़ी जातवालोंका कोई एहसान नहीं।

(२) **काटूर**—काटूर कृष्णा जिलेमें बेजवाड़ासे बाईस मील पूरब अच्छा खासा गाँव है। मुसलीपटनम्‌की सड़कपर अठारह मील बससे जाकर हम उतर पड़े और चार मीलकी यात्राको बैलकी गाड़ीसे पूरा किया। काटूरमें चार हज़ार एकड़ ज़मीन है, जिसमें धान उड़द और मूँगकी खेती होती है। चप्पल, मिट्टीके बरतन, और कपड़ा बुनना, बढ़ई-सोनारका काम भी कितनों हीकी जीविकाका साधन है! १५० परिवारोंके ५३०० व्यक्तियोंका अधिकतर गुजारा सिर्फ खेती ही है। ११५० घरोंमें, ५०० घरोंके पास कोई खेत नहीं है। चार सौ घरोंके पास पाँच एकड़से कम ही खेत हैं, और एक परिवारके साधारण खाने पहननेकेलिए पाँच एकड़ खेतकी ज़रूरत है। इस तरह काटूरके २५० परिवार ही अन्न और वस्त्रके अभावसे सुरक्षित हैं। गाँवके सबसे धनिक किसान (जमींदार नहीं क्योंकि यहाँ रैय्यतवारीं बन्दोवस्त हैं) व्यंकट रामय्याके पास सवा सौ एकड़ खेत है। उनके बाद व्यंकटराव सौ एकड़के धनी हैं। तीस एकड़से ज्यादा खेतवाले आठ कम्मा परिवार हैं। बीससे तीस एकड़ तकके बीस कम्मा परिवार हैं, और दससे बीस एकड़ तकके पचास परिवार हैं तथा पाँचसे दस तकके साठ परिवार। बीस ब्राह्मण परिवारोंमें दसके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं, और पाँच खेत-विहीन हैं और जिनकी जीविका पुरोहिताई, स्कूलमास्टरी, या दूसरी नौकरी है।

तीस राजूपरिवारोंमें बीसके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं और पाँच परिवारोंका सहारा दूसरोंकेलिए काम करना है।

पाँचसौ कम्मा-परिवारोंमें पचास खेत-विहीन कमकर हैं और एक सौ पचासके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं।

कोमटी (बनिए) पन्द्रह परिवार हैं। पाँचके पास खेत हैं और दस खेतके न होनेपर भी दूकान और व्यापारसे अपना गुजारा करते हैं।

दो सौ मादिका (चमार)-परिवार सभी खेत-विहीन मजूर हैं, जिनमेंसे बीस जूता बनाते हैं।

चालीस मांला (अछूत)-परिवारोंमें सभीके पास एकड़-आध एकड़ ज़मीन है, लेकिन ज्यादा सहारा मजूरी है।

तीस कुम्हार-परिवारोंके पास खेत न होनेपर भी बरतन बनाना उनका सहारा है। बीस साली (ततवा या कोरी) परिवारोंमेंसे दो-तीनके पास एक-दो एकड़ जमीन है। बाकीका कपड़ेकी बुनाईसे काम चलता है। बीस मंगली (नाई-ब्राह्मण) परिवारोंमें सबके पास थोड़ा बहुत खेत है, जिसमें एक (लक्ष्मी नरसु वैद्य) के पास तीस एकड़ भूमि है। बाकी अपना पेशा करते हैं। पचीस धोबी-परिवारोंकी जीविका साधन एकमात्र कपड़े धोना है। ६ कौसत (सोनार) परिवारोंके पास एकाध एकड़ ज़मीन है, उनकी मुख्य जीविका सोनारी है। तीन हिन्दू बढ़ई हल-फार बनाते हैं, और उनमेंसे एकके पास तीन एकड़ खेत भी है। दो मुसलमान बढ़ई-परिवारोंकी जीविका किसानोंकेलिए गाड़ी बनाना है। इनके अतिरिक्त हालमें कुछ कम्मातरुणोंने भी कुर्सी-मेज़ बनाना शुरू किया है। २५ परिकल परिवार खेत नहीं रखते। इनकी स्त्रियाँ देवताके सहारे भविष्य कथन करती हैं और पुरुष भूत झाड़ते हैं। साथ ही स्त्री-पुरुष दोनों हरिश्चन्द्र आदि नाटक खेलकर लोगोंका मनोरंजन करते जिलेभरमें चक्कर काटते रहते हैं। तीस गोल्ला या यादव परिवारोंमें सबके पास पाँच एकड़से कम खेत हैं। यह भेड़-बकरी भी पालते हैं और मजूरी भी करते हैं। दस गमड़ा या कलाली (पासी) परिवार ताड़ी निकालनेका व्यवसाय करते हैं और उनके पास दोसे पाँच एकड़ तक खेत भी है। पच्चीस उप्परा (बेलदार) परिवारोंमें पन्द्रह परिवार दोसे पाँच एकड़ खेत रखते हैं। मिट्टी खोदना, कुआँ बनाना इनका काम है। पन्द्रह कापू परिवार हैं, पाँच परिवारोंमेंसे सभीके पास पाँच एकड़से कम खेत है, किरायेपर गाड़ी चलाना इनका मुख्य काम है। दस कुप्पू वेलम बेखेतके मजूर है। पाँच एरिकुला (बसोर) सभी बेखेतके हैं, टोकरी और टट्टी बनाना उनका काम है। यह सुवर भी पालते हैं, जो ब्राह्मण, कोमटी और मुसलमान छोड़ सभीके भक्ष्य हैं। बीस मुसलमान परिवारोंकी जीविका एकमात्र मजूरी है। ६ सेट्टी बलिजी (कुंकुम) परिवार लवंग-मसाला बेचते फेरी करते हैं, इनमेंसे एकके पास सात एकड़ और बाकीके पास एकाध एकड़ खेत हैं। यह मजूरी नहीं करते। गाँवमें एक घर जंगम् शैव लोगोंका है, जो कपड़ेकी सिलाई करता है, इसके पास

खेत नहीं है। ६ परिवार सातानी (रामानुजी भगत)के हैं। सबके पास एक-दो एकड़ जमीन है, लेकिन मुख्य जीविका है धनुर्मासमें शिरपर मूर्ति और हाथमें तंबूरा लेकर भीख माँगना, जिससे दस बारह बोरा अनाज उन्हें आसानीसे मिल जाया करता था, किन्तु आजकल लोगोंकी श्रद्धा कम हो गई है।

काटूर आन्ध्रके मजूरसंघके सभापति का० गोपालैय्याकी जन्मभूमि है और यहाँके ४५ पार्टी मेंम्बरोंके अतिरिक्त १२ बाहरके जिलेमें काम करते हैं। कुछ धनी परिवारोंको छोड़कर सारा ही गाँव कम्युनिस्टोंके रास्तेपर चलता है और धनी लोग भी विरोध करनेकी हिम्मत नहीं रखते। इसका एक प्रत्यक्ष सबूत तो एक धनीके हाल हीमें बनवाये आलीशान पक्के मकानपर सीमेंटसे बना हँसुआ-हथौड़ाका अंकित चिन्ह है। यहाँकी भिन्न-भिन्न संस्थाओंमें मेम्बरोंकी संख्या निम्न प्रकार है।—

रैयत संघम (किसान सभा)	४५०
महिलासंघम्	४०६ (१० पा० मे०)
बालसंघम्	२५०
वालंटियर	१८०
क़ुली (मजूर)संघम्	५००
युवजन (तरुण)संघम्	२००
कुट्टूपनिवाला (दर्जी)संघम्	२०

गाँवमें नाटक, कोलाट नाच, और गायनके अपने दल हैं। महिलासंघम्में छूत-अछूत, धनी-गरीब सभी घरोंकी स्त्रियाँ शामिल हैं। पहले धनिक परिवारोंमें पुरुषोंने इसका विरोध किया था, किन्तु स्त्रियाँ महिलासंघम्के उद्देश्यको समझने लगीं और उन्होंने पुरुषोंके विरोधकी परवाह न की। उन्होंने खाना, कपड़ा, नमक, किरासनके दामपर नियंत्रणसे लेकर बहुविवाह-निषेध और स्त्री-उत्तराधिकार-विधान तकके लिए आंदोलन किया। इनमेंसे बहुत सी बेजवाड़ा सम्मेलनमें भी आयी थीं। महिला-संघम्की सभानेत्री पुण्यावती ५० सालकी एक उत्साही वृद्धा पार्टी मेंम्बर और पाँचवें दर्जे तक तेलूग पढ़ी हुई हैं। सेकरेटरी द्रौपदी अब अपने पतिके साथ अबरख खानके मजूरोंमें काम करने चली गई हैं। सहायक सेकरेटरी राजेश्वरी (२५ वर्ष) १९३९से ही काम कर रही हैं। वह तेलूगके अतिरिक्त हिन्दी भी जानती हैं। बूढ़े पहले बहुत विरोध करते थे और पतियोंका भी कुछ विरोध रहा है, लेकिन पार्टी मेम्बर होकर वह क्यों इसकी परवाह करने लगी। महिलासंघम्ने बहुतसे पतियोंकी

मार-गालीकी आदत छुड़ा दी। एक बार गाँवमें आग लगी, तो महिलासंघम्की स्त्रियोंने आग बुझानेके काममें मदद की, जिसका बहुत प्रभाव पड़ा। दूसरी बार आग लगने पर संघके बाहरकी ४० औरतें तुरंत पहुँच गयीं, जिनमें कितनी पर्दे वाली भी थीं। सात महिलाओंने ए० आर० पी०की शिक्षा ली है। कितनी ही महिलाओंने पतिका विरोध रहते हुएभी पार्टीकी सहायता की। छ स्त्रियोंने अपने सौभाग्य-चिन्ह मंगलसूत्र तकको दान दे दिया। कुछ स्त्रियाँ पतिके विरोधके रहते भी "प्रजाशक्ति" (साप्ताहिक) मँगाकर पढ़ती हैं। विचारे विरोधी पति कम्युनिस्टोंके प्रचारसे परास्त हैं। नरसैया स्वयं अपठित हैं, मगर उनकी पत्नी वेंकटरतनम्मा शिक्षित और पार्टी-की जबर्दस्त सहायक हैं। पत्नीके सामने अपनेको अकिंचन पाकर उन्हें झुँझुलाहट होती है, मगर पत्नी सिर्फ सभा करना और पढ़ाना ही नहीं जानती, बल्कि घरके कामोंमें भी बड़ी चौकस है। जिस वक्त पार्टी गैरकानूनी थी और कई साथियोंके ऊपर वारंट था, उस वक्त अपनेको जोखिममें डालकर कितनी ही स्त्रियोंने उन्हें शरण दी थी। उनमें एक वृद्धा है जिनको सभी साथी 'माई' कहते हैं। माई और उनके पति दोनों ही पार्टीके तरुणों पर अपार स्नेह रखते हैं।

गाँवमें घूमते घूमते हमने एक जगह लाल झंडा फहराता देखा। मालूम हुआ एक गोशाला पर बालसंघम्ने दखल जमा लिया है। वहाँ दीवार पर भारत, एसिया और दुनियाके नक्शे टँगे हुए थे। गाँधी, जवाहर, स्तालिन, सुन्दरैय्या आदिके फोटोसे आफिसको सजाया गया था। एक ओर तोजो, हिटलर और मुसोलिनीके कार्टून थे। तोजोके पेटमें बाँस चुभा था और हिटलरके मुँहमें सिगार था। कोलाट (चौथ चन्नाकी तरह दो लकड़ी बजाते हुए लड़कोंका नाच) की मंडली बालसंघम्ने तैयार की है। उनके झंडे-पताके, जुलूस और नारे तो लगते ही रहते हैं। महिला प्रेसीडेंट सूर्य्यावतीकी २ लड़कियाँ और एक लड़का बालसंघम्में है। बड़ा लड़का नागभूषण मुसिलपटनम् कालेजका द्वितीय वर्षका छात्र तथा विद्यार्थीसंघम्का उत्साही मेम्बर है। वह साम्यवादी भागवतम्का अच्छा अभिनेता है और बेजवाड़ा सम्मेलनके वक्त उसने एक नाटकमें तोजोका पार्ट लिया था। पुण्यावतीके पति वीरैय्या किसान सभाके अध्यक्ष हैं।

दावलूरमें खेत मजूर नेतृत्व करते हैं और काटूरमें किसान।

(२३ मार्च)अगले दिनके संवत्सरारम्भ (युगादि)के लिए तैयारी हो रही थी। घर और आँगन गोबरसे पोते और सफेद चूनेसे चौक पूरे गये थे। चौका पूरनेमें कई तरहके नमूने अंकित किये गये थे, जिनसे सुरुचिका

पता लगता था। रातको पार्टी-ऑफ़िसके सामने हज़ारसे ऊपर नर-नारी जमा हुए, जिसमें उनके कहनेपर मैंने सोवियतके अपने देखे कुछ दृश्योंका वर्णन किया।

आन्ध्रके सभी गाँव दावलूर और काटूर नहीं हो गये हैं, मगर ऐसोंकी संख्या सैकड़ों है और वह दिनपर दिन बढ़ती जा रही है। आन्ध्रके तरुण कोरी कल्पनाके जगतमें नहीं विचर रहे हैं, वे गम्भीरतापूर्वक अपने देशको बदल रहे हैं। बूढ़े राष्ट्रीय नेताओंमें कितने ही इस जागृतिको देखकर प्रसन्न हैं। उन्होंने जिस छोटे बिरवेको रोपा था, उनकी सन्तान बड़ी योग्यतासे उसे विशाल वृक्ष बना रही है। लेकिन ऐसे भी नेता हैं, जो इसे ईर्षाकी चीज़ समझते हैं।

६

केरलमें

भारतके सभी प्रान्तोंको एक या अनेक बार मैं देख चुका हूँ, मगर मलवार या केरल देखनेका अभी तक अवसर न मिला था। मलवार है भी एक कोनेमें। २७ मार्चको सबेरे मैंने मैसूरसे कालीकोट (कालीकट) जानेवाली मोटरबस पकड़ी। मैसूरसे कालीकोट १३२ मील है। इतना लम्बा सफ़र बससे तै करना आरामकी चीज़ तो नहीं है, पर आजकल रेलमें तो और भी आफ़त थी। हमारी बस सबेरे साढ़े सात बजे रवाना हुई। ज़मीन पहाड़ी है, यद्यपि पहाड़ चढ़नेकी बात चालीस-पैंतालीस मील चलनेके बाद आती है। तब पहाड़ और जंगल शुरू हो जाता है। ऊँचाईके कारण गर्मी भी नहीं मालूम होती। कितनी ही जगह हरिनियाँ छलाँग मारकर आगेसे निकल जातीं। मैसूरसे ५६वें मीलपर एक छोटासा पुल है यही राज्यकी सीमा है। पुलसे १० गज़ पहले ही हमारी मोटर खड़ी हो गई। मैंने समझा मोटर बिगड़ गई है या यात्रियोंको यहाँ कुछ आराम करनेको मौक़ा दिया जा रहा है। लेकिन थोड़ी देर प्रतीक्षा करनेके बाद कालीकोटकी मोटर आ गई और सवारियाँ एकसे दूसरेमें बदल ली गईं। साढ़े १२ बजे हम रवाना हुए। आगे घोर जंगल था। कहीं-कहीं टोडा लोगोंके झोपड़े थे। ये लोग अब कुछ अधिक कपड़ेका व्यवहार करने लगे हैं, उनकी स्त्रियोंको कमरसे नीचे ही कपड़े पहने देखकर समझा अभी दिल्ली दूर है। मलवारके गाँवमें जानेपर मालूम हुआ, कि

सदा पसीना बहानेवाले इस प्रान्तमें सारे शरीरको ढाँकना झूठी शौक़ीनी है। मलवारमें कुछ नवशिक्षित स्त्रियोंको छोड़कर सभी स्त्रियाँ कटिसे ऊपर वस्त्र लेनेकी ज़रूरत नहीं समझतीं—हाँ, मुसलमान स्त्रियाँ इसका अपवाद हैं।

हम वैनाड तालुक़ामें जा रहे हैं, जो कि प्लेग और मलेरियाका घर है। चायके बग़ीचोंके बाद रबरके बग़ीचे लगातार मिलते गये। दोनों ही बड़े फ़ायदेकी चीज़ें हैं, लेकिन फ़ायदा तो सारा मुट्ठीभर धनियोंके जेबमें जाता है, बाक़ी लोग तो खून पसीना एककर काम करने और भूखा मरनेकेलिए हैं। भारतके सभी भागोंमें एक गाँवके सारे लोग अपना घर एक जगह बनाते हैं। मगर मलवारमें सभी घर दूर-दूर बिखरे होते हैं। शायद इस प्रान्तमें अनादि कालसे चोरों-लुटेरोंका उतना डर नहीं रहा, 'ग्राम' (झुंड) बसानेकी ज़रूरत नहीं पड़ी। हाँ, बीचमें कुछ बाज़ार मिले, जहाँ दुकानें पाँतीसे एक जगह बनी हुई थीं। पन्द्रह-बीस मील पहिले हीसे पहाड़ और उपत्यका, नारियल और सुपारीके वृक्षोंसे ढँकी मिलने लगी। बीच-बीचमें धानके खेत भी थे। लंकाका दृश्य याद आ रहा था।

हमारी बस कालीकोटमें एक जगह जाकर रुक गई। मालूम हुआ आज गवर्नर साहब आये हैं, जिनकेलिए सड़कको रोक दिया गया था। घंटों जब गाड़ियोंको रोक दिया जाय, तो भीड़का क्या कहना? सभी मुसाफ़िर उकता रहे थे। एक आदमीकेलिए हज़ारों आदमियोंको परेशान करना—यह आश्चर्यकी बात ज़रूर है, किन्तु आजका समाज तो इसी व्यवस्थाको मानकर चल रहा है। शासक जनताके सुभीतेकेलिए नहीं है, बल्कि जनता शासककी सुभीतेकेलिए है। शासकको जनताकी कठिनाईसे क्या मतलब, वह तो चाहता ही है, कि जनता खूब परेशान हो और शासकका उसपर रोब छा जाय। आख़िर क्यों एक गवर्नरको इतना महत्व देना चाहिए, कि सारा ट्राफ़िक रुक जाय और लोग घंटों धूपमें सड़कोंपर खड़े होनेकेलिए मजबूर हों। यदि किसी शासकको जानका ख़तरा हो, तो उसे अपने भक्तोंको शहरसे बाहर बुला लेना चाहिए। भक्त अपने भगवानके पास सूने जंगलमें भी पहुँच सकते हैं। उससे भी आसान यह था कि गवर्नर साहबकी सवारीके दो सौ गज़ आगे-आगे मोटर सायकलवाला शरीर-रक्षक चलता और उसकी सीटीपर पुलिस रास्ता बन्द करती, इससे लोगोंकी परेशानी पाँच-दस मिनट ही तक रह जाती। लेकिन अभी शायद अंग्रेज प्रभुओंको लोगोंको परेशान करके उनपर रोब जमानेके सिवा कोई रास्ता नहीं मिलता था। वह अभी पुरानी दुनियामें घूम रहे थे, जो संसारसे बड़ी तेज़ीसे लुप्त होती जा रही है।

रिक्शा लेकर चक्कर काटके किसी तरह मैं अपने गनतव्य स्थानपर पहुँचा।

आन्ध्रकी तरह मलवार भी कई टुकड़ोंमें बँटा है। सवा करोड़की आबादीमें साठ लाख ट्रावनकोर रियासतमें और अठारह लाख आदमी कोचीनमें बसते हैं। चालीस लाख बृटिश भारतमें बसते हैं जिसका शासन केन्द्र कालीकोट है। कुछ लाख मलवारी दक्षिण, कनारा और दूसरे पार्श्ववर्ती जिलोंमें बिखरे हुए हैं।

मार्चके अन्तमें ही मलवारमें गर्मी ज़्यादा मालूम हो रही थी, लेकिन यहाँ तो गर्मी और बरसात छोड़कर तीसरा मौसम होता ही नहीं। जिन मासोंमें पसीना कुछ कम हो जाता है, उन्हें ही यहाँवाले जाड़ा कहते हैं। आन्ध्रकी तरह मलबारमें भी ब्राह्मण छोड़कर बाक़ी सभी हिन्दू, मुसलमान, ईसाईका एक रोटी-पानी है, इसलिए रेलके स्टेशनोंपर हिन्दू पानी और मुसलमान पानीकी ज़रूरत नहीं है और ब्राह्मणके होटलोंको छोड़कर बाक़ी सभी होटलोंमें सभी खाना खा सकते हैं। पता लगानेपर तो मालूम हुआ कि मलयालम भाषामें अभी तक कोई फ़िल्म नहीं बना है। एक रात एक फ़िल्म देखने गया। देखा हॉल भरा है। मेरे दोस्तने बतलाया कि दर्शकोंमें दस सैकड़ेसे अधिक ऐसे नहीं हैं, जो हिन्दी समझते हैं। तामिल भाषा मलयालमसे बहुत नज़दीक है—मलयालममें संस्कृत शब्दोंकी भरमार हैं और तमिलमें उनका अभाव, लेकिन मूल ढाँचा दोनों भाषाओंका एक है, जिससे तमिल समझना मलयालियोंकेलिए बहुत आसान है। तमिल फ़िल्म भी आते हैं, मगर उनकेलिए दर्शकोंकी उतनी भीड़ नहीं होती। यहीं क्या, कर्नाटक, तमिलनाड और आन्ध्रमें अपनी भाषाओंके फ़िल्म बनते हैं, तो भी लोग अपनी भाषाके फ़िल्मोंसे हिन्दी भाषाके फ़िल्मोंको अधिक पसन्द करते हैं, यद्यपि भाषा समझना उनकेलिए मुश्किल है। कारण पूछनेपर साथियोंने बतलाया, कि हिन्दी फ़िल्मोंमें अभिनय बहुत अच्छा होता है। किसीने कहा हिन्दी फ़िल्मोंके तारक-तारकायें बहुत सुन्दर होते हैं। किन्हींका कहना था कि उनका संगीत बहुत मधुर होता है। शायद तीनों ही बातें आकर्षणका कारण होंगी। दक्षिणी संगीत (कर्नाटक संगीत)ने अपने ऊपर हरिदास और तानसेनके संस्कारोंकी छींट तक नहीं पड़ने दी। दक्षिण आज तक अभिमान करता रहा कि हम शुद्ध, अचल कर्नाटक संगीतके धनी हैं। सोलहवीं सदीमें जो नवीन संगीत-प्रवाह हिमालय तकको डुबाता हुआ सतपुड़ा और सह्याद्रिके पहाड़ोंमें जाकर रुद्ध हो गया था आज वह दक्खिन को बहा ले जा रहा है। दक्षिणके सनातनी संगीतशास्त्री और उस्ताद बहुत नाक-भौं सिकोड़ रहे हैं। तमिल, तेलगू, कन्नड़ फ़िल्मोंमें उत्तरके संगीतकी बाढ़का ये लोग

वहुत विरोध करते हैं, किन्तु इन शुद्ध आत्माओंका सारा प्रयत्न निष्फल जा रहा है, यह किसी भी दक्षिणी फ़िल्मको देखकर आप सहज ही समझ सकते हैं। बल्कि फ़िल्म देखनेकी ज़रूरत नहीं, रेलमें चलते-चलते गाकर भीख माँगते लड़के ही बतलायेंगे, कि हवाका रुख़ क्या है। सारा भारत संगीतके द्वारा अब एक भाषा बोल रहा है। फ़िल्मोंने संगीत और अभिनयमें ही एकता नहीं स्थापित की है, बल्कि वेष-भूषापर उसका भारी प्रभाव पड़ रहा है। किसी समय स्त्रियोंके वेषसे उनके प्रान्तका जानना आसान था, लेकिन अब शिक्षिता महिलाओंमें वह बड़ी तेज़ीसे लुप्त होता जा रहा है। पंजाब उ० प्र० बिहार, मध्यप्रदेश, बंगाल और गुजरातमें साडीकेलिए अपना राज्य क़ायम करना आसान था, मगर दक्षिणकी स्त्रियाँ तीस-तीस हाथकी साड़ी न जाने कैसे तीन हाथके शरीरमें लपेटती थीं। अब वह भी ३० हाथकी जगह १० हाथपर आ रही हैं। इसमें युद्ध और मँहगाई कारण नहीं है, इसका कारण है वह सौन्दर्य, जिसे हिन्दी फ़िल्मकी तारिकाओंने अपनी साड़ीद्वारा प्रदान किया। पुरुषोंकी पोशाकपर भी प्रभाव पड़ा है, लेकिन स्त्रियोंकी अपेक्षा कम—क्या पुरुष ज़्यादा रूढ़िवादी हैं? और आभूषण? मुझे हिन्दी फ़िल्मोंसे हमेशा शिकायत रही है, कि उनमें कोई स्थानीय रंग नहीं होता, घटनायें मानो हिन्दी-भाषा-भाषी किसी प्रान्त, गाँव और शहरमें नहीं बल्कि आसमान या फ़िल्म उत्पादकके मत्थेमें हो रही हैं। मगर इस बातकेलिए मैं उनको ज़रूर धन्यवाद दूँगा, कि उन्होंने पूर्वी यू० पी०के काँप (कर्णफूल) और झुमकेको हिमालयसे राजकुमारी तक फैला दिया। चाँदीका यह छटाँक-दो-छटाँकका आभूषण, जिसे मैं कभी फूल नहीं समझता था, अब वस्तुतः फूल हो गया है। फ़िल्म-तारिकाओंके हाथमें कुछ जादू ज़रूर है, लेकिन कहीं वे नाकके आभूषणोंको भी न सर्वप्रिय बनाने लगें? मलबारकी स्त्रियोंने कानोंके आभूषणकी तो दुर्गत बना दी थी। एक रुपयेके बराबर गोल सोने या चाँदीकी गुल्ली (गड़ारी)को उन्हें कानमें डालना पड़ता था, जिसकेलिए उन्हें कानोंके छेदोंको इतना बढ़ाना पड़ता था कि आभूषण पहनते वक़्त उसपर चमड़ेकी एक पतली रेखा घेर देती थी, मगर आभूषण निकाल देनेपर वह मोटे डोरे छीछड़ेसे लटकते रहते थे।

पहिले राष्ट्रीयताके ख्यालसे दूसरे प्रान्तोंमें यात्रा करनेवाले लोगोंको हिन्दी समझनेकी ज़रूरत पड़ती थी, लेकिन अब हिन्दी फ़िल्मोंके आकर्षणने बहुत भारी संख्याको हिन्दी पढ़नेकी प्रेरणा दी है। मैंने सिनेमाघरोंमें विज्ञापन दिखाये जाते देखे, जिनमें लिखा था—छुट्टियोंमें हिन्दी सीख लो।

१—मलबारके एक गाँवमें

करिवेल्लूर मलबार ज़िलेके सीमान्तका गाँव है। यद्यपि सरकारी व्यवस्थाके अनुसार यहीं केरल समाप्त होता है, मगर पड़ोसी दक्षिणी कन्नडके पासवाले तालुक़ेमें सत्तर फ़ीसदी तक मलयाली लोग बसते हैं, इसलिए केरलकी सीमा अभी पचीसों मील उत्तर है। कोलीकोटसे रेलद्वारा ४ घंटा चलकर हम चरवत्तूर स्टेशनपर पहुँचे। करिवेल्लूर गाँव स्टेशनसे चार मील है। ज़मीन सारी पहाड़ी और ऊँची-नीची है, पहाड़ियाँ इतनी छोटी-छोटी हैं, कि वह पोखरोंके बड़े-बड़े भीटोंसी जान पड़ती हैं। सबसे नीचेकी ज़मीन धानके खेत हैं और उँचासमें नारियलका बाग़, जिसमें कहीं-कहीं काजू, केले और कटहलके पेड़ भी लगाये गये हैं। लोगोंके घर दूर-दूर अपने-अपने बाग़ोंमें होते हैं, जिनके पास ज़मीन नहीं है वे किसी दूसरेके बाग़में रहते हैं। करिवेल्लूरके ११३० परिवारों (जनसंख्या ५२००)मेंसे सिर्फ़ ४०० परिवारोंके पास अपना खेत है। करिवेल्लूर किसानोंका लाल गाँव है। यहाँकी किसानसभाके ६६३ मेम्बर हैं, महिला संघमके २००, बालसंघम्के ३००। ५३ पार्टी मेम्बर हैं, जिनमेंसे तीन सारा समय जनसेवामें लगाते हैं। पार्टी-मेम्बरोंमें व्यवसायके ख़यालसे २६ किसान ८ मज़दूर, १२ शिक्षक, ५ दुकानदार और २ पूरोहित हैं। जातिसे देखनेपर २ ब्राह्मण, ४ उनितिरी (क्षत्री), दो कोंकणी ब्राह्मण, बारह नायर (पोदुगल), दो मुसलमान, सात मनियाणी, १४ थीया (कलाल), एक नानदिथा (हजाम), एक बाणियाँ, सात चालिया (पटकार) और एक वर्णन्।

गाँवमें सबसे अधिक संख्या थीया (कलाल) लोगोंकी है, जिनके ३०० परिवार हैं। १०० परिवारोंके पास आधा एकड़से १५ एकड़ तक ज़मीन है, लेकिन १०से अधिक एकड़वाले परिवार सिर्फ़ १५ हैं, ५से १० एकड़वाले २० परिवार। ८ व्यक्तियोंके परिवारकेलिए ५ एकड़ खेती या बग़ीचा चाहिए। नारियलके १ एकड़में ८० वृक्ष होते हैं और १ वृक्षसे आजकल सालमें डेढ़-दो रुपये मिल जाते हैं। थीया लोगोंकी सबसे अधिक संख्या (२०० परिवार)के पास कोई खेत नहीं। वह या तो मजूरी करते हैं या ताड़ी निकालने बेंचनेका काम करते हैं। ताड़ी अधिकतर नारियलसे निकाली जाती है। ताड़ीके स्वादका तो मुझे पता नहीं, मगर ताड़ीका गुड़ सोंधा-सोंधा खानेमें बहुत अच्छा लगता है।

नायर-परिवारोंकी संख्या दो सौ है, जिनमें ५०को छोड़कर सभीके पास कुछ न कुछ खेत हैं। पाँच परिवार १५ एकड़से अधिकवाले हैं, जिन्हें धनी किसान कहना

चाहिए, १५ परिवार १० और १५के बीचवाले हैं और ३० पाँचसे दसवाले। ५० बेज़मीनवाले परिवार मजूरी करके गुज़ारा करते हैं।

१५० वाणियाँ (तेली) परिवारोंमें सिर्फ़ ५०के पास ज़मीन है, जिनमेंसे दो परिवार १५से अधिक एकड़वाले हैं और पाँच १०से १५ एकड़वाले। बाक़ियोंके पास ५ एकड़से कम ज़मीन है। विना खेतवाले सौ परिवारोंमें बहुत थोड़ेसे तेल निकालनेका काम करते हैं, बाक़ी सबकी जीविका मजूरी है।

चलिया १२० परिवार है, जिनमें ३ परिवारोंके पास खेत है और दो परिवारोंके पास तो १० एकड़से ज्यादा है। अधिकांश लोग मजूरी करते हैं। कितने घर कताई-बुनाईसे भी गुज़ारा करते हैं। बुननेकी मजूरी ५ आना गज है, लेकिन ५ गज़की धोतीमें ३ दिन लगते हैं—एक दिन ताना करना और दो दिन बुनना, इस प्रकार वह आठ आना रोज हो तक कमा सकते हैं। कातनेवाली स्त्रियाँ आजकल ४ आने रोज़ तक कमा सकती हैं, मगर कपास ही पूरा नहीं मिलता, और एक घरमें तो मैंने ४ कातनेवालियोंमें २ चर्खे देखे।

नम्बूतिरी ब्राह्मण—मलवारका यह वस्तुतः भूदेववंश है। जबसे उनका चरण मलवारमें आया (यह दो सहस्राब्दियोंसे पहिलेकी बात हो गई) तबसे इनकेलिए मलवार देवलोक रहा। इन्हें हाथसे काम करनेकी कभी ज़रूरत नहीं पड़ी। धर्मशास्त्रका बनाना-बिगाड़ना अपने हाथमें था, इसलिए इन्होंने अपने और अपनी सन्तानोंके सुखकेलिए पूरा प्रवन्ध किया। जिस वक़्त ये लोग केरलमें पहुँचे थे, शायद उस वक़्त मातृसत्ताका ही यहाँ रवाज था। दूसरे दोषोंकी भाँति यहाँके भी समाजमें परिवर्तन हुआ होगा, पर ब्राह्मणोंने १९३३-३४ तक उसे अचल बनाये रक्खा। राज्यवंश, तिरुअप्पाड़, उनीतिरी और नायर जैसी उच्च और सम्पत्तिशाली जातियोंमें हाल तक यही क़ानून रहा है, कि घरकी सम्पत्तिकी मालकिन पुत्री होगी, और पुत्र बहनके आज्ञाकारी बने रहनेपर खाना-कपड़ा पा सकते हैं। ब्राह्मणोंने जहाँ बाक़ी जातियोंकेलिए मातृसत्ताका इतना कठोर नियम रक्खा, वहाँ अपनी जातिसे मातृ-सत्ताको छूने भी नहीं दिया। सारे दक्षिणमें जहाँ स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, वहाँ नम्बू-तिरी स्त्रियोंके कठोर पर्देके सामने उत्तरी भारतका पर्दा भी झूठा है। घरके भीतर वे अपने देवर तकके सामने नहीं हो सकतीं। सन्तान जिसमें बढ़कर धनहीन न हो जाय, इसकेलिए नम्बूतिरियोंने जेष्ठ-उत्तराधिकारका नियम बनाया, जिसके अनुसार पिताकी सम्पत्तिका मालिक सिर्फ़ बड़ा लड़का ही हो सकता है। छोटे लड़के न बापकी सम्पत्तिमेंसे कुछ पा सकते थे, न अपनी जातिकी कन्याओंसे ब्याह कर सकते थे। कहना

पड़ रहा है कि १९३३-३४के क़ानूनने अब छोटे भाइयोंको भी अधिकार दे दिये हैं। लेकिन, उनका यह सम्पत्ति और स्त्रीसे वंचित होना दुर्बासाकी तपस्याकेलिए नहीं था। छोटे लड़के राजवंश, तिरुअप्पड़, उनितिरी और नायर इन चार जातियोंकी कन्याओंमेंसे अपने लिए स्त्री ढूंढ़ सकते थे—पत्नी नहीं, क्योंकि नम्बूतिरि पुरुष उसके हाथका रोटी-पानी तो क्या ग्रहण करता, छूनेके बाद उसे वस्त्र-सहित स्नान करना पड़ता, और उसकी सन्तान ब्राह्मण नहीं राजवंशी, तिरुअवप्पाड, उनितिरी या नायर होती, अपनी माताकी सम्पत्तिकी अधिकारी होती यदि वह लड़की हो। हिन्दुस्तानके दूसरे प्रान्तोंमें शंकराचार्यके वंशकी इस प्रथाको सुनकर लोग आश्चर्य करेंगे, और कहेंगे कि उक्त चारों जातियोंने इस प्रथाको अपने आत्मसम्मानके बिलकुल विरुद्ध समझकर विरोध क्यों नहीं किया। आख़िर किसी कुल-कन्याको बिना किसी ज़िम्मेवारी और सन्तानको पितृगोत्रका अधिकार दिये बिना ब्याहना उसे रखेली-सा बनाके रखना नहीं है तो क्या है? लेकिन बीसवीं शताब्दीके प्रथम पाद तक मलवारकी ये जातियाँ इसे अभिमानकी बात समझती थीं, कि उनकी लड़कीका सम्बन्ध किसी नम्बूतिरीसे है। आज भी कोचीन-राज्यकी गद्दीपर ब्राह्मणका ही पुत्र बैठता है, हाँ, वर्माके नामसे। केरलमें ब्राह्मणोंने क्षत्रियत्वकी एक नई परिभाषा ही गढ़ डाली है—राजवंशी नायर कन्यामें ब्राह्मणसे उत्पन्न हुआ पुत्र क्षत्रिय है, कोचीन राजाकी अपनी सन्तानें सिर्फ़ मेनन (नायर) होती हैं, और पत्नी सिर्फ़ पत्नी। रानी होगी बहन जो किसी ब्राह्मणकी पुत्री है, और किसी ब्राह्मण हीकी स्त्री तथा जिसका पुत्र गद्दीपर बैठा है। आम तौरसे कोचीनमें किसी माँको रानी बननेका मौक़ा नहीं मिलता, क्योंकि राजवंशकी बहनों, भाँजियों और भाँजी-पुत्रियोंके सभी लड़के आयुके अनुसार कोचीनकी गद्दीपर बैठनेका अधिकार रखते हैं। ऐसे उत्तराधिकारियोंकी संख्या ३००के क़रीब है और ६०, ६५ वर्षकी उम्रसे पहिले गद्दीपर बैठनेका अवसर शायद ही किसीको मिलता हो। हाँ, तो ये सारे उत्तराधिकारी ब्राह्मण-पुत्र हैं, किन्तु ब्राह्मण नहीं हैं। नम्बूतिरी छोटे पुत्रोंकेलिए यह व्यवस्था नुक़सानकी नहीं है, आर्थिक दृष्टिसे और निरंकुश जीवनकी दृष्टिसे भी।

आजकल यद्यपि शिक्षित नायर इसे पसन्द नहीं करते, किन्तु ऐसे विवाह अब भी होते हैं। नये क़ानूनने एक सुभीता भी कर दिया है—नम्बूतिरी बापकी सम्पत्तिमें उसके अब्राह्मणी-पुत्रका भी अधिकार है। आज भी ऐसे सम्बन्ध क्यों होते हैं, पूछनेपर एक उन्नितिरी तरुणने बतलाया कि अभी भी उनका प्रभाव बहुत है। उन्नितिरी जातिमें भी एक विचित्र प्रथा है। यदि कन्याको किसी नम्बूतिरी (ब्राह्मण) ने

अपनी स्त्री बनाया, तो ठीक ही है, नहीं तो उसका ब्याह सीधे दूसरे उन्नितिरी घरमें नहीं हो सकता, उसे पहिले अपनी जातिसे ऊपर तिरुअप्पाड जातिके किसी पुरुषसे ४ दिनकेलिए ब्याह करना होगा। व्याह सयानी लड़कियोंका होता है और वह चार दिन-रात एक कोठरीमें उस पुरुषके साथ रहती हैं। फिर तिरुअप्पाड़ नज़र-भेंट लेकर चला जाता है और अब उस कन्याका ब्याह किसी उन्नतिरीसे किया जा सकता। सौभाग्य या दुर्भाग्य यही है कि तिरुअप्पाड़-परिवार बहुत थोड़े हैं और उन्हें दूर-दूर तक ऐसे सम्बन्धोंकेलिए जाना पड़ता है, जिसके कारण अधिकतर बूढ़े तिरुअप्पाड़ ही रसम अदाकेलिए आते हैं। मैंने अपने उन्नितिरी दोस्तसे पूछा कि इस प्रथाको उठा क्यों नहीं देते ? उत्तर मिला—बूढ़े विरोध करेंगे, और उनसे भी ज़्यादा नम्बूतिरी। नम्बूतिरी ? उनका सीधे नुक़सान तो नहीं है मगर एक ईंट खिसकानेसे सारी इमारतके खसक पड़नेके डर मालूम पड़ता है। उसी गाँवमें दो उन्नितिरी बहनें दो नम्बूतिरियोंकी स्त्रियाँ थीं। उनके पिता-माता-भाई कोई नहीं था, और न घर छोड़ कोई जायदाद। एक नम्बूतिरी तो अपने स्त्री और बच्चोंकेलिए कुछ देता रहता था, लेकिन दूसरेने पीछे अपनी जातमें भी ब्याह कर लिया। उसके पास जायदाद भी थी, मगर वह अपनी उन्नितिरी स्त्री और बच्चोंकी कुछ भी खोज-खबर नहीं लेता था। गाँवके तरुण इसे बहुत बुरा समझ रहे थे और वह ग़ैर-ज़िम्मेवार नम्बूतिरी बापको रास्तेपर लानेकी सोच रहे थे।

करिवेल्लूरमें ५० नम्बूतिरी-परिवार हैं, जिनमें १५ छोटे-मोटे ज़मींदार (जनमी) हैं। दो खेती कराके गुज़ारा करते हैं। बाक़ी पूजापाठ करते हैं या ब्राह्मणोंकेलिए जगह-जगह स्थापित अन्नछत्रोंमें घूमनेवाले हैं। अब घरकी सम्पत्तिके बँटनेके कारण उनका आर्थिक तल गिरता जा रहा है। कहाँ २५ एकड़ खेत पीढ़ियों तककेलिए अखंड मिला था, और कहाँ वह बँटते-बँटते दूसरी पीढ़ीमें चार-चार पाँच-पाँच एकड़ भर रह जाता है। यहाँके नम्बूतिरी तरुण होटल और दुकानदारीके तरफ़ भी बढ़े हैं।

गाँवमें ४६ परिवार मुसलमानोंके भी हैं, जिनमें चारके पास खेत हैं (२के पास १५ एकड़से अधिक और १के पास ५से अधिक)। १० दुकानदार हैं। इनमेंसे कुछके पास काली मिर्चके बग़ीचे भी हैं। बाक़ी मजूरी करके गुज़ारा करते हैं।

३० परिवार मोगमें (मछुआ)के हैं। इनके पास खेत नहीं है। इनका काम मछुआईका है और पासकी नदियोंके अलावा ये सात-आठ मील दूर समुन्दर तक उसकेलिए जाते हैं।

तीस परिवार मुवारी (पत्थरकट) लोगोंके हैं, एक तरहके नरम पत्थरका—जो

कुओं और दीवारोंके बनानेकेलिए इस्तेमाल होता है—काटना ही इनका काम है। इनके पास खेत नहीं है।

आशारी (वढ़ई) ८ परिवार बेखेतके हैं और काम है बढ़ईका।

६० उन्नितिरी परिवार हैं, जिनमें एकके पास ५ एकड़से ज्यादा ज़मीन है और ४ के पास ५ एकड़से कम। दो छोटे-छोटे जमींदार हैं, ६ शिक्षक। जो सुभीता ब्राह्मणोंको उन्नितिरियोंमें है, वही उन्नितिरियोंको नायरोंमें प्राप्त है। उन्नितिरी पति अपनी नायर स्त्रीके हाथका पानी नहीं पी सकता, लेकिन उसके हाथसे चूड़ा, पान और चाय ले सकता है। बिवाहका चिह्न (मंगलसूत्र) उन्नितिरी लड़कीको तिरुअप्पाडसे कैसे लेना पड़ता है, इसके बारेमें हम अभी कह आए हैं।

गाँवमें ४ परिवार कोलया (अछूत) लोगोंके हैं। इनके पास कोई खेत नहीं है और ग़रीबी हद दर्जेकी है। चटाई-टोकरी बुनना उनका काम है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि १३ फ़ीट लम्बी १० फ़ीट चौड़ी झोपड़ीमें १२ लड़के सयाने रह कैसे सकते हैं? नारियलके पत्तियोंका छप्पर था और दीवार भी टट्टीकी। ताले दर्वाजेकी वहाँ ज़रूरत नहीं थी। घरमें चार-पाँच मिट्टीके बर्तन थे। जमा अन्न कुछ भी नहीं था। उस वक्त तीन बच्चे और उनकी प्रौढ़ा माँ घरपर थी। बाकी लोग गाँवसे दूर कहीं मजूरी करने गए थे। स्त्री टोकरी बना रही थी। एक दिनमें एक टोकरी तैयार होती है। फिर उसे वह आधसेर धान पर बेंचेगी। उसीमें तीन बच्चे और खुद खायगी। सिर्फ एक शाम खाना मिलता है। यदि किसीने दया करके माँड़ दे दिया तो लड़कोंको कुछ और भी मिल जाता। आधसेर धानपर मुझे आश्चर्य प्रगट करते हुए देखकर स्त्रीने कहा—निराहार रहनेमें मुझे कोई हरा नहीं सकता। इसमें थोड़ासा गर्व भी था, लेकिन वह गर्व था आफ़त झेलते-झेलते पत्थर हो गए दिलका। उसके शरीरपर कमरसे नीचे सवा हाथ चौड़ा और तीन हाथ लम्बा सिर्फ एक कपड़ा था। बच्चोंको कपड़ोंकी कोई ज़रूरत ही नहीं समझी जाती।

करिवेल्लूर गाँवकी ५२००की आबादीके लिए ३००० एकड़ खेत हैं, जिनमेंसे १२०० एकड़ धानके खेत हैं और बाकी बग़ीचे। गाँवके जमींदार बाहरके हैं और किसानोंका अधिकसे अधिक दोहन उनका काम था। ज़मीन उपजाऊ है। धानका खेत प्रति एकड़ (२८०३४½ वर्गगज) २५०० रु० में बिक जाता है और नारियलवाला प्रति एकड़ २००० रु० पर। यदि सारे खेतोंपर सभी लोगोंका अधिकार होता, तब भी गाँवके सभी व्यक्तियोंके खाने-पहिननेकेलिए काफ़ी नहीं था। उधर जमींदारोंकी ओरसे इज़ाफ़ा और दूसरी तरहके नाजायज़ कर और बेगारका भी बोझ था।

शताब्दियोंसे लोग इस जुल्मको सनातन समझकर सहते आए थे। १९३१–३२ के सत्याग्रहमें भाग लेनेवाले तरुणोंको जब गान्धीवादसे निराशा हुई और उन्होंने साम्यवादका रास्ता पकड़ा, तो उसकी गूँज करिवेल्लूर जैसे गाँवों तक पहुँची। उन्होंने समझा था कि यह जुलम सनातन है, क्योंकि हम उसे आँख मूँदकर सहते आए थे, अब हम नहीं सहेंगे और इस सनातनको खतम करके ही छोड़ेंगे। उन्हें चिरक्कालके राजा वेंगेलके ज़मींदार जैसे बड़े बड़े धनियोंसे मुक़ाबला करना था, जो कि सरकारके खैर-ख्वाह और कृपापात्र थे, पुलिस उनकी पीठपर थी, कानून और कचहरीको मोहनेका मन्त्र उनके पास था। भगवानपर इनके अगुओंका विश्वास नहीं था—आखिर भगवान जीते होते तो सदियोंसे यह मेहनतकश नरककी ज़िन्दगीको क्यों भोगते, और उनके खून-पसीनेकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ानेवाली कामचोर जोंकें छातीपर कोदो क्यों दलतीं? धरती और आसमानकी सारी शक्तियोंसे उन्हें लड़ना पड़ा। पहिले थोड़ेसे लोगोंने हिम्मत दिखलाई, फिर दूसरोंके भी दिलमें आत्म विश्वास बढ़ा और सालोंके संघर्षके बाद ज़मींदारोंको परास्त होना पड़ा। अभी ज़मींदारी प्रथा उठी नहीं थी, लेकिन उसका प्रभामंडल उड़ गया था, आमदनी भी कम हो गई थी, वह दम तोड़ रही-सी मालूम होती थी। करिवेल्लूर की जनता ने यह सब अपने बूते पर किया। यद्यपि अब भी वहाँ भूख है, मगर जिन तरुणोंपर विश्वास करके लड़कर उन्होंने अपने खोये हुए आत्मसम्मानको प्राप्त किया, कितने ही आर्थिक सुभीते लिए; उन्हींके वचनोंपर विश्वास करके वह आशा करते हैं, कि किसी दिन केरल अपने और गाँवको वह साम्यवादी बनाकर सुख और समृद्धिसे पूर्ण करेंगे। गाँवके धनी लोग पहिले विरोधी थे, मझोले किसान तटस्थ; मगर आज लाल करिवेल्लूरका कोई विरोधी नहीं हो सकता। ब्राह्मण, नायर, मुसलमान आदि भिन्न-भिन्न जातियोंसे आए ५३ पार्टी-मेम्बर अपने भीतर धर्म-जाति, छूत-अछूतका कोई भेद-भाव नहीं मानते, वे सगे भाईसे भी अधिक अपने साथियोंपर विश्वास रखते हैं।

करिवेल्लूरमें घूमनेकेलिए खेतोंकी सीमासे सीमा तक जाना पड़ेगा, क्योंकि कोई घर भी सौ गज़से कम दूर पर नहीं है। गाँवके केन्द्रमें पार्टी-कार्यालय नारियलोंके बाग़में था। वह उनका राजनीतिक ही नहीं सांस्कृतिक केन्द्र था। उन्होंने अपने गाने बनाए, लेकिन पुरानी लय, नाच आदि को कायम रखा। आजकल (३० मार्च) पुरक्कली (तरुण नृत्य) का मौसम था। तरुण ताली बजाते और गाते हुए एक चक्कर में गाते हैं। पुराने ज़मानेमें नाचमें देवी-देवताओंका गान गाया जाता था, मगर आज ये गा रहे हैं, कयूरके वीरोंका गीत, जापानी और जर्मन जुल्मोंका गीत, लाल-संसारका गीत।

उस दिन रातको गाँवके तरुणोंने अपने कई गानों और नाचोंका प्रदर्शन किया। यद्यपि उनको पहिलेसे मेरे आनेकी खबर न थी, लेकिन सारा गाँव संगठित है, १५० वालंटियरोंमें ३६ गोरिल्लाकलाको सीखे हुए थे, क्योंकि समुद्रतटपर होनेसे मलवारको भी उतना ही खतरा था जितना सिलोनको। पहला नाच लड़कोंका था, कोलकली। यह सारे भारतमें दो लड़कियोंको बजाते हुए नाचा जानेवाला नृत्य है। फिर ७ से १० वर्ष तककी लड़कियोंने अपना कुम्मीनृत्य दिखलाया है, यह गरबाकी तरहका नृत्य है। गाना और नाचना दोनों हीको बड़े सुन्दर तौरसे उन्होंने करके दिखाया। फिर फरी मारना और दूसरे शारीरिक व्यायामोंके बाद कितने ही तरुणोंने लाठी और तलवारके हाथ दिखाए और अंतमें पूरक्कली (नृत्य) दिखलाया। मैंने कामरेड टी० वी० कुंजीरामन (छोटूराम), का० कुंजि-कृष्णनायर (सेक्रेटरी) और का० पी० कुंजिरामनको सांस्कृतिक प्रोग्रामकी सफलता-केलिए धन्यवाद दिया।

जातियोंकी सीढ़ी—नम्बूदिरी सबसे बड़े, उनमें भी जेष्ठपुत्र सबसे बड़ा, कनिष्टपुत्र और राजवंशी नायर-पुत्रीकी संतान (कोचीनके वर्मा) का नम्बर दूसरा आता है। तीसरा नम्बर है कोयतम्बुरनका जो कि ट्रावनकोरके राजाओंके पिता या भगिनीपति होते हैं। कोचीन राजवंशमें जो काम नम्बूतिरीका है, ट्रावनकोरमें वही काम कोयतम्बुरन करता है। वर्तमान ट्रावनकोरके राजा और उनके अनुज किसी कोयतम्बुरनके पुत्र हैं। उनकी बहन भी कोयतम्बुरन कुलमें ब्याही है। कोचीनकी तरह ट्रावनकोरमें भी राज्यका उत्तराधिकार सगे भाई और भगिनी-पुत्रोंके क्रमसे चलता है। वर्त्तमान ट्रावनकोर महाराजाके बाद उनके अनुज गद्दीपर बैठेंगे और उनके बाद छ बरसका उनका भगिनीपुत्र बैठता, जो हाल हीमें मर गया। ट्रावनकोरका राजवंश तम्बुरन है, जो कोयतम्बूरनसे एक सीढ़ी नीचे है। ट्रावनकोरके राजाको जनेऊका अधिकारी होनेकेलिए—अर्थात् क्षत्रिय बननेकेलिए—एक सोनेकी गायके पेटसे गुज़रना पड़ता है, लेकिन यह हिरण्यगर्भ-क्रिया सिर्फ उसीको क्षत्रिय बनाती है, उसकी सन्तान या कुलको नहीं। तम्बुरनके बाद उन जातियोंका नम्बर है, जो मन्दिरोंके भिन्न-भिन्न अधिकारी होती आई हैं—जैसे तिरुअप्पाड़, नम्बीसन, उन्नित्तिरी, वारियर, माडार, कुरुप्प, पिशारडी, कुडवाल। इनमें तिरुअप्पाड़ और नम्बीसन जनेऊ रखते हैं। सारे क्षत्रियोंको विध्वंस करनेवाले परशुराम अभी मरे नहीं हैं, उन्हींके डरके मारे उन्नित्तिरी बेचारे जनेऊको शरीरके बाहर न रखकर घीके साथ पेटमें रख लेते हैं। इसके

बाद नायरका नम्बर आता है। नायरोंके बाद मणियानी, वाणियों (तेली), चालिया (ततवा), थीया (कलाल या पासी), मोगयार (मछुवा), नाविदियर (नापित), वन्नतन (धोबी), चेट्टी (सुनार), आशारी (बढ़ई), कोल्लन् (लोहार), मुशारी (पीतलकार), चेम्बूटी (ताम्रकार), वन्नन् (भूतनर्तक), मलयल (भूतनर्तक), पुलेया (बसोर), चिरपूती (चमार), कणिसन (छत्रकार), माइल (टोकरीकार), आदि हैं। मलवारकी जातियोंमें अन्तिम चार जातियोंके अछूत और बाकियोंके छोटे-बड़े होनेका फ़तवा ब्राह्मणोंने ख़ुद न देकर उन्हें आपसमें लड़नेकेलिए छोड़ रखा है।

जिस तरहका घोर अपरिवर्तनवादी धर्म और सामाजिक व्यवस्था मलावारमें अबतक संचालित हो रहा था अब उसकी जगह एक घोर परिवर्तनवादी विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था ले रही है। मलावारमें इस नई धाराके वाहक हैं कम्युनिस्टपार्टीके दो हज़ार कर्मठ मेम्बर, जिनके त्याग और निर्भीकताकी प्रशंसा शत्रु भी करते हैं।

करिवेल्लूरसे मैं ३० मार्चको शामको रवाना हुआ। ६ मीलपर पय्यनूर बाज़ार आया। यहाँ भी स्वागतकेलिए जलूस तैयार था। फिर एक सभामें थोड़ा बोलना पड़ा। रातको मैं पार्टी-सेक्रेटरी नम्बियरके घरपर रहा। यह नायरवंशी थे, लेकिन माँकी तरफसे पिता कोई नम्बूतिरी ब्राह्मण था। अगले दिन साढ़े नौ बजेकी गाड़ी पकड़ी। कालीकोट (कालीकट) स्टेशनपर तरुण कवि के० पी० जे० नम्बूतिरी मिले; उनके साथ ही मैं शोनोर गया। स्टेशनसे आध मीलपर भरतपुरा नदी है। यही ब्रिटिश मलवार और कोचीन राज्यकी सीमा है। पुल पार करनेपर चेरुत्तुरुत्ती गाँवमें पहुँचे। केरलके सर्वश्रेष्ठ कवि नारायण मेनन वेल्लतोल्ल यहीं रहते हैं। वेल्लतोल्लने बहुत-से महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे हैं। आजकल उनकी अवस्था ६० वर्षसे ऊपर है, लेकिन अब भी वह अपने क्षेत्रमें तरुण हैं—उनके विचारोंका विकास बराबर होता गया है। वह सिर्फ काव्य हीके आचार्य्य नहीं हैं, बल्कि केरलकी प्राचीन नाट्यकलाको जीवित करनेमें उनका बड़ा हाथ रहा है। कथाकाली (मूकनृत्य)के वह एक माने हुए आचार्य हैं। संगीत और नृत्यकलाके उज्जीवनकेलिए उन्होंने एक कलामंडलकी स्थापना की है। वैयक्तिक नेतृत्वमें पीछे कलामंडलको शायद क्षति पहुँचे, यह ख्याल करके उन्होंने कलामंडल और ५० हज़ारकी निधि राज्यको सौंप दी, लेकिन राज्यके निर्जीव यंत्रमें पड़कर कलामंडलकी उन्नति क्या होती, उसका और ह्रास होने लगा। अब कितने ही कलाप्रेमी उनपर ज़ोर दे रहे हैं, कि

कलामंडलको फिर अपनें हाथमें लें। कलामंडलका नाट्यागार आजकल सैनिकोंका निवास हो गया था। वेल्लतोल्लने १६०७ में वाल्मीकि रामायणका पद्यानुवाद किया था। उनके महाकाव्योंमें "चित्रयोगम्" एक है। कालिदासके अभिज्ञान-शाकुंतलके आधारपर उन्होंने "अच्छन मकलम्" नामक काव्य लिखा है, जिसमें शकुंतलाने अपने पिता विश्वामित्रकी बड़ी भर्त्सना की है—विश्वामित्रने मेनकासे सिर्फ शारीरिक सुखका संबंध रखा और पुत्रीकी जिम्मेवारी नहीं ली थी। कविको यह बात बहुत खटकी थी। मैं जब उनके घरपर पहुँचा, तो वह कहीं बाहर गए हुए थे। उनके पाँच पुत्रोंमें दो और तीन पुत्रियोंमें एक वहाँ मौजूद थी। कविकी वृद्धा स्त्री घर पर ही थीं। उन्होंने स्वागत किया। सारा परिवार संस्कृत है, पुत्रोंमें दो पार्टी मेम्बर हैं। वल्लतोल स्वयं पार्टीसे बड़ा प्रेम रखते हैं। शामको वह आए। कानसे बहुत कम सुनाई देता है, इसलिए बात करना आसान नहीं था, तो भी कुछ बातचीत हुई।

दूसरे दिन दोपहर बाद मैंने स्टेशनका रास्ता लिया। मैंने केरल छोड़ते वक्त (२अप्रैल) अपनी डायरीमें वहाँके बारेमें लिखा था—"केरलका सामाजिक विकास तल बहुत पिछड़ा हुआ है। २० वीं सदीतक मातृसत्ता रहनेका दुष्परिणाम तो होना ही चाहिए। ऊपरसे ब्राह्मणेतर सभी उच्चजातियोंकी लड़कियाँ ब्राह्मणोंके साथ यौन सम्बन्ध करनेकेलिए तैयार। यहाँ कुछ बातोंमें तिब्बतसे समानता है। हरेक (आदमी अतिथिसे) पिण्ड छुड़ानेकेलिए तैयार।"

गाड़ी पकड़नेमें भी बहुत मुश्किल हुई। भीड़ बहुत ज़्यादा थी। अगले दिन (३ अप्रैल) ८ बजे सबेरे बंगलोर पहुँचा।

२. कर्नाटकमें (१६४४ ई०)—२६ मार्चको मैं बंगलोर होते ही केरल गया था, उस वक्त मुझे सिर्फ एक दिन रहनेका मौक़ा मिला था, और अब भी दो दिन (३–४ अप्रैल) ही यहाँ रह सका। गाँवोंमें जानेका मुझे मौक़ा नहीं मिला। बंगलोर कर्नाटकका एक सांस्कृतिक केन्द्र है, बंगलोर शहर और छावनी लगी हुई बस्तियाँ हैं, जिनमें बंगलोर छावनी अंग्रेजी अधिकारमें है। वैसे ही यहाँकी छावनी बहुत बड़ी रही है, लेकिन आजकल तो लाखसे ऊपर सेना यहाँ रहती है। यहाँ सैनिक अफ़सरोंका कालेज है, कई हवाई अड्डे हैं। एक शहरमें ३० के करीब सिनेमा हैं। कन्नड़ (कर्नाटकी) भाषाके लेखकोंमें काफ़ी संख्या प्रगतिशीलोंकी है। यहाँसे जाते वक्त साथी उपाध्याय और दूसरोंने वचन ले लिया था, कि इधरसे ही जाऊँ। रातको गाड़ीमें सोनेका मौका नहीं मिला, इसलिए दिनके कई घंटे सोता रहा।

मैंने चाहा कि कोई कन्नड़-फ़िल्म देखूँ। कन्नडका क्षेत्र संकुचित है, जहाँ तक फ़िल्मोंका सम्बन्ध है। उनकी माँग कम है। अतः बहुत कम फ़िल्म बने हैं। ३० के करीब सिनेमा घर हैं, लेकिन उनमें ज़्यादातर हिन्दी फ़िल्म चलते हैं। जैसा कि मैं पहिले लिख चुका हूँ, हिन्दी फ़िल्मोंके द्वारा हिन्दुस्तानी संगीत और वेष-भूषाने दक्षिणपथ पर विजय प्राप्त कर ली है, अशोक और समुद्रगुप्तको क्षणिक सफलता मिली, हर्षवर्धनको तो हार खाकर भागना पड़ा, लेकिन उसी दक्षिणपथको हमारी सिनेमा-तारकाओंने अपने सौन्दर्य, वेष-भूषा हाव-भाव और कोकिलकंठसे मुग्ध कर लिया। शायद इस विजयसे हमारे दक्षिणवाले भाई नाराज नहीं होंगे। मालूम हुआ "पन्तुलम्मा" नामक तेलगू चित्रपट चल रहा है। कुमार नाट्याचार्यके साथ मैं वहाँ गया। चित्रपटका कथानक था—पन्तुलम्मा अनाथालयमें पली लड़की पढ़कर ग्रेजुयेट बनी, फिर म्युनिसपैल्टीके कन्याविद्यालयमें अध्यापिका हुई। चेयरमैन एक नम्बरका रिश्वतखोर और ऐयाश था, उसने पन्तुलम्माको फँसाना चाहा। वह पन्तुलम्माके इन्कार करनेपर उसे नौकरीसे निकाल देता है। परन्तु एक संगीतज्ञ ब्राह्मण तरुण पन्तुलम्माको शरण देता है, इसकेलिए उसका पिता वैदिक ब्राह्मण बेटेको घरसे निकाल देता है। तरुण-तरुणी जाकर अब किसी जगह अपना कालयापन करते हैं। माताके मरणासन्न होनेकी खबर सुनकर पुत्र देखनेकेलिए आता है, और उसे अछूतकी तरह बाहर भोजन दिया जाता है। वह खानेसे इनकार कर निकल पड़ता है। द्वारपर पन्तुलम्मा मिलती है। गाँववाले तरुणोंको खबर लगती है। वह तरुण-तरुणीका जय-जयकार मनाने लगते हैं, वैदिक पिता महाजनके घोषको सुनता है, और समझ जाता है कि अब उसका युग नहीं रहा, इसलिए वह नवयुगका स्वागत करता है, तथा पुत्र और पुत्रवधूको आशीर्वाद देता है। घोर रूढ़िवादके विरुद्ध दक्षिणमें जो प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, इस फ़िल्ममें उसका थोड़ासा परिचय था। दक्षिणके फ़िल्म-उत्पादक बाजारकी कमी, अतएव घाटेके डरसे फ़िल्मोंपर उतना रुपया नहीं खर्च कर सकते, जितना कि हिन्दी फ़िल्मोंपर होता है, इसलिए वह उतने अच्छे-अच्छे कलाकारोंको जमा नहीं कर सकते, तो भी वहाँ उच्च कलाकार नहीं हैं, यह बात नहीं है। स्वाभाविकता वहाँके फ़िल्मोंमें बहुत ज़्यादा देखनेमें आती है, ख़ासकर देहाती जीवन का। इसका कारण एक यह भी है, कि फिल्म अपने भाषा-क्षेत्रमें तैयार होते हैं, और भाषा भी किताबी नहीं, सजीव बोलचालकी होती है।

अगले दिन (४ अप्रैल) "वार्त्ता" (दैनिक पत्रिका) के कार्यालयमें कन्नड़-साहित्यिकोंसे वार्त्तालाप हुआ। उनमें अधिकांश प्रगतिशील लेखक थे। आजकी जीवित

भाषाओंमें कन्नड़का साहित्य हिन्दी (अपभ्रंश) और तामिलके बाद सबसे पुराना है। अभी भी यहाँकी कवितामें भाषा और काव्यशैली पुरानी बरती जाती है। हाँ कहानी और उपन्यास जरूर नए ढंगके लिखे जा रहे हैं। कन्नड़ प्रान्त भी चार-चार टुकड़ोंमें बँटा है—कुछ मदरास प्रान्तमें और कुछ बम्बईमें, फिर कितना ही हिस्सा मैसूर और हैदराबादकी रियासतोंमें है। आन्ध्रके साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है, किन्तु तब भी आन्ध्रका बहुत सा हिस्सा एक जगह है। बिखरे होनेपर भी कर्नाटकोंकी पुरानी क्षमता अभी लुप्त नहीं हुई है। काँग्रेस-आन्दोलनमें वह महाराष्ट्रकी अपेक्षा भी आगे रहे हैं। कर्नाटकमें कम्युनिस्ट पार्टीका सन्देश बहुत पीछे पहुँचा है। अभी इसको साल भर भी नहीं हुआ, तो भी वहाँ १०० मेम्बर थे, जिनमें बहुतसे अपना सारा समय पार्टी कार्यकेलिए देते थे। हम बैठकसे लौट रहे थे। एक जगह १५,२० आदमी सड़कपर थे। उनके भीतर घुसते ही कुट्ट-सी आवाज़ आई, मैंने जेबकी ओर देखा तो शैफ़र(फ़ाउन्टेनपेन)ग़ायब थी। पीछे घूमकर देखता हूँ, एक लड़का तेजीसे भागा जा रहा है। मैंने जब तक साथीको बतलानेकी कोशिश की, तब तक वह और आगे चला गया। तो भी हमने जाकर उसे पकड़ा। लेकिन तब तक उसने क़लम किसी दूसरेके हाथमें देदी थी। पुलिस थाने तक लेकर गए, लेकिन फिर सोचा फ़जूल-की हैरानी है, क़लम तो मिलनेवाली नहीं है, और कल ही हमें यहाँसे चल देना है। वहीं उसे छोड़ दिया। शैफ़र अच्छी फ़ाउनटेनपेन होती है, और आज तो उसका दाम चौगुना पहुँचा था, लेकिन मैंने उससे चार-पाँच हज़ार पृष्ठकी किताबें लिखी थीं, इसलिए कह सकता हूँ, कि दाम सध गया था। वही कलम इलाहाबादमें वह हफ़्ता गुम रहकर मिली थी। मैंने उस वक़्त सन्तोष कर लिया था। सबसे बड़ी मेरी फ़िला-सफ़ी यह है, जो चीज चली गई, उसकेलिए फिर अफ़सोस नहीं करना। इस तरह पाकेटमें फ़ाउनटेनपेन रखनेमें चोरीका डर है—ऐसा उपदेश मैं बहुत बार सुन चुका था, और अकसर बाहर निकलते वक़्त फ़ाउनटेनपेनको भीतर गिरा देता था। आज भी ख्याल आया था, लेकिन बेपरवाहीसे उसी तरह लटकते रहने दिया। खैर, कलम गई, और बहुत सालों बाद फिर एक बार चीज़ चोरी जानेका अनुभव हुआ। शामको तरुणोंमें एक व्याख्यान देना पड़ा।

१०

बंबईमें (१९४४)

६ अप्रैलकी दोपहरको हम बम्बई पहुँच गए। अभी पासपोर्टका कोई ठौर-ठिकाना नहीं था। अपने बेकार समयको बरबाद करनेका ही सवाल नहीं था, बल्कि उस तरह रहनेपर चित्तके अवसादको रोका नहीं जा सकता। सर्दार पृथ्वीसिंह की जीवनी लिखना चाहता था, किन्तु अभी वह आन्ध्रसे लौटे नहीं थे। सोचा तब तक कालक्षेपकेलिए कुछ पढ़ना ही चाहिए। ताराशंकर वंद्योपाध्यायकी पुस्तक "पंचग्राम" हाथ लगी। पीछे उनका दूसरा उपन्यास "मन्वन्तर" पढ़नेको मिला। वह एक सिद्धहस्त कलाकार हैं, साथ ही कूटस्थ नित्य निर्विकार कलाकार नहीं, वह अपने आसपासकी परिस्थितियोंसे प्रभावित होनेको दूषण नहीं भूषण समझते हैं। "पंचग्राम"में लेखकने बड़ी सफलतापूर्वक पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ीके संघर्ष, पुराने वैयक्तिक स्वार्थोंके साथ नये सामाजिक स्वार्थोंके संघर्ष, पुराने आचारोंके साथ नये आचारोंको चित्रित किया है। दृश्य और पात्र सभी गाँवके हैं। उनमें एक तरहकी स्वाभाविकता है। मैंने उसपर लिखा था—"सब मिलाकर अच्छा है, यद्यपि विश्वनाथके प्रति ग्रन्थकारको आशा नहीं दिलाना चाहिए था, जबकि उसे दो पंक्तियोंमें ही मार डालना था। देव भी विचारोंमें कच्चा ही रह जाता है।" "मन्वन्तर"के बारेमें लिखा था—"अच्छा उपन्यास—विजयदाके स्वाभाविक चित्र कनाईका धीरे-धीरे आगे बढ़ना, गीताका स्वाभिमान। नीलाका चित्रण वहुत अच्छा नहीं है, देवप्रसाद टिपिकल् लिबरल (उदारवादियोंका नमूना), गुणदाकी बीबी अर्थोडक्स (सनातनी) फिर भी गाँधीभक्त।"

इस वक़्त दिमाग़में ४ पुस्तकें चक्कर काट रही थीं—"हिन्दीकाव्यधारा" (अभी यह नामकरण नहीं हुआ था), "सरदार पृथ्वीसिंह", "भागो नहीं बदलो", "जय यौधेय"। तो भी किसी बड़े कामके छाननेकी हिम्मत न होती थी। समझता था, यदि जल्दी ही पासपोर्ट मिल गया, तो काम अधूरा छोड़ना पड़ेगा। बम्बईमें अभी मैं पार्टीके मकानमें था, लेकिन खटमलोंके मारे रातमें सोना मुश्किल था। दो-तीन दिनके बाद मैं फिर छतपर सोने लगा। वहाँ खटमलोंसे जान बची। खटमलोंसे बड़े-बड़े देवता भी त्राहि-त्राहि करते हैं, तो मेरी क्या बिसात है—

"क्षीराब्धौ हि हरिः शेते हरः शेते हिमालये ।
ब्रह्मा च पंकजे शेते मन्ये मत्कुण-शंकया ॥"

१४ अप्रैलको मैं अपनी दक्षिण-यात्रापर एक लेख लिखवा रहा था, शान्ति (इन्द्रदीपकी पत्नी) लिख रही थीं। ३ बज गया था। आज हम लोगोंको आम्र-भोजकेलिए कहीं समुद्रके किनारे जाना था। महेन्द्र आचार्य आम खरीदने गये थे। एकाएक एक आवाज़ आई, और साथ ही धक्का लगा, भेड़े हुये किवाड़ खुल गये। मैंने समझा भूकम्प आ गया। दो-चार मिनट बाद फिर ज़ोरका धक्का लगा। मुझे निश्चय हो गया कि भूकम्प है। हम चौथे महलेपर थे। सामने भी एक पंच-महला मकान था। बीचमें खेतवाड़ी मेनरोडकी पतली-सी सड़क थी। यदि मकान गिरनेवाला होता, तो नीचे सड़कपर जानेसे बचनेकी कोई उम्मेद नहीं थी, क्योंकि दोनों मकान ऐसी-ऐसी तीन सड़कोंको ढाँक सकते थे। तो भी खिड़कीसे झाँककर देखा। नीचे लोग एक ओरको बड़े ग़ौरसे देख रहे थे। हम भी नीचे उतरकर गये, देखा तो डॉक (बन्दर)की ओर आसमानमें बड़े ज़ोरका धुँआ उठ रहा है। थोड़ी देर बाद एक प्रचंड धमाका और हुआ, और आसपासके सारे मकान गनगना गये। लोग बन्दरकी ओरसे भागते चले आ रहे थे। दो-तीन साथी जाँच करनेकेलिए निकले। मालूम हुआ कि बारूदमें आग लगनेसे जहाज़ उड़ गये हैं, और कितने ही आदमी मरे और घायल हुए हैं, मकानोंमें आग लग गई है। थोड़ी देर बाद वहाँसे लौटकर सुनील-जानाने बतलाया, कि बहुतसे आदमी घायल हुए; सड़कपर उन्होंने ऐसी लाश देखी है कि जिसका एक हाथ तो आदमीकी तरह था, बाकी शरीर माँसका पोपला ढेर बन गया था। अँधेरा होते होते मैं और इन्द्रदीप चले। सैन्डहर्स्टरोडपर चलते गए, लेकिन रेलके पुलके पास पहुँचने पर सिपाही ने उधर जानेसे रोक दिया। रातकी अँधेरीमें आगकी लाल-लाल लपटें बड़ी भयावनी मालूम होती थीं। एक गलीसे होकर सड़कपर पहुँचे। देखा रेलके उस पारके मकान धाँय-धाँय जल रहे हैं, और इस पारके चौमहले-पँचमहले मकानोंसे लपटें निकल रही हैं। लोग घर छोड़कर भाग गए थे। रेलवे सड़कके पासके गोदामोंमें चौखटे सहित किवाड़ भीतर इस तरह गिरा दिए गए थे, जैसे हज़ारों हाथियोंके बलवाले किसी पहलवानने दोनों बाजुओंसे दबाकर उन्हें नीचे गिरा दिया हो। खिड़कियोंमें शीशेका नाम नहीं; सड़कोंपर वह चूर-चूर होकर पड़े थे। मैं चप्पल पहनकर आनेकेलिए पछता रहा था। चारों तरफ़ घबड़ाहट थी, लेकिन कुछ स्वंयेसेवक और सैनिक लोगोंको खतरेकी जगहसे निकालनेमें लगे हुए थे। सड़कों और फ़ुटपाथोंपर लोगोंने

खड़ियामिट्टीसे लिख दिया था, कि शरणार्थियोंको किस जगह जाना चाहिए। रातको मैं छतपर सोया था, धुआँ तो अँधेरेमें क्या दिखाई देता, किन्तु ज्वाला बलती हुई लौ दूर तक दिखाई देती थी।

महेन्द्र जिस वक़्त आमका मोल-भाव कर रहे थे, उसी समय धड़ाका हुआ था। वह आम लेना भूल गए और दूकानदार भी दूकान बन्द करने लगा।

पासपोर्ट और बीसाके मिल जानेके बाद लड़ाईके वक़्त एक और बड़ी दिक़्क़त थी रुपएके बदलेमें विदेशी विनिमय पौंड लेना—सरकारके हुकुमके बिना आप एक पौंड भी नहीं पा सकते। पौंडके लिए मैं रिजर्व बैंकको लिखकर गया था। १८ अप्रैल को बैंकने कुछ बातें पूछी थीं, जिन्हें बतला दिया गया। २२को मैं वहाँ गया तो बैङ्क वालेने कहा, आप पहिले डिफेन्स (सेना)-विभागसे बीवी बच्चे लानेके लिए इजाज़त ले लें, तो हम पौंड देंगे। मैंने ख़र्चका विवरण देते हुए दर्ख़्वास्तमें लिख दिया था कि सोवियत जाने और बीबी-बच्चोंके लानेकेलिए मुझे इतने पौंडोंकी ज़रूरत है। बीबी-बच्चे लानेकी बात लिखनेकी ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि वह सवाल तो सोवियत जानेके बाद होता, लेकिन न जा सकनेपर पैसोंके भेजनेकी तो ज़रूरत पड़ती। बैठे बैठाए मैंने एक आफ़त और मोल ले ली। आज भी अंग्रेज अफ़सरोंका दिमाग़ कितना आसमानपर है, यह उस आदमीसे बात करते वक़्त मालूम हुआ। उसका बर्ताव बहुत रूखा था, और साधारण शिष्टाचारका जवाब तक नहीं देना चाहता था, लेकिन यह उसका दोष नहीं था, दोष था हमारी ग़ुलामीका।

बम्बईमें रहते जब तब मैं कोई फ़िल्म देखने चला जाया करता था। यहाँ दो फ़िल्मोंके बारेमें मैंने जो अपनी डायरीमें लिखा है, उसे उद्धृत करता हूँ—"रातको 'शुक्रिया' फ़िल्म देखने गए, अभिनय (अच्छा इस) में सन्देह नहीं, मगर सिर्फ गाने-नाचने और सौन्दर्यप्रदर्शनके ही बलपर इस फ़िल्मको दर्शकोंके मत्थे थोपा गया। बीसवीं सदीका स्वयंवर (है), जिसमें नीना (रमोला) सभी उम्मेदवारोंको इनकार कर देती है। अन्तिमको बिना देखे ही इनकार करनेपर वह 'शुक्रिया' कहता है। बुलानेपर नीना दो चपत लगाती है, फिर नायक कई चपत लगाता है। प्रेम हो गया शुरू। हीरो (नायक) परले दर्जेका ऐयाश (शराबी, रंडीबाज़) है। वह एक वेश्यापुत्रीको धोखा देता है। (रुपयोंके लोभसे) नीनाके पिताने पुत्रीके पैदा होनेसे पहिले ही, लड़कीके सुन्दरके साथ ब्याह करनेपर सम्पत्तिका अधिकारी होनेका विल (वसीयत-नामा) लिखा था। सुन्दर गुरुके पाससे उल्लू होकर निकलता है। मनोहर (नायक) उसे बेवकूफ़, ऐयाश बनाता है, जिसमें वेश्यापुत्री सहायक होती है।

चाल मालूम होनेपर नीना इनकार कर देती है; अन्तमें सुन्दर बच जाता है। सुन्दरके गुरुके आदर्शकी विजय होती है। कथानक बिलकुल विश्रृंखलित, निर्जीव और निरुद्देश्य है।"

अगले दिन (२० अप्रैल) मैंने "जमीन" फ़िल्म देखा। उसके बारेमें लिखा था—"इतने दिनों बाद यह एक हिन्दी फ़िल्म आया है, जिसकी तारीफ़ कर सकते हैं। वार्त्तालाप कमालका है, कौरवी उच्चारण लानेकी कोशिश की गई है, उसमें सफलता हुई है। कथानक भी सुसंवद्ध है, गहराई है,...अभिनयमें जो कुछ है, ध्वनि उससे दूर जाती है। नायिका (दुर्गा खोटे), दाढ़ीवाले और बहरेका पार्ट बड़ी सुन्दर रीतिसे अदा किया गया है। बहरेने तो गजब ढाया है। कथा है—भूकम्पसे दाढ़ीवाले और बाढ़-अकालसे नायिकाका गाँव नष्ट हो जाता है। पहिलेके पास दो बकरियाँ और दूसरेके पास एक गाय रह जाती है। दाढ़ीवाला ज़मीन पकड़ लेता है, नायिका भी गाय लेकर वहाँ पहुँचती है। दोनों नया जीवन आरम्भ करते हैं—किसानका जीवन। किसान कुछ समय बाद बकरियों और सामान-को बेंचकर बहरेकी गाड़ीपर खेतीके सामान (हल, चर्खा..) लिए घर पहुँचता है, तीनों काममें लग जाते हैं। ज़मीनपर सरकारी अफ़सर आ धमकता है। पैसा देकर वह अपना काम करते हैं। वहाँ नमक देख पूँजीपति आ टपकता है। अब आफ़तें शुरू होती हैं। उस ज़मीनमें नमकके बाद ताँबा निकलता है। न बेंचनेका हठ करनेपर पूँजीवाला दस्तावेज़ चुराना चाहता है। नायिका उसे मार देती है। बड़ा पूँजीपति स्त्रीकी लड़ाई लड़ने और पुत्रको पढ़ानेका ढोंग रचकर एहसान जतलाता है, लेकिन पैरवी नहीं करता। स्त्री बारह सालकेलिए जेल चली जाती है। लड़केको मारता पीटता है। वह जहाज़पर निकल जाता है। नायिका छूटके आनेपर पुत्रको माँगती है। सेठ कहता है, वह विलायत पढ़नेकेलिए गया है। सेठकी लड़की (ख़ुर-शीद) मोटर बिगड़ जानेसे रास्तेमें खड़ी है। दोनोंकी भेंट, दोनोंका परिचय, लेकिन तरुण घृणा करता है। वह माँ-बापसे मिलता है। बहरा शुरू हीसे सेठोंके जालका विरोधी है। लड़के लड़कियोंमें प्रेम। ताँबा खतम होने पर तेल निकलता है। लड़का सेठके हाथमें जमीन बेंचनेके लिए तैयार है, माँ असहमत। सेठ भी जनम-धरती बेचनेके लिए ताना मारता है। लड़केकी आँखें खुलती हैं। सेठको जमीन छोड़नेकी बात कही जाती है। सेठ.डाइनामाइट लगानेका हुकुम देता है। तरुण सेठके साइनबोर्डको फेंक देता है, जिस पर गुंडे शिर फोड़ देते हैं। अब सेठके मारनेके लिए भीड़ आती है। तरुणी कन्या पिताका पता देनेसे इनकार करती है। तरुण उसे मारनेके लिए हाथ

बढ़ाता है। स्त्री पर हाथ छोड़ना कायरता है, कहकर माँ रोक देती है। सेठको जमीन छोड़नेकी शर्त पर अभयदान मिलता है। सेठ गाँवसे चलता है, लड़की भी चलना चाहती है। माँ यह कहते हाथ पकड़कर लौटा लेती है—बेटेको साथ लाई थी, अब उसे अकेला छोड़कर जाती है। (फिल्ममें) किसानोंका बर्ताव गंभीरतापूर्ण और स्वाभाविक। दाढ़ीवाला कुछ सीधा-साधा-सा, सेठ नृशंस। चीरहरणकी जगह कोई दूसरी ग्रामीण मनोरंजनकी चीज ला सकते थे। गाने अच्छे नहीं फोटोग्राफी भी दोषपूर्ण। योगीके अनुकूल भेस नहीं।"

शहरमें जगह बहुत कम थी, पार्टी-साथियोंकी संख्या बढ़ गई थी। दूर अँधेरी-में एक बँगला किराएपर लिया गया, जिसमें चालीस-पचास आदमी रह सकते थे। २२ तारीख़को मैं भी साथियोंके साथ यहाँ चला आया। अँधेरीसे भी यह बँगला बिलकुल बाहर था, अच्छा बग़ीचा था। आस-पास भी आमोंके बाग़ और दूसरे बँगले एक दूसरेसे हटकर थे। साथियोंको अपने कामकेलिए रोज़ १० बजेसे पहिले ही शहर चला जाना पड़ता, लेकिन मुझे "सरदार पृथ्वीसिंह" लिखना था, इसलिए शहर जानेकी ज़रूरत नहीं थी। मैंने २४ अप्रैलसे "सरदार पृथ्वीसिंह" लिखाना शुरू किया और जौनपुर जिलेके तरुण ठाकुर भगवानसिंह बड़ी मुस्तैदीसे लिखते गए।

बीसाकी गड़बड़ी—२७ तारीख़को पता लगा, कि भारत सरकारने पहिली शर्त हटा ली है, और ईरानका बीसा लेकर मैं वहाँ जा सकता हूँ। २९ अप्रेलको १० बजे बम्बई गया। भटकते-भटकते गामड़िया रोडपर ईरान कौन्सलके पास पहुँचा। पहलेके तजर्बेसे मैं समझ रहा था, कि बीसा लेना तो घंटे आध घंटेका काम है। एक साथीके पूछनेपर मैंने कह दिया था, ९९.९% मेरा जाना ठीक होगया। ईरान कौन्सलसे बातचीत करनेपर घोर निराशा हुई। उसने कहा, जब तक तेहरानसे सरकार इजाजत नहीं भेजती, तब तक हम बीसा नहीं दे सकते। इजाजत छ महीनेसे पहिले क्या मिलेगी? ५ मईको रिजर्व बैङ्ककी चिट्ठी आई, कि वह १२५ पौंडका विनिमय देनेको तैयार है। ८ मईको मैं विनिमयकेलिए २००० का चेक ले आया। अगले दिन ईरान कौन्सलके पास दो फ़ोटोके साथ बीसाकी दरख़्वास्त दे दी। उसने जल्दी इज़ाजत भेजनेकेलिए एक जबानी तार लिख दिया। मैंने उसे भी भेज दिया। अब मेरे पास पासपोर्ट था। कुछ दिनों बाद टामस कूकने १२५ पौंडका चेक भी दे दिया। लेकिन ईरानी बीसाकी इजाजतका आज (२७ सितम्बर) तक कहीं पता नहीं। ईरान कौन्सलने कह दिया था—कुछ पता नहीं कब तक इजाजत आयेगी। मैंने इस समयको पुस्तकें लिखनेमें लगानेका निश्चय किया। हमारे बँगलेमें खाना पकानेका

कोई इन्तज़ाम नहीं था, इसलिए अँधेरीमें वहीं सरदार पृथ्वीसिंहके घर चला आया और भाभी प्रभा तथा उनकी देवरानी (सरदार पृथ्वीसिंहकी अनुजवधू) दुर्गाके हाथकी मीठी-मीठी रोटियाँ खाते किताव लिखनेमें लग गया।

कनेरीकी गुफ़ामें—अँधेरीसे दूर कनेरीकी गुहाएँ (लेना) हैं। मैं उनका नाम सुन चुका था। भाभीने उन्हें कई बार देखा था। १० मईको सवेरे हम रेलसे बोरीविली गए। स्टेशनसे गुहाएँ ७ मीलपर हैं। रास्ता जंगल और पहाड़ीका है। बैलगाड़ी कुछ दूर तक जा सकती है, लेकिन वह आरामकी सवारी नहीं होती, इसलिए खानेकी चीज़ें साथ बाँधकर हम चल पड़े। रास्तेमें करौंदोंके बहुत दरख़्त हैं, हिमालय और उत्तरी भारतमें मैंने जंगली करौंदे बहुत खाए थे, लेकिन वह बहुत छोटे-छोटे होते हैं और यहाँ थे कौड़ी कौड़ी भरके। हम जहाँ तहाँ करौंदा खाने लगते, लेकिन यह भी फ़िकर थी, कि धूप तेज़ होनेसे पहिले ही वहाँ पहुँचना है। १० बजेके क़रीब हम गुफ़ाओंके पास पहुँचे। अजन्ता और एलोरामें भी बहुत सी गुफ़ाएँ पहाड़ काटकर बनी हैं। एलोरामें तो कुछ दोमहले तिमहले प्रासाद सी मालूम होती हैं, लेकिन वहाँ गुफ़ाएँ पाँतीसे एक जगह पर हैं, कनारीमें गुफ़ाओंकी संख्या १०० से अधिक और एक मीलके घेरेमें हैं। वह पहाड़में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं। नम्बर तीन गुफ़ा एक विशाल चैत्यशाला है—कार्लेकी चैत्यशालासे भी बड़ी है। इसमें यहाँ रहनेवाले भिक्षु उपोसथके समय एकत्रित हुआ करते थे। सारी शाला पहाड़ खोदकर बनाई गई है। द्वारके बाँई ओरकी दीवारपर दो राजाओं और दो रानियोंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। राजाओंका शरीर सुपुष्ट और सुन्दर है, रानियोंके चेहरेपर सौंन्दर्यके साथ साथ निर्भयता और स्वतन्त्रता झलकती है। बाहरवाले दो खम्भोंपर ईसाकी दूसरी शताब्दीके अक्षरोंमें विस्तृत शिलालेख है। लेख कहीं-कहीं खंडित हो गया है। इस गुफ़ाको किसी शातवाहन नरेशने बनवाया था। बाहर दो सिंह-स्तंभ हैं। सबसे बाहर एक लम्बा मैदान है, जहाँ चार-पाँच हज़ार आदमी बैठ सकते हैं। इस गुफ़ाकी दाहिनी ओर एक और अपूर्ण चैत्यशाला है, जिससे थोड़ा हटकर नम्बर एकवाली गुफ़ा है, जिसे भिक्षुओंके रहनेकेलिए इस्तेमाल किया जाता था। यहाँसे फिर हम आगेकी ओर बढ़े। नीचे-ऊपर चढ़ते हुए हम गुफ़ाओंमें विचरने लगे। वैसे ये पहाड़ नंगे नहीं हैं, किन्तु यहाँ चश्मे नहीं दिखाई पड़ते। दर्शकोंको प्याससे बड़ी तकलीफ़ होती, लेकिन १८०० साल पहिलेके भिक्षुओंने पानीका बड़ा सुन्दर इंतिज़ाम किया है। प्रायः सभी गुफ़ाओंके नीचे चहबच्चे खुदे हैं, और ऐसी नालियाँ बनी हुई हैं, जिनसे बरसातका सारा पानी इन चहबच्चोंमें जमा हो जाता है। उस

समय यहाँ हज़ार बारह सौ आदमी रहते होंगे, और रोज़ नहाने पीनेका ख़र्च होगा, तो भी यहाँ पानीका टोटा नहीं रहता रहा होगा। पहिले पहल जब मैंने चहबच्चेके पास बैठकर पानीके काले रंगको देखा, तो समझा कि पीने लायक नहीं होगा; लेकिन जब लोटेमें निकाला, तो बड़ा साफ़ दिखाई पड़ा, साथ ही बहुत ठंडा भी। मईके महीनेकी गर्मीमें थके-माँदे प्यासे आए बटोहीकेलिए यह पानी वस्तुतः अमृत है। आज भी वहाँ सैकड़ों दर्शक आते-जाते हैं और इस अमृतको पीकर उन भिक्षुओंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। वैसे कार्ले, वेरूल (एल्लोरा), (अजन्ता) (अजिंठा) आदि गुफ़ाओंमें भी पानीका इन्तिज़ाम है, लेकिन इतना कदम कदम पर, और इतनी अच्छी तरहका इन्तिजाम कहीं नहीं है। गुफ़ाएँ पर्वतकी रीढ़ तक चली गई हैं। सभी जगह यही बात है। चौंतीस नम्बरकी गुफाके छतमें अब भी कुछ रंगीन चित्र हैं, जिससे मालूम होता है कि गुफाओंकी दीवारें और छतें सुन्दर चित्रोंसे चित्रित थी। यहाँ राजा शातवाहन गौतमीपुत्रके कालका एक लेख है। बुद्धकी कितनी ही कुर्सीपर बैठी, खड़ी या ध्यानावस्थित उत्कीर्ण मूर्तियाँ हैं। ७९वीं गुफामें बाहरका खुला आँगन पत्थरमें खुदा है। अगल-बगलमें बैठनेकेलिए पतले चबूतरे, दाहिनी ओर जलकुंड हैं, बाईं ओरकी कोठरी शायद रसोईकी है। दो खम्भे और तीन द्वारोंका बराण्डा है, फिर एक द्वार, जिसमें कभी किवाड़ लगा रहता था, फिर चौड़ी संघशाला है, जिसके दो ओर पतले चबूतरे हैं। बाँईं ओर किवाड़वाली दो कोठरियाँ हैं—किवाड़ अब नहीं हैं। दीवारोंमें अब भी कहीं कहीं पलास्तर दिखाई पड़ता है। बराण्डेमें दाहिने कुर्सीपर बुद्ध आसीन हैं, जिनके बाएँ भीतमें अवलोकितेश्वर और किसी देवीकी मूर्ति खुदी हुई है। ६७ वीं गुफ़ा उत्तराभिमुख है। यहाँसे घोड़बन्दरका समुद्र और पार्वत्य दृश्य बहुत सुन्दर मालूम पड़ते हैं। इसके बाहर भी पत्थर काटकर आँगन बना हुआ है, जिसकी दो तरफ़ पतले चबूतरे बने हुए हैं, और एक ओर जलाधानी। बारण्डा चार खम्भेवाला है, जिसके तीन तरफ़की दीवारोंमें मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो ज्यादातर बुद्धकी हैं, और बुद्ध भी अधिकतर कुर्सीपर बैठे हुए हैं। दाहिनी ओरकी दीवारमें अवलोकितेश्वर हैं, जिनके साथ दो स्त्री-मूर्तियाँ हैं; यह तीनों मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। दरवाजेसे भीतर घुसनेपर एक वर्गाकार हाल (शाला) है। इसकी चारों दीवारोंपर मूर्तियाँ ही मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्तियाँ सुन्दर हैं, और उनके देखनेसे हम कुछ अनुमान कर सकते हैं, कि यहाँकी गुफ़ाओंको कैसे चित्रोंसे अलंकृत किया गया था।

कनेरीमें बुद्धके बाद अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ ज़्यादा हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बौद्धकेन्द्र रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। शातबाहन राजाओंने नासिक और

दूसरी गुफाओंके भिक्षुओंको बहुत दान दिए थे, बड़ी चैत्यशाला उन्हींका दान मालूम होती है। लेकिन दूसरी-तीसरी सदी के बाद भी शिलाहार राजवंश बौद्धसंघका भारी पोषक रहा। सबसे पीछेके प्लास्तरोंसे मालूम होता है, कि १० वीं ११ वीं सदीमें भी यहाँ भिक्षु रहा करते थे। दूसरी सदीमें अवलोकितेश्वर जैसे महायानी बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ बनने लगी थीं, इसे पक्का नहीं कहा जा सकता, लेकिन अवलोकितेश्वरकी मूर्तियाँ हैं यहाँ ज्यादा। क्या यही तो वह प्रसिद्ध पोतलकपर्वत नहीं है, जो कैलाशके शिवकी तरह अवलोकितेश्वरका निवासस्थान माना जाता था। ल्हासामें दलाई-लामाका प्रसिद्ध पोतला प्रासाद इसी प्रसिद्ध पोतलक पर्वतके नामपर बनाया गया।

१० बजेसे साढ़े ५ बजे तक हम गुफाओंको घूम-घूमकर देखते रहे। बीचमें सिर्फ थोड़ा भोजन और विश्रामके लिए बैठे। चलते चलते बहुत थक गए थे। मुझसे भी ज्यादा भाभी प्रभा थक गई थीं। साढ़े ८ बजे हम बोरीविली स्टेशन पर चले आए और गाड़ीसे अंधेरी पहुँच गए।

बंबईमें खटमलोंसे नाकमें दम था, और अंधेरीमें मच्छरोंकी भरमार थी। लेकिन मच्छरोंको मसहरीसे रोका जा सकता है, खटमलों और पिस्सुओंकी वैसी कोई दवा नहीं।

६ मईको मालूम हुआ, कि बीमारीके कारण गांधीजी छूट गए। सभी जगह लोग खुशी मना रहे थे। अभी तक तो मच्छरोंहीकी तकलीफ थी, अब गर्मीने जोर पकड़ा था। बंबईमें लू नहीं चलती, लेकिन रात-दिन कोई समय नहीं था, जब शरीर पसीनेसे चिप-चिप न करता रहा हो, सारे शरीरमें बारीक फुन्सियाँ निकल आईं, मालूम होता था, सभ्यताने कपड़े पहना कर हम लोगोंका हित नहीं किया।

१७ तारीखको मैं टामस कूकसे चेक लेने गया था। देखा "कादंबरी" फिल्म दिखलाया जा रहा था। "वसंतसेना" और "शकुंतला" को देख चुका था। शूद्रक और कालिदास पर कैसे छुरी चलाई गई थी, यह अनुभव कर चुका था। सोचा, चलें "कादंबरी" को भी देख लें। देखनेके बाद मैंने डायरीमें लिखाथा—"शकुंतला, कादंबरी और वसंतसेना तीनोंका फिल्म वालोंने कतल किया है, और बड़ी निर्दयताके साथ, जिसमें कादंबरीकी और बुरी गत बनाई है।. . .'वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनंदं अर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे। रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं वाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ॥' सर्वेश्वर वाणके साथ, जिसने कादंबरीके बहुतसे स्थलोंमें मानो छायापटके ही लिए संकेत कर दिया है, यह बर्ताव! फिर उससे स्वतंत्रता लेते देव, मानव,

घोड़ा, बन्दर, पंछीकी योनिमें गए वाणसे प्रार्थना करना !! गोया वाण आज भारत के ४० करोड़ोंमें नहीं है। महाश्वेता (वनमाला) का पार्ट सुन्दर है, मगर आततायियोंने उसे दासी जैसा बना डाला है। कादंबरीके भीतर स्वप्नमें प्रेम पैदा किया। आच्छोद-सरोवरका पता नहीं। पुंडरीककी दशाका वर्णन नहीं, कपिंजलका सौहार्द नहीं। मदगर्भित तर्जना। गंधर्वकुल गोया वेश्याकुल है, इसीलिए तो कामदेव कुलदेव हैं। हन्त! .कादंबरीको कुछ भी नहीं समझा। कार्यव्यस्त डाइरेक्टर जो ठहरे !! लोकोत्तर बातें नहीं छोड़ी गईं (वाणकी अदभुत कलासृष्टि पर जरूर स्याही पोती गई)। आच्छोद सरोवर या चन्द्रापीड़के जन्मसे शुरू कर सकते थे। कादंबरीके दूतके साथ महाश्वेता चंद्रापीड़को लेजाती। आश्चर्य तो यह कि चन्द्रापीड़ (बननेवाला पात्र) घोड़ेपर चढ़ना नहीं जानता। (वाणके इंद्रायुधकी जगह एक) मरियल घोड़ा था। (इन्हें) दैव-राजाका डर नहीं। पैसाधर्म, टकापंथ बुरा हो तेरा ! भीड़ यदि सफलता की कसौटी है, तो वेश्या नृत्य कराओ, कोकशास्त्रके चित्र दिखाओ !! राम-कृष्णके चरित जैसी स्वतंत्रता अश्वघोष-कालिदास-भास-भवभूति-वाणसे नहीं ली जा सकती। दुनियाँमें लूटने खानेके और बहुतेरे स्थान हैं। सहृदयोंको चुप नहीं रहना चाहिए, इस अनधिकार चेष्टा और बलात्कार को देखते। आज फिल्म हमारे हाथमें नहीं थैलीशाहोंके हाथमें हैं, तो यह नहीं समझना चाहिए कि कल भी ऐसा ही रहेगा। इन टकापंथियोंको नंगा कर देना चाहिए। वह मृत-शवों पर नहीं, चालीस करोड़ जीवितों पर प्रहार कर रहे हैं।"

५ मईको ही मैंने "पृथ्वीसिंह" को लिख डाला था, तो भी मैं कुछ दिनों तक वहाँ और इस इन्तज़ारमें बैठा रहा, कि बीसा आजायेगा। लेकिन उसका कहीं ठौर ठिकाना नहीं था, इसलिए मैंने "हिन्दी काव्यधारा" में हाथ लगाना चाहा। मुनि जिन-विजय जीके परिश्रमसे भारतीय विद्याभवनमें पुरानी हिन्दी—अपभ्रंश—का काफ़ी साहित्य एकत्रित होगया है, इसलिए १८ मईको मैं वहीं चला गया। "हिन्दी काव्यधारा" के सिद्ध-सामन्त युगकेलिए सामग्री जमा करनी शुरू की। २५ मईको सी० आई० डी०का टेलीफ़ोन आया, जिसमें यह भी कहा गया था कि डेढ़ रुपएके स्टाम्पवाला दस्तावेज़ी काग़ज़ लेकर आएँ। हम लोग ख़ूब मत्था-पच्ची करते रहे, लेकिन समझमें नहीं आया। जब कि सी० आई० डी० के इशारामात्रसे अनिश्चित कालतक केलिए जेलमें बन्द कर दिया जा सकता है, तो डेढ़ रुपएके दस्तावेज़ी काग़ज़की क्या ज़रूरत ? हाँ, एक बातका और ख्याल आया कि शायद सी० आई० डी०का यह "अपना काम नहीं" है। यदि अपना काम होता, तो कोई खुद यहाँ हाज़िरी देने

आता। खैर, मैंने डेढ़ रुपएका काग़ज तो नहीं लिया, लेकिन साथी महेन्द्र जीको ले लिया कि ज़रूरत पड़नेपर काग़ज़ भी आ सकेगा। सी० आई० डी० अफ़सर चाहे हिन्दुस्तानी हो, चाहे अंग्रेज, बड़े भद्र पुरुष होते हैं—क्योंकि उन्हें मीठी फ़ाँसी देनी होती है। वहाँ जानेपर मालूम हुआ, कि मैं जो बीबी-बच्चेको बुला रहा हूँ, उनके खर्च-बर्च—यहाँ रहने और बाहर भेजनेकी ज़िम्मेवारी मुझे लेनी होगी, इसीलिए डेड़ रुपएके काग़ज़पर दस्तावेज़ लिखना होगा। मैंने दस्तख़त कर दिया, और छुट्टी मिली।

पुराने कवियोंकी कृतियोंको देखते-देखते मैं ८ वीं सदीके महान् कवि स्वयंभूके रामायण (प उ म-च रि उ) को पढ़ने लगा। मुझे पढ़ते-पढ़ते बहुत आश्चर्य और क्षोभ होने लगा। आश्चर्य इसलिए कि इतने बड़े महान कविको मैं जानता नहीं था—पिछले तेरह सौ वर्षोंके हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें स्वयंभूके जोड़का कोई कवि नहीं हुआ —सूरदास और तुलसीदासको लेते हुए भी। मैं तो समझता हूँ, भारतीय वाङ्-मयके १२ कवि-सूर्योंमें स्वयम्भू एक है। धीरे-धीरे मुझे ७६० से १३०० ई० तक के ४५ से ऊपर कवि मिले। लेकिन उनकी भाषा इतनी पुरानी है कि यदि सहायता न दी जाय, तो पाठकोंको समझना मुश्किल हो जायेगा। ८४ सिद्धोंके दोहोंके सम्पादन-केलिए मैंने पहिले ही एक बार सोचा था, जिस तरह प्राकृतमें संस्कृत-छाया देनेका रवाज है, उसी तरह अपभ्रंश-कविताओंकी हिन्दी-छाया दी जाय तो अच्छा है—अनुवाद नहीं केवल छाया, सिर्फ तद्भव शब्दोंकी जगह तत्सम शब्द रख कर। छाया बनाते वक़्त मुझे यह भी पता लगा, कि यह अपभ्रंश जिस भाषासे सबसे अधिक नज़दीक है, वह है कौसली (अवधी)—सौरसेनीकी रूढ़-धारणा मुझे ग़लत मालूम हुई।

जूनके मध्यमें पहुँचते-पहुँचते पेटकी शिकायत होने लगी, और हल्का-हल्का दर्द बढ़ते बढ़ते तेज़ होने लगा। बम्बईसे मुझे हमेशा शिकायत रही। पहिले तो वह ज्वर और सिर-दर्द भेजा करती थी, अबकी उसने पेटमें छुरी भोंकी। एकाध डाक्टरोंकी दवा की, उससे कोई फ़ायदा नहीं हुआ। जान पड़ा, उत्तरसे जाने वाले सभी बुद्धि-जीवियोंको यह बीमारी सताती है। कभी कभी रोगी ज्यादा सिद्धहस्त वैद्य साबित होता है। एक मित्रने एक विलायती नमक (एंड्रुलीवर साल्ट) बतलाया। यह बीमारीको खतम नहीं करता था, लेकिन दर्द हो रहा हो, तो पानीमें इसे डालकर पी लेनेपर कितनों ही घंटेकेलिए दर्द जाता रहता है। मुंबादेवीने हमला तो कर दिया था, लेकिन मुझे भी दवा मिल गई। मैं बंबईमें नहीं रहना चाहता था, लेकिन

"काव्यधारा" के कामको खतम करना ज़रूरी था, आगे दो हफ़्ता बंबईमें मैं इसी नमकके बलपर रहा। (तब मालूम नहीं था, कि यह मधुमेहकी घंटी है।)

यद्यपि हम अपने राष्ट्रीय प्रगतिमें जहाँके तहाँ थे, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें फ़ासिस्तों और फ़ासिस्तमनोवृत्ति वालोंको हारपर हार देखनी पड़ रही थी। साम्राज्य-वादियोंने यूरोपमें जर्मनोंके खिलाफ़ दूसरा मोर्चा न खुलनेकेलिए तरह तरहकी कोशिशें कीं, लेकिन जब देखा लालसेना जर्मन सीमापर पहुँच गई, तो डर मालूम होने लगा, कि यदि हमारे बीचमें कूदे बिना लालसेनाने हिटलरको पछाड़ दिया, तो हम कहींके न रहेंगे, इसलिए ६ जूनको अंग्रेज और अमेरिकन सेनाओंने फ़ांसके तटपर उतरकर हिटलरके खिलाफ़ दूसरा मोर्चा खोल दिया। अब पीछे हटनेका सवाल नहीं था। एक जगह मुँह छिपाकर बैठनेकी भी बात नहीं थी। ३ दिन बाद ख़बर मिली कि बोदो-गलियों और इतालीके बादशाह भी विदा हुए। इन गीदड़ोंने खाल रंगकर फिर अपना जूआ इतालियन जनताके ऊपर लादना चाहा था। चर्चिल भी इनके समर्थक थे, क्योंकि पूँजीपतियोंको डर था—यदि वैसा नहीं करेंगे तो इतालीसे भी पूँजीवादको हाथ धोना पड़ेगा। युगोस्लावियामें विलायती थैलीशाहोंकी नीति असफल रही, अब इतालीमें भी वह असफल हुई।

११ जूनको एक ऐसी बात सुनी, जिसे सुनकर मुझे आश्चर्य भी हुआ, और साथ ही इस ख्यालको बदलना पड़ा, कि दुनियाँमें भूले-भटके भी कोई ब्रह्मचारी मिल सकते हैं। मैं समझता था, कि शरीरसे असमर्थ न रहते भी शायद कोई आदमी यौन-संयोग-में रुचि न रखता हो, आखिर खानेकी भी कितनी ऐसी चीज़ें हैं, जिनको कोई-कोई आदमी पसन्द नहीं करता। लेकिन अब इस अपवादको छोड़ देनेकी ज़रूरत पड़ी। मैंने उस दिन अपनी डायरीमें लिखा था—"मेरेलिए यह बातें आश्चर्यकर नहीं हैं। (तो भी मैं कहूँगा कि) सहजयानी सिद्ध अधिक ईमानदार थे, यद्यपि दिव्यमंत्रका बहाना उनकी निर्बलता थी।" चौरासी सिद्ध स्त्री-पुरुषोंमें स्वच्छन्द सम्बन्धको चाहते थे, लेकिन वह ब्रह्मचर्यकी ढोल नहीं बजाते थे। यह हद दर्जेकी बेशर्मी है कि आदमी बात-बातमें ब्रह्मचर्यकी क़सम खाए, उसपर पोथेपर पोथे लिखे और फिर भी चिराग तले अँधेरा रहे। हाँ, मैं यह मानता हूँ, कि धार्मिक जगतमें ऐसा हर जगह देखा जाता है।

११

प्रयागमें (१९४४ ई०)

काव्यधाराका काम समाप्त हो गया। दवाईके बल पर मैंने और बम्बईमें रहना नहीं चाहा, इसलिए ११ जूलाईको वहाँसे कलकत्तामेल पकड़ा। यद्यपि यह गाड़ी इसी स्टेशनसे चलती है, लेकिन आज-कल पहिले हीसे गाड़ी भर जाती है। मेरे दोस्त स्टेशनपर पहुँचाने आए। वह प्लेटफ़ार्मपर आती गाड़ीपर बैठ भी गए, लेकिन इसी बीचमें इतने आदमी भर गए कि अपनी जगह पहुँचना मेरेलिए मुश्किल हो गया। किसी तरह वहाँ पहुँचा, तो देखा वक्सका पता नहीं है। इसी वक्समें "काव्यधाराका" हस्तलेख था, इसलिए चिन्ता होनी ज़रूरी थी। बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करनेपर दूसरी पाँतीमें किसीके पैरके नीचे मिला। अब २६ घंटोंकेलिए मुझे अपनी जगह अचल रहना पड़ा। जगह इतनी कसी हुई थी कि उठते ही लोगोंके शरीर ढीला करने हीसे वह भर जाती, फिर झगड़ा कौन मोल लेता। मैंने २२, २३ घंटे खानेकी तो बात ही क्या चाय भी न पी। जब गाड़ी मानिकपुरके पास पहुँचने लगी, तो चाय पी और कुछ आम खाए। १२ जुलाईको साढ़े १० बजे रातको प्रयाग पहुँचा।

"जय यौधेय"—भारतमें कभी जनसत्ता थी, राजाके बिना भी शासन होता था, यह बात इतनी विस्मृत हो गई थी, कि इस शताब्दीके आरम्भमें जब कुछ योरोपीय और भारतीय विद्वानोंने लिच्छवि (वैशाली), मल्ल आदि गणराज्यों (प्रजातन्त्रों) का ज़िक्र किया तो हमारे कितने ही शिक्षित आँख मल मलकर देखने लगे। उनका दिल विश्वास नहीं करता था, कि बिना राजाके भी कभी हमारे यहाँ राज चलता था। लेकिन धीरे-धीरे उनको कुछ गर्व ज़रूर होने लगा, क्योंकि उन्होंने देखा, कि जिस बातपर यूरोपवाले गर्व करते हैं, वह जनस्वातन्त्र्य यहाँ भी किसी समय मौजूद था। गणराज्यका नाम सिक्कों, पुराने शिलालेखों, पाली पुस्तकों तथा दो-चार और ग्रन्थोंमें भले ही आये, मगर जीवित जनतामें उसका कोई पता नहीं था, और ब्राह्मणोंका विशाल संस्कृत-साहित्य उसके बारेमें भयंकर चुप्पी साधे था। सिंहल जानेसे पहिले मैंने रीज़डेविड्सकी पुस्तकमें वैशालीगणके बारेमें पढ़ा था। एकाध जगह और उसका ज़िक्र सुना था। साथ ही जैसा कि मैंने पहिले लिखा, रूसी लाल क्रान्तिके दो-एक महीने बाद हीसे मेरे लिए सोवियत-व्यवस्था एक सर्वप्रिय आदर्श बन

गई थी—हाँ, इस व्यवस्थाके बारेमें मैं उस वक़्त इतना ही जानता था, "उसमें धनीकेलिए स्थान नहीं। आदमी-आदमी सब बराबर हैं, काम करना सबका कर्त्तव्य है, और खाना-कपड़ा पाना सबका अधिकार।" इसके बाद मैं छ साल तक कांग्रेसकी क्रियात्मक राजनीतिमें भाग लेता रहा, जेलसे बाहर रहनेपर गाँवोंमें घूमता रहा; अब मेरे विचार और दृढ़ हो गये, कि हमें इस व्यवस्थाको हटाकर एक बिल्कुल नई तरहकी व्यवस्था क़ायम करनी होगी। लंकामें जब त्रिपिटककी पोथियोंपर पोथियाँ उलटने लगा, तो बुद्धकालीन गणराज्य मेरे सामने साकार होकर खड़े होने लगे। मैंने चाहा, ये गण दूसरे भारतीयोंके सामने भी साकार होकर प्रकट हों, इसीलिए इतिहासके एक बड़े प्रभुताशाली लिच्छिवि (वैशाली) गणको लेकर मैंने दो साल पहिले "सिंह सेनापति" उपन्यास लिखा। लेकिन उससे पहिले जब मैं "वोल्गासे गंगा"की 'सुपर्ण यौधेय' कहानी लिखने लगा था, उस वक़्त भी ख्याल आया कि भारतके इस अन्तिम वैभवशाली गणराज्यको लेकर एक उपन्यास लिखा जाय। यह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका समय था, जिससे कि मैंने उपन्यासकेलिए चुना। उस कालकी साहित्यिक और पुरातात्त्विक सामग्रीका अध्ययन करते वक़्त मुझे सुपर्ण यौधेयके वक़्तकी अपनी धारणाएँ कुछ ग़लत मालूम हुईं, मैंने समुद्रगुप्तको यौधेयगणका उच्छेत्ता माना था, लेकिन अब मैं समझता हूँ, कि वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने यह महान (!) कार्य किया।

कुछ समय तो सामग्रीके संग्रह करनेमें भी लगा। फिर अब किसी लेखक-के ढूँढ़नेकी फ़िक्र पड़ी। यद्यपि जेलमें मैंने ६ ग्रन्थ और ८ छोटे-छोटे नाटक खुद ही लिखे थे, किन्तु वहाँ मजबूरी थी, दूसरे यह भी कि खुद लिखनेसे बोलकर लिखानेमें ज़्यादा जल्दी होती है। जहाँ खुद एक दिनमें एक फ़ार्म लिखना कठिन है, वहाँ बोल-बोलकर लिखानेसे डेढ़-डेढ़ फ़ार्म लिखा जा सकता है, और शीघ्र-लेखक हो तो मैं समझता हूँ, "जय यौधेय"केलिए २१ दिन (२६ जुलाई—१६ अगस्त) की ज़रूरत नहीं पड़ती, वह चार-पाँच दिनमें ख़तम हो जाता। ख़ैर, श्री सत्यनारायण दूबे सेठवी भूलते-भटकते प्रयाग पहुँच गये, और उन्होंने लेखनी सँभाली। मैंने पहिले "जय यौधेय" लिखवाया। लिखवाते वक़्त बराबर यह ख़्याल था, कि जिसी वक़्त बीसाकी ख़बर आयेगी, उसी वक़्त चलनेकी तैयारी कर दूँगा।

१६को "जय यौधेय" समाप्त हुआ। फिर मैंने दूसरी पुस्तक हाथमें ली।

"भागो नहीं दुनियाको बदलो"—अगले दिन (१७ अगस्त) से मैंने "भागो नहीं बदलो"में हाथ लगा दिया। मैंने मार्क्सवाद और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं-

पर कितने ही ग्रन्थ लिखे, लेकिन वह ज़्यादातर शिक्षित लोगोंके कामकी ही चीज़ हैं। मल्लिका (भोजपुरी) भाषाके ८ नाटकोंमें भी सरल भाषामें कुछ आवश्यक बातोंका प्रतिपादन किया, लेकिन उससे एक परिमित क्षेत्रके पाठक ही फ़ायदा उठा सकते हैं। हमें इस समाजको बदलकर एक ऐसे समाजकी स्थापना करनी है, जिसका आधार न्याय और मानव-भ्रातृभाव हो। यह काम शिक्षित संस्कृत समुदाय नहीं कर सकता, इस कामको वही कर सकते हैं, जो रात-दिन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अत्याचारके शिकार हैं, वे हैं मज़दूर और किसान, यदि अनुभव करें तो कुछ हद तक शिक्षितोंका निम्न वर्ग भी। लेकिन मज़दूरों-किसानोंके समझनेके-लिए जो पुस्तक लिखी जाये, उसकी भाषा किताबी भाषा नहीं होनी चाहिए; इसीलिए मैंने अपनी इस पुस्तकमें भाषाका ढाँचा तो हिन्दी का रखा—क्रिया और विभक्तियाँ उसीकी रखीं, लेकिन शब्दोंके उपयोगमें मैंने यह ध्यान रखा, कि वह वही हों, जिन्हें कि अशिक्षित ग्रामीण नर-नारी बोलते हैं। मैंने उच्चारणमें भी उन्हींके उच्चारणको प्रमाण माना। पहिले यह काम कुछ कठिन मालूम हुआ, लेकिन आगे अभ्यास बढ़नेपर उसमें आसानी मालूम होने लगी। इस पुस्तकके लिखते वक़्त मैंने देखा, कि ग्रामीण जनता ऐसे चार-पाँच सौ शब्दोंको बोलती है, जो अरबी-फ़ारसीके हैं। हाँ, उसने हरेक शब्दको अपना उच्चारण दिया है। इन चार-पाँच सौ शब्दोंकेलिए जो संस्कृत प्रतिशब्द हिन्दीमें धड़ल्लेसे चलते हैं, उनको ग्रामीण लोग नहीं समझते। मैं हिन्दी-उर्दूकी जगह एक तीसरी कृत्रिम भाषा हिन्दुस्तानीका पक्षपाती नहीं हूँ। मैंने किसी भाषाके प्रचारकेलिए नहीं, बल्कि भावोंके प्रचारकेलिए इस पुस्तकको लिखा। १२ दिन (१७-२८ अगस्त)में यह पुस्तक भी ख़तम हो गई।

"मेरी जीवन-यात्रा"—इसे १९४०में लिखना शुरू किया था, लेकिन डायरियोंके न होनेसे आगे दिक़्क़त पड़ने लगी, और उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। इस वक़्त फिर समय मिला। २९ अगस्त क्या आज (२७ सितम्बर) भी ईरानी बीसेका कहीं पता नहीं है, इसलिए सत्यनारायणजीने फिर क़लम पकड़ी, और मैंने बोलना शुरू किया। जीवन-यात्राका आज तक (२८ सितम्बर १९४४)का भाग भी अब आपके सामने है।

बीसाका झगड़ा—दो-दो तार और एकसे अधिक चिट्ठियाँ ईरान सरकारके पास भेजी गईं। ९ मईको मैंने दरख़्वास्त दी थी और २९ सितम्बरको बीसा आया।

लोलाकी ११ मार्च (१९४४)की चिट्ठी आई, जिसमें उसने लिखा था—"....१५ जनवरी (१९४२)से ईगर हमारे घरके पासकी सार्वजनिक शिशुशाला-

में जाता है, यह शिशुशाला बहुत अच्छी है, मैं कितनी ही बार अफ़सोस करती हूँ कि तुम्हारे कहनेके मुताबिक़ मैंने पहिले ही क्यों नहीं उसे भेजा। यह ईगर और मेरे दोनोंकेलिए अच्छा है। १९४२में इसी (शिशुशाला) की मददसे ईगर बच सका, नहीं तो वह ज़िन्दा न रहता। इस वक़्त मेरे वासस्थान पर तापमान १०° सेन्टीग्रेड है।....मौजिज़ा है, जो मैं ज़िन्दा रही, मैं इस जीवित रहनेकेलिए ज़बर्दस्त आकांक्षाको कारण मानती हूँ।....१९४२के वसन्तसे लेनिनग्रादका जीवन अधिक बेहतर होता जा रहा है। पहिले मैं विश्वविद्यालयके पुस्तकालयके पूर्वी विभागकी डाइरेक्टर थी, फिर सारे विश्वविद्यालयके पुस्तकालयकी डाइरेक्टर बनाई गई। मुझे यूनिवर्सिटीमें एक अलग घर मिला। वर्त्तमान घरमें आना सम्भव नहीं था। उस समय ईगर वासिलियेव्स्की ओस्त्रोवकी सार्वजनिक शिशुशालामें जाता था।....ईगर खाँसीसे बीमार था।....पहिली अप्रैलसे मैं सार्वजनिक पुस्तकालयमें काम करती हूँ, और अपने पुराने घरमें रहती हूँ। ईगर भी पहिली शिशुशालामें जाता है। ईगर लम्बा छरहरा बच्चा है, लेकिन स्वस्थ है। इस जाड़ेमें वह बीमार पड़ गया था। मसूड़े, इनफ़्लुएन्ज़ा और फेफड़ेकी सूजन थी, मगर तो भी कमज़ोर नहीं मालूम होता। वह बहुत ही सुन्दर है। साथ ही चतुर, गम्भीर और मनोरंजक बच्चा है। वह कितना आकर्षक है, काश, कभी तुम इसकी कल्पना करते! वह अपने पितासे बहुत प्रेम करता है और बड़ी उत्सुकतासे तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा करता है। वह रोज़-रोज़ पूछता है—'कितने दिनोंमें पिता आयेंगे?' जब वह अपनी माँको नाराज़ देखता है, तो कहता है—'मैं तुम्हें छोड़कर भारत चला जाऊँगा, और पितासे कहूँगा, कि तुम मेरे साथ कैसा बर्त्ताव करती हो।' तुम यह भी ख्याल करो कि वह अपने सारे खिलौनोंको भारत ले जायगा। उसने भारत चलनेकेलिए शिशुशालाकी डाइरेक्टर और नर्सको भी निमन्त्रण दे रखा है।.... दिनभर काम करके....मैं बहुत थकी घर लौटती हूँ। शामको मैं ईगरको शिशुशालासे लाती हूँ, कपड़ा निकालकर उसे नहलाती हूँ, फिर सुला देती हूँ। अतवारको ईगर अपना समय घरमें बिताता है। इसे वह कहता है—'मैं अपना समय माँके साथ बिताना और विश्राम करना चाहता हूँ।' लेकिन बहुत ही अफ़सोस होता है, कि अतवारको भी मैं बहुत थोड़ा समय दे सकती हूँ। मैं अपने घरके काममें व्यस्त रहती हूँ। काम है, धोना, सफ़ाई करना आदि। नवम्बरसे मेरी भतीजी (बहनकी बेटी) लोला मेरे साथ रहती है, लेकिन हम एक दूसरेसे ज्यादा नहीं मिलतीं, क्योंकि मैं बहुत काममें व्यस्त रहती हूँ, वह सारे दिन काम करती है। भाइयोंमेंसे

सिर्फ़ सबसे छोटेके बारेमें ही मुझे पता मिला है। उसका नाम ईगर है, और वह अपनी पत्नीके साथ व्लादीवोस्तोकमें रहता है।

"मैं तुम्हारे पत्रकी बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रही हूँ। पहिली सितम्बर १९४३ वाला तुम्हारा पत्र व-ो-क-स् द्वारा मिला। तुमने मुझे ताशकन्द जानेकेलिए लिखा, जिसमें वहाँ हम मिल सकें, लेकिन मैं समझती हूँ यही अच्छा होगा कि तुम लेनिनग्राद आओ। लेनिनग्रादका घिरावा ख़तम हो गया, और प्राच्य-प्रतिष्ठान तथा विश्वविद्यालय यहाँ लौट रहे हैं। यदि सम्भव हो तो मुझे तार दो।.... चिट्ठियोंके आनेमें आजकल बहुत देर होती है, और कभी कभी वह गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँचती।....तुम मुझे बधाई दे सकते हो, क्योंकि लेनिनग्रादकी रक्षामें भाग लेनेकेलिए मुझे तमग़ा मिला है। मुझे तुम्हारा दूसरा तार आज (१२ मार्च) मिला। मैंने बीसाकेलिए प्रार्थनापत्र भेज दिया। बहुतसे चुम्बनोंके साथ तुम्हारी

-लोला"

उसके बाद १० सितम्बरको उसने तार भेजा"लेनिनग्राद विश्वविद्यालयके रेक्टर वोज़्नेसेन्स्कीको विश्वविद्यालयमें काम करनेकेलिए आनेकी इच्छा, और सोवियत बीसा भेजनेकेलिए तार दो"(Wire Leningrad University Rector Voznesensky desire come work University and necessity sending Soviet visa.)। मैंने तार भी भेज दिया।

विलायती थैलीशाह हिन्दुस्तानको अब भी अपनी कामधेनु बनाकर रखना चाहते हैं और उसके बन्धनोंको ढीला नहीं करना चाहते। दुनियाकी जनता इसे शान्ति नहीं, युद्ध और अशान्तिका रास्ता समझती है, और इसकेलिए सब जगहसे ज़ोर पड़ रहा है। लेकिन चर्चिल एमरी यही कह रहे हैं, कि हिन्दुस्तानी एक दूसरेके दुश्मन हैं, हमारे हटते ही वह आपसमें कट मरेंगे। ९ सितम्बरसे गान्धी और जिनामें बात चीत हो रही है। यदि वह काँग्रेस और मुसलिम लीगमें समझौता करा सके, तो हमारी आजादीकेलिये एक जबर्दस्त शक्ति पैदा करेंगे, और फिर राष्ट्रीय शक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय शुभेक्षाके सामने मुट्ठी भर विलायती थैलीशाहों, और उनके पिट्ठुओंकी कुछ न चलेगी। यदि समझौता नहीं करा सके, तो इसका मतलब होगा, चर्चिल-एमरी (विलायती थैलीशाहों) के हाथमें खेलना। देशकी स्वतंत्रताकी लड़ाई रुक नहीं सकती, वह तो हर हालतमें जारी रहेगी। यदि पुरानी शक्तियाँ बूढ़ी और निर्बल हो जाँयगी, तो नई शक्तियाँ मैदानमें आएँगी। निराशाजनक खबरोंके आने पर भी मैं नहीं समझता, कि देशके ये दोनों नेता

कोई रास्ता निकालनेकी कोशिश नहीं करेंगे।

युद्ध अब जर्मनीकी सीमा पर और कहीं कहीं उसके भीतर हो रहा है। हिटलर का पतन निश्चित है। बुल्गारिया, रूमानिया और फिनलैन्ड अब जर्मन-सेनाओंसे लड़ रहे हैं, लाल-सेना यूनान, चेकोस्लोवाकिया और हंगरीमें पहुँच गई हैं। बल्कानसे अब अंग्रेज थैलीशाह निराश हो गए। वह समझने लगे हैं, कि भविष्यका बल्कान सोवियतका जबर्दस्त पक्षपाती होगा। इटलीसे भी उन्हें ज्यादा आशा नहीं है। फ्रांसमें भी उनकी मुट्ठी ढीली पड़ती जा रही है। शायद अब वह पश्चिमी यूरोपके चार-पाँच छोटे-छोटे राज्यों और भविष्यके गर्भमें छिपी जर्मनी पर आशा लगाए हुए हैं।

(जीवनयात्राके यहाँतकके भागको सितंबर १९४४ के अंततक लिख के मैं भारतसे बाहर गया था और आशा थी, कि सारी जीवनयात्रा साल भरके भीतर पाठकोंके सामने आ जायेगी, किंतु वह नहीं हो पाया।)

सोवियत-भूमिके लिए प्रस्थान

प्रयागसे चलकर अक्तूबरके तीसरे सप्ताहमें मैं बंबई पहुंचनेवाला था। ईरानके रास्ते ही मुझे रूस जानेका बीसा मिला था। बंबईमें कुछ चीजें भी खरीदनी थीं, इसलिए वहाँ होते ही जानेका निश्चय करना पड़ा। मुझे ईरानमें पचीस और सोवियतभूमिमें केवल सौ पौंड खर्च करनेके लिए मिले थे। मैं जानता था, ईरानके लिए २५ पौंड नितांत अपर्याप्त होंगे, यदि तुरंत सोवियतका बीसा मिल भी गया, तो भी (और पिछली शांतकालीन दो यात्राओंका तजर्बा बतला रहा था, कि वैसा नहीं होनेवाला है)। मैंने चार-पाँच तोला सोना अंगूठी तथा घड़ी-जंजीरके रूपमें बंबईसे ले लिया। सामान जितना हल्का रखा जा सकता था, उतना ही था, किंतु कम करनेपर भी पुस्तकें ही मन भर हो गईं।

बंबईमें अक्तूबर (१९४४) के तृतीय सप्ताहके अंतमें सारी तैयारी हो गई थी, इसी समय दस्त आरंभ हो गए। मुझे तो डर लगा, कहीं बीस सालकी भूली पेचिश फिर तो नहीं उखड़ आई। डाक्टरोंकी तत्परता, साथियोंकी सहायतासे वह दो दिनोंमें ही दब गई, और मैं निर्बल रहते हुए भी चलनेके लिए तैयार हो गया।

लड़ाईका समय था, रेलमें स्थान पाना आसान नहीं था, किंतु मेरे लिए २७ अक्तूबरकी अहमदाबादवाली गाड़ीमें दूसरे दर्जेकी एक सीट सुरक्षित कर ली गई थी। बंबई (सेंट्रल) से गाड़ी आठ बजे रातको रवाना हुई। बहुतसे साथी स्टेशनपर

विदा करने आए थे। उनके लाल सलाम और तुमुल नारेको यात्री चकित दृष्टिसे देख रहे थे।

२८ को सवेरे ही ट्रेन अहमदाबाद पहुँची। वहाँ भी सैकड़ों साथी स्वागत-विदाईके लिए मौजूद थे। मेरा शरीर निर्बल था, पथ्यका कठोर पालन कर रहा था। अहमदाबादमें छोटी लाईनकी गाड़ी पकड़नी पड़ी, जो सीधे हैदराबाद (सिंध) जानेवाली थी। बीच-बीचमें ठहरनेके कई स्टेशनोंपर नामसे परिचित साथी मिलने आए। आबूरोडमें आये एक साथीसे पूछा—गुजरातकी सीमा कहाँ आरंभ होती है? उन्होंने आबूरोडसे कुछ पीछेके किसी स्टेशनका नाम लिया। उस वक्त किसे पता था, कि सर्दार पटेल उस सीमाको ढकेल कर और आगे बढ़ा देंगे और आबूके ठंडे पहाड़ी स्थानको गुजरातका ग्रीष्मावास बना छोड़ेंगे। किंतु, सर्दारका यह अन्याय-पूर्ण कार्य कबतक चलता रहेगा? अंतमें तो वही सीमा मानी जायगी, जो वास्तविक है—जिसे भाषा-भाषी बहुमत सिद्ध करता है।

मारवाड़-जंक्शनके पास बिजलीसे जगमगाती एक आधुनिक बड़ी मिल देखी। मालूम हुआ, आयकरसे भागती पूँजीकी यह करामात है। सामंती राजस्थानमें पूँजीपति अधिक करसे उन्मुक्त तथा शोषणके लिए स्वतंत्र हैं। मैंने "यत्र वैश्यश्च क्षत्रंच सम्यंचौ चरतः सह" लिखा—सामंतोंकी छत्रच्छायामें वैश्यवर्ग यहाँ अपनेको आधुनिक शक्तियोंसे सुरक्षित मानता है, यद्यपि कुछ ही समय पहले सामंतोंके इस गढ़में पदपदपर उसे अपमानित होनेका भय बना रहता था।

रातभर रेल मारवाड़के रेगिस्तानमें चलती रही। दिनमें चलनेपर अवश्य अधिक कष्ट होता। सबेरे हम सिंधमें थे। यहां झाड़ियाँ भी दीख पड़ती थीं, और रेतके टीले भी। नहर भी दिखाई पड़ी, किंतु आबादी कम होनेके कारण नहरोंका पूरा लाभ उठाया जाता नहीं दिखाई पड़ा। हाँ, सिंधुनदके हम जितना समीप पहुँचते जाते थे, उतनी ही नई बस्तियाँ, मिश्री कपासके खेत अधिक होते जा रहे थे।

दोपहरको एक बजे बाद हमारी ट्रेन हैदराबाद पहुँची। यहाँ बड़ी लाइनकी गाड़ी पकड़नी थी। द्वितीय श्रेणीके डिब्बेका कहीं पता नहीं था, किसी तरह चलती गाड़ीमें ड्योढ़े दर्जेमें घुस पाए। विशाल नहर, सीमेंटके पहाड़ोंमें डालमियाँकी मिलको आँखोंके सामनेसे गुजरते देखा। छ बजे शामको रोहड़ी स्टेशन आया। क्वेटाकी गाड़ी तीन घंटे बाद जानेवाली थी, किंतु विश्वास नहीं होता था, कि सेकंड क्लासमें स्थान सुरक्षित करनेके तारसे कोई लाभ होगा।

क्वेटासे आगे रोज-रोज ईरानकी गाड़ी नहीं जाती, इसलिए कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। एक बाबूने कहा—तीन रुपया दे दें, हम अभी स्थान सुरक्षित करवा देते हैं। वही करना पड़ा। रातके जगमगाते चिरागोंके प्रकाशमें सिंधुके पुलको पार करते सिंधुके महाबंधकी भी एक झलक पाई। उस समय किसको पता था, कि भारत लौटते समयतक यह भारतकी सीमासे बाहर हो जायगा।

३० अक्तूबर (मंगल) के सवेरे हमारी ट्रेन नंगे पहाड़ोंमें दौड़ रही थी। बोलन-दर्रा भी पार हुए और स्पेजंद होते डेढ़ बजे दोपहरको क्वेटा (५५०० फुट) पहुँचे। दो मनसे ऊपर सामान था, किंतु बलोची भारवाहकने सभी उठा लिया। "स्टेशनव्यु होटल' बहुत दूर नहीं था, और खाने रहनेका सात रुपया रोज भी अधिक नहीं था। पासपोर्ट हाथमें आजानेसे समझा था, मंजिल मारली; किंतु अभी हम ब्रिटिश-सीमाके बाहर नहीं थे। कस्टम कार्यालयमें गए। विदेशी व्यापार नियंत्रक (कंट्रोलर) को मुकदमा भी देखना पड़ता था। आज उससे भेंट नहीं हो सकी। कल ही सप्ताहमें एक बार छूटनेवाली ट्रेन जा रही थी। कार्यालयके बाबुओंने चीजोंकी सूचीके साथ आवेदन-पत्र देनेको कहा। फिर वही लाल फीता! कलकी गाड़ी न पा सप्ताह भर यहीं टिकनेकी नौबत थी। उन्होंने यह भी बतलाया, कि ग्रामोफोन, केमरा आदि चीजोंको साथ ले जानेकी आज्ञा मिलनी कठिन है। अब यह भी फिक्र पड़ी, कि उन चीजोंको किसके हाथमें दें। १० सालसे साथ घूमते रोलै-फ्लेक्स केमराको छोड़नेका मन नहीं करता था। भारतीजी का नाम मालूम था, किंतु वह इस समय क्वेटासे बाहर गए हुए थे। उन्हींके घरपर श्री चावला इंजीनियर मिले। सौ-पचासकी चीजें तो बेचकर कन्या पाठशालाको दे देनेके लिए समर्पित कर दीं, किंतु केमरेको अपने मित्र सर्दार पृथ्वीसिंहके पास बंबई भेजना था। केमरा फिर नहीं लौटा, न चावला महाशयने सर्दारके पत्रोंका जवाब ही देना पसंद किया। केमरोंका मूल्य उस समय बहुत चढ़ा हुआ था, किंतु मुझे उसका ख्याल नहीं था, ख्याल था इस बातका, कि एक छोड़ बाकी सारी तिब्बत-यात्राओंमें वह मेरे साथ रहा, जापान, चीन और दो-दो बार रूस भी हो आया था।

कुछ चीजें खरीदनी थीं, किंतु जबतक जानेका दिन निश्चित न हो जाय, उन्हें खरीदकर पैसा फँसानेकी क्या आवश्यकता? ३१ अक्तूबर (मंगल) को साढ़े दस बजे कंट्रोलके पास गया। वह अँग्रेज अफसर होते भी सज्जन थे। लेनिन-ग्राद विश्वविद्यालयमें प्रोफेसर होकर जानेकी बातसे भी प्रभावित हुए थे। केमरा फिल्म, हैंडबेग, ग्रामोफोन रिकार्ड, फौंटेनपेनके अतिरिक्त बाकी चीजोंकी इजाजत

मिल गई। उन चीजोंको मैं चावला साहेबको सुपुर्द कर आया। रुपये अब भी कुछ पासमें थे, जिनमेंसे थोड़े हीको मैं अपने साथ ले जानेका अधिकार रखता था, इस लिए सर्दीसे रक्षाके लिए ७५ रुपयोंमें एक पोस्तीनका कोट तथा कुछ दूसरी चीजें खरीद लीं। खा-पीकर दो बजे दिनमें स्टेशन पहुँच गया। सप्ताहमें यही एक ट्रेन ईरानकी ओर जाती है, इसलिए भीड़की शिकायत क्या हो सकती थी? लेकिन अपनी द्वितीय श्रेणीकी सीट रिजर्व थी। कस्टमवालोंने सबका सामान खुलवाकर देखा, किंतु मुझसे कुछ नहीं पूछा। खुफिया पुलिस और कस्टमवालोंका गठबंधन है, और पुलिसचर मेरे निरंतर सहचर थे, शायद उसीका यह लाभ था। लड़ाईके कारण कपड़े, जूते आदिका दाम भारतमें जितना बढ़ा था, ईरानमें वह उससे भी अधिक था। इसीलिए हर ट्रेनमें सैकड़ों आदमी चीजोंको सरहद पार करानेमें लगे थे। कस्टमवाले बहुत सतर्क थे, किंतु घिरावा पार करनेवाले भी कम होशियार नहीं थे। बहुतेरे तो नई सिली कीमती पोशाक और बूट डाँटे हुए थे। यह जानते हुए भी, कि यह छोकरे कभी इतनी महँगी पोशाक नहीं पहन सकते, कस्टमवाले उनके शरीरपर बेढंगे पड़े उन कपड़ोंको उतरवा नहीं सकते थे।

चार बजे ट्रेन नंगे पहाड़ों, सूखी उपत्यकाको फाँदती आगे बढ़ने लगी। स्पेजंदसे आगे बढ़नेपर सूर्य अस्त हो गए। मैं भी अब निश्चितसा था, जहाँतक भारतसे निकलनेका सवाल था, वह हल हो चुका था। महीनेका आरंभ था, ट्रेन पानी और रसद बाँटनेके अतिरिक्त वेतन भी बाँटती जा रही थी, इसीलिए जल्दी करनेकी कोई जरूरत नहीं थी।

पहिली नवंबरके सबेरे अब भी दालबंदी स्टेशनपर ट्रेन खड़ी थी। ढाई बजे दोपहरको नोककुंडी आई। आजकल पासमें एक गंधककी खानमें काम हो रहा था। सूखे मैदानमें लारियाँ गंधक लाकर ढेर कर रही थीं, जिसकी गंध अच्छी नहीं मालूम होती थी।

कस्टमवालोंको कंट्रोलरकी हस्ताक्षरित चिट्ठी मैंने दे दी। मेरा तो काम हो गया। किसीने न सामान देखना चाहा, न यही पूछा, कि आपके पास कितने भारतीय सिक्के हैं। एक सहयात्रीने कहा, हजार दो हजार रुपया ले जानेमें भी कोई हर्ज नहीं। नोककुंडी अंतिम देखभालका स्थान था, इसीलिए गाड़ी वहाँ चार घंटे खड़ी रही। कस्टमको चकमा देनेवालोंकी एक पूरी सेना ट्रेनको भरे हुए थी। सीमाके दोनों पार बलोची भाषाभाषी रहते हैं, सीमा भी छोटे छोटे नंगे पहाड़ों और सूखे बयाबानोंकी है, जहाँ डर आदि है, तो केवल जलहीन मरुभूमि का। फिर ऐसी

जगह पासपोर्टके नियम कैसे लागू किए जा सकते थे ? नियमोल्लंघनपर महीने दो महीनेकी सजा होती, जहाँ पचासके मालका ढाई सौ बन रहा हो, वहां इस सजाकी कौन परवाह करता ? कस्टमवाले इस डिब्बेमें तलाशीके लिए घुसते, तो चकमा देनेवाले दूसरे डिब्बेमें चले जाते। पहरेकी कड़ाई होनेपर उनमेंसे जो चढ़ने नहीं पाए, उन्होंने आगे धीमी गतिसे चलती गाड़ीपर अपनी जगह सँभाल ली।

सात साल पहिलेकी नोककुंडोकी बस्ती अब बढ़ गई थी, किंतु घर अधिकतर सरकारी थे। अभी यहाँ बहुतसे सिंधी हिंदुओंकी दुकानें थीं। उस वक्त क्या मालूम था, कि चौंतीस मास बाद स्वदेश लौटनेपर यह पराया देश हो जायगा और यहाँ हिंदुओंका दर्शन दुर्लभ हो जायगा। रेल ठहरती मंद गतिसे चलती गई और ग्यारह बजे रातको हम सीमा पार करके ईरानी स्टेशन मीरजावा पहुँच गए।

समाप्त